STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY
Acc. No. 3925
Book No. 891·43
म ब

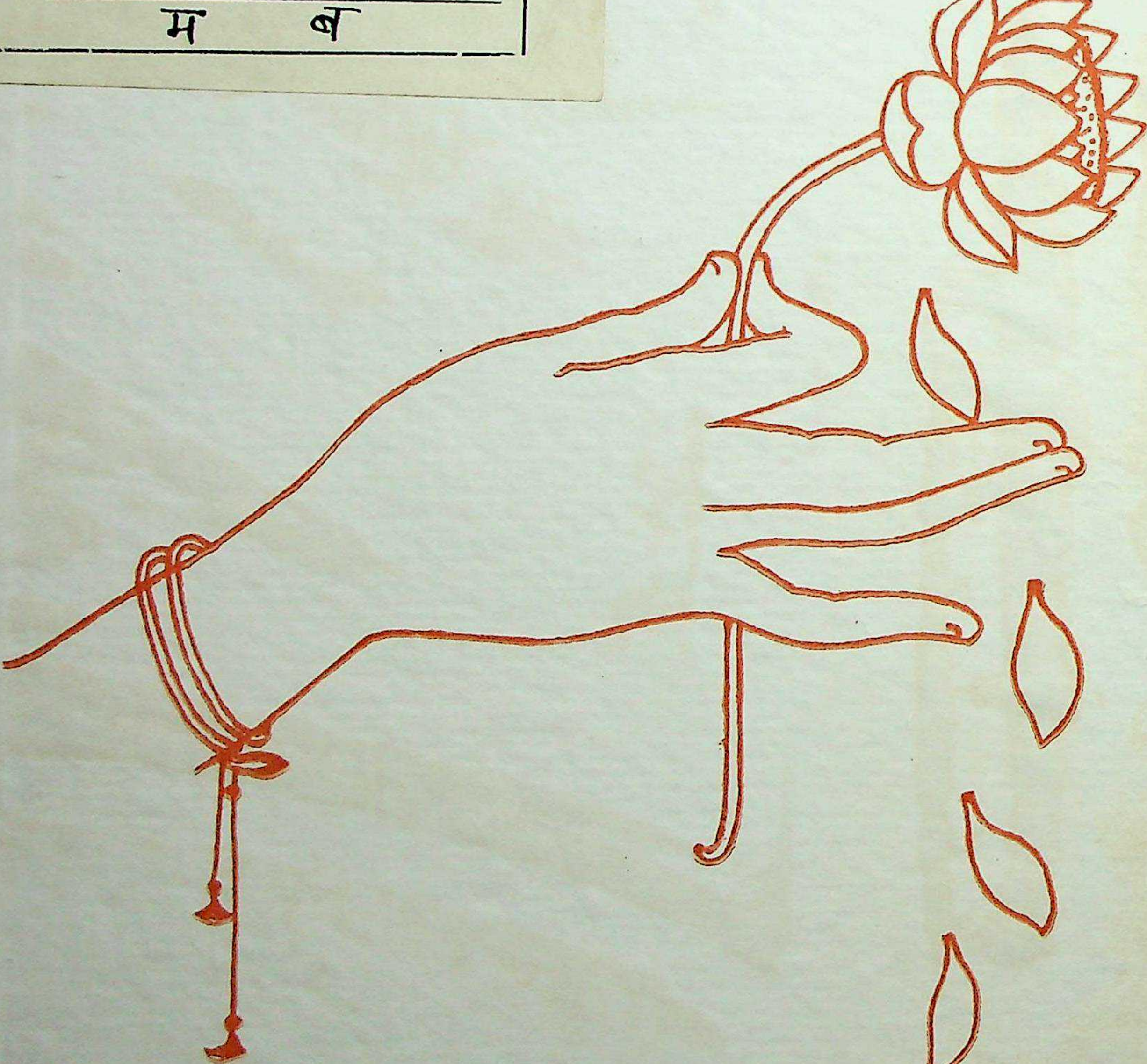

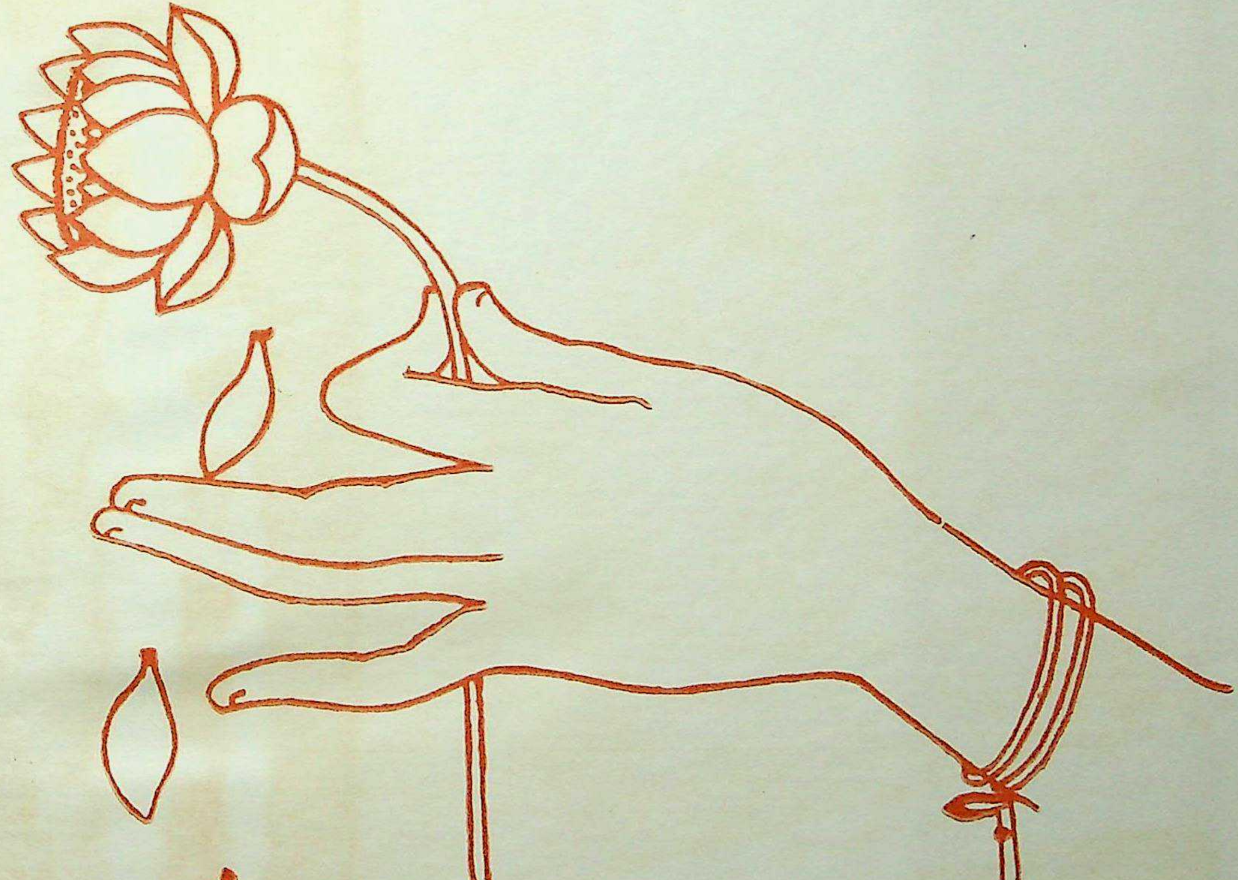

प्रेरक साधक

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रम 39251
प्रा० तिथि 25.5.76
State Museum, Library, Lko.

प्रेरक साधक

हिन्दी के यशस्वी लेखक, पत्रकार
तथा लोकसेवी
श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की
सेवाओं के उपलक्ष्य में अर्पित
अभिनंदन-ग्रंथ

•

State Museum, Library, Lko.
3925
25.5.76

सतसाहित्य
सस्ता साहित्य मण्डल

सस्ता साहित्य मंडल
प्रकाशन

परामर्शदाता-मण्डल

काकासाहब कालेलकर
श्रीप्रकाश
हरिभाऊ उपाध्याय
श्रीनारायण चतुर्वेदी
कृष्णानन्द गुप्त
सत्यवती मल्लिक
अक्षयकुमार जैन

●

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

891.43
म ब

●

पहली बार : १९७०
मूल्य : रु० ४०.००
विशेष संस्करण : रु० ५०.००

●

मुद्रक
माया प्रेस प्रा० लि०
इलाहाबाद

सम्पादक-मण्डल

श्रीमन्नारायण
हजारीप्रसाद द्विवेदी
मन्मथनाथ गुप्त
जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी
क्षेमचन्द्र 'सुमन'
वृन्दावनदास
रमेशचन्द्र दुबे
रतनलाल बंसल
यशपाल जैन

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रम 3925
दि. 25.5.70
State Museum, Library, Lko.

जिन्होंने अपनी बहुमुखी सेवाओं
से राष्ट्र-भारती के भण्डार को
समृद्ध और लोकचेतना प्रबुद्ध
किया, उन श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
को उनकी अठहत्तरवीं वर्ष-गांठ के
अवसर पर सादर

नई दिल्ली

क्रम संख्या 3925
प्राप्ति तिथि 25.5.70
State Museum, Library, Lko.

निवेदन

श्रद्धेय बनारसीदास चतुर्वेदी हमारे देश की उन विभूतियों में से हैं, जो पिछले पचास वर्ष से विभिन्न क्षेत्रों में निस्स्वार्थ भाव से सेवा में संलग्न हैं। लेखक के रूप में उन्होंने जहां अपनी मौलिक रचनाओं (रेखाचित्रों, संस्मरणों, निबंधों आदि) से हिन्दी के भण्डार को समृद्ध किया है, वहां एक सजीव पत्रकार एवं कुशल सम्पादक के रूप में पत्रकारिता के स्तर को भी ऊंचा उठाया है। उन्होंने अनेक साहित्यिक तथा लोकोपयोगी आंदोलनों का सूत्रपात एवं संचालन किया है, बहुत-से साहित्य-सेवियों तथा रचनात्मक कार्यकर्ताओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया है। प्रवासी भारतीयों की उन्होंने जो सेवा की है, वह किसी से छिपी नहीं है। आज भी अनेक देशों में बसे भारतीय बड़ी श्रद्धा तथा आत्मीयता से उनका स्मरण करते हैं। शहीदों की स्मृति-रक्षा और उनके परिवारों को आर्थिक सहायता सुलभ कराने के लिए किये गए उनके प्रयासों ने लोगों के दिलों में उनकी जगह और भी गहरी बना दी है।

चतुर्वेदीजी की दीर्घकालीन तथा बहुमुखी सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें एक अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने का विचार उठा तो न केवल उसका चारों ओर से स्वागत हुआ, अपितु व्यापक सहयोग का आश्वासन भी प्राप्त हुआ। लेकिन जब चतुर्वेदीजी को इसकी सूचना दी गई तो उन्होंने इस विचार को छोड़ देने के लिए जोर दिया। उनका कहना था कि देश-विदेश में उन्हें काफी कीर्ति मिल चुकी है। इसलिए उनका अभिनंदन आवश्यक नहीं है। अभिनंदन उन मूक साधकों का होना चाहिए, जो अल्प-विज्ञापित हैं और जिनकी सेवाएं किसी भी महापुरुष से कम नहीं हैं।

पर हमने अपने अनुरोध को नहीं छोड़ा। हम चतुर्वेदीजी के अत्यन्त आभारी हैं कि अंततोगत्वा उन्होंने हमारे अनुरोध को स्वीकार कर लिया।

ग्रंथ पाठकों के हाथों में है। इसकी सामग्री को सात खण्डों में विभाजित किया गया है। पहले खण्ड 'व्यक्तित्व और कृतित्व' (संकलनकर्त्ता और सम्पादक: यशपाल जैन) में उन व्यक्तियों द्वारा लिखित संस्मरण हैं, जिन्हें चतुर्वेदीजी के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला है। दूसरे खण्ड 'अपनी कहानी: स्वयं की जबानी' में चतुर्वेदीजी ने अपने परिवार तथा अपनी प्रवृत्तियों का परिचय दिया है। तीसरे खण्ड 'ब्रजभूमि: साहित्य और संस्कृति' (संकलनकर्त्ता तथा सम्पादक: वृन्दावनदास) में उस भूमि की कला, संस्कृति तथा साहित्य का विवेचन किया गया है, जिसने चतुर्वेदीजी को जन्म दिया है। वैसे चतुर्वेदीजी ने कई प्रदेशों की सेवा की है और वे सब प्रदेश उन्हें अपना मानते हैं, पर ब्रज से उनका विशेष लगाव रहा है। चौथे खण्ड 'प्रेरक पत्र' (संकलनकर्त्ता और सम्पादक: क्षेमचंद्र 'सुमन') में चतुर्वेदीजी के चुने हुए पत्र संग्रहीत किये गए हैं। बंधुवर रामविलास शर्मा तथा जगदीशचन्द्र माथुर का सुझाव था कि पूरे ग्रंथ में केवल चतुर्वेदीजी के साहित्यिक महत्व के पत्र दिये जायं। उनसे ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ेगी और लोगों को प्रेरणा मिलेगी। हम मानते हैं कि चतुर्वेदीजी के पत्र हिन्दी-साहित्य की अनमोल निधि हैं, पर विविधता की दृष्टि से ग्रंथ में अन्य विषयों का समावेश करना भी हमें उचित लगा। पांचवें खण्ड 'योजन और संयोजन' (संकलनकर्त्ता तथा

सम्पादक : मन्मथनाथ गुप्त) में चतुर्वेदीजी द्वारा चलाये गए विविध साहित्यिक आंदोलनों आदि का ब्यौरा दिया गया है, और छठे 'हिन्दी पत्रकारिता के पचास वर्ष' (संकलनकर्त्ता तथा सम्पादक: जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी) में पत्रकारिता के क्षेत्र में की गई चतुर्वेदीजी की सेवाओं का लेखा-जोखा तथा हिन्दी के प्रमुख क्षेत्रों में पत्रकारिता की प्रगति का संक्षिप्त विवरण है। सातवां खंड है 'विविध', जिसमें उन रचनाओं को सम्मिलित किया गया है, जो हमें देर से प्राप्त हुई और संबंधित खंडों में यथास्थान नहीं दी जा सकी हैं।

ग्रंथ को हम जैसा बनाना चाहते थे, समयाभाव के कारण वैसा तो नहीं बना पाये, फिर भी हमने इसमें अधिक-से-अधिक उपयोगी सामग्री का समावेश करने का प्रयत्न किया है।

ग्रंथ में जो कुछ अच्छा है, उसका श्रेय हमारे उन लेखकों तथा लेखिकाओं को है, जिन्होंने ग्रंथ की आत्मा का निर्माण किया है। हम उनके बहुत ही अनुग्रहीत हैं। ग्रंथ में जो कमियां रह गई हैं, उनके लिए हम जिम्मेदार हैं।

ग्रंथ के निर्माण में हमें अपने परामर्शदाता-मण्डल का सहयोग बराबर प्राप्त होता रहा है। हम उसके सदस्यों के आभारी हैं।

पौरुष-ग्रंथि के बड़े ऑपरेशन के बाद अत्यन्त दुर्बल होते हुए भी चतुर्वेदीजी ने दूसरे खण्ड के लिए आत्मचरितात्मक सामग्री जुटा देने का अनुग्रह किया, इसके लिए हम उनका हृदय से आभार मानते हैं।

ग्रंथ के प्रकाशन के लिए आंशिक आर्थिक सहयोग देने के लिए हम सर्वश्री बालकृष्ण गुप्त, ओमप्रकाश गोयल, वृन्दावनदास, प्रतापनारायण अग्रवाल, शम्भूनाथ चतुर्वेदी, रामकुमार भुवालका, प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका तथा विसेस्सुरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट के विशेष ऋणी हैं।

ग्रंथ के लिए चित्र जुटाने में जिन्होंने सहायता दी है, वे भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रंथ में प्रकाशन के लिए हमें इतनी सामग्री प्राप्त हो गई थी कि यदि पूरी-की-पूरी का उपयोग करते तो ग्रंथ का आकार बहुत बढ़ जाता। अतः हमें कुछ महत्वपूर्ण रचनाएं छोड़ देने के लिए विवश होना पड़ा। उनके लेखकों से हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

हमें हर्ष है कि ग्रंथ चतुर्वेदीजी की अठहत्तरवीं वर्ष-गांठ पर प्रकाशित हो रहा है। हमारी कामना और प्रभु से प्रार्थना है कि चतुर्वेदीजी दीर्घायु हों, स्वस्थ रहें और चिरकाल तक अपनी सेवाओं तथा मार्ग-दर्शन का लाभ देते रहें।

—सम्पादक मण्डल

अनुक्रम

खंड : एक

व्यक्तित्व और कृतित्व

सरस्वती साधक : श्री सोहनलाल द्विवेदी १९
स्वतंत्र वृत्ति के सेवक : श्री काका कालेलकर २०
उनकी बहुविध सेवाएं : श्री श्रीप्रकाश २१
हमारे चौबेजी : श्री हरिभाऊ उपाध्याय २४
कुटुम्ब के एक बुजुर्ग : श्री श्रीमन्नारायण २६
पूज्य और वरेण्य : श्री रामधारी सिंह दिनकर २७
आदर्श पुरुष : श्री राजेश्वरप्रसादनारायण सिंह ३४
कलकत्ता और दिल्ली की यादें : श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार ३७
शहीदों के सखा : श्री पृथ्वीसिंह आज़ाद ४४
वह अलभ्य प्रेम : श्री विष्णु प्रभाकर ४८
एक स्वच्छंद जीवन : श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ५३
जिंदादिल और सूझ के धनी : श्री सूर्यनारायण व्यास ५६
अथक साधक : श्री भगवानसिंह ५८
अराजकवादी : श्री प्रभाकर माचवे ६१
जैसा मैंने देखा : श्री सीताराम सेकसरिया ६३
चौबेजी की शिक्षा और प्रेरणा : श्री सज्जनसिंह ६५
दुर्लभ व्यक्तित्व : श्री रामइकबाल सिंह 'राकेश' ६६
मेरे संरक्षक : श्री जयनारायण राय ७३
ईडन गार्डन से बुद्ध जयंती पार्क तक : श्रीमती सत्यवती मल्लिक ७८
आदर के भाजन : श्री मुकुटबिहारी वर्मा ८४
यह आत्मीयता क्यों ? : श्री धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ८७
कुण्डेश्वर की स्मृतियां : श्री शिवानी ८९
उनका योगदान : श्री रवीन्द्र ९२
वह अपने-आप में एक संस्था है : श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ९५
दादाजी के सान्निध्य में : श्रीमती आदर्शकुमारी ९७

दादा : श्री अमृतलाल चतुर्वेदी १००
गुणग्राही और कृतज्ञताशील : श्री श्यामसुंदर खत्री १०३
जिन खोजा तिन पाइयां : श्री जयंती पंत १०८
उनकी चिरस्मरणीय सेवाएं : श्री गौरीशंकर द्विवेदी १११
सच्चे बन्धु : श्रीमती शकुंलता श्रीवास्तव ११५
उनके व्यक्तित्व के कुछ पहलू : श्री ब्रजकिशोर जैन ११७
सोलह वर्ष : श्री रामधन राम १२०
सत्पुरुष : श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी १२४
जवाकुसुम की महक : श्री विद्याशंकर शर्मा १२७
प्रवासी भारतीयों के चिंतक : श्री शंकरप्रताप १३२
साहित्य तथा साहित्यसेवियों के निर्माता : श्री रामनारायण उपाध्याय १३४
कुछ बोलते चित्र : श्री अमरनाथ कौल अदालती १३८
एक जीता-जागता व्यक्तित्व : श्री मोहनसिंह सेंगर १४१
चतुर्वेदीजी का प्रकृति-प्रेम : श्री गनेशीलाल बुधौलिया १४७
क्रांतिकारियों के पुरोहित : श्री शिवकुमार गोयल १५०
जिनका कहीं उपमान नहीं : श्री सुधाकर शुक्ल १५२
मानवतावादी साहित्यकार : श्री शिवनारायण श्रीवास्तव १५३
उपेक्षितों के उपासक : श्री हरगोविन्द गुप्त १५८
सर्मपित व्यक्तित्व : श्री मुरलीधर दिनोदिया १६२
दादाजी : समीप से : श्री गणेशलाल शर्मा 'प्राणेश' १६४
विंध्यप्रदेश के गौरव : श्री शंभूनाथ शुक्ल १६९
विनीत : श्री काशीराम १७१
दादाजी : अपने घर-आंगन में : श्री मिथलेशचंद्र चतुर्वेदी १७६
पिस्तौल से लेखनी : श्री भगवानदास माहौर १८१
चिरकृतज्ञ : श्री जयकिशन प्रसाद खंडेलवाल १८७
उनकी मानवीयता : श्री युगलकिशोर चतुर्वेदी १८८
जीते-जागते साहित्यिक विश्वकोश : श्री देवप्रकाश १९०
दूसरों का आत्मगौरव बढ़ानेवाले : श्री भैयालाल शर्मा १९२
हमारे नानाजी : श्री कुमकुम चतुर्वेदी १९४
श्रद्धेय चतुर्वेदीजी के साथ पांच वर्ष : श्री राजेद्रनाथ शर्मा १९६
उनकी साहित्य-सेवा का उद्देश्य : श्री शिवकली रूसिया १९८
बहुमुखी जीवन के धनी : श्री यशपाल जैन २००
मेरे मार्ग-दर्शक : श्रीमती कमला चौधरी २०५
कुंडेश्वर के गांधी भवन के प्रेरणा-स्रोत : श्री कामताप्रसाद सक्सेना २०९
सहज संवेदनशील साधक : श्री श्यामसुन्दर बादल २१०

खंड : दो

अपनी कहानी : स्वयं की ज़बानी

आत्मचरित लेखन की कठिनाइयां २१७
मेरे पूज्य माता-पिता २१९
मेरा विद्यार्थी जीवन २२४
अध्यापक - जीवन और प्रवासी भारतीय २२९
मेरे भी एक भाई था २३२
जिन्होंने मुझे प्रेरणा दी २३६
मेरा मुक्ति-दिवस २३९
कुंडेश्वर के साढ़े चौदह वर्ष २४१
राजेन्द्र-सागर के निर्माण की कहानी २४६
लंबे भाषणों और सूखी बहसों के रेगिस्तान में २४९
मेरे सपने कैसे साकार हुए २५२
शहीदों-क्रांतिकारियों की सेवा में २५ वर्ष २६०
मेरा दृष्टिकोण २६४

खंड : तीन

ब्रजभूमि : साहित्य और संस्कृति

ब्रज-वर्णन : श्री अमृतलाल चतुर्वेदी २७३
ब्रजभूमि का पुनर्निर्माण : श्री वृन्दावनदास २७४
ब्रज के वाहन : श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी २८२
ब्रज के स्थान-अभिधानों का सांस्कृतिक पक्ष : श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा 'नीरव' २८८
ब्रज-क्षेत्र में यक्षोपासना : श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी २९४
कंबोडिया के एक प्राचीन लेख में मथुरा : श्री कृष्णदत्त बाजपेयी २९७
सखि री, ब्रजकौ बसिबौ नीकौ : श्री राजेंद्र रंजन २९८
श्रीकृष्ण के शैशव का लीला-स्थल : श्री आनंदस्वरूप पाठक ३०२
ब्रज की सीमा : बरहद : श्री अक्षयकुमार जैन ३०७
ब्रज के तीर्थ-स्थल : श्री मधुमोद के० रायजादा ३०९
ब्रज-संस्कृति की विशेषता : श्री प्रभुदयाल मीतल ३१४
ब्रज-संस्कृति का सार्वभौम स्वरूप : श्री कैलाशचंद्र स्वरूप ३१७
ब्रज-संस्कृति और विश्व को उसकी देन : श्री मलखानसिंह सिसौदिया ३२२
कोटिक हू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर बारौं : श्री भवेश पचौरी ३२५

ब्रज-संस्कृति में कदम्ब : श्री राधेश्याम द्विवेदी ३२७
होली-गीतों में ब्रज-संस्कृति का प्रभाव : श्री गनेशीलाल बुधौलिया ३३०
भक्ति संदर्भ में ब्रज : श्री चन्द्रभान रावत ३३४
रासलीला : श्री श्याम परमार ३५२
राधावल्लभ-सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति : श्री विजयेन्द्र स्नातक ३६२
आधुनिक ब्रज-गद्य-धारा : श्री जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल ३७२
ब्रज-भाषा की व्यापकता : श्री हरिमोहनलाल श्रीवास्तव ३७८
ब्रज-भाषा भूलि सी गयौ : श्री मोहनलाल शर्मा ३८१
ब्रज-भाषा-काव्य की देन और दिशा : श्री अम्बाप्रसाद 'सुमन' ३८३
ब्रज-भाषा : हमारा कर्त्तव्य : श्री शिवदत्त चतुर्वेदी ३८९
दो दिवंगत साहित्यकार-१ : श्री कैलाशचन्द्र भाटिया ३९१
दो दिवंगत साहित्यकार-२ : श्री हरिहरस्वरूप विनोद ३९३
ब्रज-विभूति गोस्वामी राधाचरण 'विद्यावागीश' : श्री केदारदत्त तत्राड़ी ३९४
ब्रज-लोकगीतों में कृष्ण और रुक्मिणी : श्री शालिग्राम गुप्त ३९९
ब्रज के लोकगीतों का स्वरूप : श्री रामेन्द्रमोहन त्रिपाठी ४०४
प्रेम-रस-धार से सिक्त ब्रज की लोक-वाणी : श्री शिवशंकर त्रिपाठी ४११
'उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी' में वासन्तिक रास : श्री भगवानदास तिवारी ४१७
रीतिकालीन कविता : सौन्दर्य प्रसाधन : श्री राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ४२७
सौभाग्य और सौन्दर्य की प्रतीक चूड़ियां : श्रीमती हर्षनन्दिनी भाटिया ४३४
हास्य-काव्य में मथुरा का योगदान : श्री बरसानेलाल चतुर्वेदी ४४१
ब्रज की विनोदी परम्परा : श्री निरंकुश ४४४
दादा जी के दो प्रिय कवि : श्री रमेशचन्द्र दुबे ४६०

खंड : चार

प्रेरक पत्र

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय के नाम ४७१
श्री कृष्णानन्द गुप्त ,, ४८०
श्री किशोरीदास बाजपेयी ,, ४८६
श्री गणेश चौबे ,, ४८६
श्रीमती ताराराानी श्रीवास्तव ,, ४८७
श्री दुर्गादास समाधिया ,, ४९२
श्री नरेश चतुर्वेदी ,, ४९३
श्री नरोत्तम नागर ,, ५०५

श्री पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र' के नाम ५०६
श्री बाबा पृथ्वीसिह आजाद ,, ५०८
श्री मोहनसिंह सेंगर ,, ५१५
श्री रामइकवालसिंह 'राकेश' ,, ५१९
श्री रामचरण हयारण 'मित्र' ,, ५२७
श्री राम नारायण उपाध्याय ,, ५२९
श्री रामशरण विद्यार्थी ,, ५३४
श्री वंशीधर विद्यालंकार ,, ५३६
श्री विष्णु प्रभाकर ,, ५४०
श्रीमती शकुन्तला श्रीवास्तव ,, ५४३
श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ,, ५४८
श्रीमती सत्यवती मल्लिक ,, ५४९
श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ,, ५५८
श्री हरिमोहन श्रीवास्तव ,, ५६०

खण्ड : पांच

योजन और संयोजन

भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन एक झांकी—१ : श्री मन्मथनाथ गुप्त ५६३
विदेशों में भारतीय क्रान्तिकारी—२ : श्री मन्मथनाथ गुप्त ५६८
भारतीय क्रान्तिकारियों पर लेनिन का प्रभाव—३ : श्री मन्मथनाथ गुप्त ५७६
साहित्य क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण : श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ५७८
हिंदी क्षेत्रों का विभाजन : श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ५८१
पिछली सेवा और भावी कार्यक्रम : श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ५८२
सन २००० ईस्वी का बुन्देलखण्ड : श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ५८६
प्रांत निर्माण : श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ५९०

खण्ड : छह

हिन्दी पत्रकारिता के पचास वर्ष

हिन्दी पत्रकारिता को चतुर्वेदीजी का योगदान : श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी ५९७
अनुभवी पत्रकार की सिखावन : श्री प्रेमनाथ चतुर्वेदी ६०२
हिन्दी सम्पादन-कला और चतुर्वेदीजी : श्री जयदेव ६०३
बीसवीं शताब्दी की हिन्दी-पत्रकारिता का प्रथम चरण : श्री वेंकटलाल ओझा ६०६

खण्ड : सात

विविध

अभिनंदनम् : श्री भगवानदास मिश्र ६१३
एक बेचैनीभरा पत्र : श्री जगदीशचंद्र माथुर ६१४
ऐसे हैं हमारे चतुर्वेदीजी : श्री रामलाल पुरी ६१७
शतसहस्राभिनन्दनम् : श्री मथुरादत्त शास्त्री ६१९

●

प्रेरक साधक

•

खंड : एक

व्यक्तित्व और कृतित्व

इस खंड में चतुर्वेदीजी के बहुमुखी व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर अनेक व्यक्तियों ने प्रकाश डाला है। इन संस्मरणों को पढ़कर पता चलता है कि चतुर्वेदीजी का व्यक्तित्व कितना प्रखर, साथ ही कितना मधुर है और उन्होंने किन-किन क्षेत्रों में किस-किस प्रकार सेवा की है। साहित्य, पत्रकारिता, प्रवासी भारतीय आदि-आदि के क्षेत्रों में सेवा करते हुए उन्होंने दूसरों की प्रतिभा के विकास के लिए कितना प्रयत्न किया है और जीवन की नाज़ुक घड़ियों में किस प्रकार परिचित-अपरिचित व्यक्तियों को सहारा दिया है, उसकी कहानी पढ़कर मन विभोर हो उठता है।

सोहनलाल द्विवेदी

सरस्वती-साधक

•

शत-शत अभिनंदन वंदन शत स्वीकार करो
हे मनु, श्रद्धा के शतदल अंगीकार करो।

संकल्प तुम्हारा हिमगिरि-सा
शुचि शुभ धवल,
है स्नेह तुम्हारा पावन जैसे
गंगाजल,
सौहार्द्र तुम्हारा पा जैसे
प्रभात अंचल,
खिल उठे अनगिनत तरुण
अरुण कवि अमल कमल।

हे कवियों के कवि, रवि, सुरभित संचार करो
हे मनु, श्रद्धा के शतदल अंगीकार करो।

तुम आए जैसे मलयानिल
के गन्धवाद
मन श्रान्त - क्लान्त उठ वैठा
ले चेतन प्रवाह,
तुम आए जैसे क्रान्ति - काल
के सार्थवाह
उत्साह - स्फूर्ति का सागर
लहराया अथाह,

रसवती सरस्वती - साधक रस संचार करो
हे मनु, श्रद्धा के शतदल अंगीकार करो।

•

काका कालेलकर

स्वतंत्र वृत्ति के सेवक

●

श्री बनारसीदासजी अपने जमाने के एक विशिष्ट और स्वतंत्र वृत्ति के भक्त लेखक हैं। भारत-भक्ति की राष्ट्रीयता के दिनों में विदेशी मनीषियों की और मानव-सेवकों की कदर करने का उनका आग्रह अनेक तरह से सराहने लायक है। जब बनारसीदासजी के साथ मेरा प्रथम परिचय हुआ तब मैंने देखा कि उनके मन में जितनी गांधीजी के प्रति भक्ति थी, उतनी ही 'मॉडर्न रिव्यू' वाले श्री रामानंद चटर्जी के प्रति थी।

जब गांधीजी ने राष्ट्रभाषा के तौर पर हिंदी का प्रचार करने का विचार किया तब उन्होंने मुझसे हिंदी के विषय में एक लेख मांगा और बनारसीदासजी को तो देश के अनेक मनीषियों से अभिप्राय इकट्ठा करने का काम सौंपा। वह काम उन्होंने उत्तम ढंग से करके हिंदी जगत को एक किताब दी।

स्वराज्य की साधना करनेवाले भारत का ध्यान, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्यान्य देशों में जाकर बसे हुए भारतीयों की जीवन-साधना की ओर जाना स्वाभाविक था। विदेशवासी भारतीयों के भाग्योदय के बारे में बनारसीदासजी की दिलचस्पी काफी थी। इसी सिलसिले में यीशुभक्त, भारत-प्रेमी श्री सी० एफ० एण्ड्रूज़ के प्रति बनारसीदासजी का आकर्षण बढ़ा।

बनारसीदासजी कभी भी संकुचित मन के गांधीवादी न बने। दुनिया के बड़े-बड़े मनीषियों की कदर करने के उनके आग्रह ने हमें दो-तीन अच्छे चरित्र ग्रंथ दिये हैं। महात्मा टॉल्स्टॉय के बाद यूरोप के मनीषियों में प्रिन्स क्रॉपॉटकिन का महत्व हम भारतीयों के लिए ही नहीं, समस्त दुनिया के लिए विशेष रूप से है। बनारसीदासजी ने हिंदी जगत को उनका अच्छा परिचय कराया है।

मैं नहीं मानता कि बनारसीदासजी जैसे साहित्य-सेवी नम्र, परिश्रमी और श्रद्धालु होते हुए भी किसी संस्था के साथ स्थायी रूप से अपने को बांध सकते हैं, क्योंकि ऊपर के गुणों के साथ उनमें अपनी स्वतंत्र दृष्टि और विशेष प्रकार की सेवा-पद्धति होती है। आजकल का जमाना संस्थाओं के द्वारा सेवा और प्रचार करने का है। उस रास्ते काम भी बहुत हो सकता है। यह सब जानते हुए अपनी स्वतंत्रता कायम रखने वाले आग्रही समाज-सेवकों के बारे में इसी कारण विशेष आदर रहता है। मैं कहूंगा कि बनारसीदासजी के बारे में मेरे मन में विशेष आदर है, उसी को व्यक्त करने के लिए ये चार पंक्तियां मैंने लिखी हैं। आत्मोन्नति चाहनेवाले हरएक देश में ऐसे स्वतंत्र वृत्ति के सेवकों की आवश्यकता होती ही है। ●

श्रीप्रकाश

उनकी बहुविध सेवाएं

•

क़रीब चालीस वर्ष हुए होंगे, जब श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से मेरी प्रथम मुलाकात हुई थी। श्री सम्पूर्णानन्दजी के साथ मेरे यहां वे आये हुए थे। हम लोगोंके सामाजिक जीवन का यह दोष है कि हम आगंतुकों का एक-दूसरे से परिचय नहीं कराते। समझ लेते हैं कि सब ही सबको पहले से जानते हैं। श्री सम्पूर्णानन्दजी ने बनारसीदासजी का मुझे परिचय नहीं दिया। कुछ देर बाद धीरे से मैंने उनसे पूछा कि ये कौन सज्जन हैं। तब मुझे मालूम हुआ कि श्री बनारसीदास चतुर्वेदी कृपा कर पिताजी (डाक्टर भगवानदासजी) और मुझसे मिलने आये हैं। नाम तो मैंने उनका सुना था, पर उनसे प्रत्यक्ष मुलाकात इसके पहले नहीं हुई थी।

उस समय की बातचीत मुझे आज भी याद है। उन्होंने प्रवासी भारतीयों की ही बात अधिकतर की। इस प्रसंग में मुझसे उन्होंने कहा कि "जब हमें स्वराज्य मिलेगा तो हमें यकायक बना-बनाया वृहत् साम्राज्य भी मिल जायगा। हमारे भाई संसार में चारों तरफ फैले हुए हैं। उस समय पृथ्वी के कितने ही अंचल हमारे हो जायंगे।" पर वास्तव में बात उलटी हुई। जब हमें स्वराज्य मिला, तब विभिन्न देशों में बसे हुए हमारे भाई हमारे लिए विदेशी हो गए। पहले हमें उनके लिए बोलने का अधिकार था। हम अपना कर्तव्य समझते थे कि यदि उन्हें विदेशों में किसी प्रकार का कष्ट हो तो हम उसका विरोध करें। ये सब प्रदेश अंग्रेजों के उपनिवेश थे, जहां भारतवासी गये थे।

हम अपने अंग्रेज शासकों पर जोर डाल सकते थे कि हमारे भाइयों के साथ उचित व्यवहार होना चाहिए। अंग्रेजों को सुनना पड़ता था। वे हमारे इस अधिकार और कर्तव्य को स्वीकार करते थे कि हम विदेशों में, अंग्रेजों के उपनिवेशों में बसे भारतीयों की तरफ से बोलें, आंदोलन करें। जिन स्थितियों में ये लोग अपना घर छोड़ कर गये थे, उसकी विवेचना करने का यह अवसर नहीं है। इतना कहना पर्याप्त है कि करोड़ों की संख्या में ये गये। जंगलों और मरुस्थलों में नाना प्रकार का कष्ट सहकर इन देशों को मनुष्यों के बसने के योग्य उन्होंने बनाया। स्वयं भी वहां बस गए। अंग्रेजों के उपनिवेशों को वैभवशाली बनाकर उनके साम्राज्य को उन्होंने दृढ़ किया और उनका यश फैलाया। स्वयं भी ये इन अपने नये देशों में बस गए।

बसने के बाद वे वहां दलित श्रमजीवी मात्र नहीं रहे। व्यापार आदि में इन्होंने भी धन कमाया और कीर्ति पायी। अपने देश से ये बराबर प्रेम बनाये रहे। भारत को ही अपनी जन्म-भूमि मानते रहे। इनके कष्टों ही की कहानी से हमारा हृदय द्रवित होता था। महात्मा गांधी, श्री गोखले ऐसे नेतागण इनकी सहायता के लिए गये। इनको भी साधारण नागरिक अधिकारों को दिलाने और इनके साथ सद्व्यवहार कराने की चिंता में वे पड़े। जब हमें स्वराज्य मिला तो अंग्रेजों के उपनिवेश भी एक-एक कर स्वतंत्र होने लगे। इंग्लैण्ड के शासन का उन पर जोर कम होता गया। यहां के शासन पृथक हो गए। इनका कहना था कि "हमारे देश में बसे हुए भारतीयों की समस्या हमारा घरौला मामला है। ये हमारी प्रजा हैं। यदि ये यहां नहीं रहना चाहते तो जिसे अपना देश समझते हैं, वहां चले जायं।"

हमारे स्वराज्य-शासन को भी विवश होकर इस स्थिति को मानना पड़ा। उसे भी अपने भाइयों से कहना पड़ा कि "जहां हो, उसीको अपना देश समझो।" बनारसीदासजी का स्वप्न भंग हो गया। कहां वह हमें संसारव्यापी साम्राज्य दे रहे थे, कहां हम अपने भाइयों की तरफ से आवाज उठाने के भी योग्य नहीं रह गए! पर ये हमारे प्रवासी भाई भारतवासी बने रहे और हैं। अपना आचार-विचार अपने पुरातन देश का ही रखते हैं। पर हमारे लिए विदेशी हैं। जो वहां से नवयुवक यहां शिक्षा के लिए आते हैं, वे विदेशी छात्र कहे जाते हैं। देखने में सब भारतीय हैं, पर कानून की दृष्टि से विदेशी हैं। राज्यपाल होने की हैसियत से जब मैं विश्व के विद्यालयों में विदेशी छात्रों से मिलने के लिए निमंत्रित होता था और इस विचार से प्रसन्न होकर जाता कि अब हमारे विश्वविद्यालयों में भी विदेशी छात्र आने लगे हैं और उनसे मुझे मिलने का अवसर मिलेगा, तो यह देख कर विस्मय होता था कि ये विदेशी नवयुवक, नवयुवतियां वास्तव में भारतीय ही हैं, पर काल के कुचक्र के कारण आज विदेशी हो गए हैं।

एक बार श्री हेनरी पोलक ने मुझसे कहा था कि प्रवासी भारतीयों के संबंध में जितनी जानकारी बनारसीदासजी को है, उतनी किसी दूसरे को नहीं है। उनको इस बात का दुःख था कि देश बनारसीदासजी के ज्ञान और उत्साह का न आदर करता है, न उसका उपयोग कर लाभ उठाता है। पाठकों को स्मरण होगा कि पोलक साहब ने प्रवासी भारतीयों के लिए दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी का साथ दिया था और उस प्रसंग में उन्होंने बड़ा कष्ट भी उठाया था। प्रवासी भारतीयों के हित के लिए ये अंत तक यत्नशील थे और जब अपनी मृत्यु के थोड़े ही दिन पहले मेरे पास बंबई के राजभवन में ठहरे थे, तो उन्हीं की चर्चा करते थे।

बात यह है कि बनारसीदासजी का जीवन सदा से बड़ा सादा रहा। उनमें चटक-मटक जरा भी नहीं है। आत्म-प्रदर्शन की कला तो वे जानते ही नहीं। चुपचाप काम करना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य रहा। जब श्रीमती सरोजिनी नायडू के साथ ये एक समय अफ्रीका गये थे, तो सरोजिनीदेवी चिंतित थीं कि ऐसे सीधे-सादे आदमी का क्या प्रभाव पड़ सकता है। पर वास्तव में प्रवासी भारतीयों की समस्या ही नहीं, कितने ही व्यक्तिगत प्रवासियों की जीवनी से ये निकट रूप से परिचित हैं। इनके लेखों को पढ़कर दंग रह जाता था कि घर बैठे ये दूर-दूर के इन प्रवासियों के संबंध में इतनी जानकारी कैसे रखते हैं!

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृत्या इनको ऐसे लोगों में विशेष रुचि रही है, जो नाना प्रकार के कष्टों को सहकर, देश और समाज की सेवा करते हैं, और बड़े साहस और आत्म-त्याग का जीवन व्यतीत करते हैं। तथाकथित प्रसिद्ध और विशिष्ट जनों के संबंध में लिखते-बोलते मैंने इन्हें नहीं पाया है, पर कार्ल मार्क्स आदि देश-भक्तों और समाज-सेवियों के बारे में भी इन्हें बराबर लिखते और चर्चा करते हुए देखा है। चन्द्रशेखर 'आज़ाद' ऐसे क्रांतिकारियों के कुटुंबों से भी ये संपर्क रखते हैं और इनकी सहायता करने-कराने पर सदा उद्यत रहते हैं। मेरा बनारसीदासजी से पत्रव्यवहार बराबर रहा, और यद्यपि इनके साथ रहने का कभी मुझे मौका नहीं मिला, पर पत्रों द्वारा इनके निकट मैं बराबर रहा। हम दोनों ही एक दूसरे के प्रकाशित लेखों को समाचार-पत्रों और सामयिक पत्रिकाओं में पढ़कर परस्पर का संपर्क बनाये रहे। विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवालों की जीवनियों की मार्मिक बातें ये लिखते रहे। ये हिंदी साहित्य के बड़े सेवक और पोषक रहे। गंदे (घासलेटी) साहित्य से इन्हें घृणा रही। सुंदर साहित्य, विशेषकर जीवनियों में इन्हें बड़ा रस रहा और इनके द्वारा हिंदी साहित्य के एक उपेक्षित अंग की समुचित रूप से पूर्ति हुई है।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से इनकी-मेरी दोनों की ही घनिष्ठ मैत्री रही। मुझे गणेशजी ने एक बार लिखा था कि बनारसीदासजी का बड़ा विस्तृत पत्र-व्यवहार है। इसी के द्वारा वे अधिकतर अपना सार्वजनिक कार्य

करते हैं। पर पर्याप्त साधन न होने के कारण इनको इसे पूरा करने में कष्ट हो रहा है। हम सब मित्रों को इनकी सहायता करनी चाहिए। वास्तव में श्री बनारसीदासजी बहुत बड़े पत्र-लेखक हैं। शायद ही कभी किसी के पत्र का उत्तर उन्होंने न दिया हो! इनके पत्रों की विशेषता है कि ये काली और लाल दोनों ही रोशनाइयों का बारी-बारी प्रयोग करते प्रतीत होते हैं। इनके किसी भी पत्र में, चाहे पोस्टकार्ड ही क्यों न हो, मैंने एक ही रोशनाई की लिखाई नहीं पायी। बढ़ती हुई डाक की दर को देखते हुए यह समझा जा सकता है कि बनारसीदासजी ऐसे मध्य वृत्ति के सज्जनों का इसके कारण व्यय-भार कितना बढ़ गया होगा।

जहां-जहां ही ये रहे, इन्होंने मुझसे पत्र द्वारा बराबर संपर्क रखा और यदि किन्हीं देशभक्तों के परिवार को कष्ट में पाया तो उनके लिए सहायता के लिए लिखा। जब स्वतंत्र भारत का प्रथम साधारण निर्वाचन १९५२ में होने जा रहा था, तब प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस की तरफ के प्रत्याशियों को चुनने और निर्वाचन के संचालक का कार्य श्री लालबहादुर और मेरे सुपुर्द किया था। राज्य सभा के लिए जब प्रत्याशियों का नाम उपस्थित किया गया, तब श्री बनारसीदासजी का भी नाम आया। कितनों ने ही प्रत्याशी होने के लिए आवेदन-पत्र भेजा था। जहां तक मुझे याद आ रहा है, उन दिनों बनारसीदासजी टीकमगढ़ में थे। इन्होंने तो इधर ख्याल भी न किया होगा। हम सबने स्वयं ही इनका नाम उपस्थित किया।

इस पर जवाहरलालजी ने आश्चर्य की मुद्रा में कहा, "क्या ये वही बनारसीदास हैं जो प्रवासी भारतीयों के विषय में लिखते-पढ़ते हैं। वे कहां हैं? उनका तो नाम भी मैंने इधर नहीं सुना। क्या वे अभी संसार में हैं?" उनका नाम सहर्ष स्वीकार किया गया। इस घटना से ही स्पष्ट है कि बनारसीदासजी चुपचाप अपना काम करना पसंद करते हैं। उसी में संतुष्ट रहते हैं। लोग जानें या न जानें, वे अपना काम करते जाते हैं। पीछे उन्होंने मुझे धन्यवाद देते हुए लिखा कि "आपने ही मुझे याद किया होगा। और कौन करता?" मैं तो अपने को धन्यवाद का पात्र नहीं ही समझ सकता था। हां, मुझे इसका दुःख रहा और है कि हम अपने सच्चे मित्रों और कार्यकर्ताओं को भूल जाते हैं। ये १२ वर्ष तक अर्थात ६ वर्षों के दो कार्यकाल तक राज्य सभा के सदस्य रहे। निर्वाचन के बाद ही मैं मद्रास का राज्यपाल होकर दिल्ली से चला गया। पर एक बार जब दिल्ली आया हुआ था तो मैं बनारसीदासजी से मिलने उनके यहां गया। वह कमरे के बाहर चारपाई पर बैठे कुछ लिख-पढ़ रहे थे। मुझे अकस्मात आया देख उन्होंने कुछ आश्चर्य प्रकट किया और बड़े प्रेम से मेरा स्वागत किया।

मुझसे बनारसीदासजी ने कहा कि राज्य सभा की सदस्यता से उन्हें अपने अभीष्ट काम के लिए पर्याप्त समय और साधन मिल गया। उसीमें ये लगे रहे। साधारण राजनीति में उन्हें कभी भी अधिक रस नहीं रहा। वे राज्य-सभा के कार्य में कम ही भाग लेते रहे। जो काम इन्हें प्रिय होता है उसे बड़े साहस और लगन से करते हैं। बाकी सब बातों को निमित्त मात्र ही मानते प्रतीत होते हैं। जब 'प्रवासी' पत्रिका का ये संपादन करते थे, तब १९२८ की कलकत्ता कांग्रेस के समय बाहर सड़क पर खड़े अपने हाथ में प्रवासी की प्रतियां लिये उन्हें बेचते मैंने देखा है। इस दृश्य से मुझे विस्मय हुआ। इनकी हार्दिक भावना का यह प्रमाण है।

मुझे एक बार इनसे धोखा भी हुआ है। उसकी चर्चा कर देना उचित है। नागरिक कर्तव्यों संबंधी मेरे लेखों का संग्रह कविवर मैथिलीशरणजी की प्रेरणा से मैंने छपवाया। उसका नामकरण मैथिलीशरणजी ने ही किया। वह 'गृहस्थ-गीता' के नाम से प्रकाशित हुआ। कवि ने मेरे भावों को पद्य में वर्णित कर उसमें छपवाने के लिए दिया। इस रचना के दूसरे या तीसरे संस्करण की भूमिका लिखने के लिए मैंने बनारसीदासजी से आग्रह किया। उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार की,

पर पीछे बार-बार याद दिलाने पर भी उसे नहीं लिखा। उस संबंध के मेरे पत्रों का, अपनी प्रथा के प्रतिकूल, उत्तर भी उन्होंने नहीं दिया। इसकी शिकायत मेरे मन में अभी तक बनी है। उनकी भूमिका बिना ही पुस्तिका छपी। ऐसा उन्होंने क्यों किया, मैं नहीं समझ सका। एक बार मिलने पर जब मैंने इसकी चर्चा की तो उन्होंने कहा, "फिर बतलावेंगे।" पर बतलाया नहीं।

बनारसीदासजी में एक भारी दोष भी है। वह किसी में दोष नहीं देखते। सबकी प्रशंसा ही करते हैं, सो भी अत्युक्ति के साथ। वे गुण-ग्राही हैं। 'संत हंस गुण गहहि पय, परिहरि वारी विकार' के न्याय के अनुसार ही इनकी विचार-शैली और कार्य-प्रणाली है। पर वास्तव में कोई मनुष्य पूर्ण नहीं होता। उनकी जीवनी को लिखनेवालों को उनका दोष भी दिखलाना चाहिए, जिससे वह मानव के सामने मानव के रूप में प्रकट हों और उनके गुण-दोष देखकर अन्य लोग शिक्षा लें।

पिछले दिनों बनारसीदासजी को आगरा के अस्पताल में पौरुषग्रंथि (प्रास्टेट) का नश्तर लेना पड़ा है। वृद्धावस्था का यह भयंकर अभिशाप है। चार वर्ष पहले मुझे भी इसका नश्तर लेना पड़ा था। अभी तक उसके कुपरिणाम को भोग रहा हूं। वह असफल रहा। अन्य सभी मित्रों के साथ मेरी यही शुभकामना है कि बनारसीदासजी आजीवन शुभ कार्य में साहस और उत्साह के साथ लगे रहें और हम सबका बहुत दिनों तक पथ-प्रदर्शन करते रहें।●

हरिभाऊ उपाध्याय

हमारे चौबेबाबा

●

पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी को मैं 'चौबेबाबा' कहा और लिखा भी करता हूं। अभिवादन 'जय जमुना मैया की'--इन शब्दों में करता हूं। परंतु साथ ही उनको 'चौबे कुल-कलंक' भी कहा करता हूं। उनमें चौबे का एक भी लक्षण नहीं है--न भांग पीते हैं, न लड्‌वा ही गटागट गले में उतारते हैं। अलबत्ते चाय जरूर पीते हैं, परन्तु भांग का स्थान तो खाली ही रहा करता है। वह चौबे बाबा के पीछे-पीछे 'वरमाला' लिये फिरती है, पर इन्होंने चाय गले लगा ली है और अब बुढ़ापे में तो एक का ही साथ अच्छा है। वह अपना परंपरागत धर्म निबाहते रहते तो आज ऑपरेशन की नौबत न आती। खैर, ऑपरेशन सफल हुआ। चौबे बाबा शतायु हों, और अब की अपनी भूल सुधार सकें तो बुरा नहीं है। चाय को मनवा लेने और भांग को तलाक दिला देने की जिम्मेदारी मेरी ही है, क्योंकि भांग से मेरा भी एक पीढ़ी का रिश्ता रहा है। मथुरा के चौबों के और उज्जैन के 'गुरुओं' की देखा-देखी मेरे पिताजी और चाचाजी भी भांग पिया करते थे। चौबे बाबा की तरह उनका यह 'भाऊ' भी निगोड़ा ही निकला!

चौबे बाबा से मेरा रिश्ता शुरू से ही 'मजाक' का रहा है। इससे मैं उनकी बराबरी नहीं कर सकता, पर उन्हें देखते ही मजाक होने लगता है। अतः इस लेख में की बरबस शुरुआत इसी तरह हो गई। विष्णु को

जैसे तुलसीदल, शिवजी को बिल्वपत्र और गांधीजी को सूतमाला चढ़ती है, वैसे ही चौबे बाबा को मजाक के पुष्प या 'गोले' 'लडुवे' की जगह चढ़ने चाहिए। उनके अभिनंदन का यह अच्छा तरीका होगा।

यों तो चौबे बाबा से पहली मुलाकात इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में हुई थी, जो कि महात्माजी की अध्यक्षता में हुआ था; पर वह तो शिष्टाचार मात्र होकर रह गई थी। असली मुलाकात बल्कि जमघट हमारा होने लगा तब जब अपने राम भी साबरमती आश्रम पहुंचे १९२१ में 'हिन्दी नवजीवन' निकालने के सिलसिले में और पांच साल तक वहीं रहे। मुझे जहां तक याद है, चौबे बाबा वहां पहले से ही अपना पड़ाव डाले हुए थे। मकान भी वहां मुझे मिला उनके पड़ोस में ही। वह वहां से, महात्माजी के तत्वावधान में और दीनबन्धु एण्ड्र्यूज के सहयोग से प्रवासी भारतवासियों का काम करते थे। पूरा दफ्तर खोल रक्खा था। इतने अखबार और उनकी कतरनों के ढेर लगे रहते थे कि उनकी कैंची, पेंसिल, चाकू तो खो ही जाते थे। चौबे बाबा भी उस ढेर में कभी खो गए हों तो आश्चर्य नहीं!

हमारा साथ वहां घूमने के समय प्रायः नित्य होता था। तीन मील से पांच मील तक हम साथ ही घूमने जाते थे। कभी गुजरात विद्यापीठ तक, कभी ऐलिस ब्रिज तक भी पहुंच जाते थे। दतौन हाथ में लिये, उसे चबाते और दांत मांजते रहते थे। कई प्रसंग निकलते थे, पर इस समय याद नहीं आ रहे हैं। उनकी सरल हृदयता, स्पष्टवादिता और अपने ही जोखिम पर विनोद करने की प्रवृत्ति उनके लिए हमेशा आदर उत्पन्न करती थी। कई आदमी दूसरों को नीचा दिखाते हुए मजाक करते हैं, परन्तु चौबे बाबा स्वयं अपने को 'मूर्ख' बनाने का खतरा मोल लेते थे। उन्हें दूसरों के गुण देखने का मर्ज है—जब-जब उनका स्मरण होता है:

परगुण-परमाणून पर्वतीकृत्य नित्यम्,
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

अभिनंदन 'गुणानुवाद' से अच्छा और क्या हो सकता है! उन्होंने अब तक हिन्दी के न जाने कितने गड़े पत्थरों को उखाड़कर तिरा दिया है। एक मित्र ने मेरे सामने एक हिन्दी-प्रेमी पर पुस्तक लिखने का प्रस्ताव रक्खा। मैंने कहा, वह तो कोई प्रसिद्ध पुरुष नहीं हैं तो उन्होंने उत्तर दिया, 'मुझे चतुर्वेदीजी ने सलाह दी है कि तुम उन हिन्दी-लेखकों के चरित्र लिखो, जिन्हें लोग कम जानते हैं, पर जो वस्तुतः अच्छे लेखक हैं।' यह एक ही सलाह चौबे बाबा के सारे हिन्दी जनता के सेवामय जीवन की कहानी की अच्छी व्याख्या है। वह स्वयं अच्छे लेखक, संपादक हैं ही, उनके अभिनंदन में इतनी देर नहीं होनी चाहिए थी। खैर, 'देर आयद दुरुस्त आयद।'

जो दूसरों को जिन्दा रखता है उसे मारना तो दूर कोई भुला भी कैसे सकता है! उनकी इस वृद्धावस्था में अब हमारे कर्तव्य की बारी है। चौबेजी की उम्र में एक मजेदार बात हुई। मेरी और चतुर्वेदीजी की उम्र में थोड़ा ही, कुछ महीनों का, शायद फर्क है। चौबे बाबा यह मानते रहे कि मैं बड़ा हूं। एक बार हिसाब लगाया गया तो चौबे बाबा बड़े साबित हो गए। जब मुझे उन्होंने बताया तो मैंने कहा, "चलो अच्छा हुआ। मुझे अब आपके पैर छूने का सौभाग्य मिलता रहेगा।" वैसे भी, भले ही वह उम्र में छोटे भी साबित हों तो भी सेवा और गुणों में तो वह बड़े ही हैं और रहेंगे। ●

श्रीमन्नारायण

कुटुम्ब के एक बुजुर्ग

श्रद्धेय बनारसीदासजी चतुर्वेदी से मेरा बहुत वर्षों से निकट का संबंध रहा है। वह फीरोजाबाद के निवासी हैं, जहां मेरी ननसाल है। पूज्य माताजी के रिश्तेदारों से मिलने के लिए मैं कई बार फीरोजाबाद आता-जाता रहा हूं। इस दृष्टि से हम आदरणीय बनारसीदासजी को अपने कुटुंब का ही एक बुजुर्ग मानते आये हैं।

जब श्री बनारसीदासजी 'विशाल भारत' के प्रख्यात संपादक थे तब से मैं उनकी प्रतिभाशाली लेखनी से परिचित हूं। उन दिनों उन्होंने 'घासलेटी' साहित्य के विरुद्ध 'विशाल भारत' द्वारा एक जिहाद उठाया था और अश्लील साहित्यकारों के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद की थी। इस आंदोलन का मेरे मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी के प्रति गहरा आदर पैदा हुआ। साहित्य में उन्होंने हमेशा सात्विक रुचियों को महत्व दिया है और वह उच्चकोटि के साहित्य के सृजन में अपना प्रोत्साहन व सहयोग देते रहे हैं। उन्हीं की प्रेरणा से मैं भी काफी वर्षों तक 'विशाल भारत' में लेख लिखता रहा था।

जब मैं वर्धा में था तब वह बीच-बीच में पूज्य बापूजी से मिलने सेवाग्राम आते थे। वह सदा से चाय के आदी रहे हैं। इसलिए उनके लिए गांधीजी चाय का विशेष प्रबंध करा दिया करते थे और इस सिलसिले में उनसे काफी विनोद भी होता रहता था। गांधीजी को चतुर्वेदीजी के प्रति बड़ी आत्मीयता थी और वह उन्हें एक सीधा, सत्यनिष्ट और सात्विक साहित्यकार मानते थे।

जब मैं कई वर्ष दिल्ली में रहा तब श्रद्धेय चतुर्वेदीजी से 'हिन्दी भवन' के सिलसिले में काफी घनिष्ठ संबंध आया। उनकी हार्दिक इच्छा रही कि दिल्ली का हिन्दी-भवन एक राष्ट्रीय संस्था बनाया जाय, जो देश की सभी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य का भी केंद्र बने। उनका हमेशा प्रयत्न रहा कि केवल भारत के ही नहीं, किंतु अन्य देशों के उच्चकोटि के साहित्यकारों का मान-आदर बढ़े और जनता के बीच उनके विचारों का प्रचार व्यापक बने। विशेषकर ऐसे साहित्यिकों को आगे लाने की उन्होंने हमेशा कोशिश की, जो ऊंचे दरजे के हैं, लेकिन जिनसे सामान्य जनता अधिक परिचित नहीं है।

आदरणीय चतुर्वेदीजी महात्मा गांधी के अनन्य भक्त रहे हैं। वह लेनिन के व्यक्तित्व से भी बहुत प्रभावित हुए हैं। उनकी राय है कि लेनिन और गांधी की विचारधारा को अधिक नज़दीक लाने की कोशिश की जाय। यह कहना कठिन है कि यह प्रयास कहां तक संभव होगा। गांधी-विचारधारा और साम्यवाद के उद्देश्य तो लगभग एक से ही हैं, किंतु उनकी प्रक्रिया व साधनों में मूलभूत मतभेद हैं। उन्हें अच्छी तरह समझ लेना हम सभी के लिए श्रेयस्कर होगा।

मुझे खुशी है कि चतुर्वेदीजी के प्रति आदर प्रकट करने के लिए एक अभिनंदन-ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है। मैं इस अवसर पर श्रद्धेय चतुर्वेदीजी को अपने हार्दिक अभिनंदन अर्पित करता हूं। ●

रामधारीसिंह 'दिनकर'

पूज्य और वरेण्य

●

पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी के साथ मेरी पहली मुलाकात सन १९३५ ई० में कलकत्ते में हुई, जव मैं जापानी कवि नोगुची के सम्मान में होने वाले कवि-सम्मेलन में भाग लेने को वहां गया हुआ था। 'विशाल भारत' उन दिनों पूरे उरूज पर था और उसमें मेरी वहुत-सी रचनाएं भी स्थान पा चुकी थीं। तबतक बनारसीदासजी के कितने ही पत्र भी मुझे प्राप्त हो चुके थे और हम दोनों का संवंध, बिना मुलाकात के ही, लगभग प्रगाढ़ हो चुका था।

'विशाल भारत' का आरंभ सन १९२८ ई० में हुआ था। सन १९२९ ई० में वायसराय की वह घोषणा प्रकाशित हुई, जिसमें कहा गया था कि भारत और इंग्लैंड के बीच क्या संबंध रहे, इस विषय पर विचार करने को लन्दन में एक गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया जायगा और उसमें भारत के सभी राजनैतिक दलों को भाग लेना चाहिए। कांग्रेस ने वायसराय की इस घोषणा का डट कर विरोध किया और मैंने देश के वातावरण से प्रभावित होकर 'वायसराय की घोषणा पर' नामक एक ज्वलंत कविता लिखी और उसे छपने को 'विशाल भारत' में भेज दिया, किंतु वह कविता 'विशाल भारत' में छपी नहीं, शीघ्र ही मेरे पास, बिना किसी टिप्पणी के, लौट आयी। अवश्य ही, संपादक ने सरकार के भय से उस कविता को 'विशाल भारत' में छापना वाजिव नहीं समझा था। वह कविता मेरे किसी संग्रह में भी नहीं आ सकी। उन दिनों मैंने 'रश्मिमाला' नामक एक संकलन तैयार किया था। यह संकलन भी प्रकाश में नहीं आ सका, किंतु मेरे हाथ की लिखी उसकी मूल प्रति काशी के 'भारत कला भवन' में सुरक्षित पड़ी है। 'वायसराय की घोषणा पर' नामक मेरी अप्रकाशित कविता उस संकलन में सम्मिलित है। जिन निवंध-लेखकों को उत्सुकता हो वे इस संकलन को 'भारत कला भवन' जा कर देख सकते हैं। जहां तक मुझे याद है, पंडित बनारसीदासजी ने मेरी और कोई कविता अस्वीकृत नहीं की थी।

उसी यात्रा में चतुर्वेदीजी मुझे 'विशाल भारत' के दफ्तर में ले गए और श्री ब्रजमोहनजी वर्मा के साथ मुझे मिलाते हुए बोले, "दिनकरजी, 'विशाल भारत' की बहू यही हैं।" वर्माजी बड़े ही हाजिरजवाब आदमी थे। छूटते ही उन्होंने कहा, "हूं बहू मगर अनब्याही हुई।"

नोगुची के स्वागत में जो कवि-सम्मेलन हुआ, वह अपने ढंग का बहुत ही अच्छा कवि-सम्मेलन था। उसमें बिस्मिल इलाहाबादी भी आये हुए थे। जहां तक मुझे याद है, बिस्मिल साहब ने अपनी कविता अंत में पढ़ी थी। बिस्मिल साहब में उर्दू के चुटीलेपन और कंठ, दोनों का मिलान था। उनका रंग कुछ ऐसा जमा कि चतुर्वेदीजी ने मुझसे कहा, "दिनकरजी, पं० पद्मसिंहजी शर्मा कह गए हैं कि हिन्दी और उर्दू कवि-सम्मेलन एक साथ नहीं करना। वह बात सत्य मालूम होती है।"

उसी यात्रा में चौबेजी के नेतृत्व में (यानी उनकी पंडागिरी में) हम लोग कलकत्ता से शान्ति-निकेतन गये। हमारे दल में श्रीमती महादेवी वर्मा और श्री मनोरंजनजी भी थे। गुरुदेव तभी से अस्वस्थ रहने लगे थे, अतएव इसकी आशा बहुत कम थी कि हम लोग गुरुदेव के दर्शन कर सकेंगे, किंतु चौबेजी की पंडागिरी ने इस असंभव को संभव बना दिया। संध्या समय गुरुदेव अपने 'श्यामली' नामक घर के बाहर वाले आंगन में हम लोगों से मिले। मेरी पुस्तक 'रेणुका' उन्हीं दिनों प्रकाशित हुई थी और उसकी एक प्रति मेरे साथ थी।

मैंने अपनी पुस्तक गुरुदेव के चरणों पर रखी। गुरुदेव उसे उठाकर उलटने-पलटने लगे। इतने में बनारसीदासजी अंग्रेजी में बोल उठे, "गुरुदेव, मैं आपसे कह चुका हूं कि जबतक आप हिन्दी नहीं सीखेंगे, तबतक मैं बंगला नहीं सीखूंगा।"

गुरुदेव ने जरा मुस्कराते हुए कहा, "पंडित, जीवन भर में मैंने तो कभी कुछ सीखा ही नहीं।" फिर वह बोले, "हिन्दी मैं पढ़ लेता हूं, सामान्यतः उसका अर्थ भी समझ लेता हूं, किंतु शब्दों के साथ जो वातावरण लिपटा होता है, उसे मैं नहीं समझ सकता। सच तो यह है कि शब्दों के साथ लिपटे हुए वातावरण का ज्ञान मुझे अपनी भाषा को छोड़कर और कहीं भी नहीं होता, यहां तक कि अंग्रेजी में भी नहीं।"

जब हम गुरुदेव से मिल कर लौटे, महादेवीजी ने कहा, "अह, गुरुदेव से हम लोगों ने व्यर्थ ही बुलवाया। ऐसी दिव्य मूर्ति का तो मौन भाव से केवल दर्शन करना चाहिए था।"

चौबेजी जब भी महापुरुषों से मिलते हैं, उन्हें हँसाने की कोशिश करते हैं। उस दिन भी उन्होंने गुरुदेव को हँसाने की कोशिश की थी और गुरुदेव दो-बार हँसे भी थे। इस उपलब्धि पर चौबेजी को नाज़ था। बाकी बातचीत की उन पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसे व्यक्त करते हुए चौबेजी ने कहा, "दिनकरजी, रवीन्द्रनाथ स्वीकार करते हैं कि अंग्रेजी शब्दों के साथ लिपटे हुए वातावरण को वह समझ नहीं पाते। यह एक ऐसी बात है, जिसकी खबर उन सभी भारतीय लेखकों तक पहुंचा दी जानी चाहिए, जो अपनी भाषाएं छोड़कर अंग्रेजी में लिख रहे हैं, विशेषतः कविताएं लिख रहे हैं।"

उन दिनों चतुर्वेदीजी के साथ मेरा पत्र-व्यवहार बड़ी तेजी के साथ होता था। जहां तक मुझे याद है, मेरे पत्र छोटे होते थे, किन्तु चौबेजी अक्सर लंबे पत्र भेजा करते थे। कभी-कभी उनके कार्ड भी आते थे। जब कविता के लिए तकाजा होता था, चौबेजी कार्ड के ऊपर लाल स्याही में लिखा करते थे—'तीन पैसे का तार।' यह भी होता था कि वह एक ही दिन में ३-३ कार्ड भेजते थे। कारण यह था कि आरंभ में वह समझते थे कि एक कार्ड से काम चल जायगा, मगर भावों के वशीभूत होकर वह ३-३ कार्ड लिख डालते थे।

जिस साल कलकत्ते में नोगुची-वाला कवि-सम्मेलन हुआ, उसी साल बरसात में पटना में एक साहित्य-समारोह हुआ, जिसमें पं० माखनलाल चतुर्वेदी, डा० हेमचंद्र जोशी, हिन्दी लाइनों के आविष्कर्त्ता श्री हरिजी गोविल पधारे हुए थे। उन दिनों मैं सब रजिस्ट्रार था और स्टेशन से १६ मील दूर बेलसण्ड नामक गांव में मेरी नियुक्ति थी। जिस दिन पटने में साहित्य-समारोह आरंभ हुआ, उसी दिन बेलसण्ड में भयानक बाढ़ आ गयी और बेलसण्ड से लेकर सीतामढ़ी तक सारी सड़क पानी के नीचे डूब गयी। मैंने साहित्य-समारोह में भाग लेने के लिए छुट्टी ले रखी थी, मगर बाढ़ ने भारी कठिनाई उत्पन्न कर दी। अतएव, मैंने स्थानीय डाक्टर श्री ज्ञानदा रंजन चक्रवर्ती को साथ लिया और दोनों जने बैलगाड़ी से कोई आठ बजे रात में स्टेशन के लिए रवाना हो गए। हम गांव से अभी मुश्किल से एक-दो मील आये होंगे कि भयानक वृष्टि शुरू हो गयी। गाड़ीवान बेचारा घबराने लगा। ऊपर से मूसलाधार मेघ बरस रहा था और नीचे का पानी गाड़ी के पाट को छू रहा था। सड़क कितनी ओर दाएं है और कितनी दूर बाएं, यह समझने का कोई उपाय नहीं था। फिर भी हम धीरे-धीरे आगे बढ़ते गए और दूसरे दिन आठ बजे भोर के करीब सीतामढ़ी पहुंच गए।

जब हम पटना पहुंचे, साहित्य-समारोह का दूसरा या तीसरा दिन चल रहा था। मेरे जाने से गंगा, बेनीपुरी, अम्बिका आदि मित्रों को भारी प्रसन्नता हुई, किंतु बनारसीदासजी को जब यह मालूम हुआ कि मैं कितनी मुसीबतें झेल कर सभा में आया हूं, तब वह हर्ष से गद्गद हो उठे। पटना आने पर सुना कि मेरे पहुंचने से पूर्व बनारसीदासजी सभा में यह घोषणा कर चुके थे कि अगर दिनकरजी अफ़्रीका में जनमे होते, तो उनसे

मिलने को मैं अफ़्रीका भी जरूर जाता। वैसे बात यह प्रोत्साहन की थी, किंतु वह इतनी जोरदार थी कि उससे जहां मेरे प्रशंसकों की संख्या में वृद्धि हुई, वहां मेरे दुश्मन भी कम नहीं बढ़े।

बनारसीदासजी प्रचारक बहुत अच्छे हैं। उनके लेख में जिन लोगों के नाम आते हैं, लेख की कतरनें वह उन सभी लोगों को भेजना पसंद करते हैं। मेरे पक्ष में उन्होंने कई तरह से प्रचार किया था। पटने की सभा में उन्होंने जो उद्‌गार प्रकट किया था, उसका जिक्र ऊपर आ चुका है। जब मेरी पहली पुस्तक 'रेणुका' प्रकाशित हुई, उन्होंने 'विशाल भारत' के संपादकीय स्तंभ में एक टिप्पणी लिखी, जिसका शीर्षक था 'उत्सव मनाइये' यानी कविता की एक दुर्लभ पुस्तक प्रकाशित हुई है, अतएव साहित्य-प्रेमियों को उत्सव मनाना चाहिए। यही नहीं, जब वह सेवाग्राम गये, उन्होंने मुझे लिखा कि 'रेणुका' की एक प्रति डाक से भेज दीजिए। वह मेरी कविताओं से गांधीजी को अवगत कराना चाहते थे और जब गांधीजी को पुस्तक देखने का समय नहीं मिला, तब किताब उन्होंने गांधीजी के शौचालय में भिजवा दी, गांधीजी जहां थोड़ा पढ़ा भी करते थे। जब गांधीजी बाहर आये, उन्होंने चौबेजी से पूछा, "क्या दिनकरजी आये हुए हैं?" किंतु मैं तो गया नहीं था। मैं यह जान कर बहुत ही प्रोत्साहित हुआ कि गांधीजी ने मेरी पुस्तक पर एक नजर डाल ली है।

चतुर्वेदीजी प्रचारक बढ़िया हैं, मगर वह जिसकी बड़ाई जोर से करते हैं, उसके प्रति बहुत-से लोगों के हृदय में द्वेष जग जाता है। इसका एक उदाहरण मैं खुद हूं। जब 'विशाल भारत' के संपादक ने कहा कि दिनकर की कविताएं मुझे बेहद पसंद हैं, तब अनेक नामी पत्र-पत्रिकाओं और आलोचकों ने मुझे देख कर मुंह बिचका लिये, मानों वे 'विशाल भारत' के मत का खंडन करना चाहते हों और चतुर्वेदीजी जिसके खिलाफ बोलते हैं, वह समाज की सहानुभूति प्राप्त करने में सफल हो जाता है। उग्रजी के चाकलेट को लेकर चतुर्वेदीजी ने घासलेटी आंदोलन चलाया था, किंतु साहित्य में ज्यादा लोग उस समय भी उग्रजी के प्रति अनुरक्त ही रहे। इसी प्रकार निरालाजी के 'वर्तमान धर्म' नामक निबंध को लेकर चतुर्वेदीजी ने साहित्यिक सन्निपात नामक आंदोलन चलाया था, किंतु उस आंदोलन के कारण निरालाजी की कोई खास क्षति नहीं हुई। यह एक दृष्टि है। किंतु एक दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि बनारसीदासजी के प्रचार से प्रतिक्रिया तो उत्पन्न होती है, किंतु अंततः उनका प्रचार कारगर हो जाता है।

मैं छोटी-सी सरकारी नौकरी में था और देशभक्ति की ज्वलंत कविताएं लिखता था। केवल लिखता ही नहीं, उन्हें सम्मेलनों में सुनाया भी करता था। चतुर्वेदीजी मेरे इन विरोधी आचरणों पर जब-तब चिंता व्यक्त किया करते थे और मुझे लिखते थे, "ये दोनों काम साथ-साथ नहीं चल सकते; या तो आपको नौकरी छोड़नी पड़ेगी अथवा क्रांतिकारी कविताएं लिखना बंद करना होगा।" यही बात उन्होंने एक बार राजेन्द्रबाबू से भी कही थी और लिखा था कि "आपके विषय में जो चिंता मेरी है, वही राजेन्द्रबाबू की भी है।"

चतुर्वेदीजी जो कुछ कहते थे, उसका सारांश मैं खूब समझता था, किंतु मैं अपनी परिस्थिति का दास था। न तो मैं नौकरी छोड़ सकता था, न मैं क्रांतिकारी कविताओं से मुंह मोड़ने को तैयार था। फिर भी चतुर्वेदीजी की आलोचना मेरे हृदय को मथती रहती थी। आखिर को नौकरी मैंने तब छोड़ी, जब देश आजाद हो गया और मुझे यह सुयोग दिखायी पड़ा कि नौकरी छोड़ कर मैं संसद का सदस्य हो सकता हूं।

बनारसीदासजी और मैं संसद के सदस्य एक ही साथ सन १९५२ ई० में हुए। उन दिनों मैं मजाक में चतुर्वेदीजी से कहा करता था कि "आपने सन १९३५ ई० से रट लगा रखी थी कि नौकरी छोड़ दो। सो नौकरी मैंने आपकी ही प्रेरणा से छोड़ी है और संसद की सदस्यता से मेरी क्षति-पूर्ति नहीं हो सकती। आपने मुझे एक लाख रुपये के घाटे में डाला है। मैं जब भी चाहूं, आप पर एक लाख का दावा दायर कर सकता हूं।"

चतुर्वेदीजी हिन्दी में शायद एक ही पत्र-लेखक हैं। उन्होंने जितना समय चिट्ठियां लिखने में खर्च किया है, उसका शतांश भी पत्र-पत्रिकाओं के संपादन अथवा ग्रंथ-लेखन में नहीं लगाया है। मुश्किल यह है कि उनके पत्रों में हिन्दी कम, अंग्रेजी बहुत ज्यादा रहती है। हिन्दी आंदोलन की प्रचंडता से घबरा कर इधर हाल से उनकी आदत में कुछ सुधार जरूर हुआ है, मगर अंग्रेजी में लिखने की उमंग उनके भीतर अब भी स्वाभाविक रूप में मौजूद है। एक बार राज्य सभा में जब हिन्दी पर बहस हो रही थी, चतुर्वेदीजी ने अपना भाषण अंग्रेजी में किया था। संसद में मैंने देखा था कि हिन्दीकरण के लिए जो आतुरता हम लोगों को सताती रहती थी, वह चौबेजी का स्पर्श भी नहीं करती थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कभी चौबेजी से कहा था कि "हिंदी को लोकप्रिय बनाना चाहते हो तो उसमें ऐसा साहित्य पैदा करो कि लोग खुद-ब-खुद हिन्दी सीखने को तैयार हो जायं।" चतुर्वेदीजी गुरुदेव के इस कथन को बराबर दुहराते थे।

पंडित बनारसीदासजी प्रिंस क्रॉपॉटकिन, थोरो और एमर्सन के भक्त हैं और इन महाचिंतकों के ग्रंथों का पारायण उन्होंने जीवन-पर्यंत किया है। प्रिंस क्रॉपॉटकिन के तो वह इतने बड़े भक्त हैं कि वह अपने को अराजकवादी भी कहते हैं। यह अराजकवादी विद्वान जब राज्य सभा का सदस्य नियुक्त हुआ, डाक्टर संपूर्णानन्दजी ने उसे अंग्रेजी में एक तार भेजा, जिसका अर्थ यह था :

"आपके राज्य सभा के सदस्य होने पर ईर्ष्यायुक्त प्रसन्नता हुई। कृपया प्रिंस क्रॉपॉटकिन की कुचली हुई आत्मा के प्रति मेरी समवेदना निवेदित कीजिए।"

चौबेजी का कहना है कि साहित्य में मैं परकीयावाद का प्रेमी हूं अर्थात किसी एक कवि या लेखक की स्वकीया बन कर रहना मुझे पसंद नहीं है। मैं नित्य नये माशूकों की तलाश में रहता हूं। जो भी लेखक या कवि अच्छा होगा, मैं उसका आशिक बन जाऊंगा। वाज़े रहे कि बात यहां साहित्य में परकीयावाद की हो रही है!

चतुर्वेदीजी विनोदी स्वभाव के व्यक्ति हैं और मजाक वह दूसरों का कम, अपना अधिक उड़ाते हैं। सूर्यास्त के बाद जब वह घूमने को निकलते हैं तब आप उनसे यह मत पूछिये कि वह कहां जा रहे हैं। ऐसे सवाल का वह बंधा-बंधाया जवाब यह देंगे कि "खबरदार, जब अंधेरा हो जाय, तब विधुरों और वेश्याओं से यह नहीं पूछना चाहिए कि वे कहां जा रहे हैं।" जब मेरी पुस्तक 'रेणुका' प्रकाशित हुई थी, किसी पत्र ने उसकी समीक्षा केवल एक पैरे में की थी। चतुर्वेदीजी ने मुझे पत्र लिखा, "दु:ख मत मानिये। यह पत्र सत्साहित्य की समीक्षा एक ही पैरा में करता है। वह अपना बाकी स्थान गोनोकिलर के विज्ञापन के लिए सुरक्षित रखता है।"

एक बार चतुर्वेदीजी और मैं मोटर से मथुरा जा रहे थे। संयोग ऐसा हुआ कि रास्ते में मोटर खराब हो गयी। अतएव हम दोनों एक हलवाई की दूकान में बैठ गए और समय काटने को उन्हें मैं अपना 'रश्मिरथी' काव्य कोई दो घंटे तक सुनाता रहा। उस समय एक कुत्ता कहीं से मारा-मारा आ गया और वह भी दो घंटों तक हमारे साथ बैठा रहा। तब से चतुर्वेदीजी को एक मसाला मिल गया। लोग जब भी मुझसे कविता पढ़ने को कहते, चतुर्वेदीजी कह उठते, "भई, हम और तुम काफी नहीं हैं। श्रोता के रूप में एक कुत्ते का भी हाजिर रहना जरूरी है। तभी दिनकरजी मूड में आते हैं।"

दिल्ली में एक बार उन्होंने मुझसे यह भी कहा था कि जो आदमी कामयाब हो जाता है, उसके लिए मेरे हृदय में प्रेम नहीं रह जाता। आप सब कामयाब हो गए, इसलिए मेरे भीतर वह ललक नहीं रही, जो पहले थी। मैंने जवाब दिया था कि सिद्धान्ततः यह बात ठीक है कि जो आदमी कामयाब हो जाता है वह प्रेम करने की योग्यता खो बैठता है और इसीलिए अन्य लोग भी उससे प्रेम नहीं करते; किन्तु मुझमें

तो प्रेम करने की योग्यता अभी मौजूद है और बहुत से लोग अब भी मुझसे प्यार करते हैं। अतएव मैं नाकामयाब आदमी हूं और आपके प्रेम पर मेरा अधिकार है।

दिल्ली में जब एशियाई लेखक-सम्मेलन होने लगा, मुझसे एक गलती हो गयी। वह सम्मेलन साम्यवादियों के प्रभुत्व में था, अतएव मैंने चाहा कि उसके एक सचिव श्रीयुत अज्ञेयजी भी हो जायं। अज्ञेयजी सचिव तो हो गए, किन्तु बनारसीदासजी ने समिति से इस्तीफा दे दिया। मैं बड़ा ही हतप्रभ हुआ। मुझे बारबार यह बात कचोटने लगी कि चौबेजी का इस्तीफा मेरे ही विरुद्ध है। जब लेखक-सम्मेलन समाप्त हो गया, मैंने मैथिलीशरणजी और नवीनजी से प्रार्थना की कि आप मुझे चौबेजी के यहां ले चलिये और उनसे क्षमादान दिलवा दीजिये। उन दोनों को साथ लेकर मैं चतुर्वेदीजी के पास पहुंचा और उनसे मैंने निवेदन किया, "इन दो महापुरुषों के समक्ष मैं आप महापुरुष से माफी मांगता हूं। ये मेरे दोनों कान आपके सामने हाजिर है। इन्हें मल दीजिये और मुझे क्षमा कीजिये, मगर आगे भी अक्ल मैं अपनी ही रखूंगा।" चौबेजी ठठाकर हँस पड़े और उनका गुस्सा मिनटों में काफूर हो गया।

चौबेजी जब रूस गये, उन्होंने अपने अराजकवादी विचार लोगों को वहां भी सुनाने शुरू किये। इस पर एक रूसी पत्रकार ने कहा, "मिस्टर बनारसीदास, भारत में अभी भी गड़बड़ी बहुत काफी है। क्या आप चाहते हैं कि वह और भी बढ़ जाय?"

रूस से लौटने के बाद चतुर्वेदीजी आनन्द से गद्‌गद थे और उनका वहां जो स्वागत-सत्कार हुआ था, उसका जिक्र वह बार-बार करते थे। मुझसे उन्होंने कहा था, "रूसवालों का मैं बड़ा कृतज्ञ हूं। जबतक जिऊंगा, उनका गुण गाता रहूंगा।"

दिल्ली में बनारसीदासजी की दिनचर्या यह थी कि वह खूब तड़के उठकर चाय पीते थे और छोटे-बड़े अनेक पत्र लिखते थे। फिर वह घूमने जाते थे और वापस आकर फिर पत्र लिखते थे। खा-पीकर वह सो जाते थे। नींद उन्हें तीन घंटे तक आती थी या नहीं, यह खुद चौबेजी जानते होंगे। मगर बाहर वह एक से चार तक एक नोटिस लटका देते थे, 'सो रहा हूं।' जब संसद पर उनकी कृपा होती, वह चार-पांच बजे घूमते-घामते संसद पहुंच जाते और हाजिरी बही पर दस्तखत करके फिर लौट जाते थे।

आरंभ में मैं संसद में काफी काम करने लगा था और लोगों में यह चर्चा फैलने लगी थी कि मैं मिनिस्ट्री के बहुत नजदीक पहुंच रहा हूं। यह सब बनारसीदासजी को अच्छा नहीं लगता था। वह मुझे बार-बार समझाते थे कि संसद को समय देना बेकार है। जो सुविधा और सुयोग मिला है, उसका सदुपयोग आराम करने और साहित्य लिखने में कीजिये। मेरा ख्याल है, चतुर्वेदीजी के उपदेशों का मुझ पर कुछ-न-कुछ असर जरूर पड़ा। लिहाजा प्रश्न-काल के बाद मैं भी सदन से गायब रहने लगा और केन्द्रीय हाल के बजाय ऊपर पुस्तकालय में ज्यादा बैठने लगा।

चौबेजी ने आलसी और आरामतलब बनने का उपदेश मुझे इतनी बार दिया कि उसका प्रसंग मेरी एक कविता में भी आ गया है:

वृथा फंसे हम सब, बनारसीदास सदा कहते हैं।
जंगल छोड़ कभी योगी क्या शहरों में रहते हैं?
मगर आन ही फंसे अगर तो समय नहीं खोओ रे,
जैसे मैं सोया रहता, तुम भी सुख से सोओ रे।

चौबेजी को पुस्तकें जुगाने का मोह नहीं है, किन्तु चिट्ठियां जुगाने का उन्हें रोग है। वह सफाई

से रहने पर खर्च नहीं करते, खर्च करते हैं अलमारियाँ और ट्रंक खरीदने पर, जिनमें चिट्ठियों के पुलिन्दे बन्द रहते हैं। उनके पास पुराने साहित्यकारों से लेकर नये-से-नये लेखकों और कवियों के पत्र हिफाजत से रखे हुए हैं। उनके पास गांधीजी, श्रीनिवास शास्त्री एन्ड्रूज, रोम्यां रोलां, पंडित महाबीरप्रसाद द्विवेदी, पंडित पद्मसिंह शर्मा और डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद के भी पत्र हैं और इन पत्रों को वह अपनी सबसे बहुमूल्य संपत्ति मानते हैं। पत्र तो चतुर्वेदीजी खूब जुगाते हैं, मगर वह यह भी जानते हैं कि सभी पत्र जुगाने लायक नहीं होते। सन १९३८ ई० का उनका एक पत्र मेरे पास है, जिसमें उन्होंने लिखा था :

"थोरो को जिंदगी में कुल दो चिट्ठियां ऐसी मिली थीं, जिन्हें दरअसल वह कीमती समझता था। मुझे भी बस दो ही पत्र ऐसे मिले हैं, जिनकी मैं कद्र करता हूं। चौदह हजार मील दूर बैठी एक महिला को मैंने काव्यमयी भाषा में लिखा था––क्या रात को आप गाना गाती हैं? मुझे यहां नींद नहीं आती। उसने जवाब दिया था, "हां, वायोलिन और मेण्डोलिन बजाती हूं। मुझे हर्ष है कि आप इतनी दूर से सुन लेते हैं।"

मैं भी मानता हूं कि यह पत्र कीमती है और जुगाने लायक भी। मगर दूसरा पत्र कौन था, यह राज चौबेजी ने मुझसे भी छिपा लिया। शायद उसमें ज्यादा खुफिया बातें रही होंगी!

बनारसीदासजी के रहन-सहन में सफाई नहीं है, मगर एक शौक उनका काफी खर्चीला है। वह सिर में जवाकुसुम का तेल रोज डालते हैं या शायद दिन में दो बार डालते हैं।

पं० बनारसीदासजी द्वारा लिखित, जो पहली पुस्तक मैंने पढ़ी थी वह थी 'कविरत्न सत्यनारायण की जीवनी'। यह जीवनी बड़े परिश्रम से तैयार की गयी थी। और हिन्दी में उसका महत्व मैं काफी बड़ा समझता हूं। उन्होंने भारत-भक्त एन्ड्रूज की जीवनी हिन्दी और अंग्रेजी, दोनों ही भाषाओं में लिखी है। इसी प्रकार चौबेजी ने रानडे और केशवचंद्र सेन के भी जीवन-चरित लिखे हैं।

चतुर्वेदीजी को संस्मरण और रेखाचित्र लिखने में भी कमाल हासिल है। 'रेखाचित्र', 'संस्मरण' और 'हमारे आराध्य', उनके ये तीन ग्रंथ काफी उच्चकोटि के हैं।

अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के अन्तर्गत विदेश विभाग खुलवाने में बनारसीदासजी का बहुत बड़ा हाथ था। पीछे कांग्रेस की ओर से प्रवासी भारतीयों की स्थिति का अध्ययन करने को वह पूर्वी अफ़्रीका में गये थे। यात्रा के विषय पर उनकी दो पुस्तकें हैं, एक अफ़्रीका के बारे में, दूसरी रूस के बारे में। उनकी एक पुस्तक है 'फिजी द्वीप में मेरे २१ वर्ष।' इससे लोगों को अनुमान होता है कि चौबेजी फिजी गये थे, किन्तु चौबेजी खुद फिजी नहीं गये हैं। यह पुस्तक चतुर्वेदीजी ने पं० तोताराम सनाढ्य की ओर से लिखी है, जो फिजी में २१ वर्ष रह कर भारत आये थे।

'फिजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' पुस्तक ने एक समय तहलका मचा दिया था। गुजराती में उसके अलग-अलग चार अनुवाद प्रकाशित हुए थे। इस पुस्तक के अनुवाद मराठी और बंगला में भी निकले थे। कहते हैं, इसी पुस्तक से प्रेरणा पाकर राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त ने 'किसान' काव्य की रचना की थी और सुभद्राकुमारी चौहान के पति लक्ष्मणसिंह चौहान ने 'कुली प्रथा' नाम का नाटक लिखा था। दीनबन्धु एन्ड्रूज ने इस किताब का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। श्री जयप्रकाशनारायण ने यह पुस्तक बचपन में पढ़ी थी और उससे वह काफी प्रभावित हुए थे।

बनारसीदासजी ने कोई बाईस वर्षों तक प्रवासी भारतीयों की सेवा ऐसी निष्ठा से की कि गांधीजी, एन्ड्रूज, श्रीनिवास शास्त्री आदि नेताओं के वह प्रिय पात्र हो गए। गांधीजी ने तो यहां तक लिख दिया था

कि मुझे और एन्ड्रयूज को छोड़कर और कोई भारतीय ऐसा नहीं है, जिसे प्रवासी भारतीयों के बारे में उतनी जानकारी हो, जितनी जानकारी बनारसीदास को है।

दिल्ली आकर बनारसीदासजी ने संसद का काम तो रत्ती बराबर भी नहीं किया, किंतु उनके समय का सदुपयोग एक दूसरी दिशा में काफी हुआ। दिल्ली में उन्होंने 'हिंदी भवन' कायम किया, यह उनकी पहली उपलब्धि है। मगर दूसरी ओर सबसे बड़ी उपलब्धि उनकी यह है कि शहीदों की स्मृति-रक्षा के लिए उन्होंने सत्रह ग्रन्थ और विशेषांक निकलवाये। चतुर्वेदीजी गांधीजी के पास रहे थे, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के पास रहे थे, कांग्रेस में प्रवासी भारतीयों का विषय उनके पास था, किन्तु, जेल वह नहीं भेजे गये थे। वह कहते हैं कि इसी पाप के प्रायश्चित के लिए मैं शहीदों का श्राद्ध कर रहा हूं। शहीद रामप्रसाद 'बिस्मिल' की बहन और भगतसिंह की माता की उन्होंने काफी सेवा की। उन्होंने ऐसे मृत और जीवित अनेक शहीदों के नामों को चमकाने का प्रयास किया, जिन्हें लोग भूलने लगे थे।

पुस्तकें चतुर्वेदीजी ने थोड़ी लिखी हैं। उनके बहुत-से लेख हैं, जो पुस्तकों में संकलित नहीं हुए हैं। इसके सिवा हिंदी में उनकी योजनाएं भी बहुत छपी हैं——वसन्तोत्सव मनाने की योजना, जनपदीय भाषाओं के उद्धार की योजना, घासलेटी साहित्य के बहिष्कार की योजना और हिन्दी साहित्य के प्रचार की योजना। योजनाओं के साथ चतुर्वेदीजी का नाम इतना सट गया है कि नागार्जुनजी ने उन्हें 'योजना बिहारी महा-स्थविर' की उपाधि ही दे डाली है।

बनारसीदासजी का हृदय निश्छल, व्यवहार-शालीन और करुणा अथाह है। वह शरीर से कहां रहते हैं, इस बात की चिंता उन्हें सताती ही नहीं। मन उनका हमेशा ऊंचे धरातल पर रहता है। गोर्की और टॉल्स्टॉय, थोरो और एमर्सन, रोम्यां रोलां और प्रिंस क्रॉपॉटकिन तथा गांधी और रवीन्द्र उनके आराध्य हैं। इन चिंतकों के सतत अभ्यास से उनका बौद्धिक व्यक्तित्व अराजकवादी हो गया है और अपने व्यक्तित्व का यह रूप उन्हें पूर्ण रूप से पसंद है। मगर अराजकवादी होते हुए भी वह गांधी और मार्क्स, दोनों को प्यार करते हैं। उनका अराजकवाद उनके प्रेम के विस्तार के लिए है। यह वह दर्शन है, जिसका सहारा लेकर वह खूबसूरती पर रीझते रहते हैं, गरचे देखने वालों को उनके भीतर विरोधी आचरण भी दिखलायी देते हैं। मगर विरोध कहीं है नहीं। अराजकवाद अराजकवाद है।

चतुर्वेदीजी मेरे पूज्य और वरेण्य हैं। मैंने केवल साहित्य में ही नहीं, वैयक्तिक जीवन में भी उनके उपदेशों से लाभ उठाया है। दो-एक बार उन्होंने मुझे गलत निर्णय लेने से भी रोका है। उनके रोष और तोष, दोनों को मैं जानता हूं, मगर उनके चरित्र में कोई छिद्र मुझे दिखायी नहीं पड़ा है। इसलिए जब वह यह लिखते हैं कि "अपनी त्रुटियों को मैं कभी नहीं छिपाता। मैंने बापू को अपने सारे अनाचार लिख भेजे थे।

दोस्त मेरा मुंह न देखें, उनको गर मालूम हो,
उनसे क्या कहता रहा और आप क्या करता रहा।"

तो यह रहस्य मेरी समझ में नहीं आता है। ●

राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह

आदर्श पुरुष

थोड़े दिन हुए, आगरे से श्रद्धेय चतुर्वेदीजी ने मुझे एक मार्मिक पत्र में लिखा था, "···७ ता० से मुझे यहां आना पड़ा है। ऑपरेशन तो अनिवार्य है ही। हां, उसकी तिथि निश्चित करने का प्रश्न है।···मैं विशेष चिंता नहीं करता, जो होगा, ठीक ही होगा। 'ग़ाफ़िल' ने ठीक ही कहा था :

अजल के नाम से 'ग़ाफ़िल', तेरा दिल क्यों दहलता है ?
मुसाफ़िर रोज जाते हैं, यह रस्ता खूब चलता है।

So it does'nt matter in the least whether the operation is successful or not. I have had a good inning no doubt. 77 is not so bad after all. But I do hope to celebrate my 80th birthday !"

अपने इस वर्णसंकरी पत्र में, जिसके वह आदी हैं, चतुर्वेदीजी ने अपने दो प्रधान गुणों का परिचय दिया है। स्वभाव में लापरवाही का और आशावादिता का। वह उन लोगों में हैं, जो संकटकाल में भी घबराहट को पास नहीं फटकने देते तथा फ़ाकामस्ती में भी आनन्द का अनुभव करते हैं। उन्हें मैंने कभी किसी बात के लिए बेचैन होते नहीं देखा। कार्यरत रहते हुए भी उसके फल के लिए उनके दिल में कभी अस्थिरता उत्पन्न होते नहीं देखी। हर परिस्थिति में प्रसन्न, उछाह से परिपूर्ण, यह उनकी प्रकृति का खास गुण है।

और जो सबसे बड़ा गुण मैंने उनमें पाया है वह है हृदय-औदार्य। किसी के लिए हृदय में आक्रोश नहीं, ईर्ष्या नहीं, बैर नहीं, सब के लिए शुभकामना, 'सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः' की भावना से परिप्लुत। मैं ऐसे कई लोगों को जानता हूं, जो उनसे उपकृत हो कर भी समय आने पर उनके विरुद्ध हो गए, उन्हें नुकसान तक पहुंचा डाला, पर उनके लिए भी श्री बनारसीदासजी के हृदय में सद्भावना ही बनी रही। बदला लेने की बात तो दरकिनार, कभी उनके खिलाफ दो शब्द भी उन्होंने नहीं निकाले। 'हाड़-मांस' के इस शरीर का ऐसा होना अतिशय कठिन होता है, 'सख्त मुश्किल है इस दुनिया में, इंसान का इंसां होना', पर वह एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके संबंध में यह कहा जा सकता है कि वह एक सच्चे इंसान हैं।

मेरा परिचय श्रीचतुर्वेदीजी से प्रथम पत्रों के द्वारा हुआ। कलकत्ते से स्व० रामानन्द चटर्जी महोदय ने 'विशाल-भारत' निकाला था और चतुर्वेदीजी के मजबूत कंधों पर उसके संपादन का भार डाल दिया था। मैं भी उसमें लिखा करता था। और इन लेखों के संदर्भ में मेरा उनसे अक्सर पत्र-व्यवहार होता था। पर मेरा उनसे साक्षात्कार १९२८ या २९ में स्व० श्री पद्मसिंहजी शर्मा के द्वारा हुआ। 'विशाल-भारत' के किसी अंक में एक चित्र प्रकाशित हुआ था—डोर में बंधे हुए, खेतों की ओर निर्निमेष नेत्रों से देखते हुए, एक हिरण का। चित्र भावप्रद था और मुझे कुछ ऐसा आकर्षक लगा कि मैंने उस पर एक कविता लिख डाली—'वन की याद।' उसकी प्रारंभिक पंक्तियां थीं :

अचानक आयी वन की याद,
आ गयी आंखों में जल-बूंद, हृदय में छाया परम विषाद।

हो रहा मंत्र-मुग्ध-सा हिरण, ले रहा बार-बार उच्छ्वास,
देखता खेतों को वह कभी, देखता कभी शून्य आकाश।

मैंने तभी पटने से मित्रवर पारसनाथ सिंह के सहयोग से हिन्दी-पुस्तक-प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया था और आदरणीय पद्मसिंहजी के लेखों का संग्रह 'पद्म पराग' हमारा पहला प्रकाशन था। उसी सिलसिले में मैं कलकत्ते आया हुआ था और श्री पद्मसिंहजी भी, और हम दोनों पारसनाथजी के साथ ठहरे हुए थे। मैंने वहीं यह तुकबन्दी लिखी और शर्माजी को दिखायी। उन्हें यह बहुत पसंद आई और वह मुझे साथ लेकर फौरन श्री बनारसीदासजी के डेरे की ओर चल पड़े। चौबेजी एक छोटे से कमरे में कुछ लिख रहे थे, शर्माजी की पुकार पर तुरंत बाहर निकल आये। शर्माजी ने मेरी ओर संकेत करके कहा—पहचानो अपने एक लेखक को। लेख छपते हैं, पर संपादक और लेखक की भेंट भी नहीं। और फिर मेरी वह कविता उन्होंने चौबेजी को दी, कुछ प्रशंसात्मक शब्दों के साथ, और कहा, "इसे 'विशाल-भारत' में छापो।" चौबेजी ने पुनः हिरण की वह तस्वीर विशाल भारत में छापी और उसके नीचे वह कविता।

काफी देर तक शर्माजी और चौबेजी के मज़ाक चलते रहे। मज़ाक करना और दूसरों के मज़ाक को पसंद करना, चौबेजी की विशिष्टता है। वह अक्सर विनोद में तुकबन्दियां लिख जाते हैं, कई बार अपने संबंध में भी, और उनके द्वारा मित्रों का मनोरंजन करते हैं। बहुधा इनमें अतिशयोक्ति होती है, खास कर जिनका संबंध अपने से होता है, पर वह मित्रों के मनबहलाव के लिए उन्हें लिख डालते हैं और उन्हें कह-कहों का कारण बना देते हैं। 'डूबि गये चौबे रस-रंग के चहबच्चे में' वाली रचना इन्हीं में से एक है। ऐसी बहुत-सी रचनाएं हैं चौबेजी की, जिनका यदि संग्रह छपे तो वह काफी मनोरंजक सिद्ध हो। हँसना और हँसाना चौबेजी की प्रकृति का एक आवश्यक अंग बन गया है। 'ज़िंदगी ज़िंदादिली का नाम है' और यह ज़िंदादिली उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है।

दूसरों के हंसी-मज़ाक के वह ग्राही ही नहीं हैं, बल्कि अक्सर उसके प्रचारक भी बन जाते हैं। आज से कई वर्ष पूर्व की घटना है। हम दोनों राज्य-सभा के सदस्य हो कर दिल्ली आये थे। एक दिन बात-ही-बात में मैंने चौबेजी से कहा, कि अमुक तिथि को मेरा जन्म-दिन है। आशा है, उस दिन आपके फ्लैट में (वह नार्थ-एवन्यू के एक फ्लैट में रहा करते थे) मेरी दावत होगी, पूर्ण चौबइया ढंग पर यही हुआ, और उक्त तिथि पर मुझे तथा दो-चार अन्य मित्रों को उन्होंने शानदार भोज दिया। इसके बाद और कई मित्रों के यहाँ महीने-दो महीने पर, मेरी जन्मदिन की दावतें होती रहीं। साल भर यह सिलसिला चला। चौबेजी को पता लगा तो उन्होंने पोल खोलना आरंभ किया। कहा, राजेश्वरबाबू का जन्मदिन तो अमुक तिथि को था, जब मैंने दावत दी थी। फिर साल भर जन्म-दिन कैसे आता रहा। यह निपट धूर्तता है, दावतें खाने की तिकड़मबाजी है, आदि-आदि। और इसका नतीजा यह हुआ कि मेरे मुंह की रोटी छिन गई, जन्म-दिन की मेरी दावतें बंद हो गईं हालांकि मेरी व्याख्या बहुत स्पष्ट थी—मेरा मतलब जन्म-दिन की तिथि से था, महीने से नहीं, पर चौबेजी का प्रोपेगंडा काम कर गया और मैं दावत विहीन हो गया। मेरी एक न चली!

चौबेजी आज भी इस घटना की चर्चा बड़े मज़ाकिया ढंग पर किया करते हैं, जभी ऐसे दो-चार मित्र इकट्ठा होते हैं, जो मुझे जानते हैं।

इसी तरह एक बार वह मुझे रूसी दूतावास के किसी विभाग में ले गये। उन्हें रूस जाना था और इसके संबंध में कुछ जानकारी प्राप्त करनी थी। दूतावास की एक नारी ने उठकर उनकी इस प्रकार से

अभ्यर्थना की, मानों उन दोनों की पुरानी जानपहचान हो (हालांकि बात ऐसी नहीं थी !)। बाहर निकलने पर मैंने छेड़खानी की, कहा, "चौबेजी, आज एक नयी बात का पता लगा मुझे।" वह ठठाकर हँसे और आजतक इस घटना की चर्चा जभी दो-चार दिल्ली के मित्र इकट्ठा होते हैं, किया करते हैं।

कृतज्ञता एक ऐसी वस्तु है, जो आज भी दुनिया में अतिशय विरल हो रही है, पर चौबेजी एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनमें यह प्रचुर परिमाण में प्राप्त है। दूसरों के उपकार को चाहे वह कितना भी छोटा और मामूली क्यों न हो, वह भूलते नहीं। यही नहीं, ढोल पीट-पीट कर वह इसका प्रचार तक करते हैं। उदाहरणार्थ, उन दिनों की घटना है जब वह राज्य-सभा के सदस्य थे और मैं राज्य-सभा की 'हाउस कमिटी' का अध्यक्ष था। नार्थ-एवेन्यू में कुछ नये और बड़े फ्लैट निर्मित हुए थे, उनका बंटवारा करना मेरे ही जिम्मे था। चौबेजी को एक बड़े फ्लैट की आवश्यकता थी। उन्होंने मुझसे इसकी चर्चा की। मैंने उनसे अनुरोध किया कि वह नये फ्लैटों में से एक फ्लैट स्वयं चुन लें, मैं उसे ही उनके नाम कर दूंगा। ऐसा ही हुआ। उन्होंने नम्बर ९९ का फ्लैट चुना और मैंने उसे उनके नाम से 'एलॉट' कर दिया। बहुत मामूली-सी बात थी, बहैसियत एक सदस्य के वह मकान-प्राप्ति के अधिकारी थे। यदि मैंने उन्हें फ्लैट दिया तो यह कोई एहसान न था, फिर भी वह आजतक इस घटना की चर्चा करते हैं या यों कहिए कि इस तथा-कथित एहसान का ढोल पीटते रहते हैं। मैं इसे उनका बड़प्पन मानता हूं।

श्रद्धेय बनारसीदासजी उन इने-गिने शुद्ध साहित्यिकों में हैं, जो साहित्य के लिए साहित्य-सेवा करते हैं, पैसों के लिए नहीं। ऐसे साहित्यिकों की, हिंदी में, एक पीढ़ी थी, जो अब समाप्त-प्राय है। एक समय था जब ऐसे सुहृदजनों का हिन्दी में एक बाहुल्य-सा था। द्विवेदीजी, पद्मसिंहजी, विद्यार्थीजी, प्रेमचन्दजी, गौड़जी, हरिऔधजी, शंकरजी, रामचन्द्र शुक्लजी---पचासों ऐसे नाम ध्यान पर आते हैं, जिन्हें यदि लिखा जाय तो एक लम्बी सूची तैयार हो जाय। पर अफ़सोस ! साहित्य-सेवा की जो भावना उन्हें प्रेरित करती थी, वह आज लुप्तप्राय-सी हो रही है। आज तो, बकौल अकबर

भरते हैं मेरी आह फ़ोनोग्राफ़ में।
कहते हैं फीस लीजिए और आह कीजिए!

सारी रचनाएं हम आज फीस के लिए कर रहे हैं, न स्वान्त:सुखाय और न सरस्वती की गोद भरने के लिए।

पर इसके अपवाद हैं चतुर्वेदीजी। उन्होंने कभी पैसे के लिए साहित्य-सृजन नहीं किया और यही कारण है कि बावजूद इसके कि उन्होंने कई बड़ी मूल्यवान पुस्तकें लिखी हैं, रायल्टी से उनकी आमदनी नहीं के बराबर है। एक साधारण दर्जे के साहित्यकार की आमदनी का अल्पांश भी नहीं। कारण स्पष्ट है। उनकी कृति कनाट प्लेस के बरामदों में लगी हुई पुस्तकों की दुकानों में बिकने के काबिल नहीं है। औरं न सिफारिश से बड़े-बड़े सरकारी आर्डरों की उपलब्धि प्राप्त करने की उनमें क्षमता और आकांक्षा है। उनकी कृतियां उच्चकोटि की हैं, ऐसी जो किसी और देश में काफी चाव से पढ़ी जातीं, पर निम्न श्रेणी के उपन्यास और कहानियां न होने के कारण हिन्दी-जगत में लोकप्रियता न प्राप्त कर सकीं :

बूट डासन ने बनाया, मैंने एक मजमूँ लिखा।
हिन्द में मजमूँ न फैला, और जूता चल गया।

वाली बात है।

स्व० पंडित पद्मसिंह शर्मा ने एकबार चतुर्वेदीजी को लिखा था, "आपकी यह दूसरी पत्री पढ़कर

और भी दूना दुख हुआ। वह मुझे बहुत ही व्यथित कर रही है। पर क्या करूं "दयालारसमर्थस्य दुःखायैव दयालुता।" मन मसोस कर रह जाता हूं। सैदा को यह जादू-भरा शेर शायद आप ही के लिए इलहाम हुआ था:

"निगह कीमत कहीं दिल की तू इस पर भी गरां समझे,
जो नक़्दे-जाँ से बिकता हो कहीं तो मुझको दिलवाता?

आप भी इसे याद कर लीजिए। आपके हस्बहाल है। इसीलिए मुझे पसंद है।"

गरज़ यह कि चतुर्वेदीजी को जीवन में एक नहीं, बार-बार संसार की अकृतज्ञता आदि के कड़वे घूंट पीने पड़े, पर उनके स्वभाव पर इसका कोई असर नहीं आया। परोपकार उनके जीवन का मूलमंत्र बना रहा है और नये लेखकों को प्रोत्साहन देना उनके साहित्यिक और संपादकीय जीवन का मुख्य सिद्धांत। ब्रहैसियत 'विशाल-भारत' संपादक उन्होंने अनेक नये लेखक और कवियों को आगे बढ़ाने की चेष्टा की।

चतुर्वेदीजी अपने जीवन के ७८वें वर्ष में पदार्पण कर रहे हैं। परमात्मा से मेरी प्रार्थना है कि वह उन्हें शतायु करे और जीवन के अंतिम काल तक वह अपनी अमूल्य कृतियों से मां भारती का भवन भरते रहें। ●

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

कलकत्ता और दिल्ली की यादें

●

आज से ४१ वर्ष पहले मैंने स्नातकोत्तर शोध का कार्य प्रारंभ ही किया था कि कलकत्ता में 'माडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी' के साथ हिंदी में 'विशाल भारत' के प्रकाशन की घोषणा हुई। हम विद्यार्थियों पर 'मार्डन रिव्यू' का बड़ा रौब था और उसके संचालक रामानंदबाबू के लिए मेरे हृदय में अत्यंत सम्मान का भाव था। मालूम हुआ कि प्रवासी भारतीयों की मूल्यवान सेवा करनेवाले पं० बनारसीदास चतुर्वेदी इस पत्र का संपादन करेंगे। चतुर्वेदीजी की कितनी ही रचनाएं मैं पढ़ चुका था और उनके लिए मेरे हृदय में आदर-भावना थी। इस समाचार से उनका रौब भी ग़ालिब हो गया। हम सभी लोगों को यह विश्वास हो गया था कि 'विशाल भारत' हिंदी का सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र होगा।

तबतक मेरा विद्यार्थी-जीवन भी समाप्त नहीं हुआ था। और कुल जमा मैंने तीन कहानियाँ लिखी थीं, जो हमारे विश्वविद्यालय से निकलनेवाले एक अल्पज्ञात मासिक पत्र में प्रकाशित हुई थीं। अकस्मात एक दिन मुझे 'विशाल भारत' के संपादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का व्यक्तिगत पत्र मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था कि मेरी उक्त तीनों कहानियां उन्होंने पढ़ी हैं और उन्हें वे बहुत पसंद आई हैं। चतुर्वेदीजी ने आग्रह किया था कि मैं 'विशाल भारत' के लिए कहानियां लिखूं, बल्कि जहां तक संभव हो, सिर्फ

'विशाल भारत' को ही अपनी कहानियां प्रकाशित करवाने का माध्यम बनाऊं। उन्होंने लिखा था कि हम प्रति मास आपकी एक कहानी खुशी से छापेंगे। यदि आप प्रति मास एक से अधिक हिन्दी कहानी लिखें तो भले ही किसी अन्य पत्र में प्रकाशनार्थ भेजें।

यह एक सचाई है कि बनारसीदास चतुर्वेदी के उस पत्र से मुझे जो प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, उतना आज तक अन्य किसी एक बात से प्राप्त नहीं हुआ। जबतक 'विशाल भारत' चतुर्वेदीजी के संपादकत्व में प्रकाशित होता रहा, मैंने अपनी सभी कहानियां केवल 'विशाल भारत' में प्रकाशनार्थ भेजीं, सिर्फ एक अपवाद के साथ, जिस महीने में मैंने दो कहानियां करीब-करीब एक साथ लिखी थीं, बल्कि प्रेमचंदजी ने एक बार मुझसे शिकायत के तौर पर कहा था कि आप सिर्फ 'विशाल भारत' ही को अपनी कहानियां क्यों देते हैं? साहित्य के क्षेत्र में इस तरह का 'एकपत्नीत्व' (मोनोगेमी) ज्यादती नहीं तो क्या है!

चतुर्वेदीजी से पहली बार मेरी मुलाकात हुई दिसम्बर १९३२ में। कलकत्ता पहुंचते ही मैंने चतुर्वेदीजी को फोन किया और दूसरे दिन ११ बजे उन्होंने मुझे 'विशाल भारत' कार्यालय में बुलाया। उसी एक दिन में मैं जैसे संपूर्ण 'प्रवासी' कार्यालय के निकट संपर्क में आ गया। 'विशाल भारत' कार्यालय में श्री ब्रजमोहन वर्मा और श्री धन्यकुमारजी से मिला ही, रामानंदबाबू तथा उनके दोनों सुपुत्रों से भी मुलाकात हुई। चतुर्वेदीजी ने वहां अत्यंत आत्मीयता-भरा वातावरण बना रक्खा था। संपादक से लेकर रामधन चपरासी तक जैसे एक ही परिवार के सदस्य थे। 'विशाल भारत' के आत्मीयता-भरे इस वातावरण का स्पष्ट प्रभाव संपूर्ण 'प्रवासी'-कार्यालय में व्याप्त था, यहां तक कि प्रेस में भी 'विशाल भारत' के कंपोजीटर तक अपने को उक्त परिवार का सदस्य अनुभव करते थे।

उस दिन लगभग एक घंटे तक दफ्तर में साहित्य-चर्चा रही। किसी तरह का कोई दबाव या प्रतिबंध वहां दिखाई नहीं दिया। चतुर्वेदीजी की इज्जत सभी करते थे, पर किसी तरह का डर या दफ्तरी अनुशासन वहां नहीं था।

कलकत्ता में मेरे मेजबान श्री रामलाल मल्लिक तथा उनकी पत्नी श्रीमती सत्यवती मल्लिक थे। दूसरे दिन प्रातः हम तीनों ईडन गार्डन में सैर के लिए गये। वहां जापानी पुल के पास पहुंचकर बहनजी ने बताया कि दो-एक दिन पहले जब वह सैर के लिए यहां आई थीं, तो उन्होंने खद्दर का धोती-कुर्ता पहने एक विशालकाय पण्डे को एक विदेशी महिला के साथ इसी जगह देखा था। बहनजी ने कहा, "पण्डे साहब, खूब अच्छी अंग्रेजी में उस महिला को जैसे लेक्चर पिला रहे थे और वह महिला बहुत प्रभावित दिखाई दे रही थी। यह देख कर मुझे खुशी हुई कि पण्डे भी खद्दर पहनते हैं और वे विदेशी महिलाओं को भी प्रभावित कर सकते हैं। मालूम होता है, वे लोग आज इधर नहीं आये।"

जापानी पुल से आगे बढ़ कर हम लोगों ने मोड़ लिया ही था कि दूसरी ओर से आते हुए पं० बनारसीदास चतुर्वेदी पर मेरी निगाह पड़ी। बहनजी ने धीरे से मुझसे कहा, "यही वह पण्डा साहब हैं। मालूम होता है, वह विदेशी महिला आज इनके साथ नहीं आई।"

मुझे बरबस हँसी आ गयी। मैंने आगे बढ़कर मल्लिक-दंपती का परिचय चतुर्वेदीजी से करवाया। लगे हाथ पण्डे वाली बात भी उन्हें सुना दी। चतुर्वेदीजी खूब कहकहा लगा कर हँसे और बोले, "आपने मुझे खूब पहचाना। चौबे लोग पण्डे तो होते ही हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी मुझे शांतिनिकेतन का पण्डा ही कहते हैं।"

कलकत्ता उन दिनों हिंदी का सबसे बड़ा केंद्र था। दस लाख से ऊपर ऐसे हिंदी-भाषी वहां रहते थे, जिनमें से साक्षरता ८० प्रतिशत के लगभग थी। किसी भी हिंदी वाले अन्य नगर की आबादी उन दिनों १० लाख नहीं थी। पुस्तक-प्रकाशन, पत्र-प्रकाशन, बिक्री आदि की दृष्टि से भी तब का कलकत्ता हिंदी का सबसे बड़ा केंद्र था। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी इस हिंदी क्षेत्र के अत्यंत प्रमुख व्यक्ति थे, जिनकी इज्जत मारवाड़ी करोड़पतियों से लेकर हिंदी के नये लेखक तक करते थे। चतुर्वेदीजी का बंगाली बुद्धि-जीवी वर्ग से भी बहुत अच्छा संपर्क था। यह एक तथ्य है कि बंगला और हिंदी-लेखकों, पत्रकारों तथा बुद्धि-जीवियों में परस्पर निकटता और स्नेह लाने में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने अत्यंत मूल्यवान काम किया। इस पहलू का सबसे उज्ज्वल पक्ष यह है कि यह अत्यंत उपयोगी कार्य आप-से-आप होता चला गया। इसके लिए किसी योजना-बद्ध रूप से प्रयास करने की आवश्यकता नहीं हुई। चतुर्वेदीजी ने प्रवासी-कार्यालय में कलकत्ता के साहित्यकारों तथा पत्रकारों में तथा विश्व-भारती में (जहां गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पास वह निरंतर आते-जाते थे) ऐसा वातावरण बना दिया था कि यह काम स्वतः ही होता चला गया।

उस वर्ष मैं कलकत्ता में लगभग एक मास रहा। मल्लिक-परिवार इतना सुसंस्कृत और स्नेह पूर्ण है कि चतुर्वेदीजी बहुत शीघ्र इस परिवार के घनिष्ठ मित्रों में सम्मिलित हो गए।

मेरी वह कलकत्ता-यात्रा इतनी सुखद और सफल रही कि मैं सर्दियों में नियमित रूप से प्रति वर्ष कलकत्ता जाने लगा। सन १९३४ के दिसम्बर मास में सुप्रसिद्ध जापानी कवि नोगुची गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निमंत्रण पर भारत में आये। उनके सम्मान में कलकत्ता में एक अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन आयोजित किया गया। चतुर्वेदीजी भी इस सम्मेलन के आयोजकों में थे। वैसा शानदार हिंदी कवि-सम्मेलन मैंने दूसरा नहीं देखा। इसी अवसर पर दिनकर और बच्चन से मेरा प्रथम परिचय हुआ था। कविवर नोगुची उन दिनों बहुत व्यस्त थे। चतुर्वेदीजी ने उनसे मिलने का समय मांगा था। सम्मेलन से दूसरे दिन की प्रातः इस मुलाकात के लिए चतुर्वेदीजी को सिर्फ दस मिनट दिये गए। चतुर्वेदीजी दिनकरजी को तथा मुझे भी अपने साथ ले गये। ठीक समय नोगुची गोल कमरे में आये और इतना कम समय देने के लिए उन्होंने माफी मांगी।

उस मुलाकात में चतुर्वेदीजी की प्रभावित कर सकने की शक्ति देख कर मैं दंग रह गया। चतुर्वेदीजी अपनी जेब में एक जापानी कलम ले गये थे। बातचीत शुरू होते ही चतुर्वेदीजी ने अंग्रेजी में कहा, "मैं अधिकांशतः सिर्फ भारतीय वस्तुएं ही खरीदता हूं। पर जापान को मैं भारत का निकटतम बंधु मानता हूं, इससे मैंने यह जापानी पेन खरीदा था। पर अब मैं सोच रहा हूं कि इस पेन को गंगा नदी में फेंक दूं और भविष्य में कभी कोई जापानी वस्तु न खरीदूं।"

यह सब सुनकर (नोगुची साहब अंग्रेजी अच्छी तरह जानते थे) कवि महोदय सचमुच चौंक गए। उन्होंने पूछा—"पर क्यों?"

"इसलिए कि जापान ने कोरिया पर आक्रमण किया है। —कोरिया, जो हमारे एशियाई मातृ-मंडल का सबसे छोटा सदस्य है।"

कवि नोगुची ने बड़ी नरमी से कहा, "मैं राजनीतिक व्यक्ति नहीं हूं, पर मानवता पर मेरा अखंड विश्वास है। एशियाई देशों में सचमुच परस्पर मातृ-भाव और संयोग बढ़े, यह भी मैं चाहता हूं। पर अभी परिस्थितियां ऐसी हैं कि मानव कितनी ही ऐसी बातें करने को बाधित हो रहा है, जिनके

बिना उसका अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है।" यह कह कर बहुत संक्षेप में उन परिस्थितियों का जिक्र उन्होंने किया।

बातचीत शीघ्र ही साहित्य-चर्चा के रूप में बदल गयी। पर उस चर्चा को भी चतुर्वेदीजी ने इस हद तक मानवीय तथा क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर रक्खा कि कविवर नोगुची चतुर्वेदीजी से कुछ नयी जानकारी प्राप्त करने को उत्सुक हो गए। फिर तो हम लोगों की यह बातचीत एक घंटे तक जारी रही। बातचीत की समाप्ति पर कवि महोदय ने चतुर्वेदीजी को हार्दिक धन्यवाद दिया।

मैं दिसम्बर के प्रारंभ में कलकत्ता पहुंचता और वहां गोष्ठियों तथा पिकनिकों का तांता जारी हो जाता, जिनमें बहुत से परिवार सम्मिलित होते थे। हरि जी० गोविल और उनकी पत्नी, पंडित तथा श्रीमती सुदर्शन, पृथ्वीराज कपूर, उनकी पत्नी तथा तीनों पुत्र (राज, शम्मी तथा शशि) जो उन दिनों बच्चे थे, आदि इन पिकनिकों में शामिल होते। बोटेनिकल गार्डन, डाइमण्ड हारबर आदि में ये पिकनिकें होतीं, जहां साहित्य और संस्कृति संबंधी चर्चाएं चलतीं। वातावरण अत्यंत सौहाद्र-पूर्ण रहता।

चतुर्वेदीजी लगभग बारह वर्ष कलकत्ता में रहे। इन १२ वर्षों में कोई दस बार मैं कलकत्ता गया और मैंने वहां कुल मिलाकर कम-से-कम आठ मास जरूर बिताये। इस तरह चतुर्वेदीजी की कृपा से मैं बंगाल की गतिविधि और चिंतन से खासी अच्छी तरह परिचित हो गया। बंगाल के सभी क्षेत्रों के नेता उन दिनों बंगाल को प्रत्येक दृष्टि से भारत का सर्वतोन्नत प्रांत मानते थे। साहित्य के क्षेत्र में बंगालियों को यह जानकर खुशी होती थी कि बंगाली साहित्य का भारत की अन्य भाषाओं में अनुवाद हो रहा है। वे बड़े गर्व से कहते थे कि शरतचंद्र चट्टोपाध्याय हिंदी में इतने लोकप्रिय हैं कि हिंदी के हजारों पाठक उन्हें हिंदी का ही लेखक समझते हैं। इसी तरह मधुसूदन दत्त, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, द्विजेन्द्रलाल राय, राखालदास बनर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि भी हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अत्यंत सुप्रसिद्ध तथा लोकप्रिय हैं। पर वे अन्य भारतीय भाषाओं से बंगाली में अनुवाद नहीं करना चाहते थे। चतुर्वेदीजी के प्रभाव से बंगाल के कितने ही जाने-माने चिंतकों की समझ में यह बात आने लगी कि यदि बंगाल ने भारत की अन्य भाषाओं में होनेवाली गतिविधि और प्रवृत्तियों की इसी तरह उपेक्षा की तो शीघ्र ही बंगाल पिछड़ जायगा। सन १९३५ में श्री नीरद चौधरी (जो चतुर्वेदीजी के निकट संपर्क में थे) से उक्त विचार सुनकर मुझे बहुत खुशी हुई थी। जो बंगाली चिंतक और लेखक चतुर्वेदीजी के संपर्क में आ रहे थे, उनका दृष्टिकोण अधिक व्यापक, उदात्त और अखिल भारतीय बनता चला जा रहा था। चतुर्वेदीजी के संपर्क में रामानंदबाबू जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति का दृष्टिकोण अधिकाधिक अखिल भारतीय बनता चला गया।

सन १९३५ में ही चतुर्वेदीजी के सुझाव पर शांतिनिकेतन में 'हिंदी-कहानी' पर मेरा युनिवर्सिटी एक्स्टैन्शन व्याख्यान रक्खा गया। इस व्याख्यान का सभापतित्व स्वयं गुरुदेव ने स्वीकार किया था। कलकत्ता के हिंदी प्रेमियों की एक टोली चतुर्वेदीजी के नेतृत्व में शांतिनिकेतन पहुंची। वहां हम लोगों का बहुत अच्छा स्वागत किया गया। मल्लिक-परिवार, पंडित तथा श्रीमती सुदर्शन और मौलवी ज़कारिया आदि इस टोली में थे। मेरी वह प्रथम शांतिनिकेतन-यात्रा थी। इसके बाद तो मैं जैसे शांतिनिकेतन का एक सदस्य ही बन गया। व्याख्यानवाले दिन गुरुदेव का स्वास्थ्य ठीक नहीं था, इससे डाक्टरों ने उन्हें कोई भी कार्य करने से मना कर दिया। तब आचार्य क्षितिमोहन सेन ने उक्त व्याख्यान की अध्यक्षता की। अगले दिन प्रातः गुरुदेव ने हम लोगों को अपने यहां निमंत्रित किया। इस मुलाकात के लिए डाक्टरों ने सिर्फ

२० मिनट का समय निश्चित किया था। हम सब लोग गुरुदेव से अपरिचित थे। चतुर्वेदीजी तथा श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दो-चार मजाक करके वातावरण को वहुत सहज बना दिया। गुरुदेव ने पूछा कि कल के व्याख्यान में क्या बातें प्रतिपादित की गयीं। जब कहानी के संवंध में चर्चा शुरू हुई तो गुरुदेव उस बातचीत में इतना तन्मय हो गए कि डाक्टरों के बार-बार घड़ी दिखाने पर भी लगभग एक घंटे तक यह बातचीत जारी रही। इस बातचीत में गुरुदेव ने कुछ इतनी महत्वपूर्ण बातें कहीं कि कलकत्ता के सभी पत्रों ने उस बातचीत का समाचार डबल कालम में छापा था। गुरुदेव को उस मनोभाव में लाने का श्रेय चतुर्वेदीजी को था।

चतुर्वेदीजी के प्रयत्न से शांतिनिकेतन में ‘हिंदी भवन’ की स्थापना हुई। इस ‘हिंदी भवन’ द्वारा अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। हिंदी के प्रति पूर्वी भारत का मित्रता-पूर्ण रुख बनाने तथा हिंदी के विकास में शांतिनिकेतन के हिंदी भवन का योगदान अत्यंत मूल्यवान है। किसी ने ठीक ही कहा था कि इसी ‘हिंदी भवन’ द्वारा हिंदी को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसा प्रतिभाशाली विद्वान प्राप्त हुआ।

चतुर्वेदीजी के संपादकत्व में ‘विशाल भारत’ निरंतर हिंदी का सर्वश्रेष्ठ मासिक बना रहा। उस युग में यह पत्र कितनी ही नई प्रतिभाओं को प्रकाश में लाया। राहुल सांकृत्यायन, जैनेन्द्र कुमार, दिनकर, बच्चन, अज्ञेय आदि। सन १९३२-३३ में श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन दूसरे लाहौर षडयंत्र केस के अभियुक्त के रूप में जेल में थे। जेल में उन्होंने कहानियां और कविताएं लिखी थीं। वात्स्यायनजी के सबसे बड़े भाई मेरे मित्र डा० वात्स्यायन जेल में उनसे मिलने गये तो उन रचनाओं की पांडुलिपि अपने साथ ले आये। कहानियों की पाण्डुलिपि सबसे पहले उन्होंने मेरे हवाले की। इस नये लेखक की प्रतिभा उन रचनाओं से स्पष्टतः अभिव्यक्त होती थी। कई तरह के सोच-विचार के वाद इनमें की कुछ रचनाएं पं० बनारसीदास चतुर्वेदीजी के पास कलकत्ता भेजी गईं। स० ही० वात्स्यायन तब जेल में थे, इससे उनका नाम देना खतरे से खाली नहीं था। काफी चिंतन के बाद ये रचनाएं ‘अज्ञेय’ नाम से ‘विशाल भारत’ में छपने लगीं। मुझे ठीक से याद नहीं कि ‘अज्ञेय’ नाम जैनेन्द्रजी ने दिया या स्वयं चतुर्वेदीजी ने। बहरहाल स० ही० वात्स्यायन हिंदी में अज्ञेय नाम से प्रसिद्ध हो गए। चतुर्वेदीजी ने जब ‘विशाल भारत’ से अवकाश ग्रहण किया तो अज्ञेयजी को ही उक्त पत्र का संपादकत्व सौंपा था।

‘विशाल भारत’ के संपादकत्व काल में चतुर्वेदीजी एक बार लाहौर भी आये थे। सन १९३५ में बिना किसी पूर्व सूचना के वह लाहौर पहुंचे और अज्ञेयजी के घर पर ठहरे। मेरे घर पर उन दिनों टेलीफोन नहीं था, इससे अज्ञेयजी के बड़े भाई डाक्टर वात्स्यायन मुझे बुलाने आये। मैंने उनसे पूछा कि चतुर्वेदीजी से मिलकर आप पर क्या प्रभाव पड़ा है? डाक्टर वात्स्यायन ने कहा कि “वह अत्यन्त दिलचस्प व्यक्ति प्रतीत होते हैं। जब से आये हैं, बहुत मनोरंजक बातचीत का सिलसिला जारी है। सच्चिदानंद के रूप में उन्हें एक बहुत अच्छा श्रोता भी मिल गया है।” कुछ देर चुप रह कर उन्होंने कहा, “चतुर्वेदीजी के संवंध में एक बात मैं कभी नहीं भूलूंगा। वह चाय प्यालियों के हिसाब से नहीं, बल्कि केतलियों के हिसाब से पीते हैं।”

लगभग १० वर्षों के टीकमगढ़-वास में चतुर्वेदीजी ने जनपदीय तथा क्षेत्रीय पुनरुत्थान में जो दिलचस्पी ली, वह हिंदी जगत में चर्चा का विषय बनी रही। मेरा उनसे निरंतर पत्र-व्यवहार रहा। नीली और लाल स्याही में लिखे गए और जगह-जगह रेखांकित चतुर्वेदीजी के बीसियों पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं।

सन १९५२ में यह जान कर मुझे बहुत अधिक खुशी हुई कि चतुर्वेदीजी राज्य सभा के सदस्य के

रूप में दिल्ली आ रहे हैं। यह खबर भी मिली कि चतुर्वेदीजी पार्लमेंट में आना स्वीकार नहीं कर रहे हैं। मैंने उन्हें एक आग्रह-भरा पत्र लिखा कि अराजकतावाद वाले अपने सिद्धांत को वह इतनी दूर तक न ले जायं कि पार्लमिन्ट की सदस्यता ही अस्वीकार कर दें। मुझे ज्ञात था कि कुछ ही समय पूर्व अपने इन्हीं विचारों के कारण उन्होंने एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र का संपादकत्व अस्वीकार कर दिया था। उस अवसर पर पत्र के मालिक को जो पत्र उन्होंने लिखा था, वह हिंदी पत्रकारिता के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अंश है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रथम पार्लमिन्ट ने दिल्ली को हिंदी का सबसे बड़ा केन्द्र बनाने में अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया। दद्दा (श्री मैथिलीशरण गुप्त), बनारसीदास चतुर्वेदी, दिनकर और डा० रघुवीर नियमित रूप से राजधानी में रहने लगे। नवीनजी तथा सेठ गोविन्ददास पहले ही पार्लमिन्ट के सदस्य के रूप में दिल्ली में रहते थे।

दिल्ली आते ही चतुर्वेदीजी ने पहला महत्वपूर्ण कार्य किया दिल्ली में 'हिंदी भवन' की स्थापना के रूप में। हिंदी भवन की रूपरेखा तैयार करने के लिए चतुर्वेदीजी ने श्रीमती सत्यवती मल्लिक के घर पर जो बैठक बुलाई, उसमें दिल्ली के प्रमुख साहित्यकारों के अतिरिक्त नवीनजी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, तथा भारतीय विश्वविद्यालयों के बहुत से हिंदी विभागाध्यक्ष भी उपस्थित थे। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय में कुछ समझदार हिंदी-प्रेमी उन दिनों उच्च पदाधिकारी थे, उनकी सहायता से हिंदी भवन को प्रति वर्ष अच्छी आर्थिक सहायता मिलने लगी। कनाट सर्कस में दो अच्छे और बड़े कमरे भी हिंदी भवन को प्राप्त हो गए। सरकारी अनुदान के आधार पर हिंदी भवन में २५००० रुपये से ऊपर का एक हिंदी पुस्तकालय भी बना। इस हिंदी भवन द्वारा राजधानी में एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई। हिंदी भवन की स्थापना से लेकर जबतक चतुर्वेदीजी दिल्ली में रहे, वही इस संस्था के अध्यक्ष रहे। श्रीमती मल्लिक हिंदी भवन की संचालिका रहीं। दिल्ली में आनेवाले भारतीय तथा विदेशी विद्वानों के व्याख्यान इसी हिंदी भवन में आयोजित होते रहे। भारतीय भाषाओं के लेखकों तथा पत्रकारों में पारस्परिक सौहार्द्र और सहयोग बढ़ाना भी इस हिंदी भवन का एक उद्देश्य था। चतुर्वेदीजी ने अपना बहुत-सा समय हिंदी भवन के संचालन में व्यय किया।

चतुर्वेदीजी १२ वर्ष तक राज्य सभा के सदस्य रहे। इन १२ वर्षों में उनका आवास साहित्यिक गतिविधियों और गोष्ठियों का केंद्र बना रहा। मैं निरंतर चतुर्वेदीजी के घर आता-जाता रहा और ऐसा शायद ही कभी हुआ हो जब उनके यहां बाहर से आये दो-चार व्यक्ति विद्यमान न हों। भारत भर के लेखकों, पत्रकारों, चिंतकों तथा कार्यकर्ताओं से वहां भेंट हो जाती थी। चतुर्वेदीजी का घर स्वतंत्र चिंतन का केंद्र था। किसी तरह की कोई बाधा नहीं, किसी तरह का कोई बंधन नहीं––आप जो अनुभव करते हैं, सीधे शब्दों में वही कहिए। पार्टीबंदी से चतुर्वेदीजी कोसों दूर हैं। अपने से विरोधी विचारों को भी वह सदा मुस्कराते हुए सुनते रहते। चाय और अल्पाहार का दौर भी चलता रहता। कभी-कभी तो यह नौबत आ जाती कि घर में एक पैसा भी न होता और पुराने अखबार बेचकर चीनी और दूध का प्रबंध करना पड़ता।

राजधानी में रहते हुए चतुर्वेदीजी ने भारतीय क्रांतिकारियों के लिए भी बहुत-सा काम किया। कार्य की शुरुआत बहुत दिलचस्प तरीके से हुई। चतुर्वेदीजी ये लाइनें बहुत बार दोहराते––"तू भी बदल फ़लक, कि जमाना बदल गया।"

एक दिन जब उन्होंने बाहर से आये एक सज्जन के सम्मुख यह पंक्ति दोहरायी तो उन्होंने कहा,

"चतुर्वेदीजी, क्या आपको मालूम है कि लालचंद 'फ़लक' अभी जिंदा हैं और आजकल इसी दिल्ली में हैं और अत्यंत कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं!"

चतुर्वेदीजी ने उनसे अनुरोध किया कि वे अगले ही दिन की प्रातः उन्हें 'फ़लक' के निवास-स्थान पर ले चलें। 'फ़लक' उन दिनों दिल्ली की एक अत्यंत घनी आबादी वाले मोहल्ले के बहुत छोटे-से कमरे में अकेले रहते थे। कमरा क्या था, छोटी-सी एक कोठरी थी। बूढ़ी देह, देखभाल करने वाला कोई नहीं। रिश्तेदार थोड़ी बहुत मदद कर देते थे। फ़लक का यह हाल देखकर चतुर्वेदीजी की आंखों में आंसू आ गए। उन्होंने उसी दिन से 'फ़लक' की सहायता के लिए ऐसा आंदोलन शुरू किया कि कुछ ही दिनों में 'फ़लक' का कायाकल्प हो गया। उन्हें खासी अच्छी रकम भेंट की गयी और विभिन्न सरकारों ने नियमित रूप से 'फ़लक' को वृत्ति देने का निश्चय किया। 'फ़लक' का बाद का जीवन आर्थिक रूप से निश्चिंत बन गया।

'फ़लक' के बाद चतुर्वेदीजी ने कितने ही शहीदों के परिवारों के लिए सहायता का प्रबंध किया। चतुर्वेदीजी की अपील पर ही जवाहरलालजी ने शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद की माताजी को मनीआर्डर से रुपये भेजे थे। बिस्मिल-परिवार की चिंता भी चतुर्वेदीजी ने की। कितने ही पत्रों के शहीद स्मारक अंक उन्होंने निकलवाये। 'आत्माराम एंड संस' द्वारा प्रकाशित शहीद ग्रन्थमाला का संपादन भी उन्होंने ही किया। यह ग्रंथमाला चतुर्वेदीजी की ही सूझ का परिणाम थी।

दिल्ली एक विचित्र नगर है। यहां आकाश-बेल की वृत्ति के लोग भी प्रत्येक क्षेत्र में और काफी संख्या में हैं। चतुर्वेदीजी सभी की बातों पर विश्वास कर लेते हैं, वह अत्यंत सहृदय तथा सरल हृदय हैं। कुछ भी और किसी से भी कोई बात छिपा कर नहीं रखते। उनके इन मानवीय गुणों का अनुचित उपयोग राजधानी के कुछ आकाश-बेली वृत्ति के लोगों ने किया। पर वह सब कहानी मैं यहां नहीं देना चाहता।

इन १२ वर्षों में मैं चतुर्वेदीजी से निरंतर मिलता रहा। उन्हें बहुत निकट से देखने और समझने का यथेष्ट अवसर मुझे प्राप्त हुआ। सन १९५३-५४ में नार्थ एवेन्यू में ही रहता था, जहां चतुर्वेदीजी बारह वर्ष रहे। इन दिनों मैं नियमित रूप से चतुर्वेदीजी के साथ प्रातःकालीन भ्रमण के लिए जाया करता था। तालकटोरा उद्यान से होते हुए हम लोग रिज (अरावली पहाड़ियों का जहां अवसान होता है) के उस भाग तक चले जाते थे, जहां घना जंगल और ऊंची-नीची पथरीली पगडंडियां हैं। वसन्त के आगमन पर पलाश के वृक्ष सबसे पहले इसी स्थान पर फूलते हैं, क्योंकि इस क्षेत्र में पानी भी यथेष्ठ है। चतुर्वेदीजी का कवि रूप और प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति उनका आकर्षण मैंने इन्हीं भ्रमणों में देखा। उन भ्रमणों की बातचीत के नोट हम लोगों ने रक्खे होते तो वह लेखन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण सामग्री होती। कितने ही सांस्कृतिक क्रियाकलापों की नींव प्रभातकालीन इन भ्रमणों में पड़ी।

कभी सैर लंबी हो जाती (लगभग ४ मील की सैर तो हम लोग प्रतिदिन करते थे) तो मेरी निगाह बार-बार अपनी घड़ी की ओर जाती कि कहीं आठ तो नहीं बज गए। घर वापस लौटकर मुझे तैयार होना होता था और १० बजे तक पुराने सचिवालय के 'आजकल' कार्यालय में पहुंचना होता था, जो नार्थ एवेन्यू से सात मील दूर है।

एक दिन चतुर्वेदीजी ने मुझसे कहा, "जब आप बार-बार घड़ी देखने लगते हैं तो मेरे जी में आता है कि आपके लिए प्रार्थना करूं?"

"किस तरह की प्रार्थना?"

"यही प्रार्थना कि परमात्मा आपको शीघ्र ही आजादी दे, ताकि आप समय पर दफ्तर जाने के बंधन से मुक्त हो जायं।"

"यानी मुझे सरकारी नौकरी से निकाल दिया जाय।"

चतुर्वेदीजी ने हँसते हुए कहा, "यह भी याद रखिए कि चतुर्वेदियों की प्रार्थना परमात्मा सबसे पहले सुनता है।"

और दो ही दिनों के भीतर हमारे सूचना मंत्रालय के एक उच्च अधिकारी का एक नोट मेरी निगाह में आया, जिसमें उन्होंने लिखा था कि विश्व-दर्शन को फिर से जारी करने के आंदोलन का वास्तविक संचालन उसके भूतपूर्व संपादक चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ही कर रहे हैं।

उन्हीं दिनों पार्लियापेन्ट के बहुत से सदस्यों ने मांग की थी कि 'विश्व-दर्शन' (विदेशी मामलों के संबंध में भारत सरकार का मासिक पत्र) पुनः जारी किया जाय। इन सदस्यों से बातचीत करने का उत्तरदायित्व मंत्री महोदय ने उस आई० सी० एस० अधिकारी के जिम्मे किया था। सरकारी सेवा में रहते हुए इस तरह का आंदोलन चलाना अनुचित माना जाता है।

दूसरे ही दिन मैंने चतुर्वेदीजी से कहा, "आपकी प्रार्थना, मालूम होता है, परमात्मा ने सुन ली है!"

चतुर्वेदीजी को जब सारी बात मालूम हुई तो वह खूब जोर से हँसे। उसके बाद प्रार्थना करना हम लोगों के बीच का एक अच्छा मजाक बन गया।

इसमें संदेह नहीं कि 'विश्व-दर्शन' को पुनः जारी करने का मूल नोट मैंने ही लिखा था, जो सरकारी कायदे के अनुसार मंत्री महोदय के पास गया था। इसमें कुछ अनौचित्य भी नहीं था। उक्त आई० सी० एस० अफसर ने नोट में मेरा नाम तो लिख दिया, पर वह यह सिद्ध नहीं कर पाये कि मैंने कोई आंदोलन खड़ा किया है। इससे बात आई-गई हो गयी।

आदरणीय पं० बनारसीदास के ७७वें जन्म-दिन के उपलक्ष्य में उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता और मंगल-कामना अभिव्यक्त करता हूं। ●

पृथ्वीसिंह 'आज़ाद'

शहीदों के सखा

●

दादाजी (श्री बनारसीदास चतुर्वेदी) पिछले साठ साल से एक कर्मनिष्ठ साधक तथा तपस्वी के नाते देश की सेवा में लगे हुए हैं। भारत के रंचमंच पर देश के उत्थान के कार्य को हाथ में लेकर जितने भी पात्र समाज के समक्ष आये और जो कुछ उन्होंने किया, उसके वह साक्षी हैं। शहीदों की शहादत को देखकर वह सबसे अधिक प्रेरित हुए, इसलिए उनकी अमरगाथा को, उनके जीवन को, उन्होंने समाज के सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

पिछले साठ साल में दादाजी ने अपने देश में तथा बाहर काफी भ्रमण किया है। बहुत से प्रख्यात लेखकों, इतिहासकारों, सामाजिक नेताओं और कलाकारों के सहवास में आये। क्रान्ति के साहित्य का उन्होंने बड़ी बारीकी से अध्ययन किया। इस सबका उनके दिलो-दिमाग पर गहरा असर पड़ा है और उन्होंने यह सबक सीखा है कि जो समाज अपने देश के शहीदों को भुला देता है, उसकी उन्नति नहीं हो सकती।

हमारे देश के प्रख्यात लेखकों, कवियों, कलाकारों, शिक्षा-शास्त्रियों और सामाजिक नेताओं ने शहीदों के प्रति जो बेरुखी दिखायी है, उसको कभी क्षमा नहीं किया जा सकता।

१९०७ से लेकर १९४७ तक चालीस वर्ष की अवधि में समय-समय पर अनेक रूपों में शहीदों ने शहादत पायी। देश पर फ़िदा होनेवालों पर दादाजी फ़िदा हो गए। देश को जाग्रत करने के लिए जिन्होंने शहादत पायी थी, जिनकी चिताओं की राख को बटोरने के लिए देश के नौजवान उमड़ पड़ते थे, उनके सुनहरी जीवन की सुनहरी याद को देश के सामने खड़ी करने का जो भगीरथ प्रयास दादाजी ने किया है, उसके किए उनके चरणों में लाख-लाख प्रणाम !

हमारे देश की अवनति का मुख्य कारण यही है कि हमारे प्रख्यात लेखकों, कवियों और कलाकारों ने साधु-संतों, महात्माओं, धर्म-गुरुओं तथा धर्मावतारों का चित्रण तो बहुत सुंदर रीति से किया है और हमारा समाज उनकी समुचित ढंग से पूजा करे, इसके लिए बड़े सुंदर ढंग से समाज को प्रेरित किया है। नतीजा यह कि हमारा समाज दिन-रात इन साधु-संतों एवं महापुरुषों की पूजा में तो लगा है, लेकिन जिनको पूजनीय मानता है, उनके प्रत्यक्ष जीवन से उसका किसी प्रकार का संबंध नहीं है। जिस मार्ग पर वे चले, उस मार्ग पर चलने से उसे कोई वास्ता नहीं। फलतः देश और समाज के शत्रुओं से निबट लेने का जो मार्ग राम, कृष्ण, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, महाराजा छत्रशाल, दुर्गादास राठौर और गुरु गोविन्दसिंह आदि ने बताया था, उसको हमने छोड़ दिया और जिस मार्ग पर देश के नर-नारियों को चलने के लिए प्रेरित किया गया था, उस पर कोई चला नहीं, न किसी ने किसी को उस पर चलते देखा।

एक व्यक्ति चाहे कितना ही महान क्यों न हो, समाज के कार्यों को अकेला कभी नहीं कर सका, न कर सकेगा। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, अवश्य महान थे, फिर भी वे देश को एकदम ऊंचा उठाने के कार्य को सफलतापूर्वक नहीं कर सके, क्योंकि उनके उस कार्य में देशवासियों ने पूर्ण शक्ति के साथ उनको सहयोग नहीं दिया।

दादाजी ने शहीदों की ग्रंथ-माला प्रस्तुत करके देश की महान सेवा की है। पिछले तीस साल से दादाजी इस कार्य में लगे हैं। अगर देश के साहित्यकारों, लेखकों और कवियों ने उनका भली प्रकार साथ दिया होता तो देश के नौजवानों के मन पर कुछ और ही असर हुआ होता। वे ऐसे गुमराह होकर न भटकते, जैसे कि आज भटक रहे हैं और समाज के सामने आए दिन नयी-नयी उलझनें उपस्थित न होतीं। दादाजी के काम में किसी भी धनवान, राष्ट्रीय नेता या शासक ने सहायता नहीं की।

साहित्य-जगत में दादाजी के जो प्रशंसक हैं, उनसे मेरा अनुरोध है कि अगर वे मानते हैं कि दादाजी द्वारा साहित्य तथा शहीदों के लिए उठाये गए कार्य स्तुत्य एवं अनुकरणीय हैं, तो वे इन कार्यों को अपना कार्य बना लें। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में शहीदों का जो दादाजी ने काम हाथ में लिया था वह, निस्संदेह महान कार्य है, पर उसे अब वह अपनी वृद्धावस्था में पूरा नहीं कर सकेंगे। कल आनेवाला समाज आज के

साहित्यकारों, लेखकों तथा कवियों पर यह लांछन लगावेगा कि शहीदों की जीवन-गाथा को उनके सामने क्यों प्रस्तुत नहीं किया गया ?

संसार का इतिहास हमें स्पष्ट बता रहा है कि समाज उन्हीं कृतियों को अपनाता है, जिनकी रचना कवियों तथा लेखकों ने अपने पुरुषार्थ से की हो। रामायण की रचना राम के दरबार में नहीं की गई और न महाभारत की रचना युधिष्ठिर के महल में बैठकर की गई। वाल्मीकि ने श्रीराम का और उस समय के समाज का चित्रण करके राम को अमर बनाया और अपनी रचना-शक्ति से अपने-आपको भी अमर-पद प्रदान किया। ऐसे ही वेदव्यास ने महाभारत को रचकर मानव-समाज की बड़ी भारी सेवा की। इन दोनों पुस्तकों की मानव-समाज हमेशा कद्र करता आया है और करता रहेगा।

दादाजी ने क्रांति के मैदान में उतर कर कभी कोई कार्य नहीं किया, लेकिन देश के शहीदों पर वह पूरी लगन के साथ मतवाले होकर समाज के सामने खड़े हुए। जिन शहीदों को समाज ने पिछले बीस साल में बुरी तरह से भुला दिया था, उनकी याद फिर से ताजी कर दी।

दादाजी किसी पक्ष के पक्षपाती नहीं हैं, लेकिन रूस के प्रिंस क्रॉपॉटकिन के, जो कि एक प्रख्यात क्रांतिकारी हुए हैं, और युग-पुरुष लेनिन के वह अन्तःकरण से प्रशंसक हैं। महात्मा गांधी के वह श्रद्धालु भक्त हैं, साथ ही साम्यवादी सिद्धान्तों से उन्हें कोई नफरत नहीं। वह तो एक चित्रकार हैं। जो व्यक्ति या घटना उनको लुभा लेती है, उसी का चित्र वह समाज के सामने पेश करते रहते हैं।

कुछ समय पूर्व सारे भारत के क्रांतिकारियों की जो सभा हुई थी, उस समय मैं एक क्रांतिकारी के नाते दादाजी के संपर्क में आया था। बाद में एक बार फिर उनसे मिलना हुआ, राज्य सभा के सदस्य के नाते उनकी सहायता की मुझे जरूरत पड़ी थी। उस समय उन्होंने मुझको जीवन-वृत्तांत लिखने के लिए प्रेरित किया था। १९६३ में मुझे उनका पहला पत्र मिला, जिसमें उन्होंने मुझे हजारीप्रसादजी द्विवेदी के साथ संपर्क साधने के लिए सूचित किया था। मैंने उनकी आज्ञानुसार काम किया।

श्री यशपाल जैन अपने पत्र में लिखते हैं, "पत्र-लेखक के रूप में तो श्रद्धेय चतुर्वेदीजी अद्वितीय हैं।" मैं श्री यशपाल जैन के साथ सहमत हूं, क्योंकि अनुभव के आधार पर मेरी भी यही धारणा बनी है। १९६९ के इस साल के ६ महीने के अन्दर-अन्दर दादाजी ने कोई ३० पत्र मुझे लिखे हैं। कई पत्र तो एक-एक कर के रोज मिले और उनमें से कुछ तो एक-एक हजार शब्दों के हैं। मेरे बारे में लम्बे-लम्बे लेख भी उन्होंने समाचार-पत्रों में लिखे हैं। पिछले अप्रैल मास में १० दिन तक मैं फीरोजाबाद में उनके बहुत निकट संपर्क में आया। मैंने अपनी आँखों से देखा कि साहित्यकार के नाते वह कितने प्रखर साधक एवं तपस्वी हैं। जैसे वह देश के शहीदों पर फ़िदा हुए हैं, वैसे ही मैं भी उन पर फ़िदा हुआ हूं और वैसे ही उन्हें देखकर मेरी यह पक्की धारणा बनी है कि हमारे वर्तमान समाज के प्रखर लेखकों ने उन्हें पूर्ण सहयोग दिया होता तो आज हमारे समाज का वातावरण कुछ और ही होता। ●

रामविलास शर्मा

उनके तीन महत्त्वपूर्ण कार्य

●

मेरी समझ में बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने तीन महत्वपूर्ण काम किये हैं, जिनसे वह हिन्दी जनता के सांस्कृतिक इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे। पहला काम 'विशाल-भारत' का संपादन है। इस संपादन-कार्य में उनके स्वयं लिखे संपादकीय नोट उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं, जितने उनके द्वारा संपादित—अर्थात दूसरों को घेर कर उनसे लिखाये हुए लेख। हिन्दी पत्रकार-कला में घेराव की प्रथा पुरानी है। बंगाल के वामपक्षी दलों ने उसे बाद में अपनाया है। चतुर्वेदीजी ने सामूहिक घेराव की नीति भी अपनाई है, किंतु इससे अधिक सराहनीय कौशल वह है जब वह अकेले ही अनेक अनमने लेखकों का घेराव करते हैं। इस कौशल के फलस्वरूप उन्होंने 'विशाल भारत' में जो संस्मरण लिखवा लिये और प्रकाशित किये, वे हिन्दी में अभी तक अद्वितीय हैं।

दूसरा काम भगतसिंह, आजाद, अशफ़ाकुल्ला आदि क्रान्तिकारियों से संबंधित सामग्री का प्रकाशन है। इसमें भी उनका संपादन-कौशल ही सर्वाधिक सराहनीय है। जो लोग पिस्तौल चलाने का अभ्यास कर चुके थे, उन्हें उन्होंने कलम चलाने का नया अभ्यास कराया। इस प्रयत्न से 'यशकी धरोहर' जैसी कृतियां साहित्य की भी अमूल्य धरोहर बन गयीं।

तीसरा काम उन्होंने साहित्यकारों और राजनीतिज्ञों के पत्र-संग्रह का किया है। हिन्दी लेखकों की साधारण प्रवृत्ति पत्र-संग्रह के विरुद्ध रही है। इससे साहित्य और इतिहास की भारी क्षति हुई है। चतुर्वेदीजी ने पत्रों का संग्रह ही नहीं किया, उनमें से कुछ छपवा भी दिये हैं। इस उदारता के लिए उनका कोटिशः अभिनंदन।

और वह स्वयं भी बहुत अच्छे पत्र-लेखक हैं। उनके अभिनंदन ग्रंथ में यदि उनके पास की संचित पत्र सामग्री छाप दी जाती तो यह ग्रंथ अविस्मरणीय हो जाता। चतुर्वेदीजी के कुछ पत्र इसमें छापे गए हैं, जिनसे मालूम होता है कि वह नये लेखकों को प्रोत्साहन देने में इतने व्यस्त रहते हैं कि स्वयं संस्मरण लिखने का समय निकाल नहीं पाते।

चतुर्वेदीजी ने हिन्दी साहित्य और पत्रकार-जगत में जो और बहुत से काम किये हैं, उनका ब्यौरा देना यहां आवश्यक नहीं, संभव भी नहीं। मेरी समझ में उनके जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य थे, उनका उल्लेख मैंने कर दिया। मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूं, और चाहता हूं कि उन्होंने मुझसे संस्मरण लिखने का जो वादा किया है, उसे शीघ्र पूरा करें। ●

विष्णु प्रभाकर

वह अलभ्य प्रेम

●

> अनुराग से पूर्व की एक स्थिति होती है, उसे कहते हैं पूर्वराग। यही वह स्थिति है जहां परिचय सुलभ होता है। न जाने क्यों, मुझे अनुराग से पूर्व-राग कहीं अधिक प्रिय है। अनुराग की स्थिति में पहुंचते-न-पहुंचते तो व्यक्ति आलोचक हो रहता है; राग पीछे छूट जाता है।

चतुर्वेदीजी के प्रति मैं अपने उसी पूर्व-राग की चर्चा करना पसंद करूंगा। लेकिन पूर्व-राग से पूर्व भी एक राग होता है, उसे आज के संदर्भ में कहूंगा 'कीर्ति-राग।' 'विशाल भारत' के ख्यातिनामा संपादक पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी की कीर्तिगाथा से मेरे जैसे नवलेखक का आतंकित हो उठना स्वाभाविक ही था। साहित्य के समरांगण में न जाने कौन-कौन से दिग्गजों को उन्होंने पछाड़ा था, न जाने कितने आंदोलन उन्होंने चलाये थे। मैं स्वीकार करूंगा कि यह प्रवृत्ति मुझे रुचिकर नहीं थी, फिर भी 'विशाल भारत' मेरी प्रिय पत्रिका थी और उसके संपादक के प्रति स्नेह और आदर का भाव मेरे मन में था। इसके अतिरिक्त यह बात भी मुझ तक पहुंच चुकी थी कि चतुर्वेदीजी वर्तमान भारत की दो विभूतियों महात्मा गांधी और कवि ठाकुर के पण्डा भी हैं। तब मैं आतंकित न होता तो क्या होता!

तबतक मैं स्वयं भी लिखने की चेष्टा करने लगा था। आर्यसमाजी तो था ही और चतुर्वेदीजी थे पण्डित नाथूराम शर्मा 'शंकर' तथा पण्डित पद्मसिंह शर्मा आदि मेरे आर्यसमाजी लेखकों के प्रशंसक। संभवतः इसी बात से प्रोत्साहित होकर मैंने एक रचना 'विशाल भारत' के संपादक को भेजी थी। आशा भी की थी कि रचना छपेगी, लेकिन हुआ यह कि कुछ दिन बाद वह वैसी-की-वैसी ही लौट आयी। याद नहीं आता कि संपादक का 'खेद' भी पा सका था या नहीं। लेकिन क्रोध तो निश्चय ही आया था।

आज उस धुंध के पार देखने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन इतना जरूर निश्चित है कि तब यह बात मेरे मन में किसी भी तरह नहीं आयी होगी कि एक दिन उन्हीं आदरणीय संपादकजी के इतना निकट जाने का अवसर मिलेगा, जिन्होंने मेरी रचना लौटा दी थी।

४ जनवरी, १९४१ का दिन था। ज़ोन टिकट लेकर घूमते-घूमते मैंने पाया कि ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ़ जा पहुंचा हूं। चतुर्वेदीजी उन दिनों वहीं रह कर 'मधुकर' पाक्षिक का संपादन कर रहे थे और उनके सहयोगी थे श्री यशपाल जैन। वस्तुतः इस यात्रा का उद्देश्य यशपालजी के पास जाना ही था। यदि यशपाल न होते तो मैं चतुर्वेदीजी के पास जाने का साहस न कर पाता।

अब मैं उन दिनों का वर्णन करूं।···

४ जनवरी, १९४१ ··· बादल थे, पर सर्दी नहीं थी। ललितपुर से सवेरे १० बजे बस द्वारा टीकमगढ़ के लिए रवाना हो गया। धरती पथरीली है, पर वृक्षों का अभाव नहीं है। मार्ग में दो नदियां भी मिलीं। आस-पास के दृश्य सुंदर लगे। (वन मुझे सदा आकर्षित करते हैं।)

यशपाल नगर से बाहर रहते हैं। तब यह मालूम नहीं था। सीधे टीकमगढ़ पहुंच गए। उसे नगर कहना नगर का अपमान करना है। नितांत गंदा गांवड़ा जैसा ही था। हां, बाहर के दृश्य सुंदर थे। ताल के किनारे शायद राजमहल है। नगर में पहुंच कर गलती मालूम हुई, लेकिन चतुर्वेदीजी का नाम सुन कर

बस वाला हमें वापस लाने के लिए तैयार हो गया। उनके नाम के कारण पुलिस वालों ने भी अधिक जांच-पड़ताल नहीं की। (उन दिनों प्रत्येक देसी रियासत में पुलिस प्रत्येक आने-जानेवाले का अता-पता रखती थी। हम जैसे खद्दरधारियों पर तो विशष कृपा थी।)

कुण्डेश्वर सुंदर स्थान है। नदी के किनारे भवन प्राकृतिक दृश्यों से घिरा, नाना प्रकार के पेड़-पौधे, वन में बंदर हैं तो चीतल भी हैं । याद करते ही दूर वन में चीतल दिखाई दिये। उन स्वर्णमृगों को देखकर बहुत अच्छा लगा। बताया कि तेंदुआ आदि वन्य-पशु भी हैं । कहां यह मनोरम प्रकृति और कहां वह गंदा गांवड़ा जहां मक्खियां ही प्रमुख थीं !

(याद है कि जाते ही चतुर्वेदीजी से भेंट नहीं हुई थी। शायद वह सो रहे थे। कुछ देर बाद उठे तो उन्होंने यशपालजी को पुकारा। पहली बार उनका स्वर सुना। उसमें आत्मीयता का स्पर्श था। अहं का दर्प नहीं। यह भी अच्छा लगा।)

भेंट होने पर पाया कि वह बड़े सज्जन और हँसमुख हैं। बहुत बातें हुईं। ...

संध्या को घूमने निकल पड़े। हाथ में डंडा लिये चतुर्वेदीजी बड़ी फुर्ती से चल रहे थे। गांधी टोपी, पाजामा, लम्बी कमीज और छोटे खाकी कोट में वे सचमुच घुमक्कड़ से लगते हैं। पेट के रोगी होने पर भी सदा प्रसन्न, सदा जवान। (पेट के रोगी प्रायः चिड़चिड़े हो जाते हैं।)

नदी-किनारे पत्थरों पर बैठे प्रकृति की छटा निहारते रहे । वृक्षों के बीच में से होकर नदी का घुमाव मन को बहुत भाता है। वैसे भी नदी-किनारे बैठना मुझे अच्छा लगता है। स्रजक और योगी दोनों के लिए ही आदर्श स्थान है।

बातों की कोई सीमा न थी। एक विषय से सहसा ही दूसरे किसी अप्रासंगिक विषय पर ऐसे कूद जाते कि अचरज हो आता। 'नेविनसन में जो जोखिम लेने की प्रवृत्ति थी' इसकी चर्चा करते-करते चतुर्वेदीजी बोले, "सत्यनारायण कविरत्न में भी यह प्रवृत्ति रही । अब पण्डित श्रीराम शर्मा में भी है।"

यहां से न जाने कैसे गायों की चर्चा चल पड़ी। शायद मेरे कारण। मैं उन दिनों हिसार की सरकारी गोशाला में काम करता था। प्रसिद्ध नसलों की बात उठी कि चतुर्वेदीजी ने बताया, "बुन्देल की गायें तो आधा पाव दूध ही देती हैं।" मैंने कहा, "जी, ऋषिकेश की गायें तो दूध देती ही नहीं। वे गोबर देने के लिए प्रसिद्ध हैं।"

शायद हँसी का ठहाका लगा होगा, लेकिन उस समय हँसने का सबसे बड़ा कारण बने डा० श्रीनेत। श्री कृष्णानन्द गुप्त को तारों की कितनी पहचान है, इस बात से भी काफी मनोरंजन हुआ। हिन्दी-लेखकों और घुमक्कड़ दल की चर्चा करते-करते ओरछा नरेश और उनके एक अधिकारी श्री रमाशंकर शुक्ल का जिक्र आ गया। फिर महापुरुषों को बनाने वाली क्षणिक घटनाओं का वर्णन करने लगे। बुद्ध, नानक, रामदास, दयानन्द सभी के जीवन में ऐसी घटनाएं घटित हुई हैं। थोरो गीता से कितने प्रभावित थे। (थोरो चतुर्वेदीजी को बहुत प्रिय हैं।)

हिन्दी में अच्छे पत्रकार नहीं हैं, इसके लिए खेद प्रकट करते हुए उन्होंने नये लेखकों को सलाह दी कि वे अधिक न लिखकर किसी एक पत्र में सुंदर रचना प्रकाशित करवायें।

अंधकार घिर आया था। मार्ग ढूंढ़ना पड़ा, लेकिन बातों का क्रम फिर भी नहीं टूटा। चतुर्वेदीजी की लाइब्रेरी सुंदर है। सर्वश्री एन्ड्रूज, पद्मसिंह शर्मा और श्रीधर पाठक आदि गण्यमाण्य व्यक्तियों की

जीवनियाँ लिखने का काफी मसाला है। महापुरुषों और प्रियजनों के पत्रों का संग्रह तो अद्‌भुत है। भारत भर में इतना सुंदर और इतना विशाल संग्रह तो कहीं भी न होगा।

रात्रि के भोजन पर भी खूब हँसे। टूंडला विश्वविद्यालय और डा० श्रीनेत गंभीर होने ही नहीं देते थे।···

तो पहला दिन इस प्रकार बीता। क्या प्रभाव पड़ा ? इसकी चर्चा फिर कभी। आज तो मन मुग्ध है। चित्त गद्‌गद है। यद्यपि यशपालजी के एक मित्र के रूप में ही उन्होंने मुझे लिया, लेकिन फिर भी मैं तो था नितांत अपरिचित ही। एक अपरिचित के प्रति इतनी सहज उन्मुक्तता गद्‌गद ही कर सकती है।···

५ जनवरी, १९४१ ··· सवेरे की चाय पर प्रवचन जारी रहा। यूं चाय के साथ लड्डू भी थे, लेकिन मन बातों में ही रमा था। चतुर्वेदीजी बोले, 'नये लेखक को प्रोत्साहन देना चाहिए, परंतु अधिक प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।' फिर बीच में ही डा० श्रीनेत का पत्र निकाल लाये और सुनाने लगे। सन १९३१ का पत्र है। बड़ी विचित्र अंग्रेजी में लिखा है। हर संज्ञा के साथ एक अद्‌भुत विशेषण जुड़ा था। हँसी के मारे लोटपोट हो गये। और भी पत्र सुने। पत्रों का सचमुच अद्‌भुत संग्रह है। किसी दिन उनका प्रकाशन हो सका तो पत्र-साहित्य की निधि प्रमाणित होंगे। पत्र पढ़ते-पढ़ते पत्र लिखने की कला पर भी बहुत बातें हुईं। पंडित पद्मसिंह शर्मा, श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री और महात्मा गांधी आदि कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो सचमुच पत्र लिखना जानते हैं।

(बहुत दिन बाद एक प्रसिद्ध साहित्यकार ने मुझसे कहा था कि पत्र लिखते समय शायद चतुर्वेदीजी भी इस बात को नहीं भूलते।)

भवन के पास ही जमड़ार नदी पर कुण्डेश्वर का प्रपात है। वहीं स्नान किया। भोजन के बाद बाग में गये। बहुत बड़ा बाग है। अमरूदों के बहुत ही पेड़ हैं। फल भी सुंदर हैं। बनारसी बाग में मीठे नीबुओं की बहुतायत है। देखा, उनके नीचे फल पड़े सड़ रहे हैं। नीबुओं के पेड़ भी थे। उनके नीचे अमरूद जितने बड़े-बड़े नीबू ढेरों पड़े थे। कोई उठानेवाला ही नहीं था। बड़ा तरस आया। इतने गुणकारी फल और उनका इतना अपमान! (पता लगा, कोई इनको छू नहीं सकता। छूने पर कड़ी सजा मिलती है। बेशक वे सड़ जायं और सचमुच वे सड़ते रहते हैं। एक तरफ देश में भुखमरी, दूसरी ओर सामन्तशाही में यह बरबादी!)

मीठे नीबू लेकर लौटे। चतुर्वेदीजी और यशपालजी को इस बात का बहुत दुख हुआ कि उन्होंने अभी तक मीठे नीबू क्यों नहीं खाये। (सच तो यह है यहां के सभी लोगों की अक्ल पर पत्थर पड़े हैं। वे महुआ और कोदो खाते हैं और फलों को सड़ने देते हैं।)

संध्या को फिर वन-भ्रमण का कार्यक्रम रहा। चारों घूमने के लिए निकल पड़े। (मेरा छोटा भाई मेरे साथ है।) जामनेर और जमड़ार के संगम पर पहुंचे। दो नदियों का संगम मन को सदा तरंगित करता है। घूम-घूम कर घाट देखे। वन के नयनाभिराम दृश्य देखे। क्या बतायें, क्या देखा और क्या न देखा। बातों का और हँसी का क्रम कहीं नहीं टूटा। कितने सुखदायी हैं जीवन के ये क्षण।

घर लौटकर फिर प्रवचन का क्रम चला। अनेक साहित्यिक व्यक्तियों की चर्चा हुई। खूब हँसे। मैंने कहा, "हम कल बाजार में पहुंच गये थे। बड़ी गन्दगी थी। मक्खियां-ही-मक्खियां। एक-एक रसगुल्ले पर नौ-नौ, दस-दस मक्खियां बैठी थीं।"

तो चतुर्वेदीजी तुरन्त बोले, "यह तो बड़ा अन्याय है। मैं आज ही महाराज से शिकायत करूंगा। हमारा आदेश था कि हर रसगुल्ले पर बारह मक्खियां बैठें। तीन कम क्यों थीं?"

इसी तरह हँसते-हँसते लोट-पोट होते रहे। (हँसने की यह प्रवृत्ति चतुर्वेदीजी में आज तक अक्षुण्ण है। मिलने पर खूब हँसाते है। पत्रों के द्वारा भी खूब हँसाते हैं और उसके लिए कर भी वसूल करते हैं। उस दिन मेरे घर पधारे थे। कमरे में रहीम का दोहा लगा था :

रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे, मोती मानस चून।।

तुरन्त बोले, रहीम आज होते तो इसे यूं लिखते :

रहिमन पानी राखिये, भलीभाँति उबलाय।
बिन उबले कैसे बने, ठकुरसुहाती चाय।।)

दूसरा दिन भी बीत गया। क्या ये दिन अमर नहीं हो सकते ? लेकिन मैं तीसरे दिन की चर्चा करूं।

६ जनवरी, १९४१ ···आज कुहरा पड़ रहा था। हवा भी थी। वन से लौट कर चतुर्वेदीजी के पास जा बैठे। बस लगभग १० बजे तक प्रवचन ही होता रहा। आरंभ हुआ था थोरो के एक वाक्य से, "किसी से प्रेम करो और फिर रिपोर्ट करो।" यहां से आरंभ होकर बात साधना और तप तक जा पहुंची। कई व्यक्तियों का जिक्र आया, लेकिन श्री महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के जीवन का वर्णन चतुर्वेदीजी ने जैसे मार्मिक ढंग से किया, वैसा शायद किसी और का नहीं कर सके। उनकी दानशीलता, काम करने की क्षमता, सादगी, स्पष्टवादिता और पुराने शील की बातें, गुप्तांग का कटवा देना, किसी के घर जाने पर खाली हाथ न जाने की रीति, कोई अंत नहीं था उनके गुणों का।

स्वामी रामतीर्थ को जीवन के अंत में संस्कृत सीखने का मोह हो आया था। माइकेन्जेलो विश्व-प्रसिद्ध मूर्तिकार हुआ है। उसने एक मूर्ति बनाई थी। किसी ने उसे देखा और कहा, "यह नंगी है और अश्लील है।"

मूर्तिकार ने उत्तर दिया, "पहले अपनी आंखों की अश्लीलता दूर करो।"

इस तरह की न जाने कितनी बातें वह कहते रहे। आज जाने का कार्यक्रम था, लेकिन उन्होंने कहा, "आज नहीं कल जाना। शायद जैनेन्द्रजी भी आनेवाले हैं।"

जाना स्थगित कर दिया, परंतु जैनेन्द्रजी नहीं आये। भोजन, आराम, बाग में जाकर फल बटोरना और फिर घूमना। आज यशपाल-द्वीप देखने गये। यहां का वनप्रांत भयानक है। डर लगता है। लौटकर पता लगा कि पास में ही तेंदुआ आ गया है। कल एक बछड़े को उठा ले गया था। आज इसी प्रसंग को लेकर हँसी-मजाक होता रहा। लेकिन कल तो चले जाना है।

७ जनवरी, १९४१ ··· कल तेंदुए की चर्चा हुई थी। वह बछड़े को उठा ले गया था। हम लोगों ने निश्चय किया कि उसके स्थान का पता लगाया जाय। बस लौटे और लाठियां उठा कर चल पड़े। बहुत दूर तक बातें करते हुए वन के भीतर घुसते चले गये। मिला कुछ नहीं। दिन में कहीं तेंदुआ मिलता हैं! जहां ले जाकर उसने बछड़े को खाया था, वह स्थान हम अवश्य ढूंढ सके। उस वन-प्रांत में अकेले जाते हुए डर न लगा हो सो बात नहीं। पर इस दुस्साहस से मन को आनंद मिला। (उस बार तेंदुआ नहीं देख सके, लेकिन लगभग आठ वर्ष बाद जब मैं दूसरी बार टीकमगढ़ गया तो एक संध्या को इसी प्रकार भ्रमण करते हुए जंगली सूअर के दर्शन अवश्य किये। अंधकार घिर आया था। हम लोग सड़क के किनारे-किनारे चले जा रहे थे। उस ओर से बैलगाड़ी आ रही थी कि सहसा हमारी बाईं ओर से वन के भीतर से

एक पशु तीर की तरह सीधा उछला और दाहिनी ओर के वन में गायब हो गया। हम उस समय चौंके जब तांगेवाले ने चिल्लाकर कहा, "जंगली सूअर, जंगली सूअर।"

सहसा डर भी लगा और खुशी भी हुई कि जंगली सूअर आया और चला गया। हम लोग सही-सलामत बचे रहे। चतुर्वेदीजी में जोखिम उठा कर घूमने की यह प्रवृत्ति सदा रही है। शायद यही उनको मन से युवक बनाये रखती है।)

आज दोपहर बाद जाना था। हँसने का क्रम पूर्वतः चलता रहा लेकिन चतुर्वेदीजी साथ-ही-साथ हमारे लिए चिट्ठियां लिखते रहे, अखबार और लीफलेट इकट्ठे करते रहे और इस प्रकार चार दिन का वह कुण्डेश्वर-प्रवास पूरा हो गया। पूर्वराग के इन क्षणों में क्या पाया, यह आज अट्ठाइस-उन्तीस वर्ष बाद भी ठीक प्रकार से नहीं बता सकूंगा। बाद के इन वर्षों में और भी पास आने के अवसर मिले। पास आने पर ऐसा कुछ भी दिखाई देता है, जो देखने को मन नहीं करता। मतभेद भी होते हैं, लेकिन जब-जब भी दृष्टि उठा कर उस भूतकाल में झांकता हूं तो मन को गद्गद ही पाता हूं। घर लौट कर उनको एक पत्र लिखा था। उसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ लिखा उसी की चर्चा करके पूर्व-राग की इस कहानी को समाप्त करूंगा। १६ जनवरी, १९४१ का वह पत्र मेरे नाम चतुर्वेदीजी का पहला पत्र है। पत्र अंग्रेजी में है। उन्होंने लिखा था :

"तुम अद्भुत व्यक्ति हो। मुझमें एक साथ प्रेम, सहानुभूति और सद्भावना कैसे पा सके? पहला गुण तो मुझमें जरा भी नहीं है। दूसरे को मैं मात्र तरल भावुकता समझता हूं और तीसरा गुण है केवल शिष्टाचार। जो मैं अबतक नहीं पा सका, लेकिन पाना चाहता हूं, वह है विनम्रता। जो हममें सबसे साधारण है, उसके व्यक्तित्व के प्रति आदर और उसके साथ ही दूसरों के दोषों के प्रति उदारता।

"प्रत्येक अतिथि वरदान-स्वरूप है, वरदानों का दाता। इसलिए तुम्हारे आगमन से मुझे प्रसन्नता ही हुई। राज्य के ज्योतिषी के अनुसार मुझे अभी २७ वर्ष और जीना है। इसलिए ५४ बार मैं तुम्हारा आतिथ्य कर ही सकता हूं। जब मन करे, अवश्य आओ। तुम्हारा ऐसा ही स्वागत होगा।

"छोटे भाई को मेरा आशीर्वाद। जिनसे इस यात्रा में मिले हो, उनसे संबंध बनाये रखो।

"चीते (तेंदुए) के बारे में फिर कुछ नहीं सुना। हम लोग दूर तक सांध्य-भ्रमण के लिए जाते हैं। और स्वास्थ्य हमारा अच्छा है।

"अपनी साहित्यिक गति-विधियों के बारे में सूचना देते रहो। और बताओ कि क्या मैं तुम्हारी कुछ सहायता कर सकता हूं? ज्येष्ठ होने के कारण भी मेरा यह कर्त्तव्य है कि तुम्हारे जैसे नवयुवक मित्रों की सहायता करूं। वास्तव में मेरे नवयुवक रहने का यही रहस्य है। प्रणाम।"

इस पत्र के साथ अपने प्रिय लेखक थोरो की एक उक्ति भेजना वह नहीं भूले:

"मनुष्य मात्र के लिए किसी भी रूप में यदि मनुष्य कुछ कह सकता या कर सकता है तो यही है कि वह अपने प्यार की कहानी कहता रहे, गाता रहे। और अगर वह सौभाग्यशाली है और जीवित रहता है तो वह सदा प्रेममय ही रहेगा।"

चतुर्वेदीजी के प्रेम की वह कहानी ही मैंने कही है। उनका आलोचक होने का दुस्साहस मैं नहीं कर सकता। यही कामना करता हूं कि अपने पत्रों द्वारा वह इसी अलभ्य प्रेम की वर्षा करते रहें। ●

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

एक स्वच्छन्द जीवन

●

◦ निर्लिप्तता की भाषा में, उनका जीवन एक सन्त का जीवन है।

◦ यार-दोस्तों की भाषा में, उनकी ज़िंदगी एक आवारा ज़िंदगी है।

◦ नहर में भी पानी बहता है और नदी में भी। नहर नियंत्रित है और खेतों को सींचकर अन्न का उत्पादन करती है। नदी अनियंत्रित है, बहते रहना ही उसका जीवन है। उसके तट बैठकर कोई शीतलता ले ले, कविता लिख ले या कूद कर जीवन मुक्त हो जाय, उसे किसी से कोई मतलब नहीं।

◦ माली योजनापूर्वक वृक्षारोपण करता है, किसान योजनापूर्वक बीज बोता है, पर बादल का उन्मुक्त वर्षण ही जीवन है।

◦ श्री बनारसीदास चतुर्वेदी न माली हैं, न किसान,' वह बादल हैं और जीवन भर विचार, सुझाव और सहयोग के बीज बरसाते रहे हैं।

◦ वह योजना-पुरुष हैं, पर कभी योजनापूर्वक नहीं जिये, यह उनके जीवन की अनिष्टता है और यही उनके जीवन की विशिष्टता है।

◦ वह अपने संपर्क-सामर्थ्य के कारण अपने लिए और अपने कार्यों के लिए निर्माण का ताजमहल बना सकते थे और बनी नहीं एक कच्ची झौंपड़ी भी, पर इसके लिए वह न कभी चिंतित हुए, न व्यस्त, यही उनकी प्रशंसा है, यही उनकी आलोचना।

◦ वह गुणों का भंडार हैं, वह दोषों का समुद्र हैं, पर उनके गुणों से दूसरों को लाभ पहुंचा है और उनके दोषों से सिर्फ उन्हें ही नुकसान हुआ है, यही उनका चरित्र है।

◦ उनका विश्वास है जीवन की उन्मुक्तता और इसके लिए वह जीवन भर पूरी कीमत चुकाते रहे हैं--सुख-सुविधाओं की कीमत, कष्टों की कीमत, अवसरों की कीमत। यह कीमत इतनी अधिक है कि किसी करोड़पति का भी दिवाला निकल जाय, पर उनके अट्टहासों का खजाना कभी खाली नहीं हुआ और उनकी मस्ती की तिजौरी सदा भरी रही, यही उनका व्यक्तित्व है।

अब जरा विस्तार में देखें। वह इंदौर के उस मेयो कालेज में प्राध्यापक रहे, जहां राजकुमार ही पढ़ते थे और छोड़ आये। वह काफी दिन शांतिनिकेतन में रहे और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की गहरी ममता उन्हें प्राप्त रही। श्री सी० एफ० एन्ड्र्यूज का हार्दिक स्नेह भी इस ममता में सम्मिलित था, पर वह शांतिनिकेतन छोड़ आये। वह काफी दिन साबरमती आश्रम में रहे। महात्मा गांधी का स्नेह और विश्वास उन्हें प्राप्त था, पर चर्खे में श्रद्धा न होने के कारण वह आश्रम छोड़ आये।

आदमी आगे बढ़ने के लिए एक स्थान छोड़कर दूसरे पर जाता है, पर चतुर्वेदीजी हर बार बिना दूसरा स्थान बनाये पहले स्थान से उठे। जानने वाले जानते हैं कि उठकर वह सदा भटके, परेशान हुए और उनके लिए इकन्नी ही गिन्नी हो गई, पर वह कभी पछताए नहीं, दुखी नहीं हुए और उनके मन में लौटने की बात नहीं आयी।

स्वर्गीय श्री हरिशंकर शर्मा ने मुझे उनका एक संस्मरण सुनाया था। चतुर्वेदीजी उन दिनों बेरोजगार

थे। 'आर्यमित्र' में एक स्तम्भ लिखते थे और पचास रुपये मासिक पाते थे--यही उनकी कुल आमदनी थी। 'माडर्न रिव्यू' के महान संपादक स्वर्गीय श्री रामानन्द चटर्जी ने उन्हें अपने 'विशाल भारत' का प्रधान संपादक चुना और दो सौ रुपये मासिक का नियुक्ति-पत्र भेज दिया, इस शर्त के साथ कि काम पर आप चाहे जब आयें, आपका वेतन आज से ही चलेगा। उन्हीं दिनों 'आर्यमित्र' में पिचहत्तर रुपये मासिक पर एक सहकारी संपादक की आवश्यकता निकली। चतुर्वेदीजी ने हरिशंकरजी से अपनी मस्त ब्रजभाषा में कहा, "हरिशंकरजी, तुमई हमका नौकरी दिब्बाइ देउ। हम कलकत्ता-फलकत्ता कउं नाइ जांगे। हमकूं यां तुम्हारे संग बड़ौ मजा आय रह्यौ है।" हरिशंकरजी बहुत स्तंभित हुए, "हरे राम, चतुर्वेदीजी मेरे असिस्टेंट होंगे!" पर चतुर्वेदीजी का आग्रह हार्दिक था। शर्माजी की सलाह पर चतुर्वेदीजी आर्य सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री पूर्णचन्द्र ऐडवोकेट से मिले, पर उनका व्यवहार रूखा रहा और इस तरह चतुर्वेदीजी 'विशाल भारत' के संपादक बने।

वह प्रिंस क्रॉपॉटकिन के अराजकतावाद में विश्वास रखते हैं। शासन और अनुशासन उनके लिए मानवता के श्रृंगार नहीं, बंधन हैं और बंधन के विरुद्ध विद्रोह चतुर्वेदीजी का संस्कार है, आस्था है, धर्म है, यहां तक कि उनके लिए बिना बटनों का कुर्ता पहने किसी मीटिंग में चले जाना और बिना फीतों का बूट पहने दावत खा आना साधारण बात है। एक बार वह राष्ट्रपति भवन में डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद से मिलने उल्टा कुर्ता पहन कर चले गए थे।

वह बारह साल राज्य सभा के सदस्य रहे, पर कभी उन्होंने संसद की बहसों में भाग नहीं लिया। मैंने उनसे इसकी शिकायत की तो बोले, "क्या करूं, जो समय राज्य-सभा की बैठक का है, वही मेरे सोने का है।" और यह उन्होंने इस सादगी से कहा कि जैसे वह सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय सुना रहे हों, जिसमें तर्क की गुंजायश ही नहीं। प्रश्न यह है कि उनकी स्वच्छंदता की सीमा कहां है? मेरा उत्तर है, कहीं नहीं।

मैं १९३५ से उनके अट्टहास सुनता रहा हूं। वह अपनी हँसी उड़ाकर दूसरे को हँसाते रहे हैं। क्या उन पर पुराने संस्कृत नाटकों में विख्यात विदूषकों का यह प्रभाव है! मैंने अक्सर यह सोचा है और एक बार उनसे भी पूछा था, पर बात टल गई थी, दूसरी बातों में। एक उदाहरण प्रस्तुत है। नवम्बर १९५६ के 'नया जीवन' में मैंने एक संपादकीय टिप्पणी लिखी 'हम इससे बचें'। प्रसंगवश उसमें लिखा--"हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जयपुर-अधिवेशन में हमारे आदरणीय पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी भी सम्मिलित हुए थे। उनके हुलिये की यह बात आज भी बहुतों को याद है कि उनके कुर्ते में बटन और बूट में फीते नहीं थे। प्रश्न यह है कि क्या यह सब सादगी सात्विकता है? मैं पूरे जोर से कहता हूं, नहीं, यह एक तरह का मानसिक हौलूपन है, दिमागी अव्यवस्था है और निश्चय ही यह एक ऐसी चीज है, जिसका हमें शान से प्रदर्शन नहीं, बचाव करना चाहिए।"

टिप्पणी को पढ़कर चतुर्वेदीजी ने मुझे एक पत्र लिखा, जिसके एक कोने पर लाल स्याही से 'प्राइवेट' लिखा हुआ था। पत्र क्या है, चतुर्वेदीजी के मजाक का मैनीफैस्टो है :

"प्रिय मिश्रजी, प्रणाम!

"मानसिक हौलूपन की बात सवा सोलह आने ठीक है, पर आप यदि अपने तक ही रखें, तो सच्ची बात कह दूं? कुर्ते में बटन न लगाने के पीछे एक षड्यंत्र है। 'देयर इज़ मैथड बिहाइंड दिस मैडनैस।' इस पागलपन के पीछे एक सुव्यवस्थित तौर तरीका है कि किसी भली मानस महिला के हृदय में करुणा का

भाव शायद जाग्रत हो जाय और वह कहे, 'देखो, यह बिचारा बिधुर कितनी अस्तव्यस्त अवस्था में है, इसका घर क्यों न बसाया जाय।'

"स्वर्गीय प्रेमचन्दजी ने मुझे लिखा था सन १९३५ में कि 'ह्वाई डौंट यू बसाऔ यौर घर?' तुम अपना घर क्यों नहीं बसाते? वह भी चले गए, कोई पूछनेवाला नहीं और अब चौबीसवीं दिसम्बर को पैंसठवीं वर्षगांठ कर रहा हूं।

"अब स्वदेश में तो कुछ आशा रही नहीं। मैक्सिम गोर्की ने सत्तर वर्षीय रोम्यां रोलां के साथ पचीस वर्षीय रूसी लड़की भेज दी थी, इसलिए छः वर्ष तक मैं उम्मीद कर सकता हूं, पर एक भय है कि रूसी लोग एक अराजकतावादी पर क्यों रहम करेंगे? झक मारकर मुझे भी ठीक पोशाक पहननी ही पड़ेगी।"

दूसरों को हँसाना और उस हँसी में स्वयं घुलजाना उनका जीवन-क्रम है। इसके लिए अपनी असली और नकली कमियों का नाटकीय बखान उनका साधन है। मैंने उनकी इस हास्यवृत्ति पर गहरा विचार किया है और मर्माहत होकर अक्सर सोचा है कि उनमें यह हास्य न होता, तो वह पागल हो जाते। उनका घरेलू जीवन घोर दुःखमय रहा है। वैधव्यों की ज्वालामुखी। वह बिधुर ही नहीं हैं, जीवन में अकेले हैं। सबसे अधिक उन्हें झकझोरा है छोटे भाई रामनारायण की भरी जवानी में हुई मृत्यु ने।

उनके रहन-सहन को अव्यवस्थित देखकर मैंने उनसे अक्सर बहस की है, पर मैंने उनकी अव्यवस्थितता का विश्लेषण कर सोचा है कि उन्हें एक ऐसे आदमी की जरूरत थी, जो समय पर प्यार से उन्हें खिला-पिला दे और दबाव से काम भी ले सके। 'विशाल भारत' के सहसंपादक श्री ब्रजमोहन वर्मा ही जीवन में उन्हें ऐसे आदमी मिले थे, पर उनकी उम्र बेवफा निकली। सच तो यह है कि वर्माजी की मृत्यु से चतुर्वेदीजी का जीवन ही चुक गया। असल में 'विशाल भारत' का संपादन-काल ही उनके जीवन का स्वर्णकाल है।

उस समय उन्हें उपयुक्त मशीनरी प्राप्त थी और वह अपनी संपूर्ण प्रतिभा के साथ कर्मरत रहे। हिन्दी-संसार पर उन दिनों वह छा गए थे और उनकी आवाज़ ही सबकी आवाज़ थी। बड़े-बड़े अखाड़िये उनसे डरते थे और बड़े-बड़े शक्तिधर उनका मन रखते थे। घासलेटी साहित्य के विरुद्ध उनके आंदोलन ने पूरे हिन्दी-संसार को हिला दिया था। गहराई की बात यह है कि उनका व्यक्तित्व एक डायरेक्टर का व्यक्तित्व है, एक ऐक्टर का व्यक्तित्व नहीं। उनकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें आज्ञापालक और समझदार ऐक्टर प्राप्त हों।

एक बार मैंने मजाक में चतुर्वेदीजी से कहा था, "आप देह से लंबे पठान हैं, पर मन से एक स्त्री हैं। दुर्भाग्य से आपको इश्क-मुहब्बत की दावत देनेवाले तो बहुत मिले, पर अपने में समेट कर रखनेवाला पति नहीं मिला। ब्रजमोहनजी से यह आशा बंधी थी, पर मृत्यु ने उसके टुकड़े कर दिये।" सुनकर खूब हँसे और एक संस्मरण सुनाया कि 'विशाल भारत' में एक नेता आये, तो मैंने ब्रजमोहनजी का परिचय कराया कि ये 'विशाल भारत'-परिवार की बहू हैं। सुनकर वह बोले, "मैं समझ गया कि ये सबकी आलोचना भी सुनें और काम भी सबका वे ही करें।"

उन दिनों मैं चतुर्वेदीजी एक साथ पूज्यों को पूजा, नयों को प्रोत्साहन, साथियों को संबल और बुरों को प्रताड़ना दे सके। साथ ही ऐसी संस्मरणात्मक कृतियों की सर्जना भी कर सके, जो युग-युगों बाद भी उनका स्मरण कराती रहेंगी। संस्मरण-लेखनकला को नई शक्ति और नया सौंदर्य प्रदान करने में चतुर्वेदीजी का सहयोग सदा स्मरणीय रहेगा।

मैं उन्हीं दिनों पूरी तरह पत्रकारिता में आया था और मुझे उनसे भरपूर प्रोत्साहन मिला था। अब भी मुझसे कोई भूल हो जाती है, तो तुरंत उनका कार्ड आता है। एक युवक ने अपनी पत्नी के दुर्व्यवहार से दुखी होकर तीसरी बार भूख-हड़ताल की। इस पर मैंने अपनी संपादकीय टिप्पणी में लिखा—"वह युवक मूर्ख है, जो उस पत्नी के लिए मरता है, जो हंटर की हकदार है ।" तुरंत कार्ड आया, "इतने हिंसात्मक क्यों हो रहे हैं, जो कलम चलाते-चलाते हंटर चलाने लगे !" मुझे यह कहने में बहुत सुख है कि मैंने उनसे बहुत कुछ सीखा है, बहुत कुछ पाया है।

उन्होंने बहुत काम किया है, पर उसके मुकाबले कुछ भी नहीं, जो वह कर सकते थे। वह प्रमादी जीवन जीते रहे और समय की केशर कुल्हाड़े से काटते रहे। कहना चाहता हूं, उनमें बहुत गुण हैं और दोष भी बहुत हैं पर यह बात उन्हें आदरणीय बना देती है कि उनके गुणों का लाभ दूसरों को पहुंचा है और उनके दोषों से सिर्फ उनकी ही हानि हुई है।

जो हो, वह खूब आदमी हैं। उनसे मिलकर सुख मिलता है और बार-बार मिलने की इच्छा होती है। अपने उभरते समय में वह हमारे साहित्य की गति थे, अब उतरते समय में आशीष हैं। उनके अट्टहास चिरकाल तक गूंजते रहें, यही मंगल-कामना है । ●

सूर्यनारायण व्यास

ज़िन्दा-दिल और सूझ के धनी

●

चौबेजी मेरे स्नेही हैं। वह डेली कालेज, इंदौर में अध्यापक रहने के कारण मध्य भारतीय हैं और गांधी आश्रम में रहने के कारण गुजराती। कुण्डेश्वर में बसेरा कर बुन्देलखण्डी भी रहे और दिल्ली आकर देहलवी बन गए। इस प्रकार फीरोजाबादी होकर भी प्रवासी भारतीय ही सिद्ध हुए। वह आंदोलनों के आचार्य एवं प्रचार में प्राचार्य हैं। शांतिनिकेतन एवं कलकत्ता में सत्ता जमाकर विशाल भारतीय बन गए हैं। मैंने कलकत्ते में राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन के अधिवेशन में चाकलेट-चर्चा में उन्हें व्यस्त पाया और मंच से नीचे चाकलेटाचार्य उग्रजी के हाथों 'मतवाला' वितरित करते हुए बहुचर्चित भी सुना-देखा है । प्रथम बार उनसे भेंट भरतपुर सम्मेलन में हुई थी, किंतु उनका स्नेह सदैव मुझे सुलभ रहा ।

'मधुकर' का संपादन करते हुए उनके कई पत्र मुझे यदाकदा मिलते रहे और 'विक्रम' के संपादन-काल में उनके साहित्य से प्रायः साक्षात्कार होता रहा । उन दिनों वह विकेंद्रीकरण की आवाज बुलंद कर रहे थे। पत्र-व्यवहार में तो चौबेजी बेजोड़ रहे हैं। ढेरों पत्र लिखे और संग्रहीत भी किये। 'विक्रम' में उन्होंने त्रिमूर्ति (द्विवेदीजी, पद्मसिंह शर्मा और गणेशजी) पर लिखने का वादा किया। लेखमाला आरंभ की जानेवाली थी। मेरे कलकत्ते के एक मित्र ने चौबेजी को अगाऊ रकम भी लेखमाला के लिए अर्पित कर दी और 'विक्रम' में मैंने पाठकों को आकर्षित करने के लिए दो मास तक लगातार सूचना भी

प्रकाशित की, पर चौबेजी वह अपना संकल्प पूरा न कर सके। मुझे और 'विक्रम'-पाठकों को बड़ी निराशा हुई। चौबेजी ने उस समय कई पत्र बड़े सुंदर और अपनी आलस्य-वृत्ति पर लज्जा व्यक्त करनेवाले लिखे। चौबेजी की तरह मुझे भी पत्र-संग्रह का बहुत शौक है। सात-आठ हजार पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं। चौबेजी के पत्र भी उस पत्र-सागर में कहीं डुबकी लगाये हुए पड़े हैं।

'विक्रम' के दो या तीन वर्ष पूर्ण हो जाने पर चौबेजी ने 'विक्रम' का सर्वेक्षण करते हुए एक लेख लिखा था। उसमें तीन वर्ष में 'विक्रम' में किन-किन प्रवृत्तियों को आरंभ किया और उनका क्या परिणाम हुआ, उसका विस्तार से लेखा-जोखा लगाया था। संपादन करते हुए शायद मैं इस तरह सर्वेक्षण नहीं कर सकता था, पर चौबेजी की सूझ का क्या कहना? उन्होंने सर्वेक्षण ही नहीं किया, भावी प्रेरक दिशा भी सूचित की थी। 'विक्रम' के प्रति चौबेजी का बहुत महत्व रहा है।

'मधुकर' का जिन दिनों वह संपादन कर रहे थे, उन दिनों मुझे एक वर्ष के लिए अपने ही घर में नजरबंद कर दिया गया था। डिफेंस ऑफ इंडिया का शिकार बनाया गया था। यह नजरबंदी वैसे मेरे लिए तो वरदान ही हुई, क्योंकि उन दिनों मैंने काफी पढ़ा और पर्याप्त लिखा भी। सरकार ने मुझे यह सुअवसर दिया, पर मित्रों को यह नजरबंदी पसंद नहीं आई। बहुत हल्ला-गुल्ला हो गया। श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डन ने भी सरकार पर नाराजी प्रकट की। डा० पट्टाभि सीतारमैया मध्य भारत के दौरे पर आये तो वह भी (तब वह कांग्रेस के अध्यक्ष थे) नजरबंदी के नियम की परवा न कर घर पर आ गये और भेंट के बाद सार्वजनिक सभा में इस पर रोष भी प्रकट किया, शासन को भी लिखा। ऐसी हालत में सुहृद्वर चौबेजी पड़ौस (कुंडेश्वर) में रहते हुए कैसे मौन रह सकते थे। उन्होंने अपना योजना-बद्ध प्रचार-अभियान और शब्द-वेध आरंभ किया। इस स्मृति को मैं बड़े नेह से अंतर में संजोए हुए हूं। उनका आभार व्यक्त करना 'स्नेह' का सौदा हो जायगा। परतु चौबेजी का सौहार्द्र क्या कभी भुलाया जा सकेगा!

वैसे चौबेजी से साक्षात्कार कम ही हुआ है, पर पत्राचार पर्याप्त होता रहा है। इंदौर के एक साहित्य-समारोह में चौबेजी से भेंट हुई थी और डा० सम्पूर्णानंदजी से चुहल होते हुए भी निकट से देखा है। उन जैसा ज़िंदा-दिल और सूझ का धनी कम ही देखने में आया है।

डा० संपूर्णानन्दजी और चौबेजी, दोनों स्नेही इंदौर के डेली कालेज में साथ-साथ अध्यापक रह चुके हैं। दोनों ही इंदौर के सम्मेलन में साथ आये, तब वर्षों पूर्व जिस मकान में वे रहे थे, उसे देखने भी साथ ही गये थे। जिन दिनों संपूर्णानन्दजी राजस्थान में राज्यपाल थे, उन दिनों जब-जब शासकीय मीटिंगों में वहां गया, डा० संपूर्णानंदजी से चौबेजी के विषय में विविध चर्चाएं हुईं। स्व० उग्रजी भी मेरे घर पर लगभग १॥-२ वर्ष रहे। उग्रजी और चौबेजी का परस्पर बारहवां चंद्र रहा है। इसलिए उग्रजी से मधुर चर्चा की कल्पना ही व्यर्थ थी। मैं जब उग्रजी को छेड़ने की नीयत से कहता कि 'चंद हसीनों के खतूत' की भाषा और उसकी मस्ती अन्य रचनाओं में अब नहीं दिखाई देती? तो उग्रजी तुरंत उत्तर देते थे, "आप मुझे दोष नहीं दे सकते। यह हत्या एक चौबे ब्राह्मण ने की है।"

मैं उग्रजी से कहता कि उग्रजी, चौबेजी के लिए आप कुछ भी कहें, पर उनका 'विशाल भारत' बेजोड़ मासिक था। तब उग्रजी कह देते, 'विशाल भारत' के संकुचित संपादक चौबे की प्रचार-कला का वह अक्ल-भरा नमूना जरूर था, पर वह चाकलेटी चोट से घायल हो गया था।"

मैंने 'विशाल भारत' और 'मतवाला' में चली चोंचें देखी थीं और निरालाजी की भाषा पर 'विशाल भारत' में हुई तीव्र आलोचना को भी पढ़ा है। निरालाजी पर उसका जो परिणाम हुआ, वह सर्वज्ञात ही

है। निरालाजी अत्यन्त भावना-प्रधान कोमल कवि थे और उग्रजी तो उग्र ही थे। फिर भी उग्रजी कलकत्ता छोड़कर बंबई चले गये थे और उनकी सृजन-प्रक्रिया शिथिल हो गयी थी, वर्षों के विराम के बाद फिर लिखा है, और वह 'चन्द हसीनों के खतूत' की लेखनी से लिखा नहीं लगता। चौबेजी ने सत्यनारायण कविरत्न के प्रति जो ममत्व रखा, वह वास्तव में महत्वपूर्ण ही है। चौबेजी ने शहीदों का ही नहीं, साहित्यिकों का श्राद्ध भी श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक किया है। क्यों नहीं, वह मथुरा के चौबेजी ही ठहरे। उनका अभिनंदन कर हम कृतकृत्य अनुभव कर सकते हैं। उनकी विविध सेवा साहित्य के इतिहास में अंकित रहेगी।

चौबेजी ने हिंदी की बहुमूल्य सेवा की है। हिंदी में ही अधिक लिखा है। वह पत्रों में हिंदी के साथ अंग्रेजी भी लिखने में परहेज नहीं मानते। एमर्सन, थोरो के जहां भक्त हैं, वहां वह अराजकवादी प्रिंस क्रॉपॉटकिन का अपने को अनुयायी मानते हैं। मथुरा की यात्रा को शायद अपनी भूमि होने के कारण यात्रा न मानते हों, पर रूस में जाकर उन्होंने तीर्थ-यात्रा अवश्य की है। चौबेजी महाराज के अभिनंदन में सम्मिलित होते हुए मुझे हार्दिक सुख है। मेरा हार्दिक अभिनंदन !

शतं जीवेम शरदः शतम् ! ●

भगवानसिंह

अथक साधक

●

श्रद्धेय चतुर्वेदीजी से मेरा व्यक्तिगत परिचय तो कई वर्ष बाद जाकर हुआ, किन्तु उनके साहित्यिक रूप से मैं सन १९३६ से ही परिचित हो चुका था। उन दिनों मैं आगरा कालेज का विद्यार्थी था। आगरा की साहित्यिक मण्डली में पं० हरिशंकर शर्मा का विशेष स्थान था। वह चतुर्वेदीजी के घनिष्ठ मित्रों में से थे और उन दिनों वह 'आर्यमित्र' नामक पत्र के संपादक थे। इसमें प्रकाशित चतुर्वेदीजी के लेखों को मैं बड़े चाव से पढ़ता था और कभी-कभी शर्माजी के निवास-स्थान पर जाकर उनके दर्शन-लाभ का अवसर भी पाता था। इस प्रकार चतुर्वेदीजी के साथ मेरा संबंध लेखक और पाठक का भी अलग से था। किंतु चतुर्वेदीजी के प्रति मेरे मन में सहज श्रद्धा का जन्म उस महत्वपूर्ण कार्य के कारण हुआ, जो उन्होंने प्रवासी भारतीयों की दशा सुधारने के लिए किया। 'विशाल भारत' और 'माडर्न रिव्यू' के स्तंभों के माध्यम से उन्होंने प्रवासी भारतीयों की दशा सुधारने का जोरदार आंदोलन चलाया था। चतुर्वेदीजी 'विशाल भारत' के संपादक थे। उन दिनों वह गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और 'माडर्न रिव्यू' के संपादक रामानन्द चटर्जी के निकट सहयोगियों में विख्यात थे। अतः उनकी बड़ी धाक थी।

प्रवासी भारतीयों की जो सेवा चतुर्वेदीजी ने की, वह कभी भुलाई नहीं जा सकती। महात्मा गांधी और दीनबन्धु एंड्रयूज़ ने उनके काम की बहुत सराहना की थी। वह कांग्रेस की ओर से प्रवासी भारतीयों

की दशा का अध्ययन करने के लिए अफ्रीका भी भेजे गये थे। इस दिशा में उन्होंने जो प्रयत्न किये वे बहुत हद तक सफल सिद्ध हुए। मुख्य बात यह हुई कि हमारे देशवासी प्रवासी भारतीयों के प्रति अपने कर्तव्य का अनुभव करने लगे। हमारे बहुतेरे भारतीय भाई परिस्थितिवश अपना देश छोड़कर सुदूर देशों में जा बसे थे। प्राय: यह सभी देश ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत थे। ब्रिटिश सरकार ने अपने हितों की रक्षा के लिए हमारे देश से बहुत से श्रमिक लोगों को उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपने उपनिवेशों में छल-बल से भेज दिया था। कारण यह था कि इन उपनिवेशों में श्रमिक-वर्ग की कमी 'थी। इन उपनिवेशों की उन्नति के लिए प्रवासी भारतीयों ने जी-तोड़ कर परिश्रम किया था, किंतु फिर भी उन्हें किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। उनकी दशा गुलामों से भी ख़राब थी। चतुर्वेदीजी ने प्रवासी भारतीयों के अधिकारों के लिए और उनकी हालत को सुधारने के लिए जो प्रयास किये, उनका देश और विदेश में सभी विचारवान व्यक्तियों ने स्वागत किया और फिजी आदि उपनिवेशों की जनता में तो चतुर्वेदीजी के प्रति आज भी बहुत श्रद्धा विद्यमान है।

प्रवासी भारतीयों की समस्या में रुचि लेने के लिए मेरे कई निजी कारण थे। मेरे दादा का अधिकांश जीवन फिजी में कटा था। मेरे पिताजी भी काफी समय तक फिजी में रहे और दो-तीन बार मैं भी वहां हो आया हूं। कहना न होगा कि ब्रिटिश उपनिवेशों में सामान्य भारतीयों की बड़ी असम्मानजनक स्थिति थी और हमारा परिवार तो इसका भुक्तभोगी रह चुका था। अत: चतुर्वेदीजी द्वारा किये प्रयासों ने मेरे हृदय में सहज ही श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी।

चतुर्वेदीजी ने प्रवासी भारतीयों की समस्याओं से संबंधित अनेक पुस्तकें लिखीं। 'प्रवासी भारतवासी' उनकी पुस्तक सालों पहले छपी थी। उस समय भी इसका संदर्भ ग्रन्थ की तरह प्रयोग किया जाता था। तोताराम के नाम से लिखी उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'फिजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' ने हिन्दी संसार में ही नहीं, सारे देश में एक नयी राष्ट्रीय चेतना का मंत्र फूंका था। प्रवासी भारतीयों की कठोर यातनाओं को देशवासियों के सामने रखा। इसके अलावा अंग्रेजी समाचार-पत्रों के माध्यम से भी चतुर्वेदीजी ने प्रवासी भारतीयों के बारे में बीसों वर्ष तक लिखा। यह महत्वपूर्ण कार्य उनकी मिशनरी भावना की एक मिसाल है।

आगरा कालिज से एम० ए० पास करने के बाद मुझे सेना में कमीशन मिल गया और मैं पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत चला गया। बाद में मुझे पता चला कि ओरछा नरेश श्री वीरसिंह देव के आग्रह पर चतुर्वेदीजी टीकमगढ़ चले गये। वहां पर भी उन्होंने अनेक साहित्यिक कार्यों का सूत्रपात किया। टीकमगढ़ से जनपदीय कार्य के आंदोलन का श्रीगणेश किया गया। विंध्य-प्रदेश के प्रांत-निर्माण का आंदोलन चलाया गया। 'मधुकर' पाक्षिक पत्र भी टीकमगढ़ से प्रकाशित होता था। इसके कुछ समय बाद 'विंध्य-वाणी' का प्रकाशन भी वहीं से शुरू हुआ।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद सेना से मुक्त होकर मैं भारतीय प्रशासन सेवा में चला आया। सन १९५०-५१ के दौरान जब मैं रायबरेली में जिलाधीश के पद पर काम कर रहा था, तब चतुर्वेदीजी के साथ अनेक वर्षों के बाद फिर से मेरा संबंध स्थापित हुआ। चतुर्वेदीजी के बारे में एक बात प्रसिद्ध है और वह यह कि उन्होंने स्वर्गीय साहित्यकारों की कीर्त्ति-रक्षा, क्रांतिकारियों और अनेक देश-सेवकों के श्राद्ध-कर्म पर एकाधिपत्य कायम कर रखा है। रायबरेली में आचार्य महाबीरप्रसादजी द्विवेदी के स्मारक के निर्माण के लिए चतुर्वेदीजी बड़े व्यग्र थे। वह द्विवेदीजी के गांव में एक पंचायतघर भी बनवाना

चाहते थे। यह बात बहुत कम लोगों को ज्ञात होगी कि आचार्य द्विवेदीजी अपनी गांव की पंचायत के सरपंच थे और इस हैसियत से उन्होंने जो फैसले लिखे थे, वह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का एक नया पहलू उनके लिखे इन फैसलों से प्रकट होता है। चतुर्वेदीजी की इच्छा थी कि इन फैसलों को एकत्र करके उस पंचायतघर में रखा जाय। मुझे उन्होंने अनेक बार इस बारे में पत्र लिखे। मेरे लिए यह गौरव की बात है कि इस साहित्यिक यज्ञ में जो कुछ मुझसे संभव था, मैंने अपना योग दिया। इसके परिणामस्वरूप रायबरेली में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के स्मारक के रूप में एक पुस्तकालय की स्थापना हुई और उनके गांव में पंचायतघर की, जिसमें द्विवेदीजी के लिखे फैसले सुरक्षित हैं।

सन १९५२ में केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन का अध्यक्ष होकर मैं दिल्ली आ गया था। इन्हीं दिनों चतुर्वेदीजी राज्य सभा के सदस्य होकर दिल्ली में विराजमान थे। दिल्ली आकर उन्हें यह बात खटकी कि राजधानी में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहां साहित्यकार मिलकर बैठ सकें और बाहर के साहित्यकारों का स्वागत-सत्कार किया जा सके। इस उद्देश्य से उन्होंने 'हिन्दी भवन' की स्थापना की चर्चा चलायी। इस सम्वन्ध में सबसे पहली वैठक कनाट सरकस में श्रीमती सत्यवती मलिक के यहां हुई, जिसमें मुझे भी निमंत्रित किया था। राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसादजी ने चतुर्वेदीजी के इस काम में पूरा सहयोग दिया और उनकी कृपा से 'हिन्दी भवन' की स्थापना का स्वप्न साकार होने लगा। फिर सरकार से थियेटर कम्यूनीकेशन बिल्डिग में 'हिन्दी भवन' के लिए कमरे लेने का सवाल सामने आया। सरकार ने 'हिन्दी भवन' के लिए जमानत मांगी। चतुर्वेदीजी ने उस काम के लिए मुझे ही आगे कर दिया। वह तो अब दिल्ली छोड़कर फीरोज़ाबाद जा बसे, किन्तु 'हिन्दी भवन' के जमानती के रूप में मेरा नाम ऐसा पक्का लिखा गये हैं कि 'काटे न कटे'।

एक बार जव श्री श्रीराम शर्मा दिल्ली आये तो चतुर्वेदीजी उन्हें लेकर केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन में पधारे। उन्होंने शर्माजी से कहा कि हिन्दी के साहित्यकार और लेखक एक सीमित दायरे के भीतर ही घूमते रहते हैं। देश में कितने ही उपयोगी काम हो रहे हैं, उनकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। मिसाल के तौर पर केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन को ही लीजिये। इसने लाखों एकड़ वंजर और कांस भरी भूमि को खेती के योग्य बनाकर देश की खाद्य समस्या को सुलझाने में बड़ा योग दिया है। लेकिन किसी ने इस सम्वन्ध में कुछ लिखा ही नहीं। पं० श्रीराम शर्मा ने इस कमी को पूरा करने के लिए दो लेख लिखे और ये ही नहीं, चतुर्वेदीजी की क्षण भर की उस प्रेरणा का नतीजा यह हुआ कि श्रीरामजी जैसे साहित्यकार यांत्रिक खेती के चक्कर में आ गए और उन्होंने अपना नवजीवन फार्म उसायनी गांव में स्थापित किया।

सन १९५७ में पुनर्वास मंत्रालय के संयुक्त सचिव के रूप में काम करने के लिए मुझे कलकत्ते जाना पड़ा। इस अवसर पर चतुर्वेदीजी द्वारा 'हिन्दी भवन' में विदाई समारोह का आयोजन किया गया। आज भी उसकी मधुर स्मृति मुझे चतुर्वेदीजी के सहज स्नेह का ध्यान करा देती है। यहां पर इतना और उल्लेख कर देना चाहता हूं कि चतुर्वेदीजी के साथ मेरा पारिवारिक सम्वन्ध रहा है। चतुर्वेदीजी के छोटे भाई स्वर्गीय रामनारायण चतुर्वेदी आगरा कालेज में इतिहास के प्राध्यापक थे और मैं उन दिनों विद्यार्थी था। उनसे मैं भली-भांति परिचित था। चतुर्वेदीजी के सुपुत्र श्री बुद्धिप्रकाश तो मेरे सहपाठी रहे और डा० रामगोपाल चतुर्वेदी की कविताओं का रसास्वादन मैं विद्यार्थी जीवन से ही करता रहा हूं। इस तरह से मेरा कुछ घरेलू रिश्ता-सा रहा है।

चतुर्वेदीजी पत्र-लेखन-कला के आचार्य ही कहे जा सकते हैं। जब कभी चतुर्वेदीजी के पत्र आते

हैं, दफ्तर की मशीनी दुनिया से निकाल कर वह सहज मानवीय उदात्त भावनाओं के सरोवर में नहला देते हैं।

हिन्दी जगत चतुर्वेदीजी की साहित्यिक कृतियों से भलीभांति परिचित ही है। हिन्दी जगत में उन जैसे साहित्यकार बहुत कम हैं। चतुर्वेदीजी जीवन भर मिशनरी भावना से काम करते रहे हैं। न पद का मोह उन्हें रहा, न पैसे का। उनकी तरह निस्वार्थ भाव से काम करनेवाले लोग आज हैं कहां? सच्चे अर्थों में वह एक साधक हैं--अथक साधक। ●

प्रभाकर माचवे

अराजकवादी

सन '६४ में कुंडेश्वर में उनके पहले दर्शन किये थे और अब भी याद है मुझे ३३ वर्ष पूर्व इक्के में वैठकर उनके साथ आगरा से फीरोजावाद श्रीराम शर्मा के फार्म पर जाना, पपीते खाना। दिन-दिन भर काव्यशास्त्रविनोद! सन १९३७ में मैं आगरा कालिज का एम० ए० (दर्शन) का अन्तिम वर्ष का छात्र था। नगर में चुनाव के सिलसिले में राजाकी मंडी से जुलूस आदि निकले। जैसा हर जुलूस में होता है, कुछ उत्सवधर्मी और कुछ ऐरे-गैरे भी शामिल थे। मुझे बहुत बुरा लगा। मैंने एक कहानी लिखी 'विसंगति', जो साप्ताहिक 'सैनिक' में (वात्स्यायन तब उसके संपादक थे) पहले पृष्ठ पर छापी गई। यह कहानी मैंने श्री बनारसीदास चतुर्वेदीजी को भेजी थी, जो तब 'विशाल भारत' के संपादक थे। उन्होंने यह लिखकर वापिस कर दी कि राजनीति के प्रति यह लेखक का रुख 'सिनिकल' (सर्वसंशयात्मा) जैसा है। हमने आव देखा न ताव, एक पंद्रह पृष्ठों की चिट्ठी बनारसीदासजी को लिख मारी। तब दर्शन-शास्त्र पढ़ते थे, सो 'सिनिक' लोगों का इतिहास और यूनानी समय से आज तक इस प्रकार से सन्देहवादियों की चिन्तन-प्रगति में विशेष योगदात्री अवस्था आदि पर न जाने क्या-क्या लिखा। बनारसीदासजी का तीन पंक्तियों का पोस्टकार्ड अंग्रेज़ी में जवाब में आया--"हम एक-दूसरे को अधिक समझेंगे, जब बादल छंट जायंगे!"

जैसा कि बनारसीदासजी का हमेशा होता है, बादल छंटते देर नहीं लगती। वह उस प्रथम पत्र-व्यवहार के झगड़े के बाद हमारे आदरणीय बन गये, और राजधानी में जबतक रहे, एम० पी० या बिना एम० पी० की हैसियत से, मेरी बड़ी सहायता उन्होंने की। सभाओं में मेरी प्रशंसा करते। रूस गये तो वहां भी मेरे लिए अच्छी बातें ही कहीं। उनका दिल बहुत साफ है। पर दिमाग हमेशा किसी-न-किसी योजना की उधेड़-वुन में लगा रहता है। टीकमगढ़ में थे तब जानपद भाषाओं का आदोलन चलाया। बाद में शहीद स्मारक योजना के लिए दत्त-चित्त रहे। राजधानी में हिंदी भवन बनाने के चक्कर में रहे। उनके प्रिय अराजकवादी मैलटेस्टा और बाकूनिन, क्रॉपॉटकिन और अन्य लोग रूस में भी उनका साथ नहीं छोड़ सके। थोरो और एमर्सन उनकी वातचीत में ही तीसरे वाक्य में, एक जमाने में, आता था। रामानन्द

चटर्जी और सी० एफ० एन्ड्रयूज़ उनके आदर्श रहे। गांधीजी की प्रेरणा से प्रवासी भारतीयों की सेवा की। फिजी और अफ्रीका और मारिशस के भारतीयों से संबंध जोड़ते रहे। अखिल विश्व को अपना सगा-संगाती बनाया, और अपनी फिक्र ज़रा भी नहीं की। नतीजा यह कि राजेन्द्रबाबू से मिलने जा रहे हैं तो फिक्र नहीं है कि कुर्ता उलटा पहने हैं, या दोपहर को सो रहे हैं तो मनिआर्डर उनके नाम पर और कोई ले रहा है। चौबेजी ने यदि किसी तरफ सबसे कम ध्यान दिया तो अपने स्वार्थ या अपनी चौकसी की तरफ। आज उनका शारीरिक और आर्थिक स्वास्थ्य इसीलिए चौपट हो गया।

मन से अराजकवादी आदमी सरकार का मुंह क्यों जोहे? पर हर ऐरे-गैरे दुखियारे के लिए चौबेजी हैं कि जवाहरलाल और मौलाना आज़ाद और श्रीमाली तक पहुंच रहे हैं––'मदद दिला दीजिये। अमुक मज़दूर कार्यकर्त्ता की पत्नी बीमार है। अमुक मैथिली उग्र कवि की आर्थिक दशा ठीक नहीं है। अमुक शहीद की बेवा का क्या होगा?' उनके घर में ऐसे ही परोपकार-गंधी और कई सचमुच दुखियारों का मेला लगा रहता। वह हिंदी भवन के लिए चंदा चाहते, वहां पद्मसिंह शर्मा और सत्यनारायण के साथ-साथ गोर्की और रोम्यां रोलां की तस्वीरें लगवाते। सहज मानव-विश्वासी होने से किसी पर भी भरोसा कर लेते। ठगे जाते। पर इसी तरह चौबेजी सबके प्रिय-भाजन बनते गये।

उन्होंने 'उग्र' के घासलेटी साहित्य के खिलाफ प्रचार किया। पर बाद में गांधीजी को यह पुस्तक दिखाई थी और उनका मत क्या था, यह खुद ही बताया और 'उग्र' से माफी मांगी। 'निराला' की 'राम की शक्ति पूजा' को भूत भगाने का मन्तर लिखा, और अन्तिम दिनों में 'निराला' के लिए सरकारी सहायता मिले, इसके लिए सबसे अधिक प्रयत्नशील रहे। वह हमेशा कई अज्ञात लेखकों को उठाते। 'अज्ञेय' को ज्ञेय उन्होंने ही बनाया; 'बन्धुवर अख्तर' उन्होंने ही लिखा; राहुलजी पर काशीप्रसाद जायसवाल वाले लेख का हवाला देकर उन्होंने ही लिखा। उनकी लेखनी न होती, तो आज हिन्दी के कई लेखक और कवि सचमुच 'अज्ञेय' और अज्ञात ही रह जाते।

बनारसीदासजी की निर्मल हृदय और निश्छल वृत्ति का सबसे बड़ा प्रमाण उनकी परिहास-प्रियता है। वह टैगोर और बापू से भी मज़ाक कर लेते थे। उनकी चिट्ठियां इसके उत्तम प्रमाण हैं। खेद है कि उनकी चिट्ठियां जो मुझे मिली थीं, संग्रह नहीं कर पाया। अब यह भी एक अच्छा मजाक है कि आदर्शवादी असंग्रही बापू के भक्त बनारसीदासजी न जाने कितने पुराने फोटो और पत्र अपने ट्रंकों में सुरक्षित रखे हुए हैं। कब होगा उनका उद्धार? क्या ऐसी कोई योजना नहीं बन सकती है कि बनारसीदासजी का वह सारा पत्र-संग्रह, जिसके कुछ अंश पर उनके पुत्र ने डाक्टरेट भी पाई, किसी तरह प्रकाश में आवें। उसमें राजनीति और साहित्य की अमूल्य मणियां हैं।

बनारसीदासजी स्पष्टभाषी बहुत हैं। इसलिए इस व्यक्ति के, जो कभी किसी को शत्रु नहीं मानता, शत्रु भी बहुत बन गये। कई लोगों ने उन पर व्यंग्य से लिखा। कई लोगों ने उनको सार्वजनिक निर्माण विभाग और सुखसंचारक कंपनी तक कह डाला। पर चौबेजी ऐसी छेड़छाड़ (श्री नारायणजी की एक पुस्तक में उनपर व्यंग्य कविता है) से कभी विचलित नहीं हुए।

'अज्ञेय' ने एक कविता लिखी 'द्वितीया'। तब उनकी प्रथम शादी भी नहीं हुई थी। बनारसीदासजी ने उसे बड़े प्रेम से छापा और चिट्ठी में चुटकी ली। वही हाल उनका प्रायः सभी उनके पत्र के लेखकों के साथ होता था। नयी-नयी छेड़खानियां खुद करते और चलाते रहते। कैसे ज़िंदा दिल पत्रकार थे। बच्चन ने कविता लिखी 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर'। मुक्तकंठ से स्तुति वाला एक

लेख 'आजकल' में। उनकी पीढ़ी के इतने क्रुद्ध और अस्वीकृति-पसन्द नौजवान-वृद्ध अव देखने को नहीं मिलते।

उन्हें शतशः प्रणाम! वह सौ वर्ष जियें——नहीं-नहीं उन्हें उम्र की याद भी न दिलाई जाय। वर्नार्ड शा ने नव्वे बरस पर गांधीजी को लिखा था——अभी तो मैं जवान हूं! वनारसीदासजी चतुर्वेदी एक संस्था हैं, संस्था अमर है। ●

सीताराम सेकसरिया

जैसा मैंने देखा

●

श्री वनारसीदासजी का मेरा परिचय और संबंध चालीस साल से भी अधिक का है। कलकत्ते से 'विशाल भारत' प्रकाशित होता था तो वह उसका संपादन करते थे। उन दिनों प्रवासी प्रेस में 'विशाल भारत' कार्यालय कलकत्ते में हिन्दी का एक विशेष स्थान बन गया था। हिन्दी तथा हिन्दी-लेखकों और कार्यों के संबंध में चर्चाएं होती रहती थीं। चतुर्वेदीजी तथा व्रजमोहन वर्माजी के कारण वहां का वातावरण हर्ष, उल्लास और हास्य से भरा रहता था। 'विशाल भारत' का हिन्दी जगत में अपना विशेष स्थान था। चतुर्वेदीजी की पत्रकारिता तो इसका मुख्य कारण था ही, पर रामानन्द वावू भी एक बहुत बड़े और विशेष पत्रकार थे और वह पत्रकार के साथ किस तरह का व्यवहार होना चाहिए, उसका कैसा सम्मान होना चाहिए, इस विषय के जानकार के सिवा वड़े उदार थे। चतुर्वेदीजी ठहरे आंदोलक! 'विशाल भारत' में उन्होंने कई आन्दोलन चलाये। रामानन्द बाबू ने किसी भी समय किसी प्रकार की बाधा उसमें नहीं दी। चतुर्वेदीजी स्वतंत्र संपादक थे 'विशाल भारत' के। इससे चतुर्वेदीजी को वहां काम करने में बड़ा सुख मिलता था। चतुर्वेदीजी एक प्रकार से अराजकतावादी रहे हैं। प्रिंस क्रॉपॉटकिन की 'नवयुवकों से दो बातें' नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित की थी, जिसका बहुत प्रचार और प्रभाव हुआ था। प्रवासी भारतीयों की सेवा और उनके लिए लड़ना तो चतुर्वेदीजी का पुराना काम था ही। उन्होंने इस काम में अपनी जवानी के वे दिन लगाये हैं, जब आदमी नाना प्रकार की अभिलाषाओं, उमंगों से घिरा रहता है और अपने सुख-आराम के लिए काम करता है। पर प्रवासी भारतीयों के काम में सिवा कष्ट और अभाव के क्या मिल सकत था? इस बीच इनके मन में देश-भक्तों के प्रति, पीड़ितों के प्रति, एक ऐसी भावना जगी कि वह एक प्रकार से इनके जीवन की ध्येय बन गई। सरकार से तथा अन्य प्रकार से देश-सेवकों, साहित्यिकों और उनके परिवारों की सहायता, प्रतिष्ठा, रक्षा करने के काम के साथ उनके संबंध में सार्वजनिक जानकारी पैदा करना, यह पिछले पच्चीस-तीस वर्ष से इनका मुख्य काम हो गया था। इस विषय में कई पुस्तकें तथा भांति-भांति का प्रचार-कार्य उन्होंने किया है। चतुर्वेदीजी ने निस्वार्थ भाव से यह काम किया। किसी समय पैसा कमाने और इकट्ठा करने का काम वह नहीं कर सके। इसलिए आज

इस वृद्धावस्था में भी वह आर्थिक दृष्टि से कोरे हैं। आर्थिक साधन उनके पास नाममात्र के लिए भी नहीं है। ऐसे साधक का अभिनन्दन हम आज कर रहे हैं, जब वह वृद्धा-अवस्था जनित कष्टों का शिकार हो चुका है। जो हो, यह तो प्रायः हमारी परंपरा-सी ही है कि आदमी का आदर क्या तो हम करते ही नहीं; यदि करते हैं तो बहुत देर से। मुझे चतुर्वेदीजी के सम्मान से बहुत प्रसन्नता हो रही है। पुराने संबंधों के कारण ही नहीं, उनकी निष्ठा और साधना का मैं साक्षी रहा हूं इसलिए। चतुर्वेदीजी 'शांतिनिकेतन के पंडे' के नाम से भी प्रसिद्ध थे, क्योंकि अनेकों को वह शांतिनिकेतन ले गये, हिन्दी के साहित्यकारों के अलावा भी। देशभक्त सी० एफ एन्ड्रयूज, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से उनका बहुत गहरा संबंध था। सन १९३४ में मुझे वह गुरुदेव का दर्शन कराने शांतिनिकेतन ले गये। और संयोग ऐसा हुआ कि गुरुदेव की महत्ता, कृपा मुझे प्राप्त हुई, वह जबतक जीवित थे तबतक। वह कृपा एक तरह से मुझ पर बरसती रहती और इसकी याद करके मैं आज भी गद्गद हो जाता हूं और गुरुदेव की महानता का चित्र मेरी आँखों के सामने आ जाता है। श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी से भी इसी यात्रा में परिचय हुआ। वह भी इतना स्थायी है, इतना प्रिय और गहरा है कि वह जीवन की एक स्थायी स्मृति बन गई है। इसका आभार या ऋण चतुर्वेदीजी का है मुझपर, जिसको कृतज्ञता के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता।

सबसे बड़ी बात यह कि शांतिनिकेतन के हिन्दी भवन की कल्पना और योजना भी इसी यात्रा में बनी। चीना भवन देखकर हम लोग आये और गुरुदेव ने कहा कि यहां इसी प्रकार एक हिन्दी भवन बने, यह मेरी इच्छा है तो वह बना, पर उसकी मूल प्रेरणा बनारसीदासजी की है। उन्होंने कलकत्ते में हिन्दी भवन बनाने का भी प्रयत्न किया। उसका कार्य आरंभ भी हुआ, पर दुर्भाग्य है कि आज तक वह बन नहीं पाया। इसमें अर्थ के सवाल के अलावा परिस्थिति का सवाल भी है, पर इसके लिए इस लेख में क्या कहा जा सकता है। यहां तो चतुर्वेदीजी की भावना और काम की बात कहनी है। वह दिल्ली गये तो वहां भी हिन्दी भवन बनाने का कार्य किया। इस प्रकार वह हिन्दी की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे हैं।

एक बात और कह कर यह लेख समाप्त करना है। वह है चतुर्वेदीजी के पत्रव्यवहार की। चतुर्वेदीजी ने शायद जितने पत्र लिखे हैं, जितने लोगों को लिखे हैं तथा जितने कामों और विषयों के लिए लिखे हैं, उतने किसी और ने लिखे हों, मैं नहीं जानता। उनका पत्र-व्यवहार हिन्दी, अंग्रेज़ी में देश के छोटे-बड़े सभी लोगों से होता रहा है। पूज्य गांधीजी और गुरुदेव से लेकर देश-विदेश के अनेक लोगों के साथ उनका पत्र-व्यवहार चलता रहा। उनके पास उन पत्रों का अभूतपूर्व संग्रह है। इतनी अधिक और महत्वपूर्ण सामग्री है कि वह एक इतिहास है पिछले पचास वर्षों की हालतों का, चिंतन का, परिवर्तनों का। चतुर्वेदीजी की इच्छा रही है कि उसका कोई सांगोपांग उपयोग होता और उसकी सुरक्षा होती, उसको प्रकाश मिलता, वह सार्वजनिक उपयोग की चीज बनती। चतुर्वेदीजी की पचास वर्ष की जीवन-साधना का प्रयत्न और फल है यह संग्रहालय और यदि कोई संपत्ति कही या मानी जाय तो यही है चतुर्वेदीजी की कमाई। पर, इसके अलावा मेरी निगाह में हजारों हृदय, मन भी हैं या होंगे, जो किसी-न-किसी रूप में उनके साथ जुड़े हैं।

ईश्वर से प्रार्थना है कि वह बहुत समय तक देश, समाज और साहित्य की सेवा करते रहें। ●

सज्जन सिंह

चौबेजी की शिक्षा और प्रेरणा

ठीक याद नहीं, परंतु अनुमान है कि चौबेजी सन १९१४ या १५ में हिन्दी के शिक्षक के स्थान पर डेली कालेज, इंदौर में नियुक्त हुए थे। मैं उस समय की तीसरी और आजकल की आठवीं कक्षा में था। उस समय पहली को दसवीं और डिप्लोमा (मैट्रिक) को पहली कक्षा कहते थे। चौबेजी कालेज से निकल कर सीधे हमारे कालेज में आए थे। तीन वर्ष तक इनसे हिन्दी सीखी। पढ़ाने का ढंग इतना अच्छा था कि हमारा समय कब निकल जाता, इसका पता ही नहीं चलता था। पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त दूसरी पुस्तकें भी पढ़ने को देते थे, ताकि हिन्दी पढ़ने की रुचि बढ़े। उस समय इनकी लिखी 'मेरे फिजी द्वीप में इक्कीस वर्ष' तोताराम सनाढ्य के नाम से छपी थी, जो हमें बहुत अच्छी लगी थी। उसी समय वह 'प्रवासी भारतवासी' पर भी सामग्री एकत्र कर रहे थे, जिसे कभी-कभी हमें बताते रहते थे। विषय शुष्क होने के कारण उस समय हमें इतना अच्छा नहीं लगता था। जब मैं पहली कक्षा अर्थात डिप्लोमा में पहुंचा तब हम दो रह गए थे। मैं जो हिन्दी पढ़ता था और दूसरे नवाब अली बहादुर, बांदा उर्दू पढ़ते थे। हिन्दी की गद्य की पाठ्य-पुस्तक 'हरिश्चन्द्र नाटकावली' और पद्य की रामचरित-मानस का अयोध्या कांड था। हरिश्चन्द्र नाटकावली में प्रत्येक नाटक के प्रारंभ में संस्कृत का श्लोक है। इसी में 'अंधेर नगरी' नाटक के प्रारंभ में श्लोक है, जिसे लिखना उचित न समझ कर उसका शब्दार्थ देता हूं :

> चंदन, आम और चम्पक के वनों का छेदन; करील के वनों की रक्षा; हंस मयूर कोकिल कुल की हिंसा; कौओं को पाला जाना

आम शब्द के लिए संस्कृत में अश्लील शब्द है। जब यह पढ़ा तो जब कभी निबंध लिखता, छेड़ने के लिए आम का शब्द अवश्य लाता। चौबेजी के चिढ़ने पर मैं विनती करता कि देववाणी का शब्द है और वह भी पाठ्य पुस्तक का।

उन दिनों लोगों में चर्चा थी कि राजाओं के कालेज में कोई ठोस पढ़ाई नहीं होती। डिप्लोमा की परीक्षा मैट्रिक के बराबर नहीं है। हमारे प्रिंसिपल के पास जब राजाओं के बोर्ड का लिखा आया तो उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा दिलवाने का निर्णय किया। सन १९१७ के नवम्बर में मैट्रिक की पाठ्य पुस्तकें दी गईं। वैसे डिप्लोमा के सब विषय मेट्रिक से कहीं ऊंचे थे। अब हमें हिन्दी के गद्य की सुधाकर द्विवेदी द्वारा लिखी 'राम कहानी' और पद्य में एक संग्रह की पुस्तक मिली। परीक्षा के चार महीने रह गए थे। 'राम कहानी' को पढ़कर मैंने चौबेजी से विनती की कि परीक्षा में यदि निम्न प्रश्न पूछे गए—

> राम कौन से नक्षत्रों में पैदा हुए?
> उनके हस्त की रेखाएँ कौन सी थीं?

अथवा—उपचार, पूजा आदि की सामग्री और बर्तन और आभूषणों के नाम पूछे गए तो उत्तर देना कठिन हो जायगा। इतने नाम रटे नहीं जा सकते। चौबेजी ने मुझे आश्वासन दिया कि डरो मत, यह पुस्तक निरर्थक है और ऐसी बातें नहीं पूछी जायंगी। वही हुआ और मैं सन १९१८ में दसवीं जमात (कक्षा) में पास हो गया।

इन तीन वर्षों में चौबेजी की प्रेरणा से हिन्दी में काफी उन्नति कर गया। अप्रेल १९१८ में इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन था। महात्मा गांधी उसके अध्यक्ष चुने गए थे। चौबेजी स्वागत समिति के मंत्री थे। मुझे भी इन्होंने साथ रखा और बहुत लोगों से परिचय कराया।

सन १९१८ की जुलाई में डेली कालेज एक वर्ष के लिए बंद किया गया और यहां फौजी अफसरों का कालेज खुला। अतः मास्टर और लड़के दूसरे कालेज भेज दिये गये। मैं पास हो चुका था। चौबेजी यहां से कहां गए पता नहीं। पर बाद में हम लोग टीकमगढ़ में पुनः मिले और अनेक वर्ष तक एक-दूसरे से सीधा निकट का संपर्क रहा। उन वर्षों के इतने संस्मरण हैं कि उन्हें लिखने का मतलब होगा एक पुस्तक लिखना। वह मुझसे लिखने के लिए बराबर आग्रह करते रहे और उन्होंने काफी लिखवाया भी। बहुत-सी रचनाएं 'मधुकर' में प्रकाशित कीं। इंदौर के डेली कालेज में उन्होंने शिक्षा और प्रेरणा दी थी, उसे मैं आज तक नहीं भूला हूं।●

रामइकबाल सिंह 'राकेश'

दुर्लभ व्यक्तित्व

●

"अब्बाजान, अगर खुदा मुझसे कभी यह सवाल करे कि मेरे जितने बंदों से तू मिला है, उनमें से कौन ऐसा है, जिसकी पूजा करने के लिए तेरा दिल तैयार है, तो मेरे पास जवाब हाजिर है, और वह यह कि वह शख्स अलताफ़ हुसैन हाली है।"

उर्दू के महाकवि 'हाली' के संबंध में जस्टिस सैयद महमूद की यह उक्ति, जिसका उल्लेख करनेवाले सर सैयद रास मसऊद हैं, हिन्दी के तेजस्वी पत्रकार पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी पर पूरी तरह चरितार्थ होती है। यद्यपि वह स्वयं व्यक्ति-पूजा के विरोधी हैं और उनकी जाग्रत तथा शक्तिशालिनी भावना के अनुसार 'जब मनुष्य मनुष्य की वंदना करता है, तब गिरा रोने लगती है,' यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि इन पंक्तियों का लेखक भी उन्हें न तो 'मसीहा' मानता है, और न ऐसा पीर या सन्त ही, जो मनुष्यों में अन्ध-श्रद्धा बढ़ाकर सृष्टि के अमूल्य पुष्प मनुष्य को गुलाम बनाते हैं।

श्रद्धेय पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी से मैं पहली बार आगरा में, राजामंडी स्टेशन पर, १९३७ में मिला था। उस समय वह टीकमगढ़ जा रहे थे, और पंडित श्री हरिशंकर शर्मा के साथ बैठे थे। उनसे कुछ देर बातचीत भी हुई थी। फिर, बरसों बाद, मई १९४७ में, कुंडेश्वर की कोठी में दूसरी बार उनसे मिला था।

गोधूलि के पांडुवर्ण प्रकाश में ओरछा-मोटर-सर्विस से मैं टीकमगढ़ उतरा। लारी-स्टैंड से सामने पूर्व की ओर श्रीमान ओरछेश का विशाल भवन सूर्य की किरणों से जगमगा रहा था और मैं एक कुली को साथ लेकर चतुर्वेदीजी के निवासस्थान की ओर चला। कुंडेश्वर, तत्कालीन ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ़ से, ललितपुर को जानेवाली सड़क के किनारे, चार मील पर है। सड़क के दोनों किनारे पत्तों से

लदे हुए लम्बे छायादार वृक्ष जीवन की तपश्चर्या में निर्विकार भाव से खड़े थे। यहां-वहां कोई नहीं दीखता था। नीरव शान्ति छाई हुई थी। मार्ग में कहीं जंगल के चरागाहों से चर कर जानेवाले पशुओं के दर्शन हो जाते थे। दिनांत की अरुण प्रभा में, जब सूर्य ढलने लगा था, मैं कुंडेश्वर पहुंचा। चतुर्वेदीजी कुछ फासले पर हाथ में बेंत लिए तेजी के साथ हवाखोरी के लिए आते दीख पड़े। पैरों में जूते, घुटनों के नीचे तक सफेद सूती लुंगी और खादी का एक सादा कुर्ता पहने हुए थे। उनका दर्शन चित्त को आकर्षित करने वाला था। मैंने अपना नाम बतला कर परिचय दिया। उस समय उन्होंने जो सज्जनोचित कोमलता, अंतरंग निकटता तथा आत्मीयता की भावना प्रदर्शित की, वह अमूल्य और असाधारण है।

चाय-पान के बाद उस सुहानी रात--चांद की रोशनी--में, कुंडेश्वर-प्रपात के निकटवाली बड़ी कोठी के समीप, मैं उनके साथ इधर-से-उधर देर तक घूमता रहा। श्रीमान ओरछेश के पितामह ने यहां जमड़ार-नदी में एक पक्का बांध बंधवाकर रमणीक जलप्रपात का निर्माण किया है। इसे देखकर उन्होंने कहा कि जो जीवन में प्रगतिशीलता के अभिलाषी हैं, उन्हें निर्मल जलवाही प्रपात के समान स्वसत्त्व का दान करना चाहिए। सर्वस्व का निरन्तर दान करते रहना ही जीवन है--यह प्रकृति का नियम है; प्रकृति की इस गति को न समझने से, हृदय को कंजूस बनाने से, जीवन भार बन जाता है; अतः हिसाबीपन की संकीर्ण भावनाओं को जीवन के साथ बांधना उचित नहीं है।

कुंडेश्वर का षड़ानन प्रपात उधर चिल्लाता-चीत्कार करता हुआ हृदयहीन रोड़ों पर सिर पटक रहा था, और इधर चतुर्वेदीजी बिना अतिरंजना के अपने हृदय की सचाइयां बयान करते जा रहे थे :

निरन्तर करते रहना दान इसी को कहते हैं जीवन;
बुढ़ापा कंजूसी का नाम भला फिर क्यों जोड़ूं मैं धन;
लुटाऊं दोनों हाथों से मिलें गर मुझको कुछ साधन;
रहूं संतत पर-हित में निरत, जगत में बुरा हिसाबीपन।

'सिन्धु यद्यपि सूर्य को अपना पानी सोखने देता है, फिर भी वह मौज से उछला करता है। देनेवाला देकर मुक्त हो जाता है। मेघ जल बरसा कर खाली हो जाता है, फिर भी वह आकाश में चढ़ कर गरज उठता है। सूर्य अपना सर्वस्व संसार को दे डालता है, फिर भी वह प्रभु के प्रकाश से चमकने लगता है।' गुजराती भाषा के विद्रोही कवि श्री अरदेशर फराम खबरदार ने अपने वृहत् काव्य 'दर्शनिका' में जीवन के इस हृदयग्राही अर्थ का अभिनंदन किया है। कुछ देर बाद, बातचीत में, वह किसी ऐसे विषय की चर्चा करने लगे, जो हमें वाद-विशेष या साहित्यिक गुटबंदियों के कारागृह से निकाल कर जीवन की खुली हुई हवा में स्वतंत्र लहराने को छोड़ दे, और हमें उन बंधुओं की, जो अपनी पेटियां रुपयों से भर-भर लेते हैं, पर फिर भी हाय-हाय मचाते हैं, टेढ़ी गति-विधि से दूर रख कर, साहित्य और जीवन की अभिव्यक्ति के लिए तेजस प्रेरणा दे सके।

दूसरे दिन, सुबह होने से पूर्व ही, मुझे साथ लेकर, वह वन-भ्रमण के लिए निकल पड़े। वह एक छोटे कलकल-निनादी नाले को पार कर, जिसके आस-पास पत्थर के टूटे-फूटे छोटे-बड़े ढोके लुढ़के पड़े थे, उषा-निकुञ्ज की ओर बढ़ने लगे। और मैं, जिसने वन-उपवनों तथा लता-मंडपों से वेष्टित जलप्रपातों की सैर नहीं की थी, अपनी शिथिल गति में तनिक वेग भरते हुए, उनके साथ चलने लगा। उस उपवन की पगडंडी पर दो व्यक्ति समानांतर आसानी से नहीं जा सकते थे। इधर-उधर दायें-बायें दोनों ओर अनेक प्रकार की --नुकीले और टेढ़े कांटोंवाली झाड़ियां थीं।

चतुर्वेदीजी को, आगे कहां तक कैसे जाना है, ज्ञात था। वह सघन लता-कंटकों से उलझते हुए, युक्तियों की सूक्ष्मता के साथ, अपने विचार प्रकट करते जाते थे। मयूरों के स्वर-झंकार से वनभूमि गूंज रही थी। सूखे पत्ते खड़खड़ा उठते थे। और, मुझे यह एक विचित्र स्वप्न-सा लगता था। वह इस बात पर जोर दे रहे थे कि अल्प लाभ के लिए वन-उपवनों का विनाश करना और पृथिवी-तल को खोद-खाद कर नंगा और विद्रूप बना देना वन-विज्ञान या कई ऐसी अन्य दृष्टियों से परिणाम में शोभन नहीं है। वन-हीन प्रदेश का चमत्कार नष्ट हो जाता है, और अत्यंत उर्वर भू-पृष्ठ भी काल पाकर रेगिस्तान बन जाता हैं; क्योंकि जहां वन नहीं होगा, वहां अच्छी तरह वर्षा नहीं होगी, और वर्षा के अभाव में खेती कुम्हला जायगी। वह दुःखपूर्वक अनुभव करने लगे कि आज कृष्ण की ब्रजभूमि में वन-वृक्षों के अभाव से बालुका-राशि जलती दिखलायी देती है, और जहां बस करील के दो-चार सूखे डुण्ड ही 'एरण्डोपि द्रुमायते' की उक्ति को चरितार्थ करते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने सम्मानपूर्वक यूरोप के कवि ऐनरिक वर्जीलैंड के नाम का उल्लेख किया, जो जेबों में वृक्षों के बीज भरकर अपने दैनिक भ्रमण में साथ ले जाता था, और इधर-उधर घूमने-फिरने के समय मुट्ठियां भर-भर कर उन्हें बखेरता था। वह अपने मित्र-परिचितों से भी सिफारिश करता था कि वे इसको आजमायें, क्योंकि एक क्षुद्र नगण्य बीज से आगे चलकर कैसी रहस्यमयी शक्ति प्रस्फुटित होगी—उसका जीवन किस रूप में व्यक्त होगा, कौन जानता है? इस प्रसंग में हजरत मुहम्मद पैगम्बर का कुरान शरीफ में उल्लिखित वह संवाद याद आता है, जिसका बयान करनेवाले आचार्य विनोबा भावे हैं—"मुहम्मद पैगम्बर से कुछ विद्वानों ने पूछा, 'तेरे पहले के जितने पैगम्बर आये, उन सबने चमत्कार दिखलाये, तू तो कोई चमत्कार ही नहीं दिखलाता; तो फिर पैगम्बर कैसे बन गया?' उन्होंने जवाब दिया —'तू कौन-सा चमत्कार चाहता है? एक बीज बोया जाता है, उसमें से बड़ा वृक्ष पैदा होता है, उसमें फूल लगते हैं, और उनमें से फल पैदा होते हैं—यह क्या चमत्कार नहीं है?"

कुंडेश्वर से उषा-निकुंज, कुमारी अन्तरीप और बरीघाट तक हम घूमते-फिरते शीघ्रतापूर्वक गये। उनका दर्शन आशा की किरणों के समान सुखप्रद था। मधुवन में जामनेर के जलप्रपात बरीघाट का दृश्य मुझे सुंदर लगा। जामनेर के प्रवाह को रोककर यहां लाख के रंगवाली एक काली चट्टान ने सुस्वादु जलवाले प्रपातों की सृष्टि की है। कहा जाता है कि बानपुर ग्राम को, जहां बाणासुर निवास करता था, यहीं से होकर रास्ता गया है। यहां किनारे के कई वृक्षों में कबूतर के पैरों के रंग के समान लाल-लाल फूल लगे थे, जिनका बिम्ब वैदूर्य के समान निर्मल जल में स्पष्ट दीख पड़ता था। अर्जुन, सागवान और पलाश वृक्षों की पत्तोंवाली शाखाओं से छन-छन कर आनेवाली हवा गाती हुई-सी प्रतीत होती थी। आकाश के झरोखे से सूर्य की गुलाबी मुस्कान उतर रही थी, और पत्तों का मर्मर शब्द संगीत का एक बारीक पाड़-सा बुनता था।

कुछ दूर आगे चलकर जमड़ार तथा जामनेर नामक नदियों के द्वितीय संगम का दृश्य देखा। वहां का प्राकृतिक सौंदर्य और भी अधिक प्रभावोत्पादक था। वहां हरे-हरे वृक्षों के नीचे, जहां बैठने की सुविधा नहीं थी, चतुर्वेदीजी कुछ देर मौन होकर बैठे। उस समय वह अपने ठिकाने चलने की याद से लौट रहे थे। जंगल में चरने आनेवाले पशुओं के गले की घंटियों के शब्द सुनायी पड़ने लगे। उस वनभूमि की खुली हवा में अपने को भूल कर वह अपने हृदय के सादे-उजले पृष्ठों को एक-एक कर खोलते जा रहे थे। उन्होंने अपने हृदय में अमेरिका के ऋषि एमर्सन को उन आदर्श महापुरुषों की सूची में स्थान दिया है, जिनकी छाप उनके जीवन पर अंकित है। आचार्य प्रिन्स क्रॉपॉटकिन के आंख खोल देनेवाले चरित्र की विशेष-

ताओं का, ऐमा गोल्डमेन के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का, महाप्राण माइकेल बाकूनिन तथा मैलटेस्टा के जीवन की कला का और लुई माइकेल के विद्रोही विचारों का वह बार-बार कथन करते थे।

चतुर्वेदीजी अराजकतावादी हैं। अराजकतावाद के विप्लवी पदार्थ पाठ और उसकी सैनिकता की भावना में उनकी अपार निष्ठा है। अराजकतावादी के रूप में वह शासन या संस्था-विशेष के नियंत्रणों को स्वीकार नहीं करते, और न आंखें मूंद कर किसी की स्वतंत्र भावना पर अपनी शासन की लाठी का उद्दण्ड प्रहार करते हैं। उनके ही अपने शब्दों में :

अपने ही पथ पर सकल जगतजन जावें,
अपना विकास अपनी ही रुचि से पावें।
शासन के दुश्मन बनें, करें निज शासन,
सिहत्व चाहिये हमें, नहीं सिंहासन।

उनके विचारों की पृष्ठभूमि को जिन्होंने देखा-समझा है, वे जानते हैं कि यही भावना है जो उनके ज्वलंत पत्रकार-जीवन में एक प्रभावकारी आकर्षण बनकर काम करती चली आ रही है। उनके व्यक्तित्व में जैसे अराजकतावाद की वैज्ञानिक प्रणाली एक स्मरणीय अध्याय के रूप में जोड़ दी गई है। यह भी सच है कि अराजकतावाद की वास्तविक प्रकृति, उसके आंतरिक गुण और उसकी उच्च परिभाषा या उसके सिद्धांतों का पालन करना हर किसी के लिए कोई आसान बात नहीं है, और जैसा उन्होंने स्वयं कहा भी है––"अराजकतावाद धनिया-पोदीने की-सी चीज नहीं, जो महीने-दो-महीने में उग आवे; उसमें मंत्रित्व के मुलायम गद्दे नहीं हैं, जिन पर कल के क्रांतिकारी आज आसन जमा लें; वह कोई छोटा-मोटा टीला नहीं, जिस पर चाहे जो ऐरे-गैरे चढ़ जायं। गौरीशंकर की तरह वह संसार का सर्वोच्च लक्ष्य है।" यद्यपि उनके ऐसे सब विचारों से सब सहमत नहीं हो सकते; क्योंकि तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, और 'भिन्न-रुचिर्हि लोकः' के अनुसार परस्पर विरोधी विभिन्न दृष्टिकोणों का एक स्थान पर सम्मिलन भी कैसे हो सकता है?

कुंडेश्वर के सुरम्य वातावरण में चतुर्वेदीजी का निवास-स्थान था। वहां राज्य की जिस कोठी में वह रहते थे, उसके सामने ही मन और नेत्रों को आकर्षित करनेवाला एक विस्तृत उद्यान था, जो आम, अशोक, लीची, मौलिश्री आदि कितने ही फल-फूल वाले वृक्षों से शोभित था। एक ओर समतल जमीन के दो अलग-अलग टुकड़ों में नीबू और केले के वृक्षों के घने झाड़ फैले थे। क्यारियों में रजनीगंधा, कामिनी और चम्पा के फूल-गाछ हवा की लहरों से झुक-झूम पड़ते थे। आस-पास साग-सब्जियों की लताएं थीं। चतुर्वेदीजी का वीराश्रम नामक उपवन भी इसके नजदीक ही था। वहां प्रकृति के एकांत में आत्मस्थ होकर उन्होंने अपने कई उपयोगी और महत्त्वपूर्ण लेख लिखे थे। श्रावण में वहां बादल हाथी-जैसे झूमते थे, सागौन के वृक्ष की शाखाओं में सागौन के श्वेत पुष्प लग जाते थे, और वन की भूमि में मयूरों का नृत्य होने लगता था। ग्रीष्म में वह स्थान ठंडा रहता था। उसके पास ही जमड़ार नदी से निर्मित कुंडेश्वर का जल-प्रपात निर्बंध लहरा रहा था। दूर-दूर तक जिधर भी दृष्टि जाती थी, यहां-वहां चारों ओर झाड़-जंगल, घास-वनस्पति और ऊंचे तनोंवाले लता-विटपों का हरा प्रतान फैला हुआ दिखलायी पड़ता था। चतुर्वेदीजी के उस निवासस्थल को देखकर मुझे प्राचीन ऋष्याश्रम की याद आ गई, जहां दंभ नहीं था, द्वेष नहीं था और जहां जीवन-रस चारों ओर बिखरा था।

कुंडेश्वर में मैंने उनके संग्रहालय का भी निरीक्षण किया था। दीवारों के पादमूल में जो अलमारियां

थीं, उनमें पत्र-पत्रिकाए, दुर्लभ संदर्भ-ग्रंथ तथा लेखकों और पत्रकारों के लिए अनेक ज्ञातव्य बातें भरी पड़ी थीं। एक अलमारी में, 'ज्याँ क्रिस्तोफ' के अमर लेखक स्वर्गीय रोम्यां रोलां की कलम से लिखे गये पत्रों की मूल पाण्डुलिपियां दिखलायी पड़ती थीं। महात्मा गान्धी, कवीन्द्र रवींद्र, पण्डित जवाहरलाल नेहरू और श्रीनिवास शास्त्री के कई पत्र तथा अपनी-अपनी दिशा में सफलतापूर्वक बढ़ने वाले पूज्य द्विवेदीजी, पण्डित पद्मसिंह जी, गणेशशंकरजी और पण्डित श्रीधर पाठक सरीखे साहित्य-सेवियों के जीवन-चरित के मसाले भी थे। फर्श पर एक ओर अखबारों के फालतू टुकड़े बिछे-फैले थे। उनके आस-पास किताबें अस्त-व्यस्त रक्खी थीं। कहीं रंगीन फ्लैट फाइलों में आत्मदर्शी मनीषियों के प्रवचन तथा सुभाषितों का हृदय-ग्राही संकलन था। उनके एक-दो स्मरणीय नमूने देखिये :

कबिरा खड़ा बाजार में, लिये लुकाठी हाथ;
जो घर फूँकै आपना, चलै हमारे साथ।
रूखा-सूखा खाइकै, ठंडा पानी पीव;
देखि बिरानी चूपड़ी, मत ललचावै जीव।
निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय;
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय।

गोपद के समान जिसका व्यक्तित्व नगण्य है, और जिन्हें कहीं भी सहारा नहीं मिला है, उन उपेक्षित बन्धुओं के मर्म संदेशों को भी चतुर्वेदीजी ने अपने संग्रहालय में स्थान दिया है। उनके संग्रह-कार्य की इस उदार प्रणाली को देख कर, जिसमें छोटे-बड़े सभी अपने भावों की कटुता और तीव्रता को भूल कर आत्म-विकास कर सकते हैं, निम्नलिखित संस्कृत लोकोक्ति याद आती है—'सर्वसंग्रह कर्त्तव्यः कः कालो फलदायकः' —सभी वस्तुएं संग्रहणीय हैं, न जाने कब किसका अभाव खले। चतुर्वेदीजी के अतिरिक्त, यदि हैं तो, ऐसे इने-ही-गिने साहित्य-सेवी हिन्दी-संसार में होंगे, जिनके संग्रहालय पत्रकार-कलाविषयक सर्वोत्तम अर्थपूर्ण सामग्रियों तथा जीवन-मार्ग को प्रशस्त करने वाली ग्रन्थावलियों से इतने समृद्ध हैं, जिन्होंने निजी चिट्ठियों, स्वानुभूतियों, सदाशयता की पुष्टि करनेवाले सुभाषितों तथा देश-विदेश के पचासों लेखकों के हजारों पत्रों का इतना सुंदर संकलन किया है, और जिन्होंने भिन्न-भिन्न मति-गति वाले लोगों के विचारों को इस तरह अलग-अलग उचित प्रकार से अपने उल्लेखनीय अजायबघर में बंद कर रक्खा है।

चतुर्वेदीजी एक कुशल पत्र-लेखक हैं। उनके पत्रों में काल्पनिक उड़ान नहीं, अतिशयोक्ति की लफ्फाजी नहीं, बल्कि होती है मजमून की सचाई, और हृदय से हृदय को जोड़ देनेवाली एक कड़ी। उनके पढ़ने से प्रतीत होता है, जैसे वे मेरे चिर दिन के आत्मीय हैं। अपने २४-६-४७ के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—"सुरम्य प्रकृति के निकट मैं किसी ऐसे आश्रम की कल्पना कर रहा हूं, जहां के 'मेन हाल' में भारत के भिन्न-भिन्न ज़नपदों के नक्शे होंगे, और प्रत्येक जनपद के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यकर्त्ता का विवरण (सचित्र) जहां सुरक्षित होगा, जहां कभी हरी-थकी आत्माओं को क्षणिक विश्राम की व्यवस्था होगी; जहां उनकी यात्राओं का व्योरा रहा करेगा और जहां का द्वार प्रत्येक समझदार लेखक के लिए खुला रहेगा—और स्त्रियों के मायके के समान (!) जहां उनका हार्दिक स्वागत होगा। ऐसे आश्रम भारतवर्ष में और पाकिस्तान में भी कभी-न-कभी स्थापित होंगे। प्रारंभ में वे प्रायः असफल ही होंगे, पर आगे चलकर उनमें अवश्य सफलता मिलेगी। मैंने छोटी-सी चीज यहां स्थापित की थी, वह नष्ट हो गई, पर बकौल कविवर बच्चन 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर'! अगले अक्तूबर या नवम्बर में मैं ब्रज में किसी नीम के नीचे बैठकर

अपनी क्षुद्रतम साहित्यिक साधना का पुनः प्रारंभ करूंगा। यहां का उपवन तो अब छोड़ ही रहा हूं--पर 'मन चंगा तो कठौती में गंगा।' मुझको बुला रही हैं--'ब्रज की करील कुंजैं।'

मेरी राय में यदि सिर्फ उनके ऐसे पत्रों का ही ठीक रूप में संपादन किया जाय, जिन्हें अपनी कलम से उन्होंने दूसरों को लिखा है, तो यह उनके साहित्यिक जीवन तथा भावना के अध्ययन की दृष्टि से एक तथ्यपूर्ण वस्तु होगी तथा हिन्दी संसार के लिए एक रोचक और सजीव कृति। हिन्दी-संसार में ऐसे कितने हैं, जो अपने जीवन के चिंतनशील क्षणों में व्यस्त रहते हुए भी दूसरों को स्नेहपूर्वक संबोधन करते हैं, और जो मार्ग से अनभिज्ञ अपने छुटभइयों को ईमानदारी के साथ बतलाते हैं कि उनकी अपनी सफलता के भेद तथा साहित्यिक कार्यों के तरीके क्या हैं? रोम्यां रोलां की दृष्टि में टालस्टाय की साहित्यिक महत्ता इस बात से बड़ी मालूम होती है कि उसके सुपरामर्श, सद्भावनापूर्ण सहयोग तथा प्रोत्साहन युक्त पत्रों के प्रभाव से अगणित रोम्यां रोलां पैदा हो गए। गोर्की के बारे में 'मैक्सिम गोर्की ऐंड हिज रशा' नामक ग्रन्थ के लेखक अलेक्जेन्डर क्वाँ ने कहा है--"वह नवाभ्यासी लेखकों की प्रत्येक हस्त-लिखित पाण्डुलिपि को बड़े गौर से देखता, उसके दोषों पर धैर्यपूर्वक विचार करता तथा गुणों की दाद देकर ग्रन्थकार को सफलता के भेद मालूम करा देता था। उसने १९०८ में ग्रेगरी यूस्तिनोव को लिखा था--'मेरे डेस्क में आज भी १९३६ ग्रन्थों की हस्तलिखित पाण्डुलिपियां रक्खी हुई हैं। उनमें एक भी ऐसी पाण्डुलिपि न थी, जो उसकी निगाह से अछूती बची हो।'

यदि यहां तक कहीं हम भी पहुंच सकते!

चतुर्वेदीजी डायरी कभी-कभी ही, जब मन में उमंगें उठती हैं, लिखते हैं। उनकी डायरी में कहीं तो एमर्सन के, और कहीं एडवर्ड कार्पेण्टर तथा थोरो के विचार अंकित हैं। थोरो की निम्नलिखित अभिव्यक्ति को पाठक भी देखें--"तीर छूट कर लक्ष्य पर ही जमे। निशाना खाली न जाय। अत्यंत संदिग्ध तथा अस्थिर उक्ति भी ध्रुव और अमोघ हो, मानो प्रकृति की सारी शक्तियों के साथ पृथिवी अपने कक्ष पर उसका अनुवर्त्तन करने को टिकी हो। जैसे लक्ष्यवेधक, विराम तथा दक्षता के साथ, अपने अस्त्र का संधान करता है, वैसे ही लेखक भी कलम का संधान करे।"

उन्होंने अपनी डायरी में एक स्थल पर लिखा था--"प्राचीन चिह्नों से इतिहास का निर्माण कैसा कठिन --पर साथ ही कितना आकर्षक--विषय है; किंतु वह तबतक अधूरा ही रहेगा, जबतक हम भावी इतिहासकारों के लिए आधुनिक युग का मसाला तैयार न रक्खें। सजीव प्राणियों की आकांक्षाओं, आशाओं, दुखों और संभावनाओं के ब्योरेवार विवरण हमें तैयार करने चाहिए। असाधारण-से-असाधारण तथा साधारण-से-साधारण इन सब के चरितों का समन्वय करना ही लेखक का काम है।"

आस-पास के संघर्षों तथा लोक-मंगल की भावनाओं से आंखें मूंद कर साहित्य-सेवी अपने एकाकीपन की नीरवता में समाधिस्थ रहें, यह चतुर्वेदीजी को अभिप्रेत नहीं है। उनके लेखों की पृष्ठभूमि के मुख्य मंतव्य देखिये--"हमें एक सत्य कभी न भूलना चाहिए, वह यह कि सबसे अधिक कीमती चीज जो हमारे पास है, वह है हमारा निजी व्यक्तित्व, और उसका स्वतंत्र विकास ही हमारे जीवन का ध्येय है। इसका यह मतलब हरगिज नहीं है कि कोई लेखक या कवि आस-पास के संघर्ष से विरक्त रहे। जिस लेखक या कवि के जीवन में संघर्ष नहीं, जो अपने विश्वासों के लिए मर मिटने को तैयार नहीं, जो दुनिया के सामने यह कहने को उद्यत नहीं--'मेरे विचार ये हैं, और इनके लिए मैं पूर्णतः जिम्मेदार हूं, और किसी भी शासन अथवा शासक का डर इन विचारों को प्रकट करने से मुझे नहीं रोक सकता'--वह दरअसल लेखक या कवि नहीं,

और उसकी गणना भड़ों में की जानी चाहिए। ... आइए, हम लोग खुल खेलें। चढ़ी हुई नदी में धड़ाम से कूदने में जो मजा आता है, वह लोटा-डोरी लेकर नदी के किनारे नहानेवालों को कब नसीब हो सकता है? लेखक या कवि का काम समय की गति के साथ चलने का ही नहीं है, उसके आगे बढ़ने का भी है; पर उसे हर हालत में अपने प्रति और अपनी अंतरात्मा की ध्वनि के प्रति सत्य रहना चाहिये। निस्संदेह इस आदर्श से जीवन का संघर्ष और भी विकट हो जायगा; पर यह संघर्ष जीवनप्रद होगा।"

(विशाल भारत, मई १९३९, संपादकीय विचार)

चतुर्वेदीजी में ऐसी कई बातें हैं, जिनके कारण उनका नाम साहित्य-संसार में चिरकाल तक प्रकाशित रहेगा। उनमें यहां केवल दो ऐसी सच्चाइयों का उल्लेख करूंगा––(१) उनके व्यक्तित्व का मानवता के निकटस्थ संपर्क और (२) स्वर्गीय साहित्य-सेवियों की जीवनी लिखने का उनका महत्त्वपूर्ण कार्य।

हिन्दी में चतुर्वेदीजी-जैसे पुरुष दुर्लभ ही हैं, जो अपने जीवन के आंसू या मुस्कान को भूलकर दूसरों के आंसू या मुस्कान को पढ़ने का कष्ट उठाते हैं। "पीड़ित मनुष्य से मैं यह नहीं पूछता कि तुम्हारी पीड़ा कैसी है, बल्कि मैं स्वयं पीड़ित बन जाता हूं, और पीड़ा का अनुभव करने लगता हूं।" मेरे विचार में वाल्ट ह्विटमैन के इन्हीं शब्दों से चतुर्वेदीजी के जीवन और उनके दृष्टिकोण का ठीक अन्दाज लगाया जा सकता है। स्वर्गीय घासीराम व्यास, स्वर्गीय विनोदशंकर पाठक, अग्निकाण्ड की भीषण दुर्घटना के शिकार स्वर्गीय कौशलेन्द्रजी और स्वर्गीय सीताराम साधक––जैसे संतप्त साहित्य-सेवियों के दुख-दर्दों को समझने की जितनी चिंता उन्हें है, उतनी और किसको है? निस्संदेह हिन्दी-संसार में कल्पना की उड़ान दिखलानें वाले चिंतनशील विद्वानों का अभाव नहीं है। लेकिन उनमें ऐसे कितने हैं, जो नंदन-कानन में रहते हुए भी रेगिस्तान की लू से मुरझा जायं अथवा जिनके पास हृदय की आंखें हैं?

चतुर्वेदीजी के विचारों और संवादों में सहृदयता और संवेदनशीलता की एक ऐसी गहरी छाप है, जिसका हृदय पर सीधा असर पड़ता है। मैंने यह भली भांति अनुभव किया है कि जब यहां-वहां––चारों ओर––भीषण निराशा की भावना है, तब ऐसी स्थिति में मेरी तबाहियों और स्याहियों के क्षणों में सहानुभूति के दो शब्द लिख कर ढाढस बंधानेवाले वही हैं। उनके जीवन-सिद्धांत और साहित्य के अध्ययन से (मैंने जहां तक समझा है) ज्ञात होता है कि उनके लिए दुनिया में इससे अधिक रुचिकर अन्य कोई काम नहीं है कि हम किसी के गहन अंधकार में अपने सहृदयतायुक्त प्रोत्साहन द्वारा प्रकाश के फूल बखेरें; उनके लिए इससे अधिक जीवंत और महत्त्वपूर्ण दूसरा कोई तथ्य नहीं है कि हम उन स्वर्गीय साहित्यिकों की स्मृति और कीर्त्ति की रक्षा के लिए अपेक्षित प्रयत्न करें, जिन्होंने अपने को चंदन की तरह घिस कर साहित्य में जीवनदायक सौरभ का प्रभात लहराया। ●

जयनारायण राय

मेरे संरक्षक

•

मैं केवल १५ वर्ष का था, जब पहली बार मैंने पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी को पत्र लिखा। याद नहीं पड़ता कि 'मॉडर्न रिव्यू' या 'इंडियन रिव्यू' किसमें मैंने सबसे पहले प्रवासी भारतीयों में उनकी रुचि के संबंध में पढ़ा था। उस समय मारीशस में अपनी शिक्षा से मैं संतुष्ट नहीं था और उच्चतर शिक्षा के लिए भारत जाने को बेचैन था। प्रवासी भारतीयों में रुचि का क्या अर्थ होता है, शायद इसके बारे में मेरे मन में एक अस्पष्ट-सी कल्पना थी और इसी स्थिति में मैंने उन्हें यह पत्र लिखा था।

अपनी साफ-सुथरी लिखावट में दिया गया उनका उत्तर बहुत ही उत्साहवर्धक था। मेरी प्रार्थना पर, दीनबंधु सी० एफ० एन्ड्रूचूज़ के साथ लिया गया अपना चित्र भी उन्होंने मुझे भेजा था। उस चित्र को मैं अपने पास सुरक्षित न रख सका, लेकिन आज भी मैं उन्हें खादी की धोती और कुर्ते में, चश्मा पहने हुए, उसी रूप में स्पष्टता से देख सकता हूं। धोती उनके टखनों के ऊपर थी और वह तीस से कुछ ऊपर लगते थे। उनके चेहरे पर एकदम सादगी की छाप थी, लेकिन उनकी प्रांजल लेखन-शैली और पत्र में उन्होंने मेरे प्रति जो रुचि और भ्रातृ-भाव दिखाया था, उसने मुझ पर कुछ दूसरी ही छाप छोड़ी और मेरी तीव्र इच्छा होने लगी कि भारत पहुंचते ही मैं उनसे भेंट करूं। मेरे पिताजी भी इतने उत्साहित हुए कि उन्होंने मुझसे कहा कि मैं भारत में अपने शिक्षा-काल में अपना संरक्षक बनने की उनसे प्रार्थना करूं।

पण्डितजी उन दिनों अपने छोटे-से नगर फीरोजाबाद में थे और जब १९२५ में दिसंबर के अंत में मैं कलकत्ता पहुंचा, उस समय मुझे ज़रा भी पता नहीं था कि कौन-सा नगर कितनी दूर है। मैं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कानपुर-अधिवेशन में शामिल होने को बेचैन था, जहां मैं कांग्रेस तथा अन्य विभिन्न महत्वपूर्ण संगठनों के उच्च नेताओं के दर्शन कर सकूं और उन्हें सुन सकूं। वहीं मुझे आशा थी कि पण्डितजी से भी भेंट हो जायगी। उस समय मैं केवल १६ वर्ष का था, फिर भी मैंने बहुत पूछताछ और खोज-बीन की। उनसे परिचित किसी महानुभाव ने जब मुझे बताया कि वह कलकत्ता में एक हिंदी पत्रिका का कार्य-भार संभालने चले गए हैं, तो मैं बहुत दुःखी हुआ।

मैं महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय से मिला। उन्होंने मुझे अपना एक पत्र देने की कृपा की। इस पत्र ने वाराणसी की शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश के लिए मेरे लिए 'पासपोर्ट' का काम किया। पूरी तरह व्यवस्थित हो जाने के बाद जब मैंने पण्डितजी को लिखा, तो उन्होंने मुझे याद दिलाया कि हम दोनों दूर जरूर हैं, लेकिन "मैं हिंदुस्तान में तुम्हारा संरक्षक हूं।" उन्होंने ऐसे कुछ महानुभावों की एक सूची मुझे दी, जिनसे मुझे मिलना था। उस सूची में मेरे प्रधानाचार्य पं० रामनारायण मिश्र भी शामिल थे। उन्होंने मुझे विस्तारपूर्वक बताया कि मैं श्री सम्पूर्णानन्दजी से मिलने किस तरह जालपादेवी जा सकता हूं। मैंने श्री संपूर्णानंदजी के बारे में जानकारी हासिल की। मुझे पता लगा कि वह प्रकाण्ड विद्वान हैं और संतों का-सा जीवन व्यतीत करते हैं। कई सप्ताह मैं इसी सोच-विचार में रहा कि उनसे किस विषय पर बातचीत करूं। एक युवक के लिए इससे बढ़कर कसौटी का कोई समय नहीं होता है, जब कोई प्रतिष्ठित

व्यक्ति अपने चश्मे के भीतर से ध्यानपूर्वक देखते हुए प्रश्न कर बैठे, "हां, नौजवान, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूं !"

लेकिन यह अवसर तो बिल्कुल दूसरी तरह का ही निकला। न केवल मेरा हार्दिक स्वागत किया गया, बल्कि इससे मुझे वाराणसी के अन्य प्रसिद्ध व्यक्तियों से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ। मुझे प्रेमचंदजी तथा 'आज' के संपादक श्री बाबूराव पराड़कर से मिलाया गया। इसके बाद मेरा परिचय श्रीप्रकाश, राजा शिवप्रसाद, आचार्य नरेंद्रदेव और अंत में महान दार्शनिक डा० भगवानदास से कराया गया। डा० भगवानदास का अपना एक बड़ा पुस्तकालय था, जिसमें से मैं पढ़ने को पुस्तकें ले लेता था। कई बार मैं इन महापुरुष के साथ शाम को टहलने जाता और अपने प्राचीन साहित्य की निधि के बारे में मुझे जानकारी मिलती। मैं कृष्णमूर्ति से भी मिला, जब वह थियोसोफिकल सोसायटी आये। सोसायटी का कार्यालय हमारे छात्रावास के पीछे था। विश्वविद्यालय में हरिऔध और लाला भगवानदीन जैसे हिंदी कवि पढ़ाया करते थे। विद्यार्थियों में से मुझे सोहनलाल द्विवेदी और जनार्दन व्यास का स्मरण हो आता है।

बाद में जब मैं इलाहाबाद चला आया तो भी पंडितजी ने एक लंबी सूची ऐसे लोगों की भेजी, जिनसे मुझे मिलना था। इनमें से ज्यादातर कांग्रेसी और हिंदी के लेखक थे। मैं पण्डित हृदयनाथ कुंजरू से मिला, जो इन दोनों में से किसी भी वर्ग में नहीं थे। उस समय आतंकवादी आंदोलन का गहरा प्रभाव मुझ पर था और गांधीजी की अहिंसा की मैं ज्यादा परवा नहीं करता था। यह बहुत से लोगों, खासतौर पर कांग्रेसी लोगों से मिलने का समय नहीं था। धीरे-धीरे मेरे अनेक प्रिय साथी फांसी पर चढ़ा दिये गए या गिरफ्तार कर लिये गए। अपने छात्रावास के कमरे से कुछ ही गज़ की दूरी पर मैंने अपनी आंखों से अपराजेय चन्द्रशेखर आज़ाद के शव को पड़े देखा। जब मैंने विचार किया कि किस तरह कुछ अत्यंत प्रतिभाशाली लोग अकाल मौत मर रहे हैं, तो मुझे इस तरीके की निस्सारता का अनुभव होने लगा। हालांकि जब भी मेरे आतंकवादी मित्र मुझसे मिलने आते हैं मैं जो कुछ भी मेरे पास होता, उन्हें दे देता, तो भी धीरे-धीरे मेरी रुचि कांग्रेस की ओर बढ़ती गई। मैंने फिरोज गांधी सरीखे अपने कुछ दोस्तों की तरह अपनी पढ़ाई तो नहीं छोड़ी, लेकिन स्वराज भवन में, जो राष्ट्रीय भारत का केंद्र बन गया था, जब भी कोई सम्मेलन होता, मैं हमेशा उसमें स्वयंसेवक के तौर पर काम करता था। यहां मैं पण्डितजी की सूची के कांग्रेसी नेताओं से ही नहीं मिला, बल्कि सभी बड़े नेताओं से मिला और कई अवसरों पर मुझे बापूजी की सेवा करने और उनसे बातचीत करने का दुर्लभ सुयोग भी प्राप्त हुआ।

यद्यपि पण्डितजी दूर कलकत्ता में थे, पर मुझे हमेशा लगता कि वह मेरे कमरे में आ गये हैं, मेरी किताबों में सिगरेटों की छानबीन कर रहे हैं और मेरे कालेज के रेकार्ड की जांच कर रहे हैं। यह डर तब मुझे और भी सताता था जब मैं आतंकवादी था और उन्हें मेरे कमरे में पिस्तौल भी मिल सकती थी। मुझे डर लगा रहता कि वह कहीं बिना सूचना दिये ही न आ जायं ! उनके पत्रों से उनका जो चित्र मेरे हृदय-पटल पर अंकित हुआ था, वह एक ऐसे अनुशासक का था, जो किसी भी बेहूदगी को सहन नहीं करेगा और मुझसे यह तक पूछ बैठेगा, "यदि बिजली चली भी जाय तो मैं समझता हूं कि मोमबत्ती को माचिस से जलाया जा सकता है, लेकिन जमीन पर यह लाइटर क्यों ?" या "तुम इन इतने कीमती कागजों और लिफाफों का क्या करते हो ? कहीं प्रेम-पत्र तो नहीं लिखते ?" इस तरह वह मेरे संरक्षक के नाते जागरूक थे और मैं भी उतना ही जागरूक था कि मेरे पिताजी ने उन्हें भारत में मेरा संरक्षक नियुक्त किया है। इसी एक बात ने मुझे नियंत्रण में रखा और मुझे ऐसे मार्ग पर चलाये

रक्खा, जिससे उन्हें संतोष हो और जिससे मेरे पिताजी को भी सुख पहुंचे, जिनका मैं एक प्यारा बालक था।

पण्डितजी के कहने पर मैं इलाहाबाद में ही भारत के कुछ महान लेखकों से मिला। मैं 'सरस्वती' के श्री देवीदत्त शुक्ल से मिला, लेकिन विनम्रता-पूर्वक मैंने उनके भांग के गिलास को पीने से इंकार कर दिया। मैं राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन से भी मिला, जिन्हें मैंने अक्सर स्वराज भवन में देखा था। मैं 'अभ्युदय-समूह' के मालवीयों से मिला और पंडित रामनरेश त्रिपाठी से भी। पंत, निराला, भगवतीचरण और बच्चन प्रायः आते और मैथिलीशरण तथा रत्नाकर भी कवि-सम्मेलनों में भाग लेते। रामकुमार वर्मा अभी-अभी लेक्चरार नियुक्त हुए थे और महादेवी, नरेंद्र शर्मा तथा सी० वालकृष्ण विद्यार्थी थे। मेरे अंग्रेजी के अध्यापक डा० अमरनाथ झा की हिंदी में गहरी रुचि थी, मेरे इतिहास के अध्यापक डा० रामप्रसाद त्रिपाठी हिंदी के कवि थे और मेरे अंग्रेजी के अन्य अध्यापक रघुपति सहाय आजकल के 'फिराक' हैं और उर्दू के एक अन्यतम शायर हैं। धीरेंद्र वर्मा उन दिनों हिंदी-विभाग के अध्यक्ष थे और मेरा इन सभी से परिचय हो गया।

मैंने 'पायोनियर' में पत्रकारिता का कुछ प्रशिक्षण लिया तथा 'हिंदुस्तान टाइम्स' के साप्ताहिक स्तंभों में लिखा करता था, जिसके संपादक पोथन जोसफ थे। मैं 'इलाहाबाद यूनिवर्सिटी मैगजीन' का उप-संपादक था, जिसके संपादक डा० अमरनाथ झा थे। हालांकि मेरा प्रशिक्षण सामान्यतः अंग्रेजी में हुआ था, लेकिन हिंदी, हिंदी के लेखकों और कवियों में गहरी रुचि पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के संपर्क के कारण मुझमें थी। मुझे हिंदी पत्रकारिता का काफी ज्ञान हो गया था, जिससे मैं उनके संपादकत्व में कलकत्ता से निकलने वाले 'विशाल भारत' का गुणांकन कर सकता था। यह श्रेय पण्डितजी को ही है कि उन्होंने उस पत्रिका को 'मॉडर्न रिव्यू' के स्तर पर रक्खा, जो उन दिनों भारत में अंग्रेजी की सर्वोत्तम पत्रिका मानी जाती थी। मैंने सुन रक्खा था कि पण्डितजी जिस किसी भी चीज़ को हाथ में लेते हैं, उसमें पूरी तरह समर्पित हो जाते हैं। इसी तरह अपना तन-मन वह इस पत्रिका को भी अर्पित कर रहे थे। यह वह समय था जब लोग दुनिया का अपना ज्ञान हिंदी के माध्यम से प्राप्त नहीं किया करते थे और उन सरीखे हिंदी पत्रिकारिता के प्रारंभिक प्रणेताओं को हिंदी को थोड़ी-सी मान्यता दिलाने के लिए लंबा और कठोर संघर्ष करना पड़ा। वह दिन दूर नहीं है, जब हिंदी दैनिकों का प्रसार सर्वाधिक हो जायगा। हिंदी पत्रकारिता के लिए उन्होंने जो अथक संघर्ष किया है, उसके कारण भारत में हिंदी के इतिहास में वह एक सम्माननीय पद के पात्र हैं।

आज भी हिंदी में लिखने में मुझे कुछ बाधा होती है, लेकिन अनजाने ही पण्डितजी ने मेरे हृदय में हिंदी के प्रति जो अनुराग पैदा कर दिया था, उसके कारण ही मैंने अपना पूरा जीवन मारीशस में हिंदी-प्रचार के लिए दे दिया है। मेरे सभी रविवार इसी कार्य में जाते हैं। हिंदी प्रचारिणी सभा से, जिसका मैं सोलह वर्षों से भी अधिक अध्यक्ष रहा हूं, मारीशस के २३५ प्राथमिक हिंदी विद्यालय और ४० सेकण्डरी एजूकेशन सेंटर संबद्ध हैं। पण्डितजी का प्रभाव मुझ पर इस सबसे भी कहीं ज्यादा है।

अपनी विश्वविद्यालय की शिक्षा के बाद मैं अपनी सेवाएं डा० राजेंद्रप्रसाद को देने चला गया, जो 'बिहार भूकंप सहायता कोष' के अध्यक्ष थे। यहां मैं 'इंटरनेशनल वॉलन्टरी सर्विस फार पीस' में ठहरा। मुजफ्फरपुर जिले में मीनापुर के आदर्श गांव के निर्माण की जिम्मेदारी उठाई। मारीशस में बीस वर्ष तक मैंने विधान-सभा में सेवा की।

बिहार में सहायता-कार्य समाप्त करने के बाद मैं १९३७ में कलकत्ता होता हुआ जब स्वदेश लौट रहा था, तब पहली बार पण्डितजी से मिला और वह भी स्टीमर पकड़ने से पहले कुछ समय के लिए। मैं 'विशाल भारत' के कार्यालय में पहुंचा और हाथ जोड़कर तथा सिर झुका कर बोला, "मैं आपका विनीत बालक जयनारायण राय हूं।" पंडितजी ने उछलकर मुझे गले लगा लिया और एक क्षण हम मौन रहे। तब उन्होंने मेरे सामान आदि के बारे में पूछताछ की और मुझे घर चलने को कहा। लेकिन मेरे पास मुश्किल से एक घंटे का समय था। मैं अपना असबाब पहले ही जहाज पर भिजवा चुका था। उन्होंने कुछ पुस्तकें और पत्रिकाएं मुझे दीं और मारीशस की हाल की घटनाओं के बारे में विस्तार से बताया। बिहार में दो वर्ष तक सहायता-कार्य में लगे रहने के कारण मुझे उन घटनाओं के बारे में जानकारी नहीं थी। उन्होंने मुझे बहुत-सी अच्छी-अच्छी चीजें खाने को दीं और धूप में बैठकर खुलकर बातें कीं। उन्होंने मुझे विस्तार से एक योजना समझाई कि भारत आनेवाले भारतीय प्रवासियों के लिए क्या किया जा सकता है।

यह योजना उनके मन में समाई रही। मालूम पड़ता है कि जब वह संसद-सदस्य थे, उन्होंने स्वर्गीय पण्डित नेहरू से सरकारी जमीन के एक टुकड़े का आश्वासन दिल्ली में आनेवाले प्रवासी भारतीयों के ठहरने के लिए भवन बनाने को प्राप्त कर लिया था। जब मैं मारीशस लौटा, वह लगातार मुझसे अपनी योजना को पूरी करने में मदद के लिए कहते रहे। १९५० में भारतीय गणराज्य की स्थापना के अवसर पर जब मैं मारीशस के भारतीयों के एक गैर-सरकारी शिष्टमंडल के नेता के रूप में भारत आया, तो मैंने अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियों से इस मामले में बातचीत की और मुझे मालूम हुआ कि डा० लंकासुंदरम वस्तुतः उसी योजना पर कार्य कर रहे हैं। श्री सुंदरम से अपनी बातचीत के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि उनकी योजना इतनी विशाल है कि पूरी नहीं की जा सकती। उन्होंने हरेक उपनिवेश के भारतीयों से सालाना चंदे का एक लक्ष्य निर्धारित किया था। मुझे न केवल मारीशस का लक्ष्य अपने साधनों से काफी ज्यादा लगा, बल्कि निजी साधनों से वह लगातार मिलता रहेगा, यह भी संदेहजनक था। मेरी समझ में यह भी नहीं आ रहा था कि औपनिवेशिक सरकारें इस योजना में कैसे दिलचस्पी लेंगी, खासतौर पर जबकि योजना गैर-सरकारी है।

शायद मेरे प्रिय पण्डितजी को इससे कुछ संतोष होगा, यदि मैं इस समस्या पर कुछ ज्यादा गहराई से विचार करूं। मेरे हिसाब से जिन बहुत-से देशों में भारतीय बसते हैं, उनमें से लगभग एक लाख भारतीय तथा दूसरे लोग हिंदुस्तान ज़रूर आते होंगे। दक्षिण-पूर्व एशिया के भूतपूर्व हिंदू राज्यों और बौद्ध देशों से भी बड़ी संख्या में यात्री आते होंगे। भारत में उच्चतर शिक्षा किसी भी अन्य देश के मुकाबले सस्ती है, और अच्छी भी है। इसलिए आनेवाले ज्यादातर छात्र होते होंगे। विभिन्न क्षेत्रों के भारतीय उच्च आयोग इन सभी छात्रों के प्रवेश की व्यवस्था करते हैं और भारत आने पर ये छात्र या तो कालेजों के छात्रावास में रहते हैं या अंतर्राष्ट्रीय छात्र भवनों में, जिनका निर्माण सरकार ने कई बड़े शहरों में करवाया है। छात्रों के कल्याण के लिए एक छात्र-सलाहकार रहता है। सभी छात्रों को, चाहे वे भारत सरकार की छात्रवृत्ति पाने वाले हों या नहीं, अपनी छुट्टियां पहाड़ी स्थानों में स्थित अवकाश-शिविरों में बिताने की सुविधा दी जाती है। इन अवकाश-शिविरों को सरकारी सहायता प्राप्त होती है। भारत सरकार हर वर्ष कई छात्रवृत्तियां प्रदान करती है। इनमें से कुछ छात्रवृत्तियां हिंदी, संगीत, नृत्य, हस्तकला आदि के शिक्षण के लिए दी जाती हैं। राज्य सरकारें भी कुछ छात्रवृत्तियां प्रदान करती हैं।

भारत आनेवाले लोगों का दूसरा सबसे बड़ा समूह ऐसे समृद्ध लोगों का होता है, जो सैर-सपाटे

के लिए भारत आते हैं। वे होटलों में ठहर सकते है, लेकिन कई बार आने के बाद वे अपने मित्र बना लेते हैं, जो उनकी हर तरह से सहायता करते हैं। वे एक जगह नहीं रुकते। बल्कि जितनी चीजें और जगहें वे देख सकते हैं, देखने की कोशिश करते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो अपने पुराने संबंधों को सजीव रखे हुए हैं और अपने रिश्तेदारों के पास चले जाते हैं। कुछ सीधे अपने पुराने गांवों को चले जाते हैं, वहां कुछ दिनों रुकते हैं, तीर्थस्थानों की यात्रा कर आते हैं और फिर लौट जाते हैं। कुछ राजनीतिज्ञ, लेखक और अन्य लोग भारत सरकार के निमंत्रण पर आते हैं और उनका इंतजाम सरकार करती है।

दिल्ली का भवन एक लाख यात्रियों की जरूरत पूरी नहीं कर सकता था। छात्र भारत के सभी भागों में प्रवेश लेते हैं। दिल्ली में रहनेवाले छात्रों के लिए अंतर्राष्ट्रीय छात्र भवन सुभीते की जगह है; धनवान लोग एक जगह टिककर नहीं रहते और अपने रिश्तेदारों के पास जाने वाले लोग सीधे अपने गांवों को चले जाते हैं, जो ज्यादातर बिहार, उत्तर प्रदेश और दक्षिण भारत में हैं। वस्तुतः दिल्ली में कितने लोग ठहरते हैं, जो वैसे भी एक महंगी जगह है? इसके अलावा मैं जानता हूं कि बंबई और दिल्ली में भारत-मारीशस-सभाएं हैं, जो मारीशस से आनेवालों के बारे में पर्याप्त दिलचस्पी लेती हैं। मुझे आशा है, इस तरह की निजी संस्थाएं विकास करेंगी। भारत आने वाले किसी यात्री को मैंने हिंदी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष की हैसियत से जब कभी भी अपनी सिफारिश लेकर भेजा, तो उसे हर जगह सहयोग मिला और उसकी आव-भगत हुई, इसलिए नहीं कि लोग मुझे जानते हैं, बल्कि इसलिए कि हम यहां भारतीय भाषा और संस्कृति के लिए कुछ-न-कुछ काम कर रहे हैं।

मेरी यह सच्ची राय है कि सरकारी आवास और सरकार द्वारा प्रेरित चीजें इसका उत्तर नहीं हो सकतीं। मेरा विश्वास है कि निजी संस्थाएं तथा नागरिक कहीं ज्यादा कर सकते हैं। वे सिर्फ हमारे बारे में कुछ नहीं जानते। भारतीय उच्च आयोगों के पास भारत आनेवालों की सूची रहती है और उन्हें उनके आने का उद्देश्य भी पता होता है। यदि काफी पहले से ही यह सूची प्रकाशित कर दी जाय, तो मुझे विश्वास है कि गैर सरकारी संस्थाएं और व्यक्ति उनकी यात्रा को सुखद और आनंददायक बनाने के लिए काफी कुछ कर सकते हैं।

मैं यह सुझाव पण्डितजी के संतोष के लिए प्रस्तुत कर रहा हूं। पर अब मैं साठ वर्ष का हो चुका हूं और राजनीतिज्ञ, नाटककार, स्तंभ-लेखक, शिक्षा-शास्त्री तथा सामाजिक कार्यक्रम के अपने सक्रिय जीवन से संन्यास लेने का विचार कर सकता हूं, ऐसी स्थिति में मैं अपने संरक्षक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के सामने विनीत भाव से नमन करता हूं, जिनका मेरे जीवन और चरित्र पर महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है और जिनके अनुशासनपूर्ण प्रभाव ने मेरे सार्वजनिक जीवन को ऐसा मोड़ दिया है कि भले ही वह साधारण हो, परंतु इतना महत्वहीन नहीं रहा है। ●

सत्यवती मल्लिक

ईडन गार्डन से बुद्धजयन्ती पार्क तक

"सर्वोत्तम दृश्य, सर्वोत्तम पुस्तकें और सर्वोत्तम व्यक्तियों से परिचय, बच्चों की शिक्षा एवं विकास के लिए अत्यंत आवश्यक और सहायक हैं। आप ऐसा ही वातावरण तैयार कीजिये।"

आदरणीय चतुर्वेदीजी (दादाजी) के उपरोक्त कथन की छाप मेरे मन पर उन दिनों पहले ही गहरी अंकित हो गयी थी, जबकि मैं अपने बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा और उनके भविष्य के लिए चिंतित-सी थी।

सर्वोत्तम दृश्य तो इन्हें मेरे साथ-ही-साथ शिमला, काश्मीर आदि में हिमालय के उत्तुंग शिखरों, वन-प्रांतों, नदी-प्रपातों तथा उन दिनों भी कलकत्ता के आसपास के सुंदर बाग-बगीचों, उपनगरों में घूमते हुए काफी मिल रहे थे। वे स्मृतियां भुलाई नहीं जा सकतीं, जब हम बेफिक्री से बच्चों को लेकर ईडन गार्डन, बोटैनीकल गार्डन, अकरथरा और कभी डायमंड हारबर की ओर निकल जाते थे।

ईडन गार्डन में कमलिनी-पूरित सुवासित सरोवरों एवं पगोडा के आसपास घूमते हुए ही हमें सबेरे-सबेरे एक दिन पूज्य दादाजी के प्रथम दर्शन हुए थे। संभवतः वह कुमारी म्यूरियल लैस्टर के साथ बातचीत करते जा रहे थे। फिर एक दिन देखा, वह ध्यानमग्न पेड़ की छाया में बैठे लिख रहे हैं। कुछ दिनों बाद भाई चन्द्रगुप्तजी विद्यालंकार ने, जो उन दिनों हमारे साथ ठहरे हुए थे, परिचय कराते हुए कहा, "आप हैं पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी, 'विशाल भारत' के संपादक, जिनके पास मैं प्रायः रोज सबेरे जाता हूं और बातें करते-करते नाश्ते के वक्त पहुंचने में देरी हो जाती है।"

मैंने अपने को सौभाग्यशाली माना, क्योंकि 'प्रवासी भारतवासी' तथा 'भारत-मित्र' में 'भारतीय हृदय' नाम तथा उनकी ओजस्वी लेखनी से मैं पहले ही परिचित थी।

फिर 'विशाल-भारत' में उन दिनों विश्वविख्यात लेखकों की उच्च स्तर की कहानियां, कविताएं, स्केच, लेख तथा शिष्ट हास्य-रस के स्तंभ ऐसा कौतूहल बनाये हुए थे कि नया अंक देखने की उत्सुकता प्रबल हो उठती थी।

कलकत्ते में हमारी अच्छी खासी मित्र-मण्डली बन गयी। सुदर्शनजी और उनकी पत्नी, चन्द्रगुप्तजी, श्री सुरेन्द्रनाथ-दंपती, श्री और श्रीमती पृथ्वी राजकपूर और चतुर्वेदीजी। हम लोग एक-दूसरे के घर अथवा स्टीमर द्वारा गंगा की लहरों पर तैरते अक्सर बोटैनीकल गार्डन जा पहुंचते थे। उन दिनों वहां की शोभा निराली थी। कमल-दलों से भरपूर सरोवर, छोटी-छोटी धाराओं पर पुलिन, फूलों से सज्जित लॉन। सब परिवारों के बच्चे बड़े पेड़ों पर चढ़ते, एक साथ खाना खाते, खेलते-कूदते, बातचीत करते। वहीं एक बार दादाजी ने स्व० हरिजी गोविल और उनकी पत्नी को निमंत्रित किया। गोविलजी ने प्रथम बार हिंदी लाइनोटाइप का आविष्कार किया था। बड़े सहृदय और सज्जन व्यक्ति थे। घर आने वाले अतिथियों में स्वर्गीय ब्रज-मोहन वर्मा से मिल कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उनकी अद्वितीय रचनाओं को कौन भूल सकता है! किंतु जिस दिन पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी शांतिनिकेतन से दादाजी के साथ पधारे, वह दिन सदा याद रहेगा। गुरुदेव की बहुत-सी रचनाओं के अनुवाद उन्हीं के द्वारा किये हुए थे।

दादाजी हमें शांतिनिकेतन ले गये। अपने जीवन के सर्वोत्तम दिन मैं वे मानती हूं कि जब कि वहां के आचार्यों व छात्रों का शांत मधुर आश्रम-जीवन, कला भवन में श्री नंदलाल वसु, ऊपर कार्यालय में श्री क्षितिमोहन सेन, आम्रनिकुंजों में संगीत, नृत्य, शिल्प की कक्षाएं और श्रीनिकेतन जाकर हाथ-करघे व सुंदर बुनाई का काम देखने को मिला। कैसा भव्य सूर्यास्त था, जिस समय हम सब कुटीर श्यामली में गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समीप बैठे, उनसे उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियां 'समाप्ति', 'काबुलीवाला' आदि के बारे में वार्तालाप सुन रहे थे। पं० सुदर्शनजी, कुछ मनोरंजक प्रश्न छेड़ देते थे। उठते समय हँसते हुए दादाजी ने कहा था, "गुरुदेव, मैं तो शांतिनिकेतन का पंडा हूं। बहुत लोगों को यहां लाता हूं, क्योंकि मैं इसे अपना द्वितीय जन्म-स्थान मानता हूं।"

इस यात्रा से लौटकर एक तो मुझे (मच्छरों आदि की शिकायत न करने पर) सब यात्रियों से अधिक नंबर मिले, जिसका मुझे गौरव है। दूसरे, मेरी कुछ कहानियों को, जिन्हें उन दिनों 'विशाल भारत' जैसे उच्च कोटि के पत्र में प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त हो रहा था, प्रशंसा व प्रोत्साहन भी। फिर मैं श्रीनगर चली गयी। दादाजी के पत्र आते रहते थे।

"आप अच्छा लिखती हैं। आगामी अंक के लिए नई कहानी लिखिये।" और मेरी रचनाओं पर यदि कोई सम्मति या पत्र आता तो तुरंत भिजवा देते थे।

श्रीनगर से फिर कलकत्ता गई। वहां पहुंचने पर बज्रपात के समान दादाजी के अनुज श्री रामनारायणजी के देहांत का समाचार सुनकर मुझे हार्दिक दुख हुआ। वह बड़े ही विद्वान व सुशिक्षित युवक थे। उसी वर्ष श्रीनगर में सैर करने आये थे और मुझसे मिले थे।

बाद में पता चला कि दादाजी के ८० वर्ष के धीर-वीर पिताजी, तीन विधवाएं और आठ छोटे बच्चे घर पर हैं। इस आघात का असर दादाजी के स्वास्थ्य पर पड़ना स्वाभाविक था। अब वह बाहर कम निकलते थे। इधर हमारा भी कलकत्ता छोड़ना निश्चित हो गया था। मैंने उनसे आती बार कुछ पुस्तकें खरीदने की सूची बनवा ली थी।

थोरो का 'वाल्डेन', टाल्स्टाय एमर्सन, की कुछ पुस्तकें, टामकाका की कुटिया, रवीन्द्रनाथ, चैखव तथा तुर्गनेव का संपूर्ण साहित्य। किंतु वह कहते थे--"संपूर्ण महाभारत सदा घर में होना चाहिए। उसके पढ़े बिना कोई कहानी-लेखक नहीं बन सकता।"

कुण्डेश्वर
१०-११-३७

"प्रिय बहन !

अत्र कुशलं तत्रास्तु।

कलकत्ते के रेगिस्तान में आपका घर मेरे लिए नखलिस्तान-सा बन गया था। यहां मैं स्टेशन से ३२ मील और नगर से ५ मील की दूरी पर बिलकुल एकांत स्थान में हूं। प्राकृतिक सौंदर्य का क्या कहना, नदी के किनारे कोठी है, नीचे झरना, जो निरंतर आवाज किया करता है। जब बातचीत करने को मन होता है, थोरो, लौंगफैलो, एडवर्ड कारपेंटर इत्यादि से कर लेता हूं। विचार-परिवर्तन के लिए चिट्ठियां लिखता हूं। मेथी उग आई है, धनिये के पत्ते निकल आये हैं। सलाद, मटर तथा अन्य शाक-भाजी सहन में बो दिये हैं। टमाटर पहले से थे। मैं आजकल तैरना सीख रहा हूं।"

कुंडेश्वर (टीकमगढ़) से लिखे गए इस पत्र के साथ उन्होंने कितने ही सुझाव आगे लिखने के

लिए दिये और दो कविताएं भेजीं, जिनमें एक तो लौंगफैलो की बच्चों पर थी, दूसरी श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'दुःसमय।'

इन कविताओं ने मुझे उन दिनों बड़ी दृढ़ता दी, क्योंकि नये कारोबार के शुरू होने और बच्चों के स्कूलों की नई व्यवस्था आदि के कारण प्रतीक्षा में मुझे अपनी प्रिय बहन स्वर्गीय ऊर्मिला के पास मेरठ रुक जाना पड़ा था। दादाजी का यह कार्य मुझे ठीक अपने पूज्य पिताजी के तुल्य लगा। वह भी जब और जहां आवश्यक समझते, जैम्स एलन व स्वेट मार्डन आदि की पुस्तकें भिजवा देते थे ।

कुण्डेश्वर की प्राकृतिक शोभा का वर्णन पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई कि दादाजी कलकत्ते के कोलाहल से दूर एक अत्यंत रमणीक स्थल पर पहुंच गये हैं। मैं कल्पना करती थी, अवश्य ही यह 'वाल्डेन सरोवर' की तरह होगा ।

इसके आगे १९३७ से १९४८ तक के वे वर्ष हैं, जब हमारे दिल्ली स्थिर हो जाने पर दादाजी कई बार हमारे यहां पधारे। साथ ही ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों से उन्होंने परिचय कराया, जिनका जीवन स्वयं में एक सुंदर पुस्तक है। इनमें दीनबंधु एन्ड्रूयूज़ तथा कुमारी शैफर्ड को मैं कभी नहीं भूल सकती। कुमारी शैफर्ड के बारे में दादाजी ने लिखा था, "उन्हें मेरी ओर से कह दीजिए कि अब मेरे जीवन का मुख्य उद्देश्य दुभाषिया बनना है, यानी विदेशियों में जो कुछ भलाइयां हैं, उसका परिचय हिंदी-भाषा-भाषियों को देना।" तीसरे व्यक्ति पंडित श्रीराम शर्मा थे, जिनकी निर्भीकता तथा बहुमुखी प्रतिभा का स्मरण आते ही मन विभोर हो उठता है। वह पहली बार ही दादाजी के साथ हमारे यहां आकर ठहरे थे।

मेरी दो पुस्तकें तैयार थीं। प्रथम 'दो फूल' कहानी संग्रह, जिसके प्रकाशन के लिए दादाजी ने कितना परिश्रम किया। कई जगह लिखा। अंत में स्व० नाथूरामजी प्रेमी ने 'हिंदी ग्रंथ रत्नाकर', बंबई से उसे निकाला। पुस्तक बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाशित हुई। सबसे अधिक प्रसन्नता दादाजी को हुई। उन्होंने उसे सर्वश्रेष्ठ पत्रों तथा साहित्यकारों के पास भिजवा कर उनसे जो सम्मतियां प्राप्त कीं, वे मेरी अमूल्य निधि हैं। दूसरा था स्केच-संग्रह, जिसको बाद में 'अमिट रेखाएं' नाम दिया गया।

वह प्रातःकाल मुझे आजीवन स्मरणीय रहेगा, जबकि मेरे दोनों श्रद्धास्पद, पूज्य पिताजी व आदरणीय चतुर्वेदीजी आपस में मिले। मैं पिताजी से मिलने पर प्रायः दादाजी का जिक्र करती थी और दादाजी से पिताजी का। सो दोनों मिलकर बड़े प्रसन्न हुए और मुझे भी बड़ा हर्ष हुआ। पूज्य पिताजी ने पुराने दिनों की बातें सुनाईं कि कैसे एक-दूसरे पर विश्वास किया जाता था, उनकी माताजी से विवाह-शादी के अवसर पर उनकी मेहतरानी या नौकरानी सोने के जेवर पहनने के लिए ले जाती थी और कैसे इस्तेमाल करके लौटा भी जाती थी। विदा लेते समय पूज्य पिताजी ने कहा : "आप सदा सत्कार्यों का चिंतन व मनन करते हैं। सत्यवती को मैंने भी ऐसी ही शिक्षा दी है। मैं भी इससे इन्हीं किताबों के बारे में बातें करता हूं, पर आपने तो इसे पुस्तकें लिखने की ओर ही लगा दिया है। मुझे आपका और भी धन्यवाद करना चाहिए।" फिर सब खूब हँसे। दादाजी के साथ कैमरा था। उस समय का हम दोनों बहनों (शांता व मैं) के साथ स्व० पूज्य पिताजी का चित्र हमारे परिवार को पवित्र एवं चिर-स्मरणीय देन हैं।

इधर बच्चों की पढ़ाई चल रही थी। उनके उत्तीर्ण होने पर दादाजी सदा उन्हें पत्रों द्वारा उत्साहित करते रहे हैं। प्रिय कपिला के बी० ए० में सफल होने पर उन्होंने लिखा था : "कपिला के प्रथम डिवीजन में सर्वोच्च सफलता प्राप्त करने का शुभ समाचार मैंने हिन्दुस्तान टाइम्स में देखा । उसे बधाई का पत्र भेज दिया है। सचमुच उसने कमाल का काम किया है।" प्रिय सुभाष को दी गई उनकी शिक्षा कितनी

महत्वपूर्ण है : "परीक्षाएं कितनी निरर्थक चीज हैं। भाभी से मेरी ओर से कहिये कि अच्छा डिवीजन लाने के लिए बहुत मेहनत न करे। सेकेण्ड भी बुरा नहीं और फिर रायल डिवीजन यानी थर्ड क्लास भी अच्छा है। सबसे मुख्य कार्य है--खूब स्वस्थ रहना। मेरे पूज्य पिताजी कहा करते थे--'तंदुरुस्ती हजार नियामत।' भाभी तो मुझसे दो दर्जे ज्यादा पढ़ गए हैं। मैंने तो कुल जमा एफ० ए० ही पास किया था।"

विन्ध्य-भूमि के उन्मुक्त वातावरण में लिखे गए जैसे पत्र फिर नहीं मिले। पुराने पत्रों में से अकस्मात एक दिन 'कुमारी अन्तरीप' सबसे ऊपर लिखा देखा तो आश्चर्य हुआ। दादाजी कुमारी अन्तरीप भी हो आये। किंतु आगे लिखा :

प्रिय बहन,

इस चिट्ठी का आरंभ एक जनवरी को किया था। यह स्थान काश्मीर के मुकाबले में शतांश भी सुंदर नहीं हो सकता, पर आगरे के रेगिस्तान वालों के लिए काश्मीर ही समझिए। यहां पर जामनेर नदी के बीच एक चौड़ी चट्टान चली गयी है। उसका नाम हम लोगों ने कुमारी अन्तरीप रख दिया है। वहीं पर पत्र लिखने ले गया था, पर लिख नहीं पाया। आज तीन महीने छः दिन बाद लिख रहा हूँ।"····

वह नया समाज, विश्व-वाणी, हंस, विश्व-भारती का युग था। मैं उनमें ही लिखती थी। अचानक 'मधुकर' का गुंजन सुनाई दिया। उसे दादाजी ने टीकमगढ़ से निकाला था। वह उषाकुंज, वेत्रवती, जनपदों की मृदुवाणी, चीतल-मृग, बारहसिंगे, नाना प्रकार के पक्षियों आदि का स्वर-संदेश हमारे शहरी कानों में झंकृत करने आता था। ऐसा जान पड़ता था, मानो हम तुर्गनेव की डायरी पढ़ रहे हों। इसी भूमि पर दादाजी ने मिस साइक्स के साथ अंग्रेजी में दीनबन्धु एन्ड्रूयूज की जीवनी लिखी और दो सुंदर महत्वपूर्ण ग्रंथों (प्रेमी-अभिनंदन-ग्रंथ और सम्पूर्णानंद-अभिनंदन-ग्रंथ) का संपादन कर हमें पहुंचाया। इन दोनों में मुझे भी लिखने को निमंत्रित किया गया था। संपूर्णानंद अभिनंदन-ग्रंथ के लिए 'वितस्ता' लेख को देखकर उन्होंने जो पत्र लिखा वह मुझे बहुत प्रिय लगता है :

टीकमगढ़
४-१-५०

प्रिय बहन,
सादर प्रणाम।

अभी-अभी मैंने आपका सुन्दर लेख पढ़ा है। उसमें गद्य-काव्य-सा आनंद आया। आपको शायद पता न होगा कि मेरे हृदय में नदी-माताओं के प्रति अनन्य श्रद्धा है। नील नदी का स्रोत (रिपन फाल्स) पर भी श्रीमती सरोजिनी देवी के साथ यात्रा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था, चम्बल के स्रोत पर यों ही आ पहुंचा था। बेतवा तथा जमड़ार के स्रोतों की मैंने स्वतः प्रेरणा से यात्रा की है।

× × ×

अमरनाथ की यात्रा तथा अन्य ऐसे ही लेखों के साथ यह भी संग्रह किया जा सकता है।"

'मधुकर' बंद हो गया। वह छोटी-सी कॉलोनी, जिसमें उनके प्रिय सहयोगी श्री यशपाल जैन और श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी रहते थे, नहीं रही। दादाजी तब भी कुछ समय वहीं रहे।

उस मनोरम स्थल को देखने की मेरी इच्छा बराबर बनी रही। आखिर अपनी सुपुत्री कपिला को आगे अध्ययन के लिए अमेरिका भिजवा कर बंबई से लौटते समय दो दिन के लिए हम लोग कुंडेश्वर रुक गये। उस स्थान को जितना सुना था, उससे अधिक रमणीक पाया।

वास्तव में यदि कुंडेश्वर न ठहरती तो कई महत्वपूर्ण बातों से वंचित रह जाती। आज भी एक बड़े हाल में काफी बड़ी मेज, जिस पर ढेरों बड़े लिफाफों और बण्डलों में दादाजी के प्रायः सभी प्रिय लेखकों, कवियों या सहकारी पत्रकारों के पत्र संचित थे, आंखों के आगे घूम जाती है, और एक छोटे कमरे में संदूकों में थे कई महान व्यक्तियों के निजी पत्र, जो दादाजी ने मुझे दिखाये थे।

तभी मैंने कहा था, दादाजी केवल संपादक नहीं हैं। वह तो लेखकों और साहित्यकारों के लिए सजल नेत्र, मातृ-हृदय का-सा अपार स्नेह रखते हैं। उनके एक लंबे करुणा-जनक पत्र का बहुत अच्छा परिणाम निकला। यह पत्र चन्द्रशेखर आज़ाद की माताजी के विषय में दादाजी ने मुझे लिखा था। मैंने तुरंत ही उसकी एक कापी करके पं० जवाहरलाल नेहरूजी की सेवा में और दूसरी दैनिक हिन्दुस्तान में भिजवा दी थी। उसके परिणाम के संबंध में दादाजी ने जो पत्र लिखा, वह आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

टीकमगढ़
८-१-४९

प्रिय वहन,

आपकी सेवा में जो चिट्ठी मैंने भेजी थी, उसके शुभ परिणाम से मैं तो चकित रह गया। उक्त पत्र के फलस्वरूप आज़ाद की माताजी की सेवा में दो हजार रुपये से अधिक पहुंच चुके हैं। उनकी तीर्थ-यात्राएं हो चुकी हैं। शेष वे संभवतः अपनी झौंपड़ी में एक कमरा स्मारक-स्वरूप बनाने में खर्च कर देंगी। सचमुच वह पत्र बड़े शुभ मुहूर्त में लिखा गया था। आपने बहुत ही उपयुक्त समय पर उस पत्र को प्रकाशित करा दिया। बन्धुवर मुकुटजी (हिंदुस्तान के तत्कालीन संपादक) तक मेरे धन्यवाद पहुंचा दीजिए। पूज्य पंडितजी से २५० रु० की सहायता बहुत ही आनंद-प्रद तथा उत्साहोत्पादक सिद्ध हुई।

विनीत
बनारसीदास

और जव वह सिन्धु-सा विशाल हृदय लेकर राज्यसभा के सदस्य होकर दिल्ली पधारे तो उसमें मातृ-भूमि के वे असंख्य दुलारे शहीद और उनके विलखते परिवारों के दुःख-दर्द भी शामिल हो गये, जिनको श्रद्धांजलियां अर्पित करते-करते उन्होंने अपना सारा जीवन ही बिता दिया है।

९९, नार्थ एवेन्यू में दादाजी के निजी कमरे में उनके विश्वविख्यात प्रिय लेखकों तथा वीरवरों के चित्र टंगे रहते थे। कुछ ही वर्षों में पाण्डुलिपियों से भरे संदूक, फाइलें, पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं, इतनी अधिक एकत्र हो गईं कि आने-जाने वालों के लिए कठिनता से बैठने की जगह बन पाती थी। कमरे के बीचोबीच फर्श पर केवल एक आसन बिछा रहता था, जहां विना भयंकर शीत तथा उष्णता की परवा किये वह तपस्वी साधक अपने कार्य में संलग्न रहते थे।

कमरे के बाहर बरामदों और आंगन में प्रायः आजीवन सजा काटकर लौटे हुए वे सज्जन होते थे, जिनके लिए वह कभी तो पेंशन का प्रबंध कर रहे होते या उनसे आपबीती कहानियां सुनते और कभी अपनी छड़ी लेकर उनके साथ चल देते। मुझे भी उनके साथ स्व० श्री लालचंद फ़लक साहब के घर जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आज की दुनिया में फ़लक साहब जैसे सरल और सज्जनता की मूर्ति व्यक्ति बिरले ही दिखाई पड़े। स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में जुलूसों में हम इन्हीं के प्रसिद्ध गीत गाते थे :

ख़ूब रोयेगा समां मेरे मरने पै फलक
ग़म मनाने को तेरे बादे सबा आयेगी।

शांति से सीलन भरी कोठरी में वह अपने बचे-खुचे साहित्य के ढेर के बीच बैठे थे। उन्होंने मिठाई से हमारा स्वागत किया और "तू भी बदल फ़लक कि ज़माना बदल गया" कविता हँसते-हँसते सुनायी।

दादाजी के दिल्ली-निवास के दस-बारह वर्षों का प्रसंग इतना विस्तृत और अनेक कार्यों में बंटा हुआ है कि उसे समेट कर लिखना इस समय असंभव है। वह अनेक बार लिख चुके हैं:

"शांतिनिकेतन के हिंदी भवन और सत्यनारायण कुटीर की स्थापना के बाद दिल्ली को साहित्यिक केन्द्र बनाने के स्वप्न देख रहा हूं। वहां कौन-कौन कार्यकर्ता हैं?" और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे जब दिल्ली आये, निरंतर चेष्टा करते रहे।

स्वाधीनता से पूर्व भी निस्संदेह राजधानी में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियां आनंद से चल रही थीं। अपने-अपने घरों तथा सार्वजनिक स्थानों में, कला एवं साहित्य की ऐसी बैठकें और सम्मेलन होते रहते थे, जिनमें प्रायः सभी भाषाओं के प्रमुख विद्वानों, साहित्यकारों, कवियों की वाणी और विचारों द्वारा आदान-प्रदान होता रहता था। तबतक दिल्ली का वातावरण अपेक्षाकृत शांत और कलेवर इतना विस्तृत न था।

किंतु विभाजन के बाद स्वभावतः बहुत-कुछ बिखर-बिखर-सा गया। साथ ही यह वह युग था, जबकि स्वाधीन भारत के राजनैतिक परिवर्तनों के साथ हमारे संपूर्ण सांस्कृतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक इतिहास में भी नये मूल्यों के समावेश और नये दृष्टिकोण से उसे संगठित करने की नितांत आवश्यकता थी।

इसीलिए जब दद्दा स्व० मैथिलीशरणजी गुप्त तथा दादाजी ने राजधानी में पदार्पण किया (स्व० पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तो यहां थे ही) तो दिल्ली के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जीवन में नये प्राणों का संचार हो उठा। उत्साह की लहर-सी दौड़ गई। नार्थ एवेन्यू में इन दोनों के निवासस्थान साहित्यकारों तथा विद्वद-जनों से निरंतर घिरे रहते थे।

पार्लमेंट तथा अपने अन्य कार्यों के अतिरिक्त दादाजी के अथक प्रयत्नों से राजधानी के प्रमुख केन्द्रीय स्थान में अन्ततः अक्तूबर १९५२ में 'प्रेमचंद-दिवस' पर समारोह-पूर्वक हिंदी भवन की स्थापना हो गयी और उसके द्वारा संपूर्ण भारतीय वाङ्मय को एक स्थान पर लाने और दिल्ली को साहित्यिक केन्द्र बनाने का वर्षों का दादाजी का कल्याणकारी स्वप्न सत्य सिद्ध हुआ। उच्च कोटि का एक बृहत पुस्तकालय, विश्वविख्यात लेखकों की चित्रावली और प्रायः सभी प्रांतीय भाषाओं के प्रमुख साहित्यकारों, मनीषियों और नेताओं के प्रवचनों और भाषण-मालाओं को आरंभ कर भवन में अनुकूल वातावरण तैयार किया गया।

हिंदी भवन के संचालन तथा प्रबंध-संबंधी कार्यों में परामर्श के लिए मुझे अनेक बार कष्ट देने दादाजी के पास जाना पड़ा था। कभी मंत्रालय और कभी हिसाब-किताब के लिए चांदनी चौक भी। प्रारंभ में इसके लिए आर्थिक चिंता बहुत उठानी पड़ी, किंतु दादाजी ने अपने निजी प्रभाव और व्यक्तित्व द्वारा हजारों रुपये अनेक परिचितों से लाकर इस कमी को पूरा किया। न जाने कहां-कहां से प्राचीन साहित्यिकों के चित्र मंगा कर भेंट दिलवाये और अपना अमूल्य अनमोल निजी गैरीसन पुस्तकालय भी भेंट-स्वरूप दे दिया। आने-जाने वाले अतिथियों को वह कितने उल्लास से भवन को दिखाने लाते थे! दीनबंधु एन्ड्रयूज, श्री रामानंद चट्टोपाध्याय तथा अन्य कई कलापूर्ण चित्र स्वयं उनके लिये हुए हैं। हिंदी भवन को उन्होंने निजी संतान के तुल्य स्नेह प्रदान कर उसका पालन-पोषण किया। दिल्ली-निवासी इसके लिए उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे।

स्थान बहुत छोटा था और हमारी आकांक्षाएं उसे विस्तृत रूप देने की थीं, किन्तु दादाजी का स्वास्थ्य अधिक कार्यभार से ठीक नहीं रह रहा था। अंत में उन्हें फीरोजाबाद लौटना ही पड़ा। उनकी उत्कट इच्छा थी कि मैं उन्हें काश्मीर ले जाऊं, लेकिन परिस्थितिवश मैं वैसा नहीं कर सकी। वह मुझे दिल्ली के घिरे-घिरे तथा व्यस्त जीवन में से कुछ घण्टे निकाल कर दो बार बुद्ध-जयंती पार्क ले गये। एक बार पहले स्वर्गीय पं० वंशीधरजी विद्यालंकार के साथ, जब उन्होंने हरे-भरे लॉन में, पेड़ों की छाया तले, अपनी प्रसिद्ध कविताएं—

"दरवाजे को खोल दे माली"
और
दिल चलो वहां
हैं फूल जहां
बैठे क्यों घर में
बंद यहां ?

मधुरता से सुनाई। दूसरी बार हम लोग गये श्रीमती विमला शर्मा और उनके स्वर्गीय पति श्री इलमचंद शर्मा के साथ, जिन्होंने इस रमणीक उद्यान को भांति-भांति के पेड़ों एवं बेल-फूलों से सजाया था।

दूसरी बार की रूस यात्रा से आते-जाते समय दादाजी हमारे साथ ठहरे और वहां की सुचारु रूप से संचालित साहित्यिक संस्थाओं तथा मनोरम स्थानों का वर्णन सुनाया। वहां से प्रकाशित कई नई सुन्दर पुस्तकें दिखाईं। दादाजी द्वारा या उनकी अपनी जो भी नई पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, वे मुझे सुन्दर मोती-से हस्ताक्षरों-सहित प्रसाद रूप में सदा मिल जाती हैं। 'वालडेन' को हिंदी में देख मुझे परम हर्ष हुआ कि आखिर 'वालडेन सरोवर' मेरे घर पर ही पहुंच गया।

श्रद्धेय दादाजी का व्यक्तित्व सदा हमारे लिए ज्योति-स्तंभ-सा बना रहा है। हमारी मंगल कामनाएं स्वीकार हुई हैं। वह अभी-अभी बड़े ऑपरेशन से स्वस्थ हुए हैं। भगवान उन्हें शतायु करें और वह हमारे बीच बहुत वर्षों तक रह कर हम सबका पथ प्रशस्त करते रहें। ●

मुकुटबिहारी वर्मा

आदर के भाजन

●

बनारसीदासजी के बारे में सोचते ही, कोई आधी सदी पहले जिस रूप में उन्हें सर्वप्रथम देखा था, उसकी स्मृति मन और आंखों में आये बग़ैर नहीं रहती। उस वक्त कुर्ता, पाजामा और टोपी उनकी पोशाक नहीं थी। लंबा अंगरखा और पंडिताऊ पगड़ी वह पहनते थे। हाथ में जिल्ददार कॉपी और पेंसिल अक्सर उनके साथ रहती थी, जो कोई भी उद्धरण या विचार तत्काल नोट करने के काम आती।

यह संभवतः सन बीस (१९२०) की बात है, या उन्नीस (१९१९) के अखीर की, जब वह इन्दौर के डेली कॉलेज में पढ़ाते थे।

मुझे भी एक कार्यवश उन दिनों इन्दौर रहने का अवसर हुआ। जिस पारसी मुहल्ले में चतुर्वेदीजी रहते थे, उसीके एक मकान में हम लोग कुछ महीनों के लिए रहे। सेवकजी (श्री द्वारिकाप्रसाद सेवक) का घर ऐसा ठिकाना था, जहां वह रोज़ आते थे। वह अपनी डाक के लिए आते (जो सरस्वती-भवन के पते पर आती थी) और कुछ देर सेवकजी के पिताजी, माताजी या बहनजी से गपशप भी करते थे। मैं भी अपना बहुत-सा समय वहीं बिताता था। वहीं पहले-पहल मैंने उन्हें देखा।

यों मेरे लिए वह अपरिचित नहीं थे, क्योंकि सेवकजी के सरस्वती-सदन से ही प्रकाशित उनकी 'प्रवासी भारतवासी' पुस्तक मैं पढ़ चुका था। उनके 'भारत-भक्त एन्ड्रयूज़' और 'केशवचंद्र सेन' जीवनचरित्र भी संभवतः इससे पहले ही मैंने पढ़े थे। इन सबसे मेरा किशोर-मन बहुत प्रभावित हुआ था।

इंदौर में ही सर्वप्रथम मैंने उनका बसेरा (घर) भी देखा, जो ऊपर से व्यवस्थित पर अन्दर से अव्यवस्थित, उनके जीवन का अच्छा-खासा परिचायक था। श्रीरघुनाथप्रसाद परसाई के साथ कई बार मैं वहां गया, आते-जाते भी यदा-कदा उसकी झांकी मिल जाती थी, क्योंकि सेवकजी के घर से हमारे घर के बीच ही वह था। परसाईजी उस वक्त इन्दौर के एक कॉलेज में पढ़ रहे थे, और शायद वहीं रहते थे।

चतुर्वेदीजी की पत्नी उस समय जीवित थीं, पर वह फ़ीरोज़ाबाद ही रहती थीं और चतुर्वेदीजी कमाई के लिए इन्दौर अकेले ही थे। घर में लकड़ी के खोखे कई थे, जिनमें चतुर्वेदीजी के कटिंगों के ढेर रहते थे। संभवतः उन पर तख्ता रखकर उन्हीं से वह पलंग का भी काम लेते थे।

मेरे और उनके बीच वय, ज्ञान और अनुभव का इतना अन्तर था कि मैं उनसे बातें करने के बजाय उनकी बातों का रसपान ही कर सकता था। मन में उनके लिए ज्येष्ठता और आदर की भावना तो थी ही, उनके लेखन-कौशल से भी मैं उस समय अभिभूत था। 'प्रवासी भारतवासी' ने मुझे झकझोर दिया था और एन्ड्रयूज़ तथा केशवचंद्र सेन के लिए जो अच्छी भावना चतुर्वेदीजी के लिखे उनके जीवनचरित्र पढ़कर मन में पैदा हुई वह बुद्धि परिपक्व होने पर भी मिटी नहीं।

संयोगवश मैंने भी पत्रकारिता के माध्यम से साहित्य का रास्ता अपनाया। उसमें जिन्होंने मुझे दीक्षित किया, वह भी चतुर्वेदीजी ही थे; परन्तु बनारसीदासजी जहां 'भारतीय हृदय'[1] थे, वहां वह (माखन लालजी) 'भारतीय आत्मा' थे और प्रचण्ड 'कर्मवीर' के द्वारा भारत की दासता-मुक्ति का सक्रिय नेतृत्व कर रहे थे। हृदय बैठ जाता है पर आत्मा अमर होती है। 'भारतीय आत्मा' के सान्निध्य और प्रभाव में मैं भी पत्रकारिता द्वारा दासता-विरोधी मार्ग पर ही अग्रसर हुआ। बनारसीदासजी भी अवरुद्ध नहीं थे और साहित्य से पत्रकारिता में भी उन्होंने प्रवेश किया। प्रचार और धूमधड़क्के का उनका रूप तब खुलकर सामने आया, जिसने हिंदी के साहित्यिकों को खासा प्रभावित किया।,

पत्रकारिता में होने के नाते मेरा यह सुयोग रहा कि उनकी ये गतिविधियां मुझे स्पष्ट रहीं। उनके इस दावे का भी मुझे भान था कि महात्मा गांधी के बाद हिंदुस्तान में पथिकजी (राजस्थान सेवा संघ के संस्थापक स्वर्गीय विजयसिंह जी पथिक) और उनसे बढ़कर कोई प्रचारक (पब्लिसिस्ट) नहीं है। प्रचारक

---

[1] बनारसीदासजी चतुर्वेदी उस समय 'एक भारतीय हृदय' के नाम से ही लिखा करते थे। 'प्रवासी भारतवासी' भी उन्होंने इसी नाम से लिखी थी।

धूम-धड़क्के से जहां उन्होंने कुछ को हिन्दी जगत में ख्यात कर दिया, वहां 'उग्र' (पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र') जैसे ठोस साहित्यिक को मुझ-जैसे नैतिकतावादियों की नज़रों में गिरा देने में भी नहीं चूके।

व्यक्तियों के पक्ष या विपक्ष में प्रतिपादन का यह ढंग निश्चय ही विवादास्पद है, खास कर जब इसलिए किसी का गुणगान करते मैं उन्हें देखता हूं कि उसने उन्हें आर्थिक वृत्ति दी या उनके लेखों पर पैसे देकर उनकी मदद की, तो मेरे स्वाभिमानी मन को अच्छा नहीं लगता। लेकिन उनके बड़प्पन को चुनौती नहीं दी जा सकती, और उनके व्यक्तित्व में ऐसा कुछ है, जो प्रभावित किये बगैर नहीं रहता।

वय और ज्ञान की परिपक्वता के साथ उन्होंने पूरी तरह अपने को आन्दोलनकारी बना लिया है, जो प्रारम्भ के प्रचारक रूप की ही शायद परिणति है। श्रमजीवी पत्रकारों का आंदोलन हो या क्रान्तिकारियों की सेवा का, जनपदीय संगठन की बात हो या साहित्यसेवियों की स्मृति-रक्षा का सवाल, चतुर्वेदीजी सब में अगुआ और सक्रिय मिलेंगे। इससे और कुछ हो या नहीं, उनकी मौजूदगी और सक्रियता सुनिश्चित है।

यह मेरा सौभाग्य है कि दिल्ली के उनके निवास-काल में उनके निकट-सम्पर्क का लाभ मुझे रहा। दफ्तर में उनका आना होता था, इधर-उधर सभा-सम्मेलनों में उनसे भेंट होती थी। उनका घर तो मानों सदा स्वागत के लिए मुक्त द्वार ही था।

उनके लिखने का ढंग अब भी वैसा ही साफ़-सुथरा था। साफ़ किये बगैर कोई लेख न भेजते। लिखावट सुन्दर और बीच-बीच में लाल स्याही से शीर्षक आदि भी। पत्र की शुरुआत अंग्रेजी में तो आगे हिन्दी में, और हिन्दी में तो बीच-बीच में अंग्रेजी का प्रवेश अक्सर। घर वैसा ही बिखरा हुआ। कागज़ों, किताबों, अखबारों, कटिंगों के ढेर। आश्चर्य यह कि फिर भी पत्र-व्यवहार का संग्रह बहुत व्यवस्थित। कपड़े भी बदस्तूर अव्यवस्थित।

लेकिन एक बात बड़ी जबरदस्त। वह यह कि मिलना-जुलना बिलकुल मुक्त। बुजुर्ग होते हुए भी दूसरे पर बुजुर्गी लादते नहीं, न उसे अपने छोटेपन का अहसास करने का अवसर आने देते। बातों का खज़ाना, जो कभी खाली नहीं होता। बातचीत नीरस न हो पाये, इसकी पूरी सावधानी। शायद इसीलिए हँसी की बातें, और मजा यह कि दूसरे के ऊपर नहीं, बल्कि खुद अपने ऊपर ही हँसने-हँसाने का मसाला।

नॉर्थ एवेन्यू में जब तक रहे, ऐसा लगता था कि आँख मीचकर अपना मन हलका कर आयें। बड़े वह हैं, बड़े वह रहेंगे। आदर और श्रद्धा वह मांगते नहीं, वह तो उनके प्रति अन्दर से ही पैदा होती है। वह कहीं भी रहें, उनके लिए अपनेपन की भावना मिट नहीं सकती। वह सक्रिय रहते हुए हमारे मार्ग-दर्शन का काम करते रहें, यही प्रार्थना है। ●

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

यह आत्मीयता क्यों !

बहुत पुरानी बात है, संभवतः १९१९ की, आज से पचास वर्ष पहले की। मुझे फीरोज़ाबाद आर्य समाज से उत्सव पर व्याख्यान देने का निमन्त्रण मिला था। मेरे लिए फीरोज़ाबाद का मतलब था 'चतुर्वेदी बनारसीदासजी'। मैंने बहुत छोटी उमर में उनके लेख और पुस्तकें पढ़ी थीं, जिनसे मैं प्रभावित हुआ था। फीरोज़ाबाद का पत्र मिलते ही मन में आया कि वहां चतुर्वेदीजी के दर्शन करने का अवसर मिलेगा। वहां पहुंचते ही मैंने, पहली बात कही कि चतुर्वेदीजी से मिलना चाहता हूं। लोगों ने उत्तर दिया कि घर तो पास ही है, चले जाइये। मैंने कहा कि उनसे समय ले लिया जाय। इस पर कुछ लोग बोले कि चौबेजी से समय का सवाल ही क्या है, जाइये, वह घर पर मिल जायंगे। मेरी धारणा थी कि चतुर्वेदीजी प्रसिद्ध लेखक हैं, बड़े व्यक्ति हैं, उनसे कुछ दूरी रखकर ही मिलना होगा; मुझे उस समय पता नहीं था कि सच्चे साहित्यकारों के अन्दर सहृदयों के प्रति कितनी आत्मीयता व स्नेह भरा होता है। खैर, मैं चतुर्वेदीजी के पास पहुंचा। उन्हें बतलाया कि किस प्रकार मैं उनके लेखों और पुस्तकों को पढ़ता रहा हूं। अनेक विषयों पर बात हुई और लम्बे समय तक। दो या तीन घण्टे के बाद ध्यान आया कि मुझे आर्य समाज में व्याख्यान भी देना है जिसके लिए मैं फीरोज़ाबाद आया हूं। चतुर्वेदीजी बोले, "चलो, मैं भी चलता हूं, आपका भाषण सुनूंगा। मैं हैरान था कि चतुर्वेदीजी मेरा व्याख्यान सुनें ! सोचने लगा, क्या बोलूंगा ? खैर, समाज में पहुंचा, व्याख्यान दिया।

उसी रात को मुझे वापस जाना था। व्याख्यान के बाद चतुर्वेदीजी से फिर अनेक विषयों पर बातचीत हुई। तब मैंने चतुर्वेदीजी से कहा कि मेरी गाड़ी रात को दो बजे जायगी, इसलिए यह अच्छा होगा कि मैं उसी समय (रात के १०-११ बजे) वेटिंग रूम में चला जाऊं। चतुर्वेदीजी ने कहा कि चलिये, साथ ही चलते हैं। आपके आराम का कुछ इन्तज़ाम हो जायगा। पर वहां आराम का क्या प्रश्न था, मेरी तो चतुर्वेदीजी की बातों से ही तृप्ति नहीं हो रही थी—'शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिः' वाली गीता की बात थी। अन्ततः चतुर्वेदीजी रात को दो बजे गाड़ी में मुझे बैठाकर वापस हुए।

बाकी रात ट्रेन में मुझे नींद न आ सकी। चतुर्वेदीजी से उस दिन छः सात घण्टे बात हुई थी, उन्हीं की ओर बार-बार ध्यान चला जाता था। उससे एक अद्भुत आत्म-संतोष की अनुभूति हो रही थी। ऐसा लगता था, मानों चतुर्वेदीजी से मेरा न जाने कितना पुराना संबंध था। लेखक और पाठक के हृदय की एकता का, उनकी पारस्परिक आत्मीयता का वह पहला अनुभव था। बाद में उसका अनेक बार अनुभव हुआ। लगभग उसी प्रकार की आत्मीयता का अनुभव श्री प्रेमचन्दजी के सम्पर्क में हुआ था। मैं नहीं समझ पाया कि इस प्रकार की हृदय की सरलता और दूसरों के साथ आत्मीयता हो जाने का रहस्य क्या है ?

× × ×

उसके बाद चतुर्वेदीजी से घनिष्ठता बढ़ती गई। कई बार पत्र-व्यवहार हुआ। अभी कुछ दिन हुए उन्होंने मेरे तीस-चालीस पुराने पत्र दिखलाए। चतुर्वेदीजी को पत्र-संग्रह का शौक है। उनके पास गांधीजी

के, रवीन्द्र ठाकुर के और श्री सी० एफ़० एन्ड्रयूज के न जाने कितने पत्र संग्रहीत हैं। कभी-कभी बीच में चतुर्वेदीजी से पुनः मिलने का भी अवसर आता रहा। इधर जब चतुर्वेदीजी पार्लामेण्ट के मेम्बर हो गये तो बहन सत्यवतीजी मल्लिक के घर पर प्रायः मिलना होता रहा।

परन्तु एक विशेष बात चतुर्वेदीजी की विनोद-प्रियता है। सभी प्रतिभाशाली लेखकों में, विशेषकर यदि उनका अन्तःकरण स्वच्छ और निर्मल हो तो, हास्य-विनोद की क्षमता अवश्य पाई जाती है। महात्मा गांधी की विनोद-प्रियता प्रसिद्ध ही है। चतुर्वेदीजी के मुख से उनके विनोदपूर्ण चुटकुले सुनने का अवसर आया है, यहां तक कि यह वर्तमान लेखक भी स्वयं उनके 'विनोद' का शिकार बन चुका है।

१९५८ में जब मैं मेरठ कालेज से ३४ वर्ष अध्यापन के पश्चात अवकाश ग्रहण करने लगा तो, कालेज के छात्रों ने विदाई के अवसर पर एक विशेष समारोह की योजना की। इस लम्बे काल में पढ़ाये हुए पुराने छात्रों को दूर-दूर से निमन्त्रण देकर बुलाया गया। एक प्रश्न यह था कि उस सम्मेलन में सभापति कौन हो। मेरठ दिल्ली के समीप है। किसी बड़े आदमी को प्रधान पद के लिये बुलाने की योजना हो रही थी। मैंने छात्रों को सुझाव दिया कि यदि संभव हो तो चतुर्वेदीजी को ही इसके लिए बुलाया जाय। लड़के दिल्ली गये और चतुर्वेदीजी को पक्का कर आये। विदाई के भाषणों में अनेक पुराने छात्रों ने जो स्वयं अवकाश के नजदीक पहुंच चुके थे, तरह-तरह से अपने उद्गार प्रकट किये। ऐसे अवसर पर भी जबकि पुराने चिरकाल के सहवास की स्मृति हृदय में कोमल भाव जाग्रत कर दे, विनोद का पुट भी आवश्यक हो जाता है। मुझे याद है कि अनेक छात्र मेरे 'भुलक्कड़पन' की बातें सुनाने से न चूके। तरह-तरह की घटनाएं सुनाईं, विशेषकर यह कि किस प्रकार मैं जहां गया वहीं कुछ-न-कुछ सामान भूल आया और उससे जो तरह-तरह के तमाशे बनते थे, उनका जिक्र आया।

जब चतुर्वेदीजी भाषण देने खड़े हुए तो बोले कि आपमें से बहुतों ने यह तो बताया कि वे जहां जाते हैं, कुछ-न-कुछ सामान भूल जाते हैं, पर यह शायद आपको पता नहीं कि "वह कभी-कभी औरों का भी सामान उठा लाते हैं।" कहकहा मच गया। एक साथ ही करुणा का वातावरण हास्य-विनोद के वातावरण में बदल गया। मैंने बीच में ही समर्थन किया कि चतुर्वेदीजी ने जो कहा है, वह ठीक ही है। उसके बाद पुराने छात्रों की जो अलग गोष्ठी हुई, उसमें मैंने स्वयं अपनी एक पुरानी कहानी सुनाई कि एक बार जब मैं लाहौर में अपनी ससुराल पहुंचा तो मेरी सालियों ने बिस्तरबंद खोलकर शोर मचा दिया कि 'जीजाजी तो बहुत शौकीन हो गए हैं। कितना बढ़िया रेशमी नाइट-गाउन खरीदा है।' मैं घबड़ाया, क्योंकि मेरे पास तो कोई 'नाइट-गाउन' था ही नहीं। शक यह हुआ कि कहीं रेल में बिस्तर बांधते समय किसी और का ही बांध लिया हो। जब बिस्तर देखने लगा तो पता लगा कि उसमें तो सारी चीज़ें ही निराली थीं! वस्तुतः अपने बिस्तर की जगह दूसरे किसी का बिस्तर आ गया था। किसी कपड़े की जेब में निकले एक विजिटिंग कार्ड के सहारे पता लगा कि वह कराची के किसी श्रीमन्त व्यापारी का बिस्तरबंद था, पत्र-व्यवहार के बाद उसका अपने बिस्तर से परिवर्तन हो सका।

मैं बहुधा सोचता हूं कि चतुर्वेदीजी के साथ ऐसी आत्मीयता का क्या कारण हो सकता है? खासकर आजकल की दुनिया में यह होता है कि परस्पर आदान-प्रदान से घनिष्ठ सम्बंध बढ़ने पर आत्मीयता हो जाती है। कभी-कभी यह आदान-प्रदान सच्चाई के आधार पर होता है, अर्थात जब कभी कोई व्यक्ति हमारे साथ भलाई या उपकार करे तो कृतज्ञतापूर्वक उसे याद रखते हुए उसके लिए प्रत्युपकार करने की चेष्टा करने की प्रवृत्ति होती है। ऐसे स्थल पर किया गया आदान-प्रदान भी एक अनुकरणीय बात है,

क्योंकि 'कृतज्ञता' सच्चे मानव-हृदय का एक विशेष गुण है। हां, जहां यह आदान-प्रदान केवल इसी स्वार्थ-बुद्धि से होता है कि हम किसी का काम करें और वह हमारा करे और उससे दोनों को ही पारस्परिक लाभ हो वहां वह आदान-प्रदान केवल दुकानदारी की ही बात होती है, उसमें कोई सुंदरता नहीं होती। चतुर्वेदीजी के विषय में इस सिद्धांत को मैंने इसलिए कुछ स्पष्ट किया है कि चतुर्वेदीजी के साथ तो मेरा किसी प्रकार भी, (उत्कृष्ट या निकृष्ट) आदान-प्रदान का संबंध रहा ही नहीं। जहां तक मुझे याद पड़ता है, मैंने उनसे कभी अपने निजी काम के विषय में, प्रार्थना नहीं की और चतुर्वेदीजी मुझे कभी कोई निजी काम बताते, इसका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए यह प्रश्न स्वाभाविक होता है कि चतुर्वेदीजी के प्रति इतनी आत्मीयता का अनुभव क्योंकर हुआ?

ऊपर जो आदान-प्रदान की बात लिखी गई है, उसमें जो उत्कृष्ट प्रकार की है अर्थात 'कृतज्ञता' पर आश्रित आदान-प्रदान वह भी एक प्रकार से निकृष्ट ही है, क्योंकि उसमें भी 'प्रदान' के साथ-साथ 'आदान' भी लगा रहता है। जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप विशुद्ध 'प्रदान' ही है जहां हम दूसरों के प्रति भलाई, केवल भलाई करने के भाव से करते हैं, जहां व्यक्तिगत स्वार्थ की गंध भी नहीं रहती। संसार में ऐसे महान पुरुष, पगम्बर और सन्त हुए हैं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन मानव-जाति के लिए अर्पण कर दिया था। परन्तु ऐसे महापुरुषों को छोड़कर साधारण व्यक्तियों में भी बहुधा यह बात पाई जाती है। दूसरों के प्रति भलाई करना, कष्ट में पड़े हुए व्यक्ति का कष्ट दूर करना, यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। केवल निजी स्वार्थ की भावना इस प्रवृत्ति को रोके रहती है। साधारण व्यक्तियों में भी कुछ व्यक्ति ऐसे पाये जाते हैं, जिनके अन्दर सर्व-जन-हित की भावना ओत-प्रोत रहती है, जो निजी स्वार्थ की बिना सोचे-मन से, वचन से, और कर्म से दूसरों के हित के लिए तत्पर रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के प्रति प्रत्येक मनुष्य के अन्दर आत्मीतया की भावना उत्पन्न हो जाती है, यदि वह उन्हें गहराई से देख ले। चतुर्वेदीजी के विषय में मेरे ऊपर इसका गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपनी कलम को किसी निजी स्वार्थ के लिए नहीं उठाया, प्रत्युत सदैव किसी विशेष आदर्श के लिए उसका उपयोग किया। इसीलिए चतुर्वेदीजी के प्रति मेरे जैसे कितने ही व्यक्तियों के हृदय में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता है और विशेषकर साहित्यिक क्षेत्र के व्यक्तियों में। ●

शिवानी

कुंडेश्वर की स्मृतियां

●

स्मरण वही रह जाता है, जो प्रिय हो, विशिष्ट हो, जिसका संक्षिप्त परिचय भी अपनी मूलभूत विशेषता से, हमारे हृदय पर एक अमिट छाप छोड़ गया हो, किंतु उसी दुर्लभ व्यक्तित्व को, रेखांकित करते समय, अपने को तटस्थ रखना कितना कठिन है, इसका विचित्र अनुभव तब होता है, जब अनेक भूली-बिसरी स्मृतियां आकर

लेखनी पकड़ लेती हैं। कुंडेश्वर की ऐसी ही विस्मृतप्राय अनेक घटनाएं आज चित्ताकाश पर, घनघटायें-सी घिर आती हैं। कैसी रमणीक वनस्थली थी कुंडेश्वर की। एक ओर अमरूदों का गहन वन, दूसरी ओर फूले टेसुओं का उमड़ता दावानल, बीच में गरजती जमड़ार। कभी-कभी, बाढ़ आने पर, वेगवती जमड़ार के क्रुद्ध भृकुटि-विलास से सहम कर, वनस्थली की विचित्र बिरादरी तट पर ही आ जुटती, और केशवदास की वे पंक्तियां साकार हो उठतीं:

विधि कैसो बंधु बन बारन बलित बाघ,
बानर बराहु बहु झिल्ल को अभीत है।

हम नदी से सटी उसी कोठी में रहते थे, और कुछ ही दूरी पर, दूसरी कोठी में रहते थे पूज्य चतुर्वेदीजी। उनसे हमारे परिवार का परिचय, मेरे जन्म से भी पूर्व का था। बहुत वर्ष पहले, जब मेरे पिताजी डेली कॉलेज इंदौर में थे, तभी से वह उन्हें जानते थे। अनेक वर्षों पश्चात हमारा परिवार, फिर उनका प्रतिवेशी बन कर आ गया। हमारे टीकमगढ़ आने का समाचार पाते ही, चतुर्वेदीजी हमसे मिलने आये, और एक-एक कर हम सब भाई-बहनों का परिचय उनसे कराया गया। फिर तो मैं नित्य ही, अपनी बड़ी बहन जयंती के साथ, उनके पास जाती रहती। उन दिनों की स्मृतियां साहित्यिक स्मृतियां नहीं हैं, इसी से बार-बार शंकित हो उठती हूं, कहीं स्मर्यमाण को अंकित करती हुई, स्वयं भी अंकित होती न चली जाऊं। किंतु महादेवीजी की ये पंक्तियां मुझे आश्वस्त कर देती हैं, "इन स्मृतिचित्रों में मेरा भी जीवन आ गया है। यह स्वाभाविक भी है। अंधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश की धुंधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं, उसके बाहर तो वे अनंत अंधकार के अंश हैं।"

उन दिनों, हम सब भाई-बहन पढ़ रहे थे। शांतिनिकेतन से ग्रीष्मावकाश की छुट्टियों में, बड़े भाई त्रिभुवन के पास, टीकमगढ़ चले आये थे, जहाँ वह ओरछा महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। हमारा बचपन कुंडेश्वर की उसी विराट कोठी में बीता था, तब मेरे पिता, महाराज के गृहमंत्री थे। उस वैभव की अब स्मृतियां ही शेष थीं। कभी मेरे पिता ने उस कोठी का सौंदर्य बड़ी लगन और रुचि से संवारा था। शिपनडेल का फर्नीचर, फ्रेंच लेस के पर्दे, अद्वितीय पुस्तकों का अटूट अंबार, और द्वार पर खड़ी हथिनी-सी ब्यूक गाड़ी। किंतु अब भी उस कोठी के वैधव्य में, किसी सुंदरी बालविधवा के से ही वैधव्य का भोलापन था। जिस विशाल दीवानखाने में, कभी स्वयं महाराज, उनके ए. डी. सी एवं मेजर व्हिटबर्न के कहकहों की गूंज दीवारें ढहा देती थीं, उसी में अब हमारी बालमंडली, आए दिन नाटकों का आयोजन करती, और मुख्य अतिथि बनते चतुर्वेदीजी। एक बार ऐसे ही एक नाटक का सभापतित्व ग्रहण करने, मैं स्वयं चतुर्वेदीजी को खींच लाई थी। मैं आज भी नहीं भूली हूं, और मुझे विश्वास है कि चतुर्वेदीजी भी नहीं भूले होंगे, जब मेरी छोटी बहन तरला के, बाल अभिनय और सुमधुर आवृत्ति——

'चार पांव को थंबक थैया
ता पर लगी पुछय्यां'

ने चतुर्वेदीजी को रसविभोर कर दिया था। उन्होंने बारी-बारी से हम सब की पीठ ठोंकी, मैंने ही नाटक की परिचालना की थी, इसी से मेरी बार-बार प्रशंसा की गई, और मुझे तो लगा, जैसे मैंने 'देव पुरस्कार' ही पा लिया है। उनकी उसी प्रशंसा ने, मुझे सहसा जोश दिला दिया। क्यों न अपनी नई लिखी कविता भी चतुर्वेदीजी को दिखला दी जाय? उन दिनों कविता लिखने का, नया-नया शौक चर्राया था, छंद एवं भाषा में, कीट्स की उसी कविता की रंगरूटी छवि थी, जिसे उन्होंने पिता की मार खाने पर लिखा था:

'फादर फादर मर्सी टेक
वर्सेस आई शैल नेवर मेक।'

फिर भी, बंदरिया जैसे अपने नवजात शिशु को, संसार की सुंदरतम सृष्टि मान कर, छाती से चिपकाये फिरती है, मैं भी ब्लाउज में अपनी सद्य कविता को खोंस कर चतुर्वेदीजी के पास पहुंची।

"अरे आओ, आओ, आज अकेली ही कैसे आ गईं? जयंती कहां है?" चतुर्वेदीजी ने पूछा। वह धूप में बैठे कुछ लिख रहे थे। मुझे देखते ही उन्होंने कागज खिसका कर एक ओर रख दिये, पर मेरा साहस, उनके उदार स्मित के सम्मुख, कपूर के धुएं की ही भांति विलीयमान हो गया। इतने बड़े लेखक, पत्रकार और ऐसे विशिष्ट व्यक्ति को भला मैं अपना बाल-प्रयास दिखाती भी कैसे! थोड़ी देर बैठ कर, मैं चुपचाप चली आई। कविता की कुछ पंक्तियां, मुझे आज भी याद हैं। कुछ ही दिन पूर्व, बुंदेलखंडी मलेरिया का दारुण दुख भोग कर उठी थी और वही 'भोगा हुआ यथार्थ' मेरी फूहड़ कविता में उभर आया था। कुछ पंक्तियां ऐसी थीं:

'नीको नहीं लागे भात घी को देख जी अघात
हाय राम आठौं जाम कैसी कंपकंपाई है।
थके बैन, मुंदे नैन ता पै खात हौं कुनैन
यम से हमारी प्रभो ह्वैगई सगाई है।
या हि ओरछा में, को रछा करै हमारी प्रभो—
मोरचा लै काल सों अकेले ही लड़ाई है।

आज सोचती हूं, साहस कर यह कविता यदि उस दिन चतुर्वेदीजी को दिखा देती, और कहीं वह शिष्टाचार-वश मेरा मन रखने को, दो शब्द प्रशंसा के कह देते तो शायद मैं कविता ही लिखती, कहानी नहीं!

एक और घटना का स्मरण हो आता है। भदंत आनंद कौसल्यायन, उन दिनों टीकमगढ़ आये हुए थे। मैं तब ओरछा महाराज के दरबारी संगीतज्ञ सीतारामजी के छोटे भाई राधेश्यामजी की शिष्या थी। कहीं भी उत्सव होता, मेरे गुरु मुझे अपने साथ ले जाते, उनकी उदार संगीत शिक्षा की कृपा से, मेरे पास बुंदेलखंडी फाग, लेद और मधुर टोनों का अक्षय भंडार था। एक दिन भदंत आनंद कौसल्यायन, श्री जैनेन्द्र, यशपाल भैया को लेकर, स्वयं चतुर्वेदीजी हमारे यहां आये और मुझसे गाने का अनुरोध किया। प्रसन्न होकर भदंत आनंदजी ने मुझे आशीर्वाद दिया तो मेरी मां ने कहा—"महाराज, इसे आशीर्वाद दीजिये कि इसका जल्दी ही विवाह हो जाय!" उन दिनों मां मेरे विवाह की ही चिंता में दौड़-धूप में लगी थीं। न जाने कहां-कहां मेरी कुंडली के साइक्लोस्टाइल भेजे जा रहे थे! मेरी औटोग्राफ पुस्तिका में, भदंतजी की लिखी—'विवाह जल्दी हो जाय, सफलता से' एवं जैनेन्द्रजी की लिखी पंक्ति, 'सफल होओ—प्रयत्न ही सफलता है,' मेरे पास आज भी सुरक्षित निधि के रूप में रक्खी हैं।

दूसरे ही दिन, अचानक मेरे विवाह की बात ही नहीं, तिथि भी पक्की हो गई तो माँ ने प्रसन्न होकर चतुर्वेदीजी पर आशीर्वादों की झड़ी ही लगा दी—"भला हो बेचारे चतुर्वेदीजी का, कैसे पहुंचे हुए सिद्ध को अपने साथ ले आये। ऐसा चमत्कारी आशीर्वाद दिया कि चट तेरी मंगनी, पट तेरा ब्याह हो गया।"

चतुर्वेदीजी की कृपा से मिला एक आशीर्वाद तो, सचमुच ही पूर्ण रूप से सफल हो गया और दूसरा आंशिक रूप से, किंतु तृष्णा तो अब भी चिरयुवती बनी मचल रही है! इसी से अब मनाती हूं कि दो सिद्धों को--साथ लाने वाले तीसरे सिद्ध का, कभी मेरी पीठ ठोंक कर दिया गया आशीर्वाद भी, मेरी प्रत्येक नई जन्मी और अजन्मी कहानी को जीवन भर छूता रहे! ●

रवीन्द्र

उनका योगदान

●

पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी के लिए साहित्य हमेशा किसी-न-किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन रहा है। हम कह सकते हैं कि उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ फिजी के भारतवासियों की सेवा से हुआ था। उन्होंने १९३५ में एक नये लेखक को पूरा-पूरा प्रोत्साहन देने के साथ यह उपदेश दिया था, "लेखक बनना अपने आप में कोई बड़ा काम नहीं है। अच्छे लेखक बनने की कोशिश जरूर करो, परन्तु उससे बढ़कर अच्छे आदमी बनने की कोशिश करो। मेरी दृष्टि में लेखक की अपेक्षा तुम्हारे मनुष्य-रूप का महत्व बहुत ज्यादा है।" काश, यह सलाह हमारे सभी उदीयमान लेखकों, नेताओं और हर सार्वजनिक कार्यकर्ता को मिल सकती!

इधर काफी समय से उन्होंने पुराने क्रान्तिकारियों की सेवा को ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था। हमारे यहां बहुत से क्रान्तिकारी गांधीजी की आंधी से प्रभावित हुए बिना अपने पिस्तौल और बम-धर्म का पालन करते रहे। ऐसे वीर काफी संख्या में थे, जिन्होंने अपनी जवानी भारत की स्वाधीनता के लिए न्यौछावर कर दी। आज कोई उनका नाम-लेवा या पानी-देवा नहीं है। वतन पर मरनेवालों में उनका नाम कम ही आया करता है। उनमें से जो अभी तक जीवित हैं वे एड़ियां घिस रहे हैं और उनका जीवन कटुता से भरपूर है। जब वे देखते हैं कि जो कुछ दिनों के लिए कृष्ण-मन्दिर की सैर कर आया वह तो बड़ा देश-भक्त बन गया, नेता बन गया और न जाने क्या-क्या हो गया, परन्तु जिसने उसी एक उद्देश्य के लिए अपना सब-कुछ गंवाया, अपनी जान की बाजी लगायी, वह आज दरिद्रता का शिकार है, वह उपवास-चिकित्सा कर रहा है तो उसका खून फिर एक बार उबलना चाहता है।

बनारसीदासजी ने ऐसे लोगों की सेवा करना, उन्हें एक-दूसरे के नजदीक लाना, मृत क्रान्तिकारियों के परिवारों के भरण-पोषण की व्यवस्था कराना अपना काम मान लिया और बरसों से अपनी सारी शक्ति इसी में लगा रहे हैं। परिणाम-स्वरूप उन लोगों का जीवन कुछ हद तक सह्य बन गया है।

जिन लोगों को १९३० के आसपास की घटनाएं याद हैं, जो भगतसिंह और आजाद आदि के दिनों में अखबार पढ़ा करते थे, उन्हें काशीराम उर्फ जगदीश का नाम जरूर याद होगा। काशीराम उन युवकों में

से था, जिन्होंने अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़कर, एक भले आदमी के जीवन को ठुकराकर क्रान्तिकारी जीवन को अपनाया था। इन्हीं काशीरामजी के सौजन्य से हमें चतुर्वेदीजी के दो-एक पत्र प्राप्त हुए हैं। उनके कुछ अंश यहां दिये जा रहे हैं।

चौबेजी का स्वास्थ्य बहुत खराब था। डाक्टरों ने चार महीने तक पूरा विश्राम करने के लिए कहा। बनारसीदासजी इसका जिक्र करते हुए लिखते हैं, "मुझे स्वाधीनता के सैनिकों और शहीदों की सहायता से बढ़कर और कोई उद्देश्य प्रिय नहीं है। मैं भला आप जैसे मित्रों को पत्र लिखना कैसे बन्द कर सकता हूं ?"

दुर्भाग्यवश हमारे देश की वर्तमान अवस्था में निष्काम कर्म के जैसी चीज लुप्तप्राय हो गयी है। आप कुछ भी कीजिये, चाहे जितनी विशुद्ध भावना से कीजिये, लोग उसके पीछे छिपे हेतुओं की खोज करेंगे और किसी-न-किसी तरह आपको बदनाम करने का प्रयास करेंगे। कई बार इसके पीछे यही भाव होता है कि हम आगे नहीं बढ़ सके तो न सही, दूसरा क्यों बढ़े ? चौबेजी ने बहुत लोगों के बारे में लिखा है, कड़ी समालोचना भी की है, पर कैसे ? स्वयं उन्हीं के शब्दों में सुनिये—"आप जानते ही हैं कि मेरी दृष्टि दोष-दर्शन की नहीं है और साथ ही किसी की खुशामद की भी नहीं। विशुद्ध मूल्यांकन ही मेरा उद्देश्य रहा है। अपनी त्रुटियों को मैं बखूबी जानता हूं, इसलिये दूसरों के दोषों के प्रति सहिष्णु हूं।"

बनारसीदासजी ने शायद १९१२ में लिखना शुरू किया और अभी तक लिखते जा रहे हैं। 'विशाल भारत' ने हिन्दी को न जाने कितने उच्चकोटि के लेखक दिये। आज के बहुत से प्रसिद्ध लेखक और कवि सबसे पहले चतुर्वेदीजी से ही प्रोत्साहन पाकर जनता के सामने आये थे। चौबेजी ने कइयों को तो कलम पकड़कर लिखना सिखाया है। हिन्दी में महाबीरप्रसाद द्विवेदी को छोड़कर शायद ही किसी ने इतने नये लेखक दिये हों, फिर भी उनकी नम्रता देखिये। वह अपने एक पत्र में कहते हैं, "भाषा पर जिसे कमाण्ड कहते हैं, वह मेरे पास नहीं है। संस्कृत मैं बहुत कम जानता हूं और उर्दू प्रायः न-कुछ के बराबर। मेरा ख्याल है इन दोनों भाषाओं की जानकारी के बिना कोई भी व्यक्ति हिन्दी का अच्छा शैलीकार बन ही नहीं सकता।"

चौबेजी का हास्य बहुत ही शिष्ट होता है और इसमें वह अपने ऊपर भी मजेदार चोटें करने से नहीं चूकते। स्वास्थ्य खराब होते हुए उन्हें रूस जाना पड़ा। वहां से लौटे तो स्व० राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने उन्हें लिखा, "सुना है, आप रूस से ज्ञान तथा स्वास्थ्य दोनों ही लेकर आये हैं।" कुछ दिनों बाद चौबेजी फिर बीमार हुए और इस बार अपने सुपुत्र के साथ रोहेला काटेज, नैनीताल में ठहरे। रोहेला काटेज से हमारे स्मृति-पटल पर बड़ी दाढ़ी मूछं वाले युद्ध-प्रिय रुहेलों का चित्र अंकित हो उठा और एक पुरानी कहानी याद आयी। ब्रज मण्डल से कोई आदमी अफगानिस्तान की ओर जा रहा था। सिन्धु नदी पार करने से पहले उसे अपनी श्रीमतीजी का पत्र मिला, "जो तुम स्वामी मोरे अटक पार हुइ जैहो, पाती पठैहों कैसे मित्र मीर मिरजा।" हमने बनारसीदासजी को यही पंक्तियां लिख भेजीं और कहा कि, "अब तो आप रुहेले बन गए हैं। आपसे सावधान रहना होगा।" उन्हें बड़ा मजा आया। उन्होंने लिखा, "राजस्थान के राज्यपाल श्री सम्पूर्णानंदजी ने भी कुछ ऐसा ही लिखा है।

चौबेजी श्री अरविन्दाश्रम देखना तो चाहते थे, पर उनका सिद्धांत यह था कि इस प्रकार की यात्रा अपने गाढ़े पसीने की कमाई से ही करनी चाहिए। संसद सदस्य को मिलने वाली सुविधाओं का उपयोग इसके लिए ठीक न होगा। परन्तु न नौ मन तेल हुआ और न राधा रानी नाच पायीं। पीछे तो स्वास्थ्य के कारण इतनी लंबी यात्रा असम्भव हो गयी। इस सिलसिले में उन्होंने सन ६६ में लिखा था, "जो असाधारण प्रयोग

श्री अरविन्दाश्रम में हो रहे हैं उनके बारे में हम लोगों का ज्ञान अत्यल्प है। सेकेण्ड हेण्ड या सुनी-सुनायी बातों से तो काम चलता नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव ही सर्वोत्तम चीज है। मुझे इस बात का खेद है कि अपने प्रमाद या अव्यवस्था के कारण मैं आपके आश्रम की तीर्थ-यात्रा नहीं कर सका और अब तो शारीरिक स्थिति ऐसी नहीं कि यात्रा कर सकूं। ··'आप लोग पांडिचेरी में जो प्रयोग कर रहे हैं, वह भावी जगत के लिए मार्ग-दर्शक होगा। पर जो श्रद्धा, परिश्रम-शीलता तथा पारस्परिक सहयोग आपके आश्रम में विद्यमान है, उसकी भावना जनता तक पहुंचने में बहुत समय लग जायगा। यहां हम लोग डेढ़-डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग-अलग पका रहे हैं।"

हमारे यहां रिवाज यह है कि लीडर जाति के लोग अपने-आपको सर्वज्ञ मानते हैं और जनता भी उनसे आंइस्टाइन के सिद्धान्तों से लेकर परिवार-नियोजन तक हर प्रकार के विषयों पर लेक्चर सुनती रहती है। उसका असर कितना होता है, यह और बात है। बनारसीदासजी ने अपने-आपको इस तरह का सर्वज्ञ कभी नहीं माना। वह कहते हैं, "जैसे सर जगदीशचन्द्र बसु के प्रयोगों को समझने के लिए वैज्ञानिक साधना की अनिवार्य आवश्यकता है, वैसे ही श्री अरविन्द के प्रयोग को आध्यात्मिक साधना के द्वारा ही समझा जा सकता है।"

हिन्दी पत्रिकाओं की दशा के बारे में इन सम्पादक-प्रवर की राय जानने लायक है। 'पुरोधा' के दूसरे या तीसरे वर्ष में उन्होंने सान्त्वना देते हुए लिखा था, "हिन्दी पत्रों के ग्राहक बहुत धीरे-धीरे बढ़ा करते हैं। पांच वर्ष में यदि पत्र स्वावलंबी हो जाय तो बड़ी बात है। ऐसे पत्र बिना यजमानों की सहायता के नहीं चलते।"

पण्डितजी के जीवन के एक और कोण को देखने के लिए एक व्यक्तिगत बात का उल्लेख कर देना शायद अप्रासंगिक न हो। पण्डितजी का एक छोटा लड़का था, बड़ा सजीव और नटखट। एक बार उसने इनके पैसे चुरा कर मिठाई खा ली। इन्हें पता लगा तो बड़े गरम हुए, बच्चे से जवाब तलब किया। उसने झट कह दिया, "बिल्ली के का भैंस बंधी है, नित उठि खाउति दूध मलाई।" बस साहित्यिक बाप का गुस्सा काफूर हो गया और बाछें खिल गयीं। कुछ वर्ष पहले हमने उस लड़के का हाल पूछा था उसके उत्तर में पण्डितजी कहते हैं, ···"वह लड़का है चि० रामगोपाल। उसने एम० ए०, पी० एच०–डी की उपाधियां ले ली हैं और मेरे साथ ही यहां रहता है। चूंकि मैं किसी की खुशामद नहीं करता, इसलिये उसे काम कहीं भी नहीं दिलवा सका। 'एंड मैन शैल ट्रीट मैन एज ए सोवरेन स्टेट ए सोवरेन स्टेट।' (मनुष्य मनुष्य के साथ ऐसे व्यवहार करेगा जैसे एक राज्य दूसरे राज्य के साथ)। एमर्सन की उक्ति का कायल हूं। हां, तदनुसार बर्ताव करना आध्यात्मिक शराब पीकर वार्तालाप करने के समान खतरनाक है। आठ-दस रुपये मासिक पाने वाले एक मुदर्रिस का लड़का हूं, इसलिये मुझमें सुपीरियारिटी काम्प्लेक्स तो हो नहीं सकती और एर्मसन का कोई भक्त इनफीरियोरिटी कांप्लेक्स का शिकार नहीं हो सकता।" हर्ष है कि रामगोपाल को अब कुछ साल से सरकारी नौकरी मिल गई है।

बहुत कम लोगों को यह मालूम होगा कि बनारसीदासजी ने कविता भी की है। किसी राजनीति के भौंरे ने 'अंकुर और ठूंठ' शीर्षक से एक कविता लिखी थी, जिसमें शासनारूढ़ दल को ठूंठ और अपने दल को नया अंकुर बताया था। उसे देखते ही इन्होंने भी तुकबंदी कर डाली। वह कहते हैं :

अंकुर और ठूंठ

मैं करूं तुम्हारे अंकुर में उस वृद्ध ठूंठ का ही दर्शन॥

हमको न चाहिये एक वृक्ष, चाहे वह हो विस्तृत बट का।
जो थोड़ों को आश्रय दे दे औ' बने शेष के हित खटका।।
हम वन उपवन के प्रेमी हैं, जो एक नहीं होवें हजार।
हम नहीं चाहते हैं रक्षक, चाहे वह कितना हो उदार।।
हम चिड़ियों सम चहकें स्वतंत्र, हो नहीं किसी का भी बंधन।
है आजादी का अर्थ नहीं, सय्यादों का कुछ परिवर्तन।।
उन भोले-भाले श्रमिकों से, जो शासन में करते यकीन।
मैं कहता हूं यों जान-बूझ, बनते जाते क्यों पराधीन।।
जब तक शासक सय्याद रहें, तब तक उजड़ेंगे ही उपवन।
फिर फिर ये अंकुर ठूंठ बने, हों नष्ट हमारे तन मन धन।।
हम सिंहों सम विचरें स्वतंत्र, पर घृणित चीज ये सिंहासन।
जो मनुज-भेड़ निर्माण करें, हैं निन्दनीय वे सब शासन।।
शासन के दुश्मन बनें, करें निज शासन।
सिंहत्व चाहिये हमें, नहीं सिंहासन।।

हम बनारसीदासजी के जन्म-दिन पर उनका अभिनंदन करते हुए प्रार्थना करते हैं कि हिन्दी का यह सेवक अनेक वर्षों तक देश और हिन्दी की सक्रिय सेवा में लगा रहे। ●

क्षेमचन्द्र सुमन

वह अपने-आपमें एक संस्था हैं

●

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी देश के उन पत्रकारों में से हैं, जिन्होंने हिन्दी के अनेक साहित्यकारों, पत्रकारों एवं कवियों को जन्म दिया। महात्मा गांधी तथा कवींद्र रवींद्र के सान्निध्य में आकर उन्होंने अपनी साहित्य-सेवा को कोरे कठमुल्लापन से हटाकर उसे नई दिशा दी। 'विशाल भारत' के संपादन के दिनों में उन्होंने उसके द्वारा, जहां प्रवासी भारतवासियों के अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ाई लड़ी, वहां हिन्दी-साहित्य में भी अनेक आंदोलनों तथा योजनाओं का सूत्रपात किया। इस संबंध में उनकी 'प्रवासी भारतवासी' नामक कृति, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन का 'हिन्दी भवन' हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की 'सत्यनारायण कुटीर' और प्रख्यात घासलेटी आंदोलन उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी के अनेक साहित्यकारों, पत्रकारों, कवियों तथा समालोचकों की कीर्ति-रक्षा के लिए भी श्री चतुर्वेदीजी अहर्निश चिंतित रहते हैं। उनके जीवन का अधिकांश समय सर्वश्री बालमुकुन्द गुप्त, रुद्रदत्त संपादकाचार्य, पद्मसिंह शर्मा, महाबीरप्रसाद द्विवेदी, सत्यनारायण कविरत्न, गणेशशंकर विद्यार्थी और

नाथूराम शंकर शर्मा आदि स्वर्गीय साहित्यकारों की कीर्ति-रक्षा के निमित्त अनेक योजनाएं बनाने और आंदोलन चलाने में ही व्यतीत हुआ है।

'विशाल भारत' के सम्पादन से विश्राम ग्रहण करने के बाद कुंडेश्वर (टीकमगढ़) में रहकर 'मधुकर' के सम्पादक के रूप में उन्होंने जनपदीय संस्कृति तथा कला के प्रोत्साहन एवं अभिवृद्धि के लिए जो आन्दोलन चलाया था, उसमें भी वह पूर्णतः सफल हुए। लोक-संस्कृति तथा कला का आज जो रूप हिन्दी-साहित्य में हम देख रहे हैं, उसके वही मार्ग-दर्शक कहे जा सकते हैं। इन्हीं दिनों उन्होंने स्व० बालमुकुंद गुप्त, श्री नाथूराम 'प्रेमी' और डा० सम्पूर्णानन्द की हिन्दी के प्रति की गई सेवाओं का आदर करने के लिए 'बालमुकुंद गुप्त स्मृति ग्रंथ', 'प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ' तथा 'सम्पूर्णानन्द अभिनंदन ग्रंथ' नामक ग्रंथ संपादित-प्रकाशित किये।

चतुर्वेदीजी मूलतः अपने में एक संस्था हैं, जो अनेक राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों की त्रिवेणी को अपने मानस में संजोए हुए हैं। उन्होंने एक ओर जहां देश-गौरव स्व० चन्द्रशेखर आजाद के परिवार और उनकी माताजी की सेवा-सहायता के लिए अनेक प्रयत्न किये हैं, वहां दूसरी ओर श्री जहूरबख्श हिन्दी-कोविद तथा शीलजी आदि हिन्दी के साहित्यकारों के परिवारों के भरण-पोषण के लिए भी अनवरत परिश्रम किया है। देश के किसी भी भू-भाग से यदि उन्हें किसी भी साहित्यकार या उसके परिवार के अर्थ-संकट की खबर मिलती है तो वह उससे ऐसे ही उद्विग्न और व्यग्र हो उठते हैं, जैसे वह उनके ही परिवार की समस्या हो। वास्तव में यदि देखा जाय तो अपने परिवार की समस्याएं जानने के लिए वह पूर्णतः अनासक्त, विरक्त तथा निस्पृह ही रहते आए हैं।

उनका घर (फीरोजाबाद) एक अच्छे खासे संग्रहालय का रूप धारण कर गया है। उसमें रखी विभिन्न फाइलों, बंडलों और लिफाफों को यदि हम ध्यान से देखें तो उनमें से किसी में राष्ट्रपिता गांधी, कवीन्द्र रवीन्द्र, दीनबन्धु एंड्र्यूज आदि के पत्र मिलेंगे तो किसी में देश के विभिन्न साहित्यकारों के जीवन से संबंधित पत्र और दूसरी उपयोगी सामग्री देखने को मिलेगी। यही नहीं कि उनके इस संग्रहालय में देश के विचारकों, नेताओं, सुधारकों और साहित्यकारों से संबंधित सामग्री ही हो, बल्कि उसमें तो अनेक विदेशी मनीषियों के साहित्यिक तथा सामाजिक जीवन से संबंधित रोचक तथा उपयोगी सामग्री का संकलन भी किया गया है। गांधी, रवीन्द्र, एन्ड्र्यूज, इमर्सन, थोरो तथा प्रिंस कॉपॉटकिन आदि अनेक ख्याति-प्राप्त विभूतियों के जीवन का अद्भुत् सामंजस्य श्री चतुर्वेदीजी के व्यक्तित्व में इस प्रकार हुआ है कि वे जहां अराजकतावादी हैं, वहां शान्ति तथा समझौते की नीति का समन्वय भी हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। सारांशतः उनका व्यक्तित्व वैयक्तिक स्वार्थों से ऊपर उठकर प्रत्येक दिशा में अखिल देशीय तथा अंतर्राष्ट्रीय आधार पर व्यापक दृष्टिकोण रखता है।

हिन्दी साहित्य में 'विशाल भारत' तथा 'मधुकर' में संपादन के द्वारा उन्होंने पत्रकारिता के नये मानदण्ड तो स्थापित किये ही, साथ ही देश के पत्रकारों तथा साहित्यकारों को यात्राएं करने, पत्र-व्यवहार करने और परदुःख-कातरता के संबंध में भी पर्याप्त प्रेरणा प्रदान की है। इतना व्यस्त रहते हुए भी वह ऐसे अच्छे संस्मरण कैसे लिख लेते हैं, यह आश्चर्य की ही बात है। वास्तव में यदि उनके अब तक के सारे कामों को भुला दिया जाय और उनके केवल संस्मरण ही बचे रह जायं तो वे ही उनकी कीर्ति-रक्षा के लिए पर्याप्त होंगे। एक कुशल संस्मरण लेखक के रूप में हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वह सदा याद किये जायंगे। उनकी प्रमुख मौलिक कृतियों में 'देशभक्त एन्ड्र्यूज', 'सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी', 'प्रवासी

भारतवासी', 'हमारे आराध्य', 'रेखाचित्र और संस्मरण', 'साहित्य और जीवन' तथा 'रूस की साहित्यिक यात्रा' आदि के नाम विशेष परिगणनीय हैं। 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' नाम से उनके पत्रों का संग्रह भी उन्होंने सम्पादित करके प्रकाशित कराया है। आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'शहीद ग्रंथमाला' की पुस्तकें भी उन्हीं के प्रयत्न का सुफल हैं। अभी-अभी काकोरी के अमर शहीद अशफ़ाकउल्ला खां की स्मृति में उन्होंने उर्दू में भी 'यादगारे अशफ़ाक़' नामक पुस्तक प्रकाशित कराई है।

चतुर्वेदीजी की देश और साहित्य के प्रति की गई सेवाओं का ज्वलन्त साक्षी नई दिल्ली का हिन्दी भवन है। इसकी स्थापना उन्होंने तब की थी जब वे राज्य-सभा के सदस्य के रूप में बारह वर्ष तक दिल्ली में रहे थे। उनका स्वप्न था कि नई दिल्ली में एक ऐसा भवन हो, जिसमें भारत तथा विश्व की समस्त भाषाओं के साहित्यकार आकर ठहर सकें और वहां एकत्र होकर अपने विचारों का भली-भांति आदान-प्रदान कर सकें। राजधानी के प्रबुद्ध साहित्यकारों को चतुर्वेदीजी के इस स्वप्न को साकार करने की दिशा में अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

जब से श्री चतुर्वेदीजी राज्य-सभा की सदस्यता से निवृत्त होकर अपनी जन्म-भूमि फीरोजाबाद गये हैं तब से तो उनकी व्यस्तता और भी बढ़ गई है। साहित्यिक तथा राजनैतिक अनेक व्यस्तताओं के साथ-साथ नगर की बहुत-सी समस्याओं के समाधान में भी वे अपना समय देते हैं। यद्यपि आजकल उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता फिर भी 'सारे जहां का दर्द अपने जिगर में समाए हुए' वह कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं। यह मैंने विगत मई की यात्रा में स्वयं फीरोजाबाद उनके निवास-स्थान पर पहुंचकर अपनी आंखों से देखा है। इस यात्रा में बन्धुवर श्री यशपाल जैन भी मेरे साथ थे। १ दिसम्बर '६८ को भी मैं जब दोबारा फीरोजाबाद गया तो उन्होंने 'पद्मसिंह शर्मा स्मृति-ग्रंथ' तैयार करने की योजना मुझे बताई। शरीर से अस्वस्थ और मन से चिर-तरुण श्री चतुर्वेदीजी आज भी अपने 'मिशन' में पूर्णतया संलग्न हैं।

उनकी वन्दना के इस आयोजन में सम्मिलित होकर मैं उनके दीर्घायुष्य की कामना करता हुआ राष्ट्र-कवि सोहनलाल द्विवेदी के शब्दों में यही कहता हूं :

'वन्दना के इन स्वरों में, एक स्वर मेरा मिला लो!' ●

आदर्श कुमारी

दादाजी के सान्निध्य में

अबोहर हिंदी साहित्य सम्मेलन में जाते समय पूज्य दादाजी दिल्ली में मामाजी (श्री जैनेन्द्रकुमारजी) के घर ठहरे थे। उसी समय मैं पहली बार उनसे मिली थी। उस समय मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि मैं कभी कुण्डेश्वर जाऊंगी और दादाजी के सान्निध्य में रहकर छः वर्ष तक उनके स्नेह का सौभाग्य पाऊंगी। पर संयोग देखिये, दादाजी जिन्हें अपना 'दाहिना हाथ' मानते हैं, उन (श्री यशपालजी जैन) से विवाह-सूत्र में बंधकर कुंडेश्वर पहुंच गई और दादाजी के परिवार में जा मिली।

कुण्डेश्वर की प्राकृतिक श्री-सम्पन्नता को देखकर मैं स्तब्ध रह गई। चारों ओर घना वन, जल-प्रपात और नदी का किनारा, नदी के बांध के नीचे एक लम्बा-चौड़ा कुण्ड, जहां अक्सर दूसरे किनारे पर पानी पीते हुए चीतल तथा अन्य वन्य पशु दिखाई दे जाते थे। यह सुरम्य स्थान मुझे किसी तपस्वी के आश्रम की याद दिलाता था।

दादाजी के इसी तपोवन के एक भाग में हमारी गृहस्थी की भी व्यवस्था हो गई। पर बड़े सवेरे चाय पीने के बाद हम लोग मीलों दादाजी के साथ जंगल में घूमते और बिना चीतलों की टोली का दर्शन किये घर वापस न लौटते। सवेरे-शाम कुण्ड में तैरते। लगता, जैसे हम किसी काल्पनिक लोक के प्राणी हों। खाने-पीने आदि की सारी व्यवस्था का बोझ दादाजी ने मुझपर न पड़ने दिया। जब भी हम उनके साथ बैठते, वह मुझे लिखने के लिए प्रोत्साहन देते। स्टीफन ज्विग की रचनाएं मैंने पहली बार कुण्डेश्वर में पढ़ीं। और भी अनेक विदेशी लेखकों से परिचय हुआ। दादाजी के प्रिय लेखकों का क्षेत्र सीमित है, लेकिन जिन्हें वह चाहते हैं, उनकी रचनाओं को बार-बार पढ़ते हैं और उनकी चर्चा करते हुए नहीं थकते। एमर्सन, थोरो, क्रॉपॉटकिन आदि के विषय में दादाजी ने जितनी जानकारी दी है, उतनी शायद ही कोई दे सकता।

अपनी वेश-भूषा से दादाजी भले ही ग्रामीण जैसे लगते हों, लेकिन जब वह अंग्रेजी बोलते हैं तो उनके उच्चारण की शुद्धता और सहजता को देखकर कोई भी मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। लिखावट उनकी ऐसी सुन्दर लगती है, जैसे किसी कलाकार ने शब्दों को सजा-संवार कर पंक्तियों में रख दिया हो। पत्र लिखेंगे तो कहीं लाल स्याही का उपयोग करेंगे कहीं नीली का। किन्हीं पंक्तियों को लाल स्याही से रेखांकित कर देंगे तो कहीं नीली स्याही से लिखे वाक्यों के बीच दो-चार वाक्य लाल स्याही में लिख देंगे। मैंने अनुभव किया कि जैसा सहज, स्वाभाविक और निश्छल उनका व्यक्तित्व है, वैसा ही उनका लेखन भी है।

पहले-पहल कुण्डेश्वर पहुंची, उस समय की एक घटना है। मेरे वहां पहुंचने के उपलक्ष्य में दादाजी ने एक भोज देने का आयोजन किया। टीकमगढ़ के महाराजा के वह गुरु रहे थे। अतः शहर के बड़े-बड़े लोगों को बुलाना उनके लिए मामूली बात थी। उनके बुलाने पर स्वयं महाराजा भी चले आते, लेकिन उनका दिल तो कुण्डेश्वर के आसपास के ग्रामीण बच्चों में फंसा हुआ था, जो कभी महुआ खाकर तो कभी कोदो का भात या रूखी-सूखी अधपेट रोटी खाकर अपना जीवन-यापन करते थे। दादाजी ने इन्हीं देहाती बच्चों को न्यौता दें दिया। दूसरे दिन जाने कहां-कहां से बच्चों की भीड़-की-भीड़ चली आई और सभी पहली पंगत में बैठने को उतावले। खाना शुरू हुआ तो देखते क्या हैं, कोई पूरियां चुरा कर अपने फटे कपड़ों में छिपा रहा है तो कोई बार-बार अपने दूध का कटोरा फिर से भरने को आगे कर रहा है। नौकरों को इन बच्चों की बेईमानी पर गुस्सा आ रहा था। उन्होंने दादाजी से शिकायत करते हुए कहा कि अब तो आटा ही खत्म होने वाला है। दादाजी ने कहा, "कोई बात नहीं। बुला लो पिसनहारिनों को और खाने दो आज इनको जी भर कर। घर ले जाने के लिए पूरियां बांध रहे हैं तो बांधने दो।"

कैसा भावपूर्ण था उस दिन का दृश्य। एक ओर आटा पीसनेवाली गीत गाती हुई चक्की चला रही थी, दूसरी और पूरियां तली जा रही थीं और बाहर बरामदे में बैठी बच्चों की सेना "पूरी चाने (चाहिए) दूध चाने" की रट लगाये जा रही थी। इन्हीं के बीच में दादाजी बार-बार आकर हँसते हुए कहते थे, "खूब खाओ, बच्चो, खूब खाओ।"

यह तमाशा देखने के लिए उन्होंने अन्दर कमरे में से मुझे बुलवाया। सच कहती हूं कि बच्चों का यह भण्डारा मेरे जीवन की अप्रतिम घटना थी।

मैं प्रायः देखा करती थी कि दादाजी अपने कोट की जेबों में मुनक्के लेकर घूमने निकलते थे और सड़कों पर काम करनेवाले मलेरिया से पीड़ित मजदूरों को बांटते जाते थे।

वह अपनी अतिशय दयालुता से मजबूर थे। उन्हें यह सोचने की जैसे फुरसत ही नहीं थी कि जिनको पेट भर रोटी खाने को नहीं मिलती, उन्हें मुनक्का देकर कैसे तन्दुरुस्त रक्खा जा सकता है। एक बार हम लोग कुण्ड से नहा कर लौट रहे थे। बगीचे में काम करनेवाला मजदूर सिर पकड़े बैठा था। कारण पूछने पर उसने बताया कि उसे बुखार है। दादाजी ने कहा, "घर जाओ, आराम करो।"

रिरियाता हुआ वह बोला, "महाराज, मजूरी कर जैवे।" (मजदूरी करके जाऊंगा)

उन दिनों तीन आने रोज मजदूरी मिलती थी। जब दादाजी ने कहा कि वह उसे अपने पास से मजदूरी दे देंगे तो वह घर चला गया।

दादाजी की इस उदारता का उनके सुपुत्र 'गुपलीबाबू (डा० रामगोपाल) कभी-कभी मजाक भी बना लेते थे। एक बार उनके नौकर भगौना को बुखार चढ़ा हुआ था। गुपलीबाबू ने पूछा, "भगौने, फल खाओगे?"

"हऔ महाराज, मिल जाय।" भगौना ने कराहते हुए कहा।

गुपलीबाबू बोले, "देखो, वह लगा है आंगन में बड़ा काशीफल। तोड़ कर खा लो।"

बेचारा भगौना उनके विनोदी स्वभाव पर मुस्करा कर रह गया।

गुपलीबाबू की ऐसी बातों को कभी दादाजी हँसी में टाल देते थे तो कभी उन्हें खरी-खोटी भी सुना देते थे।

दादाजी का संपूर्ण व्यक्तित्व स्नेह और पर-दुखकातरता से ओतप्रोत है। जहां किसी के हर्ष के अवसर पर वह उल्लास से भर उठते हैं, वहां किसी के दुख में उनका हृदय करुणा से द्रवित हो उठता है।

मनहूसियत दादाजी को बिलकुल पसन्द नहीं है। वह स्वयं खूब हँसते हैं और दूसरों को भी खूब हँसाते हैं। हँसते-हँसते जीना ही उनके जीवन का उद्देश्य है। वह मजाक करते हैं और अक्सर अपने को ही उसका शिकार बनाते हैं। दूसरे को अपने पर हँसने का खूब मौका देते हैं।

इससे यह न समझा जाय कि दादाजी ने अपने जीवन में कभी कोई दुख नहीं पाया। जिन्हें उनको निकट से देखने का अवसर मिला है, वे जानते हैं कि दादाजी को अनेक आत्मीय जनों का विछोह सहना पड़ा है। इतना ही नहीं, अपने जीवन में वह कभी इतना पैसा नहीं पा सके कि निश्चिंत होकर रह सकें। धन-संग्रह में उनका विश्वास भी नहीं रहा। अराजकतावादी सिद्धांतों के अनुयायी होने के नाते वह सदा अपरिग्रह के मार्ग पर चलते रहे हैं। भौतिक साधनों को उन्होंने कभी महत्व नहीं दिया, न अब देते हैं, पर भविष्य की चिंता करके अपने को हैरान करना उनके स्वभाव में नहीं है। दूसरों की परेशानी से मैंने जहां उन्हें बहुत हैरान होते देखा है, वहां अपने कुटुम्बीजनों की समस्याओं को लेकर उन्हें कभी व्याकुल नहीं पाया।

पर कुल मिलाकर वह दुख का भारी बोझ सिर पर रख कर जीने के पक्षपाती नहीं हैं। वह सदा हँसकर जीते हैं और वैसी ही अपेक्षा दूसरों से रखते हैं। उनके द्वारा छोटे-से-छोटे व्यक्ति को भी कुछ आनंद मिलता है तो उनका मन विभोर हो उठता है।

कुण्डेश्वर के छः वर्ष के निवास में हम लोगों ने दादाजी से क्या पाया, यह बताना मेरे बस के बाहर

है। मेरे दोनों बच्चों (अन्नदा और सुधीर) का जन्म वहीं हुआ। घर-गिरिस्ती में कठिनाइयां तो आती ही रहती हैं। हम लोगों पर भी कठिनाइयां आईं। मुझे वह भयंकर रात कभी नहीं भूलती, जब मैं बहुत बीमार थी और बीस-पच्चीस दिन की अन्नदा भी मरणासन्न थी। उसे बराबर उलटियां हो रही थीं और इतनी रात गये उस बियाबान स्थान में चार मील से डाक्टर को बुलाने का कोई प्रबंध नहीं था। दादाजी ने उस समय हिम्मत नहीं हारी और कर्पूरारिष्ट की बूंदें अन्नदा को बराबर देते रहे। लड़की बच गई। दादाजी ने बाद में उसका नाम ही 'कपूरी' रख दिया।

दादाजी की इतनी आत्मीयता पाने के लिए बड़े गर्व का अनुभव करती हूं। वह आज फीरोजाबाद में रहते हैं और उनसे मिलने के प्रसंग कम ही आते हैं, फिर भी जब कभी मिलते हैं, हम लोग निहाल हो जाते हैं।

ईश्वर करे, वह स्वस्थ रहें और दीर्घायु हों। ●

अमृतलाल चतुर्वेदी

दादा

●

चालीस-पैंतालीस वर्ष पहले की बात है। वृन्दावन में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था और उसमें शामिल होने के लिए हम लोग गये हुए थे। मुझे भी उसमें कविता-पाठ करना पड़ा। श्रोताओं को मेरी रचना पसन्द आ गई। जब मेरा परिचय दिया गया कि मैं फीरोजाबाद का निवासी हूं तो किसी ने दादा से आकर पूछा, "क्या अमृतलालजी आपके शिष्य हैं!" दादा ने उत्तर दिया, "शिष्य नहीं, ये तो हमारे गुरु हैं!" यह मजाक अब भी हमें याद है। फीरोजाबाद के निवासी 'दादा'जी न कहकर उन्हें सिर्फ दादा ही कहते हैं। और मैं तो उन्हें उनके अधूरे नाम से ही पुकारता हूं। हम लोगों के सम्बन्ध बड़े ही घरेलू हैं—हम पड़ोसी हैं, सगोत्रीय हैं और साथ-साथ बड़े हुए तथा कबड्डी खेले हैं, इसलिए आपसी सम्बन्धों में कभी शिष्टाचार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। दादा मुझे महज 'बाबू' कहते हैं और वे मेरे लिए 'बनारसी' हैं। यद्यपि वह मेरे अग्रज हैं—उम्र में ६ वर्ष बड़े हैं—तथापि हम लोगों का व्यवहार निरन्तर बराबरी का ही रहा है। जितने निकट से मैंने दादा को देखा है, उतने निकट से शायद ही किसी ने देखा हो। उनमें बहुत से गुण हैं, अखिल भारतीय कीर्ति उन्हें मिल चुकी है और उनके बारे में नाना प्रकार की धारणाएं भी उनके पाठकों ने बना रक्खी हैं। मैं उनका जिक्र नहीं करना चाहता और ईमानदारी से उनका चरित्र-चित्रण करूंगा।

दादा के एक छोटा भाई भी था—रामनारायण उर्फ पटे। उसने आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० फर्स्ट डिवीजन में किया था और विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम आया था और आगरा कालेज में इतिहास का अध्यापक। कुल जमा अट्ठाईस वर्ष की उम्र में उसकी आकस्मिक मृत्यु दादा के जीवन की सबसे महान दुर्घटना हुई! यह सन १९३६ की बात है। पटे मेरे लिए भी उतना ही प्रिय था और उसके स्वर्गवास से मेरे

हृदय को जबरदस्त धक्का पहुंचा था। दादा ने पटे के साहित्यिक विकास की बिल्कुल उपेक्षा ही की थी और उसने आचार्य पद्मसिंहजी से इस बात की शिकायत भी की थी। आचार्यजी से मेरा परिचय दादा की मारफत ही हुआ और मैं उनका कृपा-पात्र भी बन गया। उनका देहांत मेरे जीवन की महान दुर्घटना थी। उन जैसा गुण-ग्राहक—दाद देनेवाला—व्यक्ति मुझे इस जीवन में नहीं मिला। मिलने की उम्मीद भी नहीं।

दादा ने मेरी एक रचना 'विकल कली' 'विशाल भारत' में छाप कर बढ़िया कागज पर उसकी प्रतियां भी निकलवा दी थीं, पर वह अपने पत्र द्वारा ब्रजभाषा को यथोचित प्रोत्साहन न दे सके!

ब्रज में जन्म लेने पर भी दादा को ब्रज से आधी शताब्दी तक दूर ही रहना पड़ा। १९१३ में वे ब्रजभूमि से विदा हुए सो १९६४ में वहां लौटे। अपने ५१वर्षीय प्रवास में वह ब्रजभाषा भूल-से गये। यद्यपि आगे चलकर उन्होंने 'ब्रजसाहित्य मंडल' की स्थापना करके अपने पाप का आंशिक प्रायश्चित्त कर लिया और कविरत्न सत्यनारायण की जीवनी लिखकर तथा 'हृदय तरंग' छपाकर अपने कर्त्तव्य का पालन भी कर दिया; फिर भी मेरी यह शिकायत है कि 'विशाल भारत' द्वारा वह ब्रजभाषा की कविताओं को उचित स्थान नहीं दे सके। यह मैं मानता हूं कि समय की गति ही ब्रजभाषा के प्रतिकूल थी।

दादा को ब्रजभाषा से अब भी काफी प्रेम है, यद्यपि उसके बारे में उनका ज्ञान कितना है, इसकी चर्चा मैं नहीं करूंगा। उनकी फरमाइशें मुझे पूरी करनी पड़ती हैं। "अपनी वसन्त वाली रचनाएं सुनाओ," "पावस की कविताएं सुनाओ," "अमुक कवि के कवित्त सुनाओ", इत्यादि-इत्यादि घंटे-घंटे भर मैं उनका मनोरंजन करता रहता हूं—खास तौर पर इस कारण भी कि इससे वह मौन तो रह सकेंगे। दादा को गप्पाष्टक की बीमारी है और उनकी असाधारण शक्ति व्यर्थ की बातचीत में बीतती रहती है! जब मैं पहुंचता हूं तो प्रेमपूर्वक डाट बतलाने से नहीं चूकता! तब कहीं उनकी बोलती बन्द होती है। अपनी लम्बी बीमारी में वह मेरे लिए भी सिर दर्द बने रहे हैं! उनको वाक्-संयम सिखाना कोई आसान काम नहीं। डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी को यह शिकायत थी कि वह पचास वर्ष में भी बनारसीदासजी को सलीका नहीं सिखला सके। अच्छे रेखा-चित्र या जीवन-चरित लिख लेना एक अलग चीज है और सहज बुद्धि से काम लेना उससे भिन्न। उनका सिल्लक-बिल्लापन नित्य नये-नये प्रश्न खड़े करता रहता है! आप एक रुपये की मूंगफली खरीदने गये—इस खयाल से कि सस्ती मिल जायगी। सो थोक मूंगफली वाले ने उनसे प्रश्न कर दिया, "बेचने के लिए चाहिए तो ये ठीक रहेंगी!" उनके कपड़े-लत्ते, सज-धज से उस व्यापारी ने यही अनुमान किया था कि यह लम्बा-तड़ंगा आदमी मूंगफली ही बेचता होगा! दादा अपने इस मूल्यांकन से चकित रह गए और दिल्लगी की बात यह थी कि वह उस समय संसद-सदस्य थे! अपने गौरव की रक्षा के लिए उन्होंने उससे पूछा, "क्या 'सैनिक' या 'अमर उजाला' पढ़ते हो?" उसने जवाब दिया, "तुम्हें मूंगफली लेनी है, या फिजूल के सवाल करने हैं?" मजबूरन उन्हें चुप हो जाना पड़ा।

कपड़ों की इफरात होने पर भी स्वच्छ कपड़े पहनना उनके लिए गुनाह है। जब वह पहले-पहल पार्लमेण्ट पहुंचे तो कविवर नवीनजी ने उन्हें ऐसी डाट पिलाई कि उसकी याद वह आज तक नहीं भूले। नवीनजी ने कहा था :

"हमारी पार्टी ने भी कैसे ऊलजलूल आदमियों को पार्लमेण्ट में दाखिल कर दिया है, जिन्हें कपड़े पहनना भी नहीं आता और जो शेव भी नहीं करते! इन्हें देखकर हमें भी शर्म आती है।"

दादा के नेत्रों में इस अद्भुत स्वागत से आंसू छलक आये और अन्य आदमियों के चले जाने पर उन्होंने रुआंसे होकर नवीनजी से कहा, "क्या सबके सामने आपको हमें ऐसी फटकार बतलानी चाहिये थी?" नवीन-

जी तुरन्त बोले, "यार, तुम इसी काबिल हो। पर मैं आज तुम्हें सावधान किये देता हूं कि पार्लमिण्ट में आना हो तो रोज स्वच्छ कपड़े पहन कर आओ और नित्य प्रति डाढ़ी बनाओ।" दादा ने यह सबक हृदयंगम तो कर लिया, पर मेम्बरी छूट जाने पर वह यथास्थान पहुंच गए !

अपने दीर्घजीवन में मुझे इतने अव्यावहारिक आदमी बहुत कम दीख पड़े हैं। जिस प्रकार लुहार का हाथ मजबूत हो जाता है, अन्य सव अंग कमजोर-से बने रहते हैं, दादा की लेखन-शक्ति तो प्रवल होती गई है, पर उतनी ही मात्रा में सहज-बुद्धि कम होती गई है ! एक जलजीरे वाले की दुकान पर आप रोज़ जलजीरा पीते रहे ! पूछा गया कि क्या यह कोई बहुत स्वादिष्ट चीज है ? बोले, "पांच नये पैसे में तीन भोलुआ मिल जाता है !" सस्तेपन के इस मोह ने उनका गला खराव कर दिया !

अव तो दादा अच्छी अंग्रेजी लिख और बोल भी लेते हैं, पर आरंभ में ऐसी बात न थी । राजकुमार कालेज इन्दौर के प्रिंसिपल ने जब उनसे पूछा, "ह्वैन डिड यू कम पंडित बनारसीदास ?" तो आपने उत्तर दिया, "सर, आई केम टुमारो।" श्री सम्पूर्णानन्दजी ने आत्मचरित में इस घटना का उल्लेख किया है।

दादा हमारे चाचा स्वर्गीय देवीप्रसादजी के शिष्य रह चुके हैं । उन्हीं से अपने लेखों का वह संशोधन कराया करते थे। नतीजा यह हुआ कि 'लीडर' में उनकी रचनाएं धड़ाधड़ छपने लगीं। अच्छे सुडौल अक्षरों का उन्हें अभ्यास है। दादा ने चार वर्ष तक अपने सुपुत्र बुद्धिप्रकाश को नौकरी नहीं करने दी, जब कि वह आगरा विश्वविद्यालय में एम० ए० में सर्वोच्च स्थान पा चुका था । और जब नैनीताल में उसे सरकारी नौकरी मिली तो उसको आप मना लिख रहे थे । जब मुझे यह मालूम हुआ तो मैं उन पर बरस पड़ा। कारण पूछा तो आपने कहा, "नैनीताल की आबहवा बहुत खराब है !" मेरे क्रोध का ठिकाना न था। उस समय कुण्डेश्वर के प्रिंसिपल अदालती साहब वहां मौजूद थे । मेरे चले जाने के बाद उन्होंने दादा से पूछा, "क्या ये आपसे उम्र में बड़े हैं, जो इस तरह डांटते-फटकारते हैं ?" दादा ने कहा, "उम्र में तो ये ६ वर्ष छोटे हैं, हां, अकल में बड़े हैं ! घर के आदमी हैं और इन्होंने यह अधिकार ले लिया है।"

दादा जब नवीनजी के साथ किसी दावत में जाते थे तो नवीनजी पर यह जिम्मेदारी पड़ जाती थी कि उन्हें अंटसंट भोजन करने से रोकें । नवीनजी त्यौरी चढ़ाकर उन्हें रोक देते थे और कभी-कभी तो सार्वजनिक रूप से डांट भर पिला देते थे ! दादा करुणोत्पादक स्वर में कहते, "अरे भई ! एक त्रिखूंट या समोसा तो और खा लेने दो।" पर नवीनजी दृढ़तापूर्वक मना कर देते और मेजबान से कहते, "ये चौवे नदीदेपन में ठूंस-ठूंस कर खा लेगा और फिर बीमार पड़ जायगा। रहम करो इस पर !"

वदपरहेजी में तो दादा अपना सानी नहीं रखते ! उनकी जीभ चटाखे लेती है और दिन भर कुछ-न-कुछ खाते रहना चाहते हैं ! कक्का गणेशीलाल की प्रथम सन्तान होने के कारण दादा को विरासत में जो स्वस्थ शरीर मिला था, उसकी रक्षा की चिंता उन्होंने कभी नहीं की, फिर भी ७८ वें वर्ष में वह साधारणतः स्वस्थ ही माने जायंगे।

अभी आगरे के अस्पताल में उन्हें साढ़े तीन महीने रहना पड़ा और मुझे कभी-कभी तो नित्य प्रति दो-दो बार उनकी सेवा में उपस्थित होना पड़ा। मेरा मुख्य काम यही रहा कि दादा को व्यर्थ की बातचीत से रोकूं। सौभाग्य से उन्हें कुशल सर्जन डाक्टर राज़दान जैसे डाक्टर मिल गए और उन्हें स्वास्थ्य-लाभ भी हो गया।

दादा मेरे अग्रज हैं—और मैं उनके गुणों से भी भली-भांति परिचित हूं, पर यह मुझे ठीक नहीं जचा कि अपने अग्रज की प्रशंसा के पुल बांध दूं। इस कर्त्तव्य का पालन तो दूरस्थ व्यक्ति ही भली-भांति कर

सकते हैं। मैंने तो उनके निजी जीवन की एक झलक मात्र दिखाने की धृष्टता की है और तदर्थ मैं दादाजी के भक्तों से क्षमा-प्रार्थी हूं। ●

श्यामसुन्दर खत्री

गुणग्राही और कृतज्ञताशील

●

श्रद्धेय पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी साहित्य के परमर्षि हैं। उनका जीवन साहित्यमय है। वह तपस्यारत रह कर मन-वचन-कर्म से सरस्वती की उपासना करते आ रहे हैं और बहुमूल्य विचारपूर्ण पुस्तकों और लेखों की रचना से साहित्य-भंडार की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। भाषा उनकी अनुगामिनी है और उनकी लेख-शैली सरल, सरस तथा हृदय पर अपनी गहरी छाप डालनेवाली होती है। उन्होंने परम विचारशील और चिन्तनशील मनस्वियों के ग्रंथों का अध्ययन किया है और तद्गत उच्च विचारों और उपदेशों का कार्यतः अनुसरण किया है। महात्मा गान्धी, दीनबन्धु सी० एफ एन्ड्रयूज़, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री श्रीनिवास शास्त्री जैसे मनीषियों के सान्निध्य का उन्हें सुअवसर प्राप्त हुआ, और वह उससे विशेष रूप से लाभान्वित हुए। 'विशाल भारत' और 'मधुकर' के संपादन-काल में उन्होंने अनेक नये लेखकों की रचनाएं संशोधित करके प्रकाशित कीं और उन्हें सब प्रकार से उत्साहित करते रहे।

इस प्रकार उन्होंने अनेक कवि और लेखक उत्पन्न किये और उनमें से बहुतेरे आज लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार और कलाकार होकर हिन्दी की बड़ी अच्छी सेवा कर रहे हैं। छुटभइयों की चिंता उन्हें बराबर रही और वह उन्हें आदर देने में और आगे बढ़ाने में सदैव तत्पर रहे। शहीदों के गुणगान करते वह अघाते नहीं। शहीद-विषयक रचनाएं उनकी काफी संख्या में हैं और एक-से-एक बढ़कर मर्मस्पर्शी। शहीदों के स्थानों को वह तीर्थ मान कर जाते हैं और उनके संबन्धियों का पता लगा कर उनकी यथोचित सहायता के लिए उद्यमशील रहते हैं। विस्मृत और दिवंगत साहित्यिकों और कवियों को श्रद्धाञ्जलि देने के निमित्त तथा उनकी स्मृतिरक्षा के हितार्थ श्राद्ध-यज्ञ करने-करानेवाले वह अनन्य होता हैं। श्राद्ध-विषयक कितने ही लेख उन्होंने लिखे हैं। पत्रकारिता के वह सम्मान्य आचार्य हैं। संस्मरण-रचना के भी वह अनन्य आचार्य हैं। वह छोटे-बड़े सबसे खुलकर मिलते हैं। पत्र-लेखन-कला में वह अद्वितीय हैं। प्रति दिन दस-पंद्रह पत्र लिखा करते हैं। इस प्रकार उन्होंने साठ-पैंसठ हजार पत्र लिख कर भेजे होंगे। अपने पत्रों में वह किसी को प्रेरणा देते हैं, किसी को सत्परामर्श देते हैं, किसी को उत्साहित करते हैं, किसी से किसी योजना पर विचार-विमर्श करते हैं। उन सब छोटे-बड़े पत्रों का एक अलग ही विपुल साहित्य है। उनके पत्रों से कहां-कहां क्या-क्या कार्य हुए, किन-कन लोगों को क्या-क्या प्रेरणाएं उपलब्ध हुईं—आदि बातें प्रकाश में नहीं भी आ सकती हैं। उनकी एक-न-एक योजना निरंतर चला करती है। शान्तिनिकेतन का हिन्दी भवन, सत्यनारायण कुटीर, टीकमगढ़ का बेसिक ट्रेनिंग कालेज और छात्रावास, दिल्ली का हिन्दी भवन, टीकम-

गढ़ का राजेन्द्र सागर, आदि उनके उद्योग के फलस्वरूप हैं। इधर कुछ दिनों से वह ब्रजसाहित्य मंडल, मथुरा के आयोजित साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यों के प्रसार के लिए मंडल के अध्यक्ष बाबू वृन्दावनदासजी को योगदान दे रहे हैं। वह सब की सब प्रकार से सहायता करने को तत्पर रहते हैं। कभी किसी का जी नहीं दुखाते। यदि उन्हें ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने कोई गलती की है, तो उसे खुले-खजाने स्वीकार कर लेने में वह कभी नहीं हिचकते। किसी का क्या उपकार साधन करें, यही चिंता उन्हें बनी रहती है और उसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वह दया, क्षमा, और सहृदयता की मूर्ति हैं।

जब चतुर्वेदीजी कलकत्ते में 'विशाल-भारत' के संपादक थे, तब नित्य बड़े तड़के घर से चार-पांच मील दूर ईडन गार्डन टहलने के लिए जाते थे और यदि कोई गंभीर विषय का लेख लिखना होता था, तो वहीं किसी कुंज में बैठ कर लिखा करते थे। फिर घर लौट कर लोटा भर चाय पीते थे। चाय पान के समय उनके मन में विचार प्रस्फुटित होते थे और उन्हें वह लिपिबद्ध करके अलग रख देते थे, प्रकाशित नहीं करते थे। यह विचार-लेखन का क्रम सदा चलता रहा है। अतएव नित्यप्रति वर्द्धमान इस प्रकार की अप्रकाशित पाण्डुलिपि का साहित्य भी विशाल हो गया है, जो कि उनके पास सुरक्षित है।

चतुर्वेदीजी से मेरा परिचय कराने का श्रेय मेरे मित्र स्वर्गीय श्री ब्रजमोहन वर्मा को है, जो उस समय 'विशाल भारत' के सहकारी संपादक थे। मैं चतुर्वेदीजी के घर पर जाया करता और उनके वार्तालाप से प्रेरणा प्राप्त करता। उनकी कृपा से मेरी कविताएं 'विशाल भारत' में छपा करती थीं। यही नहीं, उन्होंने फिर 'विशाल भारत' में मेरा एक प्रशंसात्मक परिचय लिखने की कृपा भी की। उदीयमान नए लेखकों की जो कविताएं 'विशाल भारत' में छपने के लिए आती थीं, उन्हें प्रायः चतुर्वेदीजी मेरे पास संशोधनार्थ भेज देते थे। मुझे यह देख कर प्रसन्नता होती थी कि मेरे किये संशोधन चतुर्वेदीजी को पसंद आ जाते थे। उनके आदेशानुसार काव्य-पुस्तकों की आलोचना मैं कर दिया करता था। एक बार उन्होंने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'अभिसार'-नामक कविता मेरे पास पद्यानुवाद करने के लिए भेज दी। मैंने जो अनुवाद किया वह उन्हें इतना पसंद आया कि उन्होंने एक बधाई का पत्र मुझे भेजा। मेरा हियाब खुल गया और मुझे पद्यानुवाद करने का चस्का लग गया। फिर उनकी आज्ञा के अनुसार मैं गुरुदेव की कविताओं का पद्यानुवाद भी करने लगा जो कि, 'विशाल भारत' में प्रकाशित होने लगा। उनके आदेश में कुछ अंग्रेजी से अनुवाद करने का प्रयास भी मैंने किया। वह सब भी 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ। मैं उनके प्रत्येक आदेश का पालन केवल इस भावना से किया करता था कि देखूं, उनके द्वारा निर्दिष्ट परीक्षा में उत्तीर्ण होता हूं या नहीं। बाद को मेरा एक छोटा-सा नगण्य कविता-संग्रह प्रकाशित करा देने के लिए भी उन्होंने बहुत प्रयत्न किया तथा उसकी समीक्षा करते हुए उन्होंने पुनः मेरा प्रशंसात्मक परिचय साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित करा देनेकी कृपा की। आखिर बहुत दिन बाद ही सही, उनके आशीर्वाद से वह संग्रह छप गया। उनकी सिफारिश से वन्दनीय विद्वानों और कवियों का अनुग्रह भी मुझे अनायास उपलब्ध हो जाता है। चतुर्वेदीजी जो पत्र भेजने की कृपा करते हैं, वे अत्यंत स्नेहपूर्ण होते हैं और उनमें उत्तमोत्तम पुस्तकों के पढ़ने का और कुछ लिखने का आदेश रहता है।

चतुर्वेदीजी अत्यंत गुणग्राही और कृतज्ञताशील हैं। उन्होंने श्री ब्रजमोहन वर्मा को 'विशाल भारत की बहू' का खिताब दिया था। वास्तव में वर्माजी प्रतिभाशाली तो थे ही, साथ ही वह पुराने ज़माने की कर्त्तव्यनिष्ठ बहू की तरह 'विशाल भारत' में खटते थे, और इस प्रकार वह चतुर्वेदीजी के दाहिने हाथ हो गए थे। चतुर्वेदीजी उन्हें बहुत मानते और अक्सर कहा करते थे कि मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं वर्माजी की

अधीनता में रह कर 'विशाल भारत' का संपादन करूं और मैं उस समय की प्रतीक्षा में हूं। परन्तु दैवेच्छा कुछ और ही थी। सन १९३० में वर्माजी के निधन से चतुर्वेदीजी को जो दुःख हुआ, उसे वह कभी नहीं भूले। लगातार २८ वर्ष तक चतुर्वेदीजी के जितने पत्र मेरे पास आए, उनमें वह प्रायः वर्माजी की चर्चा और उनके गुणों की प्रशंसा करते रहे। वर्माजी का लेख-संग्रह प्रकाशित करा देने के लिए वह व्याकुल रहते थे। आखिर उनके ही प्रयत्नों से जब वह प्रकाशित हो गया, तभी उन्हें कुछ शान्ति मिली।

चतुर्वेदीजी स्पर्शमणि हैं। उनके संसर्ग में रहनेवाले की उन्नति अवश्य होती है। श्री रामवन-राम, जो 'विशाल भारत' में पत्रवाहक का काम करते थे, उनके संपर्क में आने के फलस्वरूप अच्छे लेखक बन गए। वर्माजी के निधन पर जो संस्मरण 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुए थे, उनमें श्री रामवन राम का लेख ही सर्वोत्तम ठहराया गया।

चतुर्वेदीजी अपने को महात्मा गान्धी के आश्रम का और गुरुदेव के शान्तिनिकेतन का पण्डा कहा करते थे। एक बार उनके नेतृत्व में कलकत्ते से बीस-पच्चीस लोग शान्तिनिकेतन गये। उस गिरोह में स्व० पण्डित श्रीराम शर्मा, स्व० पण्डित ललिताप्रसाद शुक्ल, कुछ अन्य विद्वान और गण्यमान्य सज्जन तथा विदुषी महिलाएं थीं। पण्डित हजारीप्रसादजी द्विवेदी उन दिनों शान्तिनिकेतन में ही थे। उन्होंने ही हिन्दी-भाषी छात्रों के सहयोग से सबका आतिथ्य-सत्कार किया था। उन्होंने और चतुर्वेदीजी ने वहां के दर्शनीय स्थान दिखलाए और ज्ञातव्य बातें बतलाईं। आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा अन्य विद्वानों का आनन्द-विनोदपूर्ण सत्संग रहा। सब लोग गुरुदेव के प्रार्थना-समाज में सम्मिलित हुए। उस समय इंदिराजी (वर्तमान प्रधान मंत्री) शान्तिनिकेतन की छात्रा थीं। चतुर्वेदीजी ने सब लोगों को गुरुदेव के वास-स्थान पर ले जाकर, उनसे सबका परिचय कराया। मैंने देखा, गुरुदेव ने प्रत्येक से कुछ-न-कुछ बात की। मुझसे कहा, "अनुवाद सदा मूल बंगला से ही करना, अंग्रेजी अनुवाद से नहीं।" चतुर्वेदीजी और गुरुदेव का परस्पर विनोदपूर्ण वार्तालाप हुआ। वह यात्रा बड़ी ही आनंदपूर्ण थी। चतुर्वेदीजी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री ब्रजमोहन वर्मा की विनोदमयी बातों से हँसी के फव्वारे छूटते थे। मैं तो चला आया था, पर और सब लोग वहां दो-दिन के लिए रह गए और सांस्कृतिक समारोह में सम्मिलित हुए। वह एक चिरस्मरणीय तीर्थयात्रा थी।

छोटी-छोटी बातों में भी बड़ों की विशालहृदयता का परिचय मिलता है। कलकत्ते के एक छोटे से पुस्तकालय का मैं सभापति था। पुस्तकालय की ओर से उत्सव तथा अन्य समारोह सम्मान्य विद्वानों के नेतृत्व में सम्पन्न किये जाते थे। एक बार कृष्णजन्मोत्सव समारोह के लिए मित्रों के आग्रह से मैं ही सभापति मनोनीत हुआ। मैंने चतुर्वेदीजी तथा अन्य दो-तीन सम्मान्य विद्वानों को निमंत्रण-पत्र ही नहीं भिजवाया, इस विचार से कि ये बड़े लोग आने के नहीं, और यदि कदाचित आ जायंगे तो इनकी उपस्थिति में मेरा सभापतित्व शोभनीय नहीं होगा। समारोह के आरंभ होते ही मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि चतुर्वेदीजी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयीजी पधार रहे हैं। चतुर्वेदीजी ने कुछ इसी तरह की बात कही कि देखिए, मैं बिना बुलाए ही आ गया और साथ में बाजपेयीजी भी पधारे हैं। मैं श्रद्धानत होकर इन दोनों महानुभावों के आगे हाथ जोड़ने के सिवा और करता ही क्या! वर्माजी बैठे मुस्करा रहे थे। इन दोनों महानुभावों की उपस्थिति के कारण वह समारोह अत्यंत आनंदपूर्वक सम्पन्न हुआ। पीछे मुझे पता चला कि हज़रत वर्माजी ने मेरा मनोभाव चतुर्वेदीजी को बतला दिया था। फलतः उदारमना चतुर्वेदीजी और पूज्य वाजपेयीजी ने तय किया कि स्वयं चल कर इन लोगों का उत्साह बढ़ाना चाहिए। बड़प्पन इसे कहते हैं।

कभी-कभी चतुर्वेदीजी के लिए धर्म-संकट भी उपस्थित कर दिए जाते हैं। एक वृद्ध कवि महोदय जब दिवंगत हुए, तब उनके सिरहाने उनके हाथ का लिखा चतुर्वेदीजी के नाम एक पत्र पाया गया, जिसका आशय शायद यही था कि मेरी कविताएं अप्रकाशित रहीं, इसका मुझे बहुत दुःख है। आप मेरी कविताएं प्रकाशित करा दीजिए, तभी मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी। कवि महोदय के संबंधी वह पत्र और कविताओं का बण्डल लेकर चतुर्वेदीजी के पास पहुंचे। बात यह हुई थी कि कवि महोदय ने अपनी कुछ कविताएं सुना कर चतुर्वेदीजी से आग्रह किया था कि मेरी कविता-पुस्तक छपवा दीजिए। प्रोत्साहन के निमित्त चतुर्वेदीजी ने उनकी रचना की तारीफ कर दी और शायद यह भी कहा कि कोई प्रकाशक मिल ही जायगा। अब वह पत्र और कविताओं का बंडल देख कर चतुर्वेदीजी बड़े पशोपेश में पड़े। एक कवि की मृत्युकाल की अंतिम इच्छा की पूर्ति का प्रश्न था। उदार-हृदय चतुर्वेदीजी ने कुछ अच्छी कविताएं छांट लीं और उन्हें अपने खर्चे से पुस्तक-रूप में छपवा दिया।

चतुर्वेदीजी का द्वार सब के लिए खुला है। वह कभी किसी खतरे से नहीं डरते। एक मुसलमान सज्जन जर्मनी से शिक्षा प्राप्त करके भारत लौटे तो यहां श्रमिक-संगठन का कार्य करने लगे। ब्रिटिश सरकार की कड़ी निगाह उन पर रहने लगी। पुलिस उन्हें परेशान करने लगी। जहां जाते वहीं उनकी तलाशी ली जाती। फिर उन पर समाजवाद का प्रचार करने का और श्रमिकों को भड़काने का आरोप लगाया गया। मुकदमे दायर हुए और उनके लिए वारंट निकले। उन्हें कलकत्ते में गिरफ्तार करके बम्बई भेजा गया। वहां मुकदमे में उन्हें जेल की सजा सुनाई गई। उनके विरुद्ध एक दूसरा मुकदमा कलकत्ते में भी चल रहा था। अतः पुलिस के पहरे में उन्हें कलकत्ते रवाना किया गया। दस्तूर के मुताबिक बम्बई की पुलिस उन्हें नागपुर स्टेशन तक पहुंचा कर लौट गई और वहां से वह नागपुर के दो पुलिसमैनों के पहरे में हावड़ा स्टेशन लाये गए। क्या जानें तार से संवाद भेजने में कुछ गड़बड़ी हो गई या क्या हुआ; हावड़ा स्टेशन पर कलकत्ते के लाल बाजार थाने की पुलिस की गाड़ी उन्हें लेने नहीं आई। नागपुर के पुलिसमैन हैरत में पड़े और लाल बाजार थाने के लिए टैक्सी करने लगे। अभियुक्त महोदय ने कहा, "क्यों टैक्सी करते हो, पैसे अपनी जेब में डालो, पैदल ही लाल बाज़ार चलो, नज़दीक ही है, मैं रास्ता जानता हूं।" पहरेदार उनकी बातों में आ गए और पैदल चल पड़े। अभियुक्त उन्हें उल्टे रास्ते से ले जाकर, उनकी आज्ञा लेकर हल्के होने के लिए एक मकान में घुस गए और पिछले दरवाजे से भाग निकले। दौड़ते-हांफते हुए वह सीधे चतुर्वेदीजी के घर पहुंचकर उनके सामने जा खड़े हुए और बोले, "पण्डित जी, कुत्ते पीछे लगे हैं।" उनके हाथों में हथकड़ी, कमर में रस्सी और बदन पर जेल का लिबास देख कर चतुर्वेदीजी चकित हो गए। अभियुक्त महोदय ने सारा कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। चतुर्वेदीजी ने उनकी रक्षा के लिए उस समय बड़ी मदद की, जिसे अभियुक्त महोदय कभी नहीं भूले होंगे। ●

कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

हम उनके कितने ऋणी हैं

●

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से मेरा प्रथम संपर्क संपादक और लेखक के नाते हुआ। चतुर्वेदीजी 'विशाल भारत' के संपादक थे और मैं १९२७–२८ में इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान श्री गौरीशंकर हीरानन्द के पास उनके इतिहास-लेखन में सहायक था। मैंने 'ऋग्वेद का निर्माण काल' पर एक लेख लिखा और 'विशाल भारत' में छपने के लिए भेज दिया। वह लेख छप गया। 'विशाल भारत' में उस लेख को छपा हुआ देख कर मुझे जो प्रसन्नता हुई, वह फिर सैकड़ों लेख छपने और दीर्घकाल तक प्रतिष्ठित पत्रों का संपादन करने से भी नहीं हुई, परंतु इससे भी बड़ी प्रसन्नता तब हुई, जब चतुर्वेदीजी का उत्साह-वर्धक पत्र मिला और किसी स्लोवाक संस्था संबंधी एक लेख के आधार पर एक लेख लिखने की सलाह दी गई थी। इसके बाद 'विशाल भारत' में अनेक लेख छपे। प्राय: प्रत्येक लेख के लिए ही मुझे प्रोत्साहन मिलता था और पारिश्रमिक भी।

कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर चतुर्वेदीजी से मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ, तब भी मुझे विभिन्न विषयों पर लिखने का परामर्श मिला। मेरे जैसे न जाने कितने लेखकों को उन्होंने लेख लिखने की प्रेरणा दी और इस तरह हिन्दी जगत में लेखकों की एक नई श्रेणी पैदा करने में चतुर्वेदीजी सफल हुए।

इससे भी बहुत पहले विद्यार्थी जीवन में, संभवतः १९२०–२१ में, मैं उनकी एक प्रसिद्ध मूल्यवान रचना 'प्रवासी भारतवासी' से परिचित हो चुका था, यद्यपि उस समय यह मालूम न था कि पुस्तक का लेखक 'भारतीय हृदय' चतुर्वेदीजी ही हैं। इस पुस्तक से मेरी जानकारी तथा राष्ट्रीय समस्याओं से रुचि बढ़ने में बहुत सहायता मिली। फिजी के मजदूरों पर प्रकाशित एक कविता मैंने इसी पुस्तक से याद की थी।

साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' का संपादन करते हुए भी मुझे उनका आशीर्वाद और प्रोत्साहन मिलता रहा। उनके हिन्दी संबंधी आंदोलनों में और नई-नई योजनाओं के प्रचार में 'वीर-अर्जुन' ने भी बहुत सहयोग दिया।

चतुर्वेदीजी के एक नये रूप का दर्शन मुझे तब हुआ जब वह हिन्दी पत्रकार सम्मेलन के अध्यक्ष बनाये गए। शायद मथुरा में होने वाले सम्मेलन के वही अध्यक्ष थे। उस समय उन्होंने हिन्दी पत्रकारों की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए उनकी आर्थिक स्थिति के प्रति गहरी चिन्ता और सहानुभूति प्रकट की थी। इसके बाद भी वह समय-समय पर हिन्दी लेखकों और पत्रकारों के साथ जिस आत्मीयता का परिचय देते रहे, वह बीसियों लेखकों के अनुभव की चीज़ है। अभिनन्दन, प्रशंसा-परक लेख और पात्र लेखकों की आर्थिक सहायता की अपील उनके जीवन का अंग बन गये हैं। यद्यपि आज न वह हिन्दी पत्रकार संघ के अध्यक्ष हैं, न संघ है, किन्तु सहानुभूति, आन्दोलन, सहायता आदि के द्वारा वह साहित्यकारों और पत्रकारों की सेवा आज भी कर रहे हैं।

बहुत समय बाद , जब वे 'विशाल भारत' के संपादक नहीं रहे थे और उनकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी, उन्हें नई दिल्ली से डालमिया-संस्थान की ओर से प्रकाशित होने वाले एक दैनिक पत्र के संपादन के लिए प्रस्ताव मिला। इस प्रस्ताव के उत्तर में उन्होंने संचालकों को जो पत्र लिखा वह पत्र हिंदी पत्रकारों के लिए स्मरणीय रहेगा। उसमें उन्होंने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए पत्रसंचालकों की नीति का शत-प्रतिशत समर्थन करने से

इन्कार कर दिया था और ऊंचे वेतन, सम्मान तथा सुविधाओं को ठुकरा दिया था। उस पत्र की एक प्रतिलिपि चतुर्वेदीजी ने मेरे पास भी भेजी थी, जो आज खेद है कि मेरे पास सुरक्षित नहीं है। किन्तु यह पत्र आज के पत्र-संपादकों और पत्रकारों के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण तथा प्रेरणादायक है और उनके लिए एक ऊंचा आदर्श प्रस्तुत करता है। आज के अधिकांश पत्रकार केवल जीवन-निर्वाह के लिए ही पत्रकारिता में प्रवेश करते हैं। पत्रकारिता उनका व्यवसाय बन गया है, मिशन नहीं रहा, जबकि चतुर्वेदीजी उसे मिशन बनाने पर विश्वास करते रहे हैं।

चतुर्वेदीजी का एक रूप मेरे सामने तब आया, जब वह संसद के सदस्य थे। उन्होंने बहुत सरलता और भोलेपन के साथ मुझसे एक दिन कहा कि आजकल तो सब्जी खरीदने के लायक भी मेरे पास पैसे नहीं हैं। जब संसद के कार्यालय से पैसे मिलेंगे तब सब्जी वाले का हिसाब साफ करूंगा। सामान्यतः आज कोई भी व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति का प्रकाशन इन खुले शब्दों में नहीं करता। ●

जयंती पंत

'जिन खोजा तिन पाइयां'

●

जीवन में बहुत-कुछ विस्मृत हो जाता है। धुंधला पड़ जाता है। किंतु स्मृतियों के झरोखे से सुस्पष्ट झांकते हुए दो मुख सब समय हँसते-से दीखते हैं। उन्हें जब भी अपने एकांत के क्षणों में देखती हूं, आनंद, संतोष से परिपूर्ण उनके दर्शन से सदा अलौकिक प्रकाश पाती हूं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके सम्पर्क से ही एक अननुभूत प्रेरणा मिलती है।

इनमें एक तो अनुभवों के धनी श्री चतुर्वेदीजी हैं, जिन्होंने अपनी सतत साहित्य-साधना से कितने ही भूले-बिसरे गुदड़ी के लाल खोज निकाले हैं।

दूसरे थे यशस्वी कलाकार श्री नन्दलाल बोस।

कभी मैं सोचती हूं कि दादाजी के जिन गुणों ने उनको जन-मानस में सर्वोच्च स्थान दिया, जिन गुणों से मैं मुग्ध-सी रह जाती हूं, वे वास्तव में है क्या? एक सन्त की परिभाषा का मूर्तरूप सामने आ लेता है। निरहंकार, सरल स्वभाव, सादगी का जीवन, पठन-पाठन, सरस्वती की निरन्तर साधना, संयमित संतुलित आहार, प्रकृति-चिकित्सा से प्रेम, परोपकारी जीवन। ये ही गुण चित्र के समान मेरी आंखों के आगे छा जाते हैं। तब जैसे रहस्य कुछ नहीं रहता। कहते हैं, जो व्यक्ति सर्वदा दूसरे के सद्गुण देखता रहता है एवं स्वयं यश की लिप्सा से रहित हो कीर्ति से भागता रहता है, उसे ही यशलक्ष्मी पाने की चेष्टा करती, अन्त में वरमाल उसीके गले में डालती है।

भारतीय संस्कृति के साथ ही, पाश्चात्य संस्कृति में जहां कहीं भी दादाजी ने सत्यं, शिवं, सुन्दरं के दर्शन किये, उसे उन्होंने आत्मसात कर अपने तक ही सीमित नहीं रक्खा, वरंच उसे जनता-जनार्दन में शतशः अमृतवर्षिणी धाराओं के रूप में मुक्त हस्त से वितरण किया।

स्वयं तो बहुत कुछ मार्मिक एवं सारगर्भित सामग्री लिख चुके, किन्तु साथ ही, भूले-बिसरे साहित्य-

साधकों को कहां-कहां से खोजकर सब के समक्ष ला उपस्थित किया। मैं कभी दंग रह जाती हूं, अपार धूल भरे हीरों के पुंजीभूत कोष के अधिपति कुबेर के रूप में जब उन्हें देखने लगती हूं।

दादाजी के सर्वप्रथम दर्शन शान्तिनिकेतन में घंटातला में हुए। अब ठीक स्मरण नहीं है, किसी विशेष प्रसंग से मैं सिंहसदन की ओर बढ़ी चली जा रही थी। तभी श्रद्धेय श्री हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने बताया कि चतुर्वेदीजी बुला रहे हैं। जब मैंने सबसे पहले उनके चरण-स्पर्श किये तो मुझे ऐसी अनुभूति हुई कि मेरे पूज्य पिताजी मेरे पास ही आकर उपस्थित हैं। उन्होंने कुछ ही समय में हँस-हँस कर कितनी ही घटनाएं अपने छात्र-जीवन की बता डालीं एवं यह भी बताया कि मेरे पिताजी के साथ उनकी कितनी प्रगाढ़ मैत्री थी।

पिताजी के अल्हड़ स्वभाव, राजसी ठाट, छात्र-जीवन के मस्त क्षणों के कितने ही रोचक प्रसंग व्यंग्य-हास्य का पुट लिये उन्होंने जीवन्त बना दिये। उस समय उनका अट्टहास घन्टातल में इस भांति गूंज उठा कि सहसा और विद्यार्थी भी सहम कर रुक गए। उनमें भी कौतूहल होना स्वाभाविक ही था कि बात क्या है ?

दूसरे दिन उन्होंने पान्थनिवास में मेरे छोटे भाई स्व० त्रिभुवन (त्रिभी) तथा छोटी बहन गौरा को भी बुला भेजा और देर तक आत्मीयता का वातावरण रहा। कितने ही मनोरंजक प्रसंग उन्होंने फिर से उठाये। बहुत ही आनन्द आया। तभी मैंने सुना कि पिताजी की लिखी कितनी ही चिट्ठियां उनके अमूल्य संग्रह में स्थान ले चुकी हैं।

इसके उपरान्त उनको मैंने टीकमगढ़ (कूंड़ादेव) में देखा, तब वह श्री वीरसिंह देव जू के आग्रह-अनुरोध से वहीं रहते थे एवं अनवरत साहित्य-साधना किया करते थे। उनके साथ श्री कृष्णानन्दजी तथा श्री यशपाल जैन भी रहते थे। उन दिनों उनसे बहुधा भेंट हो जाया करती थी और जब भी उनका सान्निध्य होता था, उनके चारों ओर साहित्य-साधकों की एक मंडली-सी पाती थी। महत्वपूर्ण साहित्य-चर्चा होती रहती थी। जो कोई उनके पास आता था कुछ लेकर ही जाता था।

प्रसन्नमुद्रा से वह तख्त पर बैठे रहते थे। उनका कमरा बड़ी-बड़ी ऊंची काठ की आलमारियों से सुसज्जित रहता था, जिनमें बहुमूल्य पुस्तकें, चिट्ठियों के पुलिन्दे भरे पड़े रहते थे। छोटी-छोटी स्मृतियां भी किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका के रूप में जब होतीं तो उनके प्रति अपार ममता जाग उठती थी। कितनी ही ऐसी फाइलें थीं, जिनमें मानो सारे जीवन की अनुभूतियां पत्रों, लेखों, संस्मरणों के रूप में सुव्यवस्थित ढंग से संजो रक्खी थीं। कोई भी प्रसंग छेड़िए या किसी भी साहित्य-सेवी का उल्लेख करिये, तत्काल कितनी ही बातें आपको जानने को मिल जायंगी, और चतुर्वेदीजी कुछ-न-कुछ सामग्री स्मरण खोज ही निकालेंगे। इस विषय में घंटों बातें करते-करते वह थकेंगे नहीं। इस दिशा में उनका उत्साह व लगन दर्शनीय है।

उनकी परिग्रह की यह भावना उनमें बलवती है। जिसे हम कूड़ा-करकट समझ कर रद्दी की टोकरी में डाल देते हैं, उन्हें वह संजोकर रख लेते हैं। हममें से कितने ऐसे हैं, जो पत्रों, संस्मरणों, का संग्रह करेंगे! अपने आत्मीयों, सगे-सम्बन्धियों, स्वजनों, या मित्रों के सम्बन्ध में शायद रख भी लें, किन्तु दादाजी के लिए तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है। सब कुछ रख दिया जाता है। कभी तो किसी को आवश्यकता पड़ेगी और शोध ग्रन्थों में पठनीय, मननीय, दुर्लभ सामग्री सहज ही में उपलब्ध हो सकेगी।

दादाजी ने बताया था कि यह भी एक नशा है, किन्तु प्राचीन ऋषियों के शब्दों में ही इसे 'व्यसनंश्रुतौ' कहना पड़ेगा। उनकी इस कला का बहुतों ने अपने जीवन में अनुकरण किया है। एक बार मैंने उनसे कहा,

"देखिए, मैंने भी चार-पांच ट्रंकों में सब की चिट्ठियां--संस्मरण बटोर रक्खी हैं।" उन्होंने कहा, "उनकी विभिन्न फाइलें बना डालिए। प्रति दिन कुछ-न-कुछ समय निकाल कर देखती रहिए। सूचियां-अनुक्रमणिकाएं, टूटे नहीं--आप इसी भांति हिन्दी की बड़ी सेवा कर लेंगी। सन्तों, महात्माओं तथा ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों के पत्र-लेखों में तो बहुत-कुछ मिलेगा ही, कभी-कभी साधारण-से व्यक्ति के पत्रों में भी ऐसी वस्तुएं मिल जाती हैं, जिन्हें जीवन में अमूल्य की संज्ञा दी जा सकती है एवं साधारण लोगों के पत्रों में जीवन की जो गहरी अनुभूति झलकती है, प्रबल वैराग्य की जो झलक मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनके पत्रों में सन्तों-साधकों, राष्ट्रनायकों एवं ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों के विषय में बहुधा उल्लेख रहता है। इस भांति जनमानस ही उनकी गतिविधियों, क्रियाकलापों का सुन्दर आइना है।

बड़ों की समालोचना दूसरे ढंग की होगी, एवं जनता की पैनी दृष्टि कभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थलों में पैठकर गुण-दोष का सुन्दर विवेचन कर उठती है।

वास्तव में मैं चतुर्वेदीजी की बहुत ही ऋणी हूं। 'जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठि।' कैसे-कैसे अनमोल मोती हर बार डुबकी में चतुर्वेदीजी ने निकाल कर जीवनसागर के सिकता भरे तट पर फैला दिए हैं, जिनकी दीप्ति से अनुभव होता है कि वास्तव में रत्नगर्भा-वसुन्धरा का नाम सार्थक है। सन्तोष एवं आनन्द के साथ स्वस्थ्य जीवन बिताने का रहस्य शायद उन्होंने इसी में पाया है कि जीवन को जितना सरल बनाया जा सके, बना लिया जाय, तदुपरान्त लगन-उत्साह के साथ कर्त्तव्य-पथ में जुट जाना चाहिए।

बहुत वर्ष बीत गए। हठात फीरोजाबाद की चूड़ियों की छटा देखने की सोची। आगरा गये ही थे, किन्तु उससे भी अधिक आकर्षण मेरे लिए कुछ और ही था। अब श्री चतुर्वेदीजी वृद्ध हो चले होंगे। दूर, अपने पैतृक मकान में अपने स्वजन आत्मीय परिजनों से घिरे हुए अब कितनी साहित्य-साधना कर पाते होंगे? ये ही प्रश्न बार-बार मुझे घेर रहे थे, जब कि हम गलियां पार करके उनके पास पहुंच गए। वही निर्मुक्त हास्य, वही आभा, वे ही पुरानी बातें, उनके कहकहे! कुछ भी तो परिवर्तन नहीं! कितने लगन तथा धुन के पक्के। सबको स्मरण किया एवं खूब मीठे रसीले अमरूद खिलाये। बताया, वह नैनीताल बहुधा अपने लड़के बुद्धिप्रकाश के पास आते रहते हैं। वहीं से उन्होंने मुक्तेश्वर आने का भी आश्वासन दिया। जितनी देर भी फीरोजाबाद में रहे, उनके साथ बिताये वे क्षण कभी न भूलेंगे। सरदी कड़ाके की पड़ रही थी पहाड़ों में--और फीरोजाबाद की गुलाबी धूप में सतरंगी चूड़ियां सूखने को पड़ी थीं। उनके सुनहले-रुपहले मंडलों से उलझती दृष्टि उस सन्त की पावन कुटिया में आ टिकी थी, जहां के रंगीन व चमकीले दायरे उनके पांव के पास धूपछांह में कुछ बनते-बिगड़ते अतीत के चिह्न छोड़ने की चेष्टा-सी कर रहे थे।

आते समय कुछ पत्रिकाएं, कुछ छपे लेख उन्होंने हम लोगों के हाथ में थमा दिये। मेरे छोटे भाई त्रिभी की अकाल मृत्यु पर उन्होंने समवेदना में बहुत ही सारगर्भित दो पत्र लिखे हैं, जिन्हें पाकर परिवार के सभी सदस्यों के तप्त व विह्वल प्राणों ने बड़ी शांति अनुभव की। दादाजी ने पत्रों का संग्रह करते समय शायद ही कभी सोचा होगा कि उनसे ही उनकी कला सीखकर उनके कतिपय पत्र तथा पंक्तियों को संजोकर किसी ने रख छोड़ा है।

मुझे वास्तव में सुख होता, यदि मैं इस लेख में उनका समावेश कर सकती। किन्तु स्थानाभाव के कारण ऐसा नहीं हो सका।

दादाजी मुझसे बड़े हैं। मैं उन्हें क्या दे सकती हूं! किन्तु मैं जहां कहीं भी रहूंगी, मेरी एकान्त

कामना रहेगी कि वह स्वस्थ एवं सानन्द रहकर वर्षों तक साहित्य-साधना करते रहें, तथा "जीवेम् शरदः शतम्" की कामना उनके जीवन में फलीभूत हो। ●

गौरीशङ्कर द्विवेदी

उनकी चिर-स्मरणीय सेवाएं

●

आदरणीय दादाजी, बनारसीदास चतुर्वेदी के शुभ नाम की ओर इन पंक्तियों का लेखक सं० १९७१ वि० (सन १९१४) से ही आकर्षित हो गया था, किन्तु उनके निकट सम्पर्क में आने का सुयोग मिल सका सं० १९८३–८४ (सन १९२६–२७) में 'विशाल भारत' के द्वारा।

चतुर्वेदीजी ने सन १९२५ से 'विशाल भारत' का सम्पादन-कार्य करना प्रारम्भ किया था और उनका प्रोत्साहन प्राप्त कर यह अकिंचन भी उसका स्थायी लेखक बन गया।

सं० १९८७ वि० (सन १९३०–३१) में जब टीकमगढ़ (म० प्र०) में श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य परिषद ओरछा राज्य की स्थापना हुई तो उन्होंने अधिक संतोष व्यक्त किया। 'परिषद' के वार्षिकोत्सव पर, जो कि वीर-वसन्तोत्सव के साथ हुआ था, चतुर्वेदीजी टीकमगढ़ पधारे और तब उनसे प्रथम साक्षात्कार हुआ।

'विशाल-भारत' की गंभीर, पाण्डित्यपूर्ण और मार्मिक टिप्पणियों को पढ़कर उसके सम्पादक की जो काल्पनिक रूप-रेखा बना रक्खी थी उससे उनको सर्वथा विपरीत पाया। उनके स्नेह प्रपूरित व्यवहार और मुक्त हास्य ने लेखक को अत्यधिक प्रभावित किया।

चतुर्वेदीजी का मुख्य कार्य प्रवासी-भारतीयों की सेवा से प्रारम्भ होता है। इस कार्य को उन्होंने सं० १९७१ वि० (सन १९१४) से ही अपने हाथ में ले लिया था। सन १९१४ से १९२० तक वह राजकुमार कालेज इंदौर में अध्यापक अवश्य रहे किन्तु साथ-ही-साथ प्रवासी भारतीयों का कार्य भी करते रहे।

भारतभक्त दीनबन्धु एन्ड्रयूज की आज्ञानुसार वह अध्यापकी त्याग कर अगस्त १९२० में शान्तिनिकेतन में चले आए और सन १९२१ में पूर्वी अफ्रीका की यात्रा की। उन्होंने वर्षों तक प्रवासी भारतीयों का काम किया।

राष्ट्रपिता विश्व-वंद्य बापू, दीनबन्धु एन्ड्रयूज, स्वामी भवानीदयाल संन्यासी और पं० तोताराम सनाढ्य ने उनके कार्यों की मुक्त-कण्ठ से सराहना की थी।

स्वदेश लौटने पर सन १९२५ ई० में उन्होंने 'विशाल-भारत' का सम्पादन-कार्य स्वीकार कर लिया। और उसके द्वारा बारह वर्षों में उन्होंने अत्यंत उपयोगी साहित्य हिन्दी-भाषा-भाषियों को दिया।

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग के अष्टम सम्मेलन को, जो इंदौर में राष्ट्र-पिता बापू की अध्यक्षता में हुआ था, उन्होंने अपना सहयोग देकर विशेष सफल बना दिया।

सं० १९९४ वि० (अक्टूबर १९३७) में विद्यानुरागी स्व० श्री वीरसिंह देव (द्वितीय) ओरछा-नरेश जब अपनी आसाम-यात्रा से कलकत्ता होते हुए लौटे तो चतुर्वेदीजी को टीकमगढ़ लिवा लाये और सम्मान सहित कुण्डेश्वर-कोठी में उनको निवास दिया।

'विशाल-भारत' से यद्यपि उन्होंने अवकाश ले लिया तथापि उसको अपना सहयोग सदैव देते रहे।

चतुर्वेदीजी के टीकमगढ़ में आ जाने के कारण साहित्यिक प्रवृत्तियों को अधिक बल मिला। परिषद के कार्यों में नवीन-चेतना आ गई, बुन्देलखण्ड-साहित्य-मण्डल की स्थापना का सूत्रपात हुआ और देव-पुरस्कार जैसे महत्वपूर्ण पुरस्कार की घोषणा हुई।

पाक्षिक पत्र 'मधुकर' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। श्री यशपाल जैन और श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी आदि कितने ही सहयोगियों ने आकर कुण्डेश्वर की महत्ता को दूना कर दिया। वह साहित्यिक तीर्थ-स्थल और अनेकों का आश्रय-स्थल बन गया। क्रान्तिकारी तक उनकी शरण में निश्चिंत होकर रहते थे।

लेखक कुण्डेश्वर-साहित्यिक-तीर्थ का नियमित यात्री था। जब भी वह वहां पहुंचता, चतुर्वेदीजी से आग्रह करता कि वह सम्पादित-साहित्य को प्रकाश में लाने की व्यवस्था करें। पत्रों द्वारा भी निरन्तर तकाजा करता रहता। अनेकानेक धृष्टतापूर्ण पत्रों में से उदाहरणार्थ केवल एक पत्र का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

लेखक ने एक लम्बा पत्र उनको १७–८–१९३९ को भेजा था और उसका उत्तर उन्होंने १९–८–३९ को आगरा से देते हुए लिखा :

प्रिय द्विवेदी जी

सादर प्रणाम!

विस्तृत कृपा-पत्र के लिए कृतज्ञ हूं। इस समय संक्षेप में ही उत्तर दे रहा हूं, क्योंकि टीकमगढ़ पहुंचने की जल्दी में हूं।

श्री कृष्ण बलदेवजी वर्मा के विषय में इस बार अवश्य लिखूंगा। कुण्डेश्वर पहुंच कर यह कार्य करना है।

श्रीरामजी से आपका ज़िक्र कल कर दूंगा। वह अभी आगरे में ही हैं। बड़े सहृदय जीव हैं। पता, द्वारा श्री० पं० हरिशंकरजी, राजामण्डी आगरा।

सोरों इस समय नहीं जा सकूंगा। फिर कभी तीर्थ-यात्रा करूंगा, यह काम जल्दी का है भी नहीं। जतारा का पुस्तकालय इस बार अवश्य खुलवाना है। दो बार समय निश्चित किया, किन्तु जतारा-वालों ने पत्रोत्तर हमेशा एक-दो दिन देर से दिया।

हां, एकत्रित मसाले का उपयोग करना है, पर यह कार्य क्या किसी एक व्यक्ति द्वारा हो सकता है? वन मैन अफ़ेयर बनाने से तो सारा भार एक आदमी पर आ पड़ता है। स्वर्गीय पद्मसिंहजी के विषय में तीन विशेषांक निकलवा चुका, 'विशाल-भारत', 'त्यागी, और 'सैनिक'। और अब जीवन-चरित भी मुख्यतया अपने ही बलबूते पर निकालना है।

समय, शक्ति और अर्थ तीनों चीजों का व्यय मुझ जैसे ऋण-ग्रस्त आदमी के लिए, जिस पर १३ व्यक्तियों का भार पहले ही से मौजूद है, अत्यंत कठिन हो जाता है। साहित्यिकों को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए तो एक कम्पनी होनी चाहिए, अनलिमिटेड। अगर आप हिसाब लगावें तो आपको ज्ञात हो जायगा कि मैं अपने हिस्से से अधिक का काम कर चुका हूं। संग्रहालय वस्तुतः राष्ट्र की चीज होना चाहिए, पर इधर कौन ध्यान देता है!

> कला-पूर्ण कार्य बहुत धीरे-धीरे होते हैं। रूसी-पंच-वर्षीय कार्य-क्रम के ढंग पर वे नहीं हो सकते। बड़ी मुश्किल यह है कि इधर अन्य साहित्य-सेवियों का ध्यान ही नहीं। एक भी साहित्यिक-सहायक मैं प्राप्त नहीं कर सका। साथ ही आपको यह बात न भूलनी चाहिए कि मेरे जीवन का मुख्य कार्य २० वर्ष तक प्रवासी भारतीयों की सेवा रहा था। यह परलोक-प्रवासी साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा का प्रश्न मेरे लिए गौण था। इन सब कामों को मैं एज़ लेबर ऑव लव ही करता रहा हूं, कभी एक पैसे की भी प्राप्ति की आशा उनसे नहीं की। ऐसी परिस्थिति में आप कठिनाइयों का अंदाजा लगा सकते हैं।
>
> पिछले २२ महीने ही जो टीकमगढ़ में बीते हैं, ऐसे बीते हैं, जब घरवालों को नियमित रूप से पैसा भेज सका हूं, नहीं तो जीवन के २४ वर्ष १९१३ से १९३७ तक हैण्ड टु माउथ ही व्यतीत करने पड़े। दैवी दुर्घटनाओं के विषय में क्या लिखूं!
>
> पर इन परिस्थितियों पर मुझे काबू करना ही चाहिए और आप जैसे बन्धु जरा तकाजा करते रहें तो मुझे बड़ी प्रेरणा मिल जाती है, नहीं तो प्रमाद आ घेरता है और शक्तियों का अपव्यय हो जाता है। आप जैसे प्रेमियों के मधुर 'अल्टीमेटम' टॉनिक का काम करते हैं और यह आशा, कि मेरे द्वारा भविष्य में कुछ सेवा और हो सकेगी, बंधने लगती है।"

यह पत्र प्राप्त होने पर श्रद्धा से उनके श्रीचरणों पर मस्तक झुक गया। लेखक ने श्रीचतुर्वेदीजी के चरित्र में यह विशेषता पाई कि वह अपने अनुयायियों और साथियों को सदैव महत्व देते हैं और उनको आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। अधीनस्थ अनुचरों से समानता का व्यवहार करते हैं और कितने ही व्यस्त क्यों न हों, मिलने आनेवालों से हृदय खोल कर मिलते हैं। उनके मुक्त हास्य से सम्पर्क में आया हुआ व्यक्ति उल्लसित होकर ही विदा होता है।

लेखक के बार-बार अल्टीमेटम देने का यह शुभ-परिणाम अवश्य हुआ कि संचित-साहित्य में से, 'हमारे आराध्य', 'संस्मरण' और 'रेखाचित्र' के रूप में अत्यंत उपयोगी साहित्य प्रकाश में आ गया। इन महत्वपूर्ण कृतियों में उनकी ऊंची कला और महान आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। रेखाचित्र लिखने के क्षेत्र में तो वह ऐसी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं, जो हिन्दी-जगत में सदैव सराही जायगी।

विगत कितने ही वर्षों से अमर-शहीदों की साधनाओं पर प्रकाश डाल कर और उनका साहित्य सम्पादित करके प्रकाश में लाकर अत्यधिक श्लाघनीय कार्य किया है।

विन्ध्य प्रदेश के निर्माण के लिए यद्यपि वह दूसरों को श्रेय देते हैं, तथापि वास्तव में उसका अधिकांश श्रेय उनको ही है। 'मधुकर' द्वारा इस जनपद में जागृति की जो लहर उन्होंने उत्पन्न कर दी थी उसका ही शुभ-परिणाम था कि जन-जन में प्रान्तीय-प्रेम और राष्ट्र-भाषा-हिन्दी के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया और वे संगठित हो सके।

चतुर्वेदीजी उपकार-कर्त्ता की प्रशंसा सदैव मुक्त कण्ठ से किया करते हैं। अपने कितने ही लेखों में उन्होंने बुन्देलखण्ड और स्वर्गीय ओरछेश श्रीवीरसिंह देव (द्वितीय) के प्रति आभार प्रदर्शित किया है। संसद-सदस्य रहते हुए भी उन्होंने कितनी ही बार उक्त-भावनाएं व्यक्त की थीं।

चतुर्वेदीजी यह भली प्रकार जानते हैं कि किस पत्र का किस समय उपयोग करना प्रभावशाली होगा। स्व० राष्ट्रपति डॉ० श्री राजेन्द्रप्रसाद जब प्रथम बार बुन्देलखण्ड में पधारे तो उन्होंने साहित्यकारों से सर्व-प्रथम भेंट की। यह भेंट २८-१-१९५१ को पन्ना के राजमहल में हुई थी।

श्री चतुर्वेदीजी के साथ इन पंक्तियों का लेखक भी उस भेंट में सम्मिलित था। लेखक ने जब राष्ट्रपति को 'बुन्देल-वैभव' आदि प्रतियां भेंट कीं तो चतुर्वेदीजी ने उनकी प्रशंसा की। 'मधुवनांक' भेंट करते हुए उनका वह पत्र भी उनको दिखलाया जो उन्होंने ४० वर्ष पूर्व लेखक के रूप में लिखा था। वह उसको देखकर मुग्ध हो गए और चतुर्वेदीजी को दिल्ली आने के लिए आमंत्रित कर दिया।

श्री चतुर्वेदीजी पत्रकार-संघ के कितने ही वर्षों तक प्रधान रहे, किन्तु अपने लिए कभी कोई प्रोपेगेण्डा नहीं होने दिया, वैसे वे स्वयं सिद्धहस्त प्रोपेगेण्डिस्ट प्रसिद्ध हैं।

रहन-सहन और वेश-भूषा में रंचमात्र भी बनावट नहीं है। वह प्रारम्भ से ही खादी का प्रयोग करते हैं और सादा रहन-सहन पसंद करते हैं। कितने ही आलोचकों ने इसके लिए उनसे सुधार करने के लिए कहा भी, किन्तु उन्होंने हँसकर उनके आग्रह की उपेक्षा कर दी।

श्री चतुर्वेदीजी की ६०वीं वर्षगांठ पर आयोजना करने का निश्चय हुआ था। जब उनसे अनुमति मांगी तो उन्होंने अपने १८-९-१९५१ के पत्र में लेखक को लिखा था, "···आप तो मेरे तरह ही शाकाहारी हैं। फिर भी, यह उपमा दे रहा हूं—यानी—'क्या पिद्दी और क्या पिद्दी का शोरवा', क्या मैं और क्या मेरी वर्षगांठ!"

वह सदैव डटकर काम करना उचित समझते हैं।

व्रज और बुन्देलखण्ड दोनों ही प्रान्तों को आगे बढ़ाने में उन्होंने प्रशंसनीय उद्योग किये हैं। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की प्रगति पर भी उन्होंने कितने ही सुझावपूर्ण लेख लिखे हैं।

कुंडेश्वर के साहित्यिक-तीर्थ-स्थल ने चतुर्वेदीजी के कारण गुरुकुल का स्थान ग्रहण कर लिया था। उनके कितने ही पत्रकार-शिष्य उनकी कीर्ति को उज्ज्वल कर रहे हैं।

चतुर्वेदीजी के निकट सम्पर्क में आनेवाले यह भली प्रकार अनुभव करते हैं कि उनमें सरलता, स्पष्टवादिता, निरभिमानता और आडम्बरहीनता के गुणों का भरपूर समावेश है।

इन पंक्तियों के लेखक ने ऐसे भी अवसर देखे जब भ्रांत धारणाओंवश कुछ स्वार्थी व्यक्तियों ने उनको हानि पहुंचाने की चेष्टाएं कीं, किन्तु वह उद्विग्न नहीं हुए। अन्त में विजयश्री उनको ही मिली।

राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा हिन्दी की निरन्तर सेवा करनेवाले और अनेकानेक व्यक्तियों की हित-चिंता में संलग्न रहनेवाले सचमुच ही सबके ही लिए प्रकाश-स्तम्भ और पथ-प्रदर्शक हैं।

वे धन्य हैं, जिनको उनके निकट रह कर माता सरस्वती की सेवा करने का सुअवसर मिलता रहता है। लेखक के लिए तो वह सदैव वन्दनीय और अनुकरणीय हैं, वह उनका अत्यधिक ऋणी है। ●

शकुन्तला श्रीवास्तव

सच्चे बन्धु

•

मेरी 'रजकण' शीर्षक कविता 'विशाल-भारत' में सन १९३६ में प्रकाशित हुई थी। सन १९३७ में मेरी कविताओं का संग्रह भी 'रजकण' नाम से प्रकाशित हुआ। उन दिनों श्री बनारसीदास चतुर्वेदी 'विशाल-भारत' के सम्पादक थे और उनकी बड़ी ख्याति थी। साहित्यिक क्षेत्र तथा साहित्यिकों से बालयकाल से ही परिचय रहा है। हिन्दी के गण्यमान महारथियों के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा और आदर का भाव मन में था। चतुर्वेदीजी के प्रति भी था।

सन १९५३ में जब मैं दिल्ली में थी, चतुर्वेदीजी राज्य-सभा के सदस्य थे। मैंने अपनी कहानियां, जो अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं, उन्हें भेजीं। उनका संग्रह निकालने की इच्छा थी। परन्तु कई मास के उपरान्त भी उसकी क्या प्रतिक्रिया या परिणाम हुआ, यह ज्ञात न हो सका। हां, एक दिन मेरे पति (श्री हरिहरनाथ शास्त्री) ने लोक सभा से लौट कर बताया कि चतुर्वेदीजी मिले थे और कह रहे थे कि आपको देख कर शकुंतलाजी की कहानियों की याद आ जाती है। इसके कुछ दिन बाद जब संसद सदस्यों और मंत्रियों का भोजन मेरे यहां था, श्री मैथिलीशरण गुप्त के साथ चतुर्वेदीजी भी पधारे।

सन १९५३ में १२ दिसम्बर को विमान-दुर्घटना से मेरे पति का निधन हो गया। इस वज्राघात से मैं मृतप्राय-सी हो गई। सारे कार्यकलाप रुक गए। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, जो साथ ही रहते थे, तथा आचार्य नरेन्द्रदेव का वरद हस्त मेरे ऊपर था। श्री चतुर्वेदीजी जब आते (टण्डनजी से मिलने) तो मुझसे अवश्य मिलते। उनका हृदय मुझे देखकर व्यथित हो जाता। उनकी बातों से मैं बड़ी शांति और धैर्य का अनुभव करती। राजनीति से एक प्रकार का संन्यास ही ले लिया था। चतुर्वेदीजी की प्रेरणा से कई वर्ष बाद पुनः लिखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार साहित्य-सृजन की टूटी शृंखला फिर जुड़ गई और मेरा जड़ तथा निराश हृदय तथा लेखनी फिर क्रियाशील हो गये।

इन्हीं दिनों मेरी बड़ी बहन राजकुमारीजी दिल्ली मेरे पास आकर रहीं। वह हिन्दी की बड़ी अच्छी कवयित्री थीं और बचपन से ही कविता करने लगी थीं। उनकी राष्ट्रीय कविताओं की बड़ी धूम थी। अब हमारे घर प्रायः साहित्य की चर्चा और आलोचना होती। राजकुमारीजी उन दिनों साहित्यिक कविताओं का सृजन करतीं; चतुर्वेदीजी मेरी तथा बहन की रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में भेजते और हमें पारिश्रमिक भी मिलता।

इस घटना से चतुर्वेदीजी की परदुखकातरता और सहृदयता का परिचय मिलता है। 'विशाल-भारत' के सम्पादक का हृदय भी कितना विशाल है, मैं सोचा करती। जब मैं सुखी थी, उनका ध्यान मेरी ओर आकृष्ट न हो सका, पर दुख पड़ने पर सच्चे बन्धु की भांति मुझे जो उनका सम्बल प्राप्त हुआ, वह कितनी बड़ी बात है, मैंने अनेक साहित्यिक, नेता और समाज-सुधारक देखे हैं, पर तुलनात्मक दृष्टि से चतुर्वेदीजी को सबसे ऊंचा पाया।

राजकुमारीजी के पति (श्री जयन्तीप्रसाद विद्यार्थी) से चतुर्वेदीजी का दक्षिण यात्रा में परिचय हुआ था। वह उनके मैसूर-स्थित आवास में भी गये थे। ये दम्पति वहां राष्ट्र-भाषा-प्रचार के कार्य में बहुत

सहयोग देते थे। सन ३६ में विद्यार्थीजी की मृत्यु ट्रक-साइकिल-दुर्घटना में हो गई थी। चतुर्वेदीजी के छोटे भाई श्री रामनारायणजी का तथा राजकुमारीजी का भी विवाह सन '३० में हुआ और विद्यार्थीजी तथा रामनारायणजी का निधन सन ३६ में हुआ। चतुर्वेदीजी जब भी राजकुमारीजी को देखते या उनका उल्लेख आता, उन्हें इस दुर्घटना की याद आ जाती और वह शोकाभिभूत हो जाते। वह प्रायः अब तक इसका उल्लेख अपने पत्रों में या मिलने पर लोगों से करते हैं।

राजकुमारीजी बड़ी प्रतिभाशालिनी थीं। कई वर्ष बाद जब पुनः उनकी काव्य-धारा प्रवाहित हुई तो पहले से कहीं अधिक पुष्ट, सरस थी और भाषा-सौष्ठव, प्राकृतिक वर्णन का तो कहना ही क्या! मैंने भी अनेक कविताएं लिखी थीं। बच्चों की, राष्ट्रीय, साहित्यिक। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि राजकुमारीजी की कविताएं मुझसे बहुत श्रेष्ठ थीं और भारत के चोटी के कुछ ही कवियों की तुलना में आती थीं। चतुर्वेदीजी कहते, "बड़ी बहनजी की कविताएं आप से अच्छी होती हैं।" फिर कभी-कभी हँसकर कहते, 'मैं दोनों बहनों में लड़ाई करवा दूंगा।" इस पर हम दोनों बहने कहतीं कि यह कभी संभव नहीं, क्योंकि हम दोनों ही एक-दूसरे की रचनाओं की प्रशंसक थीं।

मेरे पति की स्मृति में शास्त्री-स्मारक-ग्रंथ प्रकाशित करने की प्रेरणा हमें चतुर्वेदीजी से ही मिली। कार्य कठिन था। उन्होंने उदारता-पूर्वक सहयोग का आश्वासन दिया और सम्पादन का पूर्ण उत्तरदायित्व भी। लेखों का एक-एक शब्द पढ़कर उसका उचित और सुन्दर सम्पादन किया। इस ग्रंथ का प्रकाशन लगभग बारह वर्ष बाद हो पाया। अनेक बाधाएं मार्ग में थीं। चतुर्वेदीजी प्रायः कह देते, श्राद्ध-कर्म में इतनी देर नहीं लगनी चाहिए। खैर, ईश्वर की कृपा से यह कार्य पूरा हुआ। २१ दिसम्बर १९६८ को उप-राष्ट्रपति माननीय वी० वी० गिरि के द्वारा ग्रंथ का समर्पण सम्पन्न हुआ।

कीर्ति संसार में किसे प्रिय नहीं है? कौन है, जिसे कीर्ति और यश से भी अजीर्ण हो जाय? चतुर्वेदीजी प्रायः कहते हैं, मुझे तो कीर्ति तथा यश अत्यधिक उपलब्ध हो चुका है, परन्तु जिन्हें अधिकारी होते हुए भी नहीं मिला है, जो अज्ञात और उपेक्षित हैं ऐसे लेखक, कवि सम्पादकों को वह मिलना चाहिए। वह केवल कहते ही नहीं है, अनेक ऐसी छिपी हुई प्रतिमाएं उनके प्रयास से ही प्रकाश में आईं और साहित्य जगत ने उनकी रचनाओं का रसास्वादन किया।

चतुर्वेदीजी में विनम्रता, मिलनसारिता और सादगी का ऐसा पुट है कि जो उन्हें न जानता हो वह कभी स्वप्न में भी उनके महान व्यक्तित्व की कल्पना नहीं कर सकता। शीत के दिन हैं, गरम कुर्ता और रूई का पाजामा पहन कर निकल पड़े। कन्धे पर कैमरा लटका कर प्रातः भ्रमण भी किया, लोगों से मिले भी और साहित्य चर्चा भी की। उनकी सफलता का एक बड़ा रहस्य है पत्रों द्वारा सम्पर्क स्थापित करना। परिचितों, मित्रों को प्रायः पत्र भेजना। उत्तर पाने पर फिर फौरन उसका उत्तर देना। प्रत्येक को प्रोत्साहित करना और लिखने की प्रेरणा देना।

टण्डनजी, मैं और लाला अचिन्तराम (एम० पी०) २ टेलिग्राफ लेन, नई दिल्ली में रहते थे। लालाजी के पुत्र कृष्णकान्त (जो अब एम० पी० हैं) चतुर्वेदीजी के बड़े प्रशंसक और भक्त हो गये थे। उनके सम्पर्क में आकर कृष्ण ने कई लेख लिखे। कई तो प्रकाशित भी हुए थे। वह कृष्ण से मजाक में कहते, "आप तो मेरी लड़की की उम्र के हैं। इसलिए आप मेरी लड़की हुए।" और हँस पड़ते।

मजाक करना, वह भी अपने से छोटों से! एक दिन धूप थी और पानी भी बरस रहा था। अपने छोटे पुत्र को बुलाकर कहा, "लोमड़ी का ब्याह हो रहा है, गुपली, दौड़ो। तुम्हारी भी शादी करा दें।"

चतुर्वेदीजी इतने सादे रहते हैं कि पार्लियामेन्ट का चपरासी उनके पुत्र रामगोपालजी को बहुत दिनों तक एम० पी० समझता रहा। बाद में उसका भ्रम दूर हुआ।

राज्य-सभा की सदस्यता के काल में उन्होंने हिन्दी भवन की स्थापना की थी। हिन्दी भवन द्वारा हिन्दी की उल्लेखनीय सेवा हुई। चतुर्वेदीजी अराजकवाद के समर्थक हैं। वह कहते हैं, समाज की चरम परिणति तो अराजकतावाद में निहित है। अपने दिल्ली-स्थित आवास में एक बोर्ड में लिखकर उन्होंने टांगा था—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सब के दाता राम॥

उनकी दैनिकचर्या बड़ी व्यवस्थित है। प्रातः चार बजे जागना, चाय पीना, पढ़ना-लिखना, फिर भ्रमण, तत्पश्चात स्नान और भोजन। बारह से चार बजे तक शयन। दिल्ली में १२ से ४ तक टेलीफोन का रिसीवर भी हटा देते थे। एक बार टेलीफोन एक्सचेंजवालों ने इसकी शिकायत भी की थी। उत्तर दिया, मेरी नींद में खलल पड़ता है।

चतुर्वेदीजी ने यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग नहीं लिया, किन्तु शहीदों की यश-गाथा और कीर्ति को अमर बनाने में उनका विशेष हाथ रहा है। फीरोजाबाद में उनके निवास-स्थान में लगभग सभी शहीदों और महापुरुषों के चित्र लगे हैं, जो बड़े श्रम से कलात्मक ढंग से बनाये गए हैं। शहीदों से सम्बन्धित साहित्य एवं अन्य लेखकों की लिखी हुई सामग्री से दो कमरे भरे पड़े हैं। शहीदों के परिवारों को पेंशन तथा अन्य सहायता भी सरकार द्वारा उन्होंने दिलाई। कई लोगों के संस्मरण-ग्रंथ भी परिश्रम-पूर्वक प्रकाशित कराये।

राज्य-सभा से अवकाश ग्रहण करके वह अब अपने पैतृक गृह फीरोजाबाद में ही रहते हैं। मैं प्रायः वर्ष में दो-एक बार अवश्य उनके दर्शन करने वहां जाती हूं। उनके यहां जाकर तो ऐसा लगता है, मानो अपने घर ही पहुंच गई। चतुर्वेदीजी ने एक बार मुझसे कहा कि आप इसे अपना मायका जबलपुर जैसा ही समझिये और यहां आकर ठहरा करिये।

उन्हें अपने अधूरे कार्यों को पूरा करने की चिंता अहर्निश रहती है। मुझसे कह रहे थे कि बड़ी बहनजी की कविताओं का संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित करना है। चतुर्वेदीजी ने कोई भी संस्था नहीं खड़ी की पर वे स्वयमेव एक महान संस्था हैं। ऐसे मानव के चरणों में मेरा शत-शत प्रणाम! ईश्वर उन्हें शतायु करें। ●

ब्रजकिशोर जैन

उनके व्यक्तित्व के कुछ पहलू

●

यह तो मुझे अब ठीक-ठीक याद नहीं कि दादाजी के प्रथम दर्शन मैंने कब और कहां किये, परन्तु राज्य-सभा की सदस्यता से अवकाश ग्रहण करने के उपरांत, जबसे वे अपनी जन्म-भूमि—फ़ीरोज़ाबाद में ही आकर स्थायी रूप से रहने लगे हैं, मुझे उनके निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इधर कुछ वर्षों से तो मुझे उनके सहायक के रूप में भी काम करने का अवसर मिला है। यहां मैं दादाजी के सान्निध्य में

व्यतीत अपने कुछ स्मरणीय क्षणों को पंक्तिबद्ध करने का प्रयास कर रहा हूं।

घटना कुछ पुरानी है। हमारा कालेज तब एक माध्यमिक स्कूल के रूप में था। इण्टरमीडिएट कक्षाएं प्रारम्भ करने के लिए आवेदन भेज दिया था। माध्यमिक शिक्षा परिषद, उत्तर प्रदेश की ओर से परिषद की मान्यता-समिति के एक सदस्य श्री शिवकुमारलाल श्रीवास्तव संस्था का निरीक्षण कर अपनी संस्तुति प्रेषित करने के लिए विद्यालय में पधारे थे। बरसात का मौसम था। निरीक्षण के उपरान्त चाय-पान का आयोजन था। सौभाग्य से दादाजी भी इस अवसर पर उपस्थित थे। मिठाई और फलों के कारण मक्खियां घिर आईं। दादाजी बोले, "मक्खियां उड़ाते रहिये, नहीं तो श्रीवास्तव साहब अपनी रिपोर्ट में लिख देंगे कि विद्यालय में और सब तो ठीक था, मक्खियां ज्यादा पाई गईं।" उपस्थित लोग दादाजी की बात सुनकर अपनी हँसी न रोक सके।

अपनी पोशाक और कपड़े-लत्तों के विषय में दादाजी चाहे कितने ही उदासीन हों पर लेखन-सामग्री और दैनिक उपयोग की अन्य वस्तुएं उन्हें उच्च कोटि की ही पसन्द आती हैं। बढ़िया कागज़, अच्छी स्याही और उत्तम लिफाफों के बिना उनका काम नहीं चलता। उनके अध्ययन-कक्ष में आपको अच्छी और सुन्दर फाइलें ही देखने को मिलेंगी। सिर में डालने के लिए 'जवाकुसुम' तेल और नहाने के लिए 'पीयर्स' साबुन उनके लिए अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुएं हैं।

एक बार उनके भानजे डा० महेशचन्द्र बाजार से कोई अच्छा केश-तेल खरीदकर लाये। अपनी पसंद की पुष्टि कराने के लिए उन्होंने घर में सभी लोगों को थोड़ा-थोड़ा तेल देकर उनसे उस तेल की तारीफ़ सुनी। पर छोटे भाई डा० मिथलेशचन्द्र ने कहा, "हम तो आपके तेल को तब अच्छा मानेंगे जब 'मामाजी' इसे 'एप्रूव' कर दें।"

भोजन करने के बाद विश्राम करते समय दादाजी को सिर में जवाकुसुम डलवाकर मालिश कराने की आदत है। दादाजी के भोजन कर चुकने पर श्री महेशचन्द्र ने अपने लाये तेल की तारीफ दादाजी से भी की और स्वयं लगभग आध घण्टे तक उस तेल से दादाजी के सिर की मालिश की। अन्त में जब उन्होंने तेल के विषय में दादाजी का अभिमत पूछा तो वह बोले, "ठीक है भइय्या, तेल तो अच्छा है पर जरा जवाकुसुम और मल दो।" उनका यह उत्तर सुनकर महेशजी का सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया।

पत्रकारिता के क्षेत्र में दादाजी का स्थान कितना भी ऊंचा क्यों न हो, घर-गृहस्थी के प्रबन्ध और व्यवस्था के मामले में वह बिल्कुल कोरे हैं! उनके अनुज स्वर्गीय श्री रामनारायण चतुर्वेदी के आत्मज डाक्टर नरेशचन्द्र की शादी के अवसर की बात है। बारात जाने को अभी कई दिन शेष थे, लेकिन घर पर परिवार के लोगों और नाते-रिश्तेदारों का बाहर से आने का सिलसिला शुरू हो गया था। गृह-प्रबन्धक श्री मिथलेशचन्द्र बहनों को बुलाने बाहर गये हुए थे। डा० नरेशचन्द्र की स्वर्गीया माताजी ने, जिन्हें सब लोग 'चाची' कहकर पुकारते थे, मुझे बुलाकर कहा, "ब्रजकिशोर, दादाजी से कह दो कि गेहूं मंगवा दें।" मैंने दादाजी से आकर निवेदन किया कि चची गेहूं मंगवाने को कह रही हैं तो उन्होंने तुरन्त आलमारी में से एक फ़ाइल निकाली और दस रुपये का एक नोट मुझे देकर बोले—"लो, गेहूं तुरन्त मंगवा लो।" विदित हो कि उन दिनों गेहूं का बाजार-भाव ५० रु० प्रति मन था! दादाजी शायद दस रुपये के गेहूं में ही भतीजे की शादी कर लेना चाहते थे!

२४ अगस्त १९६८ की बात है। दादाजी मुझे बापू विषयक कोई लेख लिखा रहे थे। लेख लिखाते हुए वह बोले—"जो कुछ लिखा जाय, अनुभूतिपूर्ण ही लिखा जाना चाहिए। अनुभूतिपूर्ण चीज ही स्थायी

महत्व और हृदय को छूने वाली होती है। लेख के सिलसिले में महात्मा गांधी और दीनबन्धु सी० एफ० ऐन्ड्रयूज के मिलने का विवरण सुनाते हुए दादाजी भाव विभोर हो गए। वह कह रहे थे—"दीनबन्धु एन्ड्रयूज का जहाज दक्षिण अफ्रीका में डरबन के निकट पहुंचा तो वहां घाट पर महात्मा गांधी, हेनरी पोलक और कैलेनबैक आदि उनके स्वागत के लिए प्रतीक्षा में खड़े थे। एन्ड्रयूज बड़े तपाक-से अपने पूर्व परिचित मित्र पोलक से मिले और उन्होंने पूछा—'मि० गांधी कहां हैं?' पोलक ने एक दुबले-पतले तपस्वी से दीखने वाले व्यक्ति की ओर इशारा किया, जो शर्तबन्द कुलियों की तरह मोटे कपड़े का धोती-कुर्ता पहने हुए थे। लपककर एन्ड्रयूज ने गांधीजी की पद-रज लेकर अपने माथे से लगा ली।" इन शब्दों को कहते-कहते श्रद्धा और भक्ति के आवेग के कारण दादाजी का गला भर आया और उनकी आंखों में अश्रु छलछलाने लगे। मैं कागज और कलम लिये किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा उनके सम्मुख बैठा था।

दादाजी ने सदैव ही अपने सम्पर्क में आनेवाले अनेकानेक लेखकों और कवियों को प्रोत्साहन दिया है और उनके साहित्यिक विकास के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया है। बड़े-बड़े लेखकों और कवियों में आत्म-केन्द्रित होने की जो स्वार्थ प्रवृत्ति पाई जाती है उसकी उन्होंने सदैव ही निन्दा की है। वह कहा करते हैं, "आज के प्रतिष्ठित साहित्यकारों में अपने और अपने कुटुम्बियों के खाने-पीने के लिए बाड़ी लगाने की प्रवृत्ति घर करती जा रही है; सार्वजनिक हित के लिए उपवन तैयार करने में उनका विश्वास ही नहीं है।" वेद के एक श्लोक का उल्लेख करते हुए वह बहुधा कहा करते हैं, "जो अकेला खाता है, पाप खाता है।" सम्पूर्ण प्रसाद को स्वयं ही हड़प जाने की हमारी प्रवृत्ति है, यज्ञ से बचे हुए अन्न से सन्तुष्ट रहने की नहीं।

प्रतिष्ठित साहित्यकारों द्वारा अपने छुटभइयों के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार की चर्चा करते हुए उन्होंने सुप्रसिद्ध अंग्रेज साहित्यकार जॉन स्टुअर्ट मिल के विषय में सुविख्यात आलोचक जार्ज ब्राण्डीज़ का एक संस्मरण पढ़ कर सुनाया :

"जुलाई १८७० के एक दिन की बात है। पेरिस में अपने निवास-स्थान के एक कमरे में हाथ में एक पुस्तक लिये मैं विचारमग्न चहलकदमी कर रहा था। तभी मुझे दरवाजे पर एक हल्की-सी दस्तक सुन पड़ी। घड़ी-साज के सहायक के आने का यह नियत समय था, जो प्रति सप्ताह घण्टे की टकोर के साथ घड़ी में चाबी भरने के लिए आया करता था। मैंने चुपचाप दरवाजा खोल दिया और बिना आगन्तुक की ओर देखे 'आइये!' कहकर पुनः अपनी पुस्तक में मशगूल हो गया। आगन्तुक शान्त खड़ा रहा, उसने अपना हैट उतारा और प्रश्नसूचक आवाज में मेरे नाम का उच्चारण किया। मैंने उत्तर में कहा, 'मेरा ही नाम है।' प्रत्युत्तर में मैं कोई प्रश्न पूछ सकूं, उसके पूर्व ही एक धीमी परन्तु अधिकारपूर्ण आवाज में मैंने सुना, 'मैं जे० एस० मिल हूं!' ब्रांडीज़ महाशय लिखते हैं, आगंतुक यदि पुर्तगाल के राजा होते और इन्हीं परिस्थितियों में उन्होंने मुझे अपना परिचय दिया होता तो भी मुझे इतना आश्चर्य नहीं होता। मेरी अनुभूति उस समय फ्रांस के प्रथम गणतन्त्र के युवक रक्षकों के उस कारपोरल के समान थी, जिसे नेपोलियन महान ने अपने किसी दौरे के समय उसके कान खींच कर उसके अस्तित्व को सम्मानित कर देने की कृपा की हो।

"फ्रांसवासियों को स्टुअर्ट मिल का प्रथम परिचय मैंने ही कराया था। इस सिलसिले में उनसे मेरा कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ था। और मेरी जिज्ञासा की तुष्टि के लिए उन्होंने मुझे कुछ समाचार-पत्र—पत्रिकाएं और पुस्तकें भेज देने की कृपा की थी। इस समय चूंकि वह पेरिस से होकर गुजर रहे थे; अतः एक अपरिचित स्थान की कष्टपूर्ण यात्रा करके भी अपने एक श्रद्धालु युवक पत्रकार के घर पधारकर उसे सम्मानित करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि मेरे सिवा इस विशाल नगर

में उनका परिचित कोई अन्य व्यक्ति भी नहीं था, जो उन्हें मुझसे मिलाने में कुछ सहायता कर सकता।"

मैंने देखा उक्त वृत्तान्त को पढ़ते हुए भावोद्रेक में दादाजी का गला भर आया था और उनकी आंखें आंसुओं से गीली हो गई थीं। ●

रामधन राम

सोलह वर्ष

●

चतुर्वेदीजी के साथ पांच वर्ष 'विशाल-भारत' कार्यालय में, एक वर्ष 'मधुकर' कार्यालय टीकमगढ़ में और दस वर्ष हिन्दी भवन, नई दिल्ली में कार्य करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

नवम्बर या दिसम्बर १९३२ में चतुर्वेदीजी के पास कलकत्ता पहुंचा था। उनको एक सेवक की जरूरत थी। उन दिनों वह वाराणसी घोष स्ट्रीट के एक मकान में रहते थे। मकान तिमंजिला था। उसके पहले तल्ले में छोटा-सा फ्लेट था। उसके एक कमरे में चतुर्वेदीजी रहते थे। उनके पास के कमरे में स्वर्गीय पत्रकार पं० विष्णुदत्त शुक्ल रहते थे। कमरे के आगे एक कोने में थोड़ी जगह थी, जहां वट-वृक्ष की छाया में चतुर्वेदीजी की पाकशाला थी। मैंने देखा कि चतुर्वेदीजी नौकर के अभाव में खुद खाना बना रहे हैं। लम्बा कद, गोरा शरीर, प्रशस्त ललाट, तेजोदीप्त मुखमण्डल बहुत ही भव्य प्रतीत हुआ। वह खादी की धोती लपेटे थे। लकड़ी का कोयला तोड़कर अंगीठी में डालते और हाथ धोती से साफ कर लेते थे। सफेद धोती काली होती जाती थी। बाद में साथ रहने पर मालूम हुआ कि कपड़ों के प्रति असावधानी उनका स्वभाव ही है।

बातचीत में उन्होंने मुझसे पूछा, "कहां तक पढ़े हो?" मैंने कहा—हिन्दी मिडिल पास हूं। स्वर्गीय आचार्य पद्मसिंह शर्मा के कुछ पत्र और एक रजिस्टर देकर, उन्होंने आदेश दिया कि इस रजिस्टर पर नकल कीजिए। मैं भोजन के बाद घंटे-डेढ़ घंटे सोता हूं। वह अपने कमरे में सोने चले गये। चतुर्वेदीजी के सोकर उठने पर मैंने जो चिट्ठियां रजिस्टर में नकल की थीं, उसको दिखलाया। उन्होंने कहा कि आपकी लिखावट ठीक है। 'विशाल-भारत' कार्यालय में चपरासी के कार्य में आपको नियुक्त कर दूंगा। कल से १० बजे दिन से ५ बजे शाम तक 'विशाल-भारत' कार्यालय में काम करें। सुबह-शाम मेरे कार्य में सहयोग दें। भोजन और रहने का प्रबन्ध मेरे यहां रहेगा। आफिस से आपको पन्द्रह रुपये मासिक वेतन मिलेंगे। मैंने स्वीकार कर लिया। फिर उन्होंने कहा कि यह तीन महीने का प्रयोग होगा। अगर आपको पसन्द न आये तो अन्यत्र जा सकते हैं। शाम के वक्त उनके साथ कार्यालय गया और वहां उन्होंने मेरा परिचय अपने सहयोगियों से दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल साढ़े चार बजे चतुर्वेदीजी के साथ टहलने कलकत्ते के ईडन गार्डन में गया। ईडन गार्डन का कुछ चक्कर लगाने के बाद उद्यान में बनी नहर के किनारे एक आसनी बिछाकर चतुर्वेदीजी

लेख लिखने बैठ गये। मुझको एक अखबार और एक पुस्तक भारत-भक्त सी० एफ० एन्ड्रयूज देकर कहा कि कहीं थोड़ी दूर पर अखबार फैलाकर बैठ जाओ और पुस्तक पढ़ो। कुछ देर के बाद देखा कि एक पतले शरीर का नवयुवक उनके पास ही शीर्षासन कर रहा है। एक दूसरे सज्जन चतुर्वेदीजी से साहित्यिक-वार्त्तालाप कर रहे हैं। पूछने पर पता चला कि शीर्षासन करने वाले सज्जन पंडित सुन्दरलालजी के शिष्य विश्वम्भरजी हैं। दूसरे सज्जन हैं पंडित आदित्य मिश्र। डेढ़-दो घंटे बाद बाजार से सब्जी खरीदते हुए हम लोग घर पहुंचे।

कुछ महीने उनके साथ रहने पर पता चला कि उनका दैनिक कार्यक्रम ही था प्रातःकाल ईडन गार्डन में टहलने के लिए जाना, वहीं पर बैठकर लेखादि लिखना, स्वाध्याय और प्रायः साहित्यिक व्यक्तियों से बातचीत। वहां से लौटते समय बाजार से सब्जी खरीद कर घर आते थे। घर पर प्रायःचिट्ठियों का जवाब लिखते थे। तत्पश्चात् ग्यारह-बारह बजे 'विशाल-भारत' दफ्तर पहुंचते थे। अपने सहयोगियों से 'विशाल-भारत' में छपने वाले लेखों आदि के संबंध में बातचीत करते थे, साथ-साथ हास्य-परिहास भी होता रहता था। डाक देख कर घर चले जाते थे। भोजन करने के बाद डेढ़-दो घंटे विश्राम करते थे। फिर शाम को चार-पांच बजे कार्यालय पहुंचते थे। फाइनल प्रूफ देखते थे। बाहर से मिलने के लिए आये हुए व्यक्तियों से बातचीत करते थे और शाम की डाक देखकर बाजार से सन्देश, ब्राउन ब्रेड इत्यादि खरीद कर घर पहुंचते थे। रात में कभी-कभी पुस्तक वगैरा पढ़ते या किसी आगन्तुक से बातचीत करते थे। भोजनोपरान्त प्रायः दस बजे सो जाते थे। उस संकीर्ण जगह में भी चारपाई इस तरह बिछाने को कहते कि आसमान के तारे दिखाई दें। उन दिनों चतुर्वेदीजी ने ईडन-गार्डन पर यह कविता लिखी थी:

सुन्दर प्रकृति शुचि साज सजती है जहां,
सरस बसन्त का जो क्रीड़ा-धाम प्यारा है।
कूक-कूक कोकिल जगाती है अनोखे भाव,
फूले तरुओं के तले वक्र जलधारा है।
गोरी-गोरी गोरियों की नौका-केलि–लीला देखि,
तप भंग भयभीत लेखक बिचारा है।
मदन महीपति की सेना आ जुरी है जहां,
अदन बगीचा बीच आसन हमारा है।

कलकत्ते में चार-पांच बजे प्रातःकाल से ही सड़क की धुलाई शुरू हो जाती है। एक दिन चतुर्वेदीजी के साथ ईडन-गार्डन जाते समय सड़क धुल चुकी थी। विशेष ठंढ पड़ने और नंगे पैर होने के कारण पैर ठिठुर रहे थे। इसलिए चतुर्वेदीजी के साथ चलने में पीछे पड़ गया था। चतुर्वेदीजी ने राह चलते रुक कर कहा, "पीछे क्यों रह जाते हो?" मैंने कहा, "जूते न होने के कारण चलने में तकलीफ होती है।" दस रुपये का नोट देते हुए वह बोले, "लौटते वक्त जूते खरीद लेना।" मैंने दो रुपये में जूते खरीद लिये। जब आठ रुपये उनको वापिस किये तो उन्होंने कहा, "इतने सस्ते जूते क्यों खरीदे? ये पैर में काटेंगे और फिर काम में बाधा पड़ेगी।" चतुर्वेदीजी ने दूसरे दिन अपने साथ ले जाकर फ्लैक्स के अच्छे जूते खरीदवा दिये।

चतुर्वेदीजी प्रकृति के बड़े प्रेमी हैं। कलकत्ते में प्राकृतिक दृश्यों का अभाव था। १९४३ में मुझे उनके साथ कुछ महीने कुंडेश्वर (टीकमगढ़) में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके साथ प्रायः जंगल की सैर करनी पड़ती थी। कुंडेश्वर के वन को उन्होंने 'मधुवन' नाम दे रखा था। समूचे जंगल का उन्होंने

पर्यटन किया था। और प्रत्येक सुन्दर प्राकृतिक स्थल का नामकरण भी। उषा विहार, बरीघाट, उषाघाट, कुमारी अन्तरीप, उषा कुंज, वेणु कुंज इत्यादि। यह जंगल जमड़ार और जामनेर नदी के मध्य में फैला हुआ है। झर-झर करके बहता हुआ मधुर झरना, पचास-साठ फुट गहरा कुंड, जिसमें बड़ी-बड़ी मछलियों के झुण्ड अपने पंखों को फैलाए इधर-से-उधर विचरते हुए कल्लोल करते थे। इस मधुवन में तेंदुआ, जंगली सुअर, सांभर कभी-कभी देखने को मिल जाते हैं। चीतल तो प्रायः कुलांचें मारते हुए दिखाई देते हैं। वन के एक विभाग का नाम खैरई है। इसमें हजारों कत्थों के पेड़ हैं। ढाक के पेड़ों से जंगल भरा पड़ा है। वसन्त ऋतु में जब उसमें फूल आते हैं तो सारा जंगल लाल-लाल दिखाई पड़ता है। वह एक अनुपम दृश्य होता है। महुआ, कैथ, बेल, सेमर, बबूल, बेर, बांस और अर्जुन के वृक्ष भी अनेकों हैं। ऐसे तो सारा मधुवन ही मनोरम प्राकृतिक छटा से युक्त है, लेकिन इनमें सब से अधिक मुझे आकर्षित किया था 'उषा विहार' ने। पहाड़ी नदी की धारा यहां पर चौड़ी हो गई है। गहन जल-राशि। नदी के एक किनारे पर उभरी हुई चट्टान मानों प्रकृतिदेवी ने थके यात्री के स्वागत में सुखासन बिछाया हो। नदी के दोनों पाटों के वृक्ष-लता-पल्लवों से घनीभूत श्यामलता अनुपम आनन्द की सृष्टि करती है।

एक दिन चतुर्वेदीजी ने बातचीत में मुझे बताया था कि एक सौ पच्चीस आदमियों को यह स्थान दिखा चुका हूं और ऐसा करने में मुझे बड़ा आनन्द आता है। अकेले भोगने में क्या सुख है? एक दिन हम लोग शाम को जंगल से बाहर निकलने का रास्ता भूल गए। भयंकर सर्पों और जंगली जानवरों का भय सताने लगा, लेकिन खैरियत हुई कि एक टीले से एक गांव दिखाई पड़ा। उसको लक्ष्य करके तेजी से आगे बढ़े और अन्धेरा होने से पूर्व ही जंगल से बाहर हो गए। चतुर्वेदीजी का दृष्टिकोण अत्यंत मानवीय है। वह घर के नौकरों से भी प्रेम-पूर्ण व्यवहार करते हैं। उन्हें बराबर हिदायत देते कि जब भूख लगे तभी खा लिया करो। औरतों के समान मेरे भोजन करने का इन्तजार मत किया करो। नौकरों की सुख-सुविधा का विशेष ध्यान रखते हैं।

चतुर्वेदीजी दूसरों की सहायता करने के लिए सदा तैयार रहते थे। इसमें कभी-कभी धोखा भी खा जाते थे। सन १९३४ में बिहार में भूकम्प आया। मुजफ्फरपुर का एक आदमी कमर में सिर्फ एक खादी का तौलिया लपेटे 'विशाल-भारत' कार्यालय में चतुर्वेदीजी के पास पहुंचा और कहा कि मैं भूकंप-पीड़ित व्यक्ति हूं। मेरे घर के सभी लोग दीवार के नीचे दब कर मर गए हैं, मेरी मदद कीजिए। चतुर्वेदीजी ने तुरन्त खादी भंडार से धोती, तैयार कुर्ता आदि मंगवाकर उसको दे दिये और राजेन्द्रबाबू को विशेष सहायता देने के लिए पत्र लिखा। उस पत्र को राजेन्द्रबाबू ने उस आदमी का पता लगाने के लिए बेनीपुरीजी के पास भेज दिया। जांच-पड़ताल से मालूम हुआ कि उसके परिवार के सभी लोग जीवित हैं और वह भूकंप पीड़ित नहीं है।

कलकत्ता में जिन दिनों चतुर्वेदीजी एमहर्स्ट स्ट्रीट में रहते थे उन दिनों बर्तनी नाम की एक बूढ़ी कुंजड़िन नारंगी बेचने आती थी। एक दिन चतुर्वेदीजी ने उससे बातें कीं, तो पता चला कि वह बड़ी मुसीबत में है। उसके दुःख से विगलित हो कर चतुर्वेदीजी ने उसका जो स्कैच लिखा, वह हृदय को द्रवित कर देता है।

दुःख से संतप्त जाने कितने व्यक्तियों को अपनी लेखनी के बल से चतुर्वेदीजी ने शीतल छाया प्रदान की है। उनका हृदय बड़ा स्पन्दनशील है। दूसरों के कष्ट निवारण में ही उनको शान्ति मिलती है।

चतुर्वेदीजी ने अनेक संस्थाओं का निर्माण किया। जब वह राज्य-सभा के सदस्य होकर दिल्ली आये तो वहां हिन्दी भवन की स्थापना की। सन १९५४ में नई दिल्ली में भारत सरकार से दो कमरे किराये पर लेकर 'हिन्दी-भवन' का कार्य चालू हुआ। एक कमरे में बहुत अच्छा-पुस्तकालय था, दूसरा कमरा सभाओं

के लिए था। उस कमरे में विभिन्न भाषा-भाषियों की साहित्यिक गोष्ठियां होती थीं। विदेशी विद्वानों के स्वागत-समारोह और भाषण कराये जाते थे। अन्य साहित्यिक कार्य होते थे। इन दो कमरों का तीन हजार वार्षिक किराया भारत सरकार को देना पड़ता था। स्टेशनरी, कर्मचारी-वेतन, फर्नीचर तथा पुस्तक खरीद आदि के खर्च अलग थे। दस रुपये हिन्दी-भवन का सदस्यता शुल्क था। आमदनी बहुत ही सीमित थी। चतुर्वेदीजी अपने प्रभाव का उपयोग करके अन्य प्रान्तों से भी सहायता ले लेतें थे। हिन्दी-भवन के संचालन के लिए उनका बहुत-सा समय आर्थिक प्रयत्नों में खर्चा हो जाता था। भारत सरकार का कर्तव्य था कि वह उस लोकोपयोगी संस्था को भरपूर सहायता देती, लेकिन जितना अनुदान वह देती, उससे अधिक किराये में ही ले लेती थी। उन दिनों भारत सरकार के शिक्षा मंत्री श्रीमालीजी थे। अनेकों बार चतुर्वेदीजी उनके पास गये। पत्र-व्यवहार के द्वारा निवेदन किया, लेकिन दो हजार वार्षिक से अधिक उन्होंने कभी नहीं दिया। आर्थिक कठिनाई के कारण 'हिन्दी-भवन' के बन्द हो जाने की संभावना से चिन्तित होकर चतुर्वेदीजी कई रात सो नहीं सके। उन्हीं दिनों में उन्होंने अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हुए बड़े महत्वपूर्ण पद्य लिखे :

सोलह महीना ह्वै गये, मिली न एक छदाम,
कैसे 'हिन्दी-भवन' कौ चलै बतावहु काम।
उपवन सूखौ जात यह, बिन पानी, बिन खाद,
श्रीमालीजी कौं करत, नित गरीब यह याद।
हाथ जोरि विनती यही, क्षमहु सकल मम पाप,
करि वर्षा निज कृपा की, प्रानहु बचावहु आप।

लेकिन सरकार ने हिन्दी भवन का महत्व नहीं समझा और यह संस्था हमेशा आर्थिक कठिनाई में ही रही।

चतुर्वेदीजी दूसरों के व्यक्तित्व के विकास में सदा आनन्द लेते हैं। मुझे अंग्रेजी के शब्दों के हिज्जे और अर्थ बतलाते और याद कर लेने के लिए जोर देते। मुझसे कहते कि रोजमर्रा के व्यवहार में आनेवाले अंग्रेजी शब्दों को सीखते जाओ। इस तरह अंग्रेजी सीख लोगे। अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। उसमें साहित्य है। पढ़ने से विकास होगा और तुम्हारा हीनभाव भी नष्ट होगा।

चतुर्वेदीजी ने हिन्दी साहित्य जगत में बहुत से सुयोग्य लेखक-लेखिकाओं को पैदा किया है। कितनों को पत्रकार बनाया और बहुत से नवीन लेखकों के व्यक्तित्व के विकास में मदद पहुंचाई। उनकी पत्रकारिता में मिशनरी भावना है। वह अपने संसर्ग में आनेवाले लेखकों को सदा प्रोत्साहन देते हैं। नवीन लेखकों को बतलाते रहते हैं कि कैसे क्या लिखना है। उन्हें समझाते हैं कि दुखितों-पीड़ितों से बातचीत करो। सहस्रों स्त्री-पुरुष हमारे चारों ओर रह रहे हैं। उनके जीवन का सहानुभूति के साथ अध्ययन करो। मूक दुखित-पीड़ितों को वाणी दो। इनकी सच्ची करुण कथाओं को लिपिबद्ध करो। प्रसिद्ध व्यक्तियों पर लिखते रहना चौबों को मिठाई खिलाने के समान है। वह दूसरों की कीर्ति को फैलाने में रस लेते हैं। लेखकों की सेवा में अद्‌भुत आनन्द अनुभव करते हैं। इसी विषय की उनकी एक प्रेरणादायक रचना देखिये :

नित नूतन प्रसून जहां न खिले,
उपवन वह कभी का सो चुका है।
परकीर्ति से जो न प्रफुल्लित हो,
निज कीर्ति को वह सब धो चुका है।

फंसना जिसे प्रेम में आया नहीं,
उल्लास जो अपना खो चुका है,
बुड्ढा वह खूसट हो चुका है,
यौवन अपने को डुबो चुका है।

चतुर्वेदीजी प्रतिदिन इतनी चिट्ठियां लिखते हैं कि पचास रुपये मासिक पोस्टेज में खर्च हो जाते हैं। किसी नये आदमी को भी चतुर्वेदीजी इस तरह पत्र लिखते हैं, मानो वर्षों से जान-पहचान हो। परिचित-अपरिचित, शत्रु-मित्र, सबको आत्मीयता के साथ चिट्ठी लिखते हैं।

चतुर्वेदीजी हड़बड़ी में कोई कार्य करना पसन्द नहीं करते। पंडित जवाहरलाल नेहरू, महापंडित राहुल सांकृत्यायन आदि अत्यधिक कार्य करने वालों के विषय में कहा करते थे––ये लोग व्यर्थ ही अपने को मारे डालते हैं।

एक बार इस संबंध में एक तुकबंदी कर डाली :

आज करो सो काल करो, काल करो सो परसों,
जल्दी जल्दी क्या पड़ी है, अभी पड़े हैं बरसों।।

कहते थे, बाबा मलूकदास का आदर्श सामने रक्खो, जिन्होंने कहा था :

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम।।

बाबा मलूकदास की एक बड़ी तस्वीर उन्होंने हिन्दी-भवन और एक अपने कमरे में भी लगा रखी थी।

चतुर्वेदीजी के साथ सोलह वर्ष रहा, लेकिन मैंने उन्हें हमेशा अभावग्रस्त पाया। जिन दिनों राज्य-सभा के सदस्य थे, उन दिनों भी देखा कि बैंक में खाता खुलवाते और तीन महीने के बाद ही सारे रुपये निकाल लेने के कारण खाता बन्द हो जाता। वह फिजूलखर्च नहीं हैं। पर पैसे जोड़ना उनके स्वभाव के विरुद्ध है।

ऐसे व्यक्ति आज के युगों में बहुत थोड़े हैं। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि चतुर्वेदीजी शतंजीवी हों। ●

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

सत्पुरुष

●

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्ण—
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुण परमाणून् पर्वती कृत्य नित्यम्।
निज हृदि विकसन्त सन्ति सन्तः कियन्तः।।
(भर्तृहरि शतक)

जो मन से, वाणी से, शरीर से प्रेमामृत द्वारा त्रिभुवन के उपकार रूपी श्रेणियों को सिंचन

करते रहते हैं, दूसरों के परमाणु मात्र छोटे से गुणों को भी पर्वत के समान बड़ा करके अपने हृदय में विकसित करते रहते हैं, ऐसे सज्जन पुरुष संसार में कितने हैं ? अर्थात् बहुत ही थोड़े हैं।

भर्तृहरिजी ने चार प्रकार के लोग बताये हैं। एक तो सत्पुरुष—

सत्पुरुष वे कहलाते हैं, जो परोपकार के लिए अपने निज के स्वार्थों का त्याग कर देते हैं। जैसे दधीचिमुनि ने देवताओं के संकट टालने को अपने शरीर की हड्डियां दे डालीं। दूसरे पुरुषों की संज्ञा उन्होंने सामान्य पुरुष कह कर दी है। सामान्य पुरुष वे होते हैं, जो अपने स्वार्थ की रक्षा करते हुए यथाशक्ति दूसरों का उपकार करते रहते हैं। जानबूझकर किसी का अपकार नहीं करते। तीसरी श्रेणी के लोगों की संज्ञा उन्होंने राक्षस पुरुष कह कर दी है। राक्षस पुरुष वे कहलाते हैं, जो अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों का अहित करते रहते हैं। एक चौथे प्रकार के भी पुरुष होते हैं, जिनका अपना कोई स्वार्थ भी नहीं होता, फिर भी अपना अहित करके भी दूसरों को हानि ही पहुंचाते रहते हैं। अपनी नाक भले ही कट जाय किन्तु दूसरों का अशकुन हो जाय। भर्तृहरि कहते हैं, उनको मैं कौन-सा नाम दूँ, किन्तु किस नाम से संबोधन करूं, इसे मैं नहीं जानता (ते केन जानीमहे)।

जिनका समस्त जीवन सतत परोपकार में ही लगा रहता है, ऐसे पुरुष संसार में विरले ही होते हैं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी उन्हीं सत्पुरुषों में से हैं।

अपनी जन्मभूमि के समीप के ही होने के कारण हम बाल्यकाल से चतुर्वेदीजी का नाम सुनते रहते थे। हमारे बाल्यकाल में मारीशस, फीजी इत्यादि के लिए धोखा दे कर कुली भर्ती किये जाते थे। गोरों को वहां खेती कराने के लिए कुलियों की आवश्यकता होती थी। अपने कुटुम्ब-परिवार के लोगों को छोड़ कर स्वेच्छा से सात समुन्दर पार भला कौन जाने लगा ! अतः अंग्रेजों के कुछ ऐसे एजेंट गरीब नौकरी की खोज में इधर-उधर घूमने वाले लोगों को सब्ज बाग दिखाकर बहका ले जाते, पीछे वहां जाने पर उनका करुणापूर्ण पत्र आता। उसमें गोरे किसानों के किये अत्याचारों का वर्णन पढ़ते तो हम लोग कहते, हाय ! वह मिरच देश को भर्ती होकर चला गया। हिरनगौ जिला आगरे के निवासी एक ब्राह्मण भी फीजी देश चले गये। अनपढ़ थे। सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनका नाम था तोताराम सनाढ्य। एक वर्ष बाद वह फीजी से लौट कर अपने देश में आये और फीरोजाबाद रहने लगे। वे पढ़े-लिखे तो थे नहीं। हमारे चतुर्वेदीजी ने उनका सब वर्णन सुनकर उनके नाम से एक पुस्तक छपाई 'फीजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष'। वह पुस्तक बड़ी लोकप्रिय हुई। उससे इस देश में बड़ा तहलका मच गया। उन दिनों चतुर्वेदीजी प्रवासी भारतवासियों के ही सम्बन्ध के लेख समाचार-पत्रों में लिखा करते थे। बापू के बाद दीनबन्धु एन्ड्रयूज और चतुर्वेदीजी प्रवासी भारतवासियों के सबसे बड़े हितैषी संरक्षक समझे जाते थे। हम चतुर्वेदीजी का नाम-ही-नाम सुनते थे, उनके दर्शन नहीं हुए थे। हम उनके दर्शनों को बड़े उत्सुक थे। संयोग से बनारसीदासजी के सर्वप्रथम दर्शन हमें बनारस में ही हुए। उन दिनों मैं बनारस के भारत धर्म महामंडल की मुख पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' का प्रधान संपादक था।

बात यह हुई कि सन '२१ के असहयोग आंदोलन में हम खुरजा (जिला बुलंदशहर) से पकड़े गये। आगे चलकर फैज़ाबाद से हम तीन आदमियों को राजनैतिक बंदियों से निकालकर लखनऊ भेजा गया। एक स्वामी सहजानंद, दूसरे रफी अहमद किदवई और तीसरा मैं। संयोग की बात कि जिस बैरिक में स्पेशल क्लास के बनारसी लोग थे, उसी में मुझे स्थान मिला। बनारस के बाबू संपूर्णानंदजी भी थे। मेरी सीट बाबू संपूर्णानंदजी के समीप ही थी। बाबूजी बड़े आध्यात्मिक पुरुष थे। मुझसे अत्यधिक स्नेह रखने लगे।

चतुर्वेदीजी उनके साथ राजकुमार कालेज में अध्यापक थे। उन दिनों वह काशी ज्ञानमंडल से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'मर्यादा' के प्रधान संपादक थे। उनके जेल आने पर प्रेमचन्दजी उसका संपादन करते थे। उसमें हमारे चतुर्वेदीजी के भी लेख छपते थे। चतुर्वेदीजी उनके घनिष्ठ मित्रों में से थे। उनके सम्बन्ध में वे मुझे बताते रहते थे। जेल से छूटने पर इन बनारसी बन्धुओं की कृपा से मैं बनारस आ गया और कुछ दिनों के लिए बनारसवासी बन गया। यह शायद सन '२२ की बात होगी। 'मर्यादा' का एक 'प्रवासी अंक' नाम से विशेषांक निकलने वाला था। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी उसके विशेष संपादक होकर बनारस आये थे। बा० संपूर्णानंदजी के घर उन दिनों हमारी दैनिक गोष्ठी होती थी। चतुर्वेदीजी बा० संपूर्णानंदजी के ही घर ठहरे थे। तभी मेरा उनसे सर्वप्रथम साक्षात्कार हुआ। हमने देखा, हजामत बढ़ी हुई, ढीलाढाला सेकसिल्लियों का-सा कुरता पहने; बिलकुल साधारण वेश, खादी की टोपी। परन्तु उनकी इस सादगी और सरलता से मुझे प्रसन्नता हुई। मैं समझता था, इतना प्रसिद्ध व्यक्ति खूब ठाटबाट से रहता होगा। किन्तु वह तो साधारण-से-साधारण आदमी की भांति रहते थे।

इसके पश्चात कई स्थानों पर उनसे भेंट हुई। कभी सम्पादकों के साथ, कभी हिन्दी साहित्य सम्मेलनों के अधिवेशनों में, किन्तु विशेष घनिष्ठता नहीं होने पायी। विशेष घनिष्ठता तो हमारे गोरक्षा अनशन के पश्चात हुई। पं० हरिशंकर शर्मा हमसे अत्यधिक स्नेह रखते थे। पंडित हरिशंकर शर्मा चतुर्वेदीजी के घनिष्ठ मित्रों में से थे। शर्माजी को वे अपना बड़ा भाई मानते थे। मेरा विचार अपने वृन्दावन के संकीर्तन-भवन से 'भव्य भारत' नाम का साप्ताहिक पत्र निकालने का था। हरिशंकरजी उसी सम्बन्ध में चतुर्वेदीजी को लेकर वृन्दावन संकीर्तन भवन में आकर कई दिन रहे। यमुना के उस पार जो हमारा ५० एकड़ भूमि में गौलोक है उसे देख कर चतुर्वेदीजी अत्यंत प्रभावित हुए। उन दिनों पूरी भूमि में गेहूं की खेती लहरा रही थी। चतुर्वेदीजी ने इस पर आगरे के 'अमर उजाला' में एक लेख लिखा था कि ब्रह्मचारीजी की अपेक्षा मैं उनकी लहलहाती खेती रूपी प्रत्यक्ष कविता को देख कर अत्यंत प्रभावित हुआ। इसके पश्चात मैं फीरोज़ाबाद उनके घर में भी गया। वहां मैंने देखा। स्थान-स्थान पर उन्होंने साहित्यकारों, बलिदानियों के बड़े-बड़े चित्र लगा रखे हैं। देशी-विदेशी विद्वानों, कवियों, नेताओं, साहित्यकारों के ग्रंथों का अपार संग्रह है। प्रसिद्ध पुरुषों के पत्रों के पुलिन्दे-के-पुलिन्दे प्रस्तुत हैं। महात्मा गांधीजी के जितने पत्रों का संग्रह उनके पास है, शायद दस-बारह व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी के भी पास न होगा। वह सदा सर्वदा बलिदानियों-शहीदों के श्राद्ध में संलग्न रहते हैं। अनेक अभिनंदन और स्मृति-ग्रंथों का उन्होंने संपादन किया है। कितने लोगों की कीर्ति, कृति तथा जीवनी को उन्होंने जीवनदान दिया। ऐसे लोग अब इस स्वार्थमय कलिकाल में कहां मिलते हैं, जो दूसरों को ही अमर बनाने में व्यग्र बने रहें। सत्यनारायणजी को साहित्य-संसार में इतना ऊंचा स्थान चतुर्वेदीजी ने ही दिलाया है। किन-किन का नाम गिनाऊं, चतुर्वेदीजी का जिनसे तनिक भी संपर्क रहा, उसी को अमर बनाने में वह जुट गये। ऐसे मानव चतुर्वेदीजी का सम्मान साहित्य-संसार में अवश्य होना चाहिए। उनके संबंध में अधिक न लिखकर मैं परमपिता परमात्मा के पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रार्थना करता हूं :

बंधु बनारसीदास फिरोजाबाद निवासी।
शशि-साहित्य-समुद्र नन्द जगभोग उदासी।।
ब्रजबल्लभ ब्रजचन्द्र नन्द नन्दन सुखरासी।
करें कृपा की ओर जानि निज जन ब्रजवासी।।

मंगल अनुशासन करहुं, तिनि अभिनन्दन ग्रंथ में।
चिरजीवैं नित नित बढ़ैं, प्रेम प्रवाहित पंथ में।।

विद्याशङ्कर शर्मा

जवाकुसुम की महक

कई वर्ष पहले की बात है। दादाजी घर पर ठहरे हुए थे। जाने को हुए तो उनका बिस्तर बांधने की तैयारी करने लगा। इसी समय मेरी बड़ी लड़की मधु, जो उस समय बहुत छोटी थी, आ खड़ी हुई और बिस्तर बांधने में मेरी सहायता करने लगी। रजाई-गद्दा, चादर, रुई का कोट, मैले कुरते-पाजामे बिस्तर में लगा दिये तो मधु खाट पर से दादाजी का तकिया उठा लायी। तेल से चीकट तकिये को देखकर पहले तो उसने नाक-भौं सिकोड़ी, फिर उसमें बसी सुगन्ध सूंघ कर बोली—"इसमें तो बड़ी खुशबू आ रही है। किस की खुशबू है?" मैंने कहा—"जो बाबा आये हैं, वह जवाकुसुम का तेल सिर में लगाते हैं। उसी की यह सुगन्ध है।" बिटिया बोली—"इतना तेल लगाते हैं कि तकिया काला (चीकट) पड़ गया है!" मैंने कहा, "हां, इतना ही लगाते हैं।" बिस्तर बंध गया, दादाजी चले गये; लेकिन दादाजी के साथ मधु को 'जवाकुसुम' का नाम याद हो गया। नाम ही याद नहीं हो गया, जवाकुसुम के साथ उसने दादाजी को भी जोड़ लिया। उसके लिए, अब दादाजी 'जवाकुसुम वाले बाबा' बन गये और इसी नाम से वह उन्हें याद करने लगी। अब बड़ी हो गयी है, तब भी उसे दादाजी को जवाकुसुम वाले बाबा कहना अच्छा लगता है।

दादाजी को 'जवाकुसुम' तेल बहुत पसन्द है। पिछले ४२ वर्षों से वह इसका प्रयोग कर रहे हैं। जब इसकी कीमत १॥ रु० थी, तब भी इस्तेमाल करते थे, और अब ज़ब लगभग ९ रु० में इसकी शीशी आती है, तब भी प्रयोग करते हैं। जवाकुसुम की दर्जनों क्या, सैकड़ों शीशियां खाली कर चुके होंगे। सुबह भी लगाते हैं और रात में भी। बिना लगाये चैन नहीं मिलता; अच्छी तरह नींद नहीं आती। उनके स्वास्थ्य-प्रसाधन की यह अनिवार्य वस्तु है। इतने महंगे जवाकुसुम तेल की 'लक्ज़री' का उपयोग करते देख प्रगतिशील कवि नागार्जुन ने विनोद में दादाजी को 'बूर्जुआ' साहित्यकार मानकर लिखा था—'सिर में जवाकुसुम मलवाते।...

दादाजी और 'जवाकुसुम' का साथ ऐसा जुड़ गया है कि इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। जवाकुसुम के साथ दादाजी याद आते हैं, और उसकी भीनी-भीनी, मंद-मधुर महक के साथ सहृदय-संवेदनशील साहित्यकार पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के उन भले कामों की महक आने लगती है, जो उन्होंने अब तक के अपने लम्बे साहित्यिक जीवन में स्वयं किये या दूसरों से कराये हैं।

साहित्य-क्षेत्र में आत्म-केन्द्रित और आत्माभिमानी व्यक्तित्व वाले लोगों की कमी नहीं है। अपनी ही प्रसिद्धि और अपने ही लाभ की चिन्ता करने वाले साहित्यकारों से दादाजी एकदम भिन्न हैं। अपने

सेवक, सहकर्मियों, सहायकों के लिए ही वह सहृदय नहीं हैं, उनकी सहृदयता का लाभ, अनेक प्रकार से उन बहुत से संघर्षशील एवं अल्प प्रसिद्धि प्राप्त साहित्य-सेवियों को भी मिलता रहा है, जिनकी सुधि लेने वाले बहुत कम हैं। और, देश के लिए जान न्यौछावर करने वाले शहीदों तथा उनके आश्रयहीन परिवारी-जनों की जितनी चिन्ता पिछले बीस वर्षों से दादाजी करते आ रहे हैं, उतनी शायद ही किसी एक व्यक्ति ने की होगी। ७६ वर्ष की आयु में जब वह शरीर से काफी थक चुके हैं, शहीदों का काम अब भी उनका 'मिशन' बना हुआ है। अभी कुछ माह पूर्व, आगरा के अस्पताल में बीमार पड़े हुए भी, उन्हें शहीदों की चिंता लगी हुई थी। ऑपरेशन में न मालूम क्या हो, शायद यह सोचकर, अस्पताल के बिस्तर पर ही, उन्होंने 'व्रत का समापन' शीर्षक से एक लेख लिखकर 'सैनिक' में प्रकाशनार्थ इस नोट के साथ मेरे पास भेजा कि—"बस, अब मैं लिखने-पढ़ने से विश्राम ले रहा हूं। यह लेख ऑपरेशन से पूर्व छप जाय तो मुझे सन्तोष होगा।" लेख छप गया, ऑपरेशन भी ठीक हो गया। लेकिन दादाजी के 'व्रत का समापन' सार्वजनिक घोषणा के बाद भी नहीं हुआ। ऑपरेशन के थोड़े दिनों बाद, अस्पताल में ही शहीदों के काम का व्रत फिर आरम्भ हो गया। शहीद अशफ़ाकुल्ला की जीवनी छपानी है; बाबा पृथ्वीसिंह आज़ाद के संस्मरण प्रकाशित करने हैं; 'युवक' के शहीद अंक के लिये कुछ और सामग्री भेजनी है—ये सब काम ऑपरेशन के आठ दिन बाद ही, फिर शुरू हो गये। शहीदों के काम के व्रत के समापन के साथ ही दादाजी ने अपनी कई चिट्ठियों में, स्वास्थ्य-लाभ की दृष्टि से, लिखने-पढ़ने से विश्राम लेने की घोषणा की थी, लेकिन अपनी इस घोषणा पर भी वह कायम नहीं रह सके। ५ सितम्बर को पिताजी (स्वर्गीय डा० हरिशंकर शर्मा) का जन्म-दिवस मनाने के लिए हमने घर पर एक आयोजन करने का निश्चय किया था। उससे कुछ दिन पूर्व मैं अस्पताल में दादाजी की सेवा में उपस्थित हुआ। बातचीत के दौरान पिताजी के जन्म-दिवस-आयोजन की बात भी उन्हें बतायी। दूसरे दिन, बहुत सवेरे उठ कर, एक करवट से लेटे-लेटे, पिताजी के संबंध में एक लेख अपने हाथ से लिखकर उन्होंने मेरे पास इस आदेश के साथ भेज दिया कि इसे आज ही टाइप कराकर फलां-फलां अखबार में छपने भेज दूं—"यह लेख हरिशंकरजी के प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि है।" अस्पताल में, ऑपरेशन के बाद, जब पेशाब की नली पेट से जुड़ी हुई थी, तब भी दादाजी का लिखने-पढ़ने का काम जारी था! शहीदों के काम का समापन हो गया है, अथवा लिखने-पढ़ने के काम से उन्होंने विश्राम ले लिया है, कौन विश्वास करेगा!

हिन्दी के अनेक संघर्षशील लेखक और पत्रकार दादाजी की सहज सहानुभूति प्राप्त करते रहे हैं। इनके लिए वह जितना स्वयं कर सकते हैं, उसके अतिरिक्त दूसरों से भी सहायता दिलाने की चेष्टा करते हैं। ऐसे अनेक व्यक्यियों के नाम गिनाये जा सकते हैं, जिन्हें दादाजी ने लोगों से कह-सुनकर या चिट्ठियां लिख कर सहायता दिलाई। साल भर पहले आगरा के कुष्टाश्रम में संस्कृत के एक पंडित मथुरादत्त शास्त्री इलाज के लिए भर्ती थे। उनके बारे में दादाजी ने कितने ही लोगों से चर्चा की और बीसियों पत्र भी लिखे। शास्त्रीजी से 'आपबीती' लिखा कर पहले उसे 'सैनिक' में प्रकाशित कराया, बाद में एक पुस्तिका भी निकलवा दी। इधर-उधर से आर्थिक सहायता भी भिजवाई। कुष्ट-पीड़ित और संघर्षशील व्यक्तियों के लिए दादाजी के दिल में स्नेह, सहानुभूति, संवेदना और सहायता का सागर सदैव लहराता रहता है। उनकी इसी विशेषता से प्रेरित होकर, कई वर्ष पहले, दादाजी के एक जन्म-दिवस पर, सुविख्यात कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने एक कविता लिखकर उन्हें अर्पित की थी, जिसकी चार पंक्तियां मुझे याद रह गयी हैं:

जो भी चाहे फसल उगाले,
तू जलधार बहाता चल।
जिसका भी घर चमक उठे,
तू मुक्त प्रकाश बहाता चल।

दिनकरजी की यह कविता दादाजी के उदार हृदय, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार एवं उद्देश्यपूर्ण जीवन की प्रशस्ति है।

संघर्षशील लेखकों के अतिरिक्त हिंदी के लगभग दो दर्जन प्रसिद्धि-प्राप्त लेखक, कवि और पत्रकार ऐसे मिल जायंगे, जो मुख्यतः दादाजी के प्रोत्साहन से आगे बढ़े हैं अथवा जिन्होंने दादाजी के 'विशाल भारत' के माध्यम से साहित्य-क्षेत्र में स्थान प्राप्त किया है। इनमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री रामधारीसिंह 'दिनकर', श्री जैनेन्द्रकुमार, श्रीअज्ञेय, श्रीचंद्रगुप्त विद्यालंकार, श्रीदेवेन्द्र सत्यार्थी, श्री यशपाल, श्रीमती सत्यवती मल्लिक, श्रीमती कमला चौधरी आदि के नामों का उल्लेख मज़े में किया जा सकता है। दिवंगत साहित्यकारों में स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, स्व० पं० श्रीराम शर्मा स्वयं को दादाजी और 'विशाल भारत' का ऋणी मानते रहे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने डी०लिट्० की उपाधि प्राप्त करते समय जिन तीन व्यक्तियों को गुरु रूप में स्मरण किया, उनमें पं० बनारसीदास चतुर्वेदी भी एक थे। स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कहा करते थे कि हिन्दी के क्षेत्र में मुझे चौबेजी ने ही 'उछाला'।

दादाजी के सम्पादनकाल में 'विशाल भारत' हिंदी मासिक पत्रों का सिरमौर बना हुआ था। नये लेखक 'विशाल भारत' में दो-तीन रचनाएं छपाकर ही 'स्टेटस' प्राप्त कर लेते थे। 'विशाल भारत' में, घासलेटी साहित्य के ऊपर छिड़े विवाद के कारण, स्वर्गीय पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' दादाजी के अत्यन्त कटु आलोचक, कुछ अंशों में 'निन्दक' भी, बन गये थे। लेकिन अपनी गुणग्राहकता का प्रचुर परिचय देते हुए उन्होंने एक जगह लिखा था—"चतुर्वेदीजी बनारसीदास से मेरे हज़ार-हज़ार 'उग्र' विवाद रहे हों, लेकिन यह कहना ही पड़ता है कि उनके सम्पादकत्व में जैसा 'विशाल भारत' निकला, वैसा अब तक कोई दूसरा मासिक दिखायी नहीं दिया।" 'विशाल भारत' में एक लेख की कड़ी आलोचना होने पर महाकवि निराला भी चौबेजी के कटु आलोचक बन गये थे, लेकिन अंदर से वह उनके काम के महत्त्व को जानते थे। डा० रामविलास शर्मा बताते हैं कि जब पी-एच० डी० के शोध के सिलसिले में सन १९३६ या ३७ में उन्हें लखनऊ से कलकत्ता जाना हुआ, तो निरालाजी ने उनसे कहा था—"कलकत्ते में चतुर्वेदीजी से ज़रूर मिलना। उन्होंने हिन्दी के लिए बड़ा काम किया है।" वास्तव में, दादाजी ने हिन्दी के लिए बहुत कुछ किया है। प्रतिभाशाली लेखकों को प्रेरणा देकर आगे बढ़ाने का काम रहा हो या जनपदीय आन्दोलन को आगे बढ़ाने का, पत्रकारों की दशा सुधारने की बात रही हो या जगह-जगह हिंदी भवन स्थापित कराने की, दादाजी हिंदी के हित के काम में सदैव अग्रणी रहे हैं। दिल्ली में हिन्दी भवन स्थापित कराने में तो उन्होंने अपने निज के लगभग तीन हज़ार रु० खर्च कर डाले थे। शान्तिनिकेतन का हिंदी भवन, साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद में सत्यनारायण कुटीर, टीकमगढ़ का संग्रहालय दादाजी की प्रेरणा और प्रयास के जीते-जागते उदाहरण हैं।

... ...

दादाजी का शंकर-परिवार की चार पीढ़ियों से सम्पर्क रहा है। वह हमारे पितामह (स्वर्गीय महाकवि नाथूराम शर्मा 'शंकर') से परिचित थे, पिताजी के अभिन्न मित्र रहे हैं, हम तीनों भाइयों को वे अपना शिष्य

मानते हैं और चौथी पीढ़ी के बच्चों पर भी पितामह जैसा उनका स्नेह है, उन्हें भी लिखने-पढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं।

दादाजी अपने छोटे भाई स्व० डा० रामनारायण चतुर्वेदी के साथ सन १९२५ में पितामह के दर्शन करने हरदुआगंज पहुंचे थे। पितामह की डायरी के एक पृष्ठ पर अंकित है:

बुध बनारसीदास चतुर्वेदी चल घर से,
प्रेम पसार सबन्धु मिले आकर शंकर से।
तरुण-वृद्ध का योग, मिली यों गरमी-सरदी,
सरस अनुष्णाशीत शक्ति समता में भरदी।
कर दूर दुरंगी द्वैध की अटल एकता होगयी,
हरिशंकर के भी पास वह उमग आगरा को गई।

पिताजी के साथ दादाजी का ४५ वर्ष तक अत्यन्त घनिष्ट, हार्दिक और सौहार्द्रपूर्ण संबंध रहा। पिताजी जीवित होते तो इस ग्रन्थ में दादाजी के साथ अपने दीर्घकालीन स्नेह-संबंधों की विशद चर्चा ही न करते, बल्कि ग्रन्थ-सम्पादन की तीन-चौथाई जिम्मेदारी खुशी-खुशी अपने ऊपर ले लेते।

दादाजी सन १९२३ के आसपास पिताजी के सम्पर्क में आये थे। यह सम्पर्क बढ़कर शीघ्र ही प्रगाढ़ साहित्यिक मैत्री में परिवर्तित हो गया। पिताजी अन्त तक दादाजी को अपना परम स्नेही मित्र मानते रहे, और दादाजी भी उन्हें इसी रूप में मानते थे। दोनों ही सम्पादकाचार्य स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा के शिष्य और विशेष कृपापात्र रहे। आचार्यजी के प्रति समान श्रद्धा-भाव दोनों के मैत्री-संबंधों को और अधिक बल प्रदान करता रहा।

सन १९२७ में दादाजी साबरमती आश्रम का काम छोड़कर आगरा आ गये। पिताजी उन दिनों 'आर्यमित्र' के संपादक थे। दादाजी 'आर्यमित्र' में उनके सहकारी और सहयोगी बन गये। उन दिनों वे पिताजी के साथ एक ही मकान में रहते थे। मकान में जगह होने के कारण पिताजी के एक-दो प्रोफेसर मित्र भी उनके साथ रहने लगे थे। किसी के साथ गिरस्ती नहीं थी। एक रसोइया रहता था जो सब के लिए खाना बना देता था। दादाजी ने मकान का नाम 'ब्रह्मचर्य आश्रम' रख छोड़ा था। इसी 'आश्रम' में आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा तथा बाहर के दूसरे साहित्यकार भी आते-जाते और ठहरते थे। प्रायः हर समय साहित्य-समाज जुड़ा रहता था।

दादाजी जब 'आर्यमित्र' में काम कर रहे थे तभी उन्हें 'विशाल भारत' का सम्पादन करने के लिए 'आफ़र' प्राप्त हुआ था। वह आगरा छोड़कर कलकत्ता जाने को इच्छुक नहीं थे। पिताजी बताया करते थे कि उन्होंने ठेलठाल कर दादाजी को कलकत्ता भेजा था। 'विशाल भारत' के संपादक बनकर कलकत्ता जाना दादाजी के जीवन में एक नया मोड़ था। उनके संपादन में 'विशाल भारत' निकलते ही एकदम चमक गया। इसके माध्यम से जहां उन्हें प्रचुर मात्रा में यश और कीर्ति प्राप्त हुई, वहां हिन्दी का भी बड़ा हित हुआ।

दादाजी कलकत्ता रहे हों या टीकमगढ़ अथवा दिल्ली, आगरा वह बराबर आते-जाते रहे––फीरोज़ाबाद में घर होने के कारण। पिताजी के प्रेमवश वह अधिकतर उनके साथ, घर पर ही, ठहरते रहे। कभी-कभी ऐसा भी होता, दादाजी आगरा से राजामंडी स्टेशन होकर गुजरते और पहले से उनकी चिट्ठी आ जाती। पिताजी अपने कुछ मित्रों के साथ स्टेशन पर उनसे मिलने जाते और विनोद में उन्हें 'हिंदी के गुरु

गोलवलकर' कह कर पुकारते। दादाजी के साथ पिताजी की 'बेतकल्लुफी' थी, लेकिन उस स्तर पर नहीं, जिस पर स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', स्व० पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल तथा कुछ और लोग उनके साथ बरतते थे। मैंने नवीनजी और पालीवालजी को दादाजी से 'छेड़छाड़' करते देखा है, और कभी-कभी स्वर्गीय पं० श्रीराम शर्मा भी इनसे 'छूटपट्टी' का व्यवहार करते थे। 'बेतकल्लुफी' और 'छूटपट्टी' के संस्मरण लिखने का मैं अपने को अधिकारी नहीं मानता। वैसे, खुद दादाजी ही नवीनजी और पालीवालजी की छेड़छाड़ की बहुत-सी बातें लिखकर छपा चुके हैं।

पिताजी और दादाजी ने कई अवसरों पर मिलकर 'साहित्यिक श्राद्ध' करने का निश्चय किया। पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्रों के संग्रह तथा सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी में दोनों का योग-सहयोग रहा। लेकिन बहुत चाहने पर भी स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा की जीवनी नहीं लिखी जा सकी।

शंकर-परिवार और चतुर्वेदी-परिवार में परिवार जैसे सुखद संबंधों के फलस्वरूप हम तीनों भाई दादाजी के विशेष कृपा-पात्र रहे हैं। मुझे उनके निकट आने का अधिक अवसर प्राप्त हुआ है। सन १९५३ में कई माह दिल्ली में उनके साथ रहने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। उस समय वह संसद् के सदस्य थे ओर नॉर्थ एवेन्यू में रहते थे। जिस दिन पहुंचा उसके दूसरे दिन शाम को भ्रमण के लिए निकलने पर वे मुझे कनाट सर्कस के पास पुस्तकों की एक दूकान पर ले पहुंचे और दूकान के मालिक से मेरा परिचय कराते हुए कहा कि ये जब भी यहां कोई किताब पसंद करें, मेरे हिसाब में इन्हें दे दिया करें। एक बार एम्बेसी के 'रिसैप्शन' का अनुभव कराने की गरज से वह मुझे डा० भगवानदास माहौर तथा उनके एक सहयोगी को साथ लेकर रूसी दूतावास के स्वागत-समारोह में गये। यद्यपि वह स्वयं इस तरह के स्वागत-समारोहों में मुश्किल से ही कभी जाते-आते थे। उस शाम टेक्सी-भाड़े में हमारे लिए १०-१२ रु० खर्च कर डाले। कोई अच्छा अनुभव प्राप्त करने या दूसरों को कराने में खर्च की परवा वह ज़रा भी नहीं करते। एक दिन मुझे श्रीमती रुक्मिणी अरुंडेल से मुलाकात कराने ले गये और डा० अम्बेडकर से मेरा परिचय भी उन्होंने ही कराया था। 'हिंदी-भवन' की नई गोष्ठियों में उनके साथ जाने का सुअवसर मुझे मिला और 'साहित्य अकादमी' के स्थापना-समारोह के लिए मेरे लिए भी उन्होंने किसी से खास तौर से कहकर निमंत्रण मंगवाया था। दादाजी कभी-कभी सबेरे अपने साथ भ्रमण के लिए मुझे तालकटोरा गार्डन ले जाते। रास्ते में पुराने साहित्यकारों के संस्मरण सुनाते या स्वस्थ और सजीव बने रहने के लिए आवश्यक हिदायतें देते। तालकटोरा गार्डन से कुछ फूल चुन कर लौटते तो कभी-कभी यह आदेश भी देते कि ये फूल 'दद्दा' (स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त) को दे आओ; वह खुश होंगे। दद्दा से जाकर जब मैं यह कहता कि ये फूल दादाजी के कहने से लाया हूं तो वह गद्गद हो जाते।

दादाजी की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनों से छोटों—पुत्रवत या शिष्यवत व्यक्तियों—के साथ बहुत हद तक समानता का व्यवहार करते हैं। पिताजी से खुलकर बातचीत करने में हमें संकोच होता था, लेकिन दादाजी से कभी संकोच नहीं हुआ। इसका मूल कारण यह है कि दादाजी 'कामरेडशिप' में विश्वास करते हैं। स्वर्गीय डा० रांगेयराघव, जो गुपलेशजी (दादाजी के कनिष्ट पुत्र) से भी उम्र में छोटे थे, दादाजी के सामने सिगरेट पीते रहते थे। दादाजी ने इसका कभी बुरा नहीं माना। घर में भी मनमौजी स्वभाव के गुपलेशजी कभी-कभी 'चौबेपन' पर उतर कर जब हँसी-मजाक करने लगते हैं तो दादाजी उसमें अपना मनोरंजन समझते हैं। विनोद-प्रियता दादाजी में पर्याप्त रूप में विद्यमान है। इसका लाभ उनके सम्पर्क में आने वाले छोटे-बड़ों सब को मिलता है। स्वर्गीय पं० केदारनाथ भट्ट और पिताजी के साथ उनकी

खूब हंसी-दिल्लगी रहती थी। आगरा में हमारे घर या दिल्ली में दादाजी के यहां कोई-न-कोई 'जमूड़ा' बनता ही रहता था। नयी दिल्ली में स्वर्गीय श्री मैथिलीशरण गुप्त के निवास पर जुड़े समाज में, बराबर बीमार रहने वाले आचार्य नरेंद्रदेव जैसे श्रद्धेय व्यक्ति के लिए हँसी-मजाक के कुछ क्षण उपलब्ध कराने के लिए, दादाजी खुद ही, खुशी-खुशी, 'जमूड़ा' बनने को तैयार हो जाते थे। उन दिनों की यादें दादाजी को कम व्याकुल करने वाली नहीं हैं !

अपने साहित्यिक मित्रों में पिताजी स्वर्गीय पं० श्रीराम शर्मा और दादाजी को अपना परम आत्मीय मानते थे, और दिल खोलकर इनके साथ बातचीत करते थे। ४५ वर्ष की अवधि में पिताजी ने कोई ३०० पत्र दादाजी को भेजे थे, जो उनके पास सुरक्षित हैं। मेरा ख्याल है, इससे डचौढ़ी संख्या में दादाजी ने पिताजी को पत्र भेजे होंगे। इनमें कितने सुरक्षित हैं, मैं सम्हालकर गिनती नहीं कर पाया। पत्रों में साहित्य-चर्चा अधिक रहती थी, घरेलू बातें कम। लेकिन दादाजी के साथ घरेलू संबंध बराबर बने रहे। १० वर्ष पूर्व जब बड़े भाई डा० दयाशंकर शर्मा ने अपना मकान बनवा लिया तो पिताजी ने उसके उद्घाटन के लिए दादाजी को विशेष रूप से आमंत्रित किया था। वह अपने साथ पितामह (महाकवि शंकर) का एक बड़ा चित्र दिल्ली से बनवा कर लाये जिसका नवीन 'शंकर-सदन' में उन्होंने उद्घाटन किया। उसी दिन नये मकान में वृक्षारोपण भी हुआ। बाउन्ड्री के सहारे, एक कतार में जो अशोक के पौधे लगाये गये उनमें पहला दादाजी ने लगाया था और दूसरा स्वर्गीय पं० श्रीराम शर्मा ने। अन्तिम गुलमुहर का पौधा पिताजी ने लगाया था। १० वर्ष के अंदर ये पौधे बढ़कर अब पेड़ बन गये हैं। दादाजी के अशोक के पेड़ और पिताजी के गुलमुहर की अपनी विशेषता है। हरीतिमा से आच्छादित 'शंकर-सदन' इन दोनों की छत्र-छाया में अपने को धन्य मानता है। ●

शंकर प्रताप

प्रवासी भारतीयों के चिंतक

●

विदेश में निवास करनेवालों में कौन-सा ऐसा भारतीय होगा, जो पं० बनारसीदासजी का नाम सुनने से वंचित रहा हो।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के विषय में मुझे सर्वप्रथम १९२८ में 'मर्यादा' नामक मासिक पत्र के 'प्रवासी अंक' के पढ़ने से जानकारी प्राप्त हुई थी। इसका पण्डितजी ने स्वयं सम्पादन किया था। वास्तव में वह अंक १९२२ में प्रकाशित हुआ था। बाद में जब चतुर्वेदीजी ने 'विशाल भारत' का सम्पादन संभाला तभी से यह मासिक पत्रिका हमेशा पढ़ने को मिलती रही। उसमें प्रवासी भारतीयों के लिए एक विशेष स्तंभ रहता था। मुझे आज भी स्मरण है कि उन दिनों स्वामी भवानीदयाल संन्यासी पंडितजी की प्रवृत्तियों पर हमें पत्र लिखा करते थे।

यहां पर यह कहना न्यायसंगत होगा कि इससे पूर्व मुझे पं० बनारसीदास द्वारा लिखित 'फीजी द्वीप

में मेरे २१ वर्ष' नामक पुस्तक पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आज मैं यह बात दावे के साथ कह सकता हूं कि उसी पुस्तिका के फलस्वरूप भारत में शर्तबंदी प्रथा का अत्यधिक प्रचार हुआ था। परिणामस्वरूप प्रवासी भारतीयों के प्रति रुचि बढ़ाने वाले महानुभाव, जैसे पं० मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधीजी, रार्जाष गोखले, दीनबंधु एन्ड्रयूज, डा० मणिलाल, मैदान में आये, जिनके प्रबल आन्दोलन से शर्तबंदी प्रथा का अंत हुआ। उसके साथ-साथ मैं यह भी आत्म-विश्वास से कहूंगा कि शर्तबन्दी प्रथा के अंत का श्रेय पं० बनारसीदासजी को ही है। इस तरह सन १९१६ से शर्तबंदी के अंतर्गत भारतीयों का फीजी आना बन्द हुआ।

१९६२ से चतुर्वेदीजी से मेरा पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। उस समय मैं 'फीजी भारतीय सभा' का प्रधानमंत्री था। निस्सन्देह पं० बनारसीदासजी ने प्रवासी भारतीयों की महान सेवा की है और अपने जीवन के २२ वर्ष से अधिक का बहुमूल्य समय प्रवासी भारतीयों के लाभार्थ विभिन्न प्रवृत्तियों के संचालन में लगाया है। उसी दृष्टिकोण से मैंने 'फीजी भारतीय सभा' की ओर से चतुर्वेदीजी को फीजी पधारने के लिए आमंत्रित किया। चतुर्वेदीजी के तमाम खर्च को उठाने की इच्छा भी व्यक्त की थी, पर ता० २५-२-१९६२ के पत्र द्वारा उन्होंने सूचित किया––"अवश्य ही मेरे हृदय में फीजी के प्रति अभी भी प्रेम है, परंतु स्वास्थ्य की वर्तमान हालत में यात्राएं मेरे लिए कष्टप्रद होंगी। और सबसे मुख्य सवाल यह है कि किसी बूढ़े बैल पर क्यों पैसा खर्च किया जाय। आज नहीं तो कल, प्रवासी भारतीयों में इतनी अकल होगी कि वे सब मिल कर एक प्रवासी भवन दिल्ली में बनावें। अगर प्रवासी भाई मिलकर ऐसा काम करें तो मातृभूमि भारत के साथ उनके सम्बन्ध सुदृढ़ हो सकते हैं।" कितनी उच्च भावना थी! मातृभूमि की संतानों के लिए कितनी लगन! वंधुत्व की कितनी प्रबल कल्पना! चतुर्वेदीजी के उपरोक्त विचारों में उनके आदर्श, त्याग और प्रेम की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। बनारसीदासजी की इसी प्रभावशाली शैली ने मुझे उनकी ओर आकृष्ट किया। परिणामस्वरूप उसी समय से मेरा पत्र-व्यवहार चालू हुआ, जो आज तक चलता रहा है। चतुर्वेदीजी ने कई बार लिखा है कि दिल्ली में 'प्रवासी भवन' का निर्माण अवश्य होना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका से प्रकाशित 'हिन्दी' के दीपावली विशेषांक में चतुर्वेदीजी ने फिर यही बातें लिखी थीं कि प्रवासी भारतीयों को चाहिए कि वे मिलकर दिल्ली में प्रवासी भवन की स्थापना करें। इसी लेख को चतुर्वेदीजी ने सन १९२८ में 'विशाल भारत' में, दिसम्बर १९६४ में 'जीवन साहित्य' में और १९६४ के २२ नवंबर के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में पुनः प्रकाशित कराया।

चतुर्वेदीजी की प्रेरणा से ४ नवम्बर १९६४ को मैंने निम्न प्रस्ताव 'फीजी भारतीय नागरिक सभा' के सामने रखा, जो सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ:

"फीजी भारतीय नागरिक सभा दिल्ली में एक प्रवासी भवन निर्माण की योजना का सहर्ष स्वागत करती हुई ऐसे शुभ कार्य को प्रबल सहयोग प्रदान करती है और पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को ऐसी योजना तैयार करने के लिए बधाई देती है, जो प्रवासी भारतीयों के लिए अत्यन्त हितकर होगी। यह संस्था विदेश में स्थित भारतीयों से अपील करती है कि वे इस पुनीत योजना को अपनी सहायता पहुंचा कर सफल बनावें।"

प्रस्ताव की नकल मैंने अपने लेख के साथ विदेश में बसे मुख्य-मुख्य भारतीयों को भेज दी थी, ताकि वे इस बात की अनुभूति कर सकें कि प्रवासी भवन की स्थापनार्थ क्या-क्या प्रवृत्ति हो रही है।

१९६४ में मैं विलायत होकर दिल्ली पहुंचा। पं० बनारसीदास के आग्रह पर मैंने भारत सरकार

से प्रवासी भवन निर्माण के लिए जमीन की मांग की। फिर फीरोज़ाबाद गया। चतुर्वेदीजी के दर्शन करने की मेरे मन में वर्षों की अभिलाषा थी। जब वह अभिलाषा पूर्ण हुई तो मेरा हृदय आनंदोल्लास से झूम उठा। बड़ी धन्यता अनुभव हुई। उनके चरणस्पर्श से मेरा हृदय भर आया। प्रवासी भारतीयों की मौजूदा हालत और प्रवासी भवन के विषय में घंटों चर्चा करने के पश्चात मैं दिल्ली वापस आ गया। चतुर्वेदीजी के साथ 'प्रवासी भवन' के बारे में हुई चर्चा के बाद मैंने अपने मन में ठान लिया कि प्रवासी भारतीय भवन के निर्माण में मैं अपनी सारी शक्ति लगा दूंगा।

आज शायद ही कोई ऐसा हिंदी का साहित्यकार होगा, जिसके पास चतुर्वेदीजी के समान हिंदी-साहित्य का भंडार हो। १९१२ से लेकर जहां बनारसीदासजी निरंतर हिन्दी की सेवा करते आ रहे हैं, वहां उन्होंने कई लेख तथा पुस्तकें भी प्रवासी भारतीयों पर लिखी हैं।

इस बात को बहुत कम लोग जानते होंगे कि भारत की कांग्रेस पार्टी में विदेश-विभाग की स्थापना कराने में चतुर्वेदीजी का प्रमुख हाथ था। इसी तरह सन १९२४ में मथुरा में दयानन्द शताब्दी के अवसर पर उन्होंने ही प्रस्ताव रखा था कि आर्य सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रवासी भारतीयों के लिए आर्य समाज ने जो कार्य किया है, उसका संपूर्ण इतिहास लिखा जाय।

चतुर्वेदीजी इस बात से सर्वदा चिंतित रहते थे कि प्रवासी भारतीय अपनी समस्याओं की जानकारी हिंदी-समाचार-पत्रों को नहीं भेजते, और भारत में ऐसी कोई संस्था नहीं है, जो प्रवासी भारतीयों की समस्या पर विचार करे। सन १९५२ में बनारसीदासजी ने प्रधानमंत्री स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू के समक्ष उपस्थित होकर प्रवासी भारतीयों के विषय में विशेष चर्चा की थी। फीजी द्वीप का जिक्र आने पर पं० नेहरू ने कहा था कि एक ऐसी पुस्तक हिन्दी में तैयार होनी चाहिए, जिसमें पृष्ठभूमि फीजी की ही हो। इससे प्रतीत होता है कि पं० नेहरूजी के दिल में फीजी के प्रति कितना प्रेम था।

चतुर्वेदीजी को एक चीज का अभाव वर्षों से खटक रहा है। वह यह कि एक भी ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई, जिसमें फीजी प्रवासी भारतीयों की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति का विवरण हो।

चतुर्वेदीजी के बहुत से स्वप्न पूरे हो चुके हैं। मुझे आशा है कि प्रवासी भारतीयों से संबंधित उनका स्वप्न भी शीघ्र ही चरितार्थ होगा। ●

रामनारायण उपाध्याय

साहित्य तथा साहित्य-सेवियों के निर्माता

●

पिछली आधी शताब्दी से जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व समूचे पत्रकार-जगत पर भीष्मपितामह की तरह छाया हुआ है वे हैं पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी। मुझे उनके पहली बार दर्शन का अवसर सन ५२ में हाथरस में आयोजित अन्तर्जनपदीय परिषद के अधिवेशन में मिला। यह पहला सम्मेलन था, जिसमें राष्ट्रपति डा०

राजेन्द्रप्रसाद से लगाकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्रीरामनरेश त्रिपाठी, श्रीबनारसीदासजी, श्रीनारायणजी चतुर्वेदी, नवीनजी, देवेन्द्र सत्यार्थी और हिन्दी साहित्य एवं लोक-साहित्य के अनेकों विद्वान तथा साहित्य-साधक उपस्थित हुए थे।

सबके ठहरने की व्यवस्था एक विद्यालय में की गई थी, जहां सम्मेलन से पूर्व जमने वाली गोष्ठियों के कहकहे गूंजते रहते थे। श्री चतुर्वेदीजी अपनी सादी वेशभूषा और फक्कड़ स्वभाव के कारण दूर से ही पहचाने जा सकते थे। जवानों को भी लज्जित करने वाले उत्साह से वे हर आगन्तुक से मिलते। उसके ठहरने की व्यवस्था के बारे में पूछते, उसे सम्मेलन के कार्यक्रम से परिचित कराते और फिर एक जिज्ञासु विद्यार्थी की तरह उसके द्वारा किये गए खोज-शोध-कार्यों की जानकारी प्राप्त करते थे। अनेकों साहित्यिक संस्मरण उनकी जबान पर तैरते रहे हैं। वह जब कोई प्रसंग सुनाते तो ऐसा लगता, मानो कोई जीवित इतिहास चल रहा हो। एक दिन आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी से अपने सम्बन्धों का जिक्र करते हुए बोले :

"यदि कोई हमसे पूछे कि तुमने आचार्य हजारीप्रसादजी की किताबें पढ़ी हैं तो हम ईमानदारी से कहेंगे कि हमने स्वयं आचार्य हजारीप्रसादजी को पढ़ा है। हमने उनके जीवन को नजदीक से देखा है। आज जब हम उनका धारावाहिक भाषण सुन रहे थे तो हम उनकी ओर देखते ही रह गये। क्या यह वही द्विवेदीजी हैं, जिन्हें हम सन २८ से एक साथी की तरह जानते हैं! कैसा मर्मस्पर्शी विद्वत्तापूर्ण भाषण था, मानो कोई त्रिकालद्रष्टा ऋषि बोल रहा हो। हमें वह दिन भी याद है, जब एक बार द्विवेदीजी के पास फीस देने को पैसे नहीं थे और उन्होंने फीस माफ होने की दरखास्त दी थी, लेकिन वह भी स्वीकृत न हो सकी। उसी यूनीवर्सिटी से इन्होंने बदला भी खूब लिया। जिसमें एक दिन आपकी फीस माफ नहीं हो सकी, उसी में आज आप हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं।"

एक दिन चतुर्वेदीजी अपने ऊपर मजाक करते हुए बोले, "हम से लोगों को शिकायत है कि तुम योजनाएं खूब बनाते हो, कभी साहित्यावास, कभी विकेन्द्रीकरण और कभी लोक-साहित्य-परिषद की स्थापना। हमने कहा--ठीक है। हमारा काम तो खोपड़ियां लड़ाने का है। श्री भगवतीचरण वर्मा ने एक स्केच लिखा था। उसमें उन्होंने कलकत्ता की एक घटना का जिक्र करते हुए लिखा था--एक बार हमने कलकत्ते में देखा कि एक आदमी दूर-दूर दो खोपड़ियां रखकर कह रहा था--देखो, अब ये खोपड़ियां लड़ेंगी। काफी तमाशबीन इकट्ठे हो गये। उसने अपनी दवाइयां बेचीं और खेल खतम करके सामान बंद करने लगा। हमने पूछा--क्योंजी, खोपड़ियां तो लड़ीं नहीं। वह बोला--बाबूजी, कहीं खोपड़ियां भी लड़ी हैं? हमने कहा--इससे तुम्हारा विश्वास उठ जावेगा। वह बोला--अब हम दूसरी जगह खेल करेगा। वहां तो जमेगा।

"सो हम भी खोपड़ियां लड़ाने का काम करते हैं। जगह-जगह विद्वानों को एक जगह पर इकट्ठा कर देते हैं, और इस तरह हमारा काम आगे बढ़ता जाता है।" और जोर के ठहाके से सारा कमरा गूंज उठा था।

दूसरी बार मैं उनसे आगरा में ब्रज-साहित्य-मण्डल द्वारा आयोजित सत्यनारायणजी की अर्ध-शताब्दी के अवसर पर अप्रेल ६८ में मिला था। सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए जब अपने लम्बे दुबले-पतले शरीर पर एक ढीली-ढाली कमीज पहने, जिसके बटन भी नहीं लगे थे और गले में पुराने ढंग का दुपट्टा डाले, जब श्री. चतुर्वेदीजी मंच पर आये तो सहसा विश्वास नहीं हुआ कि ये वही चौबेजी हैं, जो

अपने हृष्ट-पुष्ट शरीर और कहकहों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। मुझे लगा, जैसे स्वयं कविरत्न सत्यनारायणजी अपने गले में दुपट्टा डालकर समारोह में आने का लोभ संवरण न कर सके हों !

हमारे ठहरने की व्यवस्था सेंट पीटर्स कालेज में की गई थी। वहां पर हम सिर्फ दो ही व्यक्ति ठहरे थे श्रीगणेश चौबे और मैं। जब श्री चौबेजी को इस बात का पता चला तो वह भरी दुपहरी में हमसे मिलने चले आये। मैंने कहा, "चौबेजी, आपने क्यों कष्ट किया। हम स्वयं आने वाले थे।" वह बोले, "यह भी क्या कोई बरात है, जिसमें कौन अगवानी करे, इसका ख्याल रखा जाय। साहित्य के क्षेत्र में तो जिसे भी समय मिले, उसे पहले मिलने के लिए चल देना चाहिए। कौन जाने फिर कब मिलना हो ?"

श्री चतुर्वेदीजी का सम्पूर्ण जीवन अनवरत कर्म की अखण्ड साधना है। वह कभी प्रवासी भारतीयों की खोज-खबर लेने में जुटे, कभी अज्ञात शहीदों की जीवनियों को प्रकाश में लाने का दुस्तर कार्य किया, तो कभी श्रमजीवी लेखकों और पत्रकारों की समस्याओं को सुलझाने में अपने-आपको खपा दिया। श्री चतुर्वेदीजी पहले आदमी हैं जिन्होंने जैसा लिखा, वैसा ही जिया है। उन्होंने न सिर्फ आज़ाद की जीवनी प्रकाशित करवाई, वरन आज़ाद की माताजी की अन्तिम इच्छा पूरी करने के लिए वह एक बेटे की तरह उन्हें लेकर तीर्थ-यात्रा पर भी गये थे। उन्होंने आज़ाद पर जो भी लेख लिखे, पत्रकारों को यह स्पष्ट लिख दिया कि इसके पारिश्रमिक की रकम मुझे नहीं, आज़ाद की माताजी को भेज दी जाय। हिन्दी साहित्य में कौन ऐसा तपस्वी साहित्य-साधक है !

आज से २० वर्ष पूर्व विश्व-प्रसिद्ध साहित्यकारों तथा लोकसेवियों के संस्मरण और रेखाचित्र रोचक प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय भी उनको ही रहा है। आज भी मेरी फाइल में लगे उनके द्वारा भेजे गए लेखों के रिप्रिंट 'साहित्य साधक रोम्यां रोलां' (नया समाज, मार्च १९५०), 'विश्व नागरिक-गेरिसन' (सुमित्रा, अप्रेल १९५२) 'स्टीफन ज़्विग का एक महत्वपूर्ण आत्म-चरित', 'दी वर्ल्ड आफ यस्टरडे' तथा 'अराजकतावादी प्रिंस क्रॉपॉटकन' पर लिखे लेख उनके अथक परिश्रम की याद दिलाते हैं।

हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में श्री चतुर्वेदीजी ने एक और नया प्रयोग किया। उनके सम्पादन में किसी लेखक का जो भी ऐतिहासिक महत्व का लेख छपता, उसके वे सौ दौसौ रिप्रिन्ट्स लेखक को पहुंचा देते थे। उनका कहना था कि इससे पुस्तक का प्रचार होता है। उनके द्वारा भेंट में भेजे गए ऐसे अनेकों रिप्रिन्ट्स मित्रों के पास सुरक्षित हैं।

वह विनोदी भी कम नहीं रहे हैं। एक बार अपने नाम आने वाले अनेक पत्रों में से सिर्फ दो का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा था :

"थोरो को जिन्दगी में कुल दो चिट्ठियां ऐसी मिली थीं, जिन्हें दरअसल वह कीमती समझता था। मुझे भी बस दो ही ऐसे पत्र मिले हैं, जिनकी मैं कद्र करता हूं। १४,००० मील दूर बैठी एक महिला को मैंने काव्यमयी भाषा में लिखा था :

"क्या रात को आप गाना गाती हैं? मुझे यहां नींद नहीं आती।"

उसने जवाब दिया, "हां, वायोलिन और मेण्डोलिन बजाती हूं। मुझे हर्ष है कि आप इतनी दूर से सुन लेते हैं।"

दूसरे पत्र की लेखिका का जिक्र नहीं करूंगा, पर उनके भी दर्शन नहीं किये।"

जब भी श्री मैथिलीशरण गुप्त, राय कृष्णदास, वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और चतुर्वेदीजी की वैठक जमती, चौबेजी को लेकर विनोद चलने लगता। नवीनजी कहते, "मेरी बड़ी इच्छा है कि चतुर्वेदीजी के द्वारा हमें एक भाभी मिले।" श्री गुप्तजी कहते, "मेरी भी इच्छा है कि श्री चौबेजी के द्वारा मुझे एक अनुज-वधू मिले।" जब चौबेजी की राय का सवाल आता तो नवीनजी कहते, "उनसे क्या पूछना है, उनकी तो यह हालत है कि 'मन मन भावे मूड़ हिलावे।' और हंसी का एक ठहाका गूंज उठता था।

अपने नाम आने वाले हर पत्र का जवाब देना और साहित्यिकों का एक-दूसरे से परिचय कराना श्री चतुर्वेदीजी के स्वभाव का एक अभिन्न अंग रहा है। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था :

९९ नॉर्थ एवेन्यू
नई दिल्ली
१२-१-६१

प्रिय श्री उपाध्यायजी,

वन्दे।

आपका कृपा पत्र मिला। बात दरअसल यह है कि पत्र-व्यवहार मेरे लिए एक व्यसन हो गया है और बावजूद घोर प्रयत्नों के मैं उसे छोड़ नहीं पाता। महीने में २४-२५ दिन चिट्ठियों को लिखने में ही व्यतीत कर देता हूं। स्व० पद्मसिंहजी शर्मा का जीवन-चरित कई वर्षों से अधूरा ही पड़ा है। तुर्गनेव जब मरणासन्न थे, तब भी उन्होंने किसी युवक ग्रंथकार के लिए सिफारिशी चिट्ठी किसी प्रकाशक को लिख दी थी और स्टीफन ज्विग भी इसी आदर्श का पालन करते रहे थे। रोम्यां रोलां को भी सहस्रों पत्र लिखने पड़े थे। मैं इन तीनों का प्रशंसक हूं, इसलिए यह संभव नहीं कि मैं किसी संकट-ग्रस्त सज्जन के पत्रों का उत्तर न दूं, बल्कि नवीन प्रतिभाओं के स्वागतार्थ तो मैं और भी प्रयत्नशील बनना चाहता हूं, पर फालतू चिट्ठियों का जवाब देना मेरे लिए असंभव हो गया है।

अंतर्जनपदीय परिषद का उद्धार होना चाहिए। उसकी मीटिंग भले ही न हो, पर पत्र-व्यवहार तो निरन्तर होते ही रहना चाहिए। मध्य प्रदेश को कई जनपदीय भाषाओं का सम्मिलित क्षेत्र होने का सौभाग्य प्राप्त है। आप इस बारे में कुछ लिखें।

विनीत
बनारसीदास

हिन्दी-जगत को उन्होंने जो कुछ दिया है, उसका मूल्यांकन करना कठिन है, उन्होंने जहां उत्तम साहित्य का सृजन किया है, वहां जाने कितने साहित्य-सेवियों का भी निर्माण किया है! ●

अमरनाथ कौल अदालती

कुछ बोलते चित्र

आदरणीय दादाजी से मेरी सर्वप्रथम भेंट सन १९५२ में कुण्डेश्वर में हुई। उसके पूर्व मैं उनके व्यक्तित्व से विशेष परिचित नहीं था। इन्होंने अपनी साहित्य-साधना के दो स्थानों (उषा कुंज तथा बरीघाट) की स्थापना कुण्डेश्वर के रमणीय वन में कर ली थी। उनके प्रथम साक्षात्कार ने ही मुझे आशातीत प्रभावित किया, किंतु अधिक अवसर उनके संपर्क में रहने का न मिल सका।

सन १९५३ में जनवरी माह में जब हमेशा की तरह दादाजी पुनः कुण्डेश्वर पधारे उस समय उनके और अधिक निकट आने का अवसर मिला। मैं उनके सादे जीवन से अत्यधिक प्रभावित था। सोचता था कि 'सादा जीवन और उच्च विचार' का साकार रूप यदि कहीं है तो वह दादाजी में है।

उनके सीधे सम्पर्क में आने पर मुझे पता चला कि उन्हें वन से अधिक प्रेम है। उनके द्वारा जंगल में बनाये गये उषा कुंज तथा बरीघाट आदि मनोरम स्थल उनके वन-प्रेम के उत्कृष्ट नमूने हैं। उनके इस प्रेम की एक घटना का मुझे स्मरण हो रहा है।

सन १९५३ की बात है। एक बार मैं उनके साथ वन-भ्रमण के लिए गया। मैंने देखा कि वहां कुछ झूले-जैसे लटके हुए हैं। अधिक ध्यान से देखने से पता चला कि नीम आदि पेड़ों की कुछ शाखाएं इतनी नीची तथा गोलाई में थीं कि उन पर बच्चे आसानी से झूलझूल कर आनंद मनाते थे। दादाजी इन प्राकृतिक झूलों को देखकर बहुत ही आनंदित होते तथा कुण्डेश्वर के लिए प्रकृति की इस अमूल्य देन की सराहना करते। मुझे भी उनके साथ नैसर्गिक आनंद का रस आने लगा और मैं प्रायः उनके साथ वन-भ्रमण को जाने लगा।

एक दिन हम नित्य की भांति वन-दर्शन के लिए गये। देखा, वे प्राकृतिक झूले वहां नहीं थे। विधाता की उस निधि के एकाएक अदृश्य होने पर अचंभा हुआ। मैंने दादाजी की ओर देखा। उनके चेहरे को देखकर लगा, मानो प्रशांत महासागर में ज्वार उठ रहा हो। जैसे उनकी निजी सम्पत्ति उनसे छीन ली गई हो। उनके मुख-मंडल पर उदासीनता के बादलों में क्रोध की विद्युत-चमक का भी मुझे आभास हुआ। मैं उनसे कुछ प्रश्न करूं कि उसके पूर्व ही उन्होंने तेज स्वर में कहा, "इन प्राकृतिक झूलों को कैसे काट दिया गया? बच्चों के इस सुंदर-स्थल को उजाड़ कर पेड़ों में समता लाने का अप्राकृतिक नियम क्यों व कैसे लादा गया? प्रकृति का सौन्दर्य समता में नहीं, असमता में है।" स्मरण रहे कि वन-रक्षकों ने पेड़ों में समानता लाने की दृष्टि से वे झुकी हुई शाखाएं काट डाली थीं। उन्होंने कहा, वन के साथ यह घोर अन्याय हो रहा है।

उसी दिन कुण्डेश्वर जाकर उन्होंने डी० एफ० ओ०, वन-मंत्री तथा चीफ कंजरवेटर आफ फारेस्ट को पत्र लिखे और निवेदन किया कि भविष्य में वनों के साथ होनेवाले इस अन्याय को रोका जाय।

इसी वर्ष मार्च में भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद कुण्डेश्वर आनेवाले थे। दादाजी चाहते थे कि वह वन में भी जायं। उन्होंने राष्ट्रपति को पत्र लिखकर उनकी स्वीकृति प्राप्त कर ली। जैसे ही विभाग को यह ज्ञात हुआ कि राष्ट्रपतिजी वन-भ्रमण भी करेंगे तो वहां देखते-देखते रास्ते का उत्तम निर्माण हो

गया। इसमें दादाजी का यही उद्देश्य था कि वन को जन-साधारण की पहुंच के योग्य बना दिया जाय और राष्ट्रपतिजी के आगमन के अवसर का उन्होंने जनता के लाभ के लिए उपयोग किया।

इसी प्रकार कुण्डेश्वर-स्थित बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय का भी, जिसका मैं प्राचार्य था, राष्ट्रपतिजी को अवलोकन कराया और ऊपर ले जाने का वह रास्ता तय किया, जिसका ज़ीना खराब था। यह ज्ञात होते ही पी० डब्ल्यू० डी० ने उस ज़ीने की मरम्मत दो दिन के अंदर ही कर दी, जिसे साधारणतया ठीक करने में दो माह लगते। वन में प्रकृति के अनुपम उपहारों को खोजने में दादाजी की दृष्टि बड़ी कुशल थी। राष्ट्रपति के साथ भ्रमण करते हुए उन्होंने दो ऐसे जुड़वा वृक्षों को दिखाया, जिन्हें भली-भांति निरीक्षण करके भी यह ज्ञात करना कठिन था कि वे इस प्रकार कैसे जुड़ गये।

वह राष्ट्रपति के साथ रहते तथा उनके चित्र खींचते जाते। साधारणतया राष्ट्रपति के चित्र लेते रहना नियम-विरुद्ध है। वहां के जिलाधीश ने दादाजी का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया तो उन्होंने सहज मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "यह तो पुराना केमरा है, नया थोड़े ही है।" उनके इस विनोद से जिलाधीश निरुत्तर हो गए।

दादाजी का प्रेम केवल मानव की परिधि तक ही सीमित न था, पालतू पशुओं गाय, बैल, एवं बछड़े आदि पर भी वह उतना ही स्नेह रखते थे।

१९५४ की बात है। किसी कार्यवश कुण्डेश्वर से दिल्ली गये तो कुण्डेश्वर के गाय, बछड़े मेरी देखरेख में छोड़ गये। इन बछड़ों में से एक बछड़ा बड़ा शक्तिशाली, सुडौल एवं मोहक था। वह हर समय खेतों में, जंगल में, इधर-उधर घूमता रहता था, या यों समझिये कि दादाजी के प्रसाद से उसकी गति अव्याहत थी। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कागभुशुंड के विषय में लिखा है:

"अव्याहत गति राम प्रसास।"

उसका नाम दादाजी ने शंभू रख दिया था। अतः वह इसी नाम से संपूर्ण क्षेत्र में प्रसिद्ध हो गया।

प्रारंभ में शंभू लोगों का प्रेम-पात्र बना रहा। किन्तु कालांतर में उसकी यह स्वतंत्रता स्वछंदता में परिणत हो गई। उसका आवारापन लोगों को खटकने लगा। साथ-ही वह इतना तेज़ और बलवान हो गया कि उस पर काबू रखना मुश्किल था। लोगों के हृदय में उसके प्रेम का स्थान भय ने ले लिया और अब शंभू—शंभूसांड हो गया।

एक दिन मैंने अपना सारा साहस बटोरकर दादाजी से अनुरोध किया कि आपके अन्य पशु तो आपके समान ही बड़े सरल स्वभाव के हैं, पर आपने शंभू को आवारा छोड़कर इतना उग्र क्यों बना दिया है? क्यों न इसपर नियंत्रण करने हेतु अन्यत्र भेज दिया जाय? दादाजी ने बड़ी गंभीरता से उत्तर दिया कि इस क्षेत्र को उसकी बड़ी आवश्यकता है। उससे दो सौ बच्चे हो चुके हैं। वह पशु-समाज में बहुत प्रिय है। वे सभी खुश हैं। वह भी खुश है। हां, कुछ खेतों को वह नुकसान पहुंचाता है, यही उसकी भयंकरता है। परंतु इन लोगों को चाहिए कि उसके खाने-पीने तथा रहने का उचित प्रबंध करें। शंभू नस्ल सुधारने के लिए अति आवश्यक है।

इसपर मैंने कहा कि नस्ल सुधारने के लिए 'हरियाना सांड' उत्तम हैं। उनके सामने यह शंभू सांड क्या है!

वह पुनः कुछ हँसते हुए बोले, "अदालती साहब, हरियाना सांड से तो यहां के पशु बैठ गये। यह तो शंभूसांड ही है, जिसकी नस्ल इधर-उधर दिखाई देती है। यदि शंभूसांड इस क्षेत्र में न हो तो

यहां उत्तम नस्ल की पैदायश की एक समस्या खड़ी हो जायगी। जो चीज यहां की है, वही फलती-फूलती है।"

मैं चुप था। बात सही थी। मुझे उनकी इस गहरी सूझबूझ पर मन-ही-मन में आनंद हो रहा था।

उन्होंने इसी बात को लेकर देश के प्रसिद्ध समाचार-पत्रों में कई लेख लिखे। इनमें से 'शंभूसांड की अपील श्री तख्तमल जैन के दरबार में' बहुत महत्वपूर्ण है । उसके परिणाम-स्वरूप राज्य के पशु-संवर्धन विभाग को आदेश दिये गए कि दादाजी के शंभूसांड की उत्तम व्यवस्था की जाय। तबसे शंभूसांड राज्य के संरक्षण में आ गया ।

दादाजी बड़े विनोद-प्रिय हैं। विनोद-प्रियता उनके स्वस्थ जीवन का अंग है। सोना हमारे सबके दैनिक जीवन एवं स्वस्थ मन के लिए अत्यावश्यक है। दादाजी दिन में सोने को भी बहुत महत्व देते हैं। यह मुझे उस समय ज्ञात हुआ जब एकबार मैं उनके ९९ नॉर्थ एवेन्यू, नई दिल्ली स्थित निवासस्थान पर शाम को लगभग ४ बजे उनसे मिलने गया। यह तो मुझे मालूम था कि दादाजी दोपहर को अक्सर सोते हैं, पर जब मैं उनके मकान पर पहुंचा और देखा कि आगे दरवाजे पर उनके नाम की तख्ती के स्थान पर एक बड़ा बोर्ड रखा हुआ है। उस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है--'मैं सो रहा हूं।' इस बोर्ड को देखकर मैं कुछ सहमा तथा विचार करने लगा कि दिल्ली सरीखे इतने व्यस्त नगर में कोई बिरला ही होगा, जो इस समय सो सकता है। इस समय घर, कार्यालय, सड़क आदि सभी कार्यव्यस्त हैं, तो ऐसी जागरण-वेला में दादाजी सरीखा कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति कैसे सो सकता है! अवश्य ही कुछ बात होगी।

मैंने दरवाजे पर लगी घंटी के बटन को दबाया, पर उसमें करंट ही नहीं था। अब मेरी परेशानी और बढ़ी और विचार आया कि नौकर का पता लगाया जाय ताकि वास्तविकता मालूम हो सके।

इधर-उधर देखा, पर नौकर का भी कहीं पता नहीं। मन में सोचा कि अब तो एक ही उपाय है कि घर के पीछे चलकर खिड़कियों आदि से झांककर देखूं कि क्या बात है! यद्यपि खिड़कियों या किवाड़ के शीशों से मकान के अंदर झांकना अशिष्टता है, पर इस समय दूसरा चारा ही क्या था?

पीछे जाकर देखा कि अंदर उनका नौकर सो रहा है। मैंने दरवाजे पर लगे कांच को उंगली से ठकठकाया, पर वह तो गहरी नींद में था। मेरे मन में विचार आया कि यह नौकर भी अजीब है। बड़ा बेफिक्र है कि जब उसे जगकर रखवाली करनी चाहिये थी वह सो रहा है। क्या फायदा है ऐसे नौकर से !

अब मैं हैरान था कि क्या किया जाय। टेलीफोन करने की बात ध्यान में आई। पास के ही मकान से टेलिफोन किया, पर टेलीफोन की घंटी भी न बजी। अतः वह कोशिश भी बेकार गई।

मैं कुछ समय उनके बरांडे में आश्चर्य-चकित घूमता रहा। इसी बीच मेरी दृष्टि वहां रखी हुई खाट पर पड़ी। मैंने सोचा, जब मालिक से लेकर नौकर तक तथा घंटी से लेकर टेलीफोन तक प्रगाढ़ निद्रा का आनंद ले रहे हैं तो मैं भी क्यों न इस खाट को पेड़ के नीचे बिछाकर सोने का आनंद लूटूं? मैंने खाट को उठाकर पेड़ के नीचे डाला और लेट गया। मैं सोने लगा था कि इतने में किसी के उठने की व किसी को बुलाने की आवाज कान में पड़ी। मैंने अर्ध-निद्रित अवस्था में देखा कि चतुर्वेदीजी के लड़के रामगोपाल उठ गए हैं और नौकर को पुकार कर कह रहे हैं कि देखो, बाहर कौन लेटा है।

नौकर उठा और मुझे आवाज दी। मैंने कहा, "छेड़ो मत, मैं सो रहा हूं।" ५ बज चुके थे। दादाजी उठे। मुझे बड़ी प्रसन्नता से बुलाया और कहा कि हम सब अनिवार्य रूप से दोपहर को

सोते हैं। सोना स्वास्थ्य के लिए बड़ा लाभकर है। मुझे प्रसन्नता है कि आप भी मेरे इस अभियान में शामिल हो गये।

दरवाजे से तख्ती हटाकर अंदर रख दी गयी। घंटी और टेलीफोन के कनेक्शन जोड़ दिये गए और अमर साहित्यिक की अमर साधना तथा उल्लसित जीवन में पुनः हिलोरें आने लगीं। ●

मोहनसिंह सेंगर

एक जीता-जागता व्यक्तित्व

●

एक वाक्य में यदि कहें, तो पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी के जीवन का लक्ष्य है—दूसरों के जीवन में हंसी-खुशी लाना और अपने ही मूल्य पर हँसना-हँसाना। एक पत्रकार, प्रचारक, अध्यापक, मित्र, पिता आदि के रूप में उन्होंने जीवन-भर यही किया और संभवतः उनके हंसमुख-मिजाज़, जीवन के प्रति एक खिलाड़ीके-से रुख-रवैये और दीर्घायुष्य का मूल कारण भी यही है। उनके साथ कुछ ही क्षण बितानेवाला भी उनकी इस हँसोड़ सहृदयता से आह्लादित और प्रभावित हुए बिना न रहेगा। छोटे-से-छोटा व्यक्ति भी उनके साथ बातचीत करते समय यही महसूस करेगा कि वे उससे बराबरी के स्तर पर ही व्यवहार और बातें करते हैं और इस निष्कपट व्यवहार तथा बातचीत के पीछे है एक ऐसा जीता-जागता सजीव व्यक्तित्व, जो न जाने कितने महान पुरुषों की छत्रछाया में पला और पनपा है। ऐसा लगता है, मानो अपने आराध्य थोरो और क्रॉपॉटकिन, इमर्सन, टाल्स्टाय, गांधी और एन्ड्रयूज़ आदि से चतुर्वेदीजी ने उनके स्वभाव की बहुत-सी बातें विरासत में पाई हैं। अपनी जानकारी में 'विशाल भारत' कार्यालय के चपरासी, मेहतर और दरबान तक से लेकर बड़े-से-बड़े व्यक्ति तक से भी मैंने उन्हें समानस्तर पर ही बातचीत और हँसी-मज़ाक करते देखा है। इतना ही नहीं, मैंने चतुर्वेदीजी को बड़े-बड़े लखपतियों-करोड़पतियों से उनके धन को तुच्छ बताकर उन्हें धिक्कारते हुए भी देखा है। कभी-कभी तो मैंने महसूस किया है कि सचमुच इस व्यक्तित्व का सही-सही मूल्यांकन करना यथार्थ में असंभव है, क्योंकि अपनी प्रशंसा सुनकर सहसा चतुर्वेदीजी हतप्रभ हो जाते हैं और फिर अपने 'पतन' तथा अन्यान्य अवगुणों और दुर्बलताओं के न जाने कैसे नये-पुराने किस्से निःसंकोच हर किसी को सुनाने लगते हैं। इस संबंध में उन पर रूसो, टाल्स्टाय और गांधीजी का असर स्पष्ट झलकता है। इस प्रकार सारा गंभीर वातावरण दूसरे ही क्षण कहकहों में बदल जाता है और बेचारा जिज्ञासु भी चतुर्वेदीजी के साथ ही रस-रंग के चौबच्चे में डूब जाता है।

चतुर्वेदीजी भारतीय नेताओं में गांधीजी के बाद दीनबंधु एन्ड्रयूज़ के काफ़ी भक्त थे। अपनी मृत्यु से कुछ दिन पहले जब एन्ड्रयूज़ साहब कलकत्ते के प्रेसिडेंसी अस्पताल के यूरोपियन-वार्ड में थे, तो चतुर्वेदीजी तथा रामानंदबाबू के आदेशानुसार मैं प्रायः प्रतिदिन उन्हें देखने जाया करता था। पहले-पहल उन्हें देखकर मुझे लगा कि संभवतः चतुर्वेदीजी ने अपनी सादगी, भुलक्कड़पन और बाल-सुलभ भोलापन बहुत कुछ इन्हीं

से न लिया हो! जिस निस्पृहता से उन्होंने गांधीजी के आश्रम में रहकर और बाद में रामानंदबाबू के सहयोग से प्रवासी भारतीयों की कष्ट-कहानी को भारतीय जनता के सामने रखा, उसके महत्त्व को कौन कूतेगा? पर एन्ड्र्यूज़ साहब और गांधीजी की तरह ही उनका लक्ष्य भी शासक और शासितों में घृणा, कटुता या वैर-विरोध पैदा न कर स्नेह, सौहार्द और सद्भावना का सेतु बनाना ही अधिक था। इसका एक शुभ परिणाम यह तो ज़रूर हुआ कि पीढ़ियों पहले भारत से लगभग बरबस ले जाए गये गिरमिटिया कुलियों में पहले-पहल भारतीय नागरिक होने का अहसास तथा स्वाभिमान और भारत के प्रति फिर से नया अनुराग जागा। पहले 'मार्डन रिव्यू' और फिर 'विशाल भारत' में वर्षों तक उनकी चर्चा होती रही और भारत ने जैसे अपने इन भूले हुए सपूतों को फिर से पाया और जाना!

चतुर्वेदीजी आदतन मांस, मदिरा आदि से (और शायद भंग से भी) परहेज़ करते हैं। पर विचारों और विश्वासों के वह इतने खुले और मुक्त हैं कि इनका सेवन करनेवालों से न केवल घृणा ही नहीं करते, वरन् बिना किसी संकोच या परहेज़ के उनकी हर तरह से सहायता भी करते हैं। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वह गांधीजी के आश्रम में या अध्यापन-कार्य में अधिक दिन नहीं टिके। दोनों ही रूपों में—गांधीजी के संपर्क-सान्निध्य तथा अपने छात्र राजा-महाराजाओं की जिजमानी से—वह आसानी से जीवन की एक स्पष्ट सीधी रेखा बना सकते थे, पर ऐसी महत्त्वाकांक्षा उनकी कभी नहीं रही। सेवा उन्होंने मेवा पाने के लिए कभी नहीं की। यही कारण है कि उनकी यह भावना उन्हें कई घाटों पर ले गई; पर कहीं भी वह अधिक दिनों तक न टिके। पत्रकार के रूप में—और अब एक स्वतंत्र लेखक के रूप में—चतुर्वेदीजी की आत्माभिव्यक्ति सर्वाधिक हुई और यह उनके जीवन का एक ऐसा मिशन बन गया कि आज ७७ वर्ष पार करने पर भी उन्होंने अपनी लेखनी को विश्राम नहीं दिया है।

जैसे विशाल-हृदय गृहस्थ कोई भी अच्छी चीज़ अकेले ही न हड़पकर सबको बांटकर खाते हैं, वैसे ही चतुर्वेदीजी भी अपने जीवन में जिन महान विभूतियों के संपर्क में आये, उनसे अपने सारे मित्रों-परिजनों को भी मिलाया। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि जिन महान व्यक्तियों को चतुर्वेदीजी जानते थे, उन्हें समूचा 'विशाल भारत'-परिवार भी उतना ही जानता था। अपने पास से पैसे ख़र्चकर वह अनेक लेखकों और अन्यान्य व्यक्तियों को गांधीजी, दीनबन्धु एन्ड्र्यूज़, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री श्रीनिवास शास्त्री आदि से मिलाने ले गए हैं। मुझे अभी भी भलीभांति याद है कि जब-जब मैं चतुर्वेदीजी का हवाला देकर इनमें से किसी से भी मिला, इन्होंने बड़े आदर, स्नेह और अपनत्व से चतुर्वेदीजी का कुशल-क्षेम पूछा। मानव-मानव के बीच स्नेह, सद्भावना और अपनत्व के सेतु-निर्माण का यह कार्य तात्कालिक ही नहीं, स्थायी और व्यापक महत्व का है। काश, चतुर्वेदीजी के निकट संपर्क में आये व्यक्ति भी इस कार्य को उन्हीं की तरह आगे बढ़ाते रहें।

चतुर्वेदीजी से मेरा पत्र-व्यवहार 'विशाल भारत' के प्रकाशन के साथ १९२८ से ही शुरू हो गया था। उन दिनों मैं हाईस्कूल का छात्र था। 'विशाल भारत' केवल हिन्दी-मासिकों में एक नया इज़ाफ़ा ही नहीं था, वरन वास्तव में जैसे ताज़ी हवा का एक नया झोंका था। न जाने कितने साहित्य-रसिकों और पिपासुओं को उसने परम्परागत साहित्यिक कृतियों के मुक़ाबले में कुछ बेहतर क़िस्म का मानसिक भोजन दिया। मैं उसका ग्राहक तो बना ही, लेखकों में भी पांचवाँ सवार बनने का हौसला रखता था। सो 'विशाल भारत' में प्रकाशित सामग्री को लेकर चतुर्वेदीजी से पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। छप तो शायद एकाध चीज़ ही पाई होगी—बाकी सारी चीज़ें सधन्यवाद वापस लौट आईं पर जिस धैर्य, सान्त्वना, सहानु-

भूति और अपनत्व से चतुर्वेदीजी मेरे अज्ञतापूर्ण पत्रों का उत्तर देते थे, उससे मैं बड़ा प्रभावित हुआ और कभी उनके दर्शन करने की लालसा पोषने लगा। एक बार तो मैंने मज़ाक में यह लिख भी दिया था कि यदि मैं इसका संपादक होता, तो इसे और भी अच्छे रूप में निकालता ! पता नहीं, चतुर्वेदीजी ने इसे कैसे लिया होगा ?

पूरे दस वर्ष बाद यह अवसर आया। मैं लाहौर से प्रकाशित होने वाले हिंदी दैनिक 'शक्ति' के बंद हो जाने से दिल्ली आया हुआ था और बेकार था। दरियागंज में जैनेन्द्रजी के सामने वाले मकान में ही रहता था। एक दिन जैनेन्द्रजी के यहां से निकलने पर चतुर्वेदीजी हमारे मकान के सामने से गुज़रते समय आये और काफ़ी देर तक हिंदी-लेखकों की स्थिति-अवस्था पर विचार-विमर्श हुआ। मुझे अब याद नहीं कि मैंने तब क्या कहा था; किन्तु जाते समय चतुर्वेदीजी से अनुरोध किया कि मैं इस विषय पर 'विशाल भारत' के लिए एक छोटा-सा लेख लिख दूं। यथासमय मैंने लेख लिखकर भेज दिया और वह 'विशाल भारत' में छपा तथा उसके पारिश्रमिक-स्वरूप मुझे सात रुपए भी मिले। किन्तु पारिश्रमिक से कहीं अधिक मनोरंजक था चतुर्वेदीजी का वह पत्र, जिसमें 'विशाल भारत' की अधिक पारिश्रमिक न दे सकने की क्षमता का ज़िक्र कर उन्होंने सात रुपयों की अंकगणित का कुछ व्यौरा दिया था।

पर ये सात रुपए किस तरह एक सौदे में बदल गए, यह बाद में मालूम हुआ। इसके कोई १० वर्ष बाद जब मैंने 'विशाल भारत' छोड़कर 'नया समाज' का कार्य-भार सम्हाला, तो चतुर्वेदीजी मेरे अनुरोध पर उसमें बराबर लिखने लगे। एक बार उन्होंने लिखा कि अपनी कन्या के विवाह के सिलसिले में उन्हें कुछ अधिक रुपयों की आवश्यकता होगी, अतः इस दिशा में 'नया समाज' क्या कुछ लेखों का पारिश्रमिक अग्रिम देकर सहायता कर सकता है? बात बड़ी मामूली थी और ऐसा हो गया। इस पर चतुर्वेदीजी ने अपने स्वाभाविक विनोद में लिखा कि मैंने तो आपको सात रुपए ही दिये थे, पर आपने उसके बदले में मुझे कहीं अधिक दिया ! यह सौदा तो बड़े फ़ायदे का रहा ! चतुर्वेदीजी ने इस बात को न जाने कितनी बार और कितनों के सामने दोहराया। मैंने एक बार अकेले में उनको समझाने की कोशिश की कि यह एक बिल्कुल निजी और तुच्छ-सी बात है, जिसे आप पत्रों में या ऐरे-ग़ैरों के सामने न दोहराया करें। पर वह बाज़ न आए और आज भी जब-तब इस सौदे का ज़िक्र ज़रूर करते हैं, जो शायद यथार्थ में कोई सौदा नहीं था। इसे इतना महत्त्व देने का कारण कदाचित यह हो कि हिन्दी-लेखकों को न केवल कम पारिश्रमिक मिलता है, वरन समय पर नहीं मिलता। इस बात से वह आज भी कम चिंतित नहीं हैं। अपने १३ जून, १९६४ के एक पत्र में उन्होंने लिखा था--" · · · 'इस संकट के समय 'नया समाज' की याद आ गई। आपने लेखों के लिए ७०० रु० पेशगी भिजवाये थे, जिन्हें मैंने लेख लिखकर धीरे-धीरे चुका भी दिया था। पर अब ज़माना बिल्कुल बदल गया है। पत्रों में वक्त पर मज़दूरी मिलना कठिन हो जाता है और अधिकांश पत्र तो पारिश्रमिक देते ही नहीं !"

किन्तु कृतज्ञता और सहृदयता से भी बढ़कर जो गुण चतुर्वेदीजी में है, वह है उनकी हार्दिकता, सहृदयता, सहिष्णुता और दूसरे के मत या विरोध को सराहने-सहने की अद्भुत क्षमता। अपने जीवन के अंतिम चरण में चतुर्वेदीजी के अभिन्न मित्र और उन्हीं के अनुरोध पर 'विशाल भारत' में गये पं० श्रीराम शर्मा से उनका कुछ गहरा मतभेद--बल्कि कहना चाहिए मनोमालिन्य--हो गया था। शर्माजी ने ज़बानी ही नहीं, पत्रों में और 'विशाल भारत' के कालमों में भी उनके बारे में कुछ ऐसी बातें कहीं और लिखीं, जो व्यंग्य-विनोद की सीमा लांघकर काफ़ी तिक्त और कटु हो गई थीं। चतुर्वेदीजी उनसे काफ़ी

दुखी हुए। पर उन्होंने लिखकर उनका कभी जवाब नहीं दिया, और इस सबके बावजूद शर्माजी के गुणों की सदा प्रशंसा ही करते रहे। यही नहीं, जब मैंने 'विशाल भारत' छोड़ा, तो उन्होंने उसके संचालक को लिखा कि यह बहुत बुरा हुआ तथा शर्माजी के रुख और व्यवहार की भी आलोचना की। कहने का तात्पर्य यह कि अपने घनिष्ठतम मित्रों और कुटुम्ब परिजनों के विरोध या मतभेद को सहन करने के बावजूद वह उनकी ग़लतियों और भूलों के लिए उन्हें आड़े हाथों लेने से कभी भी नहीं चूकते थे। सहृदयता की सचाई इसी में है।

शर्माजी के निधन पर उन्होंने जो कुछ कहा, वह उनकी विशालहृदयता का ही द्योतक है। उन्होंने स्वयं तो लिखा ही, मुझसे भी कई बार शर्माजी संबंधी संस्मरण लिखने का अनुरोध किया। मैंने जो कुछ लिखा, उसके संबंध में चतुर्वेदीजी की टिप्पणी थी, "· · · आपकी स्वर्गीय शर्माजी विषयक श्रद्धांजलि पढ़ ली। बहुत ही ग्रेसफूल शिष्टाचारयुक्त चीज़ आपने लिखी है। पर एक दूसरा भी दृष्टिकोण है: जीवित व्यक्तियों के प्रति हम भले ही शिष्टाचार निभाएं, पर मृतकों के प्रति तो हमारा दृष्टिकोण एकमात्र सत्य का ही होना चाहिए। इस प्रसंग में मैं आपको एक चेतावनी देता हूँ—वह यह कि यदि आपने मेरे चले जाने के बाद इसी प्रकार की शिष्टतापूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित की, तो मैं भूत बनकर आकाशवाणी की छत पर मंडराता रहूंगा और आपको तंग करूंगा। यह बात गांठ बांध लीजिए। · · · लेख निःसंदेह सन्तुलित है।"

इस प्रसंग में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि चतुर्वेदीजी ने मेरे लेख को 'संतुलित' और 'शिष्टतापूर्ण' बताकर भी जो चेतावनी दी, वह इस बात की द्योतक है कि मैंने पूर्ण सत्य को उजागर नहीं किया। यह है भी सही और जान-बूझकर ही ऐसा किया गया; क्योंकि किसी मृतक के बारे में अप्रिय सत्य की अभिव्यक्ति शायद अनुचित हो कर भी अवांछनीय या अनावश्यक तो होती ही है। स्वयं चतुर्वेदीजी का दृष्टिकोण भी इस संबंध में कम उदार न था। अपने २३ जुलाई, १९६७ के एक पत्र में उन्होंने लिखा था: "· · · श्रीरामजी के वंशज मुझसे नाराज़ हैं, इसलिए पत्रोत्तर तक नहीं देते। (मेरे ३००-४०० पत्र उनके यहाँ होंगे। उनका संग्रहालय सुरक्षित रहना चाहिए।) इस डर से कि मेरे किसी पत्र से वे और भी उद्विग्न न हो जायं, मैंने २-३ वर्ष से श्रीरामजी से पत्र-व्यवहार बंद ही कर दिया था। उनकी मनोवृत्ति में बहुत अन्तर आ गया था। चारों ओर की प्रतिकूल परिस्थितियों ने उन्हें झकझोर दिया था। १४-१४ मुक़दमे वह लड़ रहे थे। चारों ओर दाहिने और बाएं हिट करने की उनकी आदत पड़ गई थी। चंद्रभानु गुप्त से लगाकर जगजीवनराम और बनारसीदास चतुर्वेदी को वह एक ही लाठी से हांकने लगे थे। वह आलोचना के नहीं, करुणा के पात्र थे। उनमें दरअसल बहुत से गुण थे।" इसी संबंध में ५ अगस्त, १९६७ के एक अन्य पत्र में चतुर्वेदीजी ने फिर लिखा—"· · · शर्माजी में अनेकों गुण थे—वह मर्द आदमी थे। पर पिछले वर्षों की आपत्तियों ने उन्हें झकझोर दिया था और वह करुणा के पात्र बन गए थे। हम उनके गुणों को ही याद करें।" इसी सिलसिले में अपने २ सितम्बर, १९६७ के पत्र में चतुर्वेदीजी ने लिखा: "· · · उनकी उद्विग्नता की ओर आपने इशारा कर दिया है, जो उचित है। मैं तो उनसे बातचीत करने में भी संकोच करने लगा था, क्योंकि न तो स्वयं उद्विग्न होना चाहता था और न उन्हें उद्विग्न करना चाहता था। पिछले चार वर्षों से मैं प्रायः उनसे दूर ही रहा। · · · जो भी सेवा उनकी बन पड़ी, की थी; पर पिछले वर्षों में गार्हस्थिक दुर्घटनाओं से तथा फ्रेस्ट्रेशन से उनका स्वभाव ही बदल गया था। निस्संदेह, वह मर्द आदमी थे और उनकी कीर्त्ति-रक्षा का प्रयत्न होना ही चाहिए।"

इस तरह न जाने कितने अंतरंग मित्र और प्रसंग हैं, जिनके मतभेद या विरोध ने चतुर्वेदीजी को

कभी भी विचलित या असंतुलित नहीं होने दिया। उदाहरण के लिए मैं अपने आपको ही लूं। उम्र और अनुभव में बड़े होने के कारण चतुर्वेदीजी को मैंने सदा सम्मान की दृष्टि से देखा है। मैं यह भी कभी नहीं भूल सकता कि उनके स्नेह, सौजन्य और कृपा के कारण ही मुझ जैसा अज्ञ और हठीला व्यक्ति 'विशाल भारत' के संपादक की कुर्सी तक पहुंचा। उस पर बैठकर मैंने भी स्वर्गीय रामानंद बाबू और चतुर्वेदीजी की ही संपादकीय परम्परा का अनुसरण करने की चेष्टा (या शायद हिमाक़त) की। इसमें दोनों ही गुरुजनों के प्रति मुझ से मतभेद की धृष्टता हुई और दोनों से ही मुझे 'तथास्तु' का वरदान मिला। जहां मैंने चतुर्वेदीजी के अनेक आदेशों और परामर्शों का पूरे मन से पालन किया, वहां कई बार नहीं भी किया। एक बार तो स्वयं चतुर्वेदीजी का और कई बार उनके भेजे हुए अन्य लेखकों के लेख मैंने 'विशाल भारत' में नहीं छापे—संपादकीय अधिकार से नहीं, कुछ अन्य कारणों से। कुछ ऐसे लेख भी छापे, जिनके प्रकाशन में चतुर्वेदीजी अप्रसन्न या असन्तुष्ट हुए; पर इस सारी धृष्टता के बावजूद न तो मेरे प्रति उनके रुख-रवैये में ही कोई अन्तर आया और न उनकी कृपा, स्नेह, सौहार्द आदि में ही कोई कमी कोताही हुई। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की दुहाई देनेवाले कितने व्यक्ति हैं, जो दूसरों को भी समान स्वतंत्रता देने के हिमायती भी हैं।

अपने मूल्य पर हँसना और अपनी दोष-दुर्बलताओं को सब पर प्रकट करना जैसे चतुर्वेदीजी का स्वभाव बन गया था। यदि कभी कोई उनकी बहुत प्रशंसा करता, उनके गुणों की अतिरंजना करता या उनके प्रति आदर और श्रद्धा प्रकट करता, तो वह हँसकर कहते कि इस सबके उपयुक्त नहीं हूं। चेले और भक्त बनाने से उन्हें बड़ी चिढ़ थी। एक बार मेरे कुछ लिखने पर उन्होंने उत्तर दिया था—"· · · 'आज प्रातःकालीन उषा-चायामृत-पान के वक्त मुझे इलहाम हुआ कि नवीनजी के पत्रों के १०८ रिप्रिंट लेकर हिंदी-जगत के धनी-धोरियों की सेवा में सम्मति के लिए भेजे जावें। उनके द्वारा मेरे उन सच्चरित्रों पर भी प्रकाश पड़ेगा, जिनसे आप तो भलीभांति परिचित हैं ही। इस प्रकार मैं स्वामी श्रद्धानंद तथा महात्मा गांधी के पथ का अनुसरण करूंगा, यद्यपि शहीद बनने की कोई आकांक्षा नहीं!" इसमें जहां एक व्यंग्य है, वहां एक मूलभूत सचाई भी है।

'विशाल भारत' की प्रसिद्धि और स्टैण्डर्ड के बारे में जब कभी बात हुई, उन्होंने अपने भूतपूर्व सहयोगी स्वर्गीय ब्रजमोहन वर्मा को ही उसका सारा श्रेय दिया। जहां-तहां पत्रों में अपने किसी परिचित की रचना दिखाई पड़ जाती, तो उसे ध्यान से पढ़कर अपना मतामत लिखते। 'उग्रजी' की 'चाकलेट' आदि पुस्तकों के विरुद्ध उन्होंने जो घासलेट-विरोधी आंदोलन चलाया था और महात्मा गांधी का जो पत्र 'चाकलेट' के विपक्ष में न होने के कारण उन्होंने 'विशाल भारत' में नहीं छापा था, उसे मैंने 'नया समाज' में छापकर चतुर्वेदीजी की इस कर्त्तव्यच्युति पर कुछ टिप्पणी भी की थी। मैंने उन्हें लिखा था कि अवांछनीय पुस्तकों के विरुद्ध ढोल पीटने से भी इनका विज्ञापन होता है और इस प्रकार उनका और भी अधिक प्रचार होता है। उन्होंने इसका तनिक भी बुरा नहीं माना। इसके विपरीत उन्होंने लिखा—"· · · 'मैं आपसे सवा सोलह आने सहमत हूं कि अवांछनीय पुस्तकों की सर्वथा उपेक्षा ही कर देनी चाहिए। आप जानते हैं कि २-२॥ वर्ष तक घासलेट-विरोधी आंदोलन मैंने 'विशाल भारत' द्वारा चलाया था। अब वैसी गलती करने की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता।"

आकाशवाणी द्वारा प्रसारित कई कार्यक्रमों में भाग लेने को मैंने चतुर्वेदीजी को आमंत्रित किया और समय-समय पर उनका कृपापूर्ण सहयोग भी मिला। वह जो कार्यक्रम सुनते थे, उस पर अपना स्पष्ट मत भी देते थे। यह औपचारिक और लिहाज़-मुलाहिज़े का न होकर दो टूक सत्य ही होता था। एक उदाहरण

देखिए : "कल द्विवेदीजी विषयक प्रोग्राम सुना। या तो मेरा रेडियो ही ख़राब था या कुछ और बात थी। श्री पन्तजी का स्वर बहुत कर्कश हो गया है। अब उनको कष्ट देना अनुचित है। और भी किसी बूढ़े की आवाज़ बड़ी अस्पष्ट और लड़खड़ाती हुई थी। केवल ७२ वर्ष का एक युवक (!) ठीक बोल रहा था। (आत्म-प्रशंसा की उपमा प्राचीन काल में किसी स्त्री के स्वयं ही कुच मरोड़ने से दी गई थी!) सच पूछिए तो यह कार्यक्रम बिलकुल अच्छा नहीं था। भविष्य में किसी व्यक्ति को (चाहे वह आपका विनम्र सेवक बनारसीदास ही क्यों न हो!) कर्णकटु स्वर से आकाश को गुंजायमान न करने दीजिए!"

'विशाल भारत' से हटकर जब मैंने 'नया समाज' का प्रकाशन आरंभ किया, तो चतुर्वेदीजी ने न सिर्फ़ इसका सच्चे हृदय से स्वागत ही किया, वरन समय-समय पर रचनाओं तथा सत्परामर्श से कृपापूर्ण सहयोग भी दिया। १० वर्ष चलने के बाद जब उसका प्रकाशन स्थगित करने की नौबत आई, तो उन्हें बड़ा धक्का लगा। वह चाहते थे कि इस संबंध में एक लेख भी लिखा जाय। आज भी वह उसे याद करते हैं और केवल स्वयं याद करते ही नहीं, मुझे भी यदा-कदा उसका स्मरण कराते रहते हैं। कुछ समय पूर्व एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"·····'नया समाज' का एक पुराना अंक यहां रखा हुआ था, जिसमें एक रूसी सज्जन का लेख प्रेमचंद पर था। उसे देखकर मुझे ख़याल आया कि क्या पुस्तकाकार में उसके सर्वोत्तम लेखों का संग्रह तैयार नहीं किया जा सकता? ५०० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ७॥ रु० रखने में कोई बुराई न होगी। कितनी बढ़िया पाठ्य-सामग्री पाठकों को उपलब्ध हो जायगी? पर इस आपाधापी के युग में जब अनेक वृथापुष्ट-पोथे (यह शब्द पं० पद्मसिंहजी का है!) छपते जा रहे हैं, और खपते भी जा रहे हैं; भला कौन इस प्रस्ताव पर ख़याल करेगा? ···हिन्दी-पाठकों की रुचि को परिमार्जित कैसे किया जाय? इस तूफ़ाने-बद्तमीज़ी को कैसे रोका जाय?"

एक अन्य पत्र में उन्होंने लिखा—"आज अकस्मात 'नया समाज' का संस्कृति-अंक हाथ पड़ गया। कितना सुन्दर है यह विशेषांक! दुःख की बात है कि आपको 'नया समाज' बंद करना पड़ा। शोभाचंद्र जोशी का लेख 'पतन के मार्ग पर' मैंने पहली बार पढ़ा। कितनी सुन्दर साहित्यिक कृति है! ···डा० मोतीचन्दजी का लेख 'नागरकवृत्त' महत्त्वपूर्ण था और पाणिनि पर डा० (वासुदेवशरण) अग्रवाल के लेख का क्या कहना! पूज्य दद्दा (मैथिलीशरणजी गुप्त) की कविता बढ़िया थी। आपको तो संपादक ही बने रहना चाहिए था। ···आपने 'नया समाज' के स्थगित होने पर कुछ भी नहीं लिखा। वह कभी-न-कभी पुनर्जीवित होगा, यह मेरा विश्वास है।"

कलकत्ता और टीकमगढ़ के बाद चतुर्वेदीजी संसद-सदस्य के रूप में कई वर्षों तक दिल्ली में रहे। इस काल की उनकी राजधानी को सबसे बड़ी देन है हिंदी-भवन। पर दिल्ली छोड़ देने के बाद जब-जब उनसे कुछ ही समय के लिए दिल्ली आने का अनुरोध किया गया, तो उन्होंने टालमटूल ही की। एकबार उन्होंने लिखा—"···दिल्ली अब मैं हृदय से छोड़ चुका हूं। उस रेगिस्तान में खेती करने से कोई फ़ायदा नहीं। दस वर्ष भाड़ झोंक लिया।" एक अन्य पत्र में उन्होंने लिखा—"···यात्राएँ मेरे स्वास्थ्य के लिए विघातक हो सकती हैं। ख़ुदा न-ख़ास्ता यदि पेशाब रुकी, तो फिर निगम-बोध घाट तक आप लोगों को तंग होना पड़ेगा। ···हिंदी-भवन में एक मीटिंग करनी पड़ेगी। साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' में एक सचित्र लेख छपेगा, जिसमें झूठी तारीफ़ें होंगी (!!!), जिनसे नरक में मेरी आत्मा को कष्ट होगा! चूंकि जमनाजी यहां भी हैं, इसलिए यहीं रहने का दृढ़ निश्चय किया है। ····यहां एक उपवन में वट-वृक्ष के नीचे चबूतरा बना लिया है। जिसे मिलना होगा, वह यहीं आवेगा, नहीं तो अल्ला-अल्ला ख़ैर सल्ला!"

पर इस सबके बावजूद कभी-कभी चतुर्वेदीजी का मन बहक भी जाता है। अभी आगरे में हुए उनके ऑपरेशन के बाद कुछ मित्रों के साथ मैं भी उन्हें देखने जाना चाहता था। लिखा, तो उत्तर आया—"..... नवम्बर में दिल्ली पहुंचना चाहता हूं और तब हिन्दी-भवन में एक बढ़िया चाय-पार्टी दूंगा और तदर्थ आपको पेशगी निमंत्रण भेज रहा हूं। आप यहां पधारने का कष्ट न करें।"

यह है उस जीते-जागते व्यक्तित्व की एक झांकी, जो जीवन-भर दूसरों को हँसाने के बाद आज मानो अपने-आप पर भी हँस रहा है—हँसता रहेगा! ●

गनेशीलाल बुधौलिया

चतुर्वेदीजी का प्रकृति-प्रेम

●

श्रद्धेय चतुर्वेदीजी स्वभाव से प्रकृति-प्रेमी रहे हैं। टीकमगढ़ (ओरछा राज्य) मध्य प्रदेश में उनका कुण्डेश्वर-निवास इस बात का साक्षी है। ओरछा नरेश महाराज वीरसिंहजू देव के आग्रह पर चतुर्वेदीजी 'विशाल भारत' का सम्पादन छोड़ कर यहां आये थे। कुण्डेश्वर को प्रकृति का उन्मुक्त वरदान मिला है। चारों ओर का वातावरण इतना शांत, एकांत और मनोरम है, ऐसा लगता है मानो कोई तपोवन हो। गहरी हरीतिमा से सम्पन्न वनस्थली, सघन वृक्षावली, जमड़ार का स्वच्छ सलिल प्रपात और सुंदर सरोवर, वनैले फूलों की सुगन्ध से गमकता हुआ वायुमण्डल, शीतल मन्द पवन, विविध प्रकार के सुंदर पंछी, वेरियों और झाड़ियों में चहचहाते हुए चिरौटे और फुदकते हुए खरगोश मधुवन-सा बना देते हैं। ऐसे पुनीत आश्रम में बैठकर चतुर्वेदीजी ने 'मधुकर' का सम्पादन किया था। चतुर्वेदीजी की यह साहित्य-साधना बुन्देलखंड के लिए वरदान सिद्ध हुई। बुन्देली साहित्य, संस्कृति, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, जीवन-दर्शन आदि को प्रकाश में लाने का श्रेय चतुर्वेदीजी को है।

मुझे पहले-पहल वहीं श्रद्धेय चतुर्वेदीजी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, तब से उनकी कृपा मेरे ऊपर रही है। उन दिनों 'मधुकर' से भी मेरा संबंध हो गया था। इसके बाद सन '६२ में माहौर अभिनन्दन-समारोह के कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता करने जब झांसी पधारे तब उनसे मेरी भेंट हुई थी। इस अवसर पर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तजी भी उपस्थित थे। मैं उसी समारोह में आयोजित सैर-सम्मेलन की अध्यक्षता करने आया था।

कुण्डेश्वर का चुनाव चतुर्वेदीजी के प्रकृति-प्रेम का परिचायक है। उनका प्रकृति-निरीक्षण कितना सूक्ष्म है और प्रकृति माता के प्रति उनका कितना गहरा अनुराग तथा अविचल निष्ठा है, वह उनके 'मधुकर' में लिखे सम्पादकीय लेखों से स्पष्ट है।

जिन दिनों की बात हम लिख रहे हैं, उस समय बुंदेलखंड में उनका पांचवां बसंत था अर्थात दिसंबर १९४१। उस समय को वह अपने लिए चिर-स्मरणीय बना देना चाहते थे। इसीलिए वह नित्य

प्रति सुबह-शाम वन की सैर करने के लिए निकल जाते थे। जामनेर और जमड़ार नामक नदियों के संगम से बनी हुई वनस्थली का नाम उन्होंने मधुवन रख दिया था और उनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि उनके सभी साहित्यिक बंधुओं को वह मधुवन की यात्रा करायें।

चतुर्वेदीजी के शब्दों में उनके मधुवन में बेरियां भी काफी हैं और बाज़-बाज़ बेरी तो काश्मीर के सेबों का मुकाबला करती है। कुकुर खांसी से पीड़ित किसी शंकाशील वैद्य ने लिख दिया था—"कुपथ्यं बद्री फलम्!" नतीजा यह हुआ कि कितने ही मूर्खों ने बेर खाना छोड़ दिया, हालांकि चतुर्वेदीजी अपनी गिनती, उन्हीं में करते हैं; पर उन दिनों वह नित्यप्रति बेरों का कलेवा करते थे और पिछले दिनों की भरपूर पूर्ति कर रहे थे। 'मधुवन' में झरबेरी के सैकड़ों पेड़ हैं और एक बार उन्होंने निश्चय किया था कि प्रत्येक पेड़ से दो-दो बेर खाए जावें। उस समय उन्हें पेड़ों की संख्या का अनुमान नहीं था, परिणाम यह हुआ कि वे लोग हार गए और झरबेरियों की विजय हुई। कैथों को वहां कोई पूछता ही नहीं और जामुन के दिनों में अपने हाथ से तोड़ कर जामुन खाने में जो आनन्द आता है वह दिल्ली वालों के लिए, जहां पैसे के दस-दस जामुन बिकते हैं, कल्पनातीत है। झरबेरी, बेर, कैथ, इमली और जामुन की बहुतायत देखकर उन्होंने सोचा था कि जब संसार में साम्यवाद का बोलबाला होगा, तब सभी चीजों का इसी प्रकार बाहुल्य होगा। उन दिनों के बसंत में उनके मधुवन की करौंदी अभी कच्ची थी, पर भगवान शिवजी के प्रिय विल्व-वृक्ष में बेल पकने लगे थे। वनश्री की इस अद्भुत मनोहरता को इतनी तन्मयता के साथ देखने का सौभाग्य उन्हें उसी वर्ष प्राप्त हुआ था।

'मधुवन' से जब, चतुर्वेदीजी अपने निवास के उद्यान में लौटे तो उन्हें वहां अन्य प्रकार का सौन्दर्य दृष्टिगोचर हुआ। उपवन के अधिकांश आम नवविवाहित दम्पति की तरह बौरा गए थे और किसी-किसी में तो हजारों अमियां (कैरी) भी लग गई थीं। प्रकृति अपने प्रयोगों में कितनी फिज़ूलखर्ची करती है, फिर भी लोग कितने कंजूस होते हैं! कामिनी या रजनीगंधा की सुगन्ध कितनी मादक है, चम्पा की एकाध कली खिलकर अपनी खुशबू को फैला रही है और 'मदन महीपजू के बालक बसंत' को चटकारी देकर जगाने वाले गुलाबों की उस बगीचे में भरमार है।

इस विवरण में चतुर्वेदीजी के जीवन-दर्शन की एक सहज सलोनी झांकी के मोहक दर्शन मिलते हैं। वन-उपवन के दोनों स्वाभाविक चित्र उन्होंने अपनी सरल लेखनी से अंकित किये हैं। कितना सुन्दर दृश्य-चित्रण है! मधुवन और अपने उद्यान का जो उन्होंने चित्रण किया है, तथा मधुवन की यात्रा का निमन्त्रण, जो उन्होंने दिया है, वह प्रकृति-प्रेमियों को आकर्षित करने वाला है।

चतुर्वेदीजी को कुण्डेश्वर अधिक प्रिय था। उसकी प्राकृतिक सुषमा, सौन्दर्य और सम्पन्नता से वे बड़े प्रभावित थे।

उन्होंने एक सम्पादकीय में लिखा:

"इधर साढ़े चार वर्ष से हमें कुण्डेश्वर नामक रमणीक स्थल के निकट रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और इसे हम अपने तुच्छ जीवन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचना मानते हैं। वर्षा में जमड़ार (नदी) के गम्भीर नाद को हमने सुना है और हेमन्त में उसके जलप्रपात के कलकल-निनाद को। बसंत में उसके तट के प्रहरी वृक्षों की मनोरम सुषमा के दर्शन हमने किये हैं और ग्रीष्म में उसके शीतल जल में स्नान करके अद्भुत आनन्द प्राप्त किया है।"

चतुर्वेदीजी को प्रकृति से अत्यधिक मोह है। उनकी आस्था प्रकृति के प्रति कैसी है, इस उद्धरण से पता चलता है। वह लिखते हैं:

"यदि हम शिक्षा-विभाग के अधिकारी होते तो केवल उन्हीं शिक्षकों को अपने विभाग में स्थान देते जो प्रकृति-प्रेमी होते और विद्यार्थियों में भी प्रकृति-प्रेम उत्पन्न कर सकते। नदी और सरोवर के निकट रहते हुए भी जो शिक्षक भली-भांति तैरना नहीं जानते, उन्हें हम पन्द्रह दिन का नोटिस देकर बरखास्त कर देते। ' ' 'यदि कोई विद्यार्थी अपने छात्र-जीवन में दस-बीस वृक्ष उगा देता तो सबसे अच्छा सर्टीफिकेट उसी को देते।"

उनका यह सम्पादकीय उद्धरण अमराइयों की सघन और शीतल छाया में लिखा गया था:

"यह लेख एक आम्र निकुंज में बैठकर लिखा जा रहा है, जहां अनेकों चिड़ियों की मधुर ध्वनि हमारे कानों में सुनाई पड़ रही है। कभी बुलबुल सामने की डार पर आ बैठती है तो कभी तोता आम को कुतर कर नीचे गिरा देता है। कोई चिड़िया मधुर सीटी-सी बजाती है और पिड़कुलिया अपनी रट अलग लगाये हुए है।"

प्रकृति और पुरुष का पारस्परिक संबंध है। प्रकृति पुरुष के बिना एकांगी है और दोनों का संबंध होना आवश्यक है। चतुर्वेदीजी मानते हैं:

"प्रकृति पुरुष के बिना अधूरी है। दोनों का संबंध कराने की आवश्यकता है। यरवदा जेल का वह आम्र वृक्ष, जिसके नीचे महात्माजी ने व्रत किया था, तीर्थ के समान पूज्य बन गया है और भगवान गौतम बुद्ध के महाबोधि वृक्ष की कथा तो हम सब जानते ही हैं। सम्राट अशोक ने उस वृक्ष की शाखा को अपनी पुत्री द्वारा सिंहल द्वीप को भेजकर एक महान कार्य किया था। कैनिया (पूर्व अफ्रीका) की राजधानी नैरोबी में प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट के द्वारा लगाया गया पेड़ देखकर हमें हार्दिक हर्ष हुआ था। शांतिनिकेतन में वह सप्तवर्ण वृक्ष, जिसके नीचे बैठकर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने साधना की थी, बड़ी श्रद्धा के साथ सबको दिखाया जाता है। भड़ोंच का कबीर बट भी तीर्थ-स्थान है।"

प्राकृतिक सौन्दर्य का एक आध्यात्मिक महत्व है। प्राचीन काल में तपोवनों का इसी कारण अपना एक विशिष्ट महत्व था। चतुर्वेदीजी की मान्यता है कि साधना के लिए रमणीक स्थलों की अत्यंत आवश्यकता है। अफ्रीका-प्रवास में टांगानिका का एक प्रातःकाल चतुर्वेदीजी के लिए चिरस्मरणीय हो गया, जब उन्होंने किलीमंजारो की हिममंडित पर्वत-श्रेणियों के दर्शन किये। मैसूर राज्य के कृष्णरावराज सागर की छवि उनकी आँखों में झूलती रहती है और मसूरी की कैमिल-बैक रोड में दीखने वाले हिमालय के दृश्यों का सुन्दर चित्र उनके नेत्रों के सम्मुख रहता है। सहारनपुर से देहरादून की यात्रा को वह कदापि नहीं भूल सकते और बम्बई के समुद्रतट का क्या कहना! अफ्रीका के घोर जंगलों में एक हजार मील मोटर द्वारा भ्रमण करने के पश्चात वह वनों के महत्व को समझ सके थे।

उनका विश्वास है, "यदि हमारे चित्र में सौन्दर्य-भावना के साथ उच्चकोटि की संस्कृति भी हो तो हम अपने दुखों को प्रकृति के सम्पर्क से भूल सकते हैं। प्रकृति माता में वह अद्भुत शक्ति है कि वह हृदय के बड़े-से-बड़े आघातों को सहन करा सकती है, बल्कि यों कहा जाय कि वह घावों को भर सकती है।" ●

शिवकुमार गोयल

क्रान्तिकारियों के पुरोहित

●

बात सन १९६० की है। अण्डमान में वर्षों तक अमानवीय यातनाएं सहन करने वाले सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी बंग-केसरी श्री आशुतोष लाहिड़ी दिल्ली आए हुए थे। मुझे जैसे ही यह सूचना मिली कि श्री लाहिड़ीजी हिन्दू महासभा भवन में ठहरे हुए हैं, मैंने ९९ नॉर्थ एवेन्यू जाकर श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी को यह सूचना दी। दादाजी सदैव क्रान्तिकारियों के सत्संग एवं उनके संस्मरण सुनने के लिए उत्सुक रहते थे। उन्होंने सुनते ही कहा—"मैं स्वयं इस 'जीवित शहीद' के विषय में बहुत कुछ सुन चुका हूं। चलो आज मन की यह साध भी पूरी होगी।" हम दोनों नॉर्थ एवेन्यू से हिन्दू महासभा भवन जा पहुंचे और आशुबाबू से भेंट की। उनके अनेक रोमांचकारी संस्मरण सुने। दादाजी ने उनसे अपने क्रांतिकारी जीवन के अमूल्य संस्मरण लिखने का आग्रह किया तथा बहुत सकुचाते हुए उनकी आर्थिक स्थिति के विषय में भी पूछ ही लिया। मैंने उस दिन स्वयं आँखों से देखा कि दादाजी की क्रांतिकारियों के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा है तथा वह उन्हें हर प्रकार की सहायता दिलाने के लिए कितने तत्पर रहते हैं।

आशुबाबू के सामने ही उन्होंने इस बात पर भारी असन्तोष प्रकट किया कि आज देश की स्वाधीनता के लिए सर्वस्व अर्पित कर देने वाले क्रांतिकारियों की भारी उपेक्षा की जा रही है। उनका हृदय इस प्रकार की घटनाएं सुनकर कराह उठता था। वस्तुतः हमने आजादी की नींव के उन पत्थरों की भारी उपेक्षा की है, जिन्होंने अपने ख़ून से होली खेलकर, प्राण देकर, हमें स्वाधीनता दिलाने में भारी योगदान किया। श्री दादाजी ने 'शहीदों के श्राद्ध' का एक अभियान चलाकर अनेक प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध देशभक्त क्रांतिकारियों को प्रकाश में लाकर, संकटग्रस्त क्रान्तिकारियों के लिए दो समय के भोजन की व्यवस्था कराकर अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है।

जिन दिनों दादाजी राज्यसभा के सदस्य थे तथा ९९ नॉर्थ एवेन्यू में रहते थे, उन दिनों मैं प्रायः उनके पास जाता रहता था। उनका निवासस्थान एक प्रकार से क्रांतिकारियों का मिलन-स्थल था। उनके पास कोई-न-कोई वयोवृद्ध क्रान्तिकारी देशभक्त अवश्य ठहरा रहता था। देश के किसी भी कोने से कोई पुराना देशभक्त दिल्ली आया नहीं और दादाजी को उसके आने का पता चला नहीं फिर क्या मजाल कि दादाजी उसे अपने निवास-स्थान पर बुलाये बिना चैन से बैठ जायं। मैंने स्वयं गदर पार्टी के पंडित परमानन्द 'झांसी', काकोरी षडयन्त्र के श्री शतीन्द्रनाथ बख्शी, भगतसिंह के साथी श्री शिव वर्मा तथा अन्य अनेक देशभक्तों के उनके निवास-स्थान पर दर्शन किये। दादाजी ने अपना जीवन ही शहीदों के श्राद्ध के पुनीत कार्य के लिए समर्पित किया हुआ है। वह पुराने क्रांतिकारियों का पता लगाते हैं, उन्हें पत्र लिखते हैं, उनके पास स्वयं पहुंचने का प्रयास करते हैं तथा यदि संभव हो सके तो उन्हें बड़े आदर के साथ अपने यहां आमंत्रित करके उनके संस्मरणचित्र आदि प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

दादाजी क्रांतिकारियों की यशःगाथा गाने तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने सरकार से निरन्तर संघर्ष करके, लड़-झगड़कर, पत्र लिखकर अनेक पीड़ित व दाने-दाने को मोहताज क्रांतिकारियों व उनके परिवारों को आर्थिक सहायता दिलाने में भी सफलता प्राप्त की है। बाबा तीर्थराम, फील्ड मार्शल

लद्धाराम, शहीद रामप्रसाद 'बिस्मिल' की बहन श्रीमती शास्त्रीदेवी, क्रांतिकारी बम्बवाल, शहीद अशफाकुल्ला के परिवार आदि को उन्होंने सरकार से आर्थिक सहयोग दिलाकर ही दम लिया है। जिस पुनीत कार्य के पीछे पड़ गये, उसे पूरा करा कर ही दम लेना, यह दादाजी का स्वभाव है।

दादाजी ने जब कभी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या किसी प्रदेश के मुख्यमंत्री से भेंट करते हैं, उनके सम्मुख केवल मात्र किसी-न-किसी अर्थसंकट से पीड़ित क्रांतिकारी को आर्थिक सहयोग दिलाने का उद्देश्य होता है। अपने लिए कभी भी हाथ न पसारने वाला यह ब्राह्मण देशभक्तों के लिए आर्थिक सहायता मांगने में कभी नहीं हिचकिचाया।

दादाजी को मैंने कभी किसी भी क्रांतिकारी देशभक्त के प्रति अश्रद्धा प्रकट करते हुए नहीं पाया। वे भले ही गांधीवादी हैं, किन्तु यदि कोई क्रांतिकारी हिंसा में विश्वास रखने वाला, साम्यवादी विचारधारा के साथ हो गया तो भी उनका यही कहना है कि हमें उसके देश के लिए किये गए त्याग से ही मतलब है, राजनैतिक विचारों में मतभेद अलग बात है। उनसे एक दिन बातचीत के दौरान एक व्यक्ति ने स्वातन्त्र्य वीर सारवरकर, भाई परमानन्द, श्री आशुतोष लाहिड़ी, श्री गोगटे आदि पर सम्प्रदायवादी होने का आरोप लगाते हुए उनके हिन्दू महासभा में शामिल हो जाने पर टिप्पणी की तो दादाजी ने उत्तर दिया, "उनके राजनैतिक विचारों से मतभेद होने के कारण, उनके देश के लिए किये गए अपूर्व त्याग पर तो पानी फेरा नहीं जा सकता। वीर सावरकर एवं भाई परमानन्द ने देश की स्वाधीनता के लिए जो त्याग-बलिदान किये हैं वे तो इतिहास में अमर रहेंगे तथा प्रेरणा देते रहेंगे। अतः हमें उनके वर्तमान राजनैतिक जीवन से क्या लेना है।"

एक दिन जब मैं उनसे मिलने गया तो कैमरा मेरे पास था। मुझ से बोले--"गोयलजी, आज आपके पास कैमरा तो है ही, अतः इसका उपयोग करो। पुरानी दिल्ली में दरीबा में जाकर दिल्ली षड़यंत्र के वयोवृद्ध सेनानी लाला हनुमन्तसहाय का चित्र खींच कर लाओ। सुशीला दीदी के पास भगतसिंह की एक कमीज सुरक्षित रखी है, उसका चित्र भी होना चाहिए।"

कुछ क्षण रुककर दादाजी ने मुझसे कहा--"देखो, दिल्ली में कुछ ऐसे बलिदान-स्थल भी हैं, जिनका सम्बन्ध देश से नहीं, अपितु धर्म के लिए हुए बलिदानों से है। उन्होंने मुझे बताया कि शीशगंज गुरुद्वारे में जो गुरु अर्जुनदेव का स्मारक है, उसका चित्र भी लेना चाहिए। हकीकतराम की सुन्दर प्रस्तर मूर्ति का चित्र भी लेना चाहिए। जिन्होंने अपने धर्म की रक्षा के लिए बलिदान दिये, उन्हें भी तो बलिदानियों के इतिहास से अलग नहीं किया जा सकता। उन्हें साम्प्रदायिक बताकर उनकी उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती।"

सन् १९६३ में मैंने दादाजी की प्रेरणा से स्वातन्त्र्यवीर सावरकर का जीवन-चरित लिखा तो वह बड़े प्रसन्न हुए।

चतुर्वेदीजी ७७-७८ वर्ष की आयु के हो जाने पर भी शहीदों व क्रांतिकारियों के अपने श्राद्ध-यज्ञ में बराबर सक्रिय हैं। जब भी किसी समाचार-पत्र में वह किसी क्रांतिकारी के विषय में कुछ सामग्री पढ़ते हैं, उसके लेखक व सम्पादक को बधाई देना नहीं भूलते।

भारतीय क्रांतिकारियों के इतिहास को सामने लाने में दादाजी का जो हाथ रहा है उसे कदापि विस्मृत नहीं किया जा सकता। उनके 'शहीदों के श्राद्ध'-अभियान से देश की जनता को भारी प्रेरणा मिलती रहेगी।

दादाजी की यह आकांक्षा थी कि वीर सावरकर की अण्डमान की कारावास कहानी प्रकाशित होनी चाहिए, सो नागपुर से उसका हिन्दी में प्रकाशन हो चुका है। वीर सावरकर द्वारा लिखित कालापानी के जनजीवन पर आधारित 'कालापानी' उपन्यास भी प्रकाशित हो चुका है। वह चाहते हैं कि ज्ञात-अज्ञात-क्रांतिकारियों के संस्मरण, जीवनचरित आदि प्रकाश में आयें। आशा है, उनकी यह आकांक्षा भी अवश्य ही पूर्ण होगी। ●

सुधाकर शुक्ल

जिनका कहीं उपमान नहीं

●

पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी उन मूर्धन्य गद्यकारों में से हैं, जिनसे राष्ट्रभाषा हिंदी को शैली की शालीनता प्राप्त हुई है। उनके गद्य को पढ़कर हमें भाष्यकार पतञ्जलि का स्मरण हो आता है। हिंदी रेखा-चित्र-जगत् के वह सफल शैलीकार हैं। कलम की कला के कुशल कलाकार, द्विवेदी-युग के पत्रकार, महापुरुषों के चित्रकार, विभिन्न भाषा-भाषी विदेशी लेखकों के मित्रकार, आकार में माथुर, चतुर्वेदी-प्रकार महामानव, सत्कार में ऋषि-मुनियों की परम्परा के पोषक, शोषक के विरोधी, विनम्रता के अनुरोधी, सरल सहज विनोदी स्वभाव की मूर्ति, हिंदी गद्य की अनवद्य प्राज्वलता की पूर्ति पं० बनारसीदास चतुर्वेदी संयम के धनी, नियम के धुनी एवं भाषा के निसर्ग प्रवाह की पावन सुरधुनी के उस अनाविल स्वच्छ-स्रोत के समान हैं, जिनका कहीं उपमान नहीं और जिसमें अवगाहन कर मनीषियों के मन पावन बन जाते हैं।

आकृति से उन्नत और प्रकृति से समुन्नत, विचारों से विनत एवं आचार-चारुता से प्रणत इस व्यक्तित्व ने इधर विगत साठ वर्षों से जिस पीयूष का आसार किया है, वह विकत्थनीय है, संस्पृहणीय है और है सुतरां रमणीय।

टीकमगढ़ के निकट पादप-पल्लव-प्रसूनों से मण्डित कुण्डेश्वर के तपोवन में वन-प्राण पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रथम दर्शन इस जन को सर्वप्रथम सन् बयालीस के दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में हुए।

इस आश्रम के कुलपति चतुर्वेदीजी का परिवार विशाल एवं रमणीय दीख पड़ा। उनके दो पुत्र, पुत्री, भ्रात-वधू एवं भ्रातजा के अतिरिक्त आश्रम में विमलमना श्री यशपालजी, विदग्धवाक् श्री जगदीश प्रसादजी तथा पैनी प्रकृति एवं आलोचक दृष्टि वाले बन्धुवर श्री कृष्णानन्दजी प्रभृति से भेंट हुई। परिकर की दृष्टि से तो उनके विषय में कुछ कहना इस लेखनी के मान का नहीं, क्योंकि द्विवेदी-युग के प्रख्यात पत्रकार एवं 'विशाल भारत' जैसे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ हिंदी मासिक के प्रधान सम्पादक एवं प्राण होने के अतिरिक्त, महात्मा गांधी, गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मदनमोहन मालवीय, सरोजिनी नायडू, श्रीनिवास शास्त्री, गणेशशंकर विद्यार्थी, आदि तत्कालीन साहित्यिक राजनेताओं के अतिरिक्त, रोम्यां रोलां (फ्रांस), लुई फिशर (अमेरिका), दीनबन्धु एण्ड्रयूज़ (इंग्लैण्ड) जैसे विदेशी विद्वान लेखक और पत्रकार भी उनके

निकटतम परिकर ही महापुरुष थे। पं० पद्मसिंह शर्मा, श्री शालिग्राम शास्त्री आदि उनके मान्य जनों में थे। आचार्यप्रवर महावीर प्रसाद द्विवेदी को तो वह परमआदरणीय गुरु ही मानते थे। उनके आश्रम की सर्वप्रमुख विशेषता यह थी कि वहां (कुण्डेश्वर) मेरे अक्षरब्रह्म की अजस्र उपासना का क्रम चलता रहता था। प्रतिसप्ताह गोष्ठियां आयोजित होती थीं, जिनमें भाषण एवं लिखित निबन्ध पाठ के विषय थे, श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय, कवीन्द्र रवीन्द्र, शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, कालिदास, चेखव, गोर्की, एमर्सन, प्रिंस क्रॉपॉटकिन, आदि। इन चर्चाओं में संयम-शालीनता एवं शिष्ट भाषा में मिष्ट एवं इष्ट भावों का गुम्फन एवं उनकी धारा-प्रवाह अभिव्यक्ति बड़ी ही मनोरम होती थी। व्यक्तिगत या पारिवारिक हितों को लेकर भौतिक स्वार्थपूर्ण चर्चाओं के लिए वहां कोई स्थान नहीं था। इन ज्ञान-यज्ञों के प्रधान आचार्य थे दादाजी, जिन्हें उनके अत्यन्त निकट एवं परिवार के सदस्य इसी शब्द से सम्बोधित करते हैं। दादाजी की घर-गृहस्थी सञ्चालन में कभी कोई रुचि नहीं रही। वे भाग्यशाली इतने हैं कि गृहभार का प्रत्यक्ष दायित्व उन पर कभी नहीं रहा। वह पचपन वर्ष के हो गये तब तक उनके पूज्य पिताजी जीवित रहे और वही गृहपति थे। बाद में दादाजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री बुद्धिप्रकाश गृहपति बन गये। रुपये-पैसे का उनके मन में कतई मोह अथवा लोभ कभी नहीं रहा।

उनके मन में ऊंच-नीच, छुआछूत की क्षुद्रता कभी स्थान नहीं पा सकी। मैंने कितने ही बार प्रत्यक्ष देखा कि महाराज ओरछेश आ गये तो वह उसी भाव से मिल लिये और उनकी गाय चराने वाला सामान्य जन आ गया तो उससे भी उसी भांति मिले। कितने ही बार बहुत पैसे वाले लोग उनसे मिलने आये तो विशेष रूप का सत्कार नहीं हुआ और निर्धन साहित्यकार आ गया तो उसकी ओर विशेष ध्यान दिया गया।

सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी, फक्कड़ स्वभाव के तरुण, परोपकारपूर्ण भाव के अभाव में भी सद्भाव के धनी, धीर-धन्य एवं मूर्धन्य मनीषी इन वयोवृद्ध साहित्य-साधक को मैं विनत मूर्ध श्रद्धाञ्जलि के सुमनस सुमन से अर्पित करता हूं। ●

शिवनारायण श्रीवास्तव

मानवतावादी साहित्यकार

●

पत्रकार तथा साहित्यकार पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी पिछले १८ वर्षों से भारत के स्वतंत्रता-आन्दोलनों के वीर क्रांतिकारियों, शहीदों और जीवित क्रांतिकारियों तथा अंधकार में पड़े अज्ञात वीरों का पता लगाने व लगवाने और उनकी ऐतिहासिक देश-भक्ति-पूर्ण गाथाएं लिखने और लिखवाने तथा उनके सम्पादन-कार्य में तन-मन-धन से निःस्वार्थ भाव से लगे हुए हैं। अबतक वह शहीद-ग्रंथ-माला के रूप में छः ग्रंथ प्रकाशित करा चुके हैं। अनेक मासिक-पत्रों के शहीद-विशेषांक भी उन्होंने निकलवाये हैं।

चतुर्वेदीजी एक जगह लिखते हैं, "देश की स्वाधीनता की बलिवेदी पर अपने प्राणों को न्यौछावर कर देनेवाले शहीदों से बढ़कर भला कौन पूज्य हो सकता है?"

उनका कथन है, "शहीदों का श्राद्ध ही मेरी जिन्दगी के बाकी दिनों का एकमात्र लक्ष्य है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना है। जो लोग मेरी अल्प सेवा का कुछ लाभ उठाना चाहें, उन्हें मेरे उक्त उद्देश्य में सहायक बनने की उदारता दिखानी चाहिए।"

लगभग ५४ वर्ष से भिन्न-भिन्न पत्रों के सम्पादक तथा अनेक पत्रों में सैकड़ों लेख लिखनेवाले इस मनीषी और तपस्वी की कलम में प्रवाह ही नहीं, इंसानियत के प्रति असीम करुणा भी है। जहाँ वह वीर शहीदों, जीवित क्रांतिकारियों, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय पत्रकारों, साहित्यकारों की गुण-गाथाओं को चित्रित करते हैं; वहां वह घूरों में पड़े गरीबों-दुखियाओं के प्रति हमदर्दी के चार शब्द लिखने से नहीं चूकते। उनकी यथार्थवादी लेखनी देश के नव-युवकों को उत्साहित करती रही है।

१९ सितम्बर को फांसी पर चढ़ने के पहले क्रांतिकारी अशफाकउल्ला ने अपनी वसीयत में देशवासियों के नाम यह संदेश दिया था:

"यह सोच कर कि सात करोड़ मुसलमान भारतवासियों में, मैं सबसे पहला मुसलमान हूं, जो भारत की स्वतंत्रता के लिए फांसी पर चढ़ रहा हूं, मैं मन-ही-मन अभिमान का अनुभव कर रहा हूं। मेरे परिवार में आजतक देश की सेवा के लिए कोई त्याग नहीं हुआ था। अब यह कलंक छूट जायगा। सब को आखिरी सलाम। भारतवर्ष सुखी हो। मेरे भाई आनंद-लाभ करें।

तंग आकर हम भी उनके जुल्म से बेदाद से,
चल दिये सूये अदम जिन्दाने फैजाबाद से।

ऐसे क्रांतिकारियों की कीर्त्ति-रक्षा के लिए चतुर्वेदीजी ने जो कुछ किया है, वह निस्संदेह अभिनंदनीय है। भारत में पत्रकार-साहित्यकारों की कमी नहीं है। परंतु चतुर्वेदीजी जैसे पत्रकार, साहित्यकार बहुत कम होंगे। १९५२ से १९६४ तक, जब वह संसद-सदस्य थे, उनके निवासस्थान ९९ नॉर्थ एवेन्यू, नई दिल्ली पर जीवित क्रांतिकारियों और शहीदों के परिवारवालों का आना-जाना लगा रहता था। चतुर्वेदीजी एक विशाल हृदयवाले व्यक्ति हैं। उन्होंने स्वयं अपने खर्चे से अनेक शहीदों के परिवारवालों का बुलाकर और अपने यहां ठहरा कर उनकी दारुण दुःख-गाथाओं को लिपिबद्ध किया है।

एक बार चतुर्वेदीजी ने शहीद चन्द्रशेखर आजाद की माताजी की खोज-खबर लाने के लिए अपने एक शिष्य को लिखा। उन दिनों आजाद की माताजी पुत्र-शोक से दुःखी होकर घोर आर्थिक कष्ट उठा रही थीं। कोदों का भात आधा पेट खाकर वह अपने दिन काट रही थीं। चतुर्वेदीजी उस समाचार से द्रवित हो उठे और उन्होंने उस संबंध में जो किया वह किसी से छिपा नहीं है।

शब्द-शिल्पी, पत्रकार और साहित्यकार चतुर्वेदीजी की कलम में प्रबल शक्ति है। शहीदों के श्राद्ध-कर्ता चतुर्वेदीजी ने काकोरी षड़यंत्र केस के प्रमुख शहीद रामप्रसाद 'बिस्मिल' द्वारा लिखित आत्मचरित को ही नहीं छपाया, बल्कि उनकी बहन श्रीमती शास्त्री देवी की कठिनाइयों का जब उन्हें पता चला तो उन्होंने पत्रों और लेखों द्वारा शहीद 'बिस्मिल' की वीरगाथा और उनकी बहन की आर्थिक परेशानियों के विवरण छपाए।

यहां हम श्रीमती शास्त्री देवी के उस लेख का आखिरी अंश दे रहे हैं, जो उन्होंने चतुर्वेदीजी पर लिखा था:

"भाई बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने मुझ दीन की पुकार सुनी। आपने अपील निकाली तो कुछ भाइयों को दया आ गई। सहायता मिलने लगी। राष्ट्रपति महोदय और कृष्ण कुमार बिड़ला से लगाकर छोटे-बड़े सब ने मुझ पर दया की। मैं संकोच के कारण उनमें से पैसा खर्च न कर सकी। श्री चौबेजी ने लिखा––'आप संकोच न करें, यह पैसा आपका ही है। आप कपड़ा बनवा डालिए। अन्न भी लेकर रख लीजिए। अब आप मुसीबत न उठाइए। बहुत दुःख आपने सहे। मैं अब आप को दुःखी न होने दूंगा।' चौबेजी ने बहुत कोशिश करके मेरी पेंशन चालीस रुपया महीने करवा दी। उनको मैं कहां तक धन्यवाद दूं, उसी से हम तीनों प्राणियों की जैसे-तैसे गुजर हो रही है।"

श्री चतुर्वेदीजी का सम्पर्क महापुरुषों से रहा है। इतना ही नहीं, बल्कि वह विश्वविख्यात साहित्यकारों, कवियों और कलाकारों में महाकवि गेटे, कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर, रोम्यां रोलां, स्टीफन, ज्विग, टालस्टाय, एमर्सन, थोरो, चेखव, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनेव, क्रॉपॉटकिन इत्यादि मनीषियों के ग्रन्थों का अध्ययन करके उनकी विचार-धाराओं के प्रशंसक बन चुके हैं। पत्र-लेखकों में चतुर्वेदीजी श्रेष्ठ माने जाते हैं। पत्रों के उत्तर टाइप न कराकर नीली और कहीं-कहीं लाल स्याही में स्वयं अपने हाथ से सुन्दर अक्षरों में लिख कर भेजते रहते हैं। पत्रों का उत्तर भेजने में वह किसी प्रकार की ढिलाई नहीं करते, बल्कि तत्काल उत्तर भेजते हैं।

पत्र-व्यवहार का व्यसन उन्हें लगभग ५५ वर्ष से है। यदि हिसाब लगाया जाय तो इस अनुपात से उन्होंने अब तक सवा दो लाख के लगभग पत्र लिखे होंगे।

पत्र-लेखन के विषय में वह एक जगह लिखते हैं:

"कोई भांग पीता है, कोई तमाखू खाता है, किसी को अफीम की लत है, तो किसी को गांजे का शौक है। सुरों की प्रिय सुरा पीने वालों का क्या कहना! और चाय के पियक्कड़ों की संख्या तो दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। .....

"पर इन सब नशों की तरह, उतना ही मादक, एक नशा और भी है और वह है चिट्ठियों को भेजने का।" (पद्मसिंह शर्मा के पत्र, भूमिका, पृ० १५)

नवीन लेखकों को सहयोग देने में चतुर्वेदीजी रूस के दो महान साहित्यकारों मैक्सिम गोर्की और टाल्स्टाय का उदाहरण देते हुए एक जगह लिखते हैं:

"मैक्सिम गोर्की किसी लेखक के पास भोजन भिजवाते थे, किसी के पास किताबें, किसी को पैसा और प्रोत्साहन-पत्र तो उन्हें सैकड़ों लिखने पड़ते थे! टाल्स्टाय के बत्तीस पृष्ठीय पत्र ने जो रोम्यां रोलां को अपनी कुमार अवस्था में मिला था, उनके जीवन को अत्यन्त प्रभावित किया।"

नये पत्रकारों और साहित्यकारों को चतुर्वेदीजी अपने पत्रों द्वारा बराबर उपयोगी सूचनाएं देते रहते हैं। यहां हम उनका एकमात्र पत्र, जो उन्होंने टीकमगढ़-निवासी श्री भैयालालजी को लिखा था, उद्धृत कर रहे हैं:

नॉर्थ एवेन्यू, नई दिल्ली
१४-४-५८

प्रियवर,

वन्दे, कृपा-पत्र तथा लेख मिला। कृतज्ञ हूं। गाडनर के निबंध के अनुवाद को आप कहीं और छपा सकते हैं, पर इस रूप में तो शायद कोई नहीं छापेगा, क्योंकि कागज के दोनों ओर लिखा होने से कम्पोजीटरों को बड़ी कठिनाई होती है।

पत्रकार का प्रथम नियम आप नोट कर लीजिए कि आपको अपनी रचना अच्छे-से-अच्छे ढंग से स्वच्छ अक्षरों में लिखनी चाहिए, घसीट कर लिखी हुई चीज को पढ़ते हुए चित्त में एक प्रकार की ग्लानि होती है। जब आप मनचाहे ढंग से अत्युच्च कोटि के मनुष्य या प्रभावशाली लेखक बन जायं, तब आप मनचाहे ढंग पर घसीट सकते हैं, अभी तो आपको इस विषय में अत्यन्त सावधानी से काम लेना पड़ेगा।

कागज चाहे मामूली तरीके का हो, पर अक्षर तो ठीक होने चाहिए, और हाशिया छोड़कर लिखने की जरूरत है। स्याही के फीकेपन की क्षमा चाहने पर सम्पादक की असुविधा थोड़े ही दूर हो जायेगी। अध्यापक हो कर भी आप ऐसी भूल क्यों करते हैं? यद्यपि मेरे पास इतना समय नहीं कि अंग्रेजी से मिला कर आपके अनुवाद को देखूं, तथापि किसी-न-किसी प्रकार मैं ऐसा कर भी देता, यदि चीज साफ ढंग से लिखी गई होती।

मुझे विश्वास है कि आप बुरा न मानेंगे और भविष्य में अपने लेख इत्यादि सुन्दर अक्षरों में लिख कर भेजेंगे। अपने बारे में इम्प्रेशन क्यों खराब करते हैं? हस्त-कम्पन के कारण मैं अधिक नहीं लिख सकता, फिर भी आप जैसे उत्साही व्यक्ति को लिखे बिना नहीं रह सकता।

जो थोड़ी सफलता मुझे अपने पत्रकार जीवन में मिली है, उसमें अक्षरों का विशेष हाथ है। लापरवाही से लिखी हुई कोई रचना मैंने पिछले तीस वर्षों से किसी सम्पादक को नहीं भेजी। इस स्पष्टवादिता के लिए क्षमा-प्रार्थी हूं।

विनीत

--बनारसीदास चतुर्वेदी

चतुर्वेदीजी का पत्र-संग्रह बड़ा समृद्ध है। वह विख्यात व्यक्तियों के अलावा साधारण व्यक्तियों से पत्र-व्यवहार करते हैं। उन्होंने शान्तिनिकेतन (कलकत्ता) की हरियाली में विश्वबन्धु कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर को निकट से देखा ही नहीं; बल्कि उनसे कुछ पत्र भी प्राप्त किये। साबरमती आश्रम में गांधीजी के सहवास में रह कर न केवल उनकी आत्मीयता पाई, अपितु बाद में उनके लगभग सौ पत्र भी।

फ्रांस के अमर साहित्यकार रोम्यां रोलां से पत्र-व्यवहार किया और उस महान लेखक के तीन पत्र आज भी उनके पास सुरक्षित हैं। इसी तरह आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मुंशी प्रेमचंद, पंडित जवाहर लाल नेहरू, पंडित पद्मसिंह शर्मा, श्रीधर पाठक इत्यादि के अनेक पत्र उनके संग्रहालय को ऐतिहासिक महत्व प्रदान करते हैं।

हम कह सकते हैं कि हिंदी के ही नहीं, बल्कि भारत के किसी भी भाषा के पत्रकार-साहित्यकार के पास इतने मूल्यवान पत्रों का संग्रह नहीं है।

चतुर्वेदीजी के रेखाचित्रों का तो कहना ही क्या! उनके हृदय में मानव के प्रति अगाध प्रेम है। यह उनके रेखाचित्रों के पढ़ने से मालूम हो जाता है। उन्होंने कल्पना को परे रख कर आंखों देखी, कानों सुनी बातों के आधार पर बड़ी आत्मीयता और बारीकी से अनेक व्यक्तियों का चरित-चित्रण किया है। पढ़ते समय वे व्यक्ति पाठकों के सामने आ खड़े होते हैं। उनकी कलम में जादू है। जहां पं० जवाहरलाल नेहरू, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, दीनबंधु एण्ड्रयूज़, रोम्यां रालां, स्टीफन ज्विग, श्रीमती जयिनी मार्क्स, मुंशी प्रेमचंद, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, शहीद चंद्रशेखर आजाद की माताजी, शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी इत्यादि-इत्यादि नेताओं के संबंध में अपनी लेखनी चलाई है, वहां 'लल्लू कब

लौटेंगे', 'मनसुखा और कल्ला' 'अंधी चमारिन', 'कौन सुनेगा', 'चार सिपाही', 'गुम नाम मल्लाह' आदि संस्मरण लिख कर मावनता की अटूट सेवा की है।

'रेखा-चित्र' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में चतुर्वेदीजी ने लिखा है, "नाप तौल कर तोले पाव रत्ती प्रशंसा करने का हमें अभ्यास नहीं, हम दिल खोलकर दान देने में विश्वास करते हैं।

चित्रण का मसाला गली-गली पड़ा हुआ है। रेखाचित्रों के पात्र हर जगह मौजूद हैं। कैमरे से क्या राजा-महाराजाओं के ही चित्र खींचे जाते हैं? मौलवी अब्दुल हक, नामदेव ढेढ़कर, श्रीराम शर्मा, चन्दा चमार और पीताम्बर कुम्हार को और तुर्गनेव एक भिखारी को रेखाचित्र का पात्र बनाते हैं और नेविसन एक कुत्ते को, तो क्या हम लोगों के लिए पात्रों की कमी है?"

आगे चलकर वह कहते हैं, "कल्पना कीजिए कि हिन्दी का कोई पाठक सन् २२५२ में यह जानना चाहे कि तीन सौ पूर्व बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यानी सन् १९०० से १९५० तक भारत का साधारण जन-समाज कैसे अपना जीवन व्यतीत करता था, तो क्या उसे प्रामाणिक 'रेखाचित्र' मिल सकेंगे?"

चतुर्वेदीजी संसार की गति-विधियों का बड़ी पैनी दृष्टि से अध्ययन करते हैं। वे रेखाचित्र ही नहीं लिखते, बल्कि विश्व की समस्याओं का भी मनन करते हैं। फ्रांस के विख्यात साहित्यकार रोम्यां रोलां के रेखाचित्र में एक जगह वह लिखते हैं:

"रोम्यां रोलां का व्यक्तित्व अत्यन्त सजीव था। यद्यपि कुल मिला कर देखा जाय तो कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर रोम्यां रोलां से कहीं ऊंचे दर्जे के साहित्यकार सिद्ध होंगे। वह तो व्यास और कालिदास की परम्परा के थे, पर जहां तक प्रगतिशील शक्तियों का साथ देने का प्रश्न है, रोम्यां रोलां गुरुदेव से कहीं आगे बढ़ गए हैं। संसार में जहां कहीं भी अन्याय होता--चाहे भारत में हो या इटली में, अमरीका में हो या हिन्दचीन में--रोम्यां रोलां अपनी आवाज बुलन्द किये बिना न रहते। जीवन के अन्त तक वह प्रतिक्रियावादी शक्तियों से मोर्चा लेते रहे।"

उसके बाद शब्द-शिल्पी चतुर्वेदीजी लेखकों की ओर इशारा करते हुए लिखते हैं, "एक बात निश्चित है। जो भी साहित्य-सेवी विश्व की बढ़ती हुई विचारधारा से अपने को अलग रखेगा, वह अपने को नपुंसक बना लेगा। और जो अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने में आनाकानी करेगा, वह अपनी मौत का वारन्ट खुद ही लिखा देगा--साहित्यिक मृत्यु का।

"साहित्य-सेवा एक तप है। अपने आप को कसना, सदैव जागरुक रहना, सत्य की खोज करना और अनुभूतियों को जनता के सामने रखना, बस यही उसका तरीका है।" ●

हरगोविन्द गुप्त

उपेक्षितों के उपासक

बात सन १९४० की है। मैं उत्तर प्रदेश की तत्कालीन कांग्रेस सरकार द्वारा संचालित ग्राम सुधार विभाग में काम करता था । बन्धुवर श्री रामसेवक जी रावत भी उसी विभाग में थे। मैं बापू के अहिंसावाद में विश्वास करता था, और वह इसके विपरीत दूसरी भावनाओं के सक्रिय पुजारी थे, जिसमें अपने एक हाथ की हथेली भी वह श्रद्धापूर्वक भेंट कर चुके थे। पर इस विपरीतता में मैं और वह किसी एक बिंदु पर एक थे, जहां दोनों में सद्भाव था, सौहार्द था। मेरी नियुक्ति बरुआसागर में थी और वह महरौनी तहसील के सैदपुर केन्द्र में। वहीं १५ नवम्बर १९३९ की रात में जब कि चतुर्वेदीजी श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी के साथ जमड़ार के स्रोत की तीर्थ-यात्रा से लौटने में रात्रि के विश्राम-स्थान की चिन्ता में थे, अनायास ही रावतजी की उनसे भेंट हुई। कुछ ही घन्टों के साथ में वे एक-दूसरे से ऐसे बंधे कि आजतक छुटाए नहीं छूटे, नहीं छूटते। वहीं मेरे बन्धु ने दादाजी से मेरी चर्चा की, जिसके फल-स्वरूप यथासमय दादाजी ने मेरे नाम एक नोटिस भेज दिया। पाकर मैं स्तब्ध-सा रह गया। नाम उनका बहुत पहले सुन रक्खा था। अपने प्यार और प्रेरणा के केन्द्र पूज्य गुप्त-बन्धुओं के यहां उनके ऊंचे-पूरे शरीर के दर्शन भी कर चुका था। एक होली नहीं, होला-पार्टी में उनका मुक्त हास्य-विनोद भी देख चुका था। उसी पार्टी में उनका एक चित्र भी लिया गया था, जो चित्रकार महोदय की कुशलता से अधकटा-सा आया था, पर इतना सब होते हुए भी वह मेरे निकट आदर-भाजन मात्र थे। इससे अधिक कुछ और सम्बन्ध-सरोकार अपना-उनका न था। परिचय की कोई तुक भी न थी। वे कलकत्ते जैसी विशाल नगरी में 'विशाल भारत' के सम्पादक रहे थे और मैं हाल ही में देहात से आया हुआ परचूनी का साधारण दूकानदार ।

अपने उस पहले ही पत्र में उन्होंने हार्दिक अपनेपन के साथ मुझे लिखा था—" · · · चिरगाँव के पुस्तकालय में मुंशी अजमेरीजी के चित्र का उद्घाटन किया जाय। चित्र २०-२५ रुपये में बहुत बढ़िया तैयार हो जायगा। पांच रुपये मैं सेवा में भेजने को तैयार हूँ। शेष रुपया चिरगांव के मित्रों से कर लिया जाय। अनिवार्य शर्त यह है कि छोटी-छोटी रकमें ज्यादा इकट्ठी की जायं, और किसी से पांच रुपया से ज्यादा न लिया जाय। वैसे सर्वोत्तम तो यह होता कि एक-एक रुपया और आठ-आठ आना देने वाले ३०-३२ आदमियों से ही चन्दा कर लिया जाय। जो २-४ आने अथवा आने-दो आने दें, उन्हें भी अवश्य मौका दिया जाय। मुख्य प्रश्न श्रद्धा का है। भेंट करने को तो मैं स्वयं ही अपनी ओर से भेंट कर सकता हूं, पर शायद यह चिरगांव का अपमान होगा।"

मुंशीजी के चित्रोद्घाटन के साथ कुछ और बातें भी उस पत्र में लिखी थीं——ग्राम-गीत, कहानियां, कहावतें, शब्द-संग्रह की प्रेरणा थी और कवि सम्मेलन तथा साहित्य गोष्ठियों के निर्देश भी थे। पत्र पाकर जहां मन में कौतूहल बढ़ा, वहीं अपनी अकिंचनता पर भयमिश्रित संकोच भी कम नहीं हुआ। अपने लिए गर्व और गौरव की अनुभूति तो उसमें थी ही। चार-छः मित्रों को पत्र दिखाया और उन्हें उत्तर में बरुआसागर पधारने का निमंत्रण दे दिया। यह मैं पहले ही जान चुका था कि दादाजी प्राकृतिक सौंदर्य के अनन्य प्रेमी हैं और बरुआसागर में इसकी कमी नहीं है।

मेरे उस पत्र के उत्तर में उनका लाल-नीली स्याही के सुगठित और सुव्यवस्थित सुन्दर अक्षरों में लिखा गया सौहार्दपूर्ण पत्र मिला :

“· · · ·बड़े-बड़े तीर्थों पर तो सब ही जाते हैं, पर छोटे-छोटे तीर्थों का पुण्य ज्यादा है, हमारी पूजा के तुच्छ पुष्प उन बड़े-बड़े मन्दिरों के लिए नहीं हैं। वहां पुजारियों की जमघट में उनकी कद्र ही कौन करेगा?”

पत्र पाकर मैं स्तब्ध रह गया, दुनियादारी के चक्करों में रमा मन सोच नहीं पाता था कि पत्र में हृदय का पवित्र, निश्छल प्रेम है या सीजर वालों का प्रचार। जो भी हो, सीजर भी देश के कोने-कोने में प्रतिष्ठित है और मेरी हृद-गत दुर्बलता का निराकरण भी उस दिन हो गया जब मैंने अपने स्नेही बन्धु श्री रामचरणलालजी दयाराम ‘मित्र’ की ‘सरसी’ नामक काव्य पुस्तिका की भूमिका में देखा :

“· · ·मसूरी से हमने हिमालय की दूरस्थ उपत्यकाओं तथा हिम-चुम्बित शिखरों के दर्शन किये थे, पर हमें आत्मिक तृप्ति मिली है विन्ध्याचल की छोटी-मोटी टोरियों पर भ्रमण करते हुए। हिमालय सदा आराध्य रहेगा, और कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे कवि भी अनन्त काल तक श्रद्धा के पात्र रहेंगे, पर उनकी ऊंचाई हमारे जैसे साधारण मानव के मन में भय-मिश्रित आश्चर्य ही पैदा करती रहेगी। उनके साथ हमारी आत्मीयता नहीं हो सकती, जो आस-पास की हरी-भरी पहाड़ियों से हो सकती है। जहां रवीन्द्र की प्रखर प्रतिभा हमारी आंखों में चकाचौंध उत्पन्न कर सकती है, वहां मित्रवर ‘मित्र’ की कोमल रश्मियों के बढ़ते हुए उत्तरोत्तर प्रकाश को कुछ देर तक तो हम टकटकी लगा-लगा कर देख ही सकते हैं।

वस्तुतः अब वह युग आने ही वाला है, जब हमारे जीवन के दर्शन-शास्त्र में आमूल परिवर्तन हो जायगा। बड़ी-बड़ी मिलों के बजाय चरखे की ओर ध्यान जाना उसी परिवर्तन का सूचक है, केन्द्रीकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण का प्रचार उसी बदली हुई मनोवृत्ति का परिचायक है, और साहित्य क्षेत्र में जनपदीय आन्दोलन उसी प्रगतिशील विचारधारा का जीता-जागता प्रमाण है। क्या परमाणु बम के इस युग में भी अणुओं की महिमा को प्रमाणित करने की जरूरत बाकी रह गई है? अब साहित्य क्षेत्र में भी वह दिन आ ही रहा है जब हम टका-में-टका और धका-में-धका की नीति को तिलाञ्जलि देकर “दरिद्रान भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनं” भगवान के इस आदेश का पालन करेंगे। आज के युग की गति-विधि से उनके मन में बड़ी पीड़ा, बेचैनी रहती है। उपेक्षितों के स्नेहपूर्ण समादर, नवोदितों के उन्नयन और शहीदों की कीर्ति-रक्षा के लिए, उनके निराश्रितों के पोषण के लिए वे सदैव चिन्तित एवं सदैव प्रस्तुत रहते हैं। अपना काम पिछड़ा-फैला, अस्त-व्यस्त छोड़ देंगे, किसी अनाहत-उपेक्षित या आपद्ग्रस्त की सेवा-सहायता के लिए जमीन-आसमान के कुलाबे एक करेंगे। कितने शहीदों के निराश्रित कुटुम्बों को, कितने उपेक्षित-अनादृतों को उन्होंने अपने परिश्रम से शासकीय व्यवहार के विष का घूंट पीकर सहायता दिलाई, यह एक अलग विषय है। पर उनके किस पत्र में, किस लेख में, किस वार्ता में, इस मर्मभेदी वेदना की कसक नहीं रहती, यह कोई बता नहीं सकता। उनके हर श्वास में, हर स्वर में, एक ही संकेत मिलता है—“मैं तो शहीदों के श्राद्ध तथा साहित्य सेवियों की कीर्ति रक्षा के सिवाय और कोई कार्य करना नहीं चाहता।” “· · ·अपनी शक्ति तथा समय शहीदों के लिए ही रिजर्व करना चाहता हूं।” “· · ·मेरी श्रद्धाञ्जलि तो अब देवी दयालों के प्रति अर्पित है” (देवीदयाल से संकेत ढ़ेरी—पूर्व समथर राज्य के उन कवि महोदय से है, जो साधनहीन होने के कारण अत्यन्त हृदय-द्रावक स्थिति में दिवंगत हुए और जिनकी अपनी

एक कविता पुस्तक के प्रकाशित रूप में देखने की उनकी आकांक्षा उनके साथ ही चली गई, जिसे पीछे से दादाजी ने प्रकाशित कराकर आपकी श्रद्धांजलि उन्हें समर्पित की थी।)

पीछे आने वाले नवोदितों के, साधनहीन उपेक्षितों के, प्रति आगे की पंक्ति में चलनेवालों की भावना का उनके मन पर बहुत ही कटु अनुभव है, बड़ी भारी कसक है, न जाने इस बात को वह कितनी बार ठण्डी सांस ले कर कह चुके हैं, कह रहे हैं और कहते जाते हैं :

"लोग अपने-अपने गोरखधन्धों में व्यस्त हैं। किसी भी भले आदमी के पास इतना वक्त नहीं कि छुटभइयों की बात सुन सके।"

"व्यस्त जीवन में हार्दिक वार्तालाप के लिए समय नहीं मिल पाता। आप यहां आकर पछतायंगे। .... यहां आत्मकेन्द्रित (अपने निजी स्वार्थों में व्यस्त) व्यक्तियों का जमघट है, जिन्हें देखकर और जिन की बातें सुनकर आत्म-ग्लानि उत्पन्न होती है। पर हम दूसरों के जज क्यों बनें? स्वयं अपने जीवन को सम्हालें, यह कौन थोड़ा है? समय कम है, और कार्य बहुत। एक भी क्षण हमें व्यर्थ नहीं जाने देना है। समानशील तथा समानधर्मी व्यक्तियों को चुनकर अपने-अपने लक्ष्य पर चलना है।" कार्य की अधिकता में जब कोई सहायक नहीं मिलता तब मन में झुँझलाहट पैदा होना, मस्तिष्क में खीज आ जाना अस्वाभाविक नहीं है और दादाजी के जीवन में तो प्रायः हर क्षण काम की भरमार रहती है। कभी हिन्दी भवन की चिन्ता है, तो कभी सत्यनारायण कुटीर की और कभी गणेश स्मृति ग्रन्थ का चिन्तन है तो कभी स्वामी केशवानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ का और कभी पत्रकार संघ की पंचायत है, तो कभी किसी उपेक्षित-अनादृत साहित्यकार के संकट की समस्या है, कभी शहीद फुलेना प्रसाद या अशफाक उल्ला खां के आश्रितों की सहायता का प्रश्न उपस्थित है। निज का काम तो मानो उनके पास कुछ है नहीं, पर उनके लिए यह सब भी बिराना कहां है?

उनकी सहायता करने तथा उनके बिखरे काम की साज-सम्हाल के लिए कोई चून का पुतला भी उनके यहां नहीं है। सब काम एक स्वयंसेवक के रूप में उन्हें ही निबटाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में कभी खीझ कर झुंझला कर लिख देते हैं, "मुझसे अधिक पत्र-व्यवहार की आशा न करें, क्षमाप्रार्थी हूं।" पर ज्यों ही झुंझलाहट शान्त हुई कि तुरन्त दूसरा पत्र लिखते हैं: (पत्र-लिखने का पोस्टेज का आलस या लोभ उन्हें कहीं है नहीं) "मेरा जो स्नेह आप पर रहा है, वह मेरे जीवन-पर्यंत रहेगा, आप सबका सेवक हूं। झुंझलाहट में पिछला पत्र लिख दिया था।"

उनके अफ्रीका, साबरमती, इन्दौर, कलकत्ता, कुण्डेश्वर, दिल्ली तथा फीरोजाबाद के प्रवासों में उनके प्रेरक सम्पर्क में आकर कितने कवि, लेखक, साहित्यकार, पत्रकार तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ता आज क्या से क्या हो कर कहां पहुंचे हैं, यह किसी से छिपा नहीं है।

यों गोर्की और क्रॉपॉटकिन, रोम्यां रोलां या थोरो के गीत गायंगे, उनके उद्धरण भी जहां-तहां देंगे, पर इसका अर्थ यह नहीं कि हिन्दी की गति-विधि से दूर हों। एक बार डाक्टर लोहिया ने उनसे प्रश्न किया, "यह तो बताइए एक हजार वर्ष बाद तक हिन्दी का कौन-सा लेखक जीवित रहेगा?"

भोजन में व्यस्त चौबेजी के लिए यद्यपि यह प्रश्न एकदम असमय का और अटपटा-सा था, पर उन्होंने दृढ़ता-भरे स्वरों में कहा—"एक हजार वर्ष की बात तो मैं नहीं कह सकता, पर इतना अनुमान कर सकता हूं कि दद्दा (कविवर गुप्तजी) की कुछ रचनाएं चिरकाल तक जीवित रहेंगी, क्योंकि वे हिंदी के एक ऐतिहासिक मोड़ पर पधारे हैं।" जयद्रथ-बध में, साकेत के कुछ अंशों में तथा 'बार-बार तू आया'

और 'क्षमा न कर तू मेरे पाप' में बहुत वर्षों तक जीने की ताकत मौजूद है। उनके सिवाय प्रेमचन्दजी की भी कुछ कहानियां और एकाध उपन्यास जीवित रहेंगे, बाकी लेखकों के बारे में कुछ नहीं कह सकता। शायद सौ-वर्ष के भीतर ही प्रायः विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायंगे।"

दद्दा के व्यक्तित्व पर ही नहीं, कृतित्व पर भी उन्हें बड़ी आस्था है, उनके बड़े-बड़े ग्रन्थों की सराहना सब करते हैं, पर इस उपेक्षितों के उपासक के दुःखियों के सहायक के मन पर उनके 'उच्छ्वास' की जो छाप है उसे वे ही जानते हैं। उन्होंने लिखा है :

"'उच्छ्वास' को थोड़ा-थोड़ा नित्यप्रति पढ़ता हूं, और जितना ही उसका स्वाध्याय करता हूं उतना ही मेरा हृदय पवित्र से पवित्रतर होता जाता है। किसी के हृदय के आंसुओं में ही यह महान शक्ति है, जो हमारे कलुष को धो सकती है। और दद्दा ने तो यह समुद्र क्षार-पारावार ही उपस्थित कर दिया है।"

बुन्देलखण्डवासियों को बारह-तेरह वर्ष उनके पुनीत और प्रेरक सम्पर्क में रहने का जो सुयोग लाभ मिला है, उसे हम अपने किन्हीं पूर्व सुकृतों का परिपाक ही मानते हैं। इस अवधि में स्वर्गीय महाराज वीरसिंहजू देव के संरक्षण और दादाजी के निर्देशन में यहां जो साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्य हुए हैं, जनसाधारण में अपने जनपदीय गौरव की जो चेतना जागृत हुई है, वह अपूर्ण हो कर भी अपने आप में एक विशेष महत्व रखती है, और हम निःसंकोच कह सकते हैं कि यदि राजनीति आड़े न आती तो आज बुन्देलखण्ड का नक्शा ही दूसरा हुआ होता। फिर भी जो जागृति यहां हुई है, वही उस समय के प्रयत्नों की सिद्धि के लिए कम नहीं है, असफल होकर भी हमने उनके निर्देशन में अपने सांस्कृतिक गौरव को समझा, अपनी साहित्यिक परम्पराएं और मान्यताएं देखीं, अपने क्षेत्र के प्राकृतिक सौन्दर्य के, अपनी बन-श्री के दर्शन किए और उनकी सम्मुन्नति को अपना श्रेय माना। क्या यह कम सिद्धि है?

उन्होंने यहां आते ही 'मधुकर' के प्रथम अंक में अपने एक स्वप्न की भूमिका के बहाने हमें हमारा स्थानीय महत्व बताते हुए लिखा था :

"कलकत्ते की धुंआधार, जनाकीर्ण रोग-ग्रस्त गलियों से निकलकर बुन्देलखण्ड के स्वास्थ्यप्रद जलवायु में आना मानो रौरव नरक से नन्दन कानन की यात्रा करना है। और फिर भगवान शिवशंकर के पवित्र स्थान कुण्डेश्वर पर निवास तो किसी पूर्व जन्म के पुण्य का फल ही समझना चाहिए। यह स्थान क्षत-विक्षत स्नायु-मण्डल के लिए मलहम है, त्रस्त मस्तिष्क के लिए विश्रामस्थल और थकी हुई आत्माओं के लिए मानो सेनीटोरियम। यदि ऐसे स्थानों में आकर मेरा मन कल्पना के वायुयान में बैठकर दस वर्ष आगे बढ़ जाय तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है!"

अपने इस स्वप्न की भूमिका से प्रारम्भ कर उन्होंने यहां के निवासियों को समय-समय पर कभी जमड़ार के स्रोत के दर्शन कराये, तो कभी लोकमाता बेतवा के उद्गम की तीर्थयात्रा का पुण्यलाभ कराया, उसकी पुकार सुनाई और कभी, अनजाने उषाघाट, उषा-विहार, आहार-लड़वारी जैसे उपेक्षित क्षेत्रों की झांकी दिखाई। जनपदीय शौर्य-वीर्य से परिचित कराया, भूली-बिसरी कथा-कहानियां और गीतों का स्मरण कराया, बुन्देली शब्दों-मुहावरों और लोकोक्तियों का शब्द-सौन्दर्य बताया। उनके प्रति हमारी सोई-खोई आस्था जाग्रत की।

और मजे की बात तो यह है कि वह यहां से जाकर भी हमें या हमारे कहे जाने वाले इस भूभाग को नहीं भूले। दिल्ली में रहने पर भी वह बराबर बुन्देलखण्ड की याद कर कहते रहे :

"बारह वर्ष इस सुन्दर भूमि में बड़े आनन्द से कट गए, इस भूमि का ऋणी हूं।" "कहां कुण्डेश्वर का मुक्त वातावरण और कहां यहां का डेढ़ कमरा! बुन्देलखण्ड की याद आती है!"

हम अपना परम सौभाग्य मानते हैं कि यहां से जाने पर भी दादाजी इस क्षेत्र के प्राकृतिक सौन्दर्य पर, यहां के साहित्य और संस्कृति पर, अपने साथियों और समानधर्माओं पर, साथ ही अपने द्वारा प्रोत्साहित जनों पर भी वैसा ही स्नेह बनाए हैं, जैसा यहां रहता था। जिसे देख हमें किसी पुराने तुलसी कवि की बात याद आ जाती है :

तुलसी बांह सपूत की सपनें में छू जाय।
आप निबाहे ओरभर लरकन सों कह जाय।।

ऐसी स्थिति में यदि आज हम बुन्देलखण्डवासी एवं हिंदी क्षेत्र के अनादृत-उपेक्षित साहित्यकार, कवि-लेखक अथवा शहीदों के निराश्रित वंशज उनके सम्मान को अपना सम्मान, उनके अभिनन्दन को अपना अभिनन्दन मान अपनी ओर से कुछ न कह, सदा की नाईं उन्हें अपने विनम्र प्रणाम ही निवेदित करते हैं, तो इसमें आश्चर्य क्या? ●

मुरलीधर दिनोदिया

समर्पित व्यक्तित्व

●

एक दिवस में जीव गी, दशा होंहि जेतीक,
कहि न सकै केवली, जानै जद्यपि ठीक।

आगरे के जैन कवि बनारसीदास ने आज से ३०० वर्ष पूर्व अपने आत्मचरित (और हिन्दी के सर्वप्रथम आत्मचरित) 'अर्धकथानक' में यह दोहा लिखा था।

जीव से तात्पर्य मन से है। मन की गतियों का कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता है।

कहां अराजकतावादी पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी और कहां परतन्त्र भारत के एक देशी राज्य के राजा ओरछा नरेश महाराज वीरसिंहजू देव। चतुर्वेदीजी जैसे सहृदय साहित्यिक बिरले हैं तो महाराज वीरसिंहजू देव जैसे राजा भी दुर्लभ हैं। तभी तो इन दोनों के मनों का ऐसा संगम हुआ कि उसके फलस्वरूप चतुर्वेदीजी ओरछा राज्य के कुंडेश्वर में डेरा डालकर जम गये और वहां से अपनी विविध प्रवृत्तियां चौदह वर्षों तक चलाते रहे।

कुंडेश्वर की प्राकृतिक छटा बड़ी मनोहारिणी है। और भी अनेक दृष्टियों से उसका महत्त्व कुछ कम नहीं। पर ओरछा राज्य तथा बुन्देलखण्ड से बाहर के लोग उसके नाम से भी परिचित नहीं थे। इन पंक्तियों के लेखक ने चतुर्वेदीजी को लिख कर पूछा था कि आपका प्रवासस्थल यह कुंडेश्वर कहां स्थित है। वही कुण्डेश्वर चतुर्वेदीजी के प्रवासस्थान होने एवं उनकी विविध साहित्यिक-राजनैतिक प्रवृत्तियों के वहां से चलते रहने के कारण सारे हिंदी-जगत में सुप्रसिद्ध हो गया।

चतुर्वेदीजी आन्दोलनकारी हैं। 'विशाल भारत' के अपने सम्पादनकाल में घासलेटी साहित्य-विरोधी आन्दोलन उन्होंने चलाया था। कुण्डेश्वर से जनपदीय आन्दोलन भी खूब चलाया। और वहीं से विन्ध्य प्रांत निर्माण आन्दोलन भी चलाया। विन्ध्य प्रान्त का निर्माण हुआ भी, परन्तु पीछे उसका मध्यप्रदेश में विलीनीकरण हो गया। यदि अपेक्षाकृत छोटे प्रदेशों का निर्माण राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से कल्याणप्रद स्वीकृत हुआ तो विन्ध्यप्रदेश का पुनर्जन्म भी हो सकता है।

'मधुकर', 'लोकवार्त्ता' जैसे पत्रों का कुण्डेश्वर से प्रकाशन हुआ। जहां इनका जन्म हिंदी-जगत् की एक महत्त्वपूर्ण घटना है वहां इनकी अकालमृत्यु हिन्दी-जगत की एक दुर्घटना है। काश कि ऐसे पत्र-पत्रिकाएं फिर से प्रकाशित किये जायं। 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ' भी वहीं तैयार हुआ था, सम्पूर्णानन्द ग्रन्थ भी।

कुंडेश्वर में और भी अनेक मेले-दंगल-उत्सव आदि प्रवृत्तियां स्व० महाराज वीरसिंहजू देव ने चलाई थीं। उनका भी अपना-अपना महत्व है। पर एक चीज़ जो अपने-आप चल पड़ी थी उसका महत्त्व सर्वाधिक माना जायगा। वह यह कि चतुर्वेदीजी के वहां रहने के कारण वह एक साहित्यिक तीर्थ ही बन गया था। हिंदी के अनेक छोटे-बड़े साहित्यकार वहां आते रहा करते थे और चतुर्वेदीजी के सम्पर्क में कुछ दिन बिता कर उनसे विचार-विनिमय द्वारा लाभान्वित भी हुआ करते थे एवं वहां की प्राकृतिक सुषमा के द्वारा अपने तन-मन का भार हलका किया करते थे। इन पंक्तियों के लेखक ने भी वहां जाकर दो-चार दिन चतुर्वेदीजी का आतिथ्य ग्रहण किया था। बन्धुवर यशपालजी जैन और जगदीशप्रसादजी चतुर्वेदी तब वहीं रहा करते थे। अनेक वर्षों तक पत्र-व्यवहार होते हुए भी मेरा चतुर्वेदीजी का यह प्रथम साक्षात्कार था। चतुर्वेदीजी का मनमौजीपन, बालसुलभ निश्छल हँसी, अपना व्यक्तित्व किसी पर न लादने का स्वभाव, सबके अपनी ही इच्छानुसार चलने देने की स्वाधीनता, किसी को तुच्छ न समझना और स्वयं अपने पर हँसना इत्यादि विशेषताएं मेरे मन को भाई और कुछ नई-सी बात तो लगी ही। मैं कुछ पेड़े ले गया था। पहुंचते ही चतुर्वेदीजी ने पेड़े खा-खिलाकर समाप्त कर दिए। हँसते जाते थे और कहते जाते थे, "यह पुरानी प्रथा (भेंट ले जाने की) बड़ी अच्छी थी। दिनोदियाजी, आपने इसका पालन करके बड़ा अच्छा किया। चौबे तो मिठाई खाते ही हैं, और आप तो हमारे 'जजमान' ठहरे।" (मैं वैश्य हूं)

मैं 'विशाल भारत' के जन्म से ही उसका पाठक-प्रशंसक रहा हूं और श्रद्धेय चतुर्वेदीजी से मेरा परिचय बहुत पुराना है। चतुर्वेदीजी ने तथा उनके 'विशाल भारत' एवं 'मधुकर' पत्रों ने मेरे जीवन को बहुत प्रभावित किया है। जीवन से यहां तात्पर्य विचारधारा से है।

यों चतुर्वेदीजी में अनेक अच्छाइयाँ हैं तथापि अपने दीर्घकालीन परिचय के आधार पर मेरा यह निष्कर्ष है कि चतुर्वेदीजी में हृदय-पक्ष की प्रबलता है। कोई भी वस्तु अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं हुआ करती। देश, काल, पात्र के विचार से एक ही बात अच्छी हो सकती है और बुरी भी। इसलिए, हृदय-पक्ष की प्रबलता किसी अंश में अनुपादेय भी चाहे हो, पर चतुर्वेदीजी के मामले में तो इससे हिंदी-जगत को अपरिमित लाभ हुआ है।

आज का युग भयंकर आपाधापी का है। सब को अपनी-अपनी पड़ी है। कौन किसी दूसरे की ओर देखता है। पर एक चतुर्वेदीजी हैं कि अपने को भुलाकर दूसरों की चिन्ता में घुले जा रहे हैं। दूसरों की सहायता करना इनका मिशन बन गया है। मानो इनका शरीर बस एक सहृदयता के ही मसाले से बना हुआ है। इन्हें जब भी देखियेगा, किसी-न-किसी साहित्यसेवी के लिए कुछ-न-कुछ करते पाइयेगा। किसी की पुस्तक की भूमिका लिख रहे हैं तो किसी की पुस्तक पर सम्मति लिख रहे हैं; किसी की रचना

का संशोधन किया जा रहा है तो किसी की रचना के प्रकाशनार्थ सिफारिशी पत्र लिखा जा रहा है; किसी की जीवनी लिख रहे हैं तो किसी के संस्मरण; किसी की रचना का सम्पादन करते हैं तो किसी की रचना की छपाई का प्रबन्ध करते हैं। बेकारी, बीमारी, बेटी का ब्याह आदि अवसर तो नित्य लगे ही रहते हैं; कभी किसी की नौकरी का जुगाड़ करते हैं तो कभी किसी को आर्थिक सहायता देते-दिलाते हैं। और चिट्ठियां लिखना तो आपका व्यसन ही है।

चतुर्वेदीजी संसद की सदस्यता के निमित्त से बारह वर्ष दिल्ली में रहे और उनके अपने शब्दों में "भाड़ झोंका", सो भाड़ यही झोंका कि सारा समय दूसरों के ही पचड़ों में बिता दिया। जब उन्हें देखता, कोई-न-कोई खटराग लिये पाता। इस कारण से हिंदी-जगत उनकी अनेक उत्तमोत्तम कृतियों से वंचित रह गया। पर उन्होंने कितने ही लेखकों, कवियों, पत्रकारों को चमकाया, बनाया, कितने ही साधारण अक्षर-ज्ञान वालों को लेखक बना दिया।

पिछले दिनों उनकी पौरुषग्रंथि की शल्यक्रिया हुई थी। उससे मात्र दो दिन पूर्व उन्होंने मुझे आगरे के अस्पताल से जो पत्र लिखा था, वह उनके अनेक सद्गुणों की मुंहबोलती तस्वीर है। इस वृद्धावस्था में, शल्यक्रिया से दो दिन पूर्व अस्पताल में रोग-शैय्या पर से वह लिखते हैं:

"मुझे फ़िक्र नहीं। जो होगा ठीक ही होगा।"

और साथ ही लिखा :

अजल के नाम से ग़ाफ़िल तेरा दिल दहलता है,
मुसाफ़िर रोज जाते हैं ये रस्ता ख़ूब चलता है।

ग़ाफ़िल की इस कविता को गुनगुना लेता हूं।

आप बराबर लेख लिखते रहें। हरियाना जनपद पर स्पेशलाइज़ कर लें।

साहित्यसेवियों की प्रशंसा करते तो उनका जी कभी नहीं अघाता : "डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'पृथिवी पुत्र' (पता माडर्न बुक डिपो, हॉस्पीटल रोड, आगरा) हमारे लिए बाइबिल है। मुझे जो पत्र उन्होंने भेजे थे, वे 'सम्मेलन-पत्रिका' के दो अंकों में छपा दिये हैं। मंगाकर जरूर-जरूर पढ़िये। क्या बढ़िया लेखक थे वे !" ●

गणेशलाल शर्मा 'प्राणेश'

दादाजी : समीप से

●

खद्दर का ढीला कुर्ता, उस पर जाकिट, सिर पर गांधी टोपी, ढीला पाजामा, आंखों पर चश्मा, हाथ में बेंत या लाठी धारण कर चलते हुए व्यक्ति को लोग तुरन्त पहचान लेते हैं कि लम्बे डील-डौल वाले, मस्त गयन्द-सी चाल वाले पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी ही हैं। मुख-मण्डल पर सौम्यता का साम्राज्य और उस पर मधुर हास्य की

छटा आपके व्यक्तित्व पर चार चांद लगा देते हैं। भोली-भाली आकृति और सरल प्रकृति वाले खद्दर-वेशधारी दादाजी को देखकर कोई सहसा यह नहीं ज्ञात कर सकता कि इनके अन्दर कितना अगाध ज्ञान, अनुभव और अनेक गुणों का भण्डार छिपा हुआ है। सरल स्वभाव, साहित्य-साधक, तपस्वी पत्रकार, प्रवासियों का पोषक, शहीदों का श्राद्धकर्ता, हिंदी का हितैषी, नये लेखकों का निर्माता, दीनों पर दयालु, सत्साहित्यिकों का सेवक, आचार्यों का अनुगामी और देश के मूर्धन्य महापुरुषों के सम्पर्क में रहनेवाला देशभक्त आदि जितने विशेषणों से उन्हें विभूषित किया जाय, उतने ही कम हैं।

दादाजी के जीवन को और उनके कार्यों को विभिन्न साहित्यकारों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। किसी लेखक ने उनके जीवन का मूल्यांकन आलसी मलूकदास कहकर किया है। किसी ने अपनी कवित्वपूर्ण भाषा में उनके जीवन को योजना-प्रधान बता कर आत्म-परितोष प्राप्त किया है। किसी ने उनको सांड़ की संज्ञा दी है, तो किसी ने उनके व्यक्तित्व को 'स्वच्छंद जीवन' से विभूषित किया है। किसी के मतानुसार वह 'श्राद्ध, अभिनन्दन, मुण्डन कंपनी' के सूत्रधार हैं। इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में दादाजी का जीवन संत कबीरदास का जीवन है। वही फक्कड़पन, वही मस्ती, वही सादगी, वही स्पष्टवादिता, वही घर-फूंक तमाशा, वही निश्छलता, वही सिद्धान्त, वही विचार और वही अपरिग्रह की भावना। तभी तो नये साहित्यकारों से आप स्पष्ट कह देते हैं :

कबिरा खड़ा बाजार में लिये लकुटिया हाथ।
जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ।।

गरीबों, असहायों और हरिजनों को वह सदैव सहायता प्रदान करते रहते हैं। इन लोगों से उनको विशेष स्नेह है, सहानुभूति है और उन्हें प्रत्येक प्रकार का सहयोग देने के लिए तत्पर रहते हैं। जब वह राज्य सभा के सदस्य थे तब एक बार मुझे आज्ञा हुई कि दिल्ली आओ। अनेक दर्शनीय स्थान दिखा कर 'बुद्ध गार्डन' दिखाने गये। जाड़े के दिन थे। एक दूकान पर चाय पीने गए। दूकान एक गरीब आदमी की थी। उसका नाम भजनलाल था और वह अलीगढ़ का रहने वाला था। वह स्वतंत्रता-संग्राम में जेल की यात्रा भी कर चुका था। उसकी पूरी जानकारी प्राप्त की, उसका फोटो खींचा और तब चाय पी। जब पैसे देने लगे तो भजनलाल ने लेने से इंकार कर दिया। तब दादाजी बोले, "तुम चौबे लोगन की बुराई करवावन चाहतओ का ?" ऐसा कहकर उसे तो पैसे दिए और अपना पता बताया—'९९ नॉर्थ एवेन्यू' नई दिल्ली में आना। मेरा नाम बनारसीदास चतुर्वेदी है, पार्लियामेंट के मेंबर के नाम से पूछ लेना। कोई भी बता देगा।"

जाड़े के दिनों में हरिजनों और गरीब व्यक्तियों को रजाइयां दिलवा देते हैं। एक बुढ़िया हरिजन निकटवर्ती ग्राम से घास बेचने आती थी। उसके तन पर वस्त्र नहीं थे। लज्जा-निवारणार्थ भी पर्याप्त धोती न थी। उसको कपड़े दिलवा दिए। दो हरिजन बालक बी० ए० पास थे। उन्हें नौकरी नहीं मिल रही थी। गरीबी के मारे बहुत दुखी थे। पं० जवाहरलाल नेहरू और जगजीवनराम जी को लिख कर सरकारी नौकरी दिलवाई। आज प्रत्येक बालक चार सौ के करीब मासिक वेतन पाता है। शहीदों के कई परिवारों को आर्थिक सहायता दिलवाई, वह सर्वविदित है। चतुर्वेदीजी में विनम्रता तो कूट-कूट कर भरी है। अहं का कहीं नाम-निशान नहीं। अपने से छोटों का भी आदर-सम्मान करना और उनके साथ विनम्रता का व्यवहार करना उनकी अपनी ही विशेषता है। यह गुण बहुत कम विद्वानों में पाया जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का उनके चरित्र में पर्याप्त विकास हुआ है। वह व्यक्ति से अकृत्रिम स्नेह

करते हैं और उसके पारिवारिक सुख-दुःख में भाग लेते हैं। इन दोनों तथ्यों की पुष्टि इन पंक्तियों के लेखक को लिखे गए एक पत्र से होती है। जब वह दिल्ली थे, मेरी बड़ी लड़की को टाइफाइड हो गया था। उन्होंने इस पर बड़ी चिंता प्रकट की, उपचार आदि के लिए परामर्श दिया और डाक्टर को दिखाने की सिफारिश भी की। वह पत्र इस प्रकार है:

९९ नॉर्थ एवेन्यू, नई दिल्ली
२७-११-६१

प्रिय प्राणेशजी,

प्रणाम। कृपया लिखिए कि आप की सुपुत्री की तबियत अब कैसी है। डाक्टर सम्पतरामजी को दिखला दिया या नहीं? मेरा नाम लेकर आप उन्हें अपने यहां ले जा सकते हैं। हम लोगों की मैत्री वंश-गत है---यानी उनके पिताजी पं० ख्यालीरामजी और मेरे कक्का गणेशीलालजी भी मित्र थे। कक्का ख्यालीरामजी ने ही यह मकान आग्रह करके हमारे कक्का से खरीदवाया था। दोनों ही पं० जयरामजी के शिष्य थे। श्रीधर पाठक भी। हां, एक बार कोटला के इन्टर कालेज में श्रीधर पाठक के चित्रोद्घाटन के लिए चलना है। श्री बालकृष्णजी से समय निश्चित कर लीजिए। मैं जनवरी १९६२ से ही फीरोजाबाद में रहने की सोच रहा हूं। एक बार श्री बालकृष्णजी दिल्ली पधार कर हमारे हिन्दी भवन को देख लें और तब वह कोटला में उसकी प्रेरणा से कुछ साहित्यिक वातावरण शायद बना सकें। सुपुत्री के स्वस्थ होने पर आप भी यहां अवश्य-अवश्य पधारें। श्रीमान कोतवाल साहब का नाम मैं नहीं जानता। उनको मेरी ओर से आप धन्यवाद दे दें। मैं रिटर्न विजिट नहीं कर सका। क्षमाप्रार्थी हूं। सब मित्रों को मेरी याद दिला दीजिए। शास्त्री को प्रणाम। मेरे हृदय में आपकी लगन के प्रति सम्मान और श्रद्धा है। आपकी विनम्रता का मैं कायल हूं।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका आकर्षण एवं प्रभाव क्षणिक होता है और अधिकाधिक निकट सम्पर्क में आने पर उनसे विरक्ति होने लगती है। परन्तु दादाजी के व्यक्तित्व में वह माधुर्य, प्रेरणा एवं आकर्षण है, जो चिरस्थायी है और उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। मेरा यही अनुभव है।

चतुर्वेदीजी अगाध ज्ञान के भण्डार होते हुए भी बड़े विनोद-प्रिय हैं। उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय इनकी विनोद-वृत्ति से भी मिलता है। उनकी ज्ञान-मंजूषा जब खुलती है तो उसमें से अमूल्य अनुभव-रत्नों की उपलब्धियों से श्रोतागण अपने को वास्तविक वैभवशाली समझने लगते हैं। शुष्क ज्ञानोपदेश नहीं, हास्य-विनोद, हँसी के चुटकुले, कहानियों के गोल-गप्पे, विद्वानों और महापुरुषों के संस्मरण, शेर और श्लोक, कविताएं और कहावतें---वार्त्तालाप में प्रचुर परिमाण में प्राप्त होते हैं। उदासी, खिन्नता, मनहूसियत आदि उनसे कोसों दूर रहते हैं। मस्ती, फक्क्कड़पन और प्रफुल्लता चारों ओर आनन्द, उल्लास, स्फूर्ति एवं प्रेरणा विकीर्ण करते पाये जाते हैं। उनकी मान्यता है कि जितना हम दूसरों को आनन्द देंगे उतना ही हमें भी आनन्द लाभ प्राप्त होगा। 'दूसरों को आनंद दो और स्वयं भी आनंदित होओ', यह वाक्य वह बारबार दुहराते हैं। वार्तालाप में प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय विद्वानों पर तो उनसे सुनने को मिलेगा ही, साथ ही विदेशी साहित्यकारों में एमर्सन, थोरो, ए० जी० गार्डनर, एडवर्ड कारपेन्टर, स्टीफनज्विग, तुर्गनेव, चेखव, गोर्की, टाल्स्टाय, बरट्रेण्ड रसल, शॉ आदि के विचार, सिद्धान्त एवं उनके जीवन-

दर्शन का भी पर्याप्त परिचय मिलेगा। तन से राजभक्त होते हुए भी आप मन से अराजकतावादी प्रिंस क्रोपाटकिन के भक्त हैं। बीच-बीच में हँसाते भी जायंगे। मेरे जैसे जोर से हँसनेवालों पर एक हँसी पर दस पैसे दण्ड भी निर्धारित कर दिया है। एक दिन हमलोगों को खूब हँसाया। और फिर मेरे पास एक चिट लिखकर भेजी कि अब आप पर और कामताप्रसादजी (प्रधानाचार्य तिलक इन्टर कालेज) पर जुर्माना डबल कर दिया जाता है। नीचे का पत्र भी इनकी विनोद-वृत्ति का परिचायक है:

नई दिल्ली
१९-५-६२

प्रिय प्राणेशजी,

वन्दे। पहले आप अपना परीक्षा-सम्बन्धी कार्य बिना एक भी गलती के समाप्त कर लीजिए, तत्पश्चात फीरोजाबाद-परिचय हाथ में लगाइये। अपना चित्र मैं भेजता हूं। पर उसका क्या उपयोग आप करेंगे ? फीरोजाबाद के नागरिक मेरी ऊबड़-खाबड़ शक्ल से खूब परिचित हैं और मूंगफली बेचनेवाले एक थोक व्यापारी ने मुझे भी अपनी जाति का समझकर सर्वोच्च सर्टीफिकेट दे दिया था––जिसका मूल्य पद्मविभूषण से कम नहीं। यदि मेरा चित्र पुस्तक में गया तो लोग 'परस्पर प्रशंसन्ति' वाली कहावत हम लोगों पर चरितार्थ करेंगे।

बनारसीदास

आदरणीय दादाजी की यह निश्चित मान्यता है, "दूसरों की हँसी उड़ाने से उसे वेदना होती है, परन्तु स्वयं की हँसी उड़ाने से लोगों को आनन्द भी मिलता है और अपने को भी परितोष प्राप्त होता है। दूसरे व्यक्ति के तो नाराज होने का भी भय रहता है। अतः अपने पर व्यंग्य-विनोद करना ही उत्तम है।" स्वदोष-दर्शन और उनमें सुधार करने की दृष्टि से वह अपनी हँसी खूब उड़ाकर दूसरों को हँसाया करते हैं।

नये साहित्यकारों को वह हार्दिक सहयोग प्रदान करते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में एवं सरस्वती के मन्दिर में नये लेखक को हाथ पकड़ कर प्रविष्ट कराना वह अपना प्रधान धर्म समझते हैं। इतना ही नहीं, साहित्यकारों का एक-दूसरे से परिचय कराते हैं और अन्य साहित्यकारों के गुणों की प्रशंसा भी करते हैं। मेरी पुस्तकें कई लेखकों के पास भिजवाईं और उनकी पुस्तकें मेरे पास भिजवाने की अपार अनुकम्पा की। रूस के हिंदी-प्रेमी साहित्यकार श्री बारान्निकोव से भी पत्र-व्यवहार करने का उन्होंने परामर्श दिया। जब किसी सद् अनुष्ठान की कुछ लोग आलोचना करने लगते हैं तो वह कार्यकर्ता को परामर्श देते हैं कि विरोधियों एवं आलोचकों की परवा न करके अपने कार्य में अग्रसर होते जाइये।

चतुर्वेदीजी को इस बात का बड़ा खेद है कि बहुत से प्रथित साहित्यकार बांट कर नहीं खाते। यह प्रवृत्ति बहुत कम लोगों में है। अन्य छोटे साहित्यकारों को भी किसी-न-किसी रूप में भाग मिलना चाहिए, ऐसी उनकी मान्यता है। ऐसे साहित्यकारों की उन्होंने बाड़ी लगानेवालों से तुलना की है। वे लोग अपनी बाड़ी के फल-फूल, साग-तरकारी स्वयं ही खाते हैं या अपने कतिपय मित्रों को खिला देते हैं। सर्व-साधारण उससे वंचित रह जाते हैं। उनका विश्वास है कि लोग ऐसे बाग लगावें, जिसके चारों ओर कांटों की बाड़ न हो, अधिक-से-अधिक लोग उससे लाभान्वित हों––साहित्यकार को ऐसा उदारमना होना ही चाहिए। उनका यह सिद्धान्त है कि साहित्यकार को हरसिंगार के समान होना चाहिए, जिसके सुमनों से कोई भी व्यक्ति अपनी झोली भर लेता है। इन्हीं आदर्शों एवं मान्यताओं के अनुसार वह नये साहित्यकारों,

छोटे साहित्यकारों और पत्रकारों को किसी-न-किसी रूप में कुछ-न-कुछ बांटते ही रहते हैं। उनकी यह पक्की धारणा है कि निष्काम कर्म का फल चक्रवृद्धि ब्याज समेत वापस अवश्य मिलता है।

आपका यह भी कहना है कि लेखकों को कुछ-न-कुछ पारिश्रमिक मिलना ही चाहिए। उन्हें इस बात का दुःख है कि बहुत से पत्र-पत्रिका वाले लेखकों को डाकव्यय भी नहीं देते ! दादाजी की धारणा है कि वे बड़े समाचार-पत्र तो शेर के समान हैं, जो अपने शिकार में से कुछ तो अन्य के लिए छोड़ देते हैं, परन्तु छोटे पत्र उन भेड़ियों के समान हैं, जो सारा मांस खा जाते हैं और दूसरों के लिए कुछ भी नहीं छोड़ते ।

दादाजी को बहुत-सी चिन्ताएं घेरे रहती हैं, पर उनमें से अधिकांश चिन्ताएं दूसरों के संबंध में होती हैं। अपने फीरोज़ाबाद नगर के स्वास्थ्य की चिंता तो उन्हें अहर्निश कष्ट देती रहती है। वह नगर सफाई में बहुत पिछड़ा हुआ है। औद्योगिक नगर होने से वैसे भी सफाई की कमी रहती है। राज्याधिकारियों को, नगरपालिका के अध्यक्ष को, जनसेवकों को और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से दादाजी इस विषय में जनता को, इस नरकासुर को मार डालने की प्रेरणा देते हैं, सुझाव देते हैं और योग देते हैं।

एक और चिंता, जो उनको हमेशा सताती रहती है वह साहित्यकारों की कीर्ति-रक्षा की है। इतना ही नहीं, आप शहीदों, कवियों, समाज-सेवकों की कीर्ति-रक्षा के लिए भी चिन्तित रहते हैं और इस विचार को कार्य रूप में परिणत करने का भी प्रयत्न करते रहते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने नगर के कई कालेजों में साहित्यकारों, शहीदों और समाजसेवियों के चित्र लगवाये। अनेक कवियों के विशेषांक निकलवाये और उनकी जयन्तियां मनवाईं। श्रीधर पाठक, रफ़ी अहमद किदवई, रामप्रसाद बिस्मिल, अशफ़ाक उल्ला, चन्द्रशेखर आज़ाद आदि के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेख्य हैं। नगरपालिका भवन में भी ऐसे कई चित्र लगवाये हैं। अराजकतावादी किसी धर्म में विश्वास नहीं करता है। दादाजी किसी दिखावटी और कृत्रिमतापूर्ण धार्मिक भावना के प्रदर्शन में विश्वास नहीं करते। उनका अपना अनुभव है, निजी जीवन-दर्शन है, अपनी मान्यताएं हैं और अपने आदर्श हैं। बिना किसी वर्ण, वर्ग, जाति के भेद-भाव के प्राणिमात्र की सेवा को ही वह सच्चा धर्म समझते हैं।

उनका कहना है कि मनुष्य का कर्त्तव्य ही वास्तविक धर्म है। जो सम्यक् प्रकार से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, वही सच्चा धर्मात्मा है। निष्काम कर्म करने के समान कोई धर्म-कर्म नहीं है। प्रतिफल की भावना का त्याग करके जो नित्य दान देता रहता है, सेवा में अपना सर्वस्व अर्पण करता रहता है वही सबसे बड़ा धर्मात्मा, पुण्यात्मा और भक्त है। जो फलेच्छा रखकर कार्य करता है वह हीन है, दीन है और तुच्छ है।

गोस्वामी तुलसीदासजी के मतानुसार यह सारा विश्व ही गुण-दोषमय है। दादाजी में जहाँ गुण हैं, वहां कुछ दोष भी हैं। पहली बात तो यह है कि वह एक बात को कई बार दुहराते रहते हैं। जब हम उनको स्मरण दिलाते हैं कि दादाजी यह बात तो आप हमें कई बार कह चुके हैं तब वह हँसकर उत्तर देते हैं, "तो क्या हुआ, एक बार और सुन लीजिए। बार-बार सुनने से उसका प्रभाव अच्छा पड़ता है।"

उनके स्वभाव की दूसरी त्रुटि है अधिक बात करना। वह बहुत बोलने के आदी हैं। इसका उनके स्वास्थ्य पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। डाक्टरों ने इस दोष-प्रक्षालन के लिए उनको कई बार परामर्श दिया, परन्तु वह अपनी आदत से लाचार हैं।

चतुर्वेदीजी गुटबन्दी से हमेशा दूर रहते हैं; निर्लिप्त, निस्पृह, निष्काम। नये साहित्य-सेवियों, समाज-सेवकों, सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को सतत प्रेरणा और प्रोत्साहन देना अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं।

उन्होंने ५१ वर्ष तक अपनी जन्मभूमि फ़ीरोजाबाद से बाहर रह कर साहित्य-सेवा की। बारह वर्ष तक दिल्ली में रहे। तत्पश्चात् जब १९६४ में फ़ीरोजाबाद लौटे तो उनको ऐसा आनन्द प्राप्त हुआ, जैसा प्रातःकाल के उड़े हुए पक्षी को सायंकाल अपने घोंसले में आने से होता है। यद्यपि उनके पास धन नहीं है, परन्तु पूर्ण परितोष है कि उन्होंने उपयोगी जीवन बिताया, निःस्वार्थ सेवा की और किसी से वैर-विरोध नहीं रखा। आजकल भी वह उन्हीं आदर्शों का अनुकरण करते हुए निःस्वार्थ भाव से सेवा में संलग्न हैं। ●

शंभूनाथ शुक्ल

विंध्य प्रदेश के गौरव

श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी का नाम तो मैंने बहुत दिनों से सुन रखा था। उनके द्वारा सम्पादित 'विशाल भारत' को मैं बड़े चाव से पढ़ता था। परन्तु उनसे साक्षात्कार बहुत दिनों बाद हुआ, जबकि उन्होंने टीकमगढ़ को अपना निवास-स्थान बना लिया था। महाराज टीकमगढ़ चतुर्वेदीजी से अत्यन्त प्रभावित थे। टीकमगढ़-निवास के समय उन्होंने बहुत से नवयुवकों को अपने व्यक्तित्व से अपनी ओर आर्कषित किया था। सम्भवतः आज भी उनमें से अधिकांश उनके अनुयायी बने हुए हैं। परन्तु इतना होते हुए भी मुझे उनके दर्शनों का अवसर नहीं मिला था। रीवां से ही उनकी साहित्यिक प्रतिभा, उनका प्रकृति-प्रेम तथा उनकी लेखन-प्रतिभा का समाचार मिलता रहता था। बाहर के बहुत से मनीषियों, विद्वानों तथा साहित्यकारों को विंध्य प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान केवल बनारसीदासजी चतुर्वेदी के कारण होता था। उनके नाम की इतनी प्रसिद्धि थी।

विंध्य-प्रदेश का निर्माण सन १९४८ के अप्रैल मास में हुआ। टीकमगढ़ की रियासत नवीन विंध्य-प्रदेश में विलय हुई तथा टीकमगढ़ को एक जिले का नाम दिया गया।

उन दिनों विंध्य-प्रदेश में काफी राजनैतिक चहल-पहल रहती थी। विंध्य-प्रदेश का राजनैतिक भविष्य भी एक विवाद का प्रश्न बन गया था। अंत में विंध्य-प्रदेश को पार्ट 'सी' का दर्जा संविधान द्वारा मान्य किया गया। सन १९५१ ई० में विंध्य-प्रदेश में एक जनतांत्रिक शासन स्थापित करने के लिए भारतीय संसद द्वारा एक विधान बनाया गया। सन १९५२ में आम चुनाव हुए और विंध्य-प्रदेश में कांग्रेस दल का बहुमत हुआ। तदनुसार विंध्य-प्रदेश में जनतांत्रिक शासन कायम हुआ और मैं मुख्यमंत्री बनाया गया। उसी समय विंध्य-प्रदेश से चार सदस्यों का चुनाव राजसभा के लिए करना था। कांग्रेस संसदीय बोर्ड के सामने चार नाम प्रस्तावित करने थे। बुंदेलखंड के सम्भाग से एक नाम जो प्रस्तावित किया गया था, उसके संबंध में संसदीय बोर्ड को कोई जानकारी नहीं थी। सम्भवतः वह महानुभाव कुछ कम पढ़े-लिखे भी थे।

जब नामावली संसदीय बोर्ड के सामने पेश हुई तो जहां तक मुझे याद है, स्वर्गीय मौलाना आज़ाद ने मुझसे कहा : "शुक्ला साहब, कोई पढ़ा-लिखा आदमी दीजिए। जो नाम आपने दिया है, वह तो ठीक नहीं है।" मैं चुप रह गया और यह कह कर बाहर आया कि मैं सोचकर नाम बतलाता हूं। बाहर बुंदेलखंड के मित्र खड़े थे। उनसे सलाह की। कोई नाम ठीक न जंचा तो मैंने कहा कि यदि चतुर्वेदी जी का नाम सुझाया जाय तो कैसा होगा। तब सब ने इस सुझाव को मंजूर किया। परन्तु मुझे तो संदेह बना रहा कि इस नाम को स्वीकृति मिलेगी अथवा नहीं। मैंने श्री चतुर्वेदीजी से इसके लिए स्वीकृति भी नहीं ली थी। इसलिए यह भी आशंका थी कि चतुर्वेदीजी अस्वीकृत न कर दें। मैं फौरन ही भीतर गया और मैंने चतुर्वेदीजी का नाम लिया तो स्वर्गीय पं० जवाहरलालजी ने कहा कि नाम तो बहुत अच्छा है। इतने में स्वर्गीय मौलाना आज़ाद ने भी अपनी स्वीकृति दे दी। फिर तो मैं बहुत प्रसन्न हुआ और इसकी सूचना तार द्वारा श्री चतुर्वेदीजी को दी। मैंने सुना है कि जब तार उन्हें मिला तो वह आश्चर्य-चकित रह गए। नामांकन पत्र भरने की तारीख बहुत नजदीक थीं। इसलिए उन्हें लिखा गया कि वह शीघ्र रीवां पहुंचें। मैं भी दिल्ली से रीवां शीघ्र पहुंच गया। परन्तु चतुर्वेदीजी कहीं दिखलाई न पड़े। दूसरे दिन प्रातः मैं स्वर्गीय कप्तान अवधेश प्रताप सिंह के निवास पर गया तो वहां कई लोग खड़े थे, जिनमें से कुछ मुझसे अच्छी तरह परिचित नहीं थे। एक व्यक्ति लम्बा खादी का कुरता, ढीला पाजामा और गांधी टोपी लगाए खड़ा था। न उन्होंने मुझे पहचाना और न मैंने उन्हें पहचाना। परन्तु खड़े हुए लोगों को सुना-सुना कर मैं जोर-जोर से कहने लगा, "देखिए तो चतुर्वेदीजी को टिकट दिया गया है, पर वह अभी तक आए नहीं। अब क्या किया जाय ?" इतने में खड़े हुए लोगों में से एक सज्जन ने कहा, "आप क्या पहचानते नहीं ? लम्बे कुरते और ढीले पाजामे वाले सज्जन की ओर इशारा करके उन सज्जन ने कहा—"चतुर्वेदीजी तो ये खड़े हुए हैं।" मैंने फौरन उनके पैर छुए और कहा, "क्षमा कीजियेगा। मैंने आपको पहले कभी देखा भी नहीं था।" जो कुछ पहले उनके विषय में सुन रखा था, वे सब बातें मेरी आंखों के सामने घूम गईं।

श्री चतुर्वेदीजी राज्यसभा के लिए सन १९५२ में विंध्य-प्रदेश विधान-सभा द्वारा चुन लिये गए और तब से उन्होंने दिल्ली को अपना निवास-स्थान-सा बना लिया। मैं जब कभी दिल्ली आता था तो उनसे अवश्यमेव मिलता था। मैं सोचता था कि श्री चतुर्वेदीजी दिल्ली में रहते हैं, अतएव इनसे कुछ राजनैतिक काम लिया जाय, परन्तु जब मैं उनसे इस विषय में बात करता, तो मेरी बातें पूरी न हो पाती थीं कि वह अपनी बातें शुरू कर देते थे। कुण्डेश्वर की उन्नति करना है, उसके आसपास के वन की रक्षा करना है, उसे अभय वन घोषित करना है। कभी-कभी चन्द्रशेखर आज़ाद की बातें करते। उन्होंने उनकी माताजी को टीकमगढ़ में बुला लिया था। उनके भरण-पोषण की उन्हें बड़ी चिन्ता रहती थी। मतलब यह कि राजनीति के चक्कर में वह नहीं पड़े। उससे दूर ही रहे। इससे मेरे हृदय में उनके प्रति श्रद्धा और आदर और भी बढ़ गया। मैंने सदैव उन्हें अपना बुजुर्ग और सम्मान का पात्र माना है। उनके ऐसे सच्चे, लगनशील, कर्मठ और सच्चरित्र सज्जन मुझे बहुत कम मिले हैं। उनके कारण विंध्य-प्रदेश को गौरव मिला। इसे मैं बहुत बड़ी बात मानता हूं।

भगवान से यही प्रार्थना है कि उनका जीवन सुखी-स्वस्थ हो और वह चिरायु हों। ●

काशीराम

विनीत

"मैं हमेशा अपने पत्रों में, चाहे वे छोटे को हों या बड़ों को, 'विनीत' लिखा करता हूं। नम्रता में अनेक गुण हैं—दूसरे को अपना बना लेता है।" ···

यह हैं आदरणीय बनारसीदास चतुर्वेदीजी के शब्द, जो उन्होंने वार्तालाप के दौरान नैनीताल में कहे थे।

चौबेजी हैं तो वैसे वयोवृद्ध लेखक, पर उनसे मिलने पर, बातचीत करने पर, लगता है कि वह वयोवृद्ध नहीं, जवान ही हैं। बोलचाल में वही युवकों-सा ओज, दृढ़ता तथा सुलझे हुए वाक्य, उनकी प्रखर बुद्धि और विचारशीलता का परिचय देता है। निर्भीकता इनका सहज स्वभाव है।

मैं जेल-जीवन में ही चतुर्वेदीजी के नाम से परिचित हुआ था। उस समय वह 'विशाल भारत' के सम्पादक थे और मैं 'विशाल भारत' का स्थायी ग्राहक था। उनका फोटो भी तभी देखा था जब वह अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों की सेवा के लिए तत्पर कंधे पर झोला लटकाये एक कांग्रेसी सैनिक वेश में थे। वह महात्मा गांधी के आग्रह पर ही अफ्रीका गये थे और उनके ही सैनिक थे।

सबसे पहले चतुर्वेदीजी से पत्रों के आदान-प्रदान द्वारा परिचय हुआ था, लगभग सन १९६० में, जब वह राज्यसभा के सदस्य थे। और शुरुआत, जहां तक याद पड़ता है, उन्हीं की ओर से हुई थी।

चतुर्वेदीजी धुन के पक्के हैं। उनसे पीछा छुड़ाना मुश्किल होता है। जब पहले-पहल उन्होंने मुझे अपने संस्मरण लिखने की प्रेरणा दी तो मैं ने उसका जवाब ही नहीं दिया और फिर जब उनके दो-तीन पत्र और आये तो अपनी उस अनिश्चित मानसिक अवस्था में कुछ कटु तथा बदतमीजी के उत्तर दिया। फिर भी एक-दो पत्र आये। इधर से कोई उत्तर न पाने के कारण पत्र-व्यवहार बन्द हो गया। यह बात १९६० की है।

फिर न जाने क्या कारण हुआ कि १९६४ के अंत में चौबेजी का एक पत्र मुझे फीरोजाबाद से मिला, उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही लगातार प्रतिदिन उनके पत्र मिलते रहे। मैंने टाला। मैंने उन्हें बताया कि मैं पढ़ा-लिखा वाजबी ही हूँ। हिन्दी भी ठीक से नहीं लिख सकता। क्रान्ति-दल में मेरी सेवाएँ नगण्य ही रही हैं। फिर भी चतुर्वेदीजी ने हार नहीं मानी। तीन-चार महीने के उनके सतत् प्रयास से आखिर मेरी तंद्रा टूटी और लिखना शुरू किया। ऐसे धुन के पक्के तथा सहृदय हैं 'विनीत चतुर्वेदीजी'।

निर्भीकता और स्पष्टवादिता भी उनका एक खास गुण है। मुँह पर लल्लो-चप्पो नहीं करते।

फीरोजाबाद में लगभग ९ दिन उनके घर पर अतिथि होकर रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, "तुम्हारी लिखावट बहुत खराब है। जरा संभाल कर सुंदर अक्षर लिखने का प्रयत्न करो। इससे पढ़ने वाले पर अच्छा असर पड़ता है।"

उनका जीवन क्रान्तिकारियों की सेवा करते ही बीता है, लेकिन उनके अन्दर आये दुर्गुण पर वह पर्दा नहीं डालते। देखिये :

"भारतीय क्रान्तिकारियों के दल का एक बड़ा अभिशाप यह रहा है कि उसके सदस्य बिखर गये। उनका विभिन्न राजनैतिक दलों में विभाजित हो जाना तो शायद स्वाभाविक ही था, पर सबसे बड़ी दुर्घटना

यह हुई कि उनके सामाजिक सम्बन्ध टूट गये और सार्वजनिक तौर पर वे एक-दूसरे की छीछालेदर भी करने लगे। एक तो वैसे ही क्रान्तिकारियों के कार्य को हमारे इतिहास-लेखकों ने उचित महत्व नहीं दिया था, उस पर पारस्परिक झगड़ों ने जनता के हृदय में समस्त क्रान्तिकारियों के प्रति कुछ विरक्ति भी उत्पन्न कर दी। बहुत से लोग यह ख्याल करने लगे कि क्रान्तिकारी लोग प्रायः हृदयहीन व्यक्ति होते हैं। चूंकि इन क्रान्तिकारियों से मेरा संबंध केवल मनुष्यता के धरातल पर ही रहा है, इसलिए मैं क्रान्तिकारियों का कृपा-पात्र रहा हूं।"···(नई दुनिया, ४–११–६८)

दादाजी का यह लेख समूचे भारत के मुख्य पत्रों में प्रकाशित हुआ था।

चतुर्वेदीजी के घर पर अनेक साम्यवादी उनका सत्कार पाने पहुंचे हैं। चतुर्वेदीजी ने उन्हें अपना स्नेह दिया है, पर वह अपनी बात कहने से नहीं चूके :

"मार्क्स के अनुयायी इस कठोर शब्द के लिए हमें क्षमा करें। पर यदि वे शान्तिपूर्वक उन कार्यवाहियों पर विचार करेंगे, जो मार्क्स ने बाकूनिन के विरुद्ध कीं तो उन्हें इसी परिणाम पर पहुंचना होगा कि दरअसल मार्क्स ने ईमानदारी को धता बता दी थी। पहली अक्लमंदी जो मार्क्स ने की थी कि अपने पत्र में यह सोलहो आने असत्य अफवाह छाप दी कि बाकूनिन रूसी सरकार की खुफिया पुलिस का एक आदमी है। यद्यपि पीछे जब इसका खण्डन किया गया तो मार्क्स ने वह भी छाप दिया। पर इस भयंकर निराधार अफवाह से बाकूनिन की कीर्ति को बड़ा धक्का लगा था। इसके बाद मार्क्स ने अपने जर्मन मित्रों को एक गुप्त चिट्ठी भेजी, जिसमें लिखा था कि बाकूनिन प्रै-स्लेविस्ट लोगों का एजेण्ट है और उन लोगों से बाकूनिन को २५ हजार फ्रैंक प्रतिवर्ष मिलते हैं।"

शायद ही कोई दिन ऐसा जाता होगा जब कि उनका पत्र डाकिया न लाता हो ! उनके हर एक पत्र में कुछ-न-कुछ उपयोगी सुझाव रहते थे।

चतुर्वेदीजी से मिलने की मेरी बड़ी इच्छा थी, वह पूरी हुई तब जब वह अपने सुपुत्र श्री बुद्धिप्रकाश के पास नैनीताल में रह रहे थे। मुझे बहेड़ी (जिला बरेली) में कुछ काम था। वह काम खतम करके ६ जून, १९६५ को दोपहर को रोहिल्ला कॉटेज, नैनीताल जा पहुंचा। रास्ते भर जाने क्या-क्या सोचता गया।

रोहिल्ला कॉटेज के द्वार पर एक-दो बच्चे खेल रहे थे। उनसे पूछा, "क्या चतुर्वेदीजी यहीं रहते हैं ?" यह सुनते ही वे अंदर भागे और अपने पिता को बुला लाये। आते ही उन्होंने पूछा, "क्या आप हरदोई से आ रहे हैं ? हम लोग आपकी सुबह से प्रतीक्षा कर रहे हैं। पिताजी भोजन कर अभी सोये हैं।" और मुझे कुछ बोलने का अवसर दिये बिना ही वह अंदर चले गये और दूसरे ही क्षण आकर बोले, "चलिये, पिताजी आपको बुला रहे हैं।"

नैनीताल में कमरे कोई बहुत बड़े-बड़े तो होते नहीं, थोड़ी जगह, अधिक-से-अधिक रहने लायक तीन-चार कमरों के मकान बनाये जाते हैं। बरामदे से लगे कमरे में जैसे ही दाखिल हुआ, "आइये, काशीरामजी ! रास्ते में कोई कष्ट तो नहीं हुआ ? अच्छा, बैठिये, पहले चाय पी लें। थकान उतर जाय, फिर बातचीत होगी।" एक सांस में चतुर्वेदीजी यह कह गये। वह खाट पर बैठे थे और उनके चेहरे पर मुस्कान खेल रही थी।

रोज टहलने जाते समय एमर्सन के विचार सुनने को मिलते थे। एमर्सन आस्तिक थे, पर हमारे चौबेजी का विश्वास ईश्वर में मालूम नहीं होता। वह पक्के अराजकतावादी हैं।

"एमर्सन का संदेश आशा का संदेश है, जीवन-दाता है और यदि आप आध्यात्मिक शराब पीना

चाहते हैं तो मैं कहूंगा कि वह एमर्सन की दुकान पर मिलती है। फर्क इतना ही है कि दुनिया की शराब उतार के वक्त थकान लाती है, एमर्सन का सोमरस सर्वथा स्वास्थ्यप्रद ही है, क्योंकि उसमें गीता-रूपी पत्तियों का रस बड़ी अच्छी मात्रा में विद्यमान है।"

चतुर्वेदीजी भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अध्यापक रह चुके हैं, एमर्सन तो अध्यापक थे ही। दोनों ही अध्यापक, दोनों ही निर्भीक विचारक और लेखक। चतुर्वेदीजी के पिता भी अध्यापक थे। अध्यापन इनका पैतृक धंधा है। अंतर केवल इतना कि चतुर्वेदीजी के पिता मितव्ययी थे––१०–१५ रु० वेतन! और इनका हाथ खूब खुला।

'संस्मरण' पुस्तक के 'निवेदन' में एक जगह चतुर्वेदीजी लिखते हैं: "···दूसरे आदमी के चरित्रों का चित्रण करते हुए दरअसल हम अपनी प्रकृति की ही झलक प्रस्तुत कर देते हैं। अपने जीवन-रूपी ग्रन्थ के ही कुछ पृष्ठ पाठकों के सामने रख देते हैं।

इस दृष्टि से इस पुस्तक के इक्कीस लेखों में पाठकों को वस्तुतः हमारी प्रकृति, हमारे स्वभाव और हमारी रुचि का ही चित्र मिलेगा।"

चतुर्वेदीजी आर्यसमाजी थे (रेखाचित्र, पृ० १७६)। अपने को वह बराबर अराजकतावादी घोषित करते आ रहे हैं। चतुर्वेदीजी के किसी पत्र में हमें पढ़ने को मिला था कि उन्हें ईश्वर पर विश्वास नहीं। अतः आर्यसमाजी थे अथवा अराजकतावादी, यह वही जानें। हां, उनकी स्वतंत्र प्रकृति और दृढ़ चरित्र की झांकी डा० सम्पूर्णानन्द के एक पत्र में झलकती है। यह पत्र बीकानेर से चतुर्वेदीजी को लिखा गया था:

प्रियवर टिप्पणीजी!

द इनए वीटेबल हैज हैपन्ड! मैं जानता था कि आप ऐसा किये बिना न मानेंगे। अनुमान ठीक निकला। यह देश का सौभाग्य है। आगे चलकर जर्नलिज्म आपको कोटिपति बना दे। आप सर्वोच्च पद और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लें, पर इस समय तो आपकी प्रत्यक्ष हानि है। इसी का नाम त्याग है और देश को त्यागियों की आवश्यकता है। हम टुकड़ों के गुलाम एकाध लेख या पुस्तक लिखकर, वह भी डर के मारे चिकनी-चुपड़ी बातों से मिश्रित, अपने को कृत्य-कृत्य बनाते हैं। पर आप अब स्वतंत्र हैं, बधाई है। भगवान आपका भला करे और आपको अपने सभी उद्देश्यों में आशातीत सफलता प्राप्त हो।"

डा० सम्पूर्णानन्दजी की भविष्यवाणी और आशीर्वाद कितना सत्य निकला! आज चतुर्वेदी जाने-माने साहित्यकारों में से हैं और सफल पत्रकार भी। १९६६ की जनवरी में उनको सोवियत सरकार की ओर से पांच हजार का पुरस्कार और दो सप्ताह की निःशुल्क सोवियत यात्रा की सुविधा प्राप्त हुई थी और यह सब उन्हें सफल पत्रकार के रूप में मिला था।

चतुर्वेदीजी ने दर्जनों पुस्तकें लिखी हैं। हमें केवल तीन ही प्राप्त हो सकीं––रेखाचित्र, संस्मरण और हमारे आराध्य। एक दर्जन पुस्तकें तो उन्होंने क्रान्तिकारियों के बारे में ही लिखी हैं। अभी हाल ही में उन्होंने काकोरी के अमर शहीद अशफाक उल्लाह की जीवनी उर्दू में छपवाई है।

नैनीताल-यात्रा से लौटे, पर संत-समागम से मन भरा नहीं था। इधर हमारे पास पैसे का वही हाल था, जैसे कि चील के घोंसले में मांस की धरोहर। उनके पत्र नित्यप्रति आते रहते थे कि अपने संस्मरण लिखो।

इसी बीच १९६५ की जनवरी-फरवरी में मेरे मित्र तथा सहपाठी श्री चमनलाल 'आजाद' (प्रताप प्रेस, दिल्ली) ने मुझे सौ रुपये भेजे कि मैं अपने दांत लगवा लूं। मल्लाका जेल में सन् १९३२ में भूख-हड़-

ताल के दौरान जो जोर-जबरदस्ती की गई, उसमें दांतों से हाथ धोने पड़े थे। सौ रुपये का मनीआर्डर मिलते ही सोचा कि दांत तो फिर कभी भी बन सकते हैं, पर फीरोजाबाद की तीर्थ-यात्रा का मौका नहीं चूकना चाहिए। अतः चौबे जी को अपने पहुंचने की सूचना भेज दी और २३ अगस्त की रात ९ बजे के लगभग चतुर्वेदीजी के घर पहुंच गया।

सब भोजन कर चुके थे, पर थोड़ी ही देर में ताजा भोजन बन कर आ गया। चौबेजी का आतिथ्य-सत्कार बेजोड़ है। कहने लगे, "हम सब लोग आज सुबह से ही तुम्हारा इंतजार कर रहे थे। अच्छा, अब विश्राम करो। कल सवेरे बातचीत होगी।"

प्रातः उठकर नित्य कर्म से निवृत्त होकर टहलने चले। रास्ते में जो भी मिलता, उसी से परिचय कराते जाते। मुझ जैसे छोटे व्यक्ति को भरपूर मान देना यह चौबेजी का ही काम था।

चौबेजी के कमरे क्या थे, ट्रंकों से भरे थे। सभी में चिट्ठियां और कागज। 'माडर्न रिव्यू', 'विशाल भारत' की पुरानी फाइलें! कितने ही व्यक्तियों की चिट्ठियां!

टहल कर लौटने और चाय पीने के बाद जब तक दोपहर को खाने का समय न हो जाता, तब तक चौबेजी वीर आसन में बैठकर लेखन-कार्य करते रहते हैं।

दोपहर को भोजन के बाद घंटा-डेढ़ घंटा आराम किया, फिर वही वीर आसन और वही लेखन-कार्य। फीरोजाबादवासी चतुर्वेदीजी का बहुत मान करते हैं। सोचा था, एक-दो दिन फीरोजाबाद में ठहर कर दिल्ली चला जाऊंगा। इस गिरानी और व्याधि-ग्रस्त संसार में किसी के यहां अधिक ठहरना उचित नहीं, पर चौबेजी कहां मानने वाले थे। उनका स्थान, सच मानिये, साहित्यिकों, हम जैसे फक्कड़ों, क्रान्तिकारियों तथा वहां के नागरिकों के लिए तीर्थ-स्थान बना है। उनके घर का दरवाजा सदा खुला रहता है।

चतुर्वेदीजी ७७ वर्ष के हैं, तो भी उन्हें प्रातः ४ बजे से कार्यरत पायेंगे। प्रातः टहलने का नियम है; जाड़ा, बरसात हो या गर्मी। मुझ जैसे आलसी को साथ देना पड़ा। टहलने के समय अनेक विषयों पर वार्तालाप होता था। आधे फीरोजाबाद से टहलने के समय ही मेरा परिचय हो गया।

चतुर्वेदीजी ने फीरोजाबाद की जनता की ओर से सार्वजनिक अभिनन्दन का आयोजन कराया।

चतुर्वेदीजी मिष्ठान्न-प्रेमी हैं; ब्राह्मणं मधुर प्रियं। खाते जाते थे साथ ही कहते जाते थे—"ज्यादा मीठा मत खाना। नुकसान करेगा।"

नैनीताल और फीरोजाबाद की तीर्थ-यात्रा तथा संत-समागम मेरे जीवन की अमूल्य निधि है, अविस्मरणीय।

१८ अगस्त के दिन आगरे के सरोजिनी नायडू अस्पताल से श्री चतुर्वेदीजी की ओर से जो पत्र हमें प्राप्त हुआ, उसे उद्धृत कर हम अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं :

आगरा
एन० एस० हॉस्पिटल

प्रिय भाई काशीराम जी,

कृपा पत्र मिला।

ऑपरेशन २० तारीख को होगा। उस दिन मैं आप जैसे सुहृदों को याद कर लूंगा। आपके साथ बिताये दिन कभी नहीं भूलने के। आज पृथिवीसिंह पधारे हैं। वह फीरोजाबाद गये हुए हैं। उनके 'क्रान्ति-पथ के पथिक' को पुनः छपवाना है।

आशा है कि आप सकुशल हैं।

मुझे १½ महीने विश्राम करना होगा।

बनारसीदास

पहले का एक और पत्र देखिये :

फीरोजाबाद,
२५–४–६६

प्रियवर नमस्कार,

मेरा विचार आपके विषय में एक लेख लिखने का है। जो दिन आपके साथ व्यतीत हुए, उन्हीं का वर्णन रहेगा।

आप जानते ही हैं कि मेरी दृष्टि दोष-दर्शन की नहीं और साथ ही किसी की खुशामद की भी नहीं। बिना अत्युक्ति किये जैन्युन एप्रीसियेशन ही मेरा उद्देश्य है। अपनी त्रुटियों को मैं बखूबी जानता हूं, इसलिए दूसरे के प्रति सहिष्णु हूं। मुझे इस बात का खेद है कि पुराने क्रान्तिकारियों में भ्रातृत्व की भावना की कमी होती जा रही है। किसी की त्रुटियां, यदि हों तो, प्रेम-पूर्वक बतलाई जा सकती हैं। श्री तिलक जी ने ऐसा नहीं किया। लेख लिख चुकने के बाद आपको उसकी प्रति भेज दूंगा। तत्पश्चात् वह छपने जायेगा।

आप अपनी अनुभूतियां बराबर नोट करते रहें।

ऐसे शुद्ध वातावरण में रहते हुए आप बहुत काम कर सकते हैं।

रवीन्द्रजी को प्रणाम :

विनीत
बनारसीदास

स्वतंत्र विचार की रक्षा के हेतु चतुर्वेदीजी ने गांधीजी के अत्यंत आग्रह पर भी 'नवजीवन' का संपादन-भार लेने से इंकार कर दिया था।

इसी संदर्भ में एक और पत्र :

फीरोजाबाद
२०–५–१९६६

(६ पैसे का तार)

प्रणाम,

आपका लेख साप्ताहिक हिंदुस्तान में छप गया है। दो-तीन दिन में निकल जायगा। उसका शीर्षक स्वयं सम्पादक महोदय ने दे दिया है, मैंने नहीं।

यह संभव कि आपके साथी-संगी इस लेख पर भी नाक-भौं सिकोड़ें, पर आपको उद्विग्न होने की ज़रूरत नहीं। आप अपने आलोचकों को लिख सकते हैं कि "चतुर्वेदीजी के अत्यंत आग्रहपूर्ण आर्डर पर ये लेख लिखे गये हैं और उनका संपादन भी उन्होंने ही किया है।"

दुनिया कुछ भी कहे, हमें अपना काम करते रहना है। ...

मैं ८ जून को रूस जा रहा हूं। ५ को सवेरे जाना है।

विनीत
बनारसीदास

अंत में १६-८-१९५९ में राष्ट्रपति स्वर्गीय राजेन्द्रप्रसाद जी का पत्र :

प्रिय श्री बनारसीदास जी,

ज्ञान के नाम आया आपका १० जुलाई का पत्र मैंने देखा। साथ की कतरन भी पढ़ी। आप शहीदों का श्राद्ध जिस श्रद्धा से कर रहे हैं, वह वास्तव में अभिनन्दनीय है।

फुलैनाबाबू, १६ अगस्त को शहीद हुए। आज भी १६ अगस्त ही है। इस प्रकार से उनके श्राद्ध की बरसी है। मैं आपके इस विचार को पसन्द करता हूं कि उनकी स्मृति में उनकी ही शहीद भूमि में कोई स्मारक बने, चाहे वह किसी रूप में और छोटे ही पैमाने पर क्यों न हो। आपका इस ओर ध्यान गया है तो आपका प्रयत्न भी सफल होगा। आप जो कुछ कर सकें अवश्य करिये। ऐसे कार्यों में सद्भावना सदा रहती ही है, यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता नहीं।

सुना है, आप रूस से अनुभव और स्वास्थ्य दोनों ही लाये। बड़ी खुशी की बात है।

मेरा स्वास्थ्य अच्छा है।

आपका
राजेन्द्रप्रसाद

चतुर्वेदीजी शतंजीवी हों, ऐसी हमारी कामना है। ●

मिथलेश चन्द्र चतुर्वेदी

दादाजी : अपने घर-आँगन में

●

दिल्ली में बारह वर्ष तक राज्यसभा के सदस्य रहने के बाद दादाजी ने फीरोजाबाद में रहने का निश्चय किया था। ५ अप्रैल, १९६४ को जब उनका सामान एक ट्रक में भरकर दिल्ली से फीरोजाबाद आया तो कुछ लोगों को गलतफहमी हुई। एक सौ से ऊपर सन्दूक, जिनमें चिट्ठियां तथा फाइलें थीं, पच्चीस-छब्बीस बोरों में पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएं और बहुत-सा खुला सामान। आठ आदमी शाम तक वह सामान ढोते रहे। लोगों ने अनुमान लगाया कि शायद चौबेजी पुस्तकों की दुकान करेंगे। फीरोजाबाद रहकर ब्रज की सेवा करने का उनका विचार था। एक पत्र में उन्होंने दिल्ली से लिखा था :

नई दिल्ली

बिल्लू,[1]

आशीष।

'फीरोजाबाद संदेश' को एक चिट्ठी मैंने भेजी है, जिसमें मैंने लिखा है कि अगर मैं फीरोजाबाद में चाय की दुकान खोलूं, तो मुफ्त में चाय पीने वाले मेरी दुकान का दिवाला निकाल देंगे, क्योंकि अपना

---

[1] लेखक का घरेलू नाम।

परिचय तो सभी से है। दुकान सड़क पर निकल सकती है । उस पर नोटिस टंगा रहेगा--नौ नकद न तेरह उधार--चौबेजी की चाय ।

बनारसीदास

पुनश्च :

हमारे लिए मुनक्कों का और अनारदानों का चूरन खूब-सा बनवा दो । घर पर चूरन अच्छा बनता है । चूरन की दुकान भी खोल सकते हैं, पार्लियामेंट की मेम्बरी छूटने के बाद।

बनारसीदास चतुर्वेदी, चूरनवाले।

दादाजी को अपने नगर फीरोजाबाद से विशेष स्नेह रहा है। यही उनकी जन्मभूमि है। अपने पिता स्व० श्री गणेशीलाल चौबे तथा माता के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा है। उनके जन्म पर जब उनके पिताजी ने (जिन्हें वे कक्का कहते थे) उनकी जन्मपत्री बनवाई थी तो ज्योतिषियों ने कहा था, "यह बालक आपके परिवार में उजाला कर देगा।" उस समय उनका नाम रक्खा गया था फतेहसिंह। परन्तु घर का नाम बनारसीदास ही पड़ा।

कक्का मिडिल स्कूल के अध्यापक थे। अतः दादाजी सम्पूर्ण शिक्षक वर्ग को पूज्य मानते रहे हैं। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा फीरोजाबाद में हुई । यहीं मिशन स्कूल में उन्होंने हिन्दी तथा अंग्रेजी मिडिल पास किया। हाई स्कूल और इन्टर की परीक्षाएं उन्होंने आगरा कालेज से पास कीं। साधनों के अभाव में उन्हें आगे का अध्ययन बन्द कर नौकरी करनी पड़ी। पहले फीरोजाबाद के मिशन स्कूल तथा बाद में फर्रुखाबाद में वह अध्यापक रहे। तत्पश्चात उनकी नियुक्ति डेली कालेज, इन्दौर में हुई।

फीरोजाबाद आने के बाद उनका साहित्यिक कार्यक्रम जारी है। सुबह चार बजे से यह कार्य शुरू हो जाता है। स्वाध्याय, पत्र, लेख और चिन्तन--यद्यपि यहां आने के पूर्व उनके मित्र श्री सम्पूर्णानन्दजी ने उन्हें लिखा था, "चूड़ियों के नगर फीरोजाबाद में आपके साहित्यिक कार्यों का प्रयत्न ऐसा होगा, जैसे दिगम्बरों की वस्ती में कपड़ों की लॉण्ड्री खोलना।"

दादाजी को अपनी दैनिक डाक की बड़ी चिन्ता रहती है। डाक आती भी बहुत है। पूरे एक पोस्टमैन की ही डाक होती है। डाक लाने और ले जाने का कार्य मेरे ही जिम्मे है। एक दिन सुबह पोस्टमैन से डाक लेकर जैसे ही निकला, एक ग्रामीण बालिका पूछ बैठी, "दुली के मुहल्ला के रामसिंह की चिट्ठी तुम्पैई है का?" वह बेचारी मेरे हाथ में बहुत-सी चिट्ठियां देखकर मुझे ही डाकिया समझ बैठी!

दादाजी ने साहित्यिक मित्रों को लाखों की संख्या में पत्र लिखे हैं। उन पत्रों में हिन्दी के लिए सुझाव भी होंगे तथा 'शहीदों के श्राद्ध' के लिए प्रयत्न की चर्चाएं तथा नये साहित्यिक आन्दोलनों का जिक्र भी होगा।

ये पत्र साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। परन्तु अपने परिवार के सदस्यों के लिए लिखे गये पत्र भी कुछ विशेष उद्देश्य लिये ही रहते हैं। एक पत्र में उन्होंने लिखा था :

नई दिल्ली

बिल्लू

आशीष!

हमारे सी० आई० डी० की सदस्या ने हमें बतलाया है कि तुमने अलका की मां[1] को जेलखाने का

---

१. लेखक की पत्नी।

दण्ड दे रखा है। क्या अपराध उन्होंने किया है? कभी तो घूमने-फिरने का मौका उन्हें मिलना चाहिए—और न सही तो हनुमानजी की बगीची तक ही मंगल और शनिवार को घूम आया करें।

Every member of our family must see some beautiful thing every day, read some beautiful thing and also do something full of beauty.

जीवन को सरस बनाने की जरूरत है। सरस माने यह भी कि नारंगी या फालसे का रस लिया जाय और गर्मियों में आम का पना।

शुभेच्छु
बनारसीदास

दादाजी शुद्ध शाकाहारी हैं। भोजन में शाक-भाजी की अधिकता ही रहती है और मिर्च-मसाला बिल्कुल नहीं। भोजन भी वह कुकर का पका हुआ खाते हैं। पेड़े के वह अत्यन्त शौकीन हैं। रूस से एक बार उन्होंने लिखा था :

"यहां फीरोजाबाद के रतन के पेड़ों की याद आती है। यहां की गायें एक दिन में २०–२५ सेर दूध देती हैं। हिसाब लगाना कि एक दिन के दूध में कितने पेड़े बन सकते हैं!"

बच्चों के स्वास्थ्य के प्रति दादाजी बहुत सावधान हैं। वह बच्चों के पार्क तथा उनके खेलकूद की व्यवस्था के लिए निरन्तर यहां के म्यूनिसिपल बोर्ड को लिखते रहे हैं।

जीवन के प्रति दादाजी का दृष्टिकोण अलग है। एक पत्र में उन्होंने लिखा था :

नई दिल्ली

डा० बिल्लू, आशीष !

चिट्ठी तुम्हारी मिली। बकौल कक्का "सच्चे हैं मर्द वही जो हर हाल में खुश हैं।" कक्का की औसत आमदनी दस रुपये महीने से ज्यादा नहीं रही होगी। और हमारे बाबा मथुरा में गजी गाढ़े से शायद एक रुपया रोज कमा लेते होंगे।

The whole thing depends upon the attitude of mind. I retire from my membership of Parliament on 3rd April 1964 and will then entirely depend upon my pen earning Rs one hundred or so per month, at the utmost in my 72nd year. But this does not depress me at all. I think you must develoe into a writer also. Write two or three articles per month.

शुभेच्छु
बनारसीदास

दादाजी को धन के प्रति कभी मोह नहीं रहा। स्वास्थ्य को ही वह मुख्य सम्पत्ति मानते आये हैं। मकान, रुपया आदि को वह कोई महत्व नहीं देते। एक बार मकान की दीवार बनवाने के लिए जब मैंने उनकी आज्ञा मांगी तो उनका उत्तर आया था :

बिल्लू,
आशीष !

दीवार बनवा लो। पुरानी दीवार के गिरने से किसी के चोट का भय है, वैसे हम कबीर के अनुयायी हैं जिन्होंने लिखा है कि :

कहां उठावै मेंड़िया, लम्बी भीति उसार।
घर तो साढ़े तीन हथ, घना तौ पौने चार ।।

और बाबा गोरखनाथ के भी, जो कहते हैं :

आज खाय जो कल को झक्खे--ताको गोरख साथ न रक्खे।

बनारसीदास

दादाजी अपने कागज-पत्रों और पुस्तकों के प्रति जितने सजग हैं, कपड़ों के प्रति उतने ही उदासीन। उन पर क्या कपड़े हैं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं है। कपड़े दर्जी के यहां बिना नाप के ही अन्दाज से सिलवाये जाते हैं, लेकिन जरा ढीले-ढाले होने चाहिए। इस सम्बन्ध में वह अपना आदर्श झांसी के एक सज्जन को मानते हैं, जो जाड़ों में अपने बच्चों को ऊनी कपड़े बनवाने के बजाय मेवा खिलाते हैं, जिससे अच्छे स्वास्थ्य के कारण सर्दी लगे ही नहीं। १९६० में जब शीत लहर आयी थी, उनकी एक ऊनी जाकट कहीं गुम हो गई। चार-पांच दिन तक तलाश करने पर भी कहीं नहीं मिली। अगले दिन जब नहाने के लिए दादाजी ने अपने कपड़े उतारे तो वह जाकट मिली। वह उसे पहने हुए थे तथा सर्दी के कारण उन्होंने चार-पांच दिन स्नान नहीं किया था।

जब दादाजी कहीं यात्रा पर जाते हैं तो उनके सामान पर उनके नाम की चिट चिपका दी जाती है, जिससे वह उसे पहचान सकें। यह सावधानी तब से लेनी पड़ी जब वह एक बार शाम की गाड़ी से कुण्डेश्वर पहुंचे। वहां के प्रिन्सिपल महोदय के यहां ठहरे। रात को जब उनका बिस्तरबन्द खोला गया तो उसमें महिलाओं और बच्चों के कपड़े निकले। उनका बिस्तरबन्द किसी महिला के बिस्तरबन्द से बदल गया था। बाद में तलाश करके मुश्किल से उस भूल का सुधार किया गया। उसी यात्रा में किसी ने उनकी जेब भी काट ली। जेबकट के दुर्भाग्यवश जेब में कुछ था ही नहीं।

किसी की भी बीमारी को दादाजी सहन नहीं कर पाते। बीमारी की चिन्ता उन्हें स्वयं अस्वस्थ बना देती है। बच्चों के पालन-पोषण को देखकर वह कहा करते हैं, "असली योगी तो मां होती है, योग किसी मां से सीखा जा सकता है।" बच्चों की देख-भाल करने का अभ्यास उन्हें नहीं है, क्योंकि परिवार से वह अधिकतर बाहर ही रहे हैं। इस सम्बन्ध में वह कहा करते हैं :

"केवल एक बार की याद है जब किसी यात्रा में हमने छोटे लड़के गुपलेश को अपने हाथ से पानी पिलाया था। और किसी बच्चे को खिलाने की भी हमें याद नहीं है।"

दादाजी ने अफ्रीका की एक बार तथा रूस की दो बार यात्रा की है। उनकी अफ्रीका-यात्रा के कारण उनके परिवार को बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ा था, उनके विदेश में रहने के कारण उनके परिवार को बिरादरी से अलग कर दिया गया था। बाद में मुश्किल से उन्हें शामिल किया गया, किन्तु यह संकट रूस की यात्रा करने पर नहीं आया।

दादाजी की लेखनी का कैमरा बड़ा सजग है। इस कैमरे द्वारा सैकड़ों ही रेखा-चित्र खींचे गये हैं--बापू से लेकर हरिजन बालिका रामदुलारी तक। रेखा-चित्रण उनका विशिष्ट विषय है तथा उसमें उनकी एक अलग शैली है। इस वर्ष यू० पी० बोर्ड की इण्टर परीक्षा में हिन्दी के प्रश्न-पत्र में उनकी शैली पर एक प्रश्न पूछा गया था। जब मैंने उन्हें इसकी सूचना दी तो बोले, "हमारी शैली कैसी है, यह तो हम भी नहीं जानते, विद्यार्थी बेचारे क्या जानें? इस प्रश्न में तो हम खुद फेल हो जायंगे।"

बातचीत का दादाजी को शौक है। यद्यपि वह अपनी इस आदत को कम करना चाहते हैं, तथापि कर नहीं पाते। एक बार मजाक में उन्होंने श्री कृष्णानन्द जी गुप्त को लिखा था :

प्रिय कृष्णानन्दजी,

आज सुबह ही विचार आया कि अपनी बातचीत की आदत को कम कर देना चाहिये। इससे जबाकुसुम तेल का व्यय कम हो जायगा। एक महीने में करीब डेढ़ शीशी जवाकुसुम व्यय हो जाता है और एक शीशी करीब नौ रुपये की आती है। दो रूसी महिलाओं के आशीर्वाद-स्वरूप मुझे कम-से-कम अभी ३५ वर्ष और जिन्दा रहना है। अतः इससे ५८८० रुपये जवाकुसुम में ही व्यय हो जायंगे। पूरे-का-पूरा नेहरू पुरस्कार इसी में चला जायगा।

आपका
बनारसीदास चतुर्वेदी

दादाजी अराजकतावाद के अनुयायी हैं। बन्धन उन्हें किसी का पसन्द नहीं, चाहे वह समय का हो या अन्य प्रकार का। पूर्ण स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को वह माननेवाले हैं। एक बार घर पर एक बेल को संभाल कर जब मैंने रस्सी से बांध दिया तो उन्होंने यह कह कर उसे स्वयं खोल दिया, "इसे उन्मुक्त ही फैलने दो। घड़ी वह अपने पास अवश्य रखते हैं, लेकिन घड़ी उनके कार्यों की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बन पाती। उनकी घड़ी का भी एक इतिहास है। जब वह 'विशाल भारत' के सम्पादक थे, उनके पास एक पुरानी घड़ी थी। वह कहीं खो गई। उन्हीं दिनों रामेश्वरजी टांटिया ने उन्हें एक घड़ी भेंट की। एक दिन जब दिल्ली में सत्यवतीजी मल्लिक उस घड़ी को मरम्मत के लिए ले जा रही थीं, क्योंकि घड़ीसाज की दुकान उनके घर के पास ही थी, तब एक बदमाश उनसे पर्स छीन कर भाग गया और दादाजी की घड़ी उसी में चली गई। बाद में बहिनजी ने ही एक नई घड़ी वर्षगांठ पर भेंट कर दी। पिछली बार जब वह रूस में थे तो होटल से वह घड़ी कोई चुरा ले गया। रूस में रेडियो-वार्ता से मिले रूबलों से उन्होंने एक नई घड़ी खरीद ली। लेकिन पिछली गर्मियों में वह घड़ी भी कोई घर से उठा ले गया। अब हमें किसी शुभ घड़ी का इन्तजार है।

हाल ही में दादाजी का पौरुष-ग्रन्थि का ऑपरेशन हुआ। ऑपरेशन सफलतापूर्वक हो गया। ऑपरेशन के बीच उन्हें नया रक्त दिया गया है। उनका कहना है कि वह अब नई शक्ति के साथ कार्य करेंगे क्योंकि उनमें अब नया रक्त है। हमारी भी जगतपिता से प्रार्थना है कि वह शीघ्र ही उस नये जोश से अपना कार्य प्रारम्भ करें और हम लोग उनकी १००वीं वर्षगांठ पर उनके कर-कमलों में एक अभिनन्दन भेंट करें। ●

भगवानदास माहौर

पिस्तौल से लेखनी

•

भौतिक क्षेत्र की भांति सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक सभी क्षेत्रों में गरुत्वाकर्षण का नियम काम करता प्रतीत होता है। इनमें भी लघु-गुरु पिंड अपने गुरुत्व के गुणनफल के सीधे अनुपात में और अपनी पारस्परिक दूरी के वर्ग के विपरीत अनुपात में एक दूसरे को आकृष्ट करते रहते हैं। इसी नियम के वशीभूत छोटे पिंड बड़े पिंडों के गिर्द घूमते रहते हैं।

सन १९२४-२५ में चौदह-पंद्रह वर्ष की अवस्था ही में सौभाग्य से अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद के गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्र में जा पड़ने से मेरे जीवन में जो गति आई थी वह उस आकर्षण केन्द्र के बढ़ते-घटते सामीप्य के अनुपात से बढ़ती-घटती रहती हुई भी महज निष्क्रियता से ही सन १९४७ में स्वराज्य-प्राप्ति की घोषणा हो जाने तक कुछ-न-कुछ बनी ही रही। परन्तु स्वराज्य-प्राप्ति के बाद उस गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र की शक्ति-रेखाएं मिटने लगीं और परिणामत: मैं अपने-आपको एक ऐसा पिंड अनुभव करने लगा, जिसका फिर कोई निश्चित केन्द्र-कक्ष न रहा हो। परन्तु सौभाग्य से मेरा जीवन शीघ्र ही संयोगवशात ही श्रद्धेय श्री बनासीदास चतुर्वेदी के गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्र में जा पहुंचा और तब से वह एक लघुपिंड की भांति उसी में गतिशील है, उसी में घूम रहा है।

बदली हुई परिस्थितियों ने मेरे हाथ से वह असफल पिस्तौल ले ली जो ऐन मौके पर निशाना मारने में चूक गई थी और उसमें लेखनी पकड़ा दी, यह कहकर कि पिस्तौल की असफलता के दंड के रूप में मुझे अब जो जीवन व्यतीत करना है, उसमें मुझे इसी लेखनी से योगक्षेम उपार्जित करना होगा और मेरे इस जीवन की सफलता यह होगी कि मैं इस लेखनी का उपयोग 'क्रान्तिमय' और उसके पथिकों के संबंध में लिखते रहने के प्रयास में करता रहूं। मेरी इस लेखनी को शिक्षा और प्रेरणा दी है श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने--जैसे कभी पिस्तौल पकड़ना सिखाया या मुझे अमरशहीद चन्द्रशेखर आजाद ने। यदि मेरे जीवन का कुछ छोटा-सा भी अंश सामाजिक रूप में उपयोगी रहा हो, तो उसका विवरण इन्हीं दो शब्दों में सिमिटा हुआ है : पिस्तौल से लेखनी, चन्द्रशेखर आजाद से बनरसीदास चतुर्वेदी।

स्वराज्य-प्राप्ति के दो वर्ष पूर्व ही सन १९४५ की जुलाई में मैं 'भारत रक्षा कानून' के अन्तर्गत नजरबन्दी की कैद से मुक्त होकर अपने घर झांसी आ गया था और आजीविका के लिए झांसी से प्रकाशित होनेवाले साप्ताहिक 'स्वतंत्र' के संपादकीय विभाग में काम करने लगा था। श्रद्धेय बनारसीदास के साहित्य और पत्रकारिता में स्थान के विषय में कुछ जानकारी मुझे वहीं काम करते हुए हुई थी। उस समय तक उनके कुछ लेख पढ़ चुका था और कविवर श्रीरामचरण हयारण 'मित्र', श्रीसेवकेन्द्रजी और स्वर्गीय श्रीबृजनन्दन चतुर्वेदी 'शील' से भी उनके विषय में सुन चुका था।

झांसी में मेरे मामा स्वर्गीय कविवर नाथूरामजी माहौर के यहां नये-पुराने सभी ढर्रे के कवि आते-जाते रहते थे और उनकी बातचीत सुनने का अवसर मुझे मिलता रहता था। इन गोष्ठियों में भी श्रीबनारसीदासजी की चर्चा आती ही थी। उनके संबंध में पुराने ढर्रे के कवियों का यह आक्रोश मैं सुन चुका था कि कुंडेश्वर (टीकमगढ) में प्रतिवर्ष होली के अवसर पर जो कवि सम्मेलन टीकमगढ़-नरेश श्री वीरसिंहजू देव

की उदारता से होता था, उसकी परम्परा बाद में श्री बनारसीदासजी के प्रभाव के कारण ही उच्छिन्न हो गई थी। बेचारे कवियों के जो दो-चार दिन राजातिथ्य में चैन से कटते थे, उससे वे वंचित हो गये थे। इस संबंध में एक कवि ने अपनी एक व्यंगात्मक रचना सुनाई थी। उसका आधा ही चरण मुझे आज याद है—"· · ·एक सांड़ पाल के गुपाल न कहाओगे।" इसमें यह व्यंजित हुआ था कि राजासाहब ने अनेक कवि-कपिलाओं का पालन करना छोड़कर अब एक साहित्यिक सांड (श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी) को पाल रखा है। बात यह है कि श्रीबनारसीदासजी ने ओरछा-नरेश को अपने द्वारा संपादित 'मधुकर' मासिक के रूप में बुन्देलखंड-संबंधी कुछ ठोस साहित्यिक कार्य किये जाने की प्रेरणा दी थी। बनारसीदासजी के इस कार्य में मुझे साहित्यिक प्रगतिशीलता ही दिखी थी और इस लेखक-पुंगव के दर्शन करने के लिए मैं उत्सुक हो उठा था।

इसका सुयोग मुझे उसी समय ललितपुर में हुए एक कवि-सम्मेलन में मिला। वह इसके अध्यक्ष थे। इस सम्मेलन में मुझे यह अनुभव हुआ कि श्रीबनारसीदासजी उन विरले नरवरों में से हैं, जिनके लिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है, "जे परभणित सुनत हरषाहीं। ते नरवर थोड़े जग माहीं।" नवाभ्यासियों की रचनाओं को वह जिस चाव से सुन रहे थे और अपनी विविध चेष्टाओं से उन्हें प्रोत्साहित कर रहे थे, उससे यह स्पष्ट था कि उनका इन नवाभ्यासियों के प्रति, उपेक्षितों के प्रति, और प्रश्रय और उचित प्रोत्साहन के अभाव में मुरझाती हुई प्रतिभाओं के प्रति विशेष पक्षपात है। इससे उनके प्रति मेरी श्रद्धा और आकर्षण भी बढ़ा।

उस समय मैं झांसी के साम्यवादी दल के संपर्क में था और स्वर्गीय नारायणदास खरे आदि टीकमगढ़ के अनेक साम्यवादी कार्यकर्ताओं से मेरा परिचय हो चुका था, और उनसे मैं उनके परम हितैषी 'चौबेजी' के अनेक सहायता-कार्यों के विषय में सुन चुका था और उनके प्रति अपने इन साम्यवादी मित्रों की हार्दिक श्रद्धा को भी मैं देख चुका था। राजाश्रय में रहते हुए भी वह किस प्रकार इन 'बागियों' को प्रश्रय देते रहते थे, इसकी जानकारी मुझे हो चुकी थी। यह सब जानते हुए भी जो राजा उन्हें अपने यहां एक गुरु के लिए यथोचित सम्मान से रखे हुए था, उसके प्रति भी मेरे मन में एक विशेष प्रकार की श्रद्धा जाग्रत हुई थी।

शीघ्र ही ऐसा सुयोग भी आया कि मैं स्वर्गीय कविवर बृजनन्दन चतुर्वेदी 'शील' और सेवकेन्द्रजी के साथ चतुर्वेदीजी के दर्शनार्थ उनके निवासस्थान कुंडेश्वर-स्थित कोठी पर पहुंचा। उस समय चतुर्वेदीजी ने मुझे झांसी के 'स्वतंत्र' साप्ताहिक में काम करने वाले एक श्रमजीवी पत्रकार के रूप में ही जाना और उसी के अनुरूप मुझे कुछ अपना सदुपदेश भी दिया और शिष्टाचारतः 'स्वतंत्र' में मेरे कार्य की, विशेषतः उसके बालपृष्ठ की सराहना भी की। यह अनुभव मुझे उनसे बातचीत करने के इस पहले अवसर में ही हो गया कि चौबेजी अपने अतिथियों को चाय के साथ (उनके छोटे चिरंजीव डा० रामगोपाल चतुर्वेदी के शब्दों में) 'उपदेशामृत' भी पिलाने में बहुत उदार हैं, और ये दोनों ही पीनेवाले की अपनी रुचि से कुछ अधिक ही पीना पड़ते हैं। परन्तु चौबेजी का इसके लिए आग्रह इतनी पारदर्शी सदाशयता से होता है कि आप इन दोनों को ही पीते चले जाने से इन्कार नहीं कर सकते।

चतुर्वेदीजी का यह 'उपदेशामृत' हास-परिहास के प्यालों में ढलता चला जाता है और इस हास-परिहास का लक्ष्य वह अधिकतर अपने-आपको ही बनाते हैं। बात-बात में अपने ऊपर हँस सकनेवाला उनकी टक्कर का बातूनी अभी तक मुझे दूसरा नहीं मिला। यह मेरे लिए चतुर्वेदीजी का प्रथम साक्षात्कार ही

था, लेकिन उन्होंने हमें यह बात सुना डाली कि वह जब इन्दौर के राजकुमार कालिज में अध्यापकी के लिए पहुंचे थे, तो इतने हड़बड़ा गये थे कि यह पूछे जाने पर कि "वैल, मिस्टर चतुर्वेदी, व्हैन डिड यू कम ?" चौबेजी का उत्तर था "आई केम टुमारो", अपने संबंध में स्वर्गीय मुंशी अजमेरी का "चूक गयौ चौबे रस-रंग के चबच्चा में" वाला छंद और उससे संबंधित घटना भी आपने सुना डाली। कविवर नवीनजी की अपने संबंध में ये पंक्तियां "हिंदी की दुम में बंधौ तें खटखटा विचित्र" और उनसे संबंधित प्रसंग भी अपने ऊपर दिल खोलकर हँसते और हम सबको हँसाते हुए सुना डाले। इसी अवसर पर अपने विषय में चतुर्वेदीजी ने अपनी यह राय भी हमें सुना दी, "मैं आदमी तो थर्ड क्लास हूं, मेरी बातें सेकिंड क्लास होती हैं, लेकिन मैं प्रचारक फर्स्ट क्लास हूं।"

अपनी ऐसी ही बेतकल्लुफ हास-परिहास की बातों से चौबेजी अपने साथ बात करने आये हुओं को बहुत जल्द अपने बड़प्पन के आतंक से मुक्त कर देते हैं। फिर उसे उनसे दिल खोलकर बात करने में किसी प्रकार की झिझक तो नहीं रहती, परन्तु चौबेजी की अजस्र वाग्धारा के वेग में कम-से-कम मैं तो न अपने कथ्य को ही संभाल पा रहा था, और न उसके शब्द-रूप को ही व्यवस्थित कर पा रहा था।

चाय और 'उपदेशामृत' पान के बाद चौबेजी ने हम तीनों अतिथियों को अपने साथ भोजन कराया, कुकर में पका सात्विक पौष्टिक भोजन। इस समय भी चौबेजी ने हमारे मन में यह बात भली प्रकार जमा देनी चाही कि कुकर का पका भोजन हम दिमागी काम करनेवाले लेखकों और पत्रकारों के लिए कितना आवश्यक है। कुकर की हिमायत में चौबेजी ने जो कुछ कहा उसमें सर्वाधिक प्रभाव, कम-से-कम मेरे ऊपर, इस बात का हुआ कि यह हमारे घर की औरतों को खाना पकाने की गुलामी से मुक्ति देनेवाला है। बातचीत में चौबेजी सामनेवाले को कुछ कहने का अवसर कम ही देते हैं, फिर भी एक-दो घंटे की बातचीत में मैं जो एक-दो वाक्य कह पाया था, उससे ही उन्होंने मेरे समाजवादी आग्रह को ताड़ लिया था। उन्होंने बड़ी चुटीली रीति से कहा, "माहौरजी, स्त्रियों को गृहकार्य की गुलामी से मुक्ति देनेवाले समाजवाद के लिए तो कुकर बहुत जरूरी है।" इसपर जो हँसी हुई, उसमें सबसे अधिक योग देते हुए चौबेजी ने कहा, "पूंजीपति अखबारवाले आप जैसे श्रमजीवी पत्रकारों का दोहन करते हैं, आपको उचित वेतन नहीं देते, लेकिन ये कुकरवाले तो मुझे एक फूटी कौड़ी भी नहीं देते, और आप देख ही रहे हैं कि मैं कुकर का कितना जोरदार विज्ञापन करता हूं। क्या किया जाय! कर्मण्येवाधिकारस्ते··!"

उन दिनों गेहूं पर कन्ट्रोल चल रहा था, बाजार में मुश्किल से और बहुत महंगा मिलता था। हम लोग भोजन कर ही रहे थे कि एक बन्धु जो चौबेजी के यहां ही काम करते थे, बहुत परेशान, झुंझलाते हुए आये और साइकिल से गेहूं की एक पोटली उतारते हुए बोले, "लेऔ और मांगौ हो गऔ··अब मिलै तोई है····!" जब हम उनके अतिथि भोजन कर रहे थे तब इन भाई का यह कहना स्वाभाविक रूप में ही चौबेजी को अच्छा नहीं लगा, परन्तु उन्होंने बात को परिहास का रूप देते हुए हँस कर ही कहा, "····जी, आप वृथा चिंता करते हैं, जब आप जैसे मेरे सहायक हैं तब गेहूं की अधिक आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, आपकी बातों से ही काम चल जायगा। न अतिथि आयेंगे, न अनाज की जरूरत पड़ेगी।" हम लोग भी हँस पड़े। स्वर्गीय शीलजी ने कहा, "नहीं दादाजी! भैया की बात सुनकर मुझे जो प्रेरणा हुई, उससे तो मैंने दो रोटियां और अधिक दबा लीं।"

भोजन के बाद हम तीनों अतिथि कोठी से संलग्न एक बाहरी कमरे में विश्राम के लिए चले आये। थोड़ी देर बाद मेरे साथी दोनों कविवर चतुर्वेदीजी के बड़े चिरंजीव श्री बुद्धिप्रकाशजी से साइकिलें

लेकर दीवानसाहब से मिलने टीकमगढ़ चले गये। उनके बहुत आग्रह करने पर भी मैं उनके साथ नहीं गया। मुझे लगता है कि यह बात चतुर्वेदीजी को किसी प्रकार मालूम हो गई, और उन्हें यह कुतूहल हुआ कि दीवानसाहब से मिलने की इच्छा न रखनेवाला, फिर भी दिमाग में कविता का खलल रखनेवाला, आखिर यह कैसा कौन शख्स है। किसी प्रकार उन्हें विदित हो गया कि मैं कभी अमरशहीद चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह के साथ रहा हूं और एक क्रांतिकारी के रूप में लंबी सजा काट चुका हूं। ···

मैं अकेला उस बाहरी कक्ष में अर्द्धनिद्रा की हालत में लेटा हुआ था। कमरे में पदचापों से मेरी अर्द्धनिद्रा टूटी और यह देखकर हड़बड़ाकर उठ बैठा कि चौबेजी भाई बुद्धिप्रकाश के साथ हाथ में एक बड़ा-सा ग्रंथ लिये चले आये हैं। मुझे उठा देख चौबेजी ने कहा, "खाने के बाद आराम जरूर करना चाहिए, यह आप बहुत अच्छा करते हैं। मैं तो गत बीस वर्षों से इसका व्रत की तरह पालन कर रहा हूं। इस मामले में चर्चिल से कम नहीं हूं। द्वितीय महायुद्ध के समय भी उसने अपने अनुचरों से कह रखा था कि जब वह दोपहर के भोजन के बाद झपकी ले रहा हो, तो कोई उसे तब तक न जगाये जब तक बकिंघम पैलेस पर ही बमबारी न हो। ····मगर आपको यह 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ' भेंट करने चला आया हूं, और यह नोटिस देने को भी कि शाम की चाय के समय आपको अपने क्रांतिकारी जीवन के संस्मरण सुनाने होंगे।"

बस, तभी से मेरा जीवन चतुर्वेदीजी के गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्र में पहुंच गया।

तब से मेरा और मेरे क्रान्तिकारी साथी भाई सदाशिवजी का चतुर्वेदीजी के पास आना-जाना शुरू हो गया और फिर हम लोग एक प्रकार से उनके परिवार के ही सदस्य-जैसे हो गए।

क्रांतिकारी शहीदों के पुण्यस्मरण का साहित्यिक यज्ञ चतुर्वेदीजी ने स्वराज्य-प्राप्ति के कुछ पूर्व से ही आरम्भ कर दिया था। 'कहीं हम भूल न जायं' शीर्षक से उनका लेख अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ और उन्होंने शहादत से बचे क्रान्तिकारियों का एतदर्थ 'हांका' आरम्भ कर दिया। यह उन्हीं का शब्द है जो शिकार के क्षेत्र से साहित्य के क्षेत्र में वह ले आये हैं। चतुर्वेदीजी ने अपना यह हांका अपने पोस्टकार्ड पर लिखे छोटे-छोटे पत्रों से, जिन्हें वह पांच पैसे, छः पैसे और दस पैसे का तार कहते हैं, लिफाफाबन्द बड़े-बड़े पत्रों से, एक व्यक्ति को एक ही दिन में लिखे गये दो-दो तीन-तीन पत्रों से, एक ही हफ्ते में एक ही व्यक्ति को लिखे गये अनेक पत्रों की अजस्र और अनवरत धारा से किया। अनेक क्रान्तिकारियों से और उनके संपर्क में आये अनेक लोगों से शहीदों के और क्रान्तियुग के संस्मरण लिखवाए और उन्हें अनेकों पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराने की व्यवस्था की। अनेक पत्रों के विशेषांक निकलवाए, अभिनंदन-ग्रंथों में उन्हें स्थान दिया और पुस्तकाकार छपाने की भी व्यवस्था की। अनेक क्रान्तिकारी शहीदों के विपन्न आर्थिक स्थिति में रहनेवाले घरवालों के लिए आर्थिक सहायता और सरकार से पेंशन दिलवाने के लिए वह तब से अनवरत रूप से कार्य करते रहे हैं, और उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

चतुर्वेदीजी ने अमरशहीद चन्द्रशेखर आजाद की माता जगरानी देवी की खोज-खबर ली। उन्होंने हम लोगों को प्रेरित किया कि हम माताजी को झांसी ले आयें और अपने साथ ही रखें। हम लोगों की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि हम साधारण सुख-सुविधा से भी माताजी को अपने साथ रख सकें। कुछ ऐसी भी बात थी कि हमें माताजी के लिए सरकार से आर्थिक सहायता लेने की बात अच्छी नहीं लग रही थी। यह हमें शरशैया पर पड़े भीष्म पितामह के लटकते हुए शिर के लिए तकिया लेने दौड़ने जैसी बात लगी, और हमने यह चतुर्वेदीजी से कह भी दिया। हमारा कहना था कि माताजी को हम ले

आयेंगे, वह हमारे साथ हमारी मां की ही भांति ही जो कुछ रूखा-सूखा हम जुटा पायेंगे उसीमें गुजर-बसर करेंगी। निश्चित रूप में हमारी यह बात बड़ी ही हृदयहीनता की थी, परंतु उस समय हमें यह अपने क्रांतिकारी भूत के अनुरूप लग रही थी। परंतु चतुर्वेदीजी ने अपना अभियान चालू रखा। उस समय की अलीराजपुर स्टेट के ग्राम भावरा में माताजी बड़ी ही आर्थिक विपन्नता में अपने अन्तिम दिन व्यतीत कर रही थीं। चतुर्वेदीजी की प्रेरणा से भाई सदाशिवजी उन्हें झांसी ले आये और वह मेरे ही घर पर रहने लगीं। उनकी सेवा का सारा भार भाई सदाशिवजी ने ही वहन किया।

चतुर्वेदीजी माताजी के दर्शनार्थ मेरे घर पधारे। माताजी के दर्शन करके चतुर्वेदीजी की जो स्थिति हुई, उसका वर्णन कर सकने की क्षमता मुझमें नहीं है। चतुर्वेदीजी माताजी को स्वर्गीय मास्टर रुद्रनारायण, भाई सदाशिव और मेरे साथ झांसी और ओरछा के बीच सातार नदी पर स्थित उस कुटिया में भी ले गये, जहां आजाद ने अपने अज्ञातवास के कुछ दिवस एक ब्रह्मचारी साधु के वेष में बिताये थे। वहां माताजी के हृदय-बेधक विलाप के साथ चतुर्वेदीजी के नेत्रों से प्रवाहित मौन अश्रुधारा के पावन दर्शन हमने किये। चतुर्वेदीजी के हास्य का प्रेरणाप्रद प्रभाव तो मेरे ऊपर पहले से ही था, उनकी इस अश्रुधारा का जो उदात्त प्रभाव हमपर पड़ा, वह तो अनिर्वचनीय ही है।

माताजी चतुर्वेदीजी के कुंडेश्वर-स्थित निवास-स्थान पर भी गईं और उनके साथ भाई सदाशिव, मास्टर रुद्रनारायण और मैं भी रहा। इसी अवसर पर मैंने देखा कि बातचीत में बोलने पर एकाधिकार कर लेनेवाले चतुर्वेदीजी में वाणी के ओघ का निग्रह कर सकने की भी महान शक्ति है। अपनी वाणी को रोके हुए वह माताजी को ही अधिक बोलने के लिए प्रेरित कर रहे थे। भावावेश के इस महान अवसर पर भी उनका पत्रकार उनके भीतर पूर्ण रूप से सजग था। वह माताजी की बातों के नोट्स लेते जाते थे।

चतुर्वेदीजी के घर के सभी लोगों ने माताजी की सुख-सुविधा में कोई कसर उठा न रखी। कुंडेश्वर के जलप्रपात में जब माताजी स्नान कर रही थीं, तो बहुत प्रसन्न थीं। माताजी की प्रसन्नता को देखकर चतुर्वेदीजी को जो हर्ष हो रहा था, वह देखते ही बनता था। चतुर्वेदीजी की भतीजी और पुत्री, बहिन उमा, देवकी और सुभद्रा भी माताजी के साथ स्नान कर रही थीं। वे कुंड में तरह-तरह से तैरकर माताजी को दिखा रही थीं। डुबकी मारकर पानी में गहराई तक चली जाती थीं तो माताजी के चेहरे पर घबड़ाहट उभर आती थी और जब वे फिर ऊपर आकर हँसने लगती थीं तो वह बड़े स्नेह से डांटकर कहतीं, "बस, बस, अब निकल आओ।" इसका पूरा-पूरा आनन्द चतुर्वेदीजी ले रहे थे और उसमें योग दे रहे थे। चतुर्वेदीजी का रोम-रोम प्रसन्न हो रहा था।

हमने यह उसी समय अनुभव कर लिया कि चतुर्वेदीजी 'विचार-लोक' से कहीं अधिक 'भाव-लोक' के जीव हैं, परन्तु उनके भाव केवल अनुभूति में ही सीमित नहीं रह जाते। वे अनवरत कर्म की प्रेरणा देनेवाले होते हैं।

न जाने चतुर्वेदीजी के पास पहुंचकर किस-किस ने शहीदों के विषय में क्या-क्या मनगढ़न्त गप्पें नहीं हांकी हैं और चतुर्वेदीजी ने उनको बड़ी ही भावुकता से ग्रहण कर लिया है। जब-जब वह इन गप्पों को हमारे सामने दुहराते रहे हैं, हम अपने-आपको एक धर्मसंकट में पड़ा अनुभव करते रहे हैं। चतुर्वेदीजी के भाव-लोक में जमी इन बातों को उखाड़ने से उन्हें जो दुःख होगा, उसकी कल्पना करके हम लोग बस इतना ही कहकर रह जाते हैं, "इन घटनाओं की हमें कोई जानकारी नहीं है।"

चतुर्वेदीजी ने माताजी के लिए सरकारी सहायता स्वीकार न करने के हमारे आग्रह को 'तामस-त्याग' और 'तामस-तपस्या' बताया। उनके तर्कों से हम इतने प्रभावित नहीं हुए जितने उनकी परदुःखकातरता के प्रत्यक्ष दर्शन से। हमने माताजी के लिए सरकारी सहायता लेना स्वीकार कर लिया। चतुर्वेदीजी ने इस संबंध में अखबारों में लेख और राजनैतिक नेताओं को पत्र लिख-लिख कर जो अभियान चलाया उसके परिणामतः उत्तर प्रदेश की सरकार से भी, और फिर मध्य भारत की सरकार से भी, माताजी को कुल मिलाकर पचास-साठ रुपये की पेंशन मिलने लगी और कुछ सहृदयों ने व्यक्तिगत रूप में भी कुछ आर्थिक सहायता भेजी। इनमें स्वर्गीय राष्ट्रनायक नेहरूजी और श्री श्रीप्रकाशजी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस सबसे माताजी के तीर्थयात्रा का प्रबंध हो गया। भाई सदाशिवजी उन्हें प्रमुख तीर्थों और द्वारिका और जगन्नाथ धाम की यात्रा करा लाये। रामेश्वरम् की यात्रा का प्रबंध किया ही जा रहा था कि माताजी यकायक बीमार पड़ गईं और सन १९५१ के मार्च महीने में उनका देहान्त मेरे ही घर पर हुआ।

सन १९५२ में चतुर्वेदीजी संसद्सदस्य होकर दिल्ली में रहने लगे। परंतु संसदीय कार्य से कहीं अधिक उनकी रुचि शहीदों के साहित्यिक श्राद्ध में तथा विपन्न क्रान्तिकारियों और शहीदों के घरवालों को आर्थिक सहायता दिलाने में ही रही। उन्हीं के शब्दों में यदि उन्होंने यह कार्य न किया होता तो उन पर "बारह बरस दिल्ली में रहने और भाड़ झोंकते रहने" की कहावत पूरी तरह चरितार्थ होती। राज्यसभा में बहुत कम दिखाई पड़ने के संबंध में एक बार जब उस समय के उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने उनसे कहा तो सहसा उनके मुंह से निकल गया, "आइ एम डूइंग मच मोर इंपॉर्टेन्ट वर्क आउटसाइड" (मैं बाहर कहीं अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर रहा हूं)।

दिल्ली में चतुर्वेदीजी का निवासस्थान हम क्रांतिकरियों के लिए उनके छोटे पुत्र डा० रामगोपाल चतुर्वेदीजी के शब्दों में "फ्री बोर्डिंग एंड लाजिंग" सदैव बना रहा और आज भी फीरोजाबाद में उनका घर हमारे लिए चाहे जब "फ्री बोर्डिंग और लाजिंग" बना हुआ है यद्यपि अब वह संसद-सदस्य नहीं हैं।

क्रांतिकारियों के संबंध में संस्मरण, जीवनियां, इतिहास लिखने-लिखाने और उनके प्रकाशन का प्रबंध करने का जो कार्य चतुर्वेदीजी ने किया है, वह तो ऐतिहासिक, राजनीतिक और साहित्यिक दृष्टि से भी इतना महान है कि उसका वैज्ञानिक ढंग से विधिवत अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है। एक लेख में तो उसका अति संक्षेप में उल्लेख नहीं हो सकता। मेरे विचार से "श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी और उनका शहीदों का साहित्यिक श्राद्ध यज्ञ" एक बड़े शोधप्रबंध का विषय है।

श्रद्धेय चतुर्वेदीजी के इस अभिनन्दन पर्व पर हम दोनों––सदाशिव राव मलकापुरकर और मैं–– उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं और उनके शतायु होने की मंगल-कामना करते हैं। ●

जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल

चिर कृतज्ञ

●

आदरणीय पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी के प्रथम दर्शन मैंने अपने आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ १९५३ में किये। मैं द्विवेदीजी के साथ चतुर्वेदीजी के नई दिल्ली के नॉर्थ एवेन्यू में स्थित १२३ नम्बर के क्वार्टर में पहुंचा। द्विवेदीजी ने प्रवेश करते ही हँसते हुए चतुर्वेदीजी से पूछा, "कुछ अतिथि आये हैं, आपके यहां ठहरने का स्थान है?" चतुर्वेदीजी ने गम्भीरता से कहा, "छोटा-सा क्वार्टर है, स्थान कहां? किन्तु हृदय में बहुत स्थान है।" वड़ा आनन्द रहा। कई दिन चतुर्वेदीजी के यहां महफिल का आनंद उठाया। स्वर्गीय राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त आदि बहुत-से लोग आये। हास्य-विनोद की हिलोरें उठती रहीं। चतुर्वेदीजी हमें राज्यसभा की दर्शकदीर्घा में भी ले गये।

बाद में तो मैं चतुर्वेदीजी से कई बार मिला। मैंने जगदीश स्वाध्याय मन्दिर का संयोजन किया, जिसके संरक्षक डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन और कार्यकारिणी के सदस्य, प्रान्तों के मुख्यमंत्री तथा गण्यमान साहित्यकार थे। मैंने स्वाध्याय मन्दिर का अध्यक्ष बनने का अनुरोध चतुर्वेदीजी से किया। उन्होंने कहा कि श्री हरिशंकर शर्मा आगरा में ही हैं, उनकी सेवाएं प्राप्त कीजिए। स्वाध्याय मन्दिर के लिए चतुर्वेदीजी ने कई सुझाव दिये। लाला हरदयाल की 'हिन्ट्स फौर सेल्फकल्चर' पुस्तक पढ़ने तथा दूसरों को भी पढ़ने की प्रेरणा देने को कहा। एक बार मैं द्रोणाचार्य सनातन धर्म डिग्री कॉलेज के कुछ छात्रों को चतुर्वेदीजी के दर्शन कराने ले गया। वहां उन्होंने हमें बहुत अच्छी जीवनोपयोगी बातें बतलाईं।

चतुर्वेदीजी के विनोदी और गंभीर दोनों प्रकार के स्वभाव से मैं परिचित हूं। वह जब किसी की मदद करना चाहते हैं, तो बहुत गंभीरता के साथ, किन्तु पूर्ण हार्दिकता से और बड़ी सरलता के साथ अपना अनुभव बताते हैं। विनोदी स्वभाव उनकी जिंदादिली और स्वच्छ हृदय का उपादान बन गया है।

मुझे चतुर्वेदीजी से स्वाध्याय और अकृत्रिम ठोस कार्य करने की प्रेरणा मिली। चतुर्वेदीजी का मेरे लिए उपदेश या प्रसाद था--"अपने को सुधारो, सुसंस्कृत बनाओ, स्वयं स्वाध्याय करो, फिर पर-कल्याण भी करना।" पिछले सोलह वर्षों में स्वाध्याय मेरे जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। मैं पूज्य चतुर्वेदीजी का चिर कृतज्ञ हूं। ●

युगलकिशोर चतुर्वेदी

उनकी मानवीयता

•

अपने अग्रजतुल्य श्रद्धेय पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी के शुभनाम तथा उनके द्वारा देश और समाज के हित में किये गए कार्यकलाप से मैं लगभग पचास वर्ष पूर्व ही अवगत हो गया था, विशेषत: जिस समय वह भारत-कोकिला स्वर्गीया श्रीमती सरोजिनी नायडू के साथ अफ्रीका की यात्रा पर पधारे थे, समाचारपत्रों के माध्यम से तब पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। तदुपरांत प्रवासी भारतीयों के प्रश्न को लेकर उन्होंने जो आंदोलन आरम्भ किया था, तथा उसी संदर्भ में जब वह विश्ववंद्य महात्मा गांधी, दीनबन्धु श्री सी० एफ० एंड्रयूज़ तथा कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सम्पर्क में आये, तब से तो उनकी ख्याति और भी अधिक बढ़ गई थी। परंतु मुझे उनके साक्षात दर्शन करने का सौभाग्य सन १९२७-२८ के लगभग तभी मिला था, जब मैं अपने किसी व्यक्तिगत कार्य से फीरोजाबाद जाने पर उनके निवास-स्थान पर पहुंचा था। जहां तक मुझे स्मरण है, उस समय मेरे साथ श्रमजीवी-पत्रकार-संघ के भू० पू० अध्यक्ष श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी भी थे।

यद्यपि उस अवसर पर विविध-विषयों पर बहुत-सी बातें हुई थीं, परंतु उनकी दो बातों का तो ध्यान मुझे अभी तक बना है। एक तो उन्होंने सफल लेखक बनने के लिए उसके जीवन-निर्वाह के मामले में पूर्ण स्वतंत्र रहना बतलाया, ताकि वह अपने विचारों को निर्भीकतापूर्वक व्यक्त कर सके। दूसरी बात उन्होंने यह कही थी कि लेखक अपनी रुचि के कोई एक-दो विषय चुनकर उनमें ही पारंगत अथवा निष्णात होने का प्रयत्न करें। इस प्रसंग में उन्होंने आलू का उदाहरण देते हुए कहा था कि यदि किसी लेखक ने 'आलू' को अपना विषय चुना है, तो उसकी तत्सम्बन्धी अधिक-से-अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए तथा उसको उसी विषय पर निरंतर लिखते रहना चाहिए, तो कुछ ही समय में वह आलू का विशेषज्ञ हो जायगा।

इसके अनन्तर जब उन्होंने कलकत्ता से प्रकाशित 'विशाल भारत' मासिक-पत्र का सम्पादन करते हुए घासलेटी साहित्य तथा उस समय प्रचलित इसी प्रकार की अन्य कुत्सित प्रवृत्तियों की खरी और तीखी आलोचना की, तब तो वह हिंदी के प्राय: सभी पत्र-पत्रिकाओं की चर्चा के विषय बन गये थे। उस समय उक्त 'विशाल भारत' पत्र तथा उसमें प्रकाशित उनके सारगर्भित लेखों के माध्यम से उनसे संपर्क होता रहता था। तत्पश्चात जब टीकमगढ़ से 'मधुकर' पत्र के द्वारा जनपदीय आंदोलन आरम्भ किया तो आपने तत्संबंधी कुछ साहित्य मेरे भी पास भेजने की कृपा की थी, जो मेरे पास अभी तक सुरक्षित है।

कालांतर में सन १९५१ के लगभग जब इन पंक्तियों का लेखक राजस्थान राज्य में सार्वजनिक निर्माण-मंत्री के पद पर कार्य कर रहा था तो उनका एक पत्र मेरे नाम इस आशय का आया कि राजस्थान का जो मरुस्थल उत्तर-प्रदेश की ओर निरंतर बढ़ता जा रहा है, उसको रोकने के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए तथा इस संबंध में उन्होंने यह सुझाव भी दिया था कि मैं उत्तर-प्रदेश सरकार के संबंधित अधिकारियों से मिलकर कोई ऐसी योजना तैयार करूं, जिससे राजस्थान की बालुका के विस्तार से ब्रजभूमि को बचाया जा सके। उनके उस सामयिक परामर्श के लिए उनको बधाई देते हुए तदनुसार कार्य करने का विश्वास तो दिलाया, परन्तु सबसे अधिक आश्चर्य तो इस बात से हुआ कि ब्रजभूमि की उनको कितनी चिंता है तथा उससे उन्हें कितना प्रेम है!

सम्भवतः उन्हीं दिनों के आस-पास वह राज्य-सभा के सदस्य बनकर दिल्ली पहुंचे थे, जहां संसद-भवन के अंदर ही मैंने उनके दर्शन किये थे। यहां उन्होंने मेरा परिचय श्रीरामधारीसिंह 'दिनकर' से कराया था। इसके अनंतर कुछ समय तक उनके साथ पत्र-व्यवहार चलता रहा। परन्तु गत सन १९६६ में जिस समय स्वर्गीय डा० सम्पूर्णानन्दजी राजस्थान के राज्यपाल थे और जब वह अपने लेख के अनुसार '१२ दिन तक उनकी जेल में जयपुर' रहे थे, तब सम्भवतः १५ अगस्त के स्वाधीनता दिवस-समारोह पर उनके अकस्मात तथा अप्रत्याशित रूप से दर्शन हो जाने पर मैं उनको अपने निवास-स्थान पर ले आया था। वहां पर यह निश्चय हुआ था कि अगले दिन कुछ स्थानीय साहित्यकारों तथा पत्रकारों की गोष्ठी आयोजित करके उनकी उपस्थिति से लाभ उठाया जाय, परन्तु उस दिन मालूम हुआ कि वह तो उसी रात्रि को राज्यपाल की जेल में पहरेदारों की आंख बचाकर ठीक उसी प्रकार निकल भागे, जैसे किसी समय औरंगजेब की जेल से महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी निकल भागे थे, तथा नेताजी सुभाषचंद्र बोस अपने घर की नजरबंदी से निकल भागे थे। यहां से फीरोजाबाद पहुंचने पर आपने '१२ दिन राज्यपाल की जेल में' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया था।

इसके बाद गत वर्ष जब मेरे द्वितीय पुत्र चि० सोम का विवाह कुछ शताब्दियों से चले आये माथुर-चतुर्वेदी समुदाय के अवांतर भेदों को तोड़कर जिस कन्या से हुआ था, उसके माता-पिता से उनका निकट का संबंध निकला, अतः रुग्णावस्था के कारण यद्यपि वह उक्त विवाह में सम्मिलित नहीं हो सके थे, परन्तु उस अवसर पर उन्होंने हम दोनों वर-वधु के परिवारों के साहस तथा सुधार-प्रियता की अत्यन्त सराहना करते हुए जो पत्र लिखा है, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है।

लगभग इन्हीं दिनों आगरा में आयोजित ग्वाल-शताब्दी तथा स्व० पं० सत्यनारायणजी कविरत्न के निधन की अर्द्धशताब्दी पर उनके फिर दर्शन हुए थे। तब वह रुग्ण ही थे और आगरा में ही अपनी चिकित्सा कराने की बात कर रहे थे। कुछ काल के अनंतर वह प्रो-स्ट्रेट ग्लाण्ड्स का ऑपरेशन कराने के लिए यहां के एक अस्पताल में भर्ती हो गये, परन्तु ऐसे कष्टसाध्य रोग के रहते हुए भी उन्हें ब्रज प्रदेश, ब्रजभाषा तथा 'शहीदों के श्राद्ध' और 'गांधी जन्म शताब्दी वर्ष' आदि का ध्यान सदैव बना रहता है।

इन दिनों में इन पंक्तियों के लेखक ने अब से २५ वर्ष पूर्व भरतपुर से प्रकाशित राष्ट्रीय साप्ताहिक 'नवयुग संदेश' की रजत-जयन्ती तथा 'गांधी-जन्म-शताब्दी वर्ष' के उपलक्ष्य में विशेषांक का सम्पादन करने के संदर्भ में उनसे अपना एक लेख भेजने की प्रार्थना की थी, तो उसके उत्तर में प्रारम्भ में उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की थी, परन्तु इस विचार से कि मैं कहीं निराश न हो जाऊं, उन्होंने 'बापू की मानवता' शीर्षक एक सर्वथा मौलिक लेख भेजकर मेरे उत्साह को बढ़ाना ही समीचीन समझा। मैंने उनके इस व्यवहार को भी मानवता का द्योतक बतलाया था, जबकि रोगशैय्या पर पड़े रहने की अवस्था में भी मेरे अकिंचन अनुरोध पर उन्होंने इतनी उत्कृष्ट कोटि का लेख लिखकर भेजा था।

उनके उक्त मानवतापूर्ण व्यवहार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने हेतु मैं उन जैसे ब्रज-भाषा-प्रेमी, हिंदी-हितैषी, साहित्य में शुद्धीकरण के समर्थक, वर्तमान राजनीति में उपेक्षित पुराने स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों के हिमायती, मातृ-भूमि के अनन्य सेवक के लिए उनके स्वस्थ और आनंद रहते हुए शतायु होने की हार्दिक कामना करता हूं। ●

देवप्रकाश

जीते-जागते साहित्यिक विश्वकोश

सन १९६० में कलकत्ता छोड़कर जब दिल्ली आया, तो कई लोगों से मिलने का प्लान मन-ही-मन तैयार कर लिया—जैसे मैथिलीशरणजी, दिनकरजी, चतुर्वेदीजी, उग्रजी आदि-आदि। उन दिनों मैं अपने एक मित्र संसद-सदस्य के साथ ६४ नॉर्थ एवेन्यू में ही ठहरा था। तब स्वतंत्र पत्रकारिता पर जी रहा था। एक दिन मैंने अपने उन मित्र से पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी से मिलाने की बात कही। छूटते ही उन्होंने कहा, "वह यहीं ९९ नॉर्थ एवेन्यू में रहते हैं। रोज सवेरे घूमने निकलते हैं। आप भी साथ-साथ चल पड़िए।" अपने मित्र के परामर्शानुसार मैं अगले दिन सुबह लगभग पांच बजे उनके स्थान पर पहुंचा। वह घर से बाहर निकल ही रहे थे कि मुझे सामने देखकर उन्होंने कहा, "आप भी घूमने चलेंगे?" और मैं सहज भाव से उनके साथ चल पड़ा। मुझे उस समय का उनका हुलिया पूरी तरह याद है। लम्बा काला कोट, ऊनी बादामी पाजामा, ऊनी काली टोपी, काले फ्रेम का चश्मा, कंधे से लटकता एक छोटा कैमरा और ठीक उसी कंधे से लटकती खादी की एकरंगी झोली, जिसमें उनकी लेखन-सामग्री थी। हम विलिंग्डन क्रास पर तालकटोरा की बीथियों की ओर मुड़ गये। रास्ते-भर बातचीत का विषय था "स्व० श्रीबालकृष्ण शर्मा 'नवीन', उनका काव्य और उनका दोस्तों के प्रति व्यक्तिगत व्यवहार।" उन्होंने मुझसे पूछा, "आपको स्व० नवीनजी के बारे में कुछ व्यक्तिगत जानकारी भी है?" एक प्रश्न था उनका और उत्तर मैं चतुर्वेदीजी से ही पाना चाहता था, अतः मौन रहा। वह दूसरे क्षण ही बोल पड़े, "गज़ब के आदमी थे वह, अव्वल दर्जे के मस्तमौला, उनके सामने ये नामी-गिरामी हिसाबी लोग कुछ भी नहीं।" चर्चा कहीं और खिसक आई कि "इस बुढ़ापे में संसद-सदस्यता के नियमों का पालन करना बड़ा कष्टकर होता है। "मैंने तो दिनकरजी से कह दिया है, बहस के दिन जाइए।" बात यहीं ठप्प हो गई और हम घूमते-घूमते कुछ दूर गये। यकायक चतुर्वेदीजी ने कैमरा संभाला "एक फोटो आपका खींच दूं", और जब तक 'हां-नहीं' मैं कहता कि वह अपना काम कर चुके थे। मैंने भी लपककर उनसे कैमरा ले लिया, "लाइए दद्दा, मैं आपका एक चित्र खींचूं।" और उनका बाल-सुलभ उत्तर था, "अभी नहीं, वह देखिए।" उंगली दिखलाते हुए उन्होंने मौलसिरी की ओर इंगित किया। "उस जगह मेरा चित्र खींचिए।" और मौलसिरी के निकट मैंने उनका एक फोटो लिया। जब हम लौट रहे थे, तो वह कहते जा रहे थे, "अब तंत्र से ऊब होती है।" इन सबके पीछे मुझ पर उनकी स्नेहातिशयता का अमृत वर्षण ही था। मैं आश्चर्य में था कि अब तक उन्होंने मेरा कोई नाम-धाम नहीं पूछा, चित्र खींचे, रास्ते-भर अच्छी बातें कीं। मैंने रास्ते में उनका कैमरा और झोला अपने कंधे से लटका लिया। मैं कुछ उधेड़बुन में था कि उन्होंने कहा, "आप बिहार के हैं क्या? वहां के आम और लीची के क्या कहने! जबतक नॉर्थ एवेन्यू में हैं, मिलते रहिए।" सुबह साढ़े सात का समय था। हम उनके फ्लैट पर आकर रुके।

जबतक वह दिल्ली में रहे, मैं जबतब उनसे मिलता रहा। एक बार दोपहर में जोकि उनके आराम का समय होता (दरवाज़े पर तख्ती लटका देते थे—"आराम कर रहा हूं।") मैं मिलने गया। उनसे किसी के लिए सर्टिफिकेट लेनी थी। उसी समय श्रीमती कमलारत्नम् का फ़ोन आया। फ़ोन उठाते ही

उन्होंने कहा, "आपने अच्छे समय पर फ़ोन किया। मेरे पास मेरे एक कवि बैठे हैं। उनकी एक छोटी-सी कविता सुन लीजिये।" और यह कहते हुए रिसीवर उन्होंने मेरे हाथों में दे दिया।

चतुर्वेदीजी की सदाशयता, मृदुभाषिता और स्वभावगत प्रांजलता आज भी अंतर में हिलोरें लेती रहती है। चतुर्वेदीजी प्रणम्य हैं, वे जीते-जागते साहित्यिक विश्वकोश हैं। उनके दो अमूल्य पत्र निम्नलिखित हैं, जिन्हें मैं साहित्यिक जीवन का आशीर्वाद मानता हूं :

९९ नॉर्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
१४-१२-६३

प्रियवर, वन्दे !

आप 'किताब महल पत्रिका' अवश्य निकालिए। स्वस्थ होने पर कुछ लिख भेजूंगा। अभी तो कई बीमारियों के चक्कर में फंस गया हूं। यदि आप मजदूरी न दे सकें तो लेखकों को अपने प्रकाशन ही भेंट स्वरूप दीजिये। ७२वें वर्ष में मैं तो बहुत कम लिख सकूंगा, इसलिए मेरी इस प्रार्थना को आप स्वार्थ से प्रेरित न समझें। लेखकों के हित की दृष्टि से ही मैंने यह निवेदन किया है।

क्षमाप्रार्थी
बनारसीदास

पुनश्च :

२ अप्रैल, १९६४ के बाद तो मैं दिल्ली छोड़ जाऊंगा और तब स्वतंत्र पत्रकारिता द्वारा ही गुज़र-बसर होगी।

१-१-६४

प्रिय श्री देवप्रकाशजी,

वन्दे ! आपके श्रद्धापूर्ण पत्र के लिए कृतज्ञ हूं। दरअसल मैंने श्री भटनागर (तत्कालीन सा० हिन्दुस्तान सम्पादक श्री बांकेबिहारी भटनागर) को पहले मना किया था कि इस 'अव्यापार' को ऐसे एलोबोरेट ढंग पर न करें, पर वे माने नहीं। मुझे स्वयं उस मीटिंग से आश्चर्य हुआ। आश्चर्य इस बात का कि इतने आदमियों को मेरे इस कार्य के तथाकथित 'महत्व' के विषय में भ्रम हो गया है। थोड़ा-बहुत काम मुझसे अवश्य बन पड़ा है। पर, वह ऐसा नहीं कि उसके लिए २००-३०० आदमियों का वक्त बर्बाद किया जाता। अब मेरा ख्याल है कि ७५/८० वर्ष से पहले किसी का भी अभिनंदन नहीं होना चाहिए। आपके चित्र खींचने का मुझे स्मरण है, फिर कभी बुद्ध जयंती पार्क में चित्र खींचूंगा। बशर्ते कि आप उस दिन ३/४ मील का चक्कर लगा सकें। २ अप्रैल को मेरी संसद-सदस्यता समाप्त हो जायगी।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

पुनश्च :

अपना काव्य-संग्रह छपाया क्या? इधर क्या-क्या साहित्यिक कार्य किये? मैं इधर अस्वस्थ रहा। ख़ैर, यह तो चलता ही रहता है। नवीन वर्ष आपके लिए शुभ हो। ●

भैयालाल शर्मा

दूसरों का आत्म-गौरव बढ़ानेवाले

एक बार स्वर्गीय 'नवीनजी' से किसी ने पूछा, "आपकी दृष्टि में बड़े आदमी की परिभाषा क्या है ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "मुझे तो रहीम का कथन ठीक जंचता है:

'जे रहीम परहित करें, ते रहीम बड़ लोग।'

इस पर वे सज्जन बोले, 'ठीक है, किन्तु मुझे इससे भी अच्छी परिभाषा यह लगती है :

"जिससे मिलकर मिलनेवालों का आत्म-गौरव बढ़े और वे अपने को कुछ समझने लगें, वही वास्तव में महापुरुष हैं।"

इस कसौटी पर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी खरे उतरते हैं। जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता है, उसकी हीनता की भावना दूर हो जाती है।

उस दिन यही बात हमारे लोकप्रिय समाजसेवी प्रेमनारायणजी खरे कह रहे थे—"उनके पास रहने से हम लोग भी अपने को बड़ा लेखक समझने लगे थे। सूरे चपरासी अपने को उनका मित्र समझता है। उस दिन कह रहा था—"पण्डितजी बहुत दिनों से नहीं आये। दिल्ली पहुंचने पर भूल ही गये। लिख दो कि झरबेरी के बेर फूल चुके हैं, वह कब आयेंगे ?"

और लटकन कोरी जब मिलता था, पूछता था, "दादाजी बहुत दिनों से आये नहीं ? अब दिल्ली जाऊंगा, वहीं · ·।" और दिल्ली वह बेटिकट पहुंचा भी था। मानो दादाजी पर उसका अधिकार था। कैसा आत्म-विश्वास था उसे ! वह उन्हें अपना ही समझता था।

यही नहीं, जो भी उनके सम्पर्क में आता है, उसका आत्म-विश्वास और आत्म-गौरव बढ़ता है और वह अपने को कुछ समझने लगता है। उसे अनुभव होता है कि वह अपने किसी सुहृद से मिलकर आ रहा है और चतुर्वेदीजी से मिलकर पुनः मिलने की उसे आकांक्षा बनी ही रहती है।

वह महान अमरीकी विचारक एमर्सन के बड़े भक्त हैं। एक पत्र में उन्होंने लिखा था :

"एमर्सन का कोई भी प्रेमी कभी किसी का अंध-भक्त नहीं हो सकता, स्वयं एमर्सन का भी नहीं। वह प्रकाश के लिए अपने दिमाग के द्वार को सदा खुला रखता है।"

उनका एक वाक्य और भी पढ़ लीजिए :

"हम भौगोलिक सीमा में बंधने वाले नहीं हैं। हम सबसे सीखेंगे, रूस से भी, अमरीका से भी, इंग्लैण्ड से भी, जापान से भी। हमारा सौभाग्य है कि हम भारतवासी सदा से समन्वय की नीति के पक्षपाती रहे हैं। पंचशील का आदर्श हमें जैन धर्म की अनेकांत फिलासफी में मिलता है।"

चतुर्वेदीजी कठमुल्लापन के विरोधी हैं। उनका विश्वास है कि सभी वर्गों में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। एमर्सन के कथनानुसार किसी से ईर्ष्या करना अज्ञानता है और किसी की नकल करना आत्मघात करना है। हमें अपना मार्ग स्वयं निश्चित करना चाहिए, न किसी से द्वेष, न किसी की नकल।

स्वाध्याय के विषय में वह अपने प्रिय ग्रंथकारों का ही बार-बार अध्ययन करते हैं, जिनमें मुख्य

हैं प्रिस क्रॉपॉटकिन, तुर्गनेव, टाल्सटाय, एमर्सन, थोरो, एडवर्ड कार्पेंटर, गार्डनर, स्टीफेन ज्विग और रोम्यां रोलां ।

सम्पादन-कार्य में ही नहीं, रेखाचित्र और संस्मरण लिखने में भी वे कुशल हैं।

श्री नवीनजी ने उन्हें लिखा था, "भाई श्रीराम पर आपने खूब लिखा। इस रेखा-चित्रांकन-दिशा में आपका कोई भी समानधर्मा नहीं है।"

चतुर्वेदीजी ने एक पत्र में मुझे लिखा था--"हास्यरस हमारे जीवन के लिए षट्-रसों से भी अधिक आवश्यक है, लोगों को आनंद देना और सदैव प्रसन्न रहना, इसी में दीर्घायु का नुस्खा है।"

"संस्था किसी एक व्यक्ति की विस्तृत छाया का नाम है, यदि अकेला एक आदमी भी जमकर बैठ जाय और अपनी अंतरात्मा की पुकार के अनुसार काम करे, तो यह विशाल संसार उसके निकट आ जायगा।" एमर्सन के इस कथन का उन्हें विश्वास है, फिर भी लोग उन्हें केवल प्रोपेगेण्डिस्ट ही समझते हैं।

चतुर्वेदीजी सीधी-सादी भाषा लिखने के पक्षपाती हैं। उनकी भाषा बोझिल नहीं है, उसमें प्रभाव तथा प्रसाद-गुण है । उनकी लेखशैली पाठकों के लिए भार-स्वरूप नहीं। एक अच्छे अध्यापक के समान उनके लेख खेल-खेल में ही बड़ा संदेश दे जाते हैं। वह अपनी बात जबर्दस्ती गले उतारने का व्यर्थ प्रयत्न नहीं करते। उन्हें जो कुछ कहना होता है सरल भाषा में स्वाभाविक ढंग से कह देते हैं।

पत्रों के लिखने में वह बड़े उदार हैं और उनके पत्रों का यदि संग्रह किया जाय, तो उनकी संख्या हजारों तक पहुंच सकती है। उनके पचासों पत्र तो मेरे पास ही सुरक्षित हैं। यदि उनके सम्पादकीय लेखों का संग्रह किया जाय, तो कई बड़े ग्रंथ बन सकते हैं।"

'विशाल भारत' के सम्पादक के रूप में उनकी बड़ी ख्याति रही और 'मधुकर' की फाइलें तो लोग आज भी ढूंढ़ते नजर आते हैं।

श्री एस० लक्ष्मण शास्त्री ने उनके विषय में लिखा है :

"मेरी चार भाषायें हैं, जिनका मैं प्रयोग करता हूं; हिंदी, अंग्रेजी, मलयालम, कोंकणी। इनके अतिरिक्त एक और भाषा है, जिसकी न लिपि है न उच्चारण; वह हृदय से भावनाओं को अनुभव करने और समझने की भाषा है। चतुर्वेदीजी मेरी इस भाषा को अच्छी तरह समझते हैं।"

चतुर्वेदीजी उन लोगों में से हैं, जिनपर हमारे देश के निर्माताओं, जैसे--गांधीजी, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ, श्रीनिवास शास्त्री तथा उच्चकोटि के सम्पादकों, जैसे--महावीरप्रसाद द्विवेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, सी० वाई० चिन्तामणि प्रभृति, की कृपा रही ।

इनके सिवाय वर्तमान के प्रमुख नेताओं से भी उनका सम्पर्क रहा है। स्वर्गीय बाबू राजेन्द्रप्रसाद की उन पर कृपा थी और स्व० टंडनजी की भी। इस दृष्टि से वह अपने को बड़ा ही सौभाग्यशाली समझते हैं।

उनके पास पूज्य गांधीजी के १०१ पत्र सुरक्षित हैं, जिन्हें वह बड़ा मूल्यवान समझते हैं। इसके अतिरिक्त सर्वश्री रोम्यां रोलां, श्रीनिवास शास्त्री, प्रेमचन्द, सी० एफ० एण्ड्रयूज़ आदि के पत्रों का भी संग्रह है।

कुंडेश्वर में उन्हीं के कारण डा० राजेन्द्रप्रसादजी पधारे और उन्हीं की प्रार्थना पर राजेन्द्रप्रसाद बांध की नींव पड़ी। श्रद्धेय आचार्य विनोबाजी तथा काका कालेलकर भी उन्हीं के आग्रह से पधारे थे।

आचार्य क्षितिमोहन सेन, डाक्टर वासुदेवशरण, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीमती सत्यवती मलिक, केला जी, डा० सत्येन्द्र, कालिदास कपूर, रामनरेश त्रिपाठी, डा० हरिशंकर शर्मा, श्रीराम शर्मा, केदारनाथ भट्ट तथा अन्य बहुत से लेखकों का आगमन उन्हीं के कारण कुंडेश्वर में हो सका। अमर शहीद

चन्द्रशेखर आजाद की माताजी भी उन्हीं के निमंत्रण पर पधारी थीं और उनके दर्शनों से हम अपने को कृतार्थ कर सके।

चतुर्वेदीजी का बरीघाट में स्नान करना, कुंडेश्वर के कुंड में डुबकी लगाना और षडानन जल-प्रपात के नामकरण की कहानी बताना याद आ रहा है। दादाजी के साथ उनका उन्मुक्त हास्य, जिसमें बनावट नहीं, भुलाया नहीं जा सकता।

कुंडेश्वर का जो स्वप्न उन्होंने देखा था, वह अक्षरशः सत्य हुआ। वह बाग, वह कोठी, जो ओरछा-नरेश की निजी सम्पत्ति थी, जिससे उन्हें हजारों की आय थी, जिन्हें उनके पितामह बब्बालू ने बहुत रुपया खर्च करके स्वयं के बड़े परिश्रम एवं लगन से बनवाया था, जिनके लिए वह इलाहाबाद तथा काशी से पौधे लाये थे। उन बगीचों और उन कोठियों को दादाजी के कहने मात्र से ही महाराज वीरसिंहजू देव ने गांधी-भवन को दे दिया था।

वह बनारसी बाग एवं आम्रकुंज, जहां बैठकर दादाजी ने अनेकों लेख लिखे; वह जमड़ार नदी, वह उषाघाट, वह बरीघाट, वह आठ महीने चलने वाला जल-प्रपात, जो दादाजी को प्रेरणा देता रहा——ये सब आज भी उनका स्मरण कर रहे हैं। पलाश के पुष्प के प्रथम दर्शन करने, झरबेरी के बेर खाने, स्वर्ण-मृग के और कभी-कभी वाराह भगवान के भी दर्शन करने, खैराई मधुवन में वह जाते थे, जिसके एक-एक पेड़ के प्रति उनकी ममता थी, वह मधुवन भी उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। ●

कुमकुम चतुर्वेदी

हमारे नानाजी

●

पूज्य नाना (श्री बनारसीदास चतुर्वेदी) हिंदी जगत में प्रसिद्ध हैं। यह जानकर खुशी हुई कि उनकी ७८वीं वर्षगांठ पर उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। यह तो सभी जानते हैं कि उन्होंने साहित्य को अनेक ग्रंथ प्रदान किये हैं। संस्मरण-लेखन पर सर्वप्रथम उन्होंने जोर दिया। सम्पादक तथा पत्रकार के रूप में भी उन्होंने 'विशाल भारत', 'मधुकर' आदि अनेक पत्रिकाओं को उत्कृष्ट और उन्नत बनाने में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया। दीनबन्धु एण्ड्रूज तथा बापू की आज्ञा से प्रवासी भारतीयों के लिए उन्होंने जो कार्य किया, उसको हम सहज ही नहीं भुला सकते। शहीदों के लिए भी उनकी सेवा उल्लेखनीय है।

अमर शहीद चंद्रशेखर आजाद की माताजी तो स्वयं दो बार नानाजी के स्थान पर पधारी थीं और चौदह दिन तक उनके घर को पवित्र भी किया।

आज हम लोग जो स्वाधीनता की सुख-सुविधाओं का भोग कर रहे हैं, क्या कल्पना भी कर सकते हैं उस माता की हार्दिक वेदना की, जिसका एकमात्र पुत्र भारत की स्वाधीनता के लिए शहीद हो गया था और जिसे सत्रह वर्ष तक कोदों की खिचड़ी खाकर गुजर करनी पड़ी थी? शहीदों के प्रति नानाजी की सदैव

सहानुभूति रही है और उन्होंने शहीदों के परिवारवालों को भी अनेक सुविधाएं दिलाने के लिए सदैव प्रयत्न किया है।

उन्होंने 'विशाल भारत' आदि पत्रों के द्वारा ऐसे कई लेखकों को, जो प्रकाश में नहीं आये, प्रकाश में लाने की चेष्टा की थी। उन्होंने उन लोगों को प्रोत्साहन, प्रेरणा और अपना पूर्ण सहयोग भी दिया। नानाजी को प्रकृति से भी अत्यंत प्रेम रहा है। कुंडेश्वर में जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आये इस बात को अच्छी तरह जानते होंगे। उन्होंने दो बार रूस की यात्रा भी की थी। वह रूस और रूस के लोगों से अत्यंत प्रभावित हुए थे। प्रथम यात्रा पर उन्होंने 'रूस की साहित्यिक यात्रा' नामक पुस्तक लिखी, जिस पर उन्हें पुरस्कार मिल चुका है।

नानाजी महान लेखक गोर्की और दीनबन्धु एन्ड्रूचूज़ से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं, यहां तक कि, फीरोजाबाद में उन्होंने अपने अध्ययन कक्ष के नाम भी 'गोर्की भवन' और 'एण्ड्रूचूज़ कुटीर' ही रखे हैं। उनके इस कमरे में संसार भर के बड़े-बड़े लेखकों के चित्र हैं।

नानाजी का रहन-सहन अत्यन्त सादा है। उनसे सबसे पहले मैं फीरोजाबाद में मिली थी। उन्होंने मुझे बहुत से बड़े-बड़े लेखकों की किताबें भी दी हैं। और बड़े-बड़े क्रांतिकारी लेखक, तथा कार्यकर्ताओं से मिलने के लिए भी सदैव कहा है। उनके कई पत्र मेरे पास हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

चि० कुमकुम

आशीष। आज हमने श्री यशपाल जी (विप्लव कार्यालय) को पत्र भेज दिया है। तुम उनसे मिल लेना। उन्होंने क्रांतिकारियों के लिए बहुत काम किया है। हां, श्रीमती कमला चौधरी ('विनीतकुंज' छीपी तालाब, मेरठ) को भी पत्र लिखना। वह बहुत बढ़िया कहानी लिखती हैं। 'विशाल भारत' में हमने छापी हैं।

९–८–६७

चि० कुमकुम, आशीष !

श्रीमती पर्लबक की चिट्ठी आयी है। श्रीमती दुर्गादेवी बोहरा से मिल लेना। 'नर्मदा' के आजाद अंक में पहले उनका लेख पढ़ना जरूरी है। हमने तुम्हें जो लेख भेजा है, उसे पढ़ना और रेखा, मनीषी को भी इसकी नकल भेज देना। श्रीमती पर्लबक से मैंने उनके स्वर्गीय पति वाल्श के विषय में पूछा था सो उन्होंने कुछ बातें लिख भेजी हैं। उनके पास समय की बड़ी कमी रहती है। फिर भी उन्होंने पत्रोत्तर दिया। यह बड़ी बात है। पर्लबक दुनिया भर में मशहूर हैं। उनकी कीर्ति विश्व-व्यापी है और उनके पास सैकड़ों ही चिट्ठियां पहुंचती होंगी। तुम शिव वर्मा वाली किताब, जो मैंने भिजवाई है, पढ़ना। वह लखनऊ में ही रहते हैं। वह वामपन्थी साम्यवादी हैं। दुर्गा देवी बोहरा के दर्शन अवश्य करना। उनका चित्र ले सको तो ले लेना।

१९–८–६७

चि० कुमकुम को आशीष !

यशपालजी (जैन) ने जो किताबें भेजीं, तुम्हें मिल गई होंगी। सातवें दर्जे की रीडर में हमारा लेख चन्द्रशेखर आजाद पर है, पढ़ना। 'रीडर्स डाइजेस्ट' के जून अंक में एक लेख है। तुम श्रीमती फिशर से, जो ८८ वर्ष की हैं, जाकर मिलना। चि० कृष्णानन्द भी साथ जायं। वह मुंशी खेग में रहती हैं। उनके पति बिशप फिशर से मेरा परिचय था। कलकत्ते में मैं बिशप फिशर साहब से मिला था। तुम उनके कार्य के बारे में लेख लिखना। हमारी तबीयत ३–४ महीनों से खराब चल रही थी। अब कुछ ठीक है।

नानाजी ने सदैव मुझे लेख आदि लिखने की प्रेरणा दी है। हम लोगों की ईश्वर से यही प्रार्थना है कि उनका आशीर्वाद और प्रेरणा सदैव हम लोगों के साथ रहे। ●

राजेन्द्रनाथ शर्मा

श्रद्धेय चतुर्वेदीजी के साथ पांच वर्ष

●

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से मेरा प्रथम परिचय सन १९२२ में हुआ था, जब कि मैं ट्रेन्ड टीचर होकर सबसे पहले अपने नगर से चार मील दूर चंदवार ग्राम के स्कूल में सहायक अध्यापक के पद पर गया था। उस समय उस स्कूल के प्रधान अध्यापक थे आपके पूज्य पिताजी श्रीगणेशीलाल चतुर्वेदी। हम दोनों हर रोज़ अपने नगर से पैदल ही स्कूल जाते थे और अधिकतर साथ-साथ ही जाते थे। मार्ग में कक्का के सुन्दर विचार और प्राचीन काव्य के रसास्वादन से रास्ते की दूरी नहीं मालूम पड़ती थी। उनका व्यवहार मेरे साथ पुत्रवत ही रहा, जिससे मैं निस्संकोच उनके घर पर चला जाया करता था। उस समय श्रीबनारसीदासजी पत्रों में अपने लेख भेजा करते थे। उनकी नकल करने का कुछ कार्य उन्होंने मुझे सौंप दिया था। मैं अवकाश के समय अपने घर पर वह काम करता था। कुछ समय बाद वह बाहर चले गये और मेरा तबादला भी दूसरी जगह हो गया। तब से उनके दर्शन कभी ही होते रहे। चतुर्वेदीजी ने सन १९००-१९०१ में मेरे पूज्य पिताजी से हिन्दी पढ़ी थी और इस प्रकार हमारे कुटुम्ब से उनका सम्बन्ध ६९ वर्ष पुराना है। मेरे पूज्य पिताजी तथा चतुर्वेदीजी के कक्का में घनिष्ठ मैत्री भी थी।

जब सन १९६४ में आप अपनी जन्मभूमि फीरोजाबाद आकर स्थायी रूप से रहने लगे तो मैं उनसे भेंट करने गया। उनका प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार पहले से कुछ अधिक ही प्रतीत हुआ। मैं इस समय प्रधान अध्यापक-पद से अवकाश ग्रहण कर चुका था। उन्होंने मेरे ऊपर कृपा कर मुझे लिखने-लिखाने का कुछ कार्य करने को कहा और मैंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया, क्योंकि मैं उनके सम्पर्क से आर्थिक लाभ की अपेक्षा साहित्यिक लाभ ही अधिक लेना चाहता था। वस्तुतः क़रीब पांच साल के उनके सम्पर्क में मुझे बहुत-सी बातें सीखने को मिलीं और विपत्ति-काल में धीरज भी मिला। वह मुझे अपना गुरु-भाई मानते हैं और छोटे भाई की तरह मुझ पर स्नेह भी रखते हैं। साथ ही मेरी त्रुटियों को भी नज़रअन्दाज करते रहते हैं।

हाल में जब उनको अपनी चिकित्सा के लिए आगरा-अस्पताल में चार महीने रहना पड़ा था, मुझे अपने जीवन में कुछ शून्यता-सी अनुभव हो रही थी। मुझे आश्चर्य है कि मैंने जो पत्र आपकी सेवा में भेजे उनका तुरंत उत्तर उस रुग्णावस्था में भी उन्होंने मुझे भेजा और वह भी बड़े शिक्षाप्रद और सान्त्वना भरे शब्दों में।

मैंने अक्सर देखा है कि चतुर्वेदीजी अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों को सर्वदा सदुपदेश ही देते हैं, पर उनका उपदेश केवल मौखिक ही नहीं होता, बल्कि क्रियात्मक भी होता है। वह जहां दूसरों को

टहलने की सलाह देते हैं वहां स्वयं भी नियमित रूप से टहलने जाते हैं। कभी-कभी तो मेह और सर्दी की परवाह न करते हुए भी वह बड़े सवेरे टहलने चले जाते हैं। इसी प्रकार दोपहर के भोजन के अनन्तर विश्राम का उनका नियम अनिवार्य है। उनका सदा से उषाकाल में जागरण का नियम भी सराहनीय है। वह उस समय कुछ स्वाध्याय, अध्ययन और लेखन-कार्य भी कर लिया करते हैं। समय का अपव्यय उनको अखरता है। अपने बहुमूल्य समय का एक कार्यक्रम बनाकर काम करना उनको अधिक पसन्द है। पत्रलेखन तो उनके जीवन का एक अभिन्न अंग ही बन गया है। शायद ही कोई ऐसा दिन बीतता हो जब डेढ़-दो रुपये पोस्टेज पर खर्च न होते हों। उनका यह कथन कितना सुन्दर और सारगर्भित है कि दूसरों को आनन्द प्रदान करो और स्वयं भी आनन्दित रहो। पत्र-लेखन में भी उनका ध्येय दूसरों को आनन्द देने का ही रहा है और यह ठीक भी है क्योंकि 'पाती आधा मिलन है, जो पहुंचे प्रिय पास'। उनको प्रकृति से प्रेम है और वह पेड़-पौधों तथा बाग-बगीचों, नदी-सरोवरों आदि के प्रति असीम आदर भावना रखते हैं।

उनकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह जहां रहे वहां के लिए कुछ-न-कुछ उपयोगी कार्य अवश्य करते रहे; जैसे शांतिनिकेतन और दिल्ली में हिंदी भवन की स्थापना, टीकमगढ़ में गांधी भवन और राजेन्द्र सरोवर का आयोजन तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग में सत्यनारायण कुटीर का निर्माण-कार्य आदि अनेक उपयोगी कार्य उनके द्वारा हुए हैं। उनका ध्येय यही है :

'जहं रहिये तहं महकत रहिये, ज्यों गुलाब का फूल'

फीरोजाबाद पधारने पर उन्होंने अपने स्वभावानुसार साहित्यिक गोष्ठियों के कार्यक्रम बनाये, जिसमें स्थानीय कवियों और लेखकों को संगठित किया और उनकी रचनाओं को सुन-सुना कर उन्हें उत्साहित करने का ध्येय रक्खा। केवल साहित्यिकों का ही नहीं, उनका कहना तो यहां तक रहा है कि, किसी भी हुनर का विशेषज्ञ; जैसे सुयोग्य अध्यापक, चतुर डाक्टर या वैद्य, प्रसिद्ध गायक, बढ़िया ख्याल और शक्तिशाली पहलवान भी जनता के सम्मान और प्रशंसा का अधिकारी है और वह उसे अवश्य मिलनी चाहिये। उसे वह सामूहिक अभिनन्दन कहते हैं।

चतुर्वेदीजी द्वारा यहां एक 'गांधी विचार केन्द्र' की भी स्थापना हुई थी और उसकी साप्ताहिक सभाएं स्वच्छ वायुमंडल में किसी बाग या पार्क में होती रहीं। वह उनमें भरपूर सहयोग देते थे। मगर दुर्भाग्य से चार-छः व्यक्तियों से अधिक उपस्थिति न होने के कारण यह संख्या नगर की लाख-डेढ़ लाख आबादी के ख्याल से नगण्य थी, यह कार्यक्रम स्थगित करना पड़ा। 'गांधी विचार केन्द्र' और उसका पुस्तकालय विद्यमान है। आशा है कि भविष्य में उसकी उन्नति होगी।

वृद्धावस्था तथा स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण चतुर्वेदीजी कतिपय समाजोपयोगी कार्यो, जैसे नगर की स्वच्छता आदि में चाहते हुए भी सक्रिय भाग लेने में असमर्थ हैं, तो भी अपने प्रेरणाप्रद विचारों तथा सद्भावनाओं से उनमें भरपूर सहयोग देते रहते हैं। उनके सम्बन्ध में पत्रों में लिखा-पढ़ी करना और सर्वसाधारण को उनकी उपयोगिता से परिचय कराना तो उनका नित्य का कार्य ही बन गया है।

उनके प्रयत्न से नगर की कई संस्थाओं में शहीदों के चित्रों का उद्घाटन हो चुका है। भिन्न-भिन्न महाविद्यालयों से उन्होंने विशेषांक भी निकलवाये हैं, यथा हज़ारीलाल जैन-अंक, श्रीधर पाठक-अंक, किदवई-अंक और कोटला जनपदीय-अंक। इन अंकों का सम्पादन चतुर्वेदीजी ने स्वयं ही किया है।

वह बच्चों—भावी नागरिकों—के लाभार्थ कुछ उपयोगी कार्य करने के लिए भी बहुत कुछ चिंतित हैं।

डाक्टरों तथा शुभचिंतकों के बहुत कुछ अनुरोध करने पर भी वह पूर्ण विश्राम ले नहीं पाते। सब से अधिक चिंता उनको अपने संग्रहालय की रहती है, जो उपयुक्त सहायक के अभाव में अस्त-व्यस्त अवस्था में पड़ा हुआ है; उसकी व्यवस्था करना आसान नहीं।

चतुर्वेदीजी का व्यक्तित्व फीरोजाबाद नगर के लिए एक गौरव का विषय है और यह हमारा दुर्भाग्य है कि वह एक दीर्घकाल तक हमसे विलग रहे।

वस्तुतः वह एक उदार चित्त, कर्त्तव्यपरायण, परोपकारी साहित्य-सेवी और जीवन-कला के मर्मज्ञ, सहृदय व्यक्ति हैं।

वह शतायु हों, यही हमारी कामना है। ●

शिवकली रूसिया

उनकी साहित्य-सेवा का उद्देश्य

●

कुण्डेश्वर के साथ पंडित बनारसीदास चतुर्वेदीजी का नाम स्थानीय रूप से जुड़ गया है, क्योंकि वह यहां साढ़े चौदह वर्ष तक रहे हैं। यहां के पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, नदी-सरोवर तथा वन-उपवनों से उनका हार्दिक प्रेम है और यहां से चले जाने पर भी वह इन सब के लिए निरंतर चिंता करते रहते हैं। जब कोई अतिथि कुण्डेश्वर आता है, तो चतुर्वेदीजी की चर्चा हो जाना स्वाभाविक ही है। अभी कुछ दिन पूर्व एक संभ्रांत महानुभाव से जब चतुर्वेदीजी का जिक्र आया तो वह सहज ही पूछ बैठे कि इतने प्रसिद्ध साहित्यकार की एक भी पुस्तक किसी पाठ्यक्रम में सम्मिलित क्यों नहीं है? प्रश्न सुन कर पहले तो कुछ अजीब-सा लगा, किन्तु गम्भीरता से विचार किया तो समझ में आया कि भारत के अग्रगण्य कवियों तथा लेखकों की कृतियां किसी-न-किसी पाठ्यक्रम में अवश्य निर्धारित हैं और शायद यही उनकी श्रेष्ठता का माप-दंड हमारे अभ्यागत ने मान रखा है।

साहित्यकारिता के इस 'माप-दंड' के विषय में अपनी ओर से कुछ न कह कर अगर चतुर्वेदीजी के ही शब्दों का उल्लेख करें तो अधिक युक्तिसंगत होगा, "ऐटम बम के इस युग में भी क्या, किसी को यह बतलाने की जरूरत है कि क्या विज्ञान, क्या कला, क्या इतिहास और क्या साहित्य, सभी में मापदण्डों का परिवर्तन हो चुका है, परमाणुओं की महिमा का यह युग आ पहुंचा है और सभी साहित्यिकों का कल्याण इसी में है कि हम अपना दृष्टिकोण युगधर्मानुकूल बना लें। अलौकिक महापुरुषों की यश-दुन्दुभि बजानेवाले और उसमें पैसा कमाने वाले बहुत पैदा हो जायंगे। आवश्यकता है ऐसे कलाकारों की, जो साधारण के दर्शन कर सकें और जिनकी पैनी दृष्टि जाति, धर्म, देश इत्यादि की संकीर्ण-सीमाओं को पार कर मानव-मात्र में ही नहीं, प्राणी-मात्र में एकता का अनुभव कर सके।"

चतुर्वेदीजी के साहित्य में उनके इस सिद्धान्त का स्वाभाविक रूप से निर्वाह हुआ है। इसलिए उनकी

लेखनी कभी ग्राम-निवासी कुम्हार जाति के मनसुखा और फल्ला नामक बाप-बेटे की सर्प के काटने से एक ठठरी पर एक साथ होनेवाली शव-यात्रा का वर्णन करती है, तो कभी धर्मान्ध हिन्दू-मुस्लिम दंगों में अपने सुहाग से वंचित हो जानेवाली विधवा का विलाप सुनाती है, कभी कब्रिस्तान में लेटे अपने दो जवान पुत्रों के शोक में पागल बर्तनी के साथ सहानुभूति प्रकट करती है तो कभी अंग्रेजों के द्वारा फांसी पर झूलनेवालों को श्रद्धा के प्रसून समर्पित करती है। अन्य साहित्यिकों की भांति केवल यश और लक्ष्मी की प्राप्ति के हेतु कल्पित कथानकों को जीवन-गाथाओं के लिए चतुर्वेदीजी ने अपनी लेखनी का विषय नहीं बनाया, वरन उन्होंने उन दीन-हीन व्यक्तियों की सुधि ली, जिनकी ओर किसी को देखने तक की फुर्सत नहीं। यही उपेक्षित उनके राम और रहीम हैं, और इन्हीं में उन्होंने विराट रूप के दर्शन किये हैं। तभी तो वह लिखते हैं, "टूड़े खंगार और भगोना धीमर, सरला धोबी और चतुरी चमार, सन्ना बसोर और धन्सा काछी वस्तुतः पृथ्वी-पुत्र हैं। उनकी उपेक्षा करनेवाला साहित्य वास्तव में एकांगी है। यही नहीं, वह दरअसल अभिशप्त भी है। वह न कभी फलेगा, न फैलेगा।"

इन दुखियों की करुण कथाओं को लेकर चतुर्वेदीजी ने अपनी लेखनी को केवल संजोया ही नहीं है, वरन उनके दुखों को दूर करना और उनके जीवन को सुखमय बनाना ही उनके साहित्य-सृजन का एकमात्र उद्देश्य रहा है। इसी को उन्होंने एक साहित्यकार का कर्त्तव्य माना है, जैसा कि उनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट है, "दुखों को चित्रित करना और उन्हें यथासंभव दूर करने का प्रयास भी करना, यही उच्च कोटि के कलाकारों तथा मनुष्यों का कर्त्तव्य है। मैं यह नहीं कहता कि आनंद तथा उल्लास के क्षणों का चित्रण नहीं करना चाहिए, वह भी आवश्यक है, पर जब चारों ओर निर्धनता तथा हीनता का बोलबाला हो, उस समय हमारा प्रमुख कर्त्तव्य उन्हें दूर करने का ही है।" तभी तो जाति की चमार, दुर्भाग्य से विधवा और दस वर्ष से अन्धी एक ग्रामीण स्त्री को कड़ाके की सर्दी में चीथड़ों के भी अभाव में कम्पित और भूख से बिलखती बच्ची की प्राण-रक्षा के हेतु हाथ फैलाये देख कर वह विचलित हो सोचने लगते हैं कि "हमारे ये सांस्कृतिक जनपदीय आन्दोलन, वसन्तोत्सव, साहित्य-गोष्ठी, प्रान्तीय सम्मेलन—सुनिया और उसकी अन्धी मां के लिए क्या संदेश, क्या महत्व रखते हैं? . . . क्या हम लोग इन्हीं गरीबों के कन्धों पर सवार नहीं हैं? क्या हमारी सांस्कृतिक योजनाएं पेट-भरों के, अमीरों के, चोंचले नहीं हैं? यदि हमारा साहित्य इनके जीवन को स्पर्श नहीं करता, इनके कठोर वर्तमान तथा अन्धकारमय भविष्य में आशा की एक किरण भी नहीं लाता, तो वह आखिर किस मर्ज की दवा है?"

चतुर्वेदीजी के हृदय में पीड़ितों की पीड़ा समा गई है, अतः उनकी लेखनी ऐसे ही लोगों की सेवा करके सार्थक हुई है, जिनका या तो इस संसार ने शोषण किया है या जो देश और समाज के हित के लिए अपना सर्वस्व अर्पित करने के बाद आज भी उपेक्षित हैं, भूखे हैं। स्वतंत्र भारत में एक मुट्ठी कोदो को खाकर कठिनाई से १७ वर्ष काटनेवाली, शहीद आजाद की माता ने जब सातार नदी के तट पर सिर पटक कर अपने प्यारे पुत्र के लिए उस कुटिया में विलाप किया, जहां आजाद कई वर्ष तक रहे थे, तब उस क्रन्दन से चतुर्वेदीजी का हृदय चीत्कार उठा—"काश! माताजी के उस विलाप को हमारे नेता और कार्यकर्ता सुन पाते! उन आंसुओं को हमारे शासक नहीं देख पाते। ' ' 'लोग शहीदों के स्मारक की बात करते हैं, क्या ईंट-पत्थरों के निर्जीव स्मारक इस सजीव स्मारक के सामने कुछ भी महत्व रखते हैं, जिसने नौ महीने उस नर-शहीद को अपनी कोख में रखा था?" आज भी चतुर्वेदीजी आजाद की मां की करुण कथा कहते-कहते विकल हो जाते हैं और उनकी आंखों में आंसू छलक आते हैं।

चतुर्वेदीजी जहां एक ओर उपेक्षितों को प्रकाश में लाये हैं, वहां दूसरी ओर उन्होंने उनके कष्टों को कम कराने का सफल प्रयत्न भी किया है, उन्होंने जाने कितनों को आर्थिक सहायता दिलवाई है और उन्हें कुछ अंशों में आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त करा दिया है।

एक दिन शहीदों के कुटुम्बी जनों की उपेक्षा और दुखों की चर्चा करते-करते उनकी आंखों में तीन बार आंसू झलक आये और यह कहते हुए कि "अन्य रियासतों के उत्तराधिकारियों को तो पेंशन में बड़ी-बड़ी रकमें मिल रही हैं, जिनमें से बहुतों ने १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम में अंग्रेजों का साथ दिया था. पर स्वतंत्रता के लिए सर्वस्व होम करनेवाली महारानी लक्ष्मीबाई के उत्तराधिकारियों की सरकार ने पेंशन बन्द कर दी।" उनकी आंखें भर आई थीं। मैं सोचने लगी, ऐसे कितने साहित्यकार होंगे, जिनको दीन-दुखी और उपेक्षितों की इतनी चिन्ता हो, जिनके पास उनकी करुण कथा सुनने को समय हो और जो साहित्य-विलास को छोड़ कर दीन-दुखियों के कष्ट-निवारण के लिए लेखनी चलाने में ही अपने को धन्य मानें?

चतुर्वेदीजी की प्रथम पुस्तक 'फिजी द्वीप में मेरे २१ वर्ष' जब प्रकाशित हुई थी, उसकी समीक्षा करते हुए केसरी ने अग्रलेख में लिखा था, "लाखों पाठकों में शायद ही कोई पाठक ऐसा हो, जो इस करुण-कथा को पढ़ कर रो न उठे।"

करुणा द्वारा जनता के हृदय को द्रवित कर उसे लोकोपकार की ओर प्रस्तुत करना, यही चतुर्वेदीजी की साहित्य-सेवा का उद्देश्य है। ●

यशपाल जैन

बहुमुखी जीवन के धनी

●

सन १९३६ की बात है, उन दिनों मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कानून के प्रथम वर्ष में पढ़ रहा था, कहानियां लिखने का मुझे नवीं कक्षा से ही शौक था, मेरी कहानियां हिंदी के पत्रों में, विशेषकर इलाहाबाद के दैनिक तथा मासिक पत्रों में, प्रायः छपती रहती थीं। एक दिन एक मित्र बाहर से आये और उन्होंने आग्रह किया कि मैं अपनी कहानियां 'विशाल भारत' को भेजूं। वह उस पत्र के संपादक से भलीभांति परिचित थे। मित्र के आग्रह पर मैंने एक कहानी 'विशाल भारत' के संपादक के नाम भेज दी।

'विशाल भारत' की उस समय बड़ी ख्याति थी। सोचा कि ऐसे प्रसिद्ध पत्र के संपादक एक विद्यार्थी को क्या महत्व देंगे, लेकिन एक दिन देखता क्या हूं कि डाक में एक लिफाफा आया, जिस पर बड़े सुंदर अंग्रेजी अक्षरों में मेरा नाम-पता लिखा था, शहर का पता लाल स्याही में था, शेष नीली में। कौतूहल से मैंने लिफाफा खोला और चिट्ठी देखी तो हँसी आये विना न रही। ऊपर लिखा था—'प्रियवर' और नीचे—विनीत, बनारसीदास चतुर्वेदी। बाकी चिट्ठी अंग्रेजी में थी, बड़े विचित्र आदमी हैं। पूरी चिट्ठी अंग्रेजी

में लिखी थी तो क्या चार शब्द के लिए टोटा पड़ गया ? फिर यह क्या ! कहीं एक शब्द और कहीं पूरा वाक्य लाल स्याही से रेखांकित कर दिया गया है ; जाने क्या विचार मन में आये।

चिट्ठी में लिखा था कि वह कहानी-लेखक नहीं हैं, इसलिए मेरी रचना के गुण-दोष का विवेचन नहीं कर सकते, लेकिन उनकी राय में यह अच्छा होता कि मैंने कहानी के अंत में नाटकीय ढंग से भिखारिन को युवक की मां न बनाया होता।

जो हो, पत्र के मोती जैसे सुंदर अक्षरों और पत्र-लेखक की सहृदयता की छाप मेरे तरुण मन पर पड़े बिना न रही।

श्रद्धेय बनारसीदासजी चतुर्वेदी से यही मेरा प्रथम परोक्ष परिचय था। उनका नाम मैंने बहुत पहले से सुन रक्खा था, लेकिन उस चिट्ठी ने उनके प्रति मेरे मन में कुछ आकर्षण उत्पन्न कर दिया।

सन १९३७ में मैं अपनी पढ़ाई पूरी करके दिल्ली आ गया और यहां एक हिंदी विद्यापीठ की स्थापना की। यह विद्यापीठ मुझे चतुर्वेदीजी के निकट पहुंचाने की निमित्त बनी। बात यह हुई कि सन १९४० में चतुर्वेदीजी दिल्ली आये और बहन सत्यवती मल्लिक के यहां ठहरे। श्रद्धेय मामाजी (श्री जैनेन्द्रकुमारजी) ने सुझाव दिया कि उन्हें विद्यापीठ में लाया जाय और उनको लाने की जिम्मेदारी उन्होंने अपने ऊपर ले ली। मैं सभा की व्यवस्था करने में लग गया, आधी रात तक बैठ कर पत्रों के लिए सूचनाएं तैयार कीं जो अगले दिन अखबारों में छप गयीं। उसी दिन शाम को सभा थी। संयोग से चतुर्वेदीजी ने आने से इन्कार कर दिया। दोपहर को मुझे यह समाचार मिला तो मैं विद्यापीठ की प्रिंसिपल (बहन कंचनलता सब्बरवाल) और उनकी वृद्धा माता को साथ लेकर चतुर्वेदीजी के पास पहुंचा। रास्ते भर हम सोचते गये कि चतुर्वेदीजी यदि राजी न हुए तो क्या होगा !

चतुर्वेदीजी के पास पहुंचते ही मैंने बड़े शांत भाव से कहा कि उनके न आने से हमारी बहुत बदनामी होगी। वह हँस कर बोले, "आपने मिठाई का इंतजाम किया है ? चौबों को मिठाई बहुत पसंद है।"

मैंने कहा, "मिठाई आप जितनी चाहेंगे, खाने को मिल जायगी, पर आप आइए जरूर।" उन्होंने एक क्षण में अनुभव कर लिया कि उनके न जाने से हमें परेशानी होगी, और वह फौरन राजी हो गए।

चतुर्वेदीजी से यह मेरी पहली भेंट थी, वह विद्यापीठ में आये और उन्होंने बहुत ही ओजस्वी भाषण किया, अपनी विनोद-प्रियता से श्रोताओं को खूब हँसाया भी।

उसके बाद मैं चतुर्वेदीजी से एक-दो बार सत्यवतीजी के यहां जाकर मिला, उनके प्रति और आकर्षण बढ़ा, लेकिन मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि आगे चल कर ऐसा समय भी आ सकता है, जब मैं छः वर्ष उनके पास रहूंगा और उनके साथ मेरा और मेरे सारे परिवार का अटूट संबंध जुड़ जायगा।

वह उन दिनों तत्कालीन ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ़ से चार मील दूर कुण्डेश्वर में रहते थे और उन्होंने वहां से 'मधुकर' नामक एक पत्र निकालने की योजना बनायी थी। कुण्डेश्वर लौटकर उन्होंने मुझे एक महीने के लिए वहां आमंत्रित किया और संयोग देखिए कि मैं सन १९४० के अक्टूबर में वहां पहुंच गया। कुण्डेश्वर तब के बुंदेलखंड (अब मध्यप्रदेश) का बहुत बड़ा तीर्थ होने के साथ-साथ बड़ा ही रमणीक स्थान है; सघन वन, जमड़ार नदी का तट, षड़ानन प्रपात और तैरने के लिए निर्मल जल का विशाल कुंड। उस सब में तो मेरा सैलानी मन रमा ही, उससे भी अधिक चतुर्वेदीजी को नजदीक से देखने के बाद मुझे लगा कि उन जैसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ है। एक महीना बीतते-बीतते मैंने वहीं रहने का निश्चय कर लिया।

उनकी और मेरी उम्र में लगभग २१ वर्ष का अंतर है। प्रारंभ में मैं उन्हें चतुर्वेदीजी कह कर संबोधन करता था। वह मुझे अच्छा नहीं लगता था, मैंने उन्हें 'दादाजी' कहना आरंभ किया और उसके पश्चात तो मैं ही नहीं, जाने कितने व्यक्ति उन्हें इसी नाम से संबोधन करने लगे।

सन १९४० से लेकर १९४६ तक मैं निरंतर उनके साथ रहा, उनके गुण देखे, उनकी कमियां देखीं और मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूं कि हिंदी के साहित्य तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी जोड़ का दूसरा आदमी मिलना मुश्किल है। वह स्वयं उच्च कोटि के लेखक हैं, रेखाचित्र और संस्मरण लिखने में तो उनकी प्रतिभा अप्रतिभ है, उन्होंने महापुरुषों के रेखाचित्र और संस्मरण लिखे हैं, देशभक्तों और समाज-सेवियों को अपनी लेखनी से गौरव प्रदान किया है और नवोदित प्रतिभाओं को उठाया है। उनकी दृष्टि भारतीयों पर ही केन्द्रित नहीं रही, अनेक विदेशी साहित्य-सेवियों तथा चिन्तकों पर भी उन्होंने लिखा। उनका यह साहित्य प्रेरणा का अक्षय स्रोत है, वह देशकाल की सीमा से परे है, उसे पढ़ कर जहां ज्ञानवर्धन होता है, वहां मानव के कृतित्व के प्रति उदात्त भावनाएं भी जाग्रत होती हैं।

उनकी सबसे पहली पुस्तक 'फिजी द्वीप में मेरे २१ वर्ष' स्व० तोताराम सनाढ्य के नाम से प्रकाशित हुई थी, उसके बाद उन्होंने तीन जीवनियां लिखीं—'भारत-भक्त एण्ड्रूज', 'सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी' और 'सी० एफ० एंड्रूज' (अंग्रेजी में)। ये सभी पुस्तकें अपने ढंग की निराली हैं, उनकी पहली पुस्तक के तो मराठी, गुजराती, बंगला और अंग्रेजी में अनुवाद भी हुए और हिंदी में उसके तीन संस्करण निकले हैं।

निबंध-लेखन में वह बड़े सिद्धहस्त हैं। उनके दो संग्रह 'साहित्य और जीवन' तथा 'सेतुबंध' को पढ़ कर स्पष्ट हो जाता है कि वह 'कला कला के लिए' सिद्धांत के पोषक नहीं हैं, 'कला जीवन के लिए' हैं इस सिद्धांत में उनका विश्वास है।

दादाजी ने और भी बहुत कुछ लिखा है। उनके रूस-प्रवास के वृत्तांत 'मेरी रूस-यात्रा' पर उन्हें पत्रकार-कला का 'नेहरू सोवियत लैंड' पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

दादाजी का मस्तिष्क बड़ा उर्वर है। बड़े तड़के उठ कर वह चिन्तन आरंभ कर देते हैं और उस चिन्तन में से जाने कितनी योजनाओं और आंदोलनों का सूत्रपात हुआ है। वह विचार दे कर ही छुट्टी नहीं पा लेते; उसे व्यापक रूप में फैलाने और क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्न भी करते हैं। 'कस्मै देवाय' तथा घासलेटी साहित्य के विरुद्ध उनके आंदोलनों ने हिंदी-जगत में धूम मचा दी थी। जनपदीय साहित्य को प्रकाश में लाने के लिए उन्होंने जो किया, वह सर्वविदित है और बुन्देलखंड प्रांत-निर्माण के लिए उनके प्रयत्न को आज भी वहां के लोग याद करते हैं।

दादाजी जहां कहीं रहे हैं, वहीं उन्होंने कोई-न-कोई संस्था अवश्य स्थापित की है, जिससे उनके दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी साहित्य और साहित्यकारों की सेवा होती रहे। 'विशाल भारत' के संपादन के सिलसिले में कलकत्ते रहे तो शांतिनिकेतन में 'हिंदी भवन' का निर्माण कराया, प्रयाग में 'अभ्युदय' के संपादक हुए तो हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से 'सत्यनारायण कुटीर' खड़ी करायी, 'मधुकर' का संपादन करते हुए कुंडेश्वर में रहे तो वहां 'गांधी भवन' कायम किया। अपनी जन्मभूमि फीरोजाबाद में कई संस्थाओं के निर्माण की प्रेरणा दी और जब संसद-सदस्य होकर दिल्ली आये तो यहां भी 'हिंदी भवन' की स्थापना करके और उसे एक शक्तिशाली साहित्यिक केंद्र बना कर रहे।

इस प्रकार उन्होंने विभिन्न संस्थाओं में अपनी सेवा-निष्ठा और दूरदर्शिता से वह काम कर दिखाया, जो एक व्यक्ति के लिए नहीं, शायद किसी संस्था के लिए करना भी कठिन था।

पत्र-लेखन में दादाजी का कोई मुकाबला नहीं कर सकता। पत्र-लेखन को वह एक कला मानते हैं और वह उस कला के महान आचार्य हैं। उन्हें महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, प्रतापनारायण मिश्र प्रभृति के निकट संपर्क में आने का अवसर मिला था। उनके पास भारतीय नेताओं, साहित्यकारों, समाजसेवियों तथा अनेक विदेशी चिंतकों के पत्रों का संग्रह है। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं एक लाख से अधिक पत्र लिखे हैं। अपने पत्रों में वह अपना हृदय खोल कर रख देते हैं। उनके पत्रों ने जाने कितने निराश व्यक्तियों को आशा का संदेश दिया है! उनके पत्र हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। उनका जैसा प्रखर और तेजस्वी पत्रकार आज के युग में ढूंढ़े भी नहीं मिलता। इस क्षेत्र में उनकी सेवाएं अद्वितीय हैं।

लेकिन इस सब से बढ़कर दादाजी की दो ऐसी विशेषताएं हैं, जो उन्हें अन्य साहित्य-सेवियों की अपेक्षा बहुत ऊंचे स्थान पर बिठा देती हैं। उनका हृदय अत्यंत स्पंदनशील है, वह किसी का दुःख नहीं देख सकते। उन्हें पता लग जाय कि अमुक लेखक कष्ट में है; फिर क्या है, वह उसके पीछे दिन-पर-दिन खर्च कर डालते हैं। एक नवयुवक को क्षय हो गया। उसकी आर्थिक सहायता के लिए दादाजी ने बीसियों पत्र अपने मित्रों-संबंधियों को भेजे, साथ ही मनीआर्डर फार्म भर कर रखे और उसे रुपये भिजवाये। ऐसे एक नहीं, दसियों दृष्टांत हैं। प्रसिद्ध क्रांतिकारी चंद्रशेखर आजाद की माताजी के आर्थिक कष्ट को देख कर दादाजी को जितनी वेदना हुई उतनी आजाद के निकटतम साथियों को भी शायद न हुई हो। दादाजी ने उनकी सहायतार्थ न केवल लेख और पत्र लिखे, अपितु नेहरूजी को लिख कर उन्हें रुपये भी भिजवाये।

दादाजी की दूसरी विशेषता है उनकी सजीवता और विनोदप्रियता। रूस के सुविख्यात क्रांतिकारी क्रॉपॉटकिन के अराजकतावादी आदर्श के माननेवाले होने के कारण वह छोटे-बड़े का भेद नहीं करते और सब के सामने खुल कर मजाक करते हैं। एक दिन हम लोग ओरछा के महाराज श्री वीरसिंहजू देव से मिलने जा रहे थे। मैंने देखा कि दादाजी के कुरते में बटन नहीं है। मैंने उनका ध्यान उस ओर दिलाया तो हँस कर बोले, "आप समझते हैं कि मेरा दिल इतना काला है कि हर समय ढका रहे?"

कुंडेश्वर में हम लोगों को राज्य से सहायता मिलती थी, लेकिन दादाजी के पास विभिन्न विचार-धाराओं के कार्यकर्ताओं का तांता लगा रहता था। अपनी विनोदप्रियता से दादाजी वहां के वातावरण को इतना सजीव बनाये रखते थे कि दूर-दूर से लोग उनके पास आने के लिए लालायित रहते थे। मजे की बात यह कि जिस तरह वह स्वयं हँसी-मजाक करते हैं, उसी तरह मजाक की छूट दूसरों को भी दे देते हैं। मुझे एक भी प्रसंग ऐसा याद नहीं, जब कि दादाजी ने कभी दूसरे के विनोद का बुरा माना हो।

दादाजी ने जीवन में कितनी विपत्तियां सही हैं, उसकी कल्पना करके रोमांच हो आता है। भरी उम्र में उनके प्रतिभाशाली अनुज का स्वर्गवास हो गया, बहनोई चले गये, उनकी पत्नी का देहांत हो गया, पिताजी का साया उठ गया। इन तथा अन्य विपदाओं का सामना करते हुए दादाजी ने अपनी सजीवता को कैसे बनाये रखा, यह देखकर आश्चर्य होता है।

दादाजी सदा दूसरों को देते रहे हैं। छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता अथवा उदीयमान लेखक को जब वह बढ़ते देखते हैं तो उन्हें आंतरिक हर्ष अनुभव होता है। किसी की अच्छी चीज उनके सामने आती है, उसे तत्काल प्रशंसात्मक पत्र भेज देते हैं। उनके घर का द्वार तो सब के लिए खुला रहता है। सतत प्रवाहित

धारा का स्रोत कभी सूखता नहीं। दादाजी के अंतर के हरे-भरे होने का रहस्य संभवतः यह है कि उनकी संवेदनशीलता कभी थमती नहीं और जो सदा दूसरों को आनंद देता है, उसे वह सौ-गुना वापस मिल जाता है।

दादाजी गरीब घर में पैदा हुए। उनके पिताजी ने पचपन वर्ष तक मुदर्रिसी की। साधनों के अभाव में दादाजी इंटर से आगे नहीं पढ़ पाये। उनके जीवन का आरंभ एक अध्यापक के रूप में हुआ, लेकिन अपनी लगन और परिश्रमशीलता से वह बराबर बढ़ते गये। इंदौर के डेली कालेज में, जो राजकुमारों की शिक्षा-संस्था थी, वह शिक्षक रहे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पास पहुंचे। साबरमती में गांधीजी के सहयोगी रहे। इस प्रकार उन्हें एक-से-एक बढ़कर सौभाग्य मिला, पर वह अपनी बचपन की गरीबी को नहीं भूले। सादगी का अपरिग्रही जीवन व्यतीत करना उनका आदर्श बन गया। दिल्ली से जब वह गये थे, उनके पास दो सौ के करीब ट्रंक थे, पर जानते हैं, उन ट्रंकों में क्या था? विभिन्न व्यक्तियों की चिट्ठियां, विचारों से भरे रजिस्टर, पुस्तकें आदि-आदि। उनके कपड़े तो शायद बिस्तरबंद में रहे होंगे। कपड़ों की ओर से इतना लापरवाह मैंने किसी को नहीं देखा। साधनहीन व्यक्तियों की स्थिति में अपने को रखकर उस वर्ग के साथ वह सहज ही अपना नाता जोड़ लेते हैं। घर में चीनी नहीं है, उन्हें चिंता नहीं। उन्हें चिंता है सेनेटोरियम में पड़े अमुक व्यक्ति को इतने रुपये पहुंचने ही चाहिए। ब्रह्म मुहूर्त में कागजों या रजिस्टरों में लिखे उनके विचारों को मैंने बरसों तक देखा है, लेकिन उनमें घर या घरवालों के बारे में महीनों मुझे कोई उल्लेख नहीं मिला।

इस प्रसंग में मुझे उनके विनोद की एक घटना स्मरण हो आयी है। अपने विचारों को उन्होंने जिन कागजों पर लिखा था उनका ढेर लग गया था। उस ढेर में मेंढक घुस आये और वे इधर-से-उधर कूदने लगे। एक बार जब मैं दादाजी के कमरे में गया तो हँसकर कहने लगे, "यशपालजी, वह देखिये, विचार उछल-कूद रहे हैं।"

दादाजी के जीवन में आनंद का एक कारण यह भी है कि वह घुमक्कड़ रहे हैं। कुंडेश्वर जब मैं पहुंचा ही था, सबेरे मुझे साथ ले लेते थे और हम लोग वहां के वनों में या नदी के किनारे खूब चक्कर लगाते थे। दस-ग्यारह बजे लौटते थे। बाद में हमने समझौता किया कि मैं सबेरे के घंटों में काम करूंगा। शाम को साथ घूमेंगे। दोपहर को साथ कुंड में तैरना और शाम को घूमना निरंतर चलता रहा। दादाजी प्रकृति के अनन्य प्रेमी हैं। उन्हें कमरे के दम-घोंटू वायुमंडल में बैठना कभी अच्छा नहीं लगता, थोरो के 'वाल्डेन' ने उन्हें प्रकृति की उपासना में बड़ी सहायता दी है।

दादाजी स्वभाव से बड़े निर्भीक हैं। वह जो ठीक समझते हैं, वही कहते हैं और जो उचित लगता है, वही लिखते हैं। श्रद्धेय रामानंद बाबू के पत्र 'विशाल भारत' में काम करते हुए भी उनकी आलोचना करने से नहीं चूके और गांधीजी के चर्खे में श्रद्धा न होने के कारण गुजरात विद्यापीठ की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। ओरछा के तत्कालीन नरेश को कभी-कभी उन्होंने इतने बड़े पत्र लिखे कि पढ़ कर विस्मय होता था और राज्यसभा के कांग्रेसी सदस्य होने पर भी उन्होंने कांग्रेस और कांग्रेसी नेताओं को कभी नहीं बख्शा।

दादाजी के जीवन में एक बड़ी कमी है। उनमें संतुलन नहीं है। वह जिस चीज के पीछे पड़ते हैं, रात-दिन एक कर देते हैं। उनका अधिकांश समय पत्र लिखने में जाता है। अपने जीवन का अंतिम ध्येय उन्होंने शहीदों का श्राद्ध करना माना है। भारत की आजादी के लिए जिन्होंने अपने प्राण न्यौछावर कर दिये, उन क्रांतिकारी शहीदों पर दादाजी ने अनेक पुस्तकें प्रकाशित करायी हैं, लेकिन उनकी अपनी जाने कितनी पुस्तकें अप्रकाशित पड़ी हैं, उनकी ओर वह ध्यान भी नहीं दे पाते! उनके पास अनमोल पत्रों का अनंत

भंडार है। दादाजी ने उधर ध्यान दिया होता तो उनके कई संग्रह निकल गये होते, लेकिन दादाजी हैं कि दूसरों की पुस्तकों के निकलवाने में जितना रस लेते हैं, उसका शतांश भी अपनी पुस्तकों के प्रकाशन में नहीं लेते। उनकी 'मेरे आराध्य' और 'संस्मरण' पुस्तकों के प्रूफ महीनों उनके पास पड़े रहे। प्रकाशक के तकाजे-पर-तकाजे करने पर जैसे-तैसे निबटे।

बातों के दादाजी धनी हैं। कोई अतिथि घर पर आ जाता है, दादाजी सब कुछ भूल जाते हैं। उसमें समय तो जाता ही है, शक्ति भी खर्च होती है। कभी-कभी घंटों बातें करके दादाजी पस्त हो जाते हैं, लेकिन उनके स्वभाव की लाचारी है कि वह अपने को पूरी तरह दिये बिना नहीं रह सकते।

यह कहना कि बातों में या पत्र-लेखन में उनका समय हमेशा व्यर्थ हो जाता है, सच नहीं होगा। बहुत-सी लोकोपयोगी योजनाएं ऐसे ही क्षणों में बनी हैं। मानना होगा कि धुन के धनी व्यक्तियों को व्यवस्था में बांधना संभव भी नहीं हो सकता।

व्यक्तिगत रूप में मैं दादाजी का कितना ऋणी हूं, इसे शब्दों में व्यक्त करना संभव नहीं है। उनके साथ जो वर्ष बीते, उन्हें मैं अपने जीवन के सर्वोत्तम वर्ष मानता हूं। मेरे परिवार के सभी सदस्यों, बच्चों तक के विकास के लिए उनके योगदान का स्मरण करता हूं, तो मेरा हृदय गद्गद हो जाता है। 'प्रेमी-अभिनंदन-ग्रंथ' की कल्पना उन्हीं के मस्तिष्क में आयी थी। अहार में संग्रहालय स्थापित करने की प्रेरणा उन्हीं को हुई थी। लेकिन इस तथा अन्य अनेक कार्यों का श्रेय उन्होंने मुझे दिया। एक बार मेरी लड़की अन्नदा बहुत बीमार हो गयी। दादाजी नींद के बड़े कच्चे हैं, पर रात के कई घंटे वह उसके पास बैठे रहे। उसे कर्पूरारिष्ट की बूंदें चटाते रहे और अंत में जब वह अच्छी हो गयीं, तो विनोद में उसका नाम 'कपूरी' रख दिया। मेरे लड़के सुधीर को, जो उस समय बहुत छोटा था, कार्क की पेटी के सहारे वह कुण्डेश्वर के जलाशय में तैरते देख कर ऐसे खुश होते थे, मानो वह आनंद उनकी अपनी अनुभूति हो। मैं दोपहर की धूप में टीकमगढ़ जाने को होता था तो फौरन रोक देते थे।

दादाजी की वर्षगांठ के मंगल अवसर पर मैं उनका हार्दिक अभिनंदन करता हूं और ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह शतंजीवी हों, स्वस्थ रहें और उनका मार्ग-दर्शन चिरकाल तक मिलता रहे। ●

कमला चौधरी

मेरे मार्ग-दर्शक

●

हरिजनों को हिन्दू जाति से पृथक करने की अंग्रेज हकूमत की योजना के विरोध-स्वरूप राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने आमरण अनशन प्रारंभ किया था। देश में चिंता के बादल छाये हुए थे।

नित्यप्रति समाचार-पत्रों में गांधीजी की निर्बलता के समाचार आते थे। मैं सन १९३० की जेलयात्रा के फलस्वरूप भयंकर रोग से ग्रस्त शैया पर पड़ी वेदना से छटपटा रही थी। मन चाहता

था कि गांधीजी का यह उपवास हिन्दू समाज के लिए चमत्कार बन जाय। क्षणमात्र में समाज की आंखें खुल जायं। मन के ये उद्गार प्रकट करने की इच्छा से लेखनी उठी। मैंने कांपते हाथों से अपनी प्रथम कहानी 'पागल' की रचना की। एक हरिजन की मानसिक पीड़ा और हिन्दू वैद्य के प्रायश्चित्त का कथानक सफल उतरा।

उन दिनों के विख्यात पत्र मासिक 'विशाल भारत' की मैं ग्राहिका थी। उसमें प्रकाशित कहानियां मुझे रुचिकर लगती थीं। अतः मैंने अपनी कहानी प्रकाशन हेतु 'विशाल भारत' ही को भेज दी। परंतु डाक भेजने के उपरांत मन में बड़ा संकोच था। मैं श्री प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र की कहानियों से अपनी कहानी की मीमांसा करती और लगता कि कदाचित कहानी अच्छी नहीं बन पड़ी है। कहानी बिना किसी को दिखाये-सुनाये भेज देने के प्रति मुझे पश्चात्ताप होने लगता। मैं प्रतीक्षा में थी कि कहानी 'विशाल भारत' से लौटकर आती होगी।

दो मास के भीतर ही वह कहानी 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई और 'विशाल भारत' के संपादक श्रद्धेय भाई बनारसीदासजी का पत्र भी प्राप्त हुआ "आप कहानी बड़ी अच्छी लिखती हैं। कृपया भविष्य में अपनी सब कहानियां 'विशाल भारत' ही को भेजा करें। हम सहर्ष प्रकाशित करेंगे।"

तबतक चतुर्वेदीजी को यह मालूम नहीं था कि यह मेरी सर्वप्रथम रचना है। उनका प्रोत्साहन युक्त पत्र पढ़कर मैं हर्ष से फूली न समायी और उसी दिन दूसरी कहानी 'भिखमंगे की बिटिया' लिखी। उसे भी 'विशाल भारत' को भेज दिया। इस बार चतुर्वेदीजी के साथ ही उपसंपादक स्व० श्री ब्रजमोहन वर्मा और श्री धन्यकुमार जैन के पत्र भी बधाई-स्वरूप प्राप्त हुए। इसके बाद चतुर्वेदीजी से पत्र-व्यवहार नियमित रूप से चलने लगा और कहानियों की रचना भी लगातार होने लगी। उनका प्रत्येक पत्र प्रशंसा और प्रोत्साहन से भरा होता था, जिससे मेरी साहित्यिक रुचि जाग्रत हुई।

मेरी तीसरी-चौथी कहानी 'साधना का उन्माद' जब 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई तब तो चतुर्वेदीजी ने एक आंदोलन ही प्रारंभ कर दिया। कहानी की प्रतिलिपियां छाप कर उन्होंने लगभग उस समय के सभी साहित्यकारों को भेजकर उनका ध्यान आकृष्ट किया। 'साधना का उन्माद' की आलोचनाएं उस समय के लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। कितनी ही पत्रिकाओं में कहानी उद्धृत की गयी। इस कहानी को विशेष ख्याति प्राप्त हुई। लगभग सभी साहित्यकारों ने साधुवाद के पत्र भेजे। मुझे आदरणीय साहित्यकारों से परिचित होने का अवसर मिला और मैं लेखिका बन गयी। इस सब का श्रेय पूर्णतः चतुर्वेदीजी को ही है। यदि वे इतना प्रोत्साहित न करते तो सम्भव है, सर्वप्रथम रचना ही अंतिम रचना भी होती। इसके उपरांत मेरी उन दिनों में सभी कहानियां साहित्य में चर्चा का विषय रहीं। स्व० सियारामशरण गुप्तजी ने मुझे एक पत्र में मजाक में लिखा, "बहिन, तुमसे मैं ईर्ष्या क्यों न करूं! मैं तुमसे पुराना 'विशाल भारत' का लेखक हूं, किन्तु चतुर्वेदीजी ने तुम्हारी कृतियों को आकाश पर पहुंचा दिया है।" साथ ही सियारामशरणजी ने अपनी समस्त पुस्तकों का संग्रह भी भेंट किया।

इस समय तक उपन्यास-सम्राट श्री प्रेमचन्दजी की दृष्टि मेरी कहानियों पर नहीं पड़ी थी। वे उन दिनों बम्बई में थे। चतुर्वेदीजी ने मुझे पत्र में लिखा," श्री प्रेमचन्दजी साहित्य सम्मेलन में दिल्ली पधार रहे हैं। आप अवश्य जाकर उनके दर्शन करें और अपनी रचनाएं उन्हें दिखा कर परामर्श लेने की चेष्टा करें।"

चतुर्वेदीजी के इस आदेश से मन में अत्यधिक संकोच भी हुआ और आह्लाद भी। कहां हिन्दी साहित्य के उच्च कोटि के कलाकार, कहां मैं पांच-सात कहानियों की लेखिका, कैसे कुछ उनसे कहूंगी। किंतु

चतुर्वेदीजी ने पुनः लिखा––"इस अवसर से तुरंत लाभ उठायें," अतः उनके आदेशानुसार दिल्ली जाकर श्री प्रेमचन्दजी के दर्शन किये। उन्हें अपनी कुछ कहानियां भी पढ़ने को दीं।

उन्होंने भोजन के उपरांत 'सरस्वती भवन' जहां वे ठहरे थे, आने के लिए कहा और मुझे पुनः देखते ही कह उठे, तुम्हारी कहानी 'कर्कशा' पढ़ी "कहानी बड़ी मज़ेदार है। मुझे अपनी और कहानियां भी भेजना।"

उनके इन संक्षिप्त शब्दों से ही मैं गद्गद हो गयी। आदेशानुसार मैंने श्री प्रेमचन्दजी के जीवन-काल में जितनी भी कहानियां लिखीं प्रत्येक कहानी प्रकाशित होने से पूर्व उन्हें भेज दी। यह मैंने अपना नियम बना लिया था। वह मुझे बराबर पत्र लिखकर परामर्श देते रहे। प्रथम पुस्तक 'उन्माद' की भूमिका भी उन्होंने ही लिखी। उन दिनों वे बम्बई में थे। मुझे पत्र में लिखा––तुम्हारा पत्र जब मिला उस समय तक मेरे पास पुस्तक के छपे फर्मे नहीं आये थे। उस दिन ही फर्मे श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने भिजवाये। दूसरे दिन दो और मिले और तीसरे दिन मैंने छोटी-सी भूमिका लिखकर भेज दी है। मेरी तरफ़ से ज़रा भी देर नहीं हुई। समय मिलता तो विस्तारपूर्वक पुस्तक की भूमिका लिखता। कुछ शब्दों ही में समाप्त कर देनी पड़ी। अवसर मिलने पर विस्तार से लिखूंगा। दूसरी पुस्तक वह अपनी देख-रेख ही में निकालना चाहते थे किन्तु 'पिकनिक' की पांण्डुलिपि जब पहुंची, वे मृत्यु-शय्या पर थे। अभाग्यवश पुस्तक सरस्वती प्रेस से उनकी मृत्यु-उपरांत प्रकाशित हुई। आज हिन्दी जगत में ऐसे सहृदय साहित्यकारों का अभाव है।

इसी प्रकार मेरी 'यात्रा' में प्रकाशित 'रमला' शीर्षक कहानी के सम्बन्ध में है। मैंने चतुर्वेदीजी को कहानी भेजते हुए लिखा––"इस कहानी का कथानक मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'कुमुदनी' उपन्यास से लिया है। मैं उपन्यास के अन्त से सहमत नहीं हूं। मुझे उसमें समस्या का समाधान नहीं मिला। अतः मैंने भी मनोवैज्ञानिक समस्या को लेकर इस कहानी की रचना की है और अंत उपन्यास के विपरीत है। क्या इस धृष्टता के लिए श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सम्मति लेना आवश्यक है?"

कुछ दिन पश्चात चतुर्वेदीजी का पत्र पढ़कर मुझे विस्मय हुआ। लिखा था––"मैं कुछ दिनों को शान्तिनिकेतन गया था। प्रातः वायु-सेवन में नित्य ही गुरुदेव के दर्शन करता था। आपकी कहानी उन्हें मौखिक रूप से मैंने सुना दी है। सुनकर गुरुदेव ने कहा––"स्त्री के भावों को स्त्री ही भली प्रकार व्यक्त कर सकती है।"

इससे पूर्व जब मैं कलकत्ता गई थी और प्रथम बार श्री चतुर्वेदीजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उसी दिन उन्होंने हम लोगों से शान्तिनिकेतन जाकर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन करने का आग्रह किया था। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी वहां प्राध्यापक थे, उनके नाम एक पत्र भी लिखकर दिया। शान्तिनिकेतन में मेरे ठहरने की व्यवस्था के साथ ही गुरुदेव रवीन्द्रनाथ, एंड्रयूज़ आदि के दर्शनों का सौभाग्य दिलाने की भी श्री हजारीप्रसादजी ने ही व्यवस्था की थी। चतुर्वेदीजी के आग्रह से ही इन महान साहित्यकारों के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैं समझती हूं इसी प्रकार अनेकों नवोदित लेखकों को उनके द्वारा प्रोत्साहन मिला होगा। इसके पश्चात कई बार श्री चतुर्वेदीजी मेरठ आये। हम लोगों को भी कलकत्ते जाने का कई बार अवसर मिला और उनसे आत्मीयता बढ़ती गई। आज वह मेरे बड़े भाई के समान हैं। मेरे घर का नाम 'विनीत कुंज' उनका ही दिया हुआ है।

मैं उन्हें एक दिन स्वर्गीय रफ़ीअहमद किदवई के समीप ले गई। इससे पूर्व रफ़ीसाहब से उनका परिचय नहीं हुआ था। मैंने चतुर्वेदीजी से कहा––हम लोग राजनीति में रफ़ी भाई के अनुयायी हैं। वे मेरे परिवार के व्यक्ति-से ही बन गये हैं। उन्हें एक अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने का विचार है। इस संबंध में आप

से भी सहायता लूंगी। इस घटना के कुछ मास उपरांत ही रफ़ीअहमद किदवई की मृत्यु हो गई। अभिनंदन-ग्रंथ का विचार भी पूर्ण नहीं हो सका। किन्तु चतुर्वेदीजी इस बात को भूले नहीं। वह अक्सर मुझे उनका संस्मरण लिखने के लिए स्मरण कराते रहे। जैसे वह विचार हम लोगों का न होकर चतुर्वेदीजी का संकल्प बन गया और मेरे अतिरिक्त अन्य बंधुओं को, जो रफ़ीसाहब से परिचित थे, संस्मरण लिखने का वह आग्रह करते रहे, जिसके फलस्वरूप श्री रफ़ीअहमद किदवई से संबंधित कुछ विशेषांक उनके संपादन में प्रकाशित हुए।

इसी प्रकार 'शहीदों के श्राद्ध' नाम से भी उनका प्रयत्न जारी है। इस संबंध में जो कार्य उन्होंने किया है, वह हिंदी-जगत के सामने है। हास्य का पुट चतुर्वेदीजी में बहुत अधिक है। स्वयं अपनी ही हँसी उड़ाने में वह दक्ष हैं। देखा जाय तोयह मानव का बहुत बड़ा गुण है। स्वभावतः लोगों को स्वयं अपनी मज़ाक़ उड़ते देखकर क्रोध उत्पन्न होता है।

एक बार दिल्ली में सांस्कृतिक सम्मेलन के अवसर पर राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी के आग्रह से श्रीमती महादेवी वर्मा और चतुर्वेदीजी राष्ट्रपति भवन में ठहरे हुए थे। मैं राष्ट्रपति भवन प्रातः ही पहुंच गई महादेवीजी से वार्तालाप करने के लिए। किन्तु उसी समय चतुर्वेदीजी का जवाकुसुम तेल समाप्त हो गया था। घन्टों मोटर पर हम लोग दूकान-दूकान जवाकुसुम ढूंढ़ते फिरे; किंतु नई दिल्ली में कहीं भी जवाकुसुम नहीं मिला। चतुर्वेदीजी ने बीसों बार दोहराया ३० वर्ष से सिर में जवाकुसुम ही लगाता हूं।

महादेवीजी ने हँसकर कहा--"कमलाजी, किसी कविता या कहानी में इनके जवाकुसुम को अमर कर दो।"

मैंने एक कविता में अमर कर दिया। दूसरे ही दिन उन्होंने एक गेरुए रंग का खादी का कुरता गांधी आश्रम से खरीद कर पहना, कुरते में बटन थे ही नहीं। कहां यह फकीरी वेश कहां सुगंधित जवाकुसुम, इस वेश के साथ जवाकुसुम का कैसे मेल-मिलाप हो! अतः मैंने लिखा--"पहन चिकन को कुरता सुंदर सिर में जवाकुसुम मलवाए।" और इसी पंक्ति को अपनी एक हास्य-व्यंग्य की कविता में सम्मिलित कर दिया।

भाई श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को साहित्यिक बंधुओं की ओर से अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने के आयोजन से मुझे अत्यधिक हर्ष एवं संतोष हुआ। यह अवसर था कि मैं उन पर विस्तार से लिखती परन्तु जैसे प्रथम कहानी लिखते समय अस्वस्थ थी उससे भी अधिक रोगग्रस्त हूं। आशा है चतुर्वेदीजी ने जैसी हिन्दी साहित्य की निष्कपट सेवा की है उसका मूल्य समझ कर अन्य बन्धु लिखेंगे। मेरे समान भी कितने ही हिन्दी-लेखक होंगे जिन्हें चतुर्वेदीजी की लेखनी ने नवीन स्फूर्ति प्रदान की है। उनके द्वारा उठाये अनेकों आन्दोलनों ने, जैसे 'घासलेटी साहित्य' आदि ने, हिन्दी साहित्य को परिमार्जित करके सही दिशा प्रदान की है। देखा जाय तो आज हिन्दी साहित्य में ऐसे आंदोलन चलाने की नितांत आवश्यकता है। शहीदों के संस्मरण एवं जीवनियां प्रकाशित करने के उनके प्रयत्नस्वरूप कितने ही महान व्यक्तित्व जन-मानस के सम्मुख आये। यदि ऐसा प्रयत्न न किया जाता तो सम्भव है बलिदानों की अनेकों अभूतपूर्व गाथाएं बलिदानियों के साथ ही लुप्त हो गई होतीं। साहित्यकारों की आनेवाली पीढ़ियां भी ऐसे कार्यों के लिए चतुर्वेदीजी के प्रति श्रद्धानत होंगी।

अभिनन्दन-ग्रंथ में अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि भेंट करती हूं। ईश्वर उन्हें शीघ्र स्वस्थ करके अभी दीर्घकाल तक हम जैसे साहित्यकारों को उनकी छत्रछाया में रहने का अवसर दें। ●

कामताप्रसाद सक्सेना

कुण्डेश्वर के गांधी भवन के प्रेरणा-स्रोत

टीकमगढ़ के बनारसी-बाग की प्राकृतिक सुषमा और उसके शांतिदायक वातावरण ने मुझे भी अपनी ओर आकृष्ट किया। उसने मेरे हृदय पर एक छाप छोड़ दी, और मेरे अंतर्मन को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि ऐसे स्थानों पर प्रत्येक जिले में 'गांधी भवन' स्थापित किये जा सकें, तो महात्माजी की विचारधारा के प्रचार-प्रसार में विशेष योग मिलेगा।

अहिंसा के प्रति प्रारम्भ से ही मेरा अटूट विश्वास है, और मेरा विचार रहा है कि ऐसे प्रेरक-स्थलों में अध्ययन और पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा सभी समस्याओं का निराकरण सहज में ही किया जा सकता है।

अप्रैल '४८ के अंतिम दिनों में मुझे अपने विचार को कार्यान्वित करने का सुन्दर सुयोग प्राप्त हुआ। देशी रियासतों के एकीकरण के फलस्वरूप विंध्यप्रदेश संघ के निर्माण पर जब बुंदेलखण्ड के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने मुझे नागौद में सर्वसम्मति से नेता-पद के लिए निर्वाचित किया, तभी मुझे यह चर्चा सुनाई पड़ी कि कुण्डेश्वर से पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी विदा ले रहे हैं। अगले दिन ही मैं कार द्वारा टीकमगढ़ जा पहुंचा और मैंने संपादकाचार्य चतुर्वेदीजी का सारा सामान बाहर जाने के लिए बंधा हुआ देखा। चतुर्वेदीजी ने मुझे अपना विशाल पत्र-संग्रह दिखाया, और 'मधुकर' पाक्षिक की ढेरों प्रतियां भी भेंट कीं।

मेरा मन एक अकथ वेदना से भर आया। जिले के कतिपय कांग्रेसी कार्यकर्त्ता तो संभवतः रियासती शासन की खीझ अथवा एक प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप चाहते थे कि चौबेजी चले जायं, परन्तु बुन्देलखण्ड प्रांत के नव-निर्माण के पश्चात मैं उनकी सेवाओं के प्रति कृतघ्न नहीं होना चाहता था। स्थान की नैसर्गिक शोभा, जो हिंसा वृत्ति का शमन कर देने में सर्वथा समर्थ है, पत्रकार-प्रवर बनारसीदासजी चतुर्वेदी का निस्पृही साहित्यिक जीवन, जो व्यक्ति को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है एवं नव-निर्मित प्रदेश की लोक-कल्याणकारी भावना, जो कुछ अनूठा कर दिखाने के लिए मुझे उकसा रही थी––सबका सुन्दर संयोग देखकर मैंने कहा,

"चौबेजी, आप जाने न पायेंगे। आप यहीं रहिये। मैं इस स्थान को गांधी भवन के रूप में देखना चाहता हूं। आप उसके संचालक रहेंगे। आपके निर्वाह के लिए ४००) मासिक की व्यवस्था तथा गांधी भवन की सम्पन्नता के लिए पुस्तकादि संबंधी व्यय की व्यवस्था मैं करूँगा।"

चौबेजी का बंधा हुआ सामान खुल गया और वह फिर एक बार कुण्डेश्वर में साहित्य-साधना में जुट गये। मैंने दिल्ली में आकर अखिल भारतीय देशी राज्य-प्रजा-परिषद के अध्यक्ष डा० पट्टाभि सीतारामैया की उपस्थिति में कुण्डेश्वर में गांधी भवन खोले जाने की घोषणा कर दी––उस समय जब मैंने विंध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री पद की शपथ भी नहीं ली थी। उन दिनों राज्यों के मुख्य मंत्री को असीम अधिकार थे––फिर मैं तो अपने राज्य के हित में गांधीजी के सम्पर्क में आये हुए एक श्रेष्ठ साधक की सेवाओं का उपयोग करने के लिए उत्साह-विशेष संजोये हुए था। मुझे बाधाओं की चिंता भी क्या थी। अपने प्रचार के लिए भी मैं सदैव उदासीन रहा।

नौगांव में लौटने पर टीकमगढ़ के नेताओं ने मेरे चीफ सेक्रेटरी से विरोध भी प्रकट किया, और उन्होंने एक नोट द्वारा योजना के प्रति अनिच्छा भी प्रकट की, कि इस प्रकार मैं एक अवांछित सम्पर्क-क्षेत्र को राजनैतिक आश्रय देने में अर्थ का दुरुपयोग कर रहा हूं, कारण कि स्वतंत्र विचारों वाले साहित्य-सेवी चौबेजी के पास विभिन्न विचार-धाराओं के व्यक्ति यदा-कदा आते रहते थे। समस्त विरोध की उपेक्षा करते हुए मैंने आदेश प्रसारित कर ही दिये, और मुझे प्रसन्नता है कि कुण्डेश्वर का 'गांधी भवन' आज भी फल-फूल कर निरंतर विकासोन्मुख है। छतरपुर में भी मैंने इसी प्रकार एक सुसज्जित बंगले में राज्य-सरकार द्वारा 'गांधी भवन' स्थापित कराया। आज कुछ संकोचवश ही मुझे यह सब लिखना पड़ रहा है, अन्यथा मैंने कभी अपने प्रशस्ति-गान की कामना नहीं की—उन दिनों भी नहीं, जब एक संपन्न सूचना विभाग मेरे अधीन था।

आज जब मेरे राजनैतिक प्रतिद्वंदियों ने मेरी समस्त सेवाओं को लगभग भुला दिया है, मैं श्रद्धेय चतुर्वेदीजी की कृतज्ञता के प्रति हृदय से श्रद्धावनत हूं। उनके लिए किसी से कभी थोड़ी-सी सेवा बन सकी, तो उनकी स्वाभाविक महानता ने उसे बहुत करके माना है। 'गांधी भवन' की स्थापना से आज दिन तक चौबेजी का स्नेह मुझे बराबर मिलता रहा है। अपने कार्यकाल में तो मैं समय-समय पर 'गांधी भवन' की व्यवस्था देखता ही रहा, परंतु अब भी, उनका स्नेह-पत्र मुझे बराबर मिलता रहा है।

साहित्य-सृजन और पत्रकारिता के क्षेत्र में श्रद्धेय चतुर्वेदीजी की निःस्वार्थ सेवाओं का मैं लम्बे समय से प्रशंसक हूं। ओरछा राज्य के जंगलों के निर्ममतापूर्वक काटे जाने पर मैंने उनके आंसुओं को देखा है। केवल मानव के प्रति ही वह संवेदनशील नहीं रहे हैं, वनस्पति-जगत ने भी उनका प्यार पाया है। उनका हार्दिक अभिनंदन करते हुए मैं उनके शतायु होने की कामना करता हूं। ●

श्यामसुन्दर 'बादल'

सहज संवेदनशील साधक

●

वदनं प्रसाद-सदनं सदयं हृदयं सुधामुची वाचः।
करणं परोपकरणं येषां, केषां न ते वन्द्याः।।

जिनके मुख पर सदैव प्रसन्नता विराजमान रहती है, हृदय दयार्द्र रहता है, वाणी अमृत-वर्षा करती है, जिनके कार्य परोपकार के लिए होते हैं, वे महापुरुष किनके लिए वन्दनीय नहीं हैं। संस्कृत की यह सूक्ति श्रद्धेय दादाजी पर अक्षरशः घटित होती है।

आज से लगभग २७ वर्ष पूर्व मुझे उनके संपर्क में आने का अवसर मिला था। बुंदेलखण्ड-कोकिल स्व० घासीरामजी 'व्यास' सन १९४२ में कदाचित दिवंगत हुए थे। हम लोगों ने स्थानीय समाज मन्दिर में उनको श्रद्धांजलि अर्पित करने हेतु स्वामी ब्रह्मानंदजी की अध्यक्षता में एक शोक-सभा की थी। उसमें जो रचना मैंने पढ़ी थी, उसे 'मधुकर' में प्रकाशनार्थ भेज दिया था। रचना को 'मधुकर' में स्थान तो मिल ही गया, एक बड़ी बात यह हुई कि इसी रचना ने मुझे दादाजी के सम्पर्क में ला दिया। पत्रोत्तर मिला—

“ · · ·आप तो बहुत अच्छा लिख लेते हैं। ‘मधुकर’ के लिए कुछ-न-कुछ लिखते रहिये।”

‘विशाल भारत’ मासिक के एक सफल संपादक के रूप में मैं जिनके नाम से पहले से ही परिचित था उन्हीं का प्रेरणाप्रद पत्र पाकर मैं कुछ क्षण आनंद की मस्ती में झूलता रहा। उन दिनों स्वामी ब्रह्मानंदजी के (जो आजकल संसद-सदस्य हैं) विद्यालय में मैं अध्यापन-कार्य करता था। स्वामीजी व्यासजी से भी बहुत प्रभावित थे। उन्होंने जराखर-कांफ्रेंस में, जिसमें स्व० नेहरूजी, पंतजी और सम्पूर्णानंदजी आदि नेता पधारे थे, स्व० व्यासजी को उनकी ‘किसान बन’ शीर्षक रचना पर स्वर्ण-पदक प्रदान किया था। जब स्वामीजी को यह ज्ञात हुआ कि मैं दादाजी के संपर्क में आ गया हूं और दादाजी ओरछा-नरेश महाराज वीरसिंह जू देव के गुरु हैं, तो उन्होंने इस परिस्थिति से कुछ लाभ उठाने की बात सोची।

स्वामीजी परिस्थितियों से लाभ उठाने में कभी नहीं चूकते। अपने इसी विशिष्ट गुण के कारण वह राठ जैसे छोटे से कस्बे में इंटर कालेज, डिग्री कालेज एवं कस्तूरबा गुरुकुल (संस्कृत विद्यालय), इन तीन-तीन संस्थाओं का सफलता-पूर्वक संचालन करने में समर्थ हो सके हैं। उन्होंने मुझे साथ लेकर कुण्डेश्वर के लिए प्रस्थान कर दिया।

शीतकालीन दिवस के प्रथम प्रहर में हम लोगों ने मधुकर-कार्यालय (कुण्डेश्वर-टीकमगढ़) की विशाल कोठी के भीतरी प्रांगण में प्रवेश किया। प्रांगण के चबूतरे पर एक बड़ी-सी आरामकुर्सी पर एक महाप्राण गौर-मूर्ति विराजमान थी, रूई-भरे चेस्टर में उसकी महाप्राणता दूनी दिख रही थी। धोती के स्थान पर तहमद और टोपी के स्थान पर गरम टोपा। नाक पर कुछ अधिक झुका हुआ चश्मा और पुस्तक पर गड़ी दृष्टि सभी श्रद्धेय दादाजी का स्पष्ट परिचय दे रहे थे।

राठ का नाम सुनते ही मुझे तो वह अनुमान से ही पहचान गये और मुझसे स्वामीजी का परिचय प्राप्त कर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की। मैं दादाजी के स्नेहपूर्ण आतिथ्य को ग्रहण कर एवं अपना शेष कार्य पूर्ण कर उसी दिन लौट आया, पर स्वामीजी रोक लिये गए। सात-आठ दिन पश्चात स्वामीजी के लौटने पर ज्ञात हुआ कि दादाजी ने उन्हें महाराज साहब से मिलाया था और ये दिन बड़े सत्संग के रहे। साथ ही महाराज साहब की नौगांव की जीर्ण-शीर्ण कोठी का गर्डर, पत्थर, आदि सामान विद्यालय के लिए मिल गया।

तभी से मुझे ‘मधुकर’ का नियमित लेखक बना लिया गया। अब तक दादाजी इस जनपद में कितने ही साहित्यकारों का निर्माण कर चुके थे। बाद में कुण्डेश्वर जाने एवं उनके सत्संग का लाभ उठाने का कई बार सौभाग्य मिला और सैकड़ों पत्रों द्वारा अमूल्य शिक्षा पाई।

कुण्डेश्वर जब-जब गया, दादाजी के साथ वहां के वन-भ्रमण का आनन्द अवश्य ही लूटने को मिला। कुण्डेश्वर-प्रपात से लेकर संगम तक के सभी स्थल एवं जामनेर तथा जमड़ार सरिताओं के उभयतटवर्ती सभी स्थल विस्तृत परिचय के साथ देखने को मिले। एक बार जब लौटते समय वन में ही सांझ हो गई, तो सामने देखते हैं कि एक बड़े जलाशय से जंगली शूकरों का झुंड पानी पीकर लौट रहा है, मयूर अपने आवासों की ओर जा रहे हैं, तभी मुझे कवि-कुल-गुरु कालिदास की निम्न पंक्तियों की याद आ गई:

स पल्वलोत्तीर्ण वराह यथा--
न्यावास वृक्षोन्मुख बर्हिणानि।
ययौ मृगाक्ष्यासित शाद्वलानि--
श्यामायमानानि बनानि पश्यन्।

दादाजी ने इस सूक्ति का पुनर्वाचन कराया, एवं इसकी चिरसामयिकता पर बहुत ही प्रसन्न हुए।

प्रसंगवश वह मुझसे पूछ बैठे कि आप नियमित रूप से घूमते हैं कि नहीं ? मैंने उत्तर में चार फर्लांग नित्य घूमने की बात कही। दादाजी उस समय तो हँस कर रह गए, पर ज्योंही मैं लौट कर घर आया कि दो-तीन दिन के अन्दर ही मुझे पत्र मिला :

चार फर्लांग चलने वाले बादलजी को सस्नेह भेंट।

बनारसीदास चतुर्वेदी

"चलने से शरीर के प्रत्येक भाग में खून तेजी से दौड़ा करता है, प्रत्येक अंग में हलचल पैदा होती है और सारा शरीर कस उठता है। चलने से हाथ-पैर तो हिलते ही हैं साथ ही बाहरकी शुद्ध हवा मिलती है। बाहर के सुंदर दृश्यों का आनन्द प्राप्त होता है। सदा एक ही जगह और गलियों में नहीं घूमना चाहिए। खेतों और जंगलों में घूमना आवश्यक है। वहां प्राकृतिक शोभा की कुछ परख होगी। दो-एक मील का चलना कोई चलना नहीं कहलाता, दस-बारह मील का चलना चलना है।

टहलने के लिए कै मील जाते हैं ?" (महात्मा गांधी की 'आरोग्य साधना' पुस्तक से)

दादाजी ने हम लोगों के व्यक्तिगत जीवन के लिए तो ऐसा शुभ-चिंतन सदैव किया ही है, पर वह हमारे संकट-पूर्ण क्षणों में भी अत्यंत व्यग्र और चिंतित दिखाई पड़े हैं। ब्रह्मानन्द विद्यालय की ग्यारह वर्ष की सेवा करने के अनंतर जब मैं अपनी स्थायी जीविका को छोड़ देने के लिए विवश किया गया एवं जब मैंने पूज्य स्वामीजी की शीतल छाया से भी हट जाने का दुर्भाग्यपूर्ण निर्णय लेना चाहा, उस समय की लिखी दादाजी के पत्र की निम्न पक्तियां उनके द्रवणशील-हृदय, स्वाभिमान-रक्षण की वृत्ति एवं मेरे प्रति उनके अगाध स्नेह का कितना स्पष्ट परिचय देती हैं।

विन्ध्य वाणी,
कुण्डेश्वर (टीकमगढ़)
१९-९-१९४८

···अपनी नौकरी के विषय में बहुत सोच-समझ कर कोई कार्यवाई कीजिये। साधन-हीन व्यक्तियों के लिए बेकार हो जाना घोर दुर्घटना है। आप जैसा भी उचित समझें करें, पर मेरी सलाह तो यही होगी कि अपने को आर्थिक संकट में हर्गिज-हर्गिज न डालें। उससे अंततोगत्वा व्यक्तित्व की हानि ही होगी। लगे-लगाये काम को छोड़ना बुद्धिमानी नहीं है, पर जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूं, ऐसे मामले में अंतिम निर्णायक आपकी अंतरात्मा ही होनी चाहिए।···

विनीत
बनारसीदास

और अंतरात्मा ही अंतिम निर्णायक बनी। दादाजी की दुआ से एक दिन के लिए भी बेकार नहीं रहा। तभी अंतर से गत वर्ष उनकी वर्ष-गांठ के अवसर पर निम्न उद्गार व्यक्त हुए थे :

हाथ थाम जिसने वाणी की सरिता में नहलाया,
इस जनपद को उन्नत करना जिसके मानस भाया।
जिसने कुण्डेश्वर से जोड़ा वृन्दावन का नाता,
जिसके निकट 'श्याम' बसने में किसे न आनन्द आता ?
यह बुन्देल वसुन्धरा
ब्रज वसुधा के पास की।

पद-पद पर आभारिणी
इस बनारसीदास की।।

मैंने जब अपने प्रातःस्मरणीय गुरुवर स्व० श्री गणपतिप्रसाद चतुर्वेदी (मऊरानीपुर) के तपोमय जीवन का परिचय दिया तो उनके दर्शनार्थ विंध्य-प्रदेश के किसी मंत्री महोदय को लेकर उनकी कुटिया पर जा पहुंचे, अनावृत भूमि पर बैठे-बैठे ही उनसे घंटों वार्तालाप किया एवं मुझसे उन पर लेख लिखवा कर अभिनंदन-ग्रंथ में छपवाया।

दादाजी मनसा, वचसा और कर्मणा राष्ट्रीयता गांधीजी के पथ के पथिक हैं। उनके घनिष्ट संपर्क में रहे हैं। मेरे अनुज मुरली मनोहर के निधन का समाचार जब उन्हें दिया गया, उनका सांत्वनापूर्ण पत्र आया :

प्रिय भाई बादलजी,

अनुज के आकस्मिक देहांत का हृदय-वेधक समाचार मुझे आपके ही कार्ड से अभी मिला। मैं स्वयं भुक्तभोगी हूं। आज से १७ वर्ष पूर्व सन १९३६ में यही दुर्घटना मेरे जीवन में घटी थी। मेरे अनुज रामनारायण चतुर्वेदी का देहांत यौवनावस्था में ही हो गया था। इसलिए मैं आपकी हार्दिक वेदना का कुछ-कुछ अनुमान कर सकता हूं। उस समय बापू का एक सान्त्वना-प्रद पत्र मिला था—

'भाई रामनारायण जिस रास्ते गये हैं, उस रास्ते हम सभी को जाना है। केवल समय का ही फर्क है। ··· तुम्हारा बोझ तो बहुत ही बढ़ गया। ईश्वर तुमको शांति बख्शे।'

इससे अधिक क्या कहा जा सकता है! क्या बीमारी थी? पाठकजी ने भी कोई खबर नहीं दी।

आपके दुःख में दुःखी
बनारसीदास

ऐसे न जाने कितने दुखियों के दुःखों से दादाजी दुखी होते हैं, और कितने के सुखों से सुखी। गत १७–१२–६८ के पत्र द्वारा उन्होंने कुछ रोग पीड़ित एक विद्वान का और परिचय दिया था :

"···मुझे आगरे जाना पड़ा, जैनियों की एक मीटिंग में। दो दिन खर्च हो गये। एक लाभ अवश्य हुआ। संस्कृत के एक पंडित श्री मथुरादत्तजी शास्त्री, एम० ए० कुष्ट-रोग से पीड़ित पड़े हुए हैं। उनके दर्शन मैंने ओल्ड लैप्रॉसी हॉस्पिटल में किये। १५ वर्ष तक संस्कृत-अध्यापन कर चुके हैं। उनसे मैंने आत्मचरित लिखवाया है। अल्मोड़ा के हैं। उनकी कुष्ठ-पीड़ितों के लिए एक योजना है। उसे छपवा रहा हूं (अब वह छप गई है)। देश में इस समय ५० लाख कोढ़ी हैं। आप भी मथुरादत्तजी को संस्कृत में एक सहृदयतापूर्ण पत्र तो अवश्य लिखें। उन्हें कोई अपनी पुस्तक भी भेंट-स्वरूप भेंजे। उन्हें मानसिक भोजन देने का जिम्मा मैंने लिया है।"

मैंने आज्ञा शिरोधार्य की। शास्त्री जी से पत्र-व्यवहार द्वारा मैत्री पूर्ण स्नेह मिला। उन्होंने अपने १९-१-६९ के पत्र में दादाजी के प्रति निम्न पंक्तियां लिखी थीं :

"पूज्यपाद चतुर्वेदीजी महोदयाः निस्संदेहं देव-तुल्यं-पुरुषास्सन्ति। दीन-विपन्न-जनानां कृते तेषां मनसि महती करुणा तथा संस्कताज्ञानादुपरि विशिष्टः कृपाभावोवर्त्तते। तेषामेवानुकम्पया श्रीमत्सौजन्य-सम्प्राप्ति सुयोगस्समुपलब्धो मया।"

इसी प्रकार झालावाड़ (राजस्थान) निवासी विद्वद्वर पं० गणेशरामजी शर्मा के सम्पर्क में भी मैं दादाजी के माध्यम से ही आया था। ऐसे न जाने कितने हिंदी-संस्कृत के विद्वानों, श्रद्धेय नेताओं और महान-

क्रांतिकारियों से दादाजी ने मेरा संबंध जोड़ा। इधर दो-तीन वर्ष पूर्व से महान क्रांतिकारी पं० परमानन्दजी के लिए एक अभिनंदन-ग्रंथ की योजना चल रही थी, वह अब पूरी हो गई है। अंक प्रकाशित हो गया है।

इस प्रकार मैंने अपने साहित्यक जीवन एवं व्यक्तिगत जीवन में जिस प्रकार दादाजी को दत्तावधान देखा, उसी प्रकार वह बुंदेलखण्ड जनपद के प्रत्येक साहित्यकार के जीवन के प्रति सजग दीख पड़ते हैं। स्व० मुंशी अजमेरीजी, व्यासजी, स्व० रसिकेन्द्रजी, स्व० शीलजी, स्व० घनश्यामदासजी पाण्डेय, स्व० चतुरेशजी, स्व० नरोत्तमदासजी पाण्डेय आदि के प्रति किसी-न-किसी रूप में वह अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते रहे। 'व्यासजी' के संबंध में मुझे एक बार लिखा था :

"मऊरानीपुर नगर में 'व्यासजी' के नाम का एक विद्यालय स्थापित होना चाहिए। मैंने वहां के अपने परिचित बंधुओं से कई बार निवेदन भी किया, पर कदाचिन अभी वह सुयोग नहीं आ सका, पर आयेगा, ऐसी पूर्ण संभावना है।"

८ जुलाई सन १९६३ के 'रामराज्य' में 'साहित्य और राजनीति' लीर्षक लेख में दादाजी ने लिखा था—

"एक बार लोकमान्य तिलक ने कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर से विदेश-यात्रा करने की बात कही थी। गुरुदेव ने उत्तर दिया, 'मैं तो कोई राजनीतिज्ञ नहीं, वहां जाकर आपका क्या प्रचार कर सकता हूं!' लोकमान्य ने तुरंत ही कहा, 'विदेशों में आप जैसे महान भारतीय साहित्यिक की उपस्थिति ही हमारा सबसे बड़ा प्रचार है।' किसी ने लेनिन से कहा था, 'गोर्की से आप प्रचार का काम क्यों नहीं लेते?' लेनिन ने जवाब दिया, 'गोर्की जो साहित्य-रचना करते हैं, वही हमारे लिए सबसे बड़ा प्रचार है।' महात्मा गांधी भी साहित्यिकों का सदैव सम्मान करते थे।"

यहां भी कभी-न-कभी साहित्यिकों का भाग्योदय होगा। बुंदेलखण्ड की कुछ संस्थाओं में व्यासजी के नाम पर उनके चित्रों के अनावरण-संस्कार किये गए हैं। दादाजी ने मेरी 'मंगल प्रभात' पुस्तक की भूमिका में लिखा है :

"बड़ी-बड़ी योजनाएं बनाने के बजाय हम छोटे-छोटे काम अपने हाथ में लेकर उन्हें निपटते चलें तो हमारा आगे का मार्ग स्वयं ही स्पष्ट हो जावेगा। उदाहरण के लिए बुंदेलखण्डी साहित्यिक यदि मुंशी अजमेरीजी, चतुरेशजी, घासीरामजी, व्यास जी, रसिकेन्द्रजी, शीलजी, तथा मधुजी इत्यादि की स्मृति को ताजा बनाये रखने के लिए कुछ प्रयत्न करें तो उस जनपद में उत्साह की लहर फैल सकती है।"

दादाजी की इस ७८वीं वर्ष गांठ पर हमारी प्रभु से प्रार्थना है कि वह उन्हें राष्ट्र-निर्माण एवं राष्ट्र-भाषा-निर्माण के लिए शतंजीवी करें।

जनं-जनं प्रीणयतु प्रकृत्या,
दिशं दिशं जागरयत्वयं च।
दिनं-दिनं देवयतु स्वद्युत्या,
बनारसीदास इदं भुवः स्थलम्॥●

खंड : दो

●

अपनी कहानी : स्वयं की जबानी

●

इस खण्ड में चतुर्वेदीजी द्वारा तैयार की गई आत्म-चरितात्मक सामग्री दी गयी है। यह सामग्री जहां उनके जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालती है, वहां यह भी बताती है कि चतुर्वेदीजी का जीवन कितना संघर्षमय रहा है। पूरी सामग्री सुपाठ्य तथा प्रामाणिक तो है ही, प्रेरणादायक भी है।

आत्मचरित-लेखन की कठिनाइयां

कुछ वर्ष पहले अनेक मित्रों के आग्रह से मैंने आत्मचरित लिखना शुरू कर दिया था। लेकिन मैंने देखा कि यह काम बड़ा मुश्किल है। मैंने फलां सन-संवत में परीक्षा पास की, ये-ये किताबें लिखीं, इन-इन महापुरुषों के दर्शन किये, यहां-यहां की यात्राएं कीं, ये सब बातें तो आसानी से लिखी जा सकती हैं, लेकिन हृदय की भीतरी बातों का चित्रण करना सरल कार्य नहीं। हमारे मन में जो भावनाएं क्षण-प्रतिक्षण उठा करती हैं, उनका हूबहू वर्णन कर देना एक बड़े कलाकार का ही काम है। आत्मचरित लिखना मानो जीवित अवस्था में ही अपना पोस्ट-मार्टम कर देना है। हिंदी-जगत में केवल एक ही व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जिन्होंने इस कठोर परीक्षा में अपने को उत्तीर्ण किया; वे थे कविवर बनारसीदास जैन। उनका आत्मचरित 'अर्द्धकथानक' अब भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है, यद्यपि उसको लिखे सवा तीन सौ बरस से ऊपर हो गए। बाबू श्यामसुन्दर-दास, श्री वियोगी हरि, हरिभाऊजी उपाध्याय, श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, श्री गुलाबराय इत्यादि के आत्मचरित काफी अच्छे हैं, पर वे आधुनिक तराजू पर हलके ही साबित होंगे। फ्रॉयड और हैवलॉक ऐलिस जैसे मनीषियों ने जो मनोवैज्ञानिक और सेक्स सम्बन्धी खोजें की हैं और जनता के सामने जो तथ्य रखे हैं, उनको देखते हुए ये आत्मचरित निर्जीव और फीके ही मालूम होंगे। बात दरअसल यह है कि न तो आत्म-चरित लिखने वालों में इतनी हिम्मत है कि वे निर्भयतापूर्वक आत्मविश्लेषण कर सकें और न साधारण पाठकों की रुचि ही इतनी परिष्कृत हो पाई है कि वे नग्न सत्य का स्वागत कर सकें। बाह्य शिष्टाचार के कारण लोग सच्ची बातें कहने में और सुनने में भी हिचकते हैं। हिन्दी के एक कवि ने यह कहा अवश्य था :

मोसम कौन अधम खल कामी।
विषयन को धायो जैसे सूकर ग्रामी।

पर उन्होंने इस प्रकार का कोई आत्मचरित नहीं छोड़ा। हिन्दी जगत में सबसे पहले कविवर बनासीदास जैन ने ही यह हिम्मत की थी। रूसो से डेढ़ सौ बरस पहले उन्होंने अपने आत्मचरित में अपनी चारित्रिक त्रुटियों का खुल्लमखुल्ला वर्णन किया था। उनके बाद, जहां तक मैं जानता हूं, स्वामी श्रद्धानंद ने अपने आत्म-चरित 'कल्याण पथ के पथिक' में यह साहस दिखलाया। कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन भी कम रंगीन नहीं था, पर वे भी उस पर कुछ प्रकाश नहीं डाल सके। महात्मा गांधी ने गुजराती में अपनी प्रारम्भिक त्रुटियों का अच्छा-खासा वर्णन किया है। मेरा ख्याल है कि लोग इस बात से डरते हैं कि हमारे सत्य कहने से कहीं दूसरों को बुरा न मालूम हो! कहीं हमारे घर वाले या निकट सम्बन्धी हमारी कमजोरियों का हाल पढ़कर नाक-भौं न सिकोड़ने लगें! और फिर कुछ त्रुटियां ऐसी भी होती हैं, जिनमें अपनी ही नहीं, दूसरे की भी इज्जत का सवाल आता है और तब संकोचवश या शिष्टाचार के ख्याल से आदमी को चुप रह

जाना पड़ता है। जीवनचरितों के विषय में भी यही बात चरितार्थ होती है। चरित-लेखक अपने नायक को सर्वोत्तम रूप में चित्रित करना चाहते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि तस्वीर के दो पहलू होते हैं––प्रकाश भाग और छाया भाग; और दोनों के मिश्रण से ही चित्र बनता है। बहुत से कुरूप वर, वधू के घरवालों को भेजने के लिए, फोटोग्राफर को रिश्वत देकर अच्छी तस्वीर खिंचवा लेते हैं। लेकिन विवाह के समय उनकी पोल खुल जाती है। इसी प्रकार वे जीवनचरित भी, जिनमें केवल गुणों का ही वर्णन होता है और दुर्गुणों पर पर्दा डाल दिया जाता है, नितान्त अफसल होते हैं। सच्चे समालोचक उनको तीन कौड़ी को भी नहीं पूछते!

यह मैं मानता हूं कि दूसरे प्रकार के भी आत्मचरित होते हैं, जिनमें देश की तत्कालीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में अपने चरित्र का चित्रण किया जाता है। प्रिंस क्रॉपॉटकिन, श्रद्धेय बाबू राजेन्द्रप्रसाद और हमारे प्रधान मंत्री पं० जवाहरलालजी के जीवनचरित उसी कोटि में आते हैं। निस्संदेह ये तीनों अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, पर साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जिस प्रकार के आत्मचरित की हम प्रतीक्षा कर रहे हैं, वह हिन्दी में तो अभी तक लिखा ही नहीं गया। यदि निरालाजी चाहते तो उस पथ पर कुछ दूर तक आगे चल सकते थे, पर अपनी विकट परिस्थितियों के कारण अपने अंतिम दिनों में वे अपना संतुलन ही खो बैठे थे और इस वजह से आत्मचरित लिखने का कार्य वह हाथ में ले नहीं सकते थे।

हां, पत्रों और कविताओं के कुछ अंशों में आदमी अपने मन की बात कभी-कभी कह बैठता है। कविवर रत्नाकरजी ने एक कवित्त में कहा था :

> **कामना विहीन कबौं नाम ना तिहारो लेत,**
> **बाम धन धाम ही की चेत चित ठाई है।**
> **कहै रत्नाकर बिलासन की आस हियै**
> **रहत हुलासन की हौंस हुमसाई है॥**
> **कामी क्रूर कुटिल कुमारग में गामी इमि**
> **आजहू न नैक बिसै बासना सिराई है।**
> **चाहैं वहै धाम जहां गनिका सिधाई,**
> **जऊ पास में दाम कछु सुकृत कमाई है॥**

दुख की वात है कि कविवर रत्नाकरजी ने भी कोई आत्मचरित नहीं लिखा। स्व० राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायणजी मिश्र ने भी आत्मचरित लिखने शुरू किये थे, पर बिलकुल बीच में ही––बल्कि प्रारम्भ में ही––छोड़ दिये। विलायत में तो वेश्याओं ने, चोरों और डकैतों ने भी, आत्मचरित लिखे हैं। हमारे यहां यहां तक नौबत नहीं पहुंची। हिन्दी के आधुनिक आत्मचरितों में अमरशहीद रामप्रसाद 'बिस्मिल' का आत्मचरित सर्वश्रेष्ठ माना जायगा, जिसे उन्होंने फांसी के तीन दिन पहले पूरा किया था। शचींद्र सान्याल का 'बंदी जीवन' भी उसी कोटि का है। एक बार मैंने द्विवेदीजी से यह प्रार्थना की थी कि वे अपना आत्मचरित लिख दें, पर उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया था। वे हिन्दीवालों से बहुत निराश हो चुके थे। जिस समय काशी में उनका अभिनंदन किया गया था, उन्होंने आत्मचरित की झलक अपने भाषण में दिखलायी थी और यदि वे लिखते तो हिन्दी का वह एक अच्छा आत्मचरित होता। उन्होंने अपने भाषण में यह जिक्र किया था कि उन्होंने 'सुहागरात' नामक एक कविता-पुस्तक लिखी थी, जिसे उन्होंने अपनी पत्नी के विरोध के कारण नहीं छपने दिया। इस बीच बाबा पृथ्वीसिंह 'आजाद' का महत्वपूर्ण ग्रंथ 'क्रांति पथ का पथिक' प्रकाशित हुआ है, जो अपने ढंग का निराला ही है।

साहित्य में आत्मकथाओं की कमी के और भी कई कारण हो सकते हैं। सचाई को छिपाने की प्रवृत्ति ही एकमात्र कारण नहीं, हमारे यहां पूर्वजों ने कहा है--"आत्मानम् विद्धि' यानी 'आप अपने को पहचानो।' लेकिन यह सबसे कठिन काम है । सो पहले तो अपने-आपको पहचानना ही बहुत मुश्किल है और फिर आत्मविश्लेषण और भी मुश्किल है और सबसे अधिक कठिन कार्य है आत्मा की चीर-फाड़। कोई फक्कड़ आदमी ही, जिसे दुनिया की प्रशंसा या निन्दा की कोई परवाह न हो, इस काम को कर सकता है। हिन्दी-जगत अब भी ऐसे आदमी की प्रतीक्षा कर रहा है। अभी शताब्दी के पूरे होने में ३१ बरस बाकी हैं, शायद इस बीच हिन्दी में कोई ऐसा आत्मचरित निकल जाय जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिपूर्ण हो और जिसमें सत्य के साथ कंजूसी न की गई हो। इस ग्रंथ में मुझे जो आत्मचरितात्मक लेख देने पड़े हैं, उनके लिए भाई चन्द्रगुप्तजी विद्यालंकार अपराधी हैं ! और उनके सिवाय श्री रतनलालजी बंसल भी, जिनके सुपुर्द यह विभाग किया गया था, पर जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सके ! इस कारण मजबूरन मुझे ही कुछ सामग्री तैयार करनी पड़ी।

हिंदी के सुयोग्य लेखक श्री जगदीशचंद्र माथुर आई० सी० एस० का भी यह आग्रह रहा है कि मैं अपने संस्मरण लिपिबद्ध कर दूं।

हैवलॉक एलिस का कथन है कि बहुत से व्यक्ति चंद्रमा की तरह अपने चरित्र का उज्ज्वल भाग ही दुनिया के सामने पेश करते हैं, छाया भाग को छिपाये रखते हैं।

निस्संदेह यह एतराज मेरी इस सामग्री पर भी किया जा सकता है, पर मैं अपने पाठकों को यकीन दिला सकता हूं कि यदि भविष्य में मुझे आत्मचरित लिखना पड़ा तो मैं शायद उपयुक्त साहस का परिचय दे सकूंगा। अपने अभिनंदन के अवसर पर अपनी चारित्रिक चीर-फाड़ करना ठीक न होगा। फिर भी एक कवि के शब्दों में इतना तो कह ही सकता हूं :

दोस्त मेरा मुंह न देखें उनको गर मालूम हो,
उनसे क्या कहता रहा और आप क्या करता रहा !

मेरे पूज्य माता-पिता

•

"कक्का, तुम वु बात सुनाओ, जब तुम हमारी ननसार को पैदर ही गए।"

यह प्रश्न हमने अपने पूज्य पिताजी से न जाने कितनी बार पूछा होगा ! और उन्होंने बिना धैर्य खोए बार-बार उस मनोरंजक यात्रा का विवरण हमें सुनाया था।

कोई ७५ बरस पहले की बात है। हमारी ननसाल मैनपुरी में कोई विवाह होने वाला था और उस कुटुम्ब के जामाता होने के कारण कक्का के नाम निमन्त्रण आया था। मैनपुरी फीरोजाबाद से ४२ मील दूर है। उन दिनों वहाँ के लिए रेल नहीं निकली थी। इक्के और बैलगाड़ियों से ही काम चलाना

पड़ता था। कक्का उन दिनों ८-१० रुपये महीने पाते थे और उनके पास इतना पैसा खर्च करने के लिए नहीं था कि वह बैलगाड़ी में जा सकते। इसलिए वह वहां पैदल ही गये। कक्का कहते थे, "सबेरे चार बजे उठकर कुछ पराठे और कसार साथ में लेकर हम चल दिये और शाम को ७ बजे मैनपुरी जा पहुँचे।" हम पूछते, "कक्का, २१ कोस तो बहुत दूर है!"

कक्का जवाब देते, "घोड़न कौं घर कित्ती दूर! पैर मजबूत होने चाहिए और देह में राम, फिर आदमी इक्कीस कोस क्या, पचास कोस भी पैदल जा सकता है!"

कक्का काफी व्यवहार-कुशल थे। मैनपुरी के निकट एक मील पहुंचने पर किसी कुएं पर उन्होंने हाथ-मुह धोया और मैनपुरी के गंज से दो पैसे का इक्का किया और जमाई साहब ससुराल में इक्के पर धड़धड़ाते हुए जा पहुंचे! हम लोग इस इक्के वाली बात पर बहुत हँसते, पर कक्का को इस बात से सन्तोष था कि उन्होंने रुपया-सवा रुपया किराये का बचा लिया और अपने गौरव की भी रक्षा कर ली। हम लोग फिर पूछते, "कक्का, तुम थके नहीं?" वह जवाब देते--"हमने बरातियों को भोजन कराया और सबके अन्त में स्वयं भोजन किया और किसी को भी यह मालूम नहीं होने दिया कि हम इक्कीस कोस पैदल चलकर आये हैं!"

यह घटना हमारे पूज्य पिताजी के चरित्र पर और उनके संघर्षमय जीवन पर भी अच्छा प्रकाश डालती है। दरअसल उनकी सारी जिन्दगी संघर्ष करते हुए ही बीती।

गदर के आस-पास की बात है। मथुरा के चूना-कंकड़ मुहल्ले में लछमनदास नामक एक चौबेजी रहा करते थे। वह बजाजी करते थे। गजी-गाढ़े की दूकान थी और आस-पास बसे हुए कोरी लोगों से कपड़ा खरीदते और बेचते थे। उनके दो पुत्र हुए--सकटूराम और गणेशीलाल और एक पुत्री। सकटूराम का विवाह उन्होंने बाल्यावस्था में ही कर दिया था; पर दुर्भाग्यवश वह बालक थोड़े दिनों बाद ही स्वर्गवासी हो गया। इस दुर्घटना से लछमनदास इतने दुखित हुए कि उनका भी प्राणान्त हो गया। उनकी पत्नी पहले ही चल बसी थीं। इस प्रकार गणेशीलाल और उनकी बहन, जो आठ-दस साल की थीं, दोनों बिल्कुल अनाथ हो गये। फिर उनके बहनोई उन्हें और उनकी बहन को फीरोजाबाद ले आये। फीरोजाबाद में ही बहनोई निहालचन्द तथा उनके बड़े भाई जमनादास ने उनका पालन-पोषण किया था। वहीं पर वह बड़े हुए, हिंदी मिडिल की परीक्षा पास की, वहीं से उनका विवाह हुआ और वहीं आगे चलकर हम सबका जन्म हुआ। कक्का जमनादास के गुण गाते-गाते अघाते नहीं थे। प्रबन्ध-शक्ति और किफायतसारी उन्होंने जमनादास से ही सीखी थी।

कक्का से एक बार मैंने कहा, "कक्का, तुम अपना हाल बोलि कें लिखाय देउ।"

कक्का ने पूछा, "बा से का मतलब निकरैगौ?"

मैंने कहा, "बात जि है कि तुमारे गुरु पं० जयरामजी को हाल छपावेंगे, सो तुमारे बिना कौन बताइ सकतु है।"

कक्का बड़े गुरुभक्त थे। पं० जयरामजी का नाम वह बड़ी श्रद्धा के साथ लेते थे और उनके गुणों का वर्णन करते हुए हर्षातिरेक से उनकी आंखें सजल हो जाती थीं। अपने गुरु के प्रति श्रद्धा प्रकट करने का कोई भी मौका वह हाथ से नहीं जाने देना चाहते थे और शायद इसीलिए उन्होंने अपना भी कुछ हाल लिखाना स्वीकार कर लिया था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पं० श्रीधर पाठकजी भी इन्हीं पं० जयरामजी के शिष्य थे।

जब गदर हुआ तब कक्का पांच बरस के थे, पर गदर की कोई बात उन्हें याद नहीं रही थी। चूंकि कक्का अनाथ अवस्था में फीरोजाबाद आये थे, इसलिए कुछ नासमझ आदमी उन्हें कमबख्त कहा करते थे। कक्का कहते थे, “कमबख्त तो हम थे ही, क्योंकि हमारे माता-पिता दोनों मर चुके थे, फिर भी यह शब्द हमें गाली के समान लगता था।”

सन १८५२ से लेकर २४ दिसम्बर सन १९४४ तक का कक्का का ९३ वर्षीय जीवन अत्यन्त संघर्षमय रहा। सन १८७५ में वह मुदर्रिस हुए थे और पूरे पचास वर्ष उन्होंने ग्राम स्कूलों की मुदर्रिसी की थी। प्रारम्भ में उनका वेतन छह रुपये मासिक था और अन्त में बढ़ते-बढ़ते वह पच्चीस-तीस तक पहुंच गया था; लेकिन ये पच्चीस-तीस रुपये उन्हें सिर्फ पांच वर्ष तक ही मिले थे। ज्यादातर वह दस-बारह रुपये महीने ही पाते रहे। कक्का बड़े किफायतशार थे। उन दिनों में भी, जब गेहूं २०-२५ सेर बिकते थे, कक्का बेझर (जौ और चना का मिश्रण) ही खाते थे। वह कहा करते थे, “खाएगा चना तो रहेगा बना। खाएगा गेहूं तो जाएगा कैहूँ।” उनका अभिप्राय यही था कि जो आदमी अपने जीवन-स्तर को बढ़ावेगा, उसे नौकरी करने के लिए घर से दूर जाना पड़ेगा। कक्का ने आगरे जिले की भिन्न-भिन्न तहसीलों में काम किया था। शमशाबाद में वह पन्द्रह बरस रहे थे और वहां उन्होंने छात्रों को तथा छात्रों के लड़कों को भी पढ़ाया था। जगनेर में वह आठ वर्ष रहे थे। हमारे तीस रुपये महीने पर नौकर हो जाने के बाद भी कक्का साल में एक बार अपने शिष्यों के पास चक्कर लगा आते थे और उनसे दस-बारह रुपये भेंट में वसूल कर लाते थे! हमें इससे बुरा मालूम होता था, पर कक्का कहते, “अगर कोई चेला श्रद्धापूर्वक कुछ भेंट करता है तो उसे लेने में बुराई क्या है?”

उन दिनों ग्रामों में एक अच्छी प्रथा थी। लड़के बारी-बारी से सेर भर आटा, आध पाव दाल, थोड़ा-सा नमक और कुछ घी अपने पण्डितजी को हर रोज भेंट किया करते थे। कक्का उसी से अपनी गुजर-बसर कर लेते थे और पूरी-की-पूरी तनख्वा अपने बहनोई को भेज देते थे। हां, आगे चलकर वह एक-दो रुपये महीने बचा भी लेते थे। ओलम (वर्णमाला) पढ़ लेने के बाद प्रत्येक विद्यार्थी अठन्नी या एक रुपया अध्यापक को भेंट करता था। इस तरह कक्का ने शायद दो सौ रुपये जमा कर लिये थे। उन दिनों उनके एक नायब मुदर्रिस ने उन पर एक झूठा मुकदमा दायर कर दिया था। कक्का को वकील करने और मुकदमा लड़ने में काफी पैसा खर्च करना पड़ा, पर वह साफ छूट गये थे। कक्का की किफायतशारी यद्यपि हद तक पहुंची हुई थी, फिर भी मौका पड़ने पर वह बड़ी उदारता पूर्वक खूब खर्च भी कर देते थे। प्रबन्धकर्ता वे अव्वल नम्बर के थे। वेतन बहुत कम होने पर भी हमारे घर में कभी किसी चीज की कमी नहीं रहती थी। पानी पीने के बर्तन हमेशा स्वच्छ रहते थे। जाड़े के कपड़े पहले से बनवा देते थे, ताकि दर्जी को अधिक पैसे न देने पड़ें और एक पसन्ना (मिट्टी का एक बर्तन) भरा हुआ घी बराबर घर में मौजूद रहता था। पन्द्रह-पन्द्रह बरस तक यद्यपि उन्होंने स्वयं घी का स्वाद नहीं जाना——रूखी रोटी ही खाई——लेकिन हम लोगों को किसी चीज की कमी महसूस नहीं होने दी। आगरा हमारे यहां से अट्ठाईस मील दूर है। जब मैं मैट्रिक का इम्तिहान देने वाला था, कक्का अट्ठाईस मील पैदल चलकर ग्यारह रुपये फीस देने के लिए आगरे पहुंचे थे! वह दिन भर पैदल चलकर रात को बेलनगंज में ठहर गये और फिर सबेरे तीन मील चलकर जब चार बजे ‘चौबे बोर्डिंग हाउस’ पहुंचे तो उस समय उन्होंने मुझे कड़वे तेल के दीपक की रोशनी में पढ़ते हुए पाया था! इस बात से वह बहुत प्रसन्न हुए कि मैं प्रातःकाल उठकर पढ़ रहा था। उन दिनों ग्यारह रुपये भेजने में शायद मनीआर्डर की फीस दो आने ही लगती थी, पर कक्का भला दो

आने क्यों खर्च करने लगे? मैंने उन्हें देखा था कि बाहर यदि कहीं चिकनी मिट्टी का ढेला पड़ा होता तो वह उसे उठाकर घर ले आते। वह अक्सर कहते थे :

सकल वस्तु संग्रह करै, आवै कोउ दिन काम।
बखत पड़े पै न मिलै, माटी खरचे दाम।।

फिजूलखर्ची से कक्का को सख्त नफरत थी। अगर गेहूं के चार दाने भी घर में पड़े हुए दीख पड़ते तो वह बहुत नाराज होते। चूंकि उनकी आवाज बहुत बुलन्द थी, इसलिए वह दूर-दूर तक पहुंच जाती थी। कभी-कभी तो बाहर वालों को यह भ्रम हो जाता था कि इस घर में कोई लड़ाई-झगड़ा हो रहा है। कक्का का तकिया कलाम था, 'का नाम जो है सो' और जब वह नाराज होते थे तो इन शब्दों का बार-बार प्रयोग करते थे। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि हम सब अत्यन्त निर्धन थे। विवाह के बाद भी निर्धनता इतनी अधिक थी कि न तो कक्का के पास और न माताजी के पास ही जाड़े के पर्याप्त कपड़े थे। पर बहू के लिए और बच्चों के लिए भी उन्होंने पूरे-पूरे कपड़े बनवा दिए थे। घर में एक चद्दर थी, जिसे बाहर जाते समय कभी हमारी मां, तो कभी हमारी काकी ओढ़ लिया करती थीं। जब मैं मैट्रिक तथा एफ० ए० की पढ़ाई के लिए आगरे गया तो ग्यारह रुपये महीने मेरे मौसा श्रीचोखेलालजी ने चार वर्ष तक भेजे थे। यदि मौसाजी इतनी उदारता न दिखलाते तो मुझे अंग्रेजी मिडिल पास करके ही रेल की कोई नौकरी करनी पड़ती! उनके ऋण से मैं जन्म-जन्मान्तर में भी उऋण नहीं हो सकता।

कक्का ने १९३० या ३१ में काम करना छोड़ दिया था और तब तक वह पूरे पचपन बरस अध्यापन-कार्य कर चुके थे, फिर भी उन्होंने परिश्रम करना नहीं छोड़ा और अपने जीवन के एक महीने पूर्व तक वह बराबर शारीरिक श्रम करते रहे। रात को वे गिर पड़े थे और इस कारण उन्हें मजबूरन खाट पर लेटना पड़ा। सन १८७५ से, जब वह ग्राम स्कूल में अध्यापक हुए थे, लगाकर १९४४ तक यानी पूरे ६९ वर्ष उन्होंने घर का सम्पूर्ण काम संभाला और मुझे सारी जिम्मेदारियों से मुक्त रक्खा। जब कक्का का स्वर्गवास हुआ, मैं ५२ वर्ष का हो चुका था और तब तक मैं घरेलू प्रबन्ध का 'क ख ग' तो क्या, 'अ आ इ ई' भी नहीं जानता था! पिता का दीर्घजीवी होना किसी भी पुत्र के लिए सबसे बड़ी नियामत है।

कक्का ने ९३ वर्ष की उम्र पाई और अन्त तक वह पैदल चलते रहे और उनका हाजमा दुरुस्त रहा। वह कभी कब्ज नहीं होने देते थे। कक्का की भूख बहुत अच्छी थी, पर वह भोजनभट्ट नहीं थे। उनकी भूख एक परिश्रमी मजदूर की भूख थी। अपने जीवन में वह कम-से-कम डेढ़-दो लाख मील पैदल चले होंगे! जैसा कि प्रायः होता है, दीर्घजीवी आदमी के जीवन में अनेक दुर्घटनाएं घट जाती हैं और कक्का पर तो कई वज्रपात ही हुए। मेरी छोटी बहन का स्वर्गवास हो गया, दूसरी बहन विधवा हो गई, मेरी पत्नी चल बसी और सबसे भयंकर दुर्घटना यह हुई कि मेरे छोटे भाई रामनारायण का देहान्त २८ बरस की उम्र में हो गया था, जबकि कक्का लगभग ८० बरस के थे। कक्का ने इन महान दुःखों को बड़े धैर्य के साथ सहा। उस समय उन्होंने जो पत्र मुझे लिखा था, उसे ज्यों-का-त्यों यहां उद्धृत किया जाता है :

"श्रीराम"

ता० ८-१०-३६

यहां सब कुशल है।

श्रीपत्री चि० बनारसी चिट्ठी मेरी बहुत पहुंची। तुमने इस मुसीबत की हालत में कुछ नसीहत सीखी होगी, आशा है कि, तुम मेरी बातों से अक्सर सीखा करते हो और अमल भी करते हो और हम

अपने निश्चय से, दृढ़ विश्वास से हटते नहीं हैं कि उसके उपकारों का अन्त नहीं है । कहा है अखीर वक्त पर औषधी जानवी तोयं वैद्यो नारायणो हरी––उस पर विश्वास रखना, हर हालत में उसी को पहले सुमिर कर काम करना चाहिए। वह अन्तरयामी है। अपना किया कुछ नहीं होता है । देख लिया आंखों से। किसी ने कहा कि खुदा खैर करे अब भी छिन में कुछ से कुछ होता है। अपना तो खाली विचार है। तभी तो कहा है, 'अपनी बनाई कछू न बनै बनिहै प्रभु मेरे तुमारी बनाई।' बस यही निश्चय रखो, कोई अखबार सहज भाषा का छोटा-सा ज्ञान देने वाला हो तो अच्छा हो। रामायण अच्छे छापे की अर्थसमेत तुम्हारी मां के पास थी। ब्रजविलाश खासकर बच्चों को लाना। मानी बहुत अच्छा लगाती थी। समय-समय का। रामायण घर में मौजूद है माता की। लिखो तो तुम्हारे ही कहने से देखा करे, अच्छा है। दुनिया उम्मीद पर कायम है। निराशा बुरी होती है। कहा है 'रीते भरै, भरै ढरकावें, महर करै तो फेरि भरै।' वह सर्वशक्तिमान है।"

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह पत्र उस वज्रपात के तीसरे दिन लिखा गया था !

कक्का मेरे साथ साबरमती आश्रम में रहे थे और महात्माजी के अनन्य भक्त थे। जब वह बहुत बीमार हुए तो मैंने उनसे कहा, "बापू को कुछ लिखाना है?" तो उन्होंने कहा, "लिख दो कि आप खूब खुश रहें और तन्दुरुस्त रहें और आपकी मनोकामना पूर्ण हो।" कक्का के स्वर्गवास के बाद बापू ने मेरे नाम यह पत्र भेजा था :

सेवाग्राम २७-१२-४४

भाई बनारसीदास

पिताजी के स्वर्गवास से कुछ दुःख होना स्वाभाविक है, लेकिन क्षण भर विचार करें तो हमें पता चलता है कि जो बिलकुल अनिवार्य है उसका खेद क्या? और मरता है कौन? जीव तो हरगिज नहीं, जिसके साथ हमारा सम्बन्ध था और है और रहेगा। पिताजी के अन्तिम बचन मुझे बहुत मीठे लगते हैं। मैं उसे आशीर्वाद रूप से मानूंगा।

बापू के आशीर्वाद

पूज्य माताजी के विषय में अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं । वह रामायण की बड़ी प्रेमी थीं और उन्होंने इक्कीस बार सम्पूर्ण रामायण का पाठ किया था! हमारी नानी भी रामायण की भक्त थीं, और उनके भाई रामायण के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। माताजी का अधिकांश जीवन गरीबी में ही बीता। वह बड़े मधुर स्वभाव की थीं और रामायण ने उनके जीवन को अत्यन्त सुसंस्कृत बना दिया था। चूंकि हमारी ननसाल में वैद्यक होती थी, इसलिए माताजी भी छोटी-मोटी औषधियां जानती थीं, और मुहल्ले की स्त्रियों को खांसी इत्यादि की दवाई दिया करती थीं। अनेक स्त्रियों में दूसरों की निन्दा या चबाव-चर्चा करने का दुर्गुण होता है, पर वह उससे सर्वथा मुक्त थीं। एक बार किसी स्त्री ने किसी की लड़की की चरित्रहीनता की चर्चा की। माताजी ने उन्हें बहुत फटकारा और कहा, "अगर किसी से गलती बन जाय तो उसको छिपाना चाहिए, न कि उसकी चर्चा या प्रचार।"

अम्मा ने जीवनभर प्रायः कष्ट ही पाये, लेकिन उन्होंने बराबर संतोष से काम लिया। मेरे नौकर हो जाने पर उनको कुछ आर्थिक सुविधा हो गई थी। जब मैं नियमित रूप से घर पर दस बारह रुपये महीने भेजने लगा––उन दिनों मुझे तीस रुपये ही मिलते थे––तो उसका प्रभाव माताजी पर काफी पड़ा। फिर

कुछ पैसा उनके हाथ में भी रहने लगा और कभी-कभी तो वह पिताजी को भी पैसा देने से इन्कार कर देती थीं ! कक्का गर्मियों के दिनों में लकड़ियों के बोझ-के-बोझ, जो दो-दो, ढाई-ढाई आने में मिलते थे, बाजार से ले आते थे, और छतों पर लकड़ियों के ढेर-के-ढेर जमा हो जाते । अम्मा ऐसे मौकों पर पैसा नहीं देती थीं । उनका कहना था कि और कामों के लिए भी तो पैसा चाहिए कि सबका सब लकड़ियों पर ही खर्च कर दोगे ! जब कि दूसरे घरों में बरसात के दिनों में गीली लकड़ियों को जलाते हुए स्त्रियों को तंग होना पड़ता था, हमारे यहां सूखी लकड़ियों का प्रबन्ध था। अम्मा को रामायण कण्ठस्थ थी और उसका प्रयोग भी वह बड़ी खूबी से करती थीं । जब मैं मन्दाग्नि से पीड़ित हो मरणासन्न हो गया तो हमारी ननसाल के राजवैद्य हकीम बाबूरामजी, जो अम्मा के भतीजे होते थे, मैनपुरी से पधारे और उन्होंने मुझे स्वस्थ करके मेरे जीवन की रक्षा की । जब वे चलने लगे तो माताजी ने रामायण की चौपाई का वह अंश उद्धृत किया जिसे भगवान राम ने हनुमानजी से कहा था, "नांहि न तात ! उऋण मैं तोही ।" कक्का और अम्मा का एक मधुर मजाक अभी हमारी बहन ने सुनाया था। जाड़े के कपड़े न पिताजी के पास थे, न माताजी के। कक्का ने मजाक़ में कहा, "तमाखू खान वारेन कों जाड़ो थोरे ही लगतु है ।" अम्मा ने जवाब दिया, "जाड़ो तो तन्दुरुस्त आदमी को नांय लगै।" कक्का स्वास्थ्य का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। यही कारण है कि उन्होंने इतनी लम्बी उम्र पाई। माताजी का मुझ पर बड़ा स्नेह था और वह अक्सर कहा करती थीं, "जो इच्छा तुम करोगे वह पूरी होगी।" और पूज्य पिताजी भी कहते थे, "जो इच्छा करिहौ मनमाहीं, राम कृपा कछु दुर्लभ नाहीं।" माता-पिता का यह आशीर्वाद ही मेरे क्षुद्र जीवन का सबसे बड़ा सहारा रहा है । ●

मेरा विद्यार्थी-जीवन

मेरे विद्यार्थी-जीवन का प्रारम्भ सन १९०० में हुआ और अन्त मार्च सन १९१३ में। छः बरस हिन्दी मिडिल पास करने में लगे और फिर सात वर्ष अंग्रेजी की इण्टर परीक्षा उत्तीर्ण होने में। गरीबी के कारण मैं बी० ए० क्लास में दाखिल ही नहीं हो सका।

पिताजी का वेतन उस समय बारह रुपये महीने था और हम लोग घर में आठ प्राणी थे। माता, पिता, हम चार भाई-बहन, हमारी ताई और बुआ की लड़की। मेरा विवाह सन १९०९ में हो गया था, लेकिन गौना १९१२ में हुआ। इस प्रकार घर में नवें प्राणी का प्रवेश हुआ। बारह रुपये महीने में इतने जीवों की भोजन-व्यवस्था ही अत्यन्त कठिन थी, फिर भला उच्च कक्षाओं में मेरी पढ़ाई कैसे हो सकती थी ? दरअसल यदि मेरे मौसा श्री चोखेलालजी ने चार वर्ष तक—१९०९ से लेकर १९१३ तक—ग्यारह रुपये महीने न दिये होते, तो मैं इतना भी न पढ़ सकता। उनके ऋण से मैं कदापि उऋण नहीं हो सकता। उन दिनों मैट्रिक तथा इण्टर की पढ़ाई के लिए आगरे जाना होता था। वहां पर राजा श्री जयकृष्णदासजी का बनवाया हुआ एक छात्रालय था, जिसे 'चौबे बोर्डिंग हाउस' कहते थे, पर जिसका वास्तविक नाम था—'पाठक वृन्दावन वैदिक आश्रम'। लोग राजासाहब का नाम भूलते जा रहे हैं। ये वही राजासाहब थे,

जिन्होंने स्वामी दयानन्दजी के 'सत्यार्थ-प्रकाश' का प्रथम संस्करण अपने खर्चे से छपवाया था। उनके पौत्र सर जगदीशप्रसाद आगे चलकर वायसराय की कौंसिल के सदस्य बने। चतुर्वेदी-समाज उनका और उनके कुटुम्ब का अत्यन्त ऋणी है। वह छात्रालय अब भी विद्यमान है और उससे पचासों विद्यार्थियों ने लाभ उठाया है। मुझे उस छात्रालय से पांच रुपये महीने की छात्रवृत्ति भी मिलती थी और आगे चलकर फीस भी आधी हो गई थी। इस प्रकार पूज्य मौसाजी के ग्यारह रुपये महीने की सहायता से मैं अंग्रेजी में एफ० ए० पास हो सका। मौसाजी मुझे बी० ए० की पढ़ाई के लिए भी मदद देने को तैयार थे, पर कक्का के भार को कुछ हल्का करने के लिए मुझे नौकरी करनी पड़ी। ग्रेजुएट बनने की मेरी लालसा मन-की-मन में रह गई। गरीबी का यह अभिशाप आज भी जिन लाखों विद्यार्थियों को मेरी तरह ही उच्च शिक्षा से वंचित रखता है, उनके साथ मेरी हार्दिक सहानुभूति स्वाभाविक ही है। जब हमारे कुटुम्ब में ही पांच बालक और एक बालिका ने एम० ए० की परीक्षा पास कर ली और तीन बहुएं भी एम० ए० पास हैं, और उनकी बुद्धि में मुझे कुछ विशेष वृद्धि नहीं दीख पड़ी, तो मेरी ग्रेजुएट बनने की लालसा बिल्कुल दूर हो गई।

अपने तेरह वर्षीय जीवन की मुझे अनेक मधुर स्मृतियां हैं, जिनमें सबसे अधिक महत्वर्ण हैं—अपने अध्यापकों की। चूंकि मैं एक मुदर्रिस पिता का पुत्र था, इसलिए अध्यापकों का विशेष कृपापात्र बन गया। हिन्दी मिडिल तक पढ़ने में मुझे पं० कुंजीलालजी, पं० बांकेलालजी, और पं० छिगामलजी, इन तीन मास्टरों से पढ़ना पढ़ा, जिनमें पिछले दो हमारी जाति के ही नहीं, हमारे मुहल्ले के भी थे और हमारे कक्का के साथी तथा मित्र भी।

पं० बांकेलालजी को हम लोग 'मरखने पंडितजी' कहा करते थे। स्कूल में सबसे अधिक रुआब उन्हीं का था। आलसी लड़के उनके डर से थर-थर कांपते थे। हम लोग एक लड़के के सुपुर्द यह ड्यूटी कर दिया करते थे कि वह देखता रहे कि मरखने पंडितजी कहां पहुंच गए हैं। रास्ते में चौबे रामलाल की दुकान पड़ती थी और घर से आते वक्त पंडितजी उस दुकान पर पांच मिनट के लिए बैठ जाते थे। बस तभी से क्लास में हम लोगों का ऊधम बन्द हो जाता था और उनके उस दुकान से चलते ही लड़के कहते—"डाकगाड़ी ने टूंडला स्टेशन छोड़ दिया है।" पंडितजी के हाथ में एक लकड़ी रहती थी जिसका प्रयोग वे आवश्यकता के अनुसार निस्संकोच भाव से किया करते थे। वे इस सिद्धान्त के अनुगामी थे कि लड़के की पिटाई न की गई, तो वह बिगड़ जाता है। बात यह थी कि गणित का कठिन विषय उनके सुपुर्द था और उन दिनों गणित को ही सबसे अधिक महत्व दिया जाता था। जो विद्यार्थी गणित में फेल हो जाता, उसे दर्जा ही नहीं चढ़ाया जाता था! इस प्रकार मरखने पंडितजी की जिम्मेदारी सबसे भारी थी और यदि वे कठोर नियंत्रण न रखते तो आगे चलकर हिन्दी मिडिल के अनेक विद्यार्थी फेल हो जाते। उनके विपरीत, उनके ही बड़े भाई पं० छिगामलजी अत्यन्त भोले-भाले और सहृदय व्यक्ति थे और उन्होंने अपनी जिन्दगी में शायद ही किसी विद्यार्थी को कभी पीटा हो।

स्वयं हमारे पिताजी बड़े कठोर शिक्षक थे। यह उन दिनों की बात है, जब कि विद्यार्थियों को बुलाने के लिए शिक्षकों को उनके घर जाना पड़ता था। कोई-कोई नटखट विद्यार्थी तो पेड़ पर चढ़ जाता और उसको वहां से उतारना कोई आसान काम न होता! ग्रामों के विद्यार्थी प्रायः उद्दण्ड होते थे पर कक्का का घूंसा नं० एक खाने वाले छात्र को जन्म भर उसकी याद रहती थी। मुझे सिर्फ एक बार घूंसा नं० दो खाने का मौका मिला, सो इस कारण कि मैंने चक्कू से कक्का की लाठी को छील डाला था। उस नं० दो की याद करके अब भी कंपकंपी आ जाती है। एक बार जब कक्का ने हमारे चिरंजीव गुपलेश को घूंसा नं० दो खिलाया तो

हमारी अम्मा बड़ी नाराज हुईं और कक्का को बड़ी डाट पिलाई । 'तुम ने गंवारन के लड़का पढ़ाये हैं, हमारे लड़कन की ऐसे नहीं पीट पाओगे।" हिन्दी मिडिल मैंने फर्स्ट डिवीजन में पास किया। उसके बाद मैं मिशन स्कूल के छठवें दर्जे में दाखिल हो गया। उन दिनों उसे स्पेशल क्लास कहते थे। अपनी मातृभाषा में सब विषय पढ़ लेने पर आगे चलकर उन्हें अंग्रेजी के द्वारा पढ़ने में बड़ी सुविधा होती थी। स्पेशल क्लास के विद्यार्थी प्रायः अपनी कक्षाओं में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते थे और इसी कारण मैं भी छठे, सातवें तथा आठवें दर्जे में अव्वल रहा। सुना है अब तीसरे दर्जे से ही अंग्रेजी पढ़ाई जायगी और इससे मुझे आश्चर्य तथा खेद भी हुआ। कुछ वर्ष पहले मेरे पौत्र चिरंजीव अपूर्व ने जो उस समय आठ बरस का था, बड़े हाव-भाव के साथ नाटकीय ढंग पर सुनाई :

Some onc came knocking
At my amall door;
Some one came knocking,
I'm sure--sure--sure;
I listened, I opened,
I looked to left and right,
But naught there was a-stirring
In the still dark night,
Only the busy beetle
Tap-tapping in the wall,
Only from the forest
The screech-owl's call,
Only the cricket whistling
While ahe dew-drops fall,
So 1 know not who came knocking
At all, at all, at all.

मैंने जब चि० अपूर्व से पूछा कि तुम्हें रहीम, कबीर या विहारी की कविताएं याद हैं तो उसे रहीम और कबीर के तो सिर्फ तीन-तीन दोहे याद निकले, पर बिहारी का एक भी दोहा नहीं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बिहारी हमारी जाति के ही यानी चौबे थे।

आगरे के विद्यार्थी-जीवन में मुझे रामायण के प्रसिद्ध टीकाकार पं० रामेश्वर भट्ट, हमारे हेडमास्टर सी० ए० डाबसन, पं० किशनलालजी, श्री घीसूलालजी, श्री चन्द्रपुरी गोस्वामी और श्री एकनाथ बनर्जी का विशेष रूप से स्मरण है। श्रद्धेय भट्टजी बड़े मनमौजी व्यक्ति थे और मैं उनका विशेष कृपापात्र था। वे खूब हँसते और हँसाते रहते थे। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, "चौबे, कल तुम रामानन्दी तिलक लगा कर आना।" मैंने निवेदन किया, "मेरा उसमें तो विश्वास ही नहीं है।" पंडितजी ने कहा, "इससे क्या? हमारा आदेश है।" दूसरे दिन रामानन्दी तिलक लगाकर गया तो लड़के खूब हँसने लगे ! इस पर मैंने भट्टजी से शिकायत की तो वे बोले, "देखो, चौब ! अगर तुम पैसा खर्च करके इनको मिठाई खिलाते तो भी तुम्हारे ये साथी इतने खुश न होते। तुमने तो इनको मुफ्त में प्रसन्न कर दिया। यह क्या कम बात है?" पंडितजी

के इस उपदेश का मुझ पर गहरा असर पड़ा और आज अठहत्तर वर्ष में भी मैं पंडितजी के इस नुस्खे का अक्सर प्रयोग किया करता हूं। इस संसार में दुखों और चिन्ताओं का इतना अधिक भाग है कि लोगों को हँसाने वाला व्यक्ति आसानी से लोकप्रियता प्राप्त कर सकता है। अपना मजाक उड़ाना भी एक कला है, जो मुश्किल से सीखी जा सकती है। मैंने उस कला का कुछ अभ्यास किया है और साढ़े चौदह वर्ष तक महाराज ओरछा के यहां मुख्यतया इस कला के बलबूते पर अपनी जीविका चलाता रहा। श्री चन्द्रपुरी गोस्वामीजी की नियमबद्धता, पं० किशनलालजी की हास्यप्रियता और श्री घीसूलालजी की चारित्रिक दृढ़ता का मुझ पर काफी प्रभाव पड़ा था। लेकिन यदि कोई मुझसे पूछे कि तुम्हें अपने जीवन में सर्वश्रेष्ठ शिक्षक कौन मिला तो मैं निस्संकोच कहूंगा हमारे गणित के अध्यापक श्री एकनाथ बनर्जी! पूरे दो साल तक मैं दो-दो पीरियड रोज़ उनसे पढ़ता रहा और मुझे एक भी दिन ऐसा याद नहीं आता, जब उन्होंने किसी भी प्रकार का प्रमाद किया हो या एक भी मिनट का अपव्यय! क्लास में विद्यार्थियों के बैठते ही वे अपना काम शुरू कर देते थे और लगातार डेढ़ घण्टे तक गणित पढ़ाया करते थे। अपने जीवन में सिर्फ एक बार वे कालेज में लेट पहुंचे थे, सो भी तब जब आगरे में भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया था और पुलिस ने उन्हें सीधे कालेज जाने से रोक दिया था। यद्यपि उनके यहां पहुंचने की कोई आवश्यकता नहीं थी, फिर भी वे घूम-फिर कर कालेज पहुंच ही गए। हां इसमें उन्हें २०–२५ मिनट का विलम्ब हो गया। अपने शिक्षक-जीवन में उन्होंने जिस नियमबद्धता और परिश्रमशीलता का परिचय कम-से-कम तीस-पैंतीस बरस तक दिया था, उसका उदाहरण आगरा विश्वविद्यालय में कठिनता से ही मिलेगा। हमारे सहपाठी श्री चम्पारामजी चतुर्वेदी भी बनर्जी साहब की तरह के ही सुयोग्य शिक्षक रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे शिक्षक वन्दनीय हैं और उनका महत्व राजनैतिक नेताओं से कहीं अधिक बढ़कर है।

एफ० ए० के प्रथम वर्ष में मुझे कला-विभाग में अव्वल आने पर प्रथम पुरस्कार महामना मालवीयजी के करकमलों से मिला था। अंग्रेजी के १४३ विद्यार्थियों में मेरे नम्बर सबसे ऊंचे थे और इतिहास तथा संस्कृत में भी मैं प्रथम था। हां, गणित के ४० विद्यार्थियों में मेरा नम्बर तीसरा था। उन दिनों मेरी स्मरण शक्ति इतनी अच्छी थी कि इतिहास के पृष्ठ-के-पृष्ठ मैं याद कर सकता था। द्वितीय वर्ष में उस स्मरण शक्ति का ह्रास हो गया, इसका मुख्य कारण मेरा असंयत जीवन ही था। याददाश्त एक ऐसी मशीन है, जो बड़ी संभाल के साथ ही सुरक्षित रह सकती है। इण्टर की परीक्षा मैं केवल द्वितीय डिवीजन में ही पास कर सका।

मेरा छोटा भाई स्वर्गीय रामनारायण कभी-कभी अभिमान के साथ कहा करता था, ‘हिन्दी तो हमने मां के दूध के साथ पी है।’’ यह बात सोलह आने सच थी। हमारे पिताजी को भी सहस्रों ही सदूक्तियां कंठस्थ थीं, इस कारण मातृभाषा के प्रति रुचि हमें विरासत में मिली थी। जिस दिन पं० रामेश्वर भट्टजी ने निबन्ध में हमें ५ में ४ नम्बर दिये और कहा—‘‘चौबे, तू अच्छा लिख लेता है।’’ उसी दिन संभवतः मेरे लेखक-जीवन का प्रारम्भ हो गया। मेरा प्रथम लेख ‘स्वावलंबन’ काशी के ‘नवजीवन’ में मई-जून सन १९१२ के अंक में छपा था। स्वर्गीय पं० केशवदेवजी शास्त्री उस पत्र के संपादक थे। उस लेख में शब्दाडम्बर की भरमार थी। संस्कृत हम नाम मात्र को ही जानते हैं। वैसे थोड़ी-बहुत संस्कृत हमने सात बरस तक कक्षाओं में पढ़ी थी, पर संस्कृत श्लोकों को उद्धृत करने का मोह हमें प्रारम्भ से ही रहा है। अपने प्रथम लेख में हमने यह श्लोक उद्धृत किया था:

विघ्नैं सहस्र गुणितेरपि हन्यमानाः।
प्रारभ्य चौत्तम जनाः परित्यजन्ति।

संस्कृत के अनेक कठोर शब्दों का प्रयोग उक्त लेख में किया गया था। 'काकतालीय' और 'घुणाक्षर' न्याय उक्त लेख में घुसेड़ दिये गए थे। एक वाक्य सुन लीजिए:

"तात्पर्य यह है कि यदि हम परतन्त्रता की वैतरणी नदी को पार कर स्वतन्त्रता रूपी स्वर्ग-लाभ किया चाहते हैं तो हमें आत्मावलम्ब रूपी गाय की पूंछ पकड़ना चाहिये।"

हमारे सहायक सम्पादक बन्धुवर यशपालजी इस गाय की पूंछ का मौके-बेमौके जिक्र करके हमारा खूब मजाक उड़ाया करते थे और उस पूंछ की वजह से हमें बार-बार लज्जित होना पड़ता था। नतीजा यह हुआ कि उस लेख को हमने आलमारी में छिपा कर रख दिया था और किसी को नहीं पढ़ने देते थे। और उससे भी बढ़कर दिल्लगी और दुर्भाग्य की बात यह थी कि उस मरखनी आत्मावलम्बन रूपी गाय की वह दुष्प्राप्य पूंछ अब भी हमारे हाथ में नहीं आ सकी।

'मर्यादा' के जुलाई सन १९१२ के अंक में प्रकाशित मेरे एक लेख ने सारे क्लास पर संकट ही ला दिया। लेख का शीर्षक था 'औरंगजेब के जीवन पर एक दृष्टि'। उन दिनों प्रोफेसर ईश्वरीप्रसादजी हमारे यहां आगरा कालेज में इतिहास पढ़ाया करते थे और कभी-कभी अनुवाद सिखाने का कार्य भी ले लिया करते थे। औरंगजेब के विषय में एक पुस्तक पढ़ाई जाती थी। उसी के आधार पर लिखकर मैंने वह लेख 'मर्यादा' को भेज दिया और उसके सुयोग्य सम्पादक पं० कृष्णकांतजी मालवीय ने मुझे प्रोत्साहन देने के ख्याल से उसे छाप भी दिया। हमारे किसी साथी ने 'मर्यादा' का वह अंक प्रोफेसर साहब को दिखला दिया। वैसे भी मैं उनका कृपा पात्र था। वे मेरी गरीबी को जानते थे और उन्हें यह भी पता था कि मेरे पूज्य पिताजी एक मामूली मुदर्रिस हैं, इसलिए मेरे साथ उनका व्यवहार बहुत ही सहृदयतापूर्ण था। अपने प्रिय शिष्य की इस करामात पर वे बड़े प्रसन्न हुए, क्लास के सामने मेरी प्रशंसा भी की और उसी लेख का प्रारम्भिक अंश क्लास भर को अनुवाद के लिए बोल दिया। थोड़ी देर में सम्पूर्ण कक्षा निम्नलिखित वाक्य का अनुवाद करती हुई और मुझे कोसती हुई दीख पड़ी:

"जिसने हिन्दू समुदाय के चन्द्र को राहु के समान ग्रस्त कर लिया, जो कंटकाकीर्ण पथ पर दौड़ता ही चला गया, ठोकरें खाने और बहुत हानि उठाने पर भी जिसने अपने मार्ग का त्याग न किया, जिसने नखदन्तयुक्त केसरी को पिंज्जरबद्ध करना चाहा, 'जिसने हरचे बादा बादमा कश्ती दराब अन्दाख्तेम' यह कह कर अपनी नौका समुद्र में छोड़ दी और मार्ग के अवरोधकों की उपेक्षा करता हुआ निज मतानुसार उसे खेता ही चला गया, परन्तु जिसकी नौका दुर्दम-नीति की दामिनी की दमक अविश्वास के मेघ और अत्याचार की झड़ी के कारण नाश के अथाह जल में निमग्न हो गई, पाठक कहेंगे कि वह कौन था? वह था मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब आलमगीर और वही हमारे इस चरित्र का नायक है।"

सच बात तो यह है कि आज ५७ वर्ष बाद भी मैं उपरोक्त वाक्य का सन्तोषजनक अनुवाद नहीं कर सकता! और 'हरचे बादा बादमा कश्ती दराब अन्दाख्तेम' इस पद्यांश में केवल 'कश्ती' शब्द का ही अर्थ समझ पाता हूं। सन्तोष की बात यही है कि 'स्वावलम्बन रूपी गाय की पूंछ' से जो काम न बन सका, वह इस 'कश्ती' ने कर दिया। यद्यपि किसी विषय में मैं पारंगत तो नहीं बन सका, पर साहित्य-सरिता में लस्टम-पस्टम तरीके से अपनी नौका को खेता रहा हूं। 'मर्यादा' की उन दिनों बड़ी धाक थी। 'सरस्वती' के बाद उसी का नम्बर था और उसमें किसी नवयुवक के लेख का प्रकाशित हो जाना निस्सन्देह गौरवजनक था। 'मर्यादा' के बाद तो अन्य पत्रों में लेख छपना और भी सरल हो गया।

उन्हीं दिनों जब मैं नवें या दसवें दर्जे में पढ़ रहा था, मैंने कविवर सत्यनारायणजी के दर्शन किये।

जब महामना मालवीयजी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए चन्दा करने आगरे पधारे थे, उस समय कविरत्नजी ने उनके स्वागत में एक कविता पढ़ी थी। इस मधुर कविता की ध्वनि अब भी मेरे कानों में गूंज रही है। मालवीयजी ने सत्यनारायणजी को अपने पास बुलाकर उनकी पीठ ठोंकी थी और बहुत प्रोत्साहित किया था। उन्हें बहुत बरसों तक सत्यनारायणजी का स्मरण रहा और जब सन १९२५ में मैंने उन्हें सत्यनारायणजी का जीवनचरित भेंट किया तो उन्होंने उसे पढ़ा ही नहीं, उसकी आलोचना भी की! उन्होंने मुझसे कहा --"तुमने सत्यनारायणजी के ग्राहस्थिक जीवन पर जो कुछ लिखा है उसे छोड़ देते, तो ठीक होता। अंग्रेज लेखक अपने कवियों की चारित्रिक त्रुटियों पर अधिक प्रकाश नहीं डालते। बहुत बचाकर लिखते हैं। तुमने तो भंडाफोड़ ही कर दिया है। यह अनुचित है।"

मुझे सन १९११ में इस बात की कल्पना नहीं थी कि आगे चलकर सत्यनारायणजी की कुछ सेवा मुझसे बन पड़ेगी। उनकी उस दिन की कविता से मैं मन्त्रमुग्ध हो गया था। प्रथम दृष्टि में ही प्रेम में फंसना शायद इसी को कहते हैं! आगे चलकर 'हृदय-तरंग' का प्रकाशन, कविरत्नजी का जीवनचरित, दीनबन्धु एन्ड्रूज द्वारा उनके चित्र का भारती भवन फीरोजाबाद में उद्घाटन और हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग में सत्यनारायण कुटीर का निर्माण और महात्मा गान्धीजी द्वारा उसका उद्घाटन--ये सब इसी प्रेम का परिणाम थीं।

आगरे में ही मुझे सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्तजी के दर्शन हुए थे और संभवतः वहीं गुरुवर पं० लक्ष्मीधर वाजपेयीजी के भी।

इसी प्रकार मेरे लेखक-जीवन का प्रारम्भ मई १९१२ में हो गया और इसी मई में उसे पूरे ५७ बरस हो गये। इन ५७ बरसों में जो कुछ ऊल-जलूल मैंने लिखा है, उससे सहस्रों ही पृष्ठ भर सकते हैं। जुलाई सन १९१३ में मैं गवर्नमेण्ट हाई स्कूल फर्रुखाबाद में तीस रुपये मासिक पर सहायक अध्यापक बन गया। अध्यापक-जीवन का अध्याय ही अलग है। ●

अध्यापक : जीवन और प्रवासी भारतीय

●

जब मैं फर्रुखाबाद के हाईस्कूल में सहायक अध्यापक नियुक्त हुआ, उन दिनों वहाँ श्री हरिकेशव सान्याल हेडमास्टर थे। यह बात तो मुझे आगे चलकर बहुत दिनों बाद ज्ञात हुई कि वह सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी बन्धु शचीन और भूपेन सान्याल के चाचा होते थे। वह बड़े कठोर शासक थे और शिक्षा के विषय में उनके विचार तत्कालीन विचारधारा से बिल्कुल भिन्न थे। उनका कहना था कि सबसे छोटे दर्जे के विद्यार्थियों को सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों के सुपुर्द करना चाहिए, भले ही उच्च कक्षाओं के छात्र मामूली योग्यता के अध्यापकों के अधीन पढ़ते हों। नतीजा

यह हुआ कि मुझे स्कूल लीविंग या मैट्रिक क्लास के विद्यार्थियों को अंग्रेजी पढ़ानी पड़ी। मैं कुल जमा इण्टर पास था, इसलिए मेरे लिए यह कार्य बहुत कठिन सिद्ध हुआ। अंग्रेजी कोश की मदद से भला स्कॉट की 'आइवन हो' कैसे पढ़ाई जा सकती थी? कभी-कभी तो ऐसा होता कि जिस वाक्य का अर्थ मेरी समझ में न आता, उसे मेरा कोई विद्यार्थी समझ लेता! जिस दिन मुझ पर यह जिम्मेदारी पड़ी थी, मैंने एक होशियारी से काम लिया। अपने विद्यार्थियों से मैंने विनम्रतापूर्वक कहा:

"मैं तो अभी-अभी एफ० ए० पास करके आया हूं; फिर आप मुझसे कैसे उम्मीद रख सकते हैं कि मैं नवें तथा दसवें दर्जे को सफलतापूर्वक अंग्रेजी पढ़ा सकूंगा? इस संकट को पार करने का सिर्फ एक ही तरीका है, वह यह कि हम लोग—यानी आप, और मैं—घर पर कोश की मदद से कुछ पढ़कर आया करें फिर क्लास में मिलकर साथ-साथ पढ़ाई की जा सकेगी। आप मेरी गलतियों का वखूबी मजाक उड़ा सकते हैं। मैं बुरा न मानूंगा। अंग्रेजी हमारी मातृभाषा तो है नहीं।"

दुर्भाग्यवश मेरे पास जो अंग्रेजी कोश था, वह सस्ता-सा रुपया-सवा रुपया वाला ही था और उसमें कितने ही मुहाविरे मिलते ही न थे। एक मुहाविरा Dead as a door nail आया, जिसका अर्थ मुझे अपने कोश में नहीं मिला। हमारे किसी साधन-सम्पन्न शिष्य के पास बढ़िया डिक्शनरी थी। उसने उस मुहाविरे का अर्थ बतला दिया। मैंने सधन्यवाद उसके अर्थ को स्वीकार कर लिया और कहा—"दो वर्ष बाद आप लोग भी मेरे बराबर पढ़ जायंगे। हम लोग सहपाठी ही हैं।"

अपनी अयोग्यता को स्वीकार कर लेने के कारण मुझे विद्यार्थियों की सहानुभूति प्राप्त हो गई और उन्होंने मेरा मजाक कभी नहीं उड़ाया।

सान्याल बाबू का तबादला कहीं हो गया और तत्पश्चात जनाब मुहम्मद ऐजाज आलम नामक एक सज्जन, जो शायद बदायूं के रहने वाले थे, उनके स्थान पर पधारे। उन्हीं दिनों मि० डाबसन इन्सपेक्टर आॅफ स्कूल्स की हैसियत से हमारे विद्यालय का निरीक्षण करने आये। वह आगरे में हमारे हेडमास्टर ही नहीं, बल्कि हमारे 'चौबे बोर्डिंग हाउस' के अध्यक्ष भी रह चुके थे। उनकी सेवा में उपस्थित होकर मैंने अपने संकट की चर्चा कर दी। उनके आदेश से मुझे नीचे दर्जो को अंग्रेजी तथा ऊँचे दर्जो को हिन्दी पढ़ाने का काम मिल गया!

हमारे नये हेडमास्टर साहब को टेनिस खेलने का शौक लगा था और मुझे भी अच्छे खिलाड़ियों की गेंद उठाते-उठाते कुछ खेलना आ गया था। मैं कभी-कभी प्रातः-काल जाकर हेडमास्टर साहब के साथ टेनिस खेल आता था। चूंकि हम दोनों नवसिखुए थे, इसलिए एक-दूसरे पर उद्विग्न होने का मौका न आता था। अन्य किसी अध्यापक के पास सवेरे का बहुमूल्य समय नष्ट करने के लिए था नहीं। कोई पूजा करता था, तो कोई ट्यूशन और किसी-किसी को अपना भोजन स्वयं ही बनाना पड़ता था। इन सब बन्धनों से मुक्त होने के कारण मैं प्रातःकाल टेनिस खेलने के लिए स्वतंत्र था।

जून सन १९१४ में मैंने पण्डित तोतारामजी सनाढ्य के लिए अपनी प्रथम पुस्तक 'फिजी द्वीप में मेरे २१ वर्ष' लिखी थी; उसके कुछ अंश हेडमास्टर साहब को भी सुना दिये थे और पण्डित तोतारामजी से उनकी मुलाकात भी करा दी थी। पण्डित तोतारामजी से मेरा परिचय किस प्रकार हुआ, उसका वृत्तांत आगे लिखूंगा। दो वर्ष से मेरे लेख 'आर्यमित्र', 'भारत सुदशा प्रवर्तक', 'नजीवन' और 'मर्यादा' इत्यादि में छपते रहे थे और उनकी खबर हेडमास्टर साहब तक पहुंच चुकी थी और उनको शायद यह भ्रम हो गया था कि मैं हिन्दी का कोई विद्वान आदमी हूं! इससे

भी अधिक निराधार बात यह थी कि मुझमें भी यह व्यर्थाभिमान उत्पन्न हो गया था कि मैं सम्पादक बन सकता हूं।

उस समय एक घटना घटी। बन्धुवर श्री द्वारिकाप्रसादजी सेवक ने 'नवजीवन' नामक मासिक पत्र के लिए 'आर्यमित्र' के सम्पादक और मेरे गुरु पण्डित लक्ष्मीधरजी वाजपेयी को बुलाना चाहा, पर वह 'आर्यमित्र' तभी छोड़ सकते थे, जब उन्हें कोई दूसरा आदमी अपनी जगह पर काम करने के लिए मिल जाय। उनकी निगाह मुझ पर पड़ी और उन्होंने मुझे आगरे बुला भेजा। यह तय हुआ कि मैं महीने भर की छुट्टी लेकर आगरे पहुंच जाऊंगा और 'आर्यमित्र' का काम संभाल लेने के बाद सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दूंगा। लिहाजा मैंने महीने भर की छुट्टी की अर्जी भी दे दी, पर जिस दिन मेरी छुट्टी की मंजूरी का हुक्म आया, उसी दिन डेली कालेज इन्दौर से वहां हिन्दी-अध्यापक नियुक्त होने का आर्डर भी मिला!

मैं स्पेशल क्लास को अंग्रेजी पढ़ा रहा था कि हेडमास्टर साहब ने मुझे बुला भेजा और कहा—"देखिये, हिन्दी शिक्षक की एक मांग निकली है। ग्रेड अच्छा है, यानी ८०–१२०रु० की। मेरी सलाह है कि आप अर्जी भेज दें।" मैंने जवाब दिया—"यह ग्रेड तो करीब तिगुनी तनख्वाह की है, मुझे मिलने से रही। अर्जी भेजना बेकार होगा।" उन्होंने कहा—"अर्जी भेजने में हर्ज ही क्या है? कोशिश तो करनी ही चाहिये।" इस पर मैंने निवेदन किया—"मैं इस वक्त क्लास ले रहा हूं और मैं एक खास निब से लिखता हूं—मिचिल जी—और वह इस वक्त मेरे पास है नहीं।" हेडमास्टर साहब ने कुछ चिढ़कर हुक्म दिया—"आप भी अजीब आदमी हैं! क्लास डिसमिस कीजिये और बाजार जाकर अपना निब खरीद लाइये। अर्जी आज ही रवाना हो जानी चाहिए!" आज्ञा मानकर मैं क्लास जहां-का-तहां छोड़कर बाजार चला गया। और फिर उसी निब से मैंने बढ़िया-से-बढ़िया कागज पर अपना प्रार्थना-पत्र लिखा। उसमें स्वयं हेडमास्टर साहब ने संशोधन किये और तत्पश्चात मैंने उसकी नकल सुन्दर अक्षरों में कर दी। हेडमास्टर साहब ने बड़ी जोरदार सिफारिश करके उसे चलता किया। मैंने उस प्रार्थना-पत्र में लिख दिया कि मैंने Vernacular Final परीक्षा फर्स्ट डिवीजन में पास की है। डेली कालेज के प्रिंसिपल ने, जो ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से पधारे थे, शायद यह ख्याल किया कि यह हिन्दी की सर्वोच्च परीक्षा होती होगी, पर दरअसल वह सबसे नीचे दर्जे की परीक्षा थी और उसमें उन दिनों भी हजारों ही विद्यार्थी बैठते थे। प्रार्थना-पत्र भेजकर मैं निश्चिन्त हो गया। उसके स्वीकार होने की कोई सम्भावना तो थी नहीं। मैं आगरे पहुंचकर सम्पादक बनने की सोच रहा था कि अकस्मात इन्दौर पहुंचने का हुक्म आ गया।

मेरे फर्रुखाबाद-निवास की एक घटना ऐसी है, जिसका जिक्र करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि उसने मेरे क्षुद्र जीवन को एक नया मोड़ दे दिया। मैं फर्रुखाबाद के एक पुस्तकालय में गया हुआ था। वहां 'माडर्न रिव्यू' का मार्च १९१४ का अंक मुझे दीख पड़ा। उसमें दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज का एक लेख था, जिसमें उन्होंने दक्षिण अफ्रीका पहुंचने पर महात्माजी के प्रथम दर्शन में ही उनके चरण-स्पर्श करने की घटना लिखी थी। मैं मि० एण्ड्रूज की उस उदारता-पूर्वक और सहृदयता-युक्त श्रद्धांजलि से अत्यंत प्रभावित हुआ और मैंने यह बात घर पहुंचकर एक श्रद्धेय वयोवृद्ध सज्जन को सुनाई और कहा—"निस्सन्देह यह अंग्रेज एक महापुरुष प्रतीत होता है, नहीं तो यह गांधीजी के चरण-स्पर्श करके गोरे लोगों का कोपभाजन क्यों बनता?"●

मेरे भी एक भाई था

मिलहि न जगत सहोदर भ्राता।

--तुलसीदास

दिसम्बर सन १९०८।

"बनारसी उठो तो सही। दाई के घर तक हमारे साथ चलना है" दादा केशवदेव ने रात के ४ बजे कहा। मैं हड़बड़ी में उठ बैठा और दादा के साथ हो लिया। दाई का घर कोई मील भर दूर था। हम लोग उसे बुला लाये। दो घंटे बाद एक बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम रक्खा गया रामनारायण और जिसे हम सब प्रेमपूर्वक 'पटे' के नाम से पुकारते थे।

पटे उम्र में मुझसे सोलह साल छोटा था और उस समय कक्का ५६ वर्ष के थे। वह उनकी अन्तिम सन्तान था। पटे को कक्का और अम्मा ने बड़े स्नेहपूर्वक पाला था। परिणामस्वरूप पटे ने माता-पिता दोनों के सद्गुणों को ग्रहण कर लिया था।

पटे अक्सर कहा करता था, "हिन्दी-प्रेम तो हमने अपनी मां के दूध के साथ पिया था, जिन्होंने इक्कीस बार रामायण का पाठ किया था और हमारे कक्का को तो हजारों कवित्त कण्ठस्थ हैं। हिन्दी काव्य के समझने के लिए हमें घर से दूर जाने की जरूरत नहीं।"

निस्सन्देह, पटे का हिन्दी-विषयक ज्ञान असाधारण था। सम्मेलन की विशारद परीक्षा उसने पास की थी। उस वक्त की एक दुर्घटना मुझे अब भी याद है। सम्मेलन वालों की अव्यवस्था के कारण विशारद के पर्चे फीरोजाबाद केन्द्र पर पहुंचे ही नहीं। पटे ने परीक्षा की सब तैयारी कर ली थी और उसे बड़ी निराशा हुई। उसी वक्त मैंने यह तय किया कि जल्दी से आगरे जाने वाली ट्रेन पकड़ी जाय और नागरी प्रचारिणी सभा में पटे को बिठलाया जाय! ट्रेन के आने में पच्चीस मिनट की देर थी और स्टेशन मील सवा मील की दूरी पर था। हम दोनों बेतहाशा तेजी से भागे और ट्रेन पकड़ ली।

हम लोग भाई हरिशंकरजी के यहां ठहरे। पटे उन दिनों भोजन सम्बन्धी नियमों में काफी कट्टर था और अन्य किसी ब्राह्मण के यहां की भी कच्ची रसोई नहीं खाता था। अतएव भाई हरिशंकरजी को खासतौर पर उसके लिए पूड़ियां बनवानी पड़ीं।

एक बार हरिशंकरजी ने पटे से पूछा, "तुम्हारे दादा तो हमारे यहां की कच्ची रसोई खा लेते हैं, तुम्हें क्या एतराज है?" पटे ने तुरन्त उत्तर दिया, "दादा तो भ्रष्ट हो गए हैं!" हरिशंकरजी पटे के इस जवाब की याद करके अक्सर हँसा करते थे। आगे चल कर पटे की यह कट्टरता स्वयं ही दूर हो गई। जब मैं पटे के साथ लखनऊ गया था और रत्नाकरजी के घर पर ठहरा था, उस समय भी पटे के लिए पक्की रसोई का प्रबन्ध कराना पड़ा था! आचार्य पं० पद्मसिंहजी उस समय हमारे साथ थे। तभी से वह आचार्य का कृपा पात्र बन गया था।

पटे को इस बात की शिकायत थी कि मैं उसके लेख 'विशाल भारत' में नहीं छापता। और उसने यह बात पं० पद्मसिंहजी को लिख भेजी थी। उन्होंने अपने एक पत्र में मुझे डाट पिला दी! आगे चलकर पटे के दो-तीन लेख मैंने छाप भी दिये थे। आज मुझे इस बात का हार्दिक पश्चात्ताप है कि पटे की साहित्यिक

प्रतिभा के विकास के लिए मैंने कुछ भी नहीं किया। जितना समय मैंने हिन्दी के अन्य लेखकों तथा कवियों को अर्पित किया उसका शतांश भी यदि मैं पटे को दे सकता तो वह भी एक प्रतिष्ठित लेखक बन गया होता। पर सार्वजनिक कार्यकर्ता के जीवन का यह एक अभिशाप होता है कि उसके द्वारा घरवालों की प्रायः उपेक्षा हो जाती है! अपनी एक कहानी 'सम्पादक की समाधि' में मैंने एक वाक्य लिखा है : 'जो आदमी अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अपने अधीनस्थों के व्यक्तित्व का विनाश करता है, वह पापी है, अधम है, नीच है, पामर है।' यह एक अपराधी आत्मा की स्वीकारोक्ति ही थी!

पटे पद्मसिंहजी का अनन्य भक्त था और आचार्यजी भी उससे मिलने के लिए लोहामंडी से 'चौबे बोर्डिंग' अक्सर जाया करते थे। उन्होंने पटे को संस्कृत पढ़ाने की बात भी कही थी। वैसे बी० ए० में पटे ने संस्कृत ली थी। अपने अन्तिम दिनों में सितम्बर सन १९३६ में पटे ने मुझसे कई बार कहा था; "दादा, तुम सब काम छोड़ कर पं० पद्मसिंहजी का जीवन-चरित लिख दो।"

मैंने उस समय पटे को यही उत्तर दिया था—"पटे तुम पहले स्वस्थ हो जाओ, फिर हम तुम दोनों मिलकर यही पुण्य-कार्य करेंगे।"

दुर्भाग्यवश पटे का स्वर्गवास ६ अक्टूबर १९३६ को हो गया और पं० पद्मसिंहजी की जीवनी लिखने का विचार जहां-का-तहां पड़ा रहा। एक बार मैंने लिखने का निश्चय भी किया और जीवन-चरित के भिन्न-भिन्न विभाग भी कर लिये। कुछ काम आगे बढ़ा भी, पर फिर वह बन्द कर देना पड़ा। अब उनके संस्मरणों को एकत्रित कर उन्हें पुस्तकाकार में छपा देने का विचार है और उस संग्रह को मैं पटे को ही समर्पित करना चाहता हूं। विशाल भारत के पद्मसिंह-अंक के लिए पटे ने अपने संस्मरण भी लिखे थे, जिनका अन्त इस उर्दू कविता से किया था :

कोई बैठ के लुत्फ उठायेगा क्या
जब रौनके बज्म तुम्हीं न रहे।

अर्थात **कोई आदमी आनन्द कैसे लेगा, जब**
सभा की रौनक आप ही नहीं रहे!

एक बार फुटबॉल खेलते हुए पटे की टांग टूट गई थी और उसे महीने भर खाट पर पड़ा रहना पड़ा था। उस समय मैंने उसे कुछ चिट्ठियां भेजी थीं, जिन्हें उसने बहुत सम्हाल कर रक्खा था। मुझे पत्र लिखने का व्यसन है। जिन्दगी में शायद लाख-डेढ़ लाख चिट्ठियां तो मैंने भेजी ही होंगी। आज भी पचास रुपये महीने से कम पोस्टेज पर खर्चा करना पड़ता है! पर पटे मेरे पत्रों के लिए तरसता रहता था! एक बार मैंने उसे लिखा था "Lucas द्वारा लिखित 'Gentle art' नामक किताब आगरा कालेज लाइब्रेरी से लेकर भेज दो"। पटे ने वह किताब भेज तो दी, पर साथ ही लिखा :

"दादा तुम खुद बहुत बढ़िया पत्र-लेखक हो। लूकास की किताब से तुम्हें कुछ भी सीखने की ज़रूरत नहीं।"

पटे की उस उक्ति को मैंने तब भी अत्युक्तिमय समझा था और आज भी यही मानता हूं।

एक बार जीवन में निराशा का ऐसा 'मूड' आया कि दिल्ली, पूना, काशी इत्यादि के सम्मेलनों के अवसर पर कई विभागों के सभापतित्व का जो सम्मान मुझे मिलने वाला था उसे मैंने सधन्यवाद अस्वीकृत कर दिया! पटे को इससे बहुत बुरा लगा। उसने मुझे लिखा—"तुमको जो गौरव मिलता है, उससे हमें भी खुशी होती है। दादा, तुम उसे अस्वीकृत क्यों कर देते हो?"

पटे के हृदय में मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह था। अपने अन्तिम दिनों में उसने काश्मीर की यात्रा की थी और वहां बहन सत्यवती मलिक के भी दर्शन किये थे, और उनसे बहुत प्रभावित हुआ था। पटे ने मुझे लिखा था—"दादा, मुझे इस बात से बहुत दुःख हुआ कि तुम आर्थिक कठिनाइयों के कारण काश्मीर-यात्रा नहीं कर सकते! मैं उसका प्रबन्ध करूंगा, तुम निश्चिन्त रहो।"

गुलमर्ग में पटे एक खड्ड में गिरते-गिरते बचा। उसका पैर फिसल गया, पर खैरियत यह हुई कि एक लकड़ी से उलझ जाने के कारण वह कई सौ फुट नीचे गड्ढे में जाने से बच गया!

अपनी अंतिम बीमारी के दिनों में पटे कलकत्ते मेरे पास आ गया था। उसने उन दिनों कई बार कहा था :

"कक्का मर्द आदमी हैं। लाला (चिरंजीव बुद्धिप्रकाश) बहुत होशियार लड़का है।"

उन्हीं दिनों चित्रपट के सम्पादक श्री ऋषभचरण जैन कलकत्ते पधारे और मुझसे मिलने आये! उनके चले जाने पर मैंने पटे को उनका परिचय दिया। पटे ने कहा—"मैं खूब जानता हूं! इन्होंने चित्रपट के एक अंक में तीन-तीन लेख तुम्हारे खिलाफ लिखे थे!"

जापान से लौटे हुए एक भारतीय विद्यार्थी भी पधारे! उन्हें पटे की एक कविता कण्ठस्थ थी, सो उन्होंने पटे को सुना दी। हम दोनों को बड़ा हर्ष हुआ।

पटे को टाइफाइड (मोतीझला) हुआ था और जैसा कि अक्सर होता है वह बीमारी किसी-न-किसी अंग पर अपना असर छोड़ जाती है! पटे की नेत्रज्योति पर टाइफाइड ने अपना दुष्प्रभाव छोड़ दिया था। यह तय किया गया कि पटे की रीढ़ की हड्डी से रस निकाला जाय। उसी क्रिया का पटे के स्वास्थ्य पर विघातक असर हुआ! सुना है कि हजार में सिर्फ एकाध केस में ही ऐसा हुआ करता है, पर मैं इन बातों से सर्वथा अनभिज्ञ था और पटे की बीमारी को मामूली ही समझता रहा! जब डाक्टर बुलाया गया तो उसने स्थिति गम्भीर बतलाकर तुरंत कारमाइकेल अस्पताल भेजने का आदेश दिया। अस्पताल से ऐम्बुलैंस कार मंगाई गई और पटे को वहां भेज दिया गया।

साथ में मुझे भी अस्पताल जाना था, पर मैं जा नहीं सका। थका हुआ था और दोपहर का सोना मेरे लिए अनिवार्य था। इसलिए मैं विश्राम करने के लिए लेट गया! दो घंटे बाद मैं भड़भड़ा के उठ बैठा और मैंने अंग्रेजी में कहा—"Mother, Pate can not die. There is so much of work to be done for socialism!"

(अम्मा! पटे मर नहीं सकता, क्योंकि समाजवाद के लिए अभी तो बहुत काम करना बाकी है।)

चूंकि मैं ४०–४० वर्षों से अंग्रेजी द्वारा ही अपना मानसिक भोजन लेता रहा हूं, मेरे मुंह से अंग्रेजी वाक्य ही निकल गये!

बहुत वर्षों तक मैं यही मानता रहा कि पटे का स्वर्गवास हुआ ही नहीं! कई बार पटे ने स्वप्न में मुझसे कहा भी—"दादा, मैं तुम्हारे जीवन के साथ जीवित हूं। तुम अपनी तन्दुरुस्ती का खयाल रक्खो। अपने स्वास्थ्य की हानि करके मेरी डबल मौत मत करना।"

पटे के स्वर्गवास के बाद जितनी बार मैंने उसको याद किया है, उतनी बार उसके २८ वर्षीय जीवन में भी नहीं किया था! मैं उसकी उपस्थिति का अनुभव प्रायः करता रहा हूं और मेरा अब यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि जिन्हें हम प्रेमपूर्वक स्मरण करते हैं वे मरते नहीं। उन्हें भुलाकर हम विस्मृति के गढ़े में भले ही ढकेल दें!

पूज्य महात्माजी ने हमारे कक्का के स्वर्गवास पर मुझे लिखा था—"और मरता है कौन? जीव तो हर्गिज नहीं, जिसके साथ हमारा सम्बन्ध था, और है और रहेगा।"

इस सिद्धांत के अनुसार पटे की आत्मा अब भी जीवित है और समय-समय पर मुझे वह सावधान भी करती रहती है।

जब कारमाइकेल अस्पताल से 'विशाल भारत' आफिस को फोन पहुंचा कि पटे का स्वर्गवास हो गया तो ब्रजमोहन वर्मा ने मेरे पास यह दुःखद समाचार भेज दिया। मैं अस्पताल को गया और वहां काले पर्दे के भीतर पटे की लाश को देखा! वह मेरे जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना थी। मैं चाहता था कि कोई सहानुभूति युक्त आदमी मुझे वहां मिल जाता, जिससे मैं यह कह सकता "यह लड़का First class first एम० ए० है। कालेज में अध्यापक रह चुका है। मेरा छोटा भाई है!" पर अस्पताल में तो सभी अजनबी थे!

पटे चला गया! महात्माजी ने किसी से उसके स्वर्गवास का समाचार सुनकर लिखा था:

"भाई रामनारायण जिस रास्ते गये हैं, उस रास्ते हम सभी को जाना है, केवल समय का ही फर्क है।"

बापू की बात बिल्कुल ठीक थी। पर बकौल कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त

"पर अन्त तक रोते रहेंगे हम तुम्हारे शोक में"

पटे की मृत्यु से हृदय को जो घाव लगा वह अब तक पूरा नहीं हुआ। आज उस दुर्घटना को ३३ वर्ष से ऊपर हो चुके हैं।

पटे को तो जाना ही था—हम सभी को जाना है—पर कई बातें मेरे हृदय में कांटे की तरह खटकती रहती है। पहली बात तो यह कि मैं पटे की बीमारी में कोई तीमारदारी नहीं कर सका। मैंने नर्सिंग का काम सीखा ही नहीं और बीमार आदमी की सेवा करने की कुछ भी सामर्थ्य मुझ में नहीं! अब मैं समझता हूं—घर के हर बच्चे को प्रारम्भ से ही नर्सिंग की शिक्षा देनी चाहिये। दूसरी बात जो मुझे निरन्तर खटकती रहती है यह है कि अपनी आर्थिक अव्यवस्था के कारण मेरे पास उन दिनों एक रुपया भी न था! यद्यपि मुझे पौने दो सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था, जो १९३६ में अच्छा वेतन माना जाता था। पटे को होमियोपैथ डाक्टर को दिखलाना चाहता था, पर उसकी फीस आठ रुपये मेरे पास नहीं थी। और तो और कफन के लिए भी पैसे नहीं थे, जो भाई वसन्तलाल चतुर्वेदी ने दिये।

'कौड़ी न रख कफन को' यह मेरा आदर्श रहा है, पर इसके माने यह नहीं कि अपने छोटे भाई के कफन के लिए भी पैसा पास न रक्खा जाय!

एक बात मुझे और भी बड़े दुःख के साथ याद आती रही है। आगरा कालेज की मैनेजिंग कमेटी के एक सदस्य ने पटे की पुनः नियुक्ति का विरोध किया था और उसकी नौकरी छुड़ाकर बड़े अभिमान से कहा था: "We have got rid of a communist" अर्थात् "हमने एक साम्यवादी से छुटकारा पा लिया।" यह बात पटे के साथी मिस्टर काटजू ने मुझे सुनाई थी। पटे निस्सन्देह प्रगतिशील विचारों का था। फ़ासिस्ट लोगों के विरुद्ध उसने लेख लिखा था। साम्यवादी कार्यकर्ताओं से वह मिलता-जुलता भी था, कृष्णस्वामी से उसका परिचय था, पर किसी पार्टी से उसका सम्बन्ध न था।

काटजू साहब ने मुझे बतलाया था "पटे इधर-उधर भटकते हुए पूछता था, मुझे किस अपराध के लिए निकाला जा रहा है?"

आज जब मैं पटे की उस स्थिति की कल्पना करता हूं तो हृदय में एक हूक-सी उठती है।

पर अब मैं यह समझने लगा हूं कि नवीन सामाजिक व्यवस्था लाते समय ऐसी लाखों ही दुर्घटनाएं होंगी। वे अनिवार्य हैं! हज़ारों ही प्रगतिशील युवक तलवार के घाट उतारे जायंगे और लाखों की ही नौकरियां छूटेंगी। पटे की दुर्घटना से मुझे विचलित न होना चाहिए था, पर मनुष्य आखिर मनुष्य है। वह अपने निजी दुःख को असाधारण महत्त्व देता है! पटे तो साम्यवादी था नहीं, पर मैं अपनी ७८वीं वर्ष में साम्यवादी विचारधारा का समर्थक हो गया हूं।

जिन दिनों पटे का स्वर्गवास हुआ था, फीरोजाबाद में रामलीला हो रही थी। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर भगवान राम के विलाप का अभिनय हो रहा था! मर्यादापुरुषोत्तम राम ने कहा था, "मिलहि न जगत सहोदर भ्राता।"

इस उक्ति की सत्यता का अनुभव वही अभागे कर सकते हैं, जिनके जीवन में वैसी दुर्घटना घटी हो!

मैं भी एक अभागा हूं। मेरे भी एक भाई था, जो २८ वर्ष की आयु में चल बसा!

पुनश्च :

पटे एक मेधावी विद्यार्थी था। बी० ए० में भी उसकी पांचवीं पोजीशन आई थी। वह बड़ा स्नेही व्यक्ति था और उस स्वाभाविक स्नेह के कारण उसके मित्रों की संख्या काफी बड़ी थी। पटे के कितने ही साथी-संगी अब भी उसे प्रेमपूर्वक स्मरण कर लेते हैं। ●

जिन्होंने मुझे प्रेरणा दी

●

महापुरुषों से पत्र-व्यवहार करना और उनके दर्शन करना मेरे जीवन का एक ध्येय रहा है। महात्मा गांधी और कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज़ और महामाननीय श्रीनिवास शास्त्री, आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, और सम्पादकाचार्य पं० रामानन्द चट्टोपाध्याय, स्वर्गीय सी० वाई० चिन्तामणि और अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी इत्यादि कितने ही महापुरुषों के निकट-सम्पर्क में आने का और उनके कृपापात्र बनने का मौका मुझको मिला, और मैं उनका जिन्दगी भर ऋणी रहूंगा। इन महापुरुषों के आशीर्वाद और इनके पत्र मेरी ज़िन्दगी की सबसे बड़ी कमाई है।

हिन्दी-लेखकों और कवियों में आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० श्रीधर पाठक और कविवर सत्यनारायणजी तथा श्री प्रेमचन्दजी ने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया था। विदेशी विचारकों और ग्रंथकारों में प्रिंस क्रॉपॉटकिन, एमर्सन, तुर्गनेव, रोम्यां रोलां, स्टीफन ज़्विइग और गोर्की से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूं। उनकी रचनाओं को पढ़ने का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ है कि मुझे आधुनिक लेखकों की लिखी हुई चीज़ें अपेक्षाकृत हल्की जंचती हैं। मैं इस बात को भूल जाता हूं कि तुर्गनेव और स्टीफन ज़्विइग जैसे लेखक

तो शताब्दी में एक-आध बार ही आते हैं। उनकी तराजू पर आधुनिक लेखकों को तौलना सर्वथा अनुचित है।

जिन महापुरुषों अथवा महान लेखकों ने मुझे प्रेरणा दी, उनके बारे में अनेक बार मैं लिख चुका हूं। इसलिए उन बातों को मैं दोहराना नहीं चाहता।

अपने साहित्यिक जीवन में मुझे स्व० पं० लक्ष्मीधरजी बाजपेयी और पं० तोतारामजी सनाढ्य तथा पं० पद्मसिंहजी शर्मा ने बहुत प्रोत्साहित किया। श्री लक्ष्मीधरजी को मैं पत्रकारिता में अपना पहला गुरु मानता हूं और आगे चलकर तो मैं सर्वश्री अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी, कृष्णकान्तजी मालवीय, पराड़कर-जी, और गर्देजी का कृपापात्र बन गया। लेकिन जब मैं विद्यार्थी था तो उस समय श्री लक्ष्मीधरजी ने मुझे बहुत प्रेरणा दी थी। तत्पश्चात श्री कृष्णकान्तजी मालवीय ने भी मेरी रचनाओं को 'मर्यादा' में छाप कर मुझे प्रोत्साहित किया था। पर जिन्होंने मेरे जीवन को एक नई मोड़ दी, वे थे पं० तोतारामजी सनाढ्य। वे फिज़ी द्वीप में २१ वर्ष शर्तबन्दी की गुलामी करने के बाद सन १९१४ में भारतवर्ष को लौटे थे और एक दिन अकस्मात फीरोज़ाबाद के भारती भवन पुस्तकालय में उनके दर्शन हो गए। मैंने उनकी सेवा में निवेदन किया--"आप अपने अनुभव क्यों नहीं छाप देते ?" उन्होंने कहा--"मैं कोई लेखक तो हूं नहीं, अगर लिखने वाला मिल जाय, तो मैं बोल कर कुछ लिखा सकता हूं।" मैं लिखने के लिए राज़ी हो गया और फिर उनसे नोट लेकर 'फिज़ी में मेरे २१ वर्ष' नामक किताब तैयार कर दी। उस किताब के छपते ही अखबारों में काफी हलचल हुई। उसके तीन संस्करण हिन्दी में निकले। बंगला तथा मराठी में उसके अनुवाद हुए और गुजराती लोगों को तो वह इतनी पसन्द आई कि उन्होंने उसके चार-चार तर्जुमे कर डाले। स्व० सुभद्राकुमारी चौहान के पति श्री लक्ष्मणसिंहजी ने उसके आधार पर 'कुली प्रथा' नामक नाटक लिखा और राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त ने अपनी 'किसान' नामक कविता। दीनबन्धु एण्ड्रूज़ उसका अंग्रेज़ी अनुवाद कराके फिज़ी द्वीप को लेते गए। जिन दिनों मैंने यह किताब लिखी थी, मैं कुल जमा २२ बरस का युवक था, और उसके स्वागत से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मैंने प्रवासी भारतीयों की सेवा को अपने जीवन का एक मुख्य उद्देश्य बना लिया और इसी कारण उसके छः बरस बाद राजकुमार कालेज की नौकरी छोड़कर शान्तिनिकेतन में दीनबन्धु एण्ड्रूज़ के चरणों के निकट पहुंच गया। वहां मैं चौदह महीने रहा और तत्पश्चात उसी कार्य के लिए महात्माजी के साबरमती आश्रम में भी चार बरस तक रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। सन १९२४ में कांग्रेस ने मुझे पूर्व अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की स्थिति देखने के लिए केनिया, युगांडा, टांगानिका और जंज़ीबार को भेजा था। मेरी ज़िन्दगी के २०-२२ बरसों का अवकाश प्रवासी भारतीयों की सेवा में ही बीता। इस सब के लिए मैं पं० तोतारामजी का ऋणी हूं।

अपनी ज़िन्दगी में जिन दो लेखकों ने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया है, वे दोनों विदेशी ही थे--क्रॉपॉटकिन और एमर्सन। क्रॉपॉटकिन के आत्मचरित 'मैमोयर्स ऑफ ए रिवोल्यूशनिस्ट' एक क्रांतिकारी की आत्मकथा[1] को मैं संसार का एक अति उत्कृष्ट आत्मचरित मानता हूं, और उनके विचारों का प्रचार करने के लिए यथाशक्ति कुछ-न-कुछ करता रहा हूं। यह बात मैं अपने लिए गौरवजनक मानता हूं कि मैं ही प्रथम भारतीय था, जिसने मास्को में क्रॉपॉटकिन की समाधि पर जाकर फूल चढ़ाये। एमर्सन का नम्बर उनके बाद आता है और पिछले ३६-३७ वर्षों में शायद ही कोई ऐसा दिन बीता हो, जब मैंने एमर्सन का

---

[1] सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली से प्रकाशित

कोई ग्रन्थ, कोई निबन्ध या कोई वाक्य न पढ़ा हो। कहा जाता है कि एमर्सन, थोरो और ह्विटमैन ये संसार की सभ्यता को अमेरिका की सर्वश्रेष्ठ देन थे। और मैं इन तीनों का भक्त हूं। मेरे कितने ही मित्र और अमित्र अक्सर इस बात पर एतराज़ किया करते हैं कि मैं विदेशी लेखकों से इतना अधिक प्रभावित क्यों हुआ, पर मैं इस मामले में देश-विदेश का कोई अन्तर नहीं मानता। अगर कोई मुझसे पूछता है कि संसार का सर्वश्रेष्ठ पत्रकार कौन था, तो बिना किसी संकोच के मैं एस० डब्लू० नैविनसन का नाम ले देता हूं, जो एक अंग्रेज़ थे। जिनके उन्मुक्त छन्दों को मैं बार-बार पढ़कर प्रभावित होता रहा, वे एडवर्ड कारपेण्टर ही थे और रोम्यां रोलां फ्रांसीसी थे, जिनसे पत्र-व्यवहार करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। इस प्रकार मेरी श्रद्धा के फूल भिन्न-भिन्न जातियों और देशों के महापुरुषों के चरणों में अर्पित होते रहे हैं। जैसाकि मैं पहले कह चुका हूं, मेरे जीवन का दृष्टिकोण अब बदल गया है और मेरा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि विज्ञापित पुरुषों को श्रद्धांजलि अर्पित करने के बजाय उन छोटे-छोटे कार्यकर्त्ताओं के गुण-गान करने चाहिए, जो ईमानदारी के साथ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं। महापुरुषों की प्रशंसा करना बहुत आसान काम है, कुछ इधर से लेकर, कुछ उधर से लेकर लेख तैयार किया जा सकता है, पर तथाकथित क्षुद्र पुरुषों के महत्व को आंकना एक कठिन कार्य है। भगवान ने गीता में कहा था—"दरिद्रान भर कौन्तेय, मा प्रक्षेय ऐश्वरं धनं।" यानी "हे अर्जुन! गरीब आदमियों का पालन करो, साधन-सम्पन्नों को दान देने की ज़रूरत नहीं।"

युगधर्म का भी यही तकाज़ा है कि साधारण कार्यकर्ता की कद्र की जाय। अन्त में एक बात और, कृतज्ञतापूर्वक मुझे अपने माता-पिता को भी स्मरण कर लेना चाहिए जिनकी सादगी, परिश्रमशीलता और आदर्शवादिता ने मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया था। कक्का ने पचपन बरस तक ग्रामीण स्कूलों में मुदर्रिसी की थी और उनका जीवन निरन्तर संघर्ष में बीता। अपनी ज़िन्दगी में उनपर कई वज्रपात हुए, अनेक दुर्घटनाएं घटीं, पर उन्होंने हिम्मत कभी नहीं हारी और ९२-९३ वर्ष तक वे जीवित रहे। इसी प्रकार हमारी माताजी का जीवन भी प्रायः गरीबी में ही बीता। गरीब माता-पिता की सन्तान होने के कारण मेरे लिए यह बहुत आसान है कि मैं साधनहीन व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति प्रकट कर सकूं। मेरे इस प्रकार के बर्ताव में किसी प्रकार की कृत्रिमता की गुंजायश ही नहीं, वह सर्वथा स्वाभाविक ही होता है। सन १९१२ से अब तक ५० बरस कलम घसीटने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि ईमानदार, परिश्रमी और कर्तव्य-परायण व्यक्तियों के, जो हमारे देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे हैं, जीते-जागते रेखा-चित्र तैयार करना महापुरुषों के जीवनचरित लिखने से कहीं अधिक उपयोगी होगा। दरअसल यह तथाकथित क्षुद्र पुरुष ही महापुरुषों के लिए क्षेत्र तैयार करते हैं। इस देश की स्वाधीनता के लिए अपने प्राणों का बलिदान करने वाले सहस्रों ही स्त्री-पुरुषों के लोग नाम भी नहीं जानते। अगर मेरे पास वक्त होता तो महात्मा गांधी के दक्षिण अफ्रीका के बलिदानी साथियों से लगाकर १५ अगस्त, १९४७ तक के शहीदों में कम-से-कम सौ-सवा सौ आदमियों के जीवनचरित और रेखाचित्र प्रस्तुत कर देता। महापुरुषों को मैं प्रणाम करता हूं, उनके ऋण से मैं कदापि उऋण नहीं हो सकता, पर मेरी श्रद्धा के असली फूल अब उनके राजप्रासादों के लिए नहीं हैं बल्कि वे छोटे-छोटे कार्यकर्ताओं की उपेक्षित झोंपड़ियों के लिए ही सुरक्षित हैं। ●

मेरा मुक्ति-दिवस

आज उस घटना को ५५ वर्ष से अधिक हो गए, पर बात वह कल जैसी मालूम होती है। फर्रुखाबाद के गवर्नमेंट हाई स्कूल में मैं सहायक अध्यापक का काम करता था। एक दिन वहां के सार्वजनिक पुस्तकालय को देखने के लिए गया तो वहां 'माडर्न रिव्यू' का नवीन अंक दीख पड़ा जिसमें मिस्टर सी० एफ० एण्ड्रचूज़ का एक लेख छपा था। श्री एण्ड्रचूज़ ने प्रथम बार गांधीजी के दर्शन किस प्रकार किये थे, उस लेख में बहुत ही आकर्षक वर्णन था। जब श्री एण्ड्रचूज़ डरबन पहुंचे तो उनके स्वागत के लिए रेलवे स्टेशन पर श्री पोलक और महात्माजी भी विद्यमान थे।

उन दिनों बेतार का तार नहीं चला था, इसलिए श्री एण्ड्रचूज़ को इस बात की खबर नहीं थी कि भारतीय नेता छोड़ दिये गए हैं। उन्होंने श्री पोलक से पूछा, "आप यहां किस तरह आ गए ?"

श्री पोलक ने कहा, "हम सब लोग छूट गए हैं।"

श्री एण्ड्रचूज़ ने तुरन्त ही पूछा, "तो मिस्टर गांधी कहां हैं ?"

गांधीजी ने, जो वहीं खड़े हुए थे, कहा, "मैं ही गांधी हूं !"

बस, श्री एण्ड्रचूज़ ने तुरन्त ही उनके चरण-स्पर्श कर लिये।

श्री एण्ड्रचज़ की इस श्रद्धापूर्ण कार्रवाई से दक्षिण अफ्रीका के गोरे समाज में बड़ी खलबली मच गई और एक अंग्रेज़ी पत्र ने तो उन्हें बहुत खरीखोटी भी सुनाई थी।

दीनबन्धु एण्ड्रचूज़ की इस श्रद्धापूर्ण भावना का मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। और मेरे मन में तुरन्त ही यह विचार आया कि जो अंग्रेज हमारे पूज्य महात्माजी के प्रति इस प्रकार श्रद्धांजलि अर्पित कर सकता है, वह निस्सन्देह कोई असाधारण व्यक्ति होना चाहिए। ऐसे उदार मनुष्य को निकट से जानने की जरूरत है।

यह घटना सन १९१४ की है। मैंने श्री एण्ड्रचूज़ से पत्र-व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया, यद्यपि उनके प्रथम दर्शन तो चार वर्ष बाद सन १९१८ में ही हो सके।

निस्सन्देह एण्ड्रचूज़ एक सन्त पुरुष थे। दीनबन्धु की उपाधि उन्हें महात्माजी ने प्रदान की थी और एक बार तो उन्होंने कहा था "एण्ड्रचूज़ तो एक ऋषि हैं।" ऐसे ऋषि-तुल्य सन्त पुरुष के चरणों के निकट बैठने का अवसर मुझे शांतिनिकेतन में चौदह महीने तक मिला और बिना किसी संकोच या अत्युक्ति के मैं कह सकता हूं कि उनके आदेश ने मेरे जीवन को एक विभिन्न दिशा में ही मोड़ दिया। श्री एण्ड्रचूज़ के अनुरोध पर मैंने राजकुमार कालेज की नौकरी से इस्तीफा दे दिया और ३ जुलाई, १९२० से मैं बिल्कुल स्वाधीन हो गया।

तीसरी जुलाई को मैं अपना मुक्ति-दिवस मानता हूं। उस दिन पहली बार में दोपहरी को सोया और ऐसा सोया कि आजतक नहीं उठा। यदि किसी चीज से मुझे घृणा है तो दोपहर के भोजन के बाद काम करने से, और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हमारे दफ्तरों के काम के घंटे बदल दिए जायं, तो कार्यकर्ताओं के स्वास्थ्य पर बहुत अच्छा असर पड़े और वे काम भी ड्योढा कर सकें। भोजनोपरान्त दोपहर

का विश्राम मेरे क्षुद्र जीवन की एक ऐसी अमूल्य निधि है कि उसे मैं किसी भी कीमत पर कभी भी नहीं बेच सकता।

एमर्सन ने एक जगह लिखा है—'ही ओन्ली इज रिच हू ओन्स दी डे' यानी, जो अपने दिन का मालिक है वही दरअसल धनवान है।

इस परिभाषा के अनुसार मैं अपने को लखपती मानता हूं। सन १९२१ को जिस दिन रात को बारह बजे शांतिनिकेतन के मुक्त आकाश के नीचे मैंने 'भारतभक्त एण्ड्रचूज़' नामक पुस्तक समाप्त की थी, उस दिन ईश्वर से यही प्रार्थना की थी कि मुझे खूब अवकाश मिले और खूब आकाश। और पिछले सैंतीस वर्षों में जितना आकाश और अवकाश मुझे मिला है, उतना हिन्दी लेखकों में बहुत ही कम लोगों को मिला होगा।

पर मैं इस बात को भी अपने कटु अनुभव से जानता हूं कि बिना आत्म-नियन्त्रण के स्वाधीनता स्वच्छन्दता में परिणत हो जाती है और वरदान बनने के बजाय वह अभिशाप ही सिद्ध होती है, पर किसी भी हालत में मैं पराधीन बनने के लिए तैयार नहीं, 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।'

जो स्वाधीनता मुझे दीनबन्धु एण्ड्रचूज़ ने प्रदान की और आगे चलकर महात्मा गांधी, सम्पादकाचार्य रामानन्द चट्टोपाध्याय और ओरछेश श्रीवीरसिंहजू देव ने जिसकी परम्परा को निबाहा और कांग्रेस पार्टी ने भी जिसमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं डाली, उसका मैंने अकेले ही उपभोग न किया और जो लोग मेरे साथ काम कर चुके हैं वे इस बात की गवाही दे सकते हैं कि उन्हें भी मुझ से वही स्वाधीनता मिली है।

मुझे यह बात ईमानदारी के साथ स्वीकार करना पड़ेगी कि यदि मैं आत्मानुशासन द्वारा उस स्वाधीनता का भरपूर उपयोग कर सकता, तो एक सफल लेखक बन गया होता और कई महत्वपूर्ण ग्रंथों का रचयिता भी, पर 'प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' अर्थात 'मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार जीवन-यापन करते हैं, नियन्त्रण से क्या होता है ?'

मैं इस बात को मानता हूं कि यह स्वाधीनता मुझे बहुत महंगी पड़ी है—केवल मुझे ही नहीं, मेरे अधीनस्थों को भी। कई बार मैंने नौकरियां छोड़ी हैं, और यद्यपि फाकेमस्ती की नौबत तो कभी नहीं आई (जबतक भारत धर्म-प्राण है तबतक कोई चौबे भूखों नहीं मर सकता!) फिर भी आर्थिक संकट के कुछ दिन अवश्य आये हैं।

क्रॉपॉटकिन तथा थोरो और एमर्सन की आध्यात्मिक शराब पीने के बाद किसी के लिए आर्थिक कठिनाई की शिकायत करना वेजा है :

कर्ज की पीते थे मय और जानते थे दिल में ये,
रंग लायेगी हमारी फ़ाकामस्ती एक दिन।

प्रत्येक समझदार आदमी, यदि वह चिन्तनशील भी हो, अपना एक विशेष दृष्टिकोण बना लेता है। इसलिए स्वभावतः मेरा भी एक दृष्टिकोण विकसित हो गया है। मैं किसी की भी अधीनता में काम करना नहीं चाहता, यद्यपि यह एक बड़ा दुर्गुण है। न मैं किसी पर शासन करना चाहता हूं। ऐसे समाज की कल्पना बहुतों ने की है, जिसमें न कोई शासक होगा, न शासित, पर उस युग को लाने के लिए लाखों ही व्यक्तियों को अपने जीवन अर्पित कर देने पड़ेंगे।

अपने क्षुद्र जीवन के केवल एक मोड़ का उल्लेख मैंने किया, पर मेरा यह पक्का यकीन है कि किसी

भी प्रगतिशील जीवन में सैकड़ों ही मोड़ आ सकते हैं बल्कि यों कहिए कि वह नित्य नवीन रूप धारण कर सकता है। जिस किसी में शिष्यत्व की भावना हो, उसे बीसियों गुरु मिल सकते हैं, वह सबसे कुछ-न-कुछ सीख सकता है। दत्तात्रेय ने छत्तीस गुरु किये थे, जिनमें पशु-पक्षी तथा वेश्या भी थी। यदि हम अपने मस्तिष्क के कपाट खुले रखें और हममें आध्यात्मिक विनम्रता हो, जीवन के गहन वन में हम आनंदपूर्वक विचरण कर सकते हैं।

यद्यपि दीनबंधु एण्ड्रयूज़ ने मुझे सरकारी नौकरी के बंधन से मुक्त करा दिया और जब तक वह जीवित रहे, बराबर मेरा पथप्रदर्शन करते रहे, तथापि उनके अतिरिक्त अन्य महापुरुषों के भी सत्संग का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ।

दीन क्या है किसी कामिल की इबादत करना—सुयोग्य पुरुषों की पूजा ही धर्म है; चकबस्त का यह पद्यांश मेरे धार्मिक दृष्टिकोण को प्रकट करता है। 'हमारे आराध्य' नामक पुस्तक में जिन सत्रह व्यक्तियों के रेखाचित्र मैंने प्रस्तुत किये हैं, वे सब-के-सब विदेशी हैं। उनमें रूसी भी हैं, फ्रांसीसी भी और जापानी भी। अंग्रेज तथा आयरलैंड निवासी, जर्मन और इटैलियन स्त्री और पुरुष दोनों।

आयरलैंड के कवि, चिन्तक और चित्रकार ए० ई० के, ऋषि एमर्सन और फक्कड़ थोरो इन सभी से मैंने कुछ-न-कुछ सीखा है। सभी को मैं पूज्य मानता हूं। भारतीय महापुरुषों की नामावली मैं जानबूझ कर नहीं दे रहा। ●

कुण्डेश्वर में साढ़े चौदह वर्ष

आसाम के वनों में जंगली हाथी का शिकार खेलने के लिए महाराज श्री वीरसिंहजूदेव (ओरछेश) कलकत्ते आये हुए थे। एक दिन वे चौतल्ले पर चढ़कर मेरे छोटे-से कमरे पर पधारे और मुझसे मधुर बुन्देलखण्डी में कहा—"चौबेजी मेरी राय तो यह है कि तुम कलकत्ता छोड़कर टीकमगढ़ चलो! यहां तुम्हारे बहनोई और भाई दोनों का स्वर्गवास हो चुका है और मुझे डर है कि यदि तुम यहां रहे तो तुम्हारे भी स्वास्थ्य पर इसका बहुत बुरा असर पड़ेगा। मैं उन दिनों पपीता खाने का शौकीन था और रोज़ रुपया सवा रुपया पपीतों पर खर्च कर दिया करता था। मैंने महाराज से कहा, "क्या टीकमगढ़ में पपीते होते हैं?" इस पर महाराज को हँसी आ गई और वे बोले—"चौबेजी! तुमने भी क्या अजीब बात कही है! चलो तो सही, मनचाहे पपीते खाना।" मैं उनके उत्तर पर विचार कर ही रहा था कि उन्होंने फिर कहा—"चौबेजी, तुम यहां की औरतों के जूं भरे लहंगों की छाया में कब तक पड़े रहोगे?" महाराज के इस घासलेटी मज़ाक से मुझे भी हँसी आ गई।

इसके कुछ महीने बाद ही मैं १३ अक्तूबर, १९३७ को टीकमगढ़ पहुंच गया।

दशहरे का समय था और महाराज की लोकप्रियता भी उन दिनों चरम सीमा तक पहुंची हुई थी।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि राजकुमार कालेज इन्दौर में महाराज को हिंदी पढ़ाने का सौभाग्य मुझे चार वर्ष तक प्राप्त हो चुका था और उनके साथी और प्राइवेट सेक्रेटरी ठाकुर सज्जनसिंहजी को भी; बल्कि कुल मिलाकर मेरे सात शिष्य वहां थे।

महाराजसाहब ने ठाकुर सज्जनसिंहजी से कहा––"कार में चौबेजी को कुण्डेश्वर ले जाओ और जो कोठी उन्हें ठीक जंचे, उसीमें इनके ठहरने का प्रबन्ध कर दो।" मुझे नदी-किनारे वाला महल पसन्द आया और तत्पश्चात मेरा सामान भी वहीं पहुंचा दिया गया।

क्या अद्भुत सौन्दर्य है उस महल का! उसका नाम महाराज ने 'ईगल्स नैस्ट'––बाज़ का घोंसला रख छोड़ा था, क्योंकि वह चालीस फुट ऊंची एक चट्टान पर स्थित है। नीचे जमड़ार नदी का जलप्रपात है, जिसके छः मुखों से पानी नीचे गिरता है। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर स्व० आचार्य वासुदेवशरणजी अग्रवाल ने उसका शुभ नाम 'षड़ानन' रख दिया था। महादेवजी का मन्दिर निकट होने के कारण नाम बिलकुल फब भी गया था।

कई वर्ष मैं उसी कोठी में रहा। प्रकृति के इतने निकट सम्पर्क में आने का यह पहला ही मौका मुझे अपनी ज़िन्दगी में मिला था। महल की छत पर से चारों ओर के सौन्दर्य को देखकर मन मुग्ध हो जाता था। पास में एक छोटा-सा वन भी था, जिसे खैरई कहते हैं और जिसका नाम हमने मधुवन रख दिया था।

मधुवन दो नदियों से घिरा हुआ है। निस्सन्देह वह तपोवन है और यदि कोठी का मूल्य पांच लाख रुपया आंका जाय तो मधुवन का मूल्य एक करोड़ से कम न होगा। बिना उस तपोवन के कोठी बिलकुल ही अधूरी तथा अपूर्ण रह जायगी।

कुण्डेश्वर में वन भ्रमण तो मेरा नित्य का प्रोग्राम था। वैसे तो मैं प्रायः प्रातःकाल में ही वन भ्रमण किया करता था, पर वसन्त ऋतु में तो चाहे जब जंगल की सैर के लिए निकल पड़ता था। जब पलाश फूलते थे तो मधुवन के दृश्य अद्भुत और मनोहर हो जाते थे और तब अपने साथी संगियों को ज़बर्दस्ती सैर सपाटे के लिए ले जाता था। उससे नित्य के कार्यों में कुछ हर्ज भी होता था, फिर भी मेरे साथी मेरे अनुरोध का पालन ही करते थे। कभी-कभी बीस-पच्चीस चीतलों (स्वर्णमृगों) का झुंड दिखाई दे जाता और जंगली सुअर तो अक्सर मिल जाते थे। एक बार तो मुझे सोलह जंगली सुअर मिल गये थे!

प्रकृति का साहचर्य ही मेरे लिए कुण्डेश्वर निवास का सबसे बड़ा लाभ था। हमारी ब्रजभूमि में तो वनों का विनाश कर दिया गया है, पर बुन्देलखड में वन अब भी कुछ-कुछ विद्यमान हैं।

जब १८ अक्तूबर, १९३७ को मैं कुण्डेश्वर पहुंचा था, उस समय मुझे वहां अकेले ही रहना पड़ा। उस विशाल महल में एकाकी रहते-रहते मैं तंग आ गया और तब मुझे उस उक्ति के सत्य होने का पता लगा––"तनहाई नीम पागलपन है!" एकाकीपन कितना उद्विग्नकारी हो सकता है, इसका मुझे अनुमान भी न था। टीकमगढ़ चार मील दूर था और आसपास के ग्रामीण निवासियों से तब तक मेरा कोई परिचय नहीं था। कभी-कभी तो मन में यह भी आया कि बुर्ज पर से कुण्ड में कूद पड़ूं! निस्संदेह वह कृत्य आत्मघातक होता, क्योंकि तब मैं तैरना बिलकुल नहीं जानता था!

आज के कुण्डेश्वर के निवासी, जो संख्या में कभी-कभी सौ से भी अधिक हो सकते हैं, मेरी उस मनोदशा की कल्पना भी नहीं कर सकते। अब तो कुण्डेश्वर मध्यप्रदेश भर में बुनियादी शिक्षा का एक मुख्य

केन्द्र बन गया है। केवल मध्यप्रदेश की ही नहीं, अन्य पड़ौसी राज्यों की मिलीजुली परिषदें कुण्डेश्वर में हुआ करती हैं।

आचार्य विनोबाजी अपनी पार्टी सहित ललितपुर से ३६ मील पैदल चलकर कुण्डेश्वर पधारे थे और राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने भी वहां की यात्रा करके उसे गौरवान्वित किया था। मध्यप्रदेश के अनेक राजनैतिक नेता कुण्डेश्वर आ चुके हैं और सर्वोदय के प्रतिष्ठित कार्यकर्ता भी उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो चुके हैं। अमर शहीद आज़ाद की माताजी ने भी १४ चौदह दिन तक उस आश्रम को पवित्र किया, और उनके साथी माहौरजी, सदाशिवजी तथा मास्टर रुद्रनारायणजी भी वहां पधारे। स्वर्गीय किदवई साहब वहां आये थे और डाक्टर राममनोहर लोहिया तथा श्री हर्षदेव मालवीय भी। मिस मार्जोरी साइका तो वहां महीने भर रही थीं।

हिंदी के अनेक प्रतिष्ठित लेखक तथा कवि वहां आते रहे। स्व० वृन्दावनलालजी वर्मा, स्व० घासीरामजी व्यास, स्व० शील चतुर्वेदी वहां कई बार पधारे थे। पं० परमानंदजी और स्वामी ब्रह्मानदजी ने भी आने की कृपा की थी। श्री मिश्रजी तथा रामसेवकजी रावत तो कुण्डेश्वर के अनन्य भक्त रहे हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने वहां की यात्रा की थी।

कुण्डेश्वर केन्द्र की जो असाधारण उन्नति हुई है उसका श्रेय किसी व्यक्ति विशेष को नहीं देना चाहिये। हां, सबसे अधिक श्रेय तो माता जमड़ार नदी को है, जिसने कुण्डेश्वर के सौन्दर्य में चार चांद लगा दिये हैं और जिसके कारण वह तीर्थ भी बन गया है और फिर जमड़ार की बड़ी बहिन जामनेर ने, जो डेढ़ मील की दूरी पर जमड़ार से मिली है, उस स्थल की प्राकृतिक मनोहरता को दुगुना कर दिया है।

तत्पश्चात हम ऋणी हैं स्वर्गीय महाराज वीरसिंहजू देव के पितामह श्रद्धेय बब्बाजू (महाराजा प्रतापसिंहजू देव) के, जिन्होंने उस स्थल के महत्व को ठीक-ठीक आंका और वहां एक भव्य महल का निर्माण करा दिया; पर उन सबसे अधिक गौरवपूर्ण कार्य किया स्वयं महाराज वीरसिंहजी ने, जिन्होंने सार्वजनिक उपयोग के लिए उस महल को दान कर दिया और तब से वह गांधी भवन कहलाने लगा।

टीकमगढ़ के सभी राजनैतिक दलों के अनुयायी——बिना किसी भेदभाव के——कुण्डेश्वर पर पारस्परिक सद्भावना के वातावरण में मिलते रहे और सभी ने उसकी रक्षा के लिए भरपूर प्रयत्न भी किया। यद्यपि उससे हमारे बारे में कुछ गलतफहमी पैदा हो गई थी।

कुण्डेश्वर को साम्यवादी नेता अमर शहीद नारायणदास खरे से लेकर पी० एस० पी० के कार्यकर्त्ता श्रीलक्ष्मीनारायण नायक, श्रीनन्दराम कठैल, श्रीनाथूराम सक्सेना, कांग्रेस के प्रतिष्ठित वर्कर सर्वश्री चतुर्भुज पाठक, प्रेमनारायण खरे, पीताम्बर अध्वर्यु इत्यादि से भरपूर सहायता मिलती रही। बड़ी कृतघ्नता होगी, यदि मैं यहां बंधुवर श्री कामताप्रसाद सक्सेना को धन्यवाद देना भूल जाऊं, क्योंकि नौगांव सरकार के मुख्यमंत्री बनने पर उन्होंने ही पहला कार्य यह किया कि गांधी भवन की स्थापना की घोषणा कर दी और तदर्थ सब प्रबन्ध भी करा दिया।

ओरछा राज्य के कई मंत्री मसलन ठाकुर सज्जनसिंहजी कुण्डेश्वर के निरंतर समर्थक रहे।

अपने साथियों में सर्वश्री कृष्णनंद गुप्त, यशपाल जैन, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, पन्नालाल पाटोदिया तथा स्व० सीताराम पाटोदिया, श्रीकृष्णकिशोर द्विवेदी इत्यादि ने भी काफी परिश्रम किया और आगे चलकर आचार्य श्रीअमरनाथ कौल अदालती तथा प्रिंसिपल प्रेमनारायण रूसिया तथा उनके साथी अध्यापक-वर्ग ने अपना खून-पसीना एक कर उस पौधे को पल्लवित किया। चिरंजीव बुद्धिप्रकाश चतुर्वेदी ने भी

अपनी लगी-लगाई नौकरी छोड़कर कुण्डेश्वर की सेवा की। कुण्डेश्वर में आतिथ्य की सारी जिम्मेदारी-चाचीजी पर पड़ती थी। वे अब स्वर्गवासी हो चुकी हैं।

इस अवसर पर हम उन श्रमजीवी भाइयों को नहीं भूल सकते जिनकी मदद के बिना कुण्डेश्वर उन्नति नहीं कर सकता था। जगन्नाथ धीवर और सूरे तथा किशन इत्यादि का कार्य भी उल्लेखनीय है। आसपास के ग्रामवालों से भी हमें भरपूर सहयोग मिला।

कुण्डेश्वर केन्द्र के इस बत्तीस वर्षीय जीवन में कई बार घोर संकट भी आये जब कि उसके नष्ट होने की पूरी-पूरी आशंका हो गई थी, पर वे संकट टल गये और वह उन्नति के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता रहा। १८ अक्तूबर, १९३७ को मैं कुण्डेश्वर पहुंचा था और अब १८ अक्तूबर, १९६९ है, इन बत्तीस वर्षों में कुण्डेश्वर कुछ-का-कुछ बन गया है। पर उसी उन्नति से हमें सन्तोष नहीं है। उसे हम एक Rural Institute के रूप में देखना चाहते हैं।

हम इस बात को बार-बार दुहरा देना चाहते हैं कि कुण्डेश्वर का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग मधुवन या खैरई है। यदि उसे नष्ट कर दिया गया तो सारा गुड़ गोबर हो जायगा। प्रथम बुन्देलखण्ड-नौगांव-सरकार ने उसे गांधी-भवन को प्रदान किया था और प्रबंध के लिए हमने उसे सरकार को ही लौटा दिया था। अब समय आ गया है कि वह फिर बेसिक ट्रेनिंग कालेज को प्रदान कर दिया जाय।

कुण्डेश्वर को हम किस रूप में देखना चाहते हैं? यह कहा जाता है कि बुनियादी तालीम हमारे देश के लिए महात्माजी की सबसे बड़ी देन है। इस दृष्टि से कुण्डेश्वर महाविद्यालय को बेसिक ट्रेनिंग का सर्वश्रेष्ठ केन्द्र बनाना ही हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। अन्य सब चीज़ें गौण हैं। पर चूंकि कुण्डेश्वर का प्रारम्भिक विकास साहित्यिक केन्द्र के रूप में हुआ था, इसलिए मेरे मन का यह मोह सर्वथा स्वाभाविक है कि उस रूप को भी किसी-न-किसी तरीके से जीवित तथा जाग्रत रक्खा जाय। अब तक कुण्डेश्वर महाविद्यालय से जितने छात्र निकल चुके हैं उनकी संख्या कम-से-कम बारह सौ तो होगी ही। यदि वे चाहें तो एक-एक दो-दो रुपये प्रतिवर्ष व्यय करके कुण्डेश्वर बुन्देलखण्ड परिषद कायम करा सकते हैं। कुण्डेश्वर में मेरे पास ज़मीन का एक टुकड़ा पड़ा हुआ था, उसे मैंने इस कार्य के लिए अर्पित भी कर दिया है। थोड़ा-बहुत कार्य छात्रों के श्रमदान से भी हो सकता है। जो विद्यार्थी कुण्डेश्वर महाविद्यालय में पढ़ने आते हैं, उनमें से कुछ में साहित्यिक प्रवृत्ति भी हो सकती है। उसे पल्लवित करने के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

हमें जीवन को एकांगी नहीं बनाना चाहिये। निस्संदेह शारीरिक श्रम अनिवार्यतः आवश्यक है, पर उसके साथ-साथ साहित्य और संस्कृति को भी स्थान मिलना चाहिये। क्या ही अच्छा होता यदि कुण्डेश्वर केन्द्र के प्रारम्भ से अब तक के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों का एक लेखा-जोखा तैयार कर लिया जाता और पुस्तकाकार में उसे छपा भी दिया जाता।

जब कुण्डेश्वर में साढ़े चौदह वर्ष रहने के बाद मुझे कुण्डेश्वर छोड़ना पड़ा, क्योंकि मैं राज्यसभा का सदस्य बना दिया गया, उस समय दिल्ली जाने के लिए भी मेरे पास पैसा नहीं था। श्री पीताम्बर अध्वर्यु से सौ रुपये तथा ललितपुर के डाक्टर शादीलाल दुबे से दो सौ रुपये लेकर मैं दिल्ली पहुंचा था। फिर भी विदा होते समय आठ रुपये खर्च करके मैंने कई मजदूर रक्खे थे कि वे काट-छांट करके पलाश के वृक्षों को सुरक्षित कर दें। अब हर बसंत ऋतु में मैं यह पूछ लिया करता हूं कि मेरे उन पलाश वृक्षों में फूल आये या नहीं?

मैं अपने को कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर के शांतिनिकेतन का द्विज मानता रहा हूं। मेरा द्वितीय जन्म वहीं के स्वतंत्र वातावरण में हुआ था। गुरुदेव कहा करते थे :

“शांतिनिकेतन का कोई भी कल्पनाशील विद्यार्थी अन्यत्र कहीं जावेगा तो वह वहां भी अपनी शक्ति के अनुसार एक छोटा-सा शान्तिनिकेतन ही बनायेगा।”

यह सौभाग्य की बात है कि कुण्डेश्वर की प्राकृतिक छटा बोलपुर के शांतिनिकेतन से कई गुना अच्छी है, पर विना पुरुष और प्रकृति के सम्मेलन के कोई महान रचनात्मक कार्य हो ही नहीं सकता। कुण्डेश्वर में प्रकृति तो बहुत रमणीक है ही, पर वह किसी शक्तिशाली पुरुष की प्रतीक्षा कर रही है, जो अपनी साधना द्वारा उसे मध्यप्रदेश में नहीं, भारत में भी गौरवपूर्ण स्थान दिला सके।

कुण्डेश्वर में ‘मधुकर’ तथा ‘विंध्यवाणी’ द्वारा जो साहित्यिक कार्य हुआ, वहां से जिन-जिन आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ--यथा श्रमजीवी पत्रकारों का संगठन, जनपदीय आन्दोलन और बुन्देलखण्ड प्रांत निर्माण की आयोजना--इनका वृतांत यहां स्थानाभाव से नहीं दिया जा सकता। ‘लोकवार्ता’ पर श्री कृष्णानन्द गुप्त ही अधिकारपूर्वक लिख सकते हैं। जब ‘मधुकर’ के बन्द करने का निर्णय ओरछा सरकार ने किया था और उसकी जगह ‘ओरछा गज़ट’ निकाला था तो मेरे हृदय को बड़ी वेदना हुई थी। कवि न होते हुए भी उस समय मैंने जो तुकबन्दी की थी वह मेरी तत्कालीन मानसिक स्थिति को प्रकट करती है :

मधुकर

बन्द कर मधुकर की गुंजार,
भिनकते भुनगे को कर प्यार।
किया जिसने ये अव्यापार;
बुद्धि पर हम उसकी बलिहार।

रोककर निर्मल निर्झर गान
निरी नीरस छेड़ी ये तान
नष्ट कर हरा भरा मैदान
बनाया जिसने रेगिस्तान
अकल पर हम उसकी हैरान!

रहा छोटा-सा उपवन एक
नीड़ में रहते थे खग वृन्द
निरंतर कर वितरण आनन्द
सुगंधित था जीवन स्वचछन्द

देवताओं के उपजी डाह
घरौंदा किया नष्ट वह आह!
अकारण हुआ विधाता वाम
उसी को बारंबार प्रणाम।

'मधुकर' के बंद हो जाने से बंधुवर यशपाल जैन तथा भाई जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी का साथ छूट गया ! फिर कुछ वर्ष बाद हम लोग दिल्ली में मिले और बारह वर्ष तक पारस्परिक सहयोग से काम किया । ●

राजेन्द्र-सागर के निर्माण की अद्भुत कहानी

●

कोई सत्रह वर्ष पहले की बात है; मैं स्वर्गीय बाबू चक्रधर शरण के निकट ठहरा हुआ था। उनसे मेरा पच्चीस-तीस वर्ष पुराना संबंध था और उन्होंने प्रवासी भारतीयों के कार्य में मुझे बड़ी मदद भी दी थी और उस समय वह राष्ट्रपति महोदय के निजी सचिव के रूप में काम कर रहे थे। उन्हीं दिनों श्रीमती महादेवी वर्मा भी नई दिल्ली पधारी थीं और हम दोनों को राष्ट्रपतिजी के साथ भोजन के लिए निमंत्रण मिला था।

निश्चित समय पर हम दोनों श्रद्धेय बाबूजी के यहां पहुंचे और एक गोलमेज पर भोजन परोस दिया गया। उस दिन मुझे एक विचित्र अनुभव हुआ । आदरणीय बाबूजी, श्रीचक्रधरशरण तथा श्रीमती महादेवी वर्मा ने करीब बीस मिनट में ही अपना भोजन समाप्त कर दिया और मेरे सामने अभी आधी सामग्री रखी हुई थी। मन में बड़ा संकोच हुआ कि अब क्या किया जाय । मैंने नाटकीय ढंग पर भोजन से हाथ खींच लिये। यह देखकर चक्रधरशरणजी ने कहा :—

"चौबेजी ! महंगाई के दिनों में इतना अन्न आप बर्बाद कर रहे हैं !"

मैंने कृत्रिम गंभीरता से उत्तर दिया, "मैं डर रहा था कि कहीं आप लोग मुझे भोजन-भट्ट न समझने लगें, वैसे मुझे मंदाग्नि है ! संकोच इसलिए और भी है कि आप सबने भोजन समाप्त कर दिया ।"

राष्ट्रपति महोदय ने मुस्करा कर उत्तर दिया, "देखिए चौबेजी ! हम लोग उठे नहीं, बैठे हैं। आपका साथ देंगे। आप पूर्ण तृप्ति के साथ भोजन कीजिए।"

एक तो राष्ट्रपतिजी का आदेश और फिर पेट की पुकार ! मैं निश्चिंत हो कर पंद्रह मिनट तक भोजन करता रहा और तबतक सभी लोग यथास्थान बैठे रहे।

भोजन करने के बाद मैं राष्ट्रपति महोदय के निजी पुस्तकालय में चला गया और कमीज उतारकर एक जगह टांग दी और उधारे बदन पुराने पत्र-व्यवहार को पढ़ने में तन्मय हो गया । बड़ा अद्भुत संग्रह था। कोई डेढ़ घंटे बाद चक्रधरशरणजी पधारे और उन्होंने कहा—"शाम के बजाय बाबूजी अभी आप को समय देने के लिए तैयार हैं। तुरन्त चलिये।"

हड़बड़ी में कमीज पहन कर चल दिया। मैंने सोचा था कि शाम तक कुछ प्रश्न सोच लूंगा, ताकि सन्तोषजनक ढंग पर निवेदन कर सकूं, पर एक साथ ही आज्ञा आने पर सोचने-विचारने के लिए वक्त ही न मिला ! मन की उस अस्त-व्यस्त अवस्था में मेरी परम्परागत चौबे-प्रतिभा जाग्रत हो गई और बाबूजी

की हास्योन्मुख प्रवृत्ति को देखकर मैंने उन्हें चौबे लोगों के कई पुराने किस्से सुना दिये ! स्वर्गीय जगन्नाथ-प्रसादजी चतुर्वेदी के मित्र होने के कारण बाबूजी हमारे जातीय स्वभाव से भली-भांति परिचित थे। दो-तीन किस्से मैं ताबड़तोड़ सुनाता गया। बाबूजी कई बार हँसे और उन्हें खांसी आ गई। अतएव मुझे अपना यह व्यापार बन्द करना पड़ा। अब समझ में नहीं आया कि आखिर क्या बात की जाय ! मुझे एक मजाक सूझा। मैं यह जानता था कि बाबूजी ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा रखते हैं, इसलिए उनकी उस भावना से लाभ उठाना मैंने अपना तत्कालीन कर्त्तव्य समझा। बिना दक्षिणा के कोई चौबे कैसे सन्तुष्ट हो सकता है ! मैंने बाबूजी से कहा--"बाबूजी, हमारे गांधी भवन (कुण्डेश्वर, टीकमगढ़) में पानी की बहुत कमी है। आप वहां राजेन्द्र सागर बनवा दीजिए। विन्ध्य-प्रदेश सरकार को आदेश दे दीजिए।"

बाबूजी ने कहा--"यह तो बहुत अनुचित होगा कि मैं अपने नाम पर सागर बनाने की बात विंध्य-सरकार को लिखूं।"

इस पर मैंने निवेदन किया--"आप तो केवल सागर बनाने का आदेश दे दीजिए, नामकरण-संस्कार तो हम लोग कर लेंगे।"

समय हो चुका था और मैं प्रणाम कर लौट रहा था कि चक्रधरबाबू रास्ते में मिल गए। बोले, "आप भी अजीब आदमी हैं। देखते नहीं, आप उल्टी कमीज पहन कर बाबूजी के पास चले गए।"

मैं घबरा गया। मैंने कहा--"यह तो बड़ी अशिष्टता हुई। आपने एक साथ आकर सूचना दी थी, सो मैं जल्दी के कारण यह भूल कर बैठा ! अब क्या लिखित माफी मांग लूं ?"

चक्रधरजी ने कहा--"खैर कोई बात नहीं। बाबूजी इतने उदार हैं कि उन्होंने वैसे ही आपको क्षमा कर दिया होगा।"

अपनी लापरवाही पर पछताता हुआ मैं कुण्डेश्वर लौट आया। उसके दस दिन के भीतर ही मुझे खबर मिली कि रीवां से मि० बाटल चीफ इंजीनियर पधारे हैं और मुझसे मिलना चाहते हैं। वह आये और पहला सवाल उन्होंने यह किया--"आपने राष्ट्रपति महोदय को क्या लिख दिया था ? अब आप हमें बतलाइए कि आपका वह सागर कहां बनेगा ?"

मुझे बांधों और सरोवरों के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं था, हां यह अवश्य सुन रखा था कि महाराज प्रतापसिंहजू देव (महाराजा वीरसिंहजी के 'बब्बाजू') पहाड़ी नामक ग्राम के पास एक तालाब बनवाना चाहते थे। मैं इंजीनियर साहब की पार्टी को वहीं ले गया और पहाड़ी के कोने पर से निकलने वाला एक नाला दिखला कर बोला--"शायद इसी को बांधा जा सकता है।"

इस पर इंजीनियर साहब बहुत नाराज हो कर बोले--"जनाब को कुछ पता भी है कि तालाब कैसे बनते हैं ! इस नाले के दूसरी ओर तो मीलों तक सपाट मैदान पड़ा हुआ है ! करोड़ों रुपये खर्च हो जायंगे और न जाने कितने गांव डूब जायंगे ! बिना समझे-बूझे राष्ट्रपति को लिख दिया और हम लोगों को मुफ्त में हैरान किया !"

मैं निरुत्तर हो गया। फिर भी मैंने हिम्मत करके कहा--"राष्ट्रपति का हुक्म है। यहां न सही कहीं दूसरी जगह हमारे जिले में ही राजेन्द्र-सागर बनना जरूर चाहिए।"

तत्पश्चात इंजीनियर साहब रीवां लौट गए और मैंने समझ लिया कि सारा मामला गड़बड़ हो गया।

पर राजेन्द्र-सागर की चर्चा चलती रही। श्रीकृष्णकान्तजी एम० एल० ए० ने इस प्रसंग को आगे बढ़ाया और न जाने किस-किस ने उसके लिए प्रयत्न किया ! उसका श्रेय उन सबको मिलना चाहिए।

अभी पिछले महीने मैं अपने निवास-स्थान कुण्डेश्वर पर गया तो पता लगा कि वहां से करीब ४ मील की दूरी पर राजेन्द्र-सागर बन रहा है ! वहां एक हजार मजदूर लगे हुए हैं और काम जोर-शोर के साथ आगे बढ़ रहा है ! मैंने वहां की पैदल यात्रा करने का निश्चय किया और श्रीसूर्यप्रसाद श्रीवास्तव (अध्यापक) तथा गोकुलप्रसाद यादव के साथ चल दिया। दो-ढाई घंटे तक घूमता रहा। उस दृश्य को देख कर बड़ा हर्ष हुआ। कितने ही फोटो मैंने लिये। सबसे पहले नगदा नाला का लिया, जो आगे चलकर राजेन्द्र-सागर का रूप धारण करेगा। दो मजदूरों के चित्र लिये और दो असिस्टेंट इंजीनियरों के भी। ये दोनों केरल के निवासी हैं, पर हिंदी साफ-साफ बोल लेते हैं। ये खूब परिश्रम कर रहे हैं। उनसे ज्ञात हुआ कि यह बांध काफी बड़ा होगा––ललितपुर के गोविन्द सागर से कहीं अधिक विस्तृत। इंजीनियर अख्तर साहब से मालूम हुआ कि बांध की दीवार सवा दो मील लम्बी और बारह फुट चौड़ी होगी ! राजेन्द्र-सागर के बन जाने पर आसपास के ग्राम धनधान्य से समृद्ध तो बन ही जायंगे, प्राकृतिक दृश्य बड़ा मनोहर होगा । शीघ्र ही वहां सैकड़ों वृक्षों का लगना प्रारंभ हो जाएगा और पानी के लिए छोटी-मोटी नहरें भी बनने लगेंगी। इंजीनियर साहब दूरदर्शी व्यक्ति हैं और उनमें सौन्दर्य की भावना अच्छी मात्रा में विद्यमान है और वह राजेन्द्र सागर को अत्यन्त उपयोगी ही नहीं, खूब रमणीक भी बना देना चाहते हैं।

मैं उस दिन की कल्पना कर रहा हूं जब कि सन १९६७ में बाँध की सवा दो मील लम्बी सड़क पर मुझे टहलने का सौभाग्य प्राप्त होगा। एक ओर राजेन्द्र-सागर लहरा रहा होगा तो दूसरी ओर शस्य-श्यामला भूमि होगी । साग-तरकारी की बाड़ियां होंगी, उपवन होंगे और वृक्षों के समूह भी । राजेन्द्र सागर के निर्माण में साढ़े बयालीस लाख रुपये खर्च होंगे। मैं कभी-कभी मजाक में कहा करता हूं––"मेरे जीवन की यह सबसे बड़ी दक्षिणा है !"

निस्सन्देह राजेन्द्र सागर का स्रोत राष्ट्रपति महोदय की सहृदयता में है। उन जैसा दीनबन्धु राष्ट्रपति इस देश को शायद ही कभी मिले। राजेन्द्र-सागर का निर्माण मजदूरों के मजबूत हाथों से ही हो रहा है। हम बुद्धिजीवी तो स्वप्न ही देख सकते हैं, उन्हें वास्तविक रूप देना श्रमजीवियों का ही काम है।

राजेन्द्र-सागर बन चुका है और उसकी नहरों से पानी भी दिया जाने लगा है। अभी मैंने सुना कि कुण्डेश्वर के उपवनों को वह जीवन प्रदान कर रहा है। आसपास की जनता के हर्ष का क्या ठिकाना ! ●

लम्बे भाषणों और सूखी बहसों के रेगिस्तान में

कुछ लोगों को यह खयाल होगा कि पार्लमेंट या संसद में जहां सम्पूर्ण देश के लिए कानून बनाये जाते हैं, हमेशा गंभीरता का ही वातावरण रहता होगा, पर यह बात अर्ध-सत्य ही है। आदमी आखिर आदमी ही है और वह हमेशा संजीदा नहीं रह सकता। हँसना उसके लिए अनिवार्यतः आवश्यक है। मुंह लटकाये बैठे रहने वाले नेता या कार्यकर्ता और विधान-सभा या संसद के सदस्य हमारे लिए आदर्श नहीं हो सकते। जब महात्मा गांधीजी से एक विदेशी पत्रकार ने पूछा—"क्या आप में हास्य-रस की प्रवृत्ति है ?" तो उन्होंने जवाब दिया था—"अगर मुझमें हास्य-प्रवृत्ति न होती, तो मैंने कभी का आत्मघात कर लिया होता।" महात्मा जी बहुत मजाक करते थे और खूब हँसते हँसाते थे।

हमारी संसद के दोनों सदनों में—लोक-सभा तथा राज्य-सभा में—हँसने-हँसाने के अनेक अवसर आते रहते हैं। लोकसभा के स्पीकर श्री अनंतशयनम् अयंगार तथा राज्यसभा के चेयरमैन श्री राधाकृष्णन, इन दोनों में ही हास्य-रस की अच्छी प्रवृत्ति थी और इन दोनों के कारण दोनों सदनों में प्रायः हास्य-रस का संचार होता रहता था।

पहले राज्य-सभा का नाम राज्य-परिषद् था। जब इसका नाम राज्यसभा रक्खा गया, तो कविवर नागार्जुन ने मुझसे पूछा कि क्या आपकी राज्यसभा भी प्राचीन राज्यसभाओं की तरह मनोरंजक है? मैंने कहा—"पहले आप यह बतलाइए कि प्राचीन राज्यसभाओं में मनोरंजन की क्या-क्या सामग्री होती थी ?" तो उन्होंने एक प्राचीन संस्कृत-श्लोक सुना दिया :

राज्यसभा गंतव्या, दृष्टव्या, मदन-विह्वला बाला।
यद्यपि किमपि न लब्धं, नयन-सुखं को निवारयति ?

अर्थात राज्य-सभा में जाना चाहिए और उद्दाम यौवना का सौन्दर्य अवश्य निहारना चाहिए, क्योंकि इनसे और कोई लाभ यदि न भी हो, तब भी नयनों को सुख तो मिलता ही है !

मैंने कहा—"नागार्जुनजी, आपके श्लोक का राज्य-सभा वाला अंश साधारण दर्शकों के काम आ सकता है; क्योंकि वहां की कानूनी बहस समझ में न आये और इस तरह उन्हें और कोई लाभ न भी हो, तब भी वहां के वातावरण का नयन-सुख तो मिलता ही है, पर हम सदस्यों पर यह बात लागू नहीं होती, हमारे लिए यह गलत है; क्योंकि हम लोगों को २१ रुपया रोज मिलता है।"

ब्रिटिश-शासन-काल की केंद्रीय असेम्बली में श्री कबीरुद्दीन अपने मजाकों के लिए प्रसिद्ध थे और उनके बाद श्रद्धेय श्रीप्रकाशजी भी अच्छे मजाक कर लेते थे। एक बार स्वराज्य पार्टी के किसी नेता ने असेम्बली में भाषण देते हुए कहा—"हम लोग घनघोर आंदोलन करेंगे, हम दिन-रात आंदोलन करेंगे।" किसी सदस्य ने तड़ाक से कहा—"फिर जनाब चरखा कब कातेंगे?" सुनकर दोनों ही पक्षों के लोग खूब हँसे।

एक सज्जन ने श्रीप्रकाशजी का एक और गहरा मजाक सुनाया, यद्यपि स्वयं श्रीप्रकाशजी उसे निर्दयतापूर्ण मानते हैं। बात यह हुई कि एक एंग्लो-इण्डियन सज्जन देश-भक्ति के भावों से परिपूर्ण होकर

ब्रिटिश फौज के बारे में बोल रहे थे। कहते-कहते वे यहां तक कह गये कि आखिर ये टॉमी लोग हम लोगों को देते क्या हैं ? श्रीप्रकाशजी ने तुरंत कहा—"इन्हीं के कारण तो हमें एंग्लो-इण्डियन प्राप्त होते हैं जनाब !" यह सुनकर वे एंग्लो-इण्डियन महानुभाव तो सन्न रह गए, पर असेम्बली में काफी हँसी हुई।

राज्य-सभा में राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त प्रतिवर्ष एक-न-एक कविता पढ़कर आनंद वितरित कर देते हैं। लम्बे-लम्बे भाषणों में उनका विश्वास नहीं। वे दो-तीन पंक्तियों में ही करारी चोट कर जाते हैं। भ्रष्टाचार और घूसखोरी की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने एक बार कहा था :

कर लेते हैं आप,
आपके गण लेते में धनयुत मान।
थाने क्या, निज न्यायालय ही
जाकर देखें कृपानिधान।

एक बार खराब फिल्मों के बारे में बोलते हुए मैंने राज्य-सभा में निवेदन किया—"फिल्मों के गाने छोटे-छोटे बच्चों को कण्ठस्थ हो गए हैं और वे सड़कों पर गाते हुए सुनाई देते हैं :

इस दिल के टुकड़े हज़ार हुए,
कोई यहां गिरा, कोई वहां गिरा।

चूंकि हम गद्य-लेखक हैं, इसलिए "दिल के टुकड़ों" की बात नहीं जानते; हमारे राष्ट्रकवि ही उनका वर्णन कर सकते हैं ।" सुनते ही राष्ट्रकविजी तुरंत बोले—"जी, आप अपनी बात कहिए।" एक अच्छा-खासा मजाक रहा ।

एक बार राज्यसभा में किसी ने मजाक उड़ाते हुए कहा—"श्रीमान अध्यक्ष महोदय, इस सदन में सीता हैं, सावित्री हैं और लक्ष्मी भी हैं।" उनका अभिप्राय था श्रीमती सीतादेवी परमानंद, श्रीमती सावित्री निगम और श्रीमती लक्ष्मीदेवी मेनन से। यह सुनकर एक महाशय ने कहा—"और इस सदन में राधा और कृष्ण भी तो हैं।" कहने की आवश्यकता नहीं कि राज्यसभा के अध्यक्ष श्री राधाकृष्णन अध्यक्षासन पर थे और जब उन्हें राधा और कृष्ण के रूप में उपस्थित किया गया, तो दूसरे सदस्य ही नहीं हँसे, वे भी उत्फुल्ल हो उठे ।

एक बार ऐसा हुआ कि राज्य-सभा में कैंटूनमैण्ट (छावनी) के विषय में कोई चर्चा चल रही थी। एक सदस्य महाशय कुछ ऊँघ रहे थे, पर तभी चेयरमैन ने भाषण के लिए उनका नाम पुकारा। वे भड़भड़ाकर उठ बैठे और कण्ट्रोल के विषय में धाराप्रवाह बोलने लगे। दो-तीन मिनट वे बोलते रहे। कई सदस्यों ने उन्हें टोका भी, पर वे रुके नहीं। तब चेयरमैन ने उन्हें रोक कर कहा—"महाशय, कण्ट्रोल उठे हुए कई बरस हो गए, आपको तो कैंटूनमैण्ट के बारे में बोलना था।" सदन में खूब हँसी हुई और वे बैठ गए।

पार्लमिण्ट के सेंट्रल हॉल और कक्षों में भी काफी अच्छे मजाक हुआ करते हैं। कविवर सुमित्रानन्दन पंत के बड़े भाई देवीदत्तजी पंत बड़े हास्यप्रेमी थे और उनके कई मजाक सुनने का अवसर मुझे भी मिला था। दुःख की बात है कि एक मोटर-दुर्घटना में उनका स्वर्गवास हो गया । बंधुवर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी जहां कहीं सेंट्रल हाल में बैठते थे, उनके पास एक मण्डली जुट जाती थी और वे बराबर साथी संगियों को हँसाया करते थे ।

एक बार उन्होंने कहा—"मैं राष्ट्रपतिजी की सेवा में यह निवेदन करने वाला हूं कि वे तीन उपाधियां और भी चालू करें।" उनमें एक उपाधि थी; भारत-भांड। अन्य दो उपाधियों का मैं जिक्र नहीं

करूंगा; क्योंकि इससे मेरी खुद की बदनामी हो जायगी। नवीनजी ने मुझ से कहा था कि वह उपाधि तुम्हें ही मिलनी चाहिए। सीतामऊ के राजकुमार रघुवीरसिंहजी ने इस मजाक को कण्ठस्थ कर लिया है और वे पार्लमेण्ट के कक्ष में इसका पारायण किया करते थे !

श्रीवेंकटेशनारायणजी तिवारी के कॉफी-क्लब में (पार्लमेण्ट के ऊपर के एक कमरे में) खासे-अच्छे मजाक नित्यप्रति ही हुआ करते थे। मैं भी उस क्लब में कभी-कभी चला जाया करता था। मुझे कॉफी पसन्द नहीं थी, क्योंकि मैं चाय का पियक्कड़ था। एक दिन मैं बैठा हुआ था और कॉफी सामने आई, तो मैंने अस्वीकार कर दिया। तिवारीजी ने कहा—"चौबेजी, आप दूध तो पी सकते हैं?' मैंने कहा—"जी हां, दूध पी लूंगा।" उस समय वहां बेगम साहिबा ऐजाज़ रसूल भी बैठी थीं। तिवारीजी उनकी ओर मुखातिब होकर बोले—"बेगम साहिबा, चौबेजी को दूध पिलाइये।" वहां बैठे सब लोग हँसने लगे। बेगम साहिबा भी बहुत खुश हुईं और उन्होंने कॉफी का बचा-बचाया सारा दूध मेरे प्याले में उंड़ेल दिया! मजाक को धुरे तक पहुंचाने के लिए मैं उस दूध को गटागट पी गया!

नवीनजी मुझसे उमर में पांच बरस छोटे थे, लेकिन दिल्ली आने पर वे मेरे गार्जियन बन गए थे। यही नहीं, मेरे चरित्र की रक्षा का ठेका भी उन्होंने ले लिया था! एक दिन पार्लमैण्ट की लॉबी में कई सदस्यों के सामने उन्होंने मुझे बड़ी डाट पिलाई। उन्होंने कहा—"देखते नहीं हो, यह ग्रामीण आदमी कहीं से आ गया है। न इसने दाढ़ी बनाई है और न कपड़ों पर इस्त्री कराई है। न जाने कहां-कहां से पकड़ कर हमारी पार्टी ने गंवार आदमी संसद में भेज दिए हैं।" उनकी इस फटकार से मुझे रोना-सा आ गया। जब सब लोग चले गए, तो मैंने नवीनजी से शिकायत की कि आपने सबके सामने मेरा इस तरह अपमान क्यों किया? वे मेरे कंधे पर हाथ रखकर हँसते हुए बोले—"यार हो तुम बड़े मूरख! तुम मजाक भी नहीं समझते? अच्छा हमारी एक बात मानो। रोज दाढ़ी बनाकर और रोज साफ कपड़े पहनकर पार्लमैण्ट में आया करो और संसद का कोई और काम भले ही न करो, पर ये दो काम जरूर किया करो।" मुझे हँसी आ गई। जब तक नवीनजी जीवित रहे, मैंने उनकी इस आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। एक बार जब बनारस का नाम वाराणसी रख दिया गया, तो नवीनजी ने श्रद्धेय पंतजी के सामने कहा—"अब ये वाराणसीदास चतुर्वेदी हो गये हैं।" पंतजी ने इस मजाक में खूब रस लिया।

दोनों सदनों में श्रमजीवी पत्रकारों से सम्बन्ध रखने वाला कानून पास कर दिया गया, तो हम लोगों ने कृतज्ञतास्वरूप सूचना एवं प्रसार मंत्री डा० केसकर साहब को पार्लमैण्ट के रेस्टॉरां में चाय-पार्टी देने का प्रबन्ध किया। चूंकि उस वर्ष श्रमजीवी-पत्रकार-संघ के प्रधान होने का सौभाग्य मुझे ही प्राप्त था, इसलिए धन्यवाद के दो शब्द मुझे भी बोलने पड़े। मैंने उस समय कहा—"आज से तीस बरस पहले की बात है कि काशी विद्यापीठ के एक छात्र या अध्यापक का लेख मेरे मासिक पत्र में छपने के लिए आया था। लेख चूंकि काफी अच्छा था, मैंने उसे छाप दिया। मुझे उस समय क्या पता था कि उस लेख के लेखक महोदय आगे चलकर सूचना एवं प्रसार विभाग के मन्त्री होंगे और अपना बिल पास कराते समय वे प्राइवेट तौर पर हमारी बड़ी मदद करेंगे।" यह सुनकर उपस्थित लोग हँस पड़े, तो मैंने कहा—"प्राइवेट तौर पर मदद करने की बात 'आफ दि रैकर्ड' यानी 'बिलकुल गोपनीय' है। कहीं आप इसे अखबारों में न छाप दीजिएगा। इस पर तो और भी गहरी हँसी हुई और सब खिलखिला पड़े!

पार्लमेण्ट के केन्द्रीय हॉल तथा कक्षों में कितने ही ऐसे मजाक भी हुआ करते हैं, जिनको छापना खतरे से खाली नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि लम्बे भाषणों और सूखी बहसों में मन ऊब जाता है और यदि

हास्य के अवसर न आएं, तो पार्लामैण्ट रेगिस्तान ही बन जाए । हँसी और मजाक ही उसे नखलिस्तान बनाये रखते हैं। ●

मेरे सपने कैसे साकार हुए

मैं भी एक स्वप्नदर्शी हूं और मैंने कितने ही सपने देखे हैं और उनमें से कुछ साकार भी हुए हैं। उनके सिवाय बहुतों की योजना भी मैंने बनाई थी। बन्धुवर नागार्जुनजी ने मज़ाक में मुझे 'योजना विहारी महास्थविर' की उपाधि से अलंकृत किया था! उनका यह व्यंग मुझे मधुर लगा, क्योंकि उसके पीछे उनकी सद्भावना ही थी।

फिर भी मेरे मन में एक प्रश्न अवश्य था, "यदि कटाक्ष करने वाले महानुभावों को मेरे साकार स्वप्नों के बारे में कुछ जानकारी होती, तो क्या वे अधिक सहृदयता से काम न लेते ? पर इसमें मैं अपना ही अपराध मानता हूं। मैंने कभी उन स्वप्नों का इतिहास लिखा ही नहीं!

शांतनिकेतन के हिंदी भवन, सम्मेलन की सत्यनारायण कुटीर, कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) का गांधी भवन तथा नई दिल्ली के हिंदी भवन के बारे में विवरणात्मक वृत्तांत मैंने कभी नहीं लिखे। हां, फुटकर लेखों में यत्र-तत्र उनका जिक्र अवश्य कर दिया है।

अपने परिश्रम या अपनी सफलताओं का स्वयं ही उल्लेख करना अत्यंत अप्रिय कार्य है—किसी संस्कृत कवि ने इसकी उपमा किसी युवती द्वारा अपने ही कुच-मर्दन से दी है। अपने लेखक जीवन के अन्तिम दिनों में—७८वीं वर्ष में—मुझे यह अशोभनीय कार्य करना पड़ रहा है! इसका एक मात्र उद्देश्य यही है कि मेरे नवयुवक साथी शायद उससे कुछ प्रेरणा ग्रहण कर सकें।

प्रारम्भ में ही मैं एक बात बिलकुल स्पष्ट कर देना चाहता हूं, मैं उन स्वप्नों का जन्मदाता ही अपने को मानता हूं और उनके पूरे होने का सम्पूर्ण श्रेय हड़पने की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता।

यदि बीसियों व्यक्तियों का—यजमानों का तथा उनके कार्यकर्ताओं का—सहयोग मुझे न मिलता तो मेरे वे सपने कल्पना जगत में ही पड़े रह जाते।

हिन्दी भवन (शान्तिनिकेतन)

वर्षा ऋतु के बाद शांतिनिकेतन में सूर्यास्त बड़ा मनोहर होता है। एक दिन संध्या समय मैं बंधुवर हजारीप्रसादजी द्विवेदीजी के साथ रैड रोड (Red Road मुरम पड़ी हुई लाल सड़क) पर टहलने गया हुआ था। द्विवेदीजी बड़े अच्छे संभाषणकर्ता हैं। उनके साथ बातचीत करने में सदैव आनंद आता है। रास्ते भर हम लोग खूब हँसते-हँसाते रहे। जब हम दोनों 'पान्थ निवास' पर लौटे तो मैंने मजाक ही मजाक में कहा—"यहां हिन्दी भवन बनेगा" और आश्चर्य की बात यह है कि तीन वर्ष के भीतर ही शांति निकेतन में

बत्तीस हजार की लागत का भवन बन कर तैयार हो गया, जिसकी नींव दीनबंधु एण्ड्रयूज ने रक्खी थी और जिसका उद्‌घाटन आगे चलकर पंडित जवाहरलालजी ने किया था।

पर मेरा यह स्वप्न आसानी से चरितार्थ नहीं हुआ। उसके लिए मुझे पन्द्रह बार कलकत्ते से शांति-निकेतन जाना पड़ा था। एक बार सुप्रसिद्ध गुजराती लेखक श्रीयुत चावड़ाजी ने झुंझला कर मुझसे कहा "आपको बार-बार तंग होते देख कर मुझे करुणा आती है। अपनी शक्ति का यह दुरुपयोग आप क्यों करते हैं? मैं तो इसे प्रोस्टीट्यूशन ऑफ एनर्जी ही मानता हूं।" मैं चावड़ा साहब को कैसे समझाता कि मेरे मन में शांति-निकेतन के ऋण से उऋण होने की जो उत्कट भावना थी, उसे मैं दबा नहीं सकता था। इन पन्द्रह यात्राओं में मेरी गांठ के तीन सौ रुपये से अधिक खर्च हो गये और समय तथा शक्ति का तो कहना ही क्या है!

शांति निकेतन के 'हिंदी भवन' के श्रीगणेश की कथा आश्चर्यजनक है।

मारवाड़ी बालिका विद्यालय (कलकत्ता) के पुस्तकालय का उद्‌घाटन होना था और उसके लिये भाई सीतारामजी सेकसरिया ने मुझसे आग्रह किया। उनका आदेश मान कर मैं वहां गया और मैंने अपने भाषण में उपस्थित छात्राओं के सम्मुख बड़े जोरदार शब्दों में यह निवेदन किया—"यहां से ९९ मील की दूरी पर विश्व के महान कवि रहते हैं और आपने उनके दर्शन भी नहीं किये, यह कैसे आश्चर्य की बात है!" मेरा अभिप्राय कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर से था। मैं जानता था कि इसका क्या परिणाम होगा। लड़कियों के हृदय में गुरुदेव के दर्शन करने की उत्कंठा तीव्र हो गई और उन्होंने श्रीसेकसरियाजी से आग्रह किया कि वे शीघ्र ही बोलपुर की तीर्थयात्रा का प्रबंध कर दें।

सेकसरियाजी दूसरे दिन मेरे यहां पधारे और उन्होंने कहा—"आप लड़कियों को बहका आये हैं! अब आप ही बोलपुर चलकर कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन उन्हें कराइये! कम-से-कम दस-बारह लड़कियां चलने को तैयार हैं।"

मैं तो चलने के लिए उद्यत था ही! जैसे चालाक ज्योतिषी लोग अंधविश्वासी आदमियों को उनके बुरे ग्रह बतलाकर किसी ब्राह्मण को दान करने का उपदेश देते हैं और वह बिचारा घबराया हुआ व्यक्ति उन ज्योतिषीजी को ही दान दे देता है, इसी प्रकार मैंने भी षड्यंत्र किया था! श्रीसेकसरियाजी दस-बारह लड़कियों के साथ बोलपुर के लिए रवाना हो गये, मैं साथ में चला। लड़कियों के ठरने के लिए अलग प्रबंध किया गया और मैं 'पांथ निवास' में ठहरा। दोपहर का भोजन करने के बाद मैं विश्राम करने लगा। अभी कुछ देर ही सोया होऊंगा कि किसी ने आकर जगा दिया! पहले तो बहुत झुंझलाहट हुई फिर मैंने उस व्यक्ति से पूछा—"क्यों भाई क्या मामला है?" उसने कहा—"गुरुदेव आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" मैं भड़भड़ाकर उठ बैठा और हाथ-मुंह धोकर सीधा उत्तरायण पहुंचा और तुरंत ही गुरुदेव की सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेव ने कहा—"आपके जो मारवाड़ी मित्र आये हुए हैं, उनसे मैं यह प्रार्थना करना चाहता हूं कि वे छात्राओं के बोर्डिंग हाउस में एक नवीन कक्ष का निर्माण करा दें। आपकी क्या सम्मति है?" मैंने निवेदन किया—"गुरुदेव! यदि धृष्ठता क्षन्तव्य हो, तो मैं तो हिंदी भवन के लिए अपील करने का समर्थन करूंगा। मैं तो उसी के लिए क्षेत्र तैयार कर रहा हूं।" गुरुदेव मेरी बात पर राजी हो गये। निश्चित समय पर हम सब लोग 'उत्तरायण' में उनकी सेवा में उपस्थित हुए। गुरुदेव ने उस समय जो भाषण दिया वह अत्यन्त मार्मिक था। उन्होंने कहा—"मुझे इस बात का खेद है कि मैं शुद्ध हिंदी नहीं बोल सकता। विदेशी भाषा अंग्रेजी में बोलना तो अनुचित होगा, इसलिये यदि मैं सरल बंगला में बोलूं तो क्या ये लड़कियां समझ सकेंगी?" श्री

सेकसरियाजी ने उत्तर दिया--"हां, बहुत-कुछ समझ लेंगी, आप बंगला में ही बोलिये।" तब गुरुदेव ने कहा--"हम पुरुष लोग आपस में खूब लड़ते-झगड़ते हैं। यह काम स्त्रियों का ही है कि वे आपस में मेलजोल कायम करें। बड़ी होने पर आप हिंदी भाषा-भाषियों और बंगालियों में एकता कायम कर सकती हैं। मैंने जो शांति-निकेतन कायम किया है, उसका एकमात्र उद्देश्य यही है कि भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वाले पारस्परिक सद्भावना के साथ यहां रहें। इसी उद्देश्य से मैंने विदेशियों को भी यहां निमंत्रित किया है। पर मैं तो अब बुड्ढा हो चला और अधिक वर्ष जीवित नहीं रह सकता। स्वभावतः मेरे हृदय में अपनी इस संस्था की चिंता है। इसकी आर्थिक जिम्मेदारियां मैं संभाल नहीं पाता। एक बार मेरी चिंता को जानकर पंडित मालवीयजी ने मुझसे पूछा था, 'कितना पैसा इकट्ठा हो जाने पर आप भारमुक्त हो जायंगे?' मैंने निवेदन किया कि 'चार-पांच लाख रुपये पर्याप्त होंगे।' पर यह बात जहां-की-तहां पड़ी रह गई और पंडित मालवीयजी कुछ कर नहीं सके!"

जिस समय गुरुदेव करुणोत्पादक ढंग से बातें कर रहे थे, मैं मन में सोच रहा था कि देखो कालिदास, कबीर और तुलसीदास के सच्चे उत्तराधिकारी और विश्व के एक श्रेष्ठ कवि तथा लेखक कैसी आर्थिक कठिनाई में फंसे हैं! उस समय सीतारामजी सेकसरिया मेरे पास ही बैठे थे। उन्होंने धीरे से मेरे कान में कहा--"मैं पांच सौ रुपये हिन्दी भवन के लिए गुरुदेव को अर्पित करना चाहता हूं, आपकी क्या राय है?" मैंने धीरे से यही उत्तर दिया--"अवश्य कीजिये।"

गुरुदेव ने सधन्यवाद उस दान को स्वीकार किया और कहा--"पर्याप्त सहायता मिलने पर शांति-निकेतन में हिंदी भवन की स्थापना अवश्य हो जायगी।

बंधुवर श्रीसेकसरियाजी के उस प्रथम दान से ही हिंदी भवन की नींव पड़ी। यद्यपि यह बात मुझे खेदपूर्वक स्वीकार करनी पड़ेगी कि उक्त महान उद्देश्य की पूर्ति में अनेक बाधाएं आईं। शांतिनिकेतन की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी और जैसा कि प्रायः साधनहीन संस्थाओं में हुआ करता है--एक विभाग के रुपये मजबूरन दूसरे विभाग में खर्च हो जाते हैं। शांतिनिकेतन में भी यही हुआ। हिंदी विभाग की यह रकम पांच सौ रुपये हिंदी शिक्षक के वेतन पर खर्च कर दिये गये। जब मैंने यह सुना तो मुझे हार्दिक खेद हुआ; फिर भी मैंने अपना प्रयत्न जारी रक्खा।

दीनबंधु एण्ड्रूज विश्राम करने के लिए प्रोफेसर रुद्र के पास इलाहाबाद जाने वाले थे। मैंने उनसे अनुनय-विनय कर एक दिन कलकत्ते में रुकने के लिए आग्रह किया। वे राजी हो गये, यद्यपि उनकी तंदुरुस्ती ठीक नहीं थी।

दीनबंधु के कलकत्ते आने की तिथि निश्चित हो गई। वे बोलपुर से शाम की गाड़ी से कलकत्ते पहुंचे। मैंने पंद्रह-बीस प्रतिष्ठित हिंदी वालों को साथ लेकर स्टेशन पर ही उनका स्वागत किया और तब से लगा कर दूसरे दिन की शाम तक का प्रोग्राम निश्चित कर दिया।

पहला काम तो मैंने यह किया कि मैं टैक्सी द्वारा खेतान बंधुओं के यहां उन्हें ले गया, जहां उनके ठहरने का प्रबंध किया गया था। जब वे वहां निवृत्त हो चुके तो मैंने कहा--"चलिये मेरे साथ।" सर्वप्रथम मैं उन्हें श्री भगीरथ कानौड़िया के पास ले गया। उन्हें इस बात की कोई सूचना नहीं दी गई थी। जब हम लोग पहुंचे तो कानौड़ियाजी ने आश्चर्यपूर्वक कहा--"चौबेजी! आपने इन महापुरुष को क्यों तंग किया है?" मैंने निवेदन किया "हम लोग शान्तिनिकेतन में एक हिन्दी भवन बनवाना चाहते हैं। फिलहाल हम उसे मिट्टी का ही बनवायेंगे, जैसा गुरुदेव ने शामली को बनवाया है और उसमें दो हजार रुपये खर्च होंगे, जिसमें एक

हजार आपके जिम्मे रक्खे गये हैं।" मिट्टी के हिन्दी भवन की बात सुनकर कानौड़ियाजी को कुछ आश्चर्य तो हुआ, फिर भी उन्होंने मुस्करा कर कहा--"दो हजार में पांच सौ ही मेरे नाम रखिये।" हम लोग राजी हो गये। तब कानौड़ियाजी ने कहा--"दीनबंधु जैसे महापुरुष को इतनी छोटी-सी रकम के लिए आपने क्यों कष्ट दिया ? उसके लिए तो एक पत्र लिख देना ही काफी था।" मैंने कहा कि आपके साथ उनका परिचय भी तो कराना था। भविष्य में हिन्दी भवन का बहुत-सा कार्य आपसे ही लेना है। कानौड़ियाजी ने कहा--"शांतिनिकेतन के हिदी भवन के लिये जो मुझसे बन पड़ेगा करूंगा।" यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने अपने वचन का अक्षरशः पालन किया।

कानौड़ियाजी के बाद मैं दीनबंधु को श्रद्धेय रामानन्द बाबू के पास ले गया। उनकी धर्मपत्नी का देहांत हाल ही में हो चुका था, पर उस अप्रिय प्रसंग की चर्चा वहां बिलकुल ही नहीं हुई। अन्य विषयों पर वार्तालाप होता रहा। ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज की मनोरंजक चर्चा हुई। अशोक बाबू (बड़े बाबू के छोटे पुत्र) कैम्ब्रिज के ग्रेजुएट हैं और उनकी पत्नी ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ती थीं। श्रीरामानन्द बाबू ने मुस्कराते हुए कहा--"हमारे घर में ही यह प्रश्न छिड़ जाता है कि ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में बेहतर कौन है ? मि० एण्ड्रयूज आप ही इसका फैसला कीजिये।" मि० एण्ड्रयूज ने जवाब दिया-"जहां तक विद्वत्ता का सवाल है मैं ऑक्सफोर्ड को उच्च स्थान देता हूं। पर बुद्धि-वैभव के मामले में कैम्ब्रिज का मुकाबिला कोई नहीं कर सकता।" हम सब लोग हँसने लगे, क्योंकि दीनबंधु एण्ड्रयूज कैम्ब्रिज के ही स्नातक थे। तत्पश्चात दीनबंधु एण्ड्रयूज को श्री सीतारामजी सेकसरिया के मकान पर ले गया। उन्हें भी पूर्व सूचना नहीं दी गई थी। उन्होंने भी चकित होकर पूछा कि आपने दीनबंधु को क्यों कष्ट दिया ? मैंने उत्तर में निवेदन किया--"आपने हिंदी भवन को पांच सौ रुपये की जो सहायता दी है, उसके लिए निजी तौर पर धन्यवाद देने के लिए ये पधारे हैं।" इस पर सेकसरिया जी ने कहा---"यह तो हो नहीं सकता कि ये खाली हाथ हमारे घर से लौटें, इसलिये आप हिन्दी भवन के लिए दो सौ रुपये और लेते जाइये।"

सेकसरियाजी के बाद मि० एण्ड्रयूज बिड़ला बंधुओं से मिलने के लिए अकेले ही गये। रात के आठ बजे के करीब वे खेतान भाइयों के घर लौटे और वहां एक सार्वजनिक मीटिंग का प्रबंध पहले से ही कर दिया गया था। वह डेढ़-दो घंटे चली। दीनबंधु काफी थक चुके थे और भोजन करके वह सो गये। प्रातःकाल से फिर भेंट-मुलाकातों का तांता लगा जो शाम तक जारी रहा। श्री अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी से मैंने उन्हें मुलाकात कराई। फिर रायबहादुर रामदेव चोखानी के घर पर ले गया और तत्पश्चात भाई राधेलालजी चतुर्वेदी के स्थान पर। वाजपेयीजी तथा चोखानीजी ने कुली प्रथा के विरुद्ध आंदोलन में दीनबंधु की बहुत मदद की थी।

शाम की पंजाब मेल से श्रीयुत एण्ड्रयूज इलाहाबाद के लिए रवाना हो गये। मैंने राधेलालजी से कह रक्खा था कि वे यात्रा के लिए दीनबंधु को कुछ फल भेज दें। फल ठीक वक्त पर पहुंच गये और दीनबंधु से मैंने कहा कि राधेलालजी को धन्यवाद का एक पत्र लिख दें। उनका पता मैंने मि० एण्ड्रयूज को दे दिया।

दीनबंधु की इस यात्रा से हिंदी भवन के लिए क्षेत्र तैयार हुआ; यद्यपि उस समय सहायता कुल जमा नौ सौ रुपये की ही मिली थी।

तत्पश्चात 'विशाल भारत' में मैंने इस विषय पर कुछ लिखा भी, मैं चार-पांच महीने बाद जब शांति-निकेतन गया तो मुझे विश्वस्त सूत्र से पता लगा कि दीनबंधु एण्ड्रयूज द्वारा जमा किये गये ये नौ सौ रुपये भी शांति-निकेतन के हिंदी शिक्षक के वेतन में खर्च कर दिये गये ; इससे मेरे हृदय को जबर्दस्त

धक्का लगा और मैंने गुरुदेव को लिख भेजा--"शांतिनिकेतन के संचालकों ने तो अनाचार की हद कर दी ! बाल्टी की पेंदी ही उड़ा दी। हिन्दी भवन के पांच सौ रुपये पहले खर्च कर दिये थे अब ये नौ सौ भी व्यय कर दिये।" गुरुदेव ने मुझे पत्र लिखवाया--"आर्थिक कठिनाइयों के कारण मजबूरन हमें ऐसा करना पड़ा, अब बनारसीदास को यह विश्वास दिला देना चाहिये कि हिंदी भवन अवश्य बनेगा, उसकी चिंता हमें है।" गुरुदेव की भविष्यवाणी सच हुई। श्रीभगीरथ कानोड़िया ने हलवासिया ट्रस्ट से तीस-पैंतीस हजार रुपये दिलवाकर शांतिनिकेतन में हिंदी भवन बनवा दिया। यदि उस सब रकम को जोड़ा जाय जो हिन्दी भाषा-भाषियों के हिन्दी भवन के लिए शांतिनिकेतन को मिली तो वह एक लाख रुपये से कम नहीं होगी।

यद्यपि हिंदी भवन की स्थापना का विचार मेरा ही था और तीन वर्ष तक मुझे इसके लिए निरंतर प्रयत्न भी करना पड़ा तथापि इसकी सफलता का श्रेय गुरुदेव के आशीर्वाद, दीनबंधु एण्ड्रयूज के सक्रिय सहयोग और बंधुवर हजारीप्रसादजी द्विवेदी की निरंतर कार्यशीलता को ही मिलना चाहिए। हिन्दी भवन की नींव दीनबंधु एण्ड्रयूज ने रक्खी थी और उसका उद्‌घाटन पं० जवाहरलालजी नेहरू ने किया था। हिंदी भवन की स्थापना में मेरा मुख्य उद्देश्य यही था कि बंगाली तथा हिंदी भाषा-भाषियों में पारस्परिक सद्‌भावना उत्पन्न हो। अब तो हिंदी भवन विश्वभारती विश्वविद्यालय का एक अंग ही बन गया है और बंधुवर श्रीरामसिंह तोमर उसका विधिवत संचालन कर रहे हैं। उस भवन में सिर्फ एक रात विश्राम करने का अवसर मुझे मिला है। विश्वभारती के वर्तमान संचालकों को हिंदी भवन की स्थापना के इतिहास का पता भी नहीं। कभी जानने की ज़रूरत भी उन्होंने नहीं समझी।

शांतिनिकेतन के एक मुख्य अधिकारी ने, जो भारत सरकार में भी कुछ वर्ष रहे थे, एक बार कहा था--"हिंदी भवन मारवाड़ियों ने इसी उद्देश्य से बनाया है कि वे सप्ताह के आखिरी दिन हिंदी भवन में बिता सकें।" जहां तक मैं जानता हूं कि कोई भी मारवाड़ी वहां इस उद्देश्य से नहीं गया। जब आचार्य क्षितिमोहन सेन ने यह सुना तो उन्होंने स्नेहपूर्वक सिर्फ इतना ही कहा था, कि "ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते केन जानी महे।" आज तो बंगालियों तथा हिंदी भाषा-भाषियों के बीच की खाई और भी गहरी होती जा रही है।

सत्यनारायण कुटीर (प्रयाग)

एक बार एक जिज्ञासु ने किसी ऋषि से पूछा था--"महामना, ये उच्च विचार आपको कहां से प्राप्त होते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया--"अंतरिक्ष से।" मैं कोई ऋषि नहीं, पर मुझे भी प्रातःकाल के चायामृत-पान के बाद अथवा सवेरे स्वच्छ स्फूर्तिमय वायुमंडल में टहलते हुए अनेक रचनात्मक विचार आते रहते हैं और उन्हें मैं प्रायः लिपिबद्ध भी कर लेता हूं। ऐसे विचारों से कम-से-कम छोटे-मोटे सौ रजिस्टर भरे पड़े हैं।

उन्हीं विचारों में से एक था सत्यनारायण कुटीर का विचार। फीरोजाबाद में टहलने गया हुआ था। उधर से लौटते समय चौबे सुदर्शनलालजी के उपवन के पास मेरे मन में यह ख्याल बिजली की तरह कौंध गया कि सम्मेलन में एक सत्यनारायण कुटीर की स्थापना होनी चाहिये, जहां बाहर से पधारे हुए अतिथि ठहर सकें।

सत्यनारायण कविरत्न की स्मृति-रक्षा के लिए मैंने पांच काम सोचे :

(१) कविरत्न की कविताओं का संग्रह
(२) भारती भवन फीरोजाबाद में उनके चित्र का उद्‌घाटन
(३) उनका जीवन-चरित तैयार करना
(४) उनके समस्त ग्रन्थों का एक साथ प्रकाशन
सत्यनारायण कुटीर पांचवां काम था।

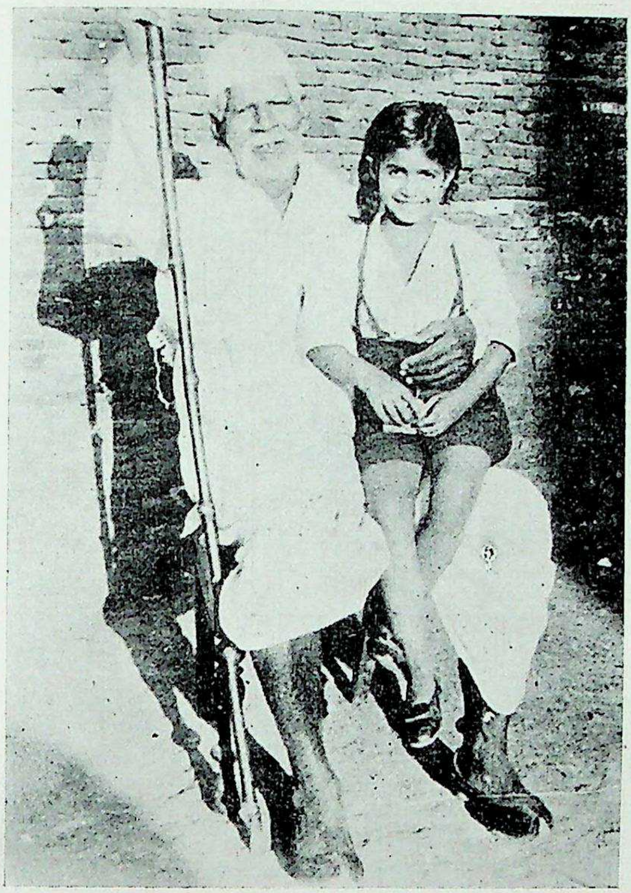

पिता

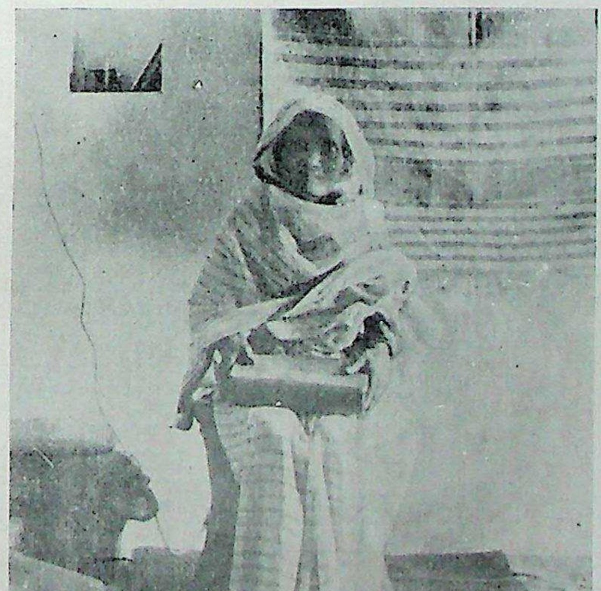

माता

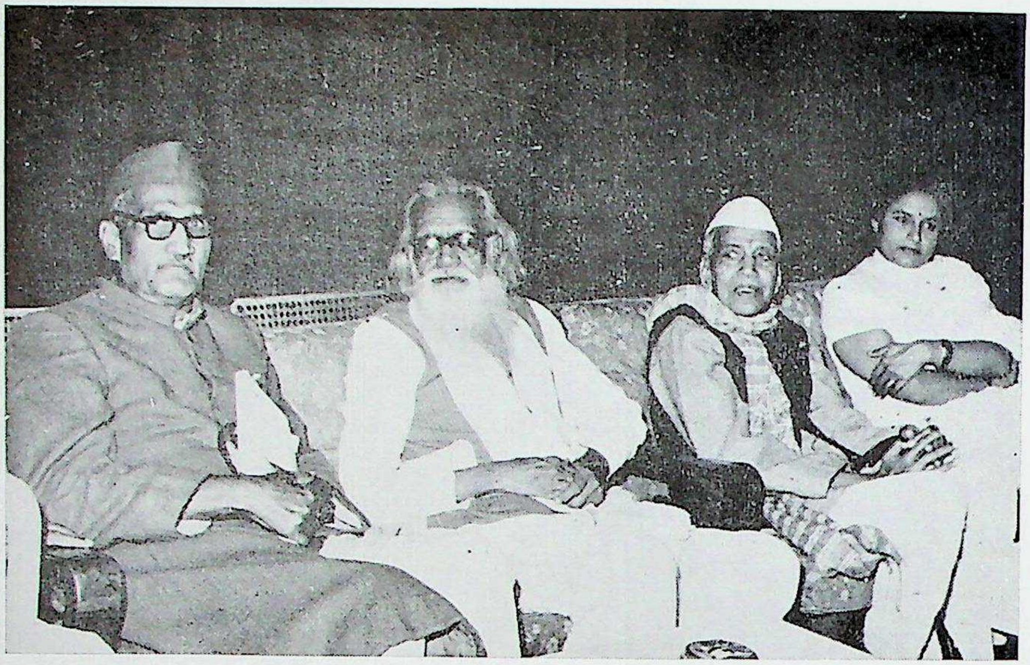

चित्र-कला संगम के समारोह में काकासाहब कालेलकर, श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा के सान्निध्य में

अपने अभिन्न साथी पं० श्रीराम शर्मा से विचार-विनिमय करते हुए

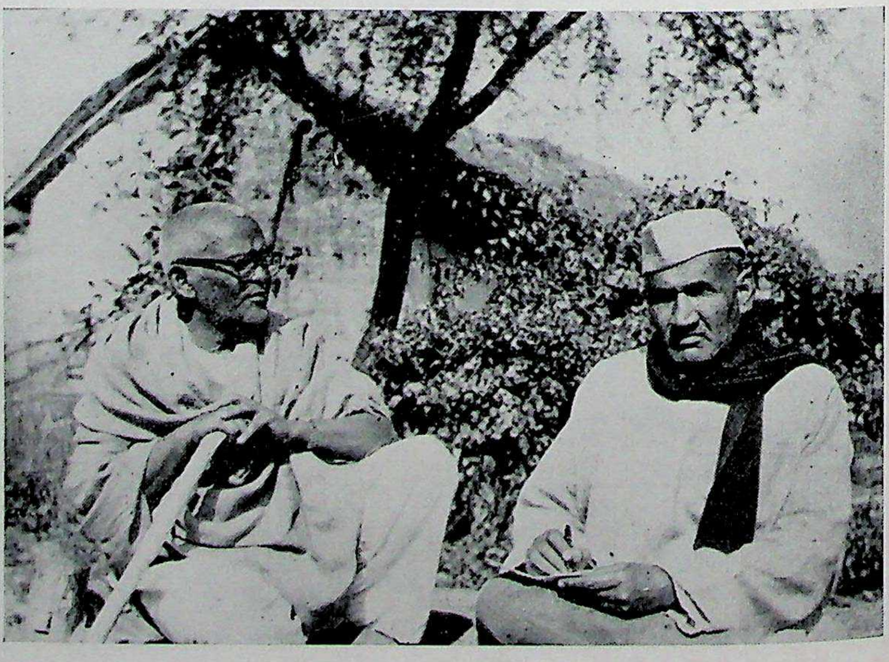

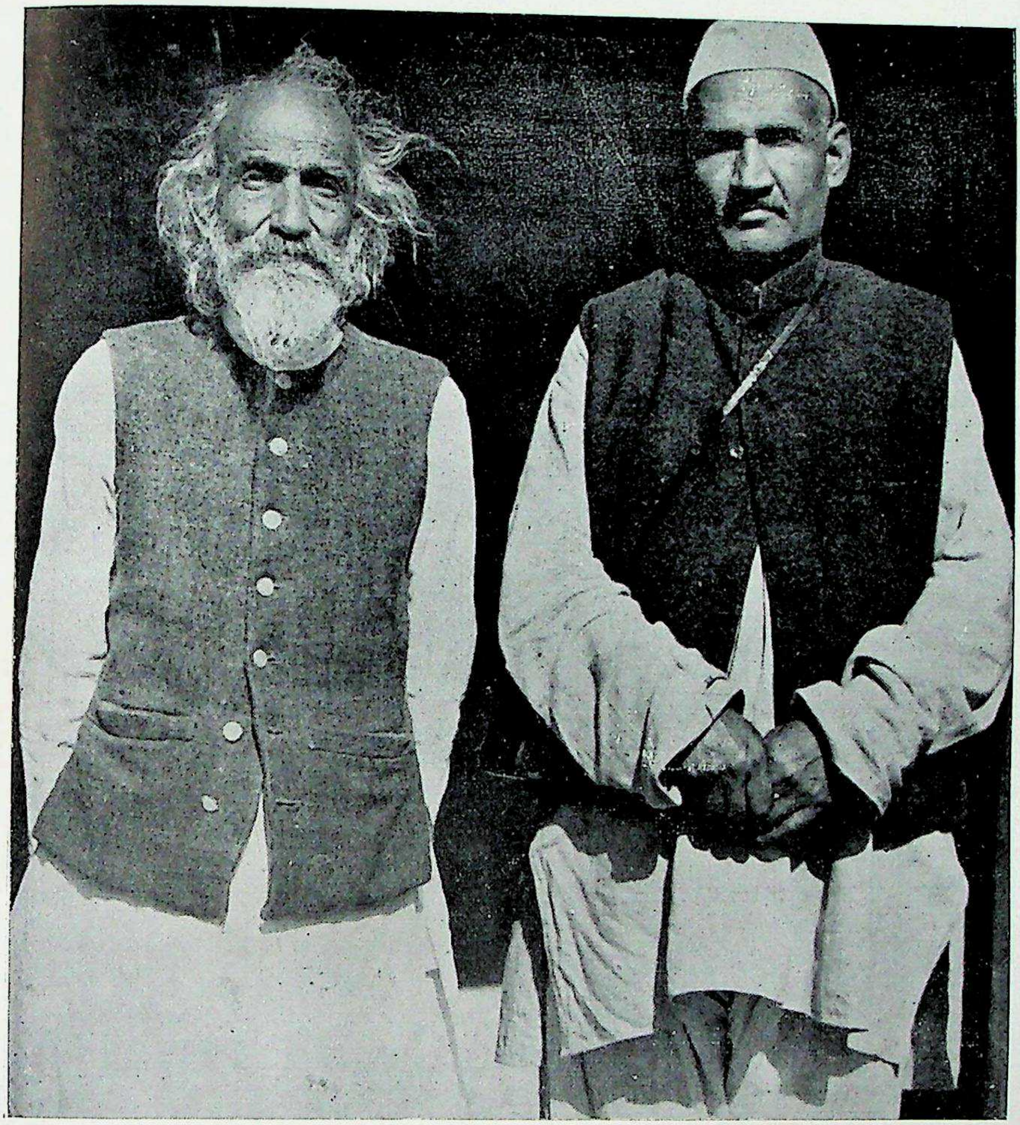

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के सदा कृपापात्र रहे

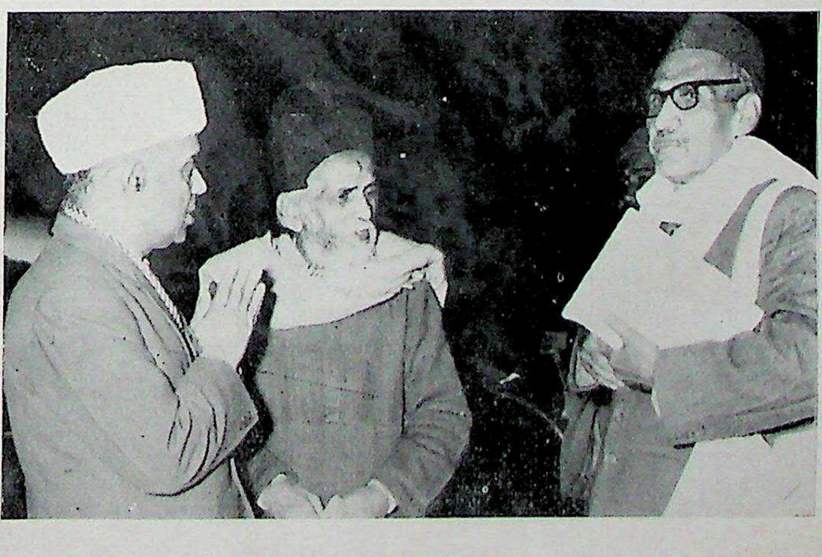

पं० सुन्दरलाल (मध्य में)

दीनबंधु एण्ड्रयूज के साथ

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के साथ नई दिल्ली में बहुत-से क्षण अमर हो गए

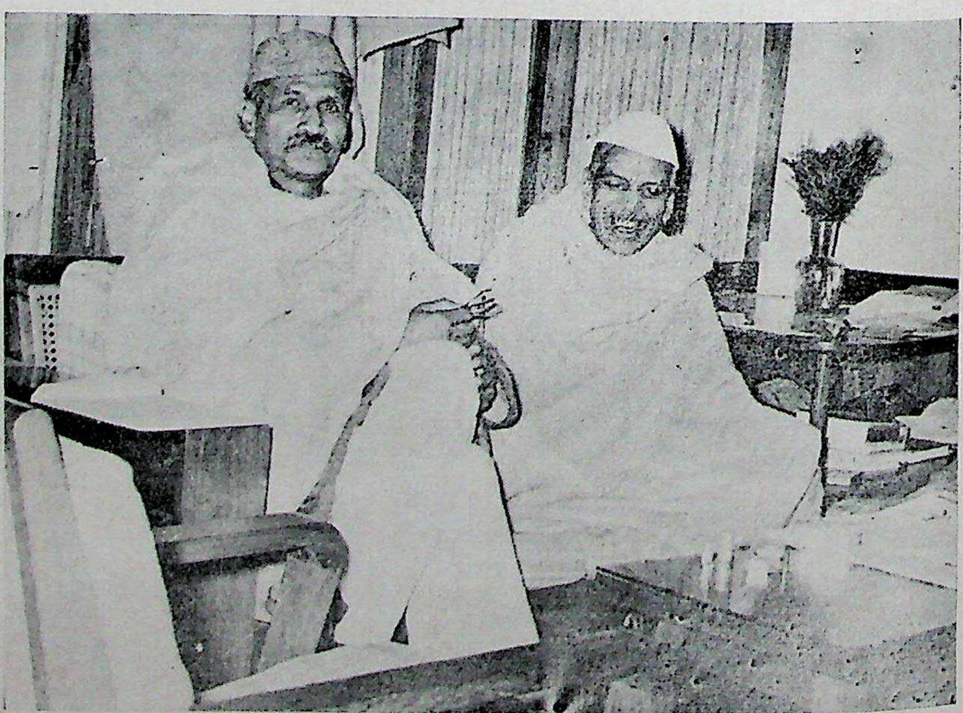

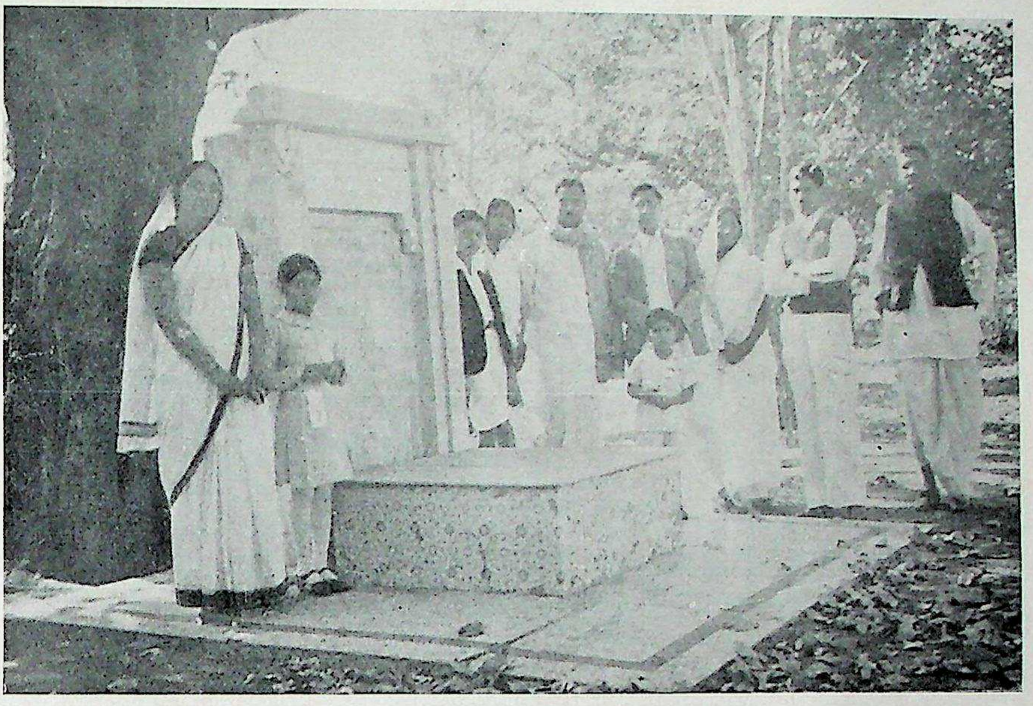

शान्तिनिकेतन में : गुरुदेव के पूज्य पिताजी की समाधि पर

पृथ्वीराज कपूर तथा अन्य मित्रों के बीच

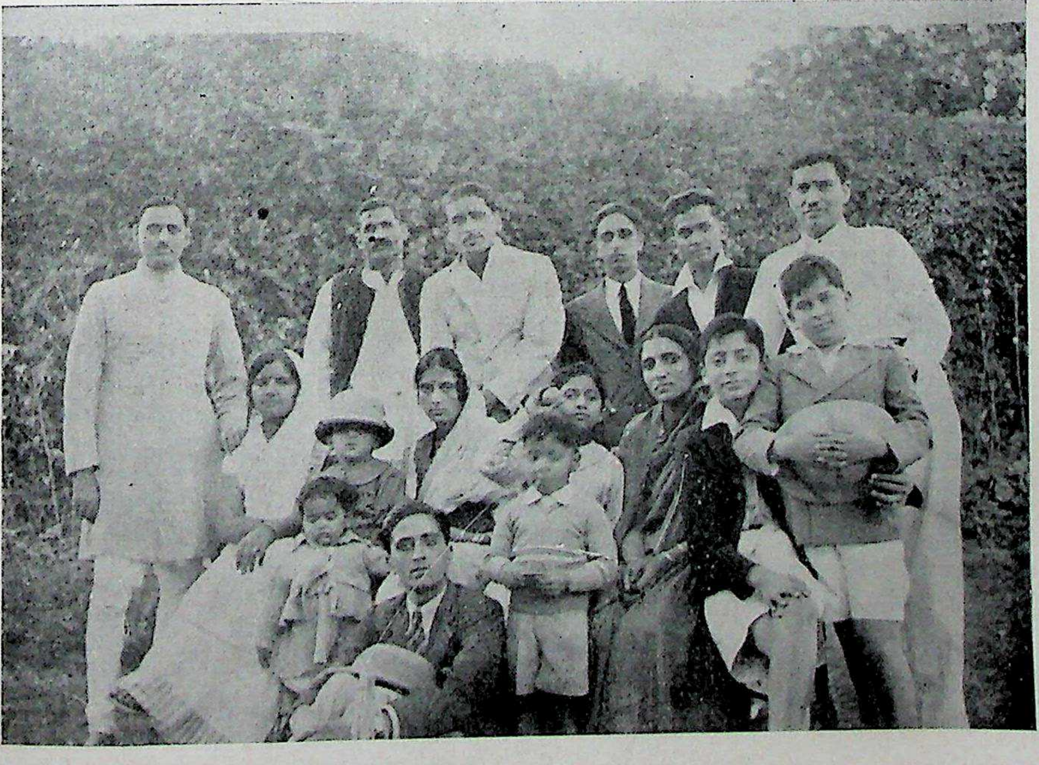

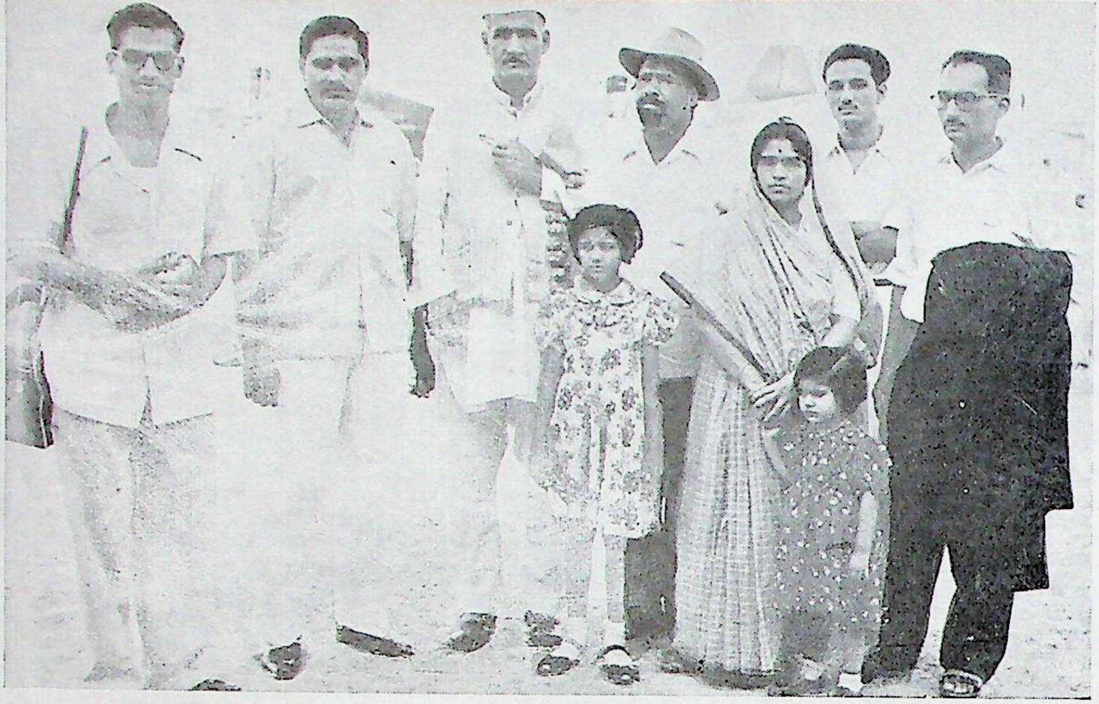

परिवार के बीच

लेखन में व्यस्त

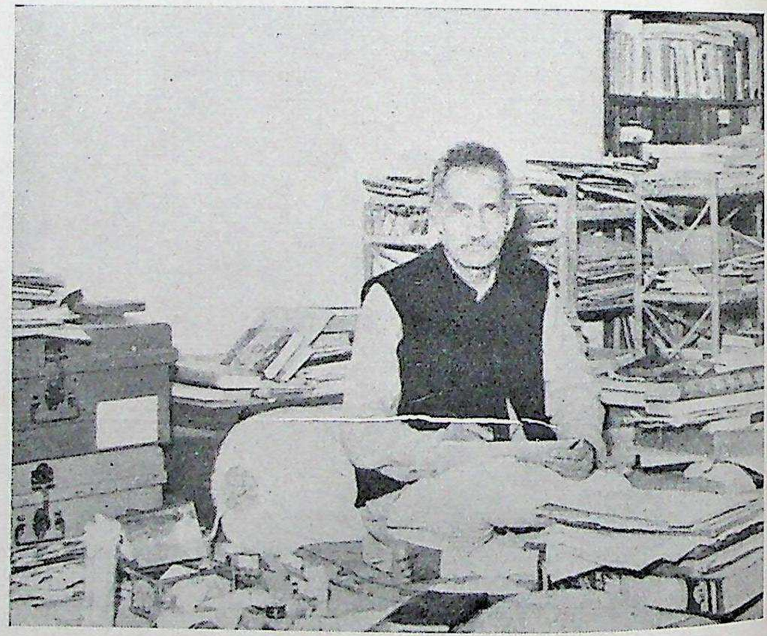

वर्षगांठ पर
नई दिल्ली में

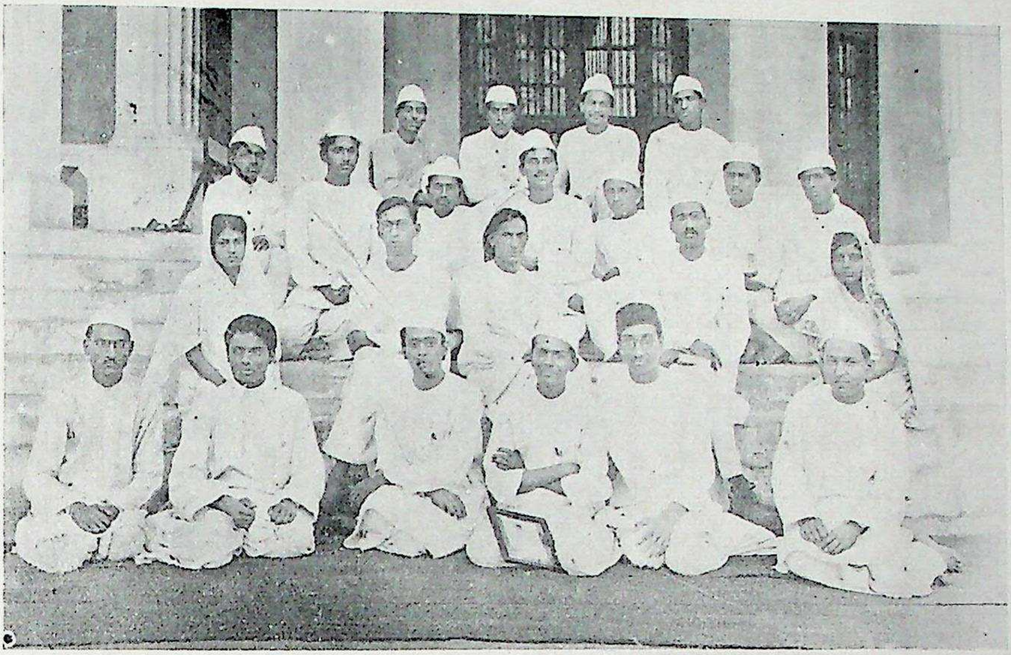

गुजरात विद्यापीठ में (दूसरी पंक्ति में दाईं ओर से दूसरे) गांधीजी के सहयोगी के रूप में

अफ़्रीका-प्रवास के अवसर पर (पहली पंक्ति में दूसरे)

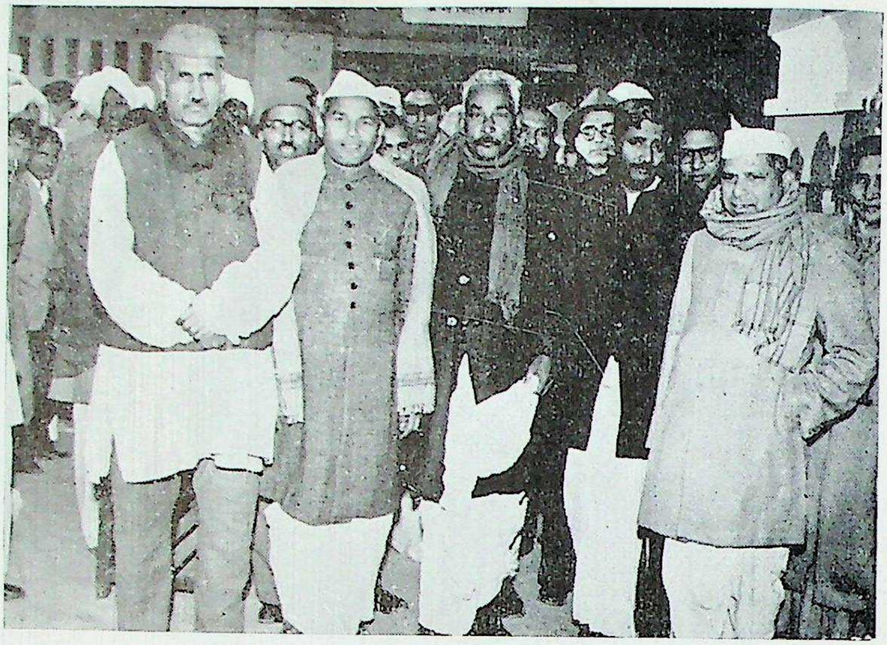

मित्रों के बीच

भातृ-तुल्य पं० हरिशंकर शर्मा के साथ प्रेमालिंगन

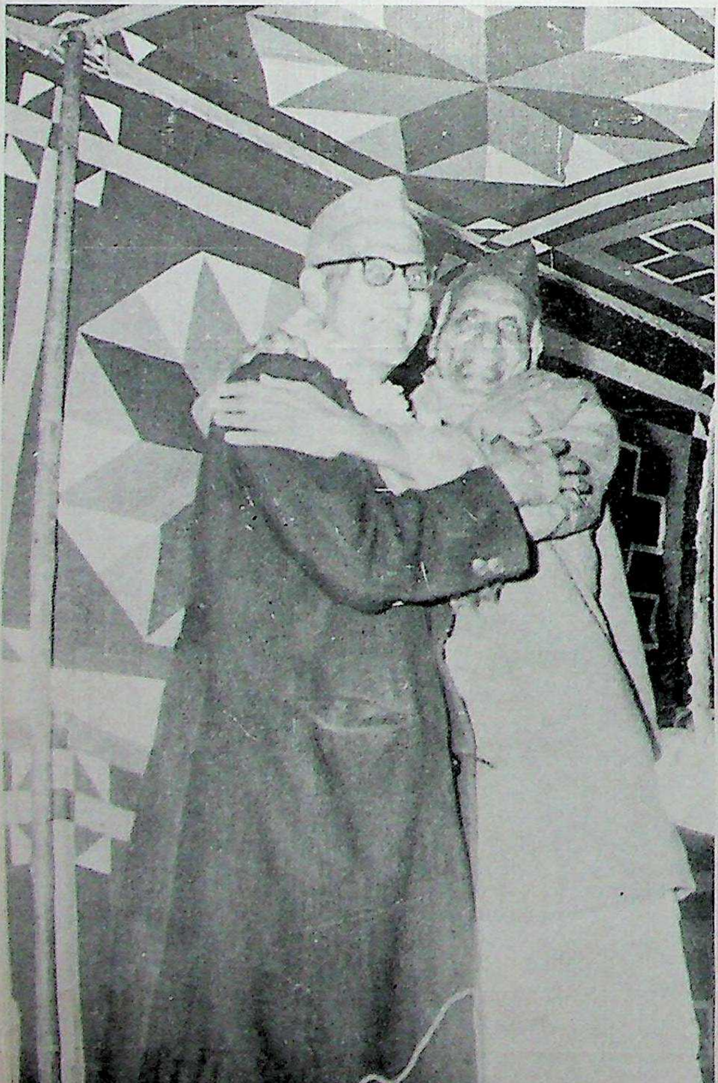

मास्को में केरल के सुप्रसिद्ध लेखक के साथ

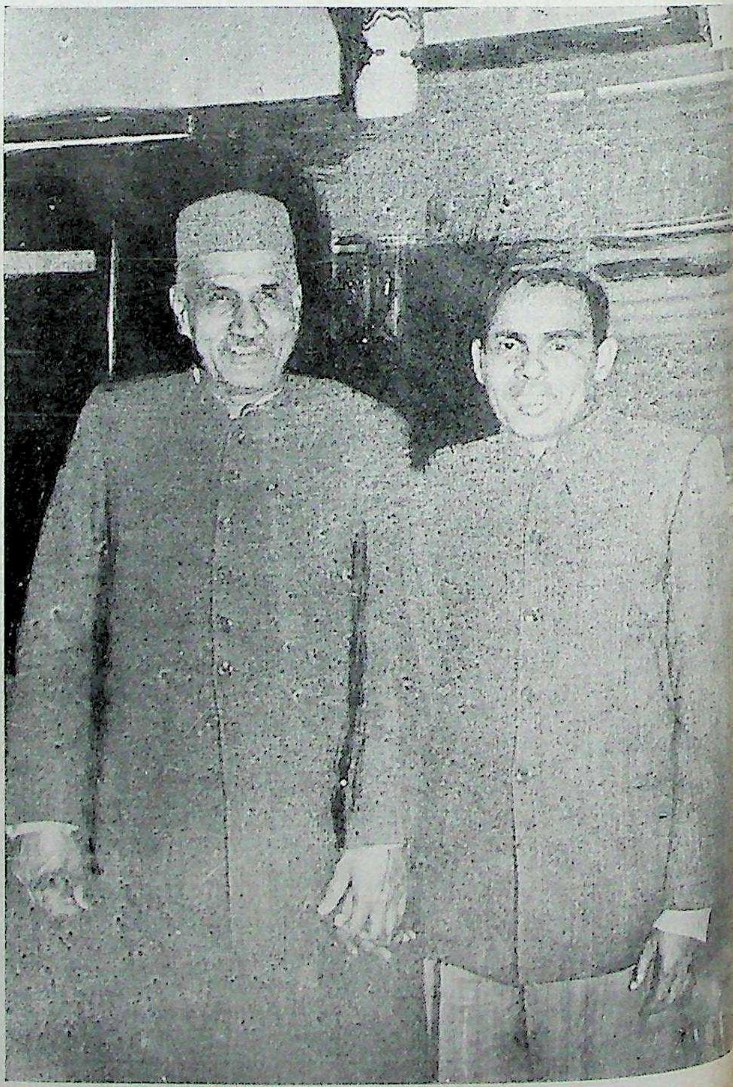

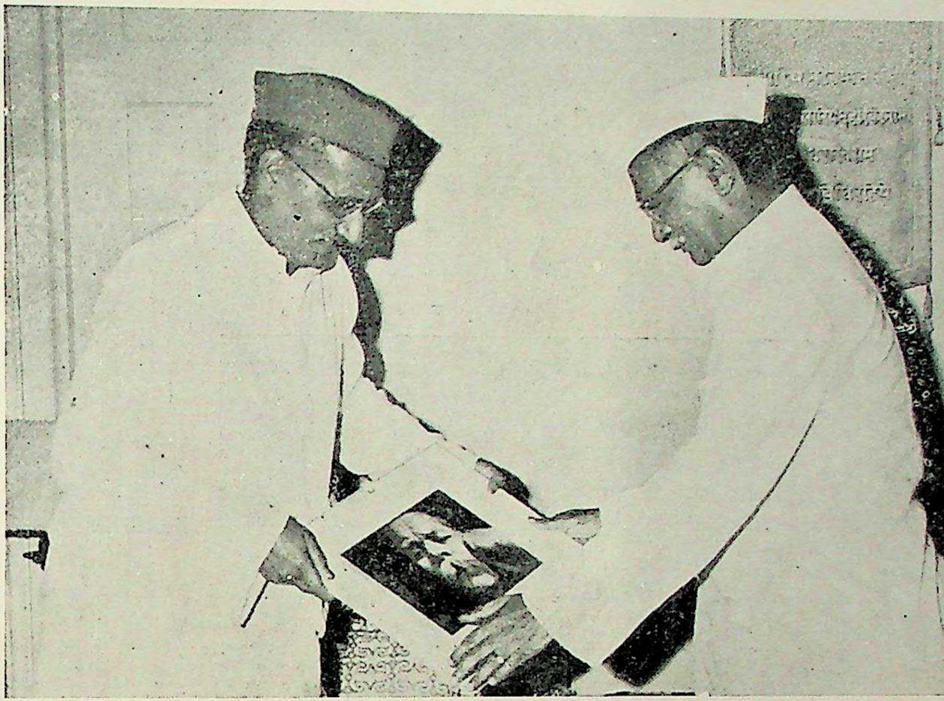

स्व० बा० राजेन्द्रप्रसाद की सेवा में गोर्की का चित्र भेंट करते हुए

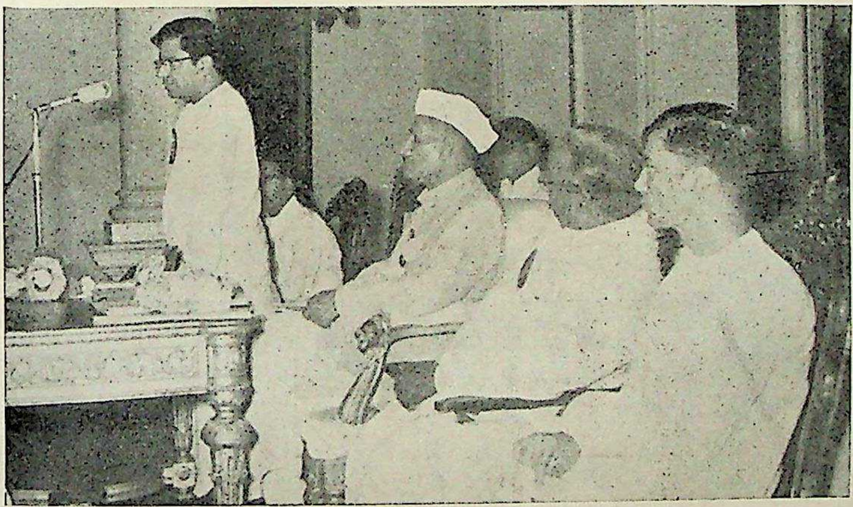

अ० भा० श्रमजीवी पत्रकार संघ के प्रधान

भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्व० लालबहादुर शास्त्री के साथ

प्रिंस क्रॉपॉटकिन के जन्मस्थान की तीर्थ-यात्रा

रूस में क्रॉपॉटकिन की समाधि पर पुष्प चढ़ाते हुए

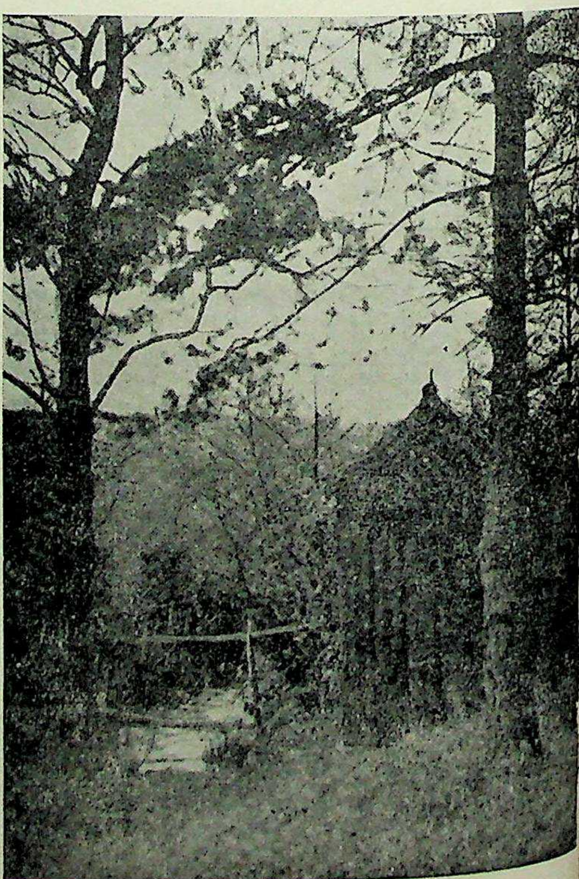

एडवर्ड कार्पेण्टर के आश्रम के निकट बहता झरना, जिससे मुझे प्रकृति के निकट रहने की प्रेरणा मिली।

—ब० दा०

सत्यनारायण कुटीर के लिए मैंने श्रद्धेय टंडनजी की सेवा में निवेदन किया और उन्हें यह विचार बहुत पसंद भी आया था। उन्होंने कृपा कर आश्वासन दिया था कि जितना चंदा आप कर सकें, करें, शेष का हम प्रबन्ध कर देंगे। मैंने एक हजार रुपये भिजवाने का वचन दे दिया, पर उतनी छोटी रकम जमा करने में भी मझे काफी समय लग गया।

दो सौ रुपये राजा साहब अवागढ़ ने प्रदान किये

दो सौ रुपये राजकुमार डा० रघुवीरसिंहजी की धर्मपत्नी (सीतामऊ)

सौ रुपये ठाकुर महेन्द्रपाल सिंह

बीस रुपये सूर्यनारायणजी अग्रवाल (इटावा)

शेष पांच सौ रुपये मुझे ओरछा नरेश से लेने पड़े। महाराज ने कहा था––"चौबेजी, मेरा नाम न लेना, क्योंकि यह रकम बहुत छोटी है, अपने नाम से ही देना।"

उन दिनों चीजें सस्ती थीं, फिर भी शायद तीन-चार हजार रुपये का प्रबंध श्रद्धेय टंडनजी को कर देना पड़ा। सौभाग्य की बात यह हुई कि सत्यनारायण कुटीर का उद्घाटन महात्मा गांधीजी के कर-कमलों द्वारा ही हुआ था।

अब सम्मेलन में जाने वाले यात्री प्रायः उसी में ठहरा करते हैं। यहां तक कि एक बार श्रद्धेय बाबू राजेन्द्रप्रसादजी भी उसमें ठहरे थे। बंधुवर रामनरेश त्रिपाठी का तो उसी में स्वर्गवास हुआ था। दुर्भाग्यवश मैं कभी भी सत्यनारायण कुटीर में नहीं ठहर सका। पिछली बार जब प्रयाग में गया था तब प्रयाग होटल में ही ठहरा था, जिससे श्रद्धेय टंडन जी नाराज हुए थे। उन्होंने कहा कि आप हमारे घर पर क्यों नहीं ठहरे?

जब मैंने सम्मेलन के संग्रहालय की छत पर से सत्यनारायण कुटीर के भव्य दर्शन किये तो मेरे नेत्र सजल हो गये––इस विचार से कि मेरा अनुज, रामनारायण चतुर्वेदी, उसे नहीं देख सका!

सत्यनारायणजी के जीवन-चरित की संपूर्ण दुर्लभ सामग्री मैंने सत्यनारायण कुटीर को ही अर्पित कर दी थी, पर सम्मेलन उसकी रक्षा नहीं कर सका। जब उस अमूल्य सामग्री की याद मुझे रात को आती है तो नींद उचट जाती है!

हिन्दी भवन (नई दिल्ली):

सन १९४६ के आसपास मैं दिल्ली गया हुआ था और सौभाग्यवती बहन सत्यवती मलिक के यहां ठहरा हुआ था। दिल्ली के साहित्यिक मित्रों को जब इस बात का पता लगा तो उन्होंने श्री विष्णुदत्त मिश्र 'तरंगी' को मेरे पास भेजकर मिन्टो क्लब में मेरे स्वागत का प्रबंध कर दिया। ठीक समय पर पहुंच कर वहां मैंने एक भाषण दिया, जिसका सारांश यह था कि दिल्ली में एक हिंदी भवन की स्थापना होनी चाहिये। जिस समय मैंने यह बात कही थी, मुझे स्वप्न में भी इस बात की आशा न थी कि छः वर्ष बाद मुझे संसद-सदस्य के रूप में नई दिल्ली आना पड़ेगा और वहां हिंदी भवन की स्थापना कराने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त होगा। मेरे दोनों सहायक श्री यशपाल जैन और श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी पहले से ही दिल्ली पहुंच चुके थे और बहन सत्यवतीजी तो वहीं रह रही थीं। इसके पूर्व कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) में जमडार और जामनेर नदियों के संगम पर मैंने अपने दिल्ली-निवास का स्वप्न देखा था और उस पर 'मधुकर' में कुछ लिखा भी था।

संसद-सदस्य के रूप में मेरे दिल्ली पहुंचने की कथा आश्चर्यजनक है। १० मार्च सन १९५२ की

बात है। मैं उन दिनों कुण्डेश्वर में रह रहा था। सवेरे के आठ बजे होंगे कि महाराज की मोटर की आवाज सुनाई पड़ी। थोड़ी देर में वे पधारे और अशोक वृक्ष की छाया में चबूतरे पर विराजमान हो गये। उनके साथ मेरा हँसी-मजाक शुरू हुआ और आध घंटे तक चलता रहा। मैं महाराजसाहब से चाय पीने को कहना भूल भी गया। तब खुद ही महाराजसाहब ने चिरंजीव गुपलेश से कहा––"चौबेजी में तो इतना सलीका है नहीं कि चाय के लिए पूछें, तू ही चाय और कुछ नमकीन बनवा के ला।" मैंने महाराजसाहब से माफी मांग ली, तब उन्होंने कहा––"यह आपका पहला ही अपराध नहीं है, गप्प लड़ाते वक्त आपको शिष्टाचार का खयाल कभी रहता ही नहीं।" चाय आ गई और हम लोग चार घंटे तक हँसते-हँसाते रहे। तत्पश्चात महाराजसाहब टीकमगढ़ लौट गये। मैंने भोजन किया और मेज पर टांगें फैला कर दोपहर के विश्राम की तैयारी कर ही रहा था कि इतने में टीकमगढ़ से कई कार्यकर्ता पधारे। श्री चतुर्भुज पाठक ने मुझसे कहा––"अगर आप यह वचन दें कि आप हमारा अनुरोध अस्वीकार न करेंगे तो हम आपसे एक प्रार्थना करेंगे। आपके नाम एक तार आया है।" खुले हुए तार को उनके हाथ में देखकर मैंने कहा––"आपने तार खोल भी लिया! और जब तक मुझे पता न लग जाय कि आप क्या आज्ञा देने वाले हैं, मैं वचन कैसे दे सकता हूं?" तब पाठकजी ने वह तार मुझे दिखलाया जिसका भावार्थ यह था "कांग्रेस की ओर से आप राज्य-सभा (पार्लमेण्ट) के लिए खड़े हो जाइये––शम्भुनाथ शुक्ल।" तार ने मुझे चक्कर में डाल दिया। पार्लमेण्ट में पहुंचने की मैंने स्वप्न में भी कामना न की थी। स्वाधीनता-संग्राम में सक्रिय भाग लेना तो दूर रहा, मैं तो कांग्रेस का मामूली मेम्बर भी नहीं था।

१० मार्च होली का दिन था, सो सबसे पहले मुझे यह खयाल आया कि अवश्य ही किसी ने मेरे साथ यह होली का मजाक किया है। तार में यह भी लिखा था कि मुझे १२ तारीख को रीवां पहुंचकर कांग्रेस की ओर से अपना नाम चुनावबोर्ड के सामने उपस्थित कराना चाहिये। शाम को वोटर लिस्ट तलाश कराई गई। सौभाग्य से मेरा नाम वोटरलिस्ट में था, अगर न होता तो सारा मामला वहीं खत्म हो जाता। दूसरे दिन मैं रीवां के लिए रवाना हुआ। वहां मेरा नाम नामजद किया गया और यह भी निश्चित किया गया कि कांग्रेस के कौन-कौन एम० एल० ए० मेरा वोट देंगे। वे वोट इकट्ठी की गईं तो मेरी वोट सबसे ज्याद रहीं। स्वर्गीय श्रीगोपालशरणजी के सुपुत्र श्री सोमेश्वरसिंहजी ने भी मेरे पक्ष में ही वोट दी थी। इस प्रकार मैं बिल्कुल आकस्मिक रूप से ही पार्लमेण्ट में जा पहुंचा। जिस संसद सदस्यता के लिए लोगों को हजारों रुपये खर्च करने पड़ते हैं, वह मुझे कुल जमा तीस-चालीस रुपये में ही प्राप्त हो गई और यह रकम भी रीवां आने-जाने के किराये में ही खर्च हुई। चूंकि चिरंजीव बुद्धिप्रकाश वहां के कालेज में अध्यापक था, सो वहां कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ा।

उस समय जो पचासों ही पत्र तथा बधाई के तार मेरे पास आये थे, उनसे मुझे सचमुच आश्चर्य हुआ था। बहुत से लोगों को यह यकीन नहीं कि पार्लमेण्ट की मेम्बरी मुझे बिना मांगे ही मिल गई है। वे यही ख्याल करते रहे कि अवश्य ही मैंने पहले से बहुत कोशिश की होगी!

मुझे अब तक यह ठीक-ठीक पता नहीं कि मेरे नाम का प्रस्ताव किसने किया था! हां, इतनी सूचना मुझे अवश्य मिली थी कि विन्ध्य प्रदेश की जो सूची बोर्ड के सामने पेश हुई थी उसमें किसी प्रसिद्ध आदमी का नाम नहीं था। हां, ओरछे के श्री सुन्नूलाल नापित का नाम अवश्य था। पंडित जवाहरलालजी ने उस सूची को फेंकते हुए कहा था––"क्या विन्ध्य प्रदेश में कोई पढ़ा-लिखा आदमी नहीं है?" सुना है कि तब दतिया के श्री श्यामसुन्दरजी ने मेरे नाम का परामर्श दिया, क्योंकि वे जानते थे कि यह नाम विज्ञापित अवश्य था।

लोगों को यह विचार पसंद आया। इस प्रकार मेरा नाम बोर्ड के सम्मुख पहुंच गया, फिर वहां तो मेरी जान-पहचान के और मुझ पर कृपा रखने वाले कई महानुभाव मौजूद थे! श्रद्धेय टंडनजी तथा मौलाना आज़ाद साहब ने मेरे नाम का समर्थन किया। मौलाना साहब सन १९३४ से ही मुझे जानते थे। पंडित जवाहरलाल-जी ने पूछा, "चतुर्वेदीजी जीवित लोक में हैं भी क्या?" उस पर श्रीप्रकाशजी ने मुस्कराते हुए कहा, "हां, वे टीकमगढ़ में रह रहे हैं और वहां उन्होंने बहुत काम किया है।" इस प्रकार मेरा नाम स्वीकृत हो गया। उसके ६ वर्ष बाद दूसरी बार भी मैं चुन लिया गया और उसका श्रेय पूज्य टंडनजी तथा श्रद्धेय राजेन्द्रबाबू को है जिन्होंने मेरे बारे में पत्र लिख दिये थे! इस प्रकार बारह वर्ष मुझे दिल्ली में रहने की सुविधा हुई। नॉर्थ एवेन्यू का सर्वोत्तम फ्लैट ९९ नं० मुझे बंधुवर श्री राजेश्वरप्रसादनारायण सिंह की कृपा से मिल गया था और वहां बड़े आनंदपूर्वक मेरे दिन व्यतीत हुए।

'हिन्दी भवन' की स्थापना तथा सेवा के जो दुर्लभ अवसर मुझे मिले उसमें संसद की सदस्यता विशेष रूप से सहायक हुई। शहीदों के श्राद्ध भी मैं उसी के कारण कर सका। पहले नौ वर्ष तो श्रीरामधन को मैंने पुस्तकाध्यक्ष रक्खा और तत्पश्चात श्रीयुत शिवनारायणजी श्रीवास्तव वहां काम करते रहे। नई दिल्ली के हिंदी भवन का मुख्य भार तो सौ० बहन सत्यवती मलिक पर ही पड़ा। उसकी स्थापना की प्रथम मीटिंग भी उन्हीं के निवास-स्थान पर हुई थी। बाहर से जो भी हिंदी साहित्य-सेवी पधारते थे वे प्रायः मलिक जी का ही आतिथ्य ग्रहण करते थे। वस्तुतः इस सुसंस्कृत कुटुंब का सहस्रों ही रुपया आतिथ्य में खर्च हुआ होगा। मैं तो हिंदी भवन से मील भर दूर रहता था, पर बहनजी के कमरे उसके निकट ही थे, इसलिये सबसे अधिक श्रम उन्हीं को करना पड़ा और उन्हीं को सबसे ज्यादा तंग भी होना पड़ा।

मेरे दोनों भूतपूर्व सहायक बंधुवर यशपाल जैन तथा भाई जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी ने भी हिंदी भवन के लिए भरपूर प्रयत्न किया। आगे चलकर श्री किशनलाल चतुर्वेदी ने भवन के हिसाब रखने में बड़ी मदद दी। श्री राजेश्वर बाबू तो प्रारंभ से ही हमारे सहायक रहे थे।

हिन्दी भवन के संचालन में मुझे विचित्र अनुभव हुए। दिल्ली में उस समय जो प्रतिष्ठित लेखक उपस्थित थे उनमें से अधिकांश ने ग्यारह वर्षों में एक पैसा भी हिन्दी भवन को नहीं दिया! उस समय मैंने उद्विग्न होकर गुनगुनाया था:

रक्त हम देते, न करते वे कभी जल दान।
सत्य कहता हूं, न करता व्यर्थ का अभिमान॥

ग्यारह वर्षों में हिन्दी भवन पर कम से कम पैंतीस सौ रुपये मेरे व्यय हुए थे। इसलिये मेरा उद्विग्न होना सर्वथा स्वाभाविक ही था, पर मैं आज यह अनुभव करता हूं कि मेरी वह शिकायत ठीक नहीं थी। शायद अपराध मेरा ही रहा हो। सम्भवतः मेरा व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली नहीं था कि मैं अपने सहयोगियों को हिंदी भवन की सहायता के लिए प्रेरित कर सकता।

हिंदी भवन की मदद अनेक हिन्दी प्रेमी तथा हिन्दी-सेवी महानुभावनों ने की थी।

सन १९५३ से ६४ तक हिंदी भवन राजधानी का एक प्रमुख साहित्यिक और सांस्कृतिक केंद्र बन गया था। केवल भारतीय भाषाओं के ही नहीं, विदेशी भाषाओं के भी विद्वान वहां प्रायः पधारा करते थे। रूसी, चीनी, अमरीकी इत्यादि विद्वानों के भाषण वहां हुए थे और अनेक सुप्रसिद्ध लेखकों तथा कवियों के चित्रों के उद्घाटन भी। कवि-सम्मेलन तो वहां अनेक हुए थे। लगभग डेढ़ वर्ष तक अखिल भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ का कार्यालय भी वहीं रहा था। कुछ दिनों तक दिल्ली के पत्रकार संघ ने भी हिंदी भवन के

कमरों का उपयोग किया था। 'एशियन लेखक परिषद' का कार्य भी वहां से चला। जैसा कि मैं लिख चुका हूं बहन सत्यवतीजी का मकान हिंदी भवन के निकट ही था, इसलिए सबसे अधिक समय भी उन्हीं को देना पड़ा। आश्चर्य की बात यही थी कि उन्होंने निस्संकोच और हर्षपूर्वक अपनी जिम्मेदारियों को निभाया। यदि कभी दिल्ली का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक इतिहास लिखा जायगा तो उसके कार्यकर्त्ताओं में बहन सत्यवतीजी का नाम काफी ऊपर रहेगा।

अप्रैल सन १९६४ में मेरा संसद का कार्य-काल समाप्त होने को था, इसलिए मैंने हिंदी भवन का कार्य बंधुवर श्री बांकेबिहारी भटनागर तथा अन्य सहयोगियों को सौंप दिया। ●

शहीदों तथा क्रांतिकारियों की सेवा में २५ वर्ष

●

बात सन १९१८ की है। चार वर्ष के परिश्रम के बाद मेरा ७२८ पृष्ठों का ग्रंथ 'प्रवासी भारतवासी' पूरा हुआ था। उसे किसे सर्मपित किया जाय? यह सवाल मेरे सामने था। बहुत कुछ सोचने-विचारने के बाद मैंने यह निश्चय किया कि उसे कुमारी वलिअम्मा को सर्मपित किया जाना चाहिये। वलिअम्मा दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह-संग्राम में शहीद हुई थीं।

इस प्रकार शहीदों के प्रति मेरी श्रद्धा ५१ वर्ष से निरंतर चली आ रही है, यद्यपि वह मेरे जीवन का एक मुख्य उद्देश्य बनी सन १९४४ के आस-पास ही।

कुछ ऐसे व्यक्तियों से, जो आगे चल कर शहीद हुए, मेरा निकट संबंध भी स्थापित हो चुका था। उनमें महात्मा गांधी, गणेशशंकर विद्यार्थी, नारायणदास खरे और देवशरणसिंह मुख्य हैं। इन चारों के विषय में मैं समय-समय पर लिखता रहा हूं। 'भारत छोड़ो' आंदोलन में शहीद हुए फुलैलाप्रसाद श्रीवास्तव को जो श्रद्धांजलि मैंने अर्पित की थी उसके कारण बिहार तथा उत्तर प्रदेश दोनों प्रदेशों की सरकारों ने मेरे नाम वारण्ट जारी कर दिये थे। पर ओरछा-नरेश महाराज वीरसिंहजू देव ने मुझे ब्रिटिश सरकार के सुपुर्द नहीं किया और इस प्रकार मैं जेल-यात्रा से बच गया।

जब 'विन्ध्यवाणी' टीकमगढ़ से निकली तो उसके प्रथम अंक को मैंने शहीद-अंक ही बना दिया और उसके प्रथम पृष्ठ पर अमर शहीद नारायणदास खरे का चित्र छापा तथा राष्ट्रकवि दिनकरजी की एक कविता भी। उसके बाद तो शहीदों संबंधी ग्रंथों तथा विशेषांकों का जो सिलसिला शुरू हुआ वह अब तक निरंतर जारी है। यह बात प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दूं कि यह पुण्य कार्य मैंने मिशनरी भावना से ही किया है—अर्थ प्राप्ति के लिए कदापि नहीं, यद्यपि शहीद ग्रंथ-माला (आतमाराम एण्ड सन्स द्वारा प्रकाशित) में ढाई फीसदी रायल्टी मुझे जरूर मिली है। विशेषांकों की तो प्रतियां ही मैंने ली हैं। अब तक जितने ग्रंथ तथा विशेषांक छप चुके हैं, उनका ब्यौरा इस प्रकार है:

शहीद ग्रन्थ माला (आतमाराम एण्ड सन्स) ···६ किताबें

विशेषांक। नर्मदा-शहीद अंक, आजाद-अंक, गणेशशंकर-स्मृति अंक।

मानव धर्म-बलिदान-अंक

विन्ध्यवाणी–शहीद-अंक

आर्य इण्टर कालेज एटा की पत्रिका––महावीरसिंह-अंक

स्वामी केशवानन्द ग्रन्थ, संगरिया (राजस्थान)

गणेशशंकर स्मृति-ग्रंथ, कालपी

युवक, शहीद-अंक, आगरा (प्रेस में है)

अमर शहीद अशफ़ाकुल्लाखां की जीवनी (उर्दू में) फीरोजाबाद।

इनके अतिरिक्त अशफ़ाक की हिंदी जीवनी तैयार है और शिवलाल अग्रवाल सुप्रसिद्ध प्रकाशक आगरा उसे शीघ्र ही छाप रहे हैं।

पं० परमानन्दजी के अभिनंदन-ग्रंथ को भी प्रेस में दे दिया गया है और वह भी दो-तीन महीने में निकल जायगा।

इनके सिवाय क्रान्तिकारियों से संबंध रखने वाले मेरे रेखाचित्र अथवा भूमिकाओं का संग्रह भी तैयार है और अण्डमान-यात्रा पर स्वर्गीय रामचरणलाल के निबंधों का संग्रह भी। इस विषय पर लेख तो मैंने पचासों ही लिखे होंगे।

यही उस थोड़ी-सी सेवा का ब्यौरा है, जो मुझसे पिछले पच्चीस वर्षों में बन पड़ी है।

क्रांतिकारियों या उनके संबंधियों को पेंशन दिलाने के लिये भी मैंने प्रयत्न किया था :

१––अमरशहीद चन्द्रशेखर आज़ाद की माताजी को पचास रुपये की पेंशन दिलाई और चंदे द्वारा पच्चीस सौ रु० भी।

२––शहीद बिसिमल की बहन को चालीस रुपये मासिक तथा कई सहस्र की सहायता।

३––बाबा तीरथराम को पचास रुपये की पेंशन तथा दो हजार की सहायता।

४––कविवर लालचन्द फ़लक को डेढ़ सौ रुपये महीने की पेंशन तथा कुछ आर्थिक सहायता भी।

५––श्रीमती कृष्णादेवी गोसेविका––५० रु० मासिक पेंशन।

६––श्री लद्धाराम––९० रु० मासिक पेंशन।

७––श्री रियासतुल्ला खां––७५ रु० मासिक पेंशन तथा शाहजहांपुर स्टेशन पर चाय की दुकान।

८––राजस्थान के एक साम्यवादी कार्यकर्ता को ७५ रु० मासिक पेंशन।

९––काशीरामजी की पेंशन ४० से ७५ रु० करा दी गई।

१०––शहीद मेवाराम की पत्नी फूलवती की पेंशन ३० रु० से ४५ रु० कराई।

११––अभी-अभी समाचार मिला है कि उत्तर प्रदेश सरकार ने शहीद अशफाक के भतीजे इश्तियाक भाई को ५० रु० मासिक पेंशन कर दी है।

इनके सिवाय श्री सम्पूर्णानन्दजी ने बरीसाल के एक क्रांतिकारी की कुछ सहायता की थी।

इनमें नं० १, ३, ४, ६ और ७ स्वर्गवासी हो चुके हैं और शेष पांच पेंशन पा रहे हैं।

जीवन की सबसे बड़ी कमाई :

उपर्युक्त पेंशनों को मैं अपने क्षुद्र जीवन की सबसे बड़ी कमाई मानता हूं और मेरा यह भी दृढ़

विश्वास है कि बिना किसी भी प्रयत्न के मुझे पार्लमेण्ट की जो मेम्बरी मिली उसमें इन लोगों के आशीर्वाद का मुख्य हाथ था।

ये विवरण मैंने किसी आत्म-विज्ञापन की भावना से नहीं दिये हैं और न मैं उनका सम्पूर्ण श्रेय ही लेना चाहता हूं। सर्वश्री सम्पूर्णानन्दजी, सुखाड़ियाजी, युद्धवीरसिंहजी तथा विजयवर्गीयजी से मुझे बहुत मदद मिली थी। निस्संदेह संसद की सदस्यता से मेरे कार्य में बड़ी सुविधा हुई, क्योंकि उसके कारण मुझे अपनी जीविका की कुछ भी चिंता नहीं रही और मैं अपना सारा वक्त इस मिशन में लगा सका।

आर्थिक दृष्टि से भी मेरे लिए यह सौदा घाटे का हर्गिज नहीं रहा और नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से तो मैं बहुत मुनाफे में रहा हूं। हिन्दी में एक कहावत है "ज्यों पलाश संग पान के पहुंचे राजा हाथ"—अमर शहीदों के शुभ नाम के साथ मेरे जैसे क्षुद्र व्यक्ति का नाम भी कभी-कभी ले लिया जाता है। मेरे जैसे साधारण व्यक्ति, जिसने देश के स्वाधीनता-संग्राम में कोई उल्लेखयोग्य भाग नहीं लिया, शहीदों के कुटुम्बियों तथा क्रांतिकारियों का कृपापात्र बन गया, यह कम आश्चर्य की बात नहीं।

स्वर्गीय डाक्टर खानखोजे मुझ पर बड़ा स्नेह रखते थे और मुझे उन्होंने अनेक पत्र भी लिखे थे। उनकी सुयोग्य धर्मपत्नी भी एक बार मेरे निवास-स्थान पर पधारी थीं। मेरे प्रयत्न से उनकी एक वार्त्ता नागपुर में रेकार्ड कर ली गई थी और तत्कालीन राज्यपाल श्रीप्रकाशजी से भी वे मिल लिये थे।

लाला हनुमंतसहायजी के दर्शन तो मैं अनेक बार कर चुका हूं। उनकी यह बात मुझे कभी नहीं भूलती—"मैं १५ अगस्त को स्वाधीनता उत्सव देखने जाता हूं—केवल यह जानने के लिए कि जिन्होंने हमारे साथ विश्वासघात किया था, वे कैसे-कैसे उच्च पदों पर मौजूद हैं।"

लालाजी जैसे तपस्वी का मैं कृपा-पात्र हूं, यह मेरे लिये गौरव की बात है। पं० सुन्दरलालजी से मेरा साक्षात परिचय तो सन १९१७ में हुआ था, यद्यपि मैं उनका शिष्य सन १९१० से ही हूं।

श्री अमीरचन्द बम्बवाल (सम्पादक—फ्रण्टियर मेल, देहरादून) ८० वर्ष से ऊपर के हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने खान अब्दुल गफ्फारखां को कांग्रेस का चवन्नी वाला मेम्बर बनाया था। जब तक मैं दिल्ली में रहा वे बराबर मेरे निवास-स्थान पर पधारते रहे और मैं उस दृश्य को कभी नहीं भूल सकता, जब उन्होंने सजल नेत्रों से मुझे दिल्ली स्टेशन पर विदाई दी थी।

स्वर्गीय जोगेशचन्द्र चटर्जी के साथ-साथ तो राज्यसभा में कई वर्ष बीते थे। उनके त्याग और बलिदान का क्या कहना। और उन पर जो अवर्णनीय अत्याचार किये गये उनका उल्लेख करते हुए रूह कांप जाती है। उनका मुंह शौच से भरे कमोड में डाल दिया गया था और उन्हें खड़ा करके और उनके हाथों को बांध कर हस्तक्रिया द्वारा उनका वीर्य स्खलन कराया गया था। 'काकोरी के शहीद' नामक पुस्तक में इस अमानुषिक जुल्म का जिक्र है।

श्री जोगेश बाबू भारत की उस उपेक्षापूर्ण नीति से अत्यंत असंतुष्ट थे, जो उसने शहीदों तथा क्रांतिकारियों के विषय में बरती थी।

दयालबाग की यात्रा करके मैंने महात्मा नन्दगोपालजी के दर्शन किये थे और उन पर कुछ लिखा भी था। वे आध्यात्मिक व्यक्ति थे—बड़े देश-भक्त और अत्यंत दृढ़प्रतिज्ञ।

अमर शहीद फुलेना बाबू को नौ गोली लगी थीं और वे सच्चे अर्थ में शहीद-शिरोमणि थे। १६ अगस्त उनकी पुण्य तिथि है। उनकी जीवनी की भूमिका लिखने का अवसर मुझे मिला था।

डा० सी० बी० लाल ने शहीद भगवतीचरणजी के बलिदान का रोमांचकारी वृत्तांत 'युवक' के

शहीद अंक के लिए लिख भेजा है और उनका हृदय से कृतज्ञ हूं।

स्व० रामचरणलाल शर्मा की अण्डमान-यात्रा की पाण्डुलिपि मुझे डा० युद्धवीरसिंहजी (दिल्ली) द्वारा मिली थी। उस पर किसी का भी नाम नहीं था और उसके कुछ पृष्ठ गायब भी थे। उस पाण्डुलिपि को नकल कराके 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में छपा दिया गया था।

शहीद अशफ़ाकुल्ला को 'शहीदे आजम' कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकार के बलिदान हमारे स्वाधीनता-संग्राम में बहुत कम ही हुए हैं। कुलजमा अट्ठाईस वर्ष की उम्र में ही वे फांसी के तख्ते पर झूल गये। उनके किसी वचन में कहीं भी कमजोरी नहीं पाई गई। वे स्वयं प्रतिभाशाली कवि भी थे। उनके बड़े भाई रियासतुल्लाखां मुझ पर बहुत कृपा रखते थे।

बाबा पृथ्वीसिंह आजाद का कृपा-पात्र होना मेरे क्षुद्र जीवन के सबसे बड़े लाभों में से है। वे क्रांतिकारियों में शिरोमणि तो हैं ही, जीवन के कलाकार भी हैं।

पं० परमानन्दजी (झांसी) का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। इतने लम्बे अर्से तक ब्रिटिश सरकार की जेलों में निवास करने वाले व्यक्ति भारत में दो-तीन से ज्यादा न होंगे। वैसे तो उनका व्यक्तित्व अखिल भारतीय महत्व रखता है, पर वे ठेठ बुंदेलखण्डी हैं और इस नाते मैं निरंतर उनका कृपापात्र रहा हूं। उनका अभिनंदन-ग्रंथ छप रहा है।

बंधुवर डा० भगवानदास माहौर का रेखाचित्र मैंने प्रस्तुत किया था। उनका परिचय मुझे बंधुवर रामसेवक रावत ने दिया था। क्रांतिकारियों में ऐसे विनम्र और संतुलित मस्तिष्क वाले व्यक्ति बहुत थोड़े ही निकलेंगे। उनका समस्त जीवन ही त्याग तथा तपस्या की एक लम्बी कहानी है जिसकी प्रेरणा ज्यों-की-त्यों कायम है। और माहौरजी से भी बढ़कर चरित्र है भाई सदाशिवजी का, जो आजाद के विश्वासपात्र थे। उसी प्रकार स्वर्गीय वैशम्पायनजी भी मुझ पर कृपा-भाव रखते थे। स्व० मास्टर रुद्रनारायणजी का भी मुझ पर अनुग्रह था और श्री शचीन्द्रनाथजी बख्शी ने मेरे यहां पधारने की कृपा की थी।

बंधुवर मन्मथनाथजी ने उन दिनों से क्रांतिकारियों के साहित्य की परम्परा को जीवित तथा जाग्रत रखा है, जब वह बिलकुल उपेक्षित थी। मेरे लिए भी वे प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। दरअसल वे मेरे पथप्रदर्शक रहे हैं और मेरे दिल्ली-निवास के दिनों में उनसे मुझे बराबर प्रोत्साहन ही मिला था।

इसी प्रकार बंधुवर शिववर्माजी का भी मैं कृपापात्र रहा हूं और कविवर नागार्जुनजी का भी। श्रीमती ताराराानी श्रीवास्तव (धर्मपत्नी अमर शहीद फुलैना बाबू) ने भी मुझ पर कृपा की है। श्री विजयकुमार सिन्हा और श्री सुरेन्द्र पाण्डे से निरंतर सम्पर्क रहा है। बाबा सुन्दर सिंह बब्बर अकाली मेरे घर पर पधारे थे।

यह सब सौभाग्य एक ऐसे व्यक्ति को मिला है जिसके जीवन में त्याग तथा तपस्या का कोई अंश नहीं रहा और जिसने कभी जेल का मुंह भी नहीं देखा। इसे मैं अपने पूर्व जन्म के पुण्यों का परिणाम ही मानता हूं।

पुराने क्रांतिकारी रासबिहारी बोस और राजा महेन्द्रप्रताप से मेरा सन १९२४ में ही पत्र-व्यवहार आरंभ हो गया था।

व्रत का समापन :

अपनी ७७वें वर्ष में, जब कि मैं पौरुष ग्रंथि के ऑपरेशन की प्रक्रिया से गुजर रहा हूं, और एक पैर कब्र में है, आत्म-विज्ञापन की भावना मेरे मन में आ ही नहीं सकती। केवल एक खयाल से कि शायद कोई युवक शहीदों के श्राद्ध को अपना मिशन बना ले, मैंने यह लेख लिखा है। यह कार्य मिशनरी ढंग पर ही हो

सकता है, इस अभागे देश में सरकारी तौर पर नहीं। मेरे लिए यह बड़े संतोष की बात है कि डा० भगवानदास माहौर तथा श्री रामचरण विद्यार्थी इस मिशन को आगे बढ़ाने के लिए तत्पर हैं।

नई दिल्ली के ९ अप्रैल के तार में छपा था।

स्वतन्त्रता, आन्दोलन के इतिहास पर ११ लाख

नयी दिल्ली, ९ अप्रैल। "भारत के स्वतन्त्रता-आंदोलन के इतिहास को प्रकाशित करने में केंद्रीय सरकार अभी तक लगभग ११ लाख रुपया व्यय कर चुकी है। सरकार ने अब तक दो संस्करण प्रकाशित किये हैं। तीसरा शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। आंदोलन में कौन, क्या और किसने क्या भूमिका निभाई से संबंधित प्रकाशन पर केन्द्रीय सरकार ने लगभग ११ लाख ५७ हजार रुपये व्यय होने का अनुमान लगाया है।"

कहां सरकार द्वारा खर्च किये गये ग्यारह लाख रुपये और कहां हम लोगों के अत्यंत सीमित साधन। हमारा साधन-सम्पन्न वर्ग भी इस यज्ञ से सर्वथा उदासीन ही है।

कवि न होते हुए भी मैंने कभी गुनगुनाया था:

रक्त हम देते, न करते वे कभी जल दान
सत्य कहता हूं, न करता व्यर्थ का अभिमान।।

अपने क्षुद्र जीवन के इस अध्याय को मैं इन्हीं पंक्तियों के साथ समाप्त करता हूं। इसे ही मेरे सहृदय पाठक व्रत का समापन समझ लें। ●

मेरा दृष्टिकोण

●

२४ दिसम्बर, सन १९६१ को मेरी जिंदगी का सत्तरवां साल शुरू होगा और जून, सन १९६२ में मेरे लेखक-जीवन के पचास बरस पूरे हो जायंगे। इतने वर्ष गुजार देने के बाद यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि किसी आदमी के जीवन का कोई खास दृष्टिकोण बन जाय, चाहे वह मनुष्य कितना ही क्षुद्र क्यों न हो।

यद्यपि इतनी मंजिल तय करने के बाद मैं कुछ नतीजों पर पहुंचा हूं, तथापि मैं यह हर्गिज नहीं मानता कि मेरा जीवन किसी के लिए भी आदर्श बन सकता है और न मैं किसी को यह सलाह ही दे सकता हूं कि आप मेरे रास्ते पर चलिए। इस विश्व में जो अरबों-खरबों प्राणी हैं,—लगभग तीन अरब तो मनुष्य ही हैं—वे सब अपने-अपने रास्ते पर चलकर ही अपना कल्याण कर सकते हैं। मुझे एक बौद्ध प्रार्थना बहुत पसंद है। वह यह है—'पूर्व में और पश्चिम में और दक्षिण में, सभी मनुष्य अपने-अपने मार्ग पर चलकर अपने लक्ष्य का संपादन करें।' पर हां, एक कर्त्तव्य मेरा अवश्य है, वह यह कि अपनी भूलों से दूसरों को परिचित करा दूं। अपने रास्ते में जिन गड्ढों का सामना मुझे करना पड़ा है, जो-जो गलतियां मुझसे बन पड़ी हैं, उनको

बतला देने का अधिकार भी शायद मुझे है, क्योंकि वे गड्ढे प्रायः सभी साधकों के मार्ग में आते हैं।

पहले अपनी भूलों को ही लूं।

सब से बड़ी भूल जो मुझसे बन पड़ी है, वह यह है कि मैं अपने जीवन में सामंजस्य कभी नहीं रख पाया, जिसे अनुपात की भावना कहते हैं, उसे मैं कभी भी विकसित नहीं कर पाया। कौन काम अधिक आवश्यक और कौन कम, किसे पहले करना चाहिए और किसे बाद को, इसका खयाल मैं बहुत कम रख पाया हूं। नतीजा इसका यह हुआ कि अनेक जरूरी कार्य पड़े रह गए और गैर-जरूरी कामों में वक्त बरबाद हो गया। उदाहरण के लिए आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी, गुरुवर पंडित पद्मसिंहजी शर्मा तथा श्रद्धेय मौलवी अब्दुलहकसाहब के पत्र बिना जवाब के महीनों तक मेरे पास पड़े रह गए, जब कि उस बीच मैंने दूसरों को सकड़ों ही पत्र लिखे होंगे। सबसे भयंकर अपराध जो मुझसे बन पड़ा, वह था रोम्यां रोलां के दो पत्रों का जवाब न देना। बड़ी मुश्किल से तो मैं उन्हें इस बात के लिए राजी कर पाया था कि वे मेरे प्रश्नों का उत्तर पत्रों द्वारा देते रहेंगे और इसके लिए मुझे उनके मित्र दीनबंधु एण्ड्रूज की सिफारशी चिट्ठी भेजनी पड़ी थी। रोम्यां रोलां के दो पत्र मुझे मिले थे, पर चूंकि वे फ्रांसीसी भाषा में थे, मुझे उनका अनुवाद एक अन्य महानुभाव से कराना पड़ता था। उन भलेमानस ने मुझसे कहा—"महापुरुषों को व्यर्थ ही क्यों तंग करते हो? यह बहुत खराब आदत है।" बस उनके कहने में मैं आ गया और जीवन की एक अमूल्य निधि से वंचित रह गया।

इसी प्रकार मेरी कई किताबें बरसों से अधूरी पड़ी हैं, जब कि इस बीच बीसियों ही फुटकर लेख मैंने लिखे होंगे।

नवीन लेखक यदि चाहें तो मेरी भूलों से लाभ उठा सकते हैं। अनुपात की भावना की कमी असफलता के लिए सबसे सरल मार्ग है। वैद्यक में अनेक औषधियां ऐसी हैं, जिनमें यदि अनुपात की भूल कर दी जाए तो रोगी को लाभ के बजाय हानि ही अधिक होगी। अपने प्रति, अपने कुटुम्ब के प्रति तथा जनता के प्रति हमारे जो कर्त्तव्य हैं, उनमें कुछ सामंजस्य तो होना ही चाहिए। दुर्भाग्य की बात यही रही कि इस सामंजस्य को मैं कभी भी कायम नहीं रख सका। इसके कई कारण हो सकते हैं। २२ बरस की उम्र में ही मैं दीनबन्धु एण्ड्रूज के सम्पर्क में आ गया, यद्यपि उनके दर्शन तो २६ वर्ष की उम्र में कर पाया। प्रारम्भ से ही मैं उनका अनन्य भक्त बन गया। वे तो वस्तुतः संन्यासी थे और उनका त्यागमय जीवन किसी भी गृहस्थ के लिए आदर्श नहीं हो सकता था। एक बार एक कुत्ते ने मुर्गे की आवाज 'कुकडूं कूं' की नकल करने की बात सोची, सो 'कुकड़ूं कूं' के बजाय 'भुकरूं घूं' की ध्वनि निकली। बस, वही दशा मेरी भी हुई। न तो मैं त्यागी ही बन सका और न सद्गृहस्थ।

यदि मैं अपनी तमाम त्रुटियों का खाता यहां खोलने बैठूं तो पाठक उससे ऊब जायंगे। कविवर रत्नाकरजी के शब्दों में:

कहै रतनाकर खुल्यो जो पाप खाता मम,
तो गनि बिधाता हूं की आयु खुटि जायगी।

बस इसी कारण उस खाते को मैं नहीं खोलना चाहता। प्रमाद, असंयम, अनाचार तथा समय का अपव्यय ऐसे दुर्गुण हैं, जो किसी के भी जीवन को नष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। इन सबके बावजूद जो थोड़ा-बहुत कार्य मुझसे बन पड़ा है उसे मैं तीन भागों में बांट सकता हूं—१. प्रवासी भारतीयों की सेवा, २. पत्र-सम्पादन और संस्थाओं की स्थापना, ३. शहीदों का श्राद्ध।

१५ जून, १९१४ मेरे जीवन का एक विशेष दिन है, क्योंकि इसी दिन मुझे फिजी द्वीप से लौटते हुए पं० तोताराम जी सनाढ्य के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्रवासी भारतीयों की सेवा करने का व्रत मैंने उसी दिन ग्रहण किया और उसे बाईस बरस तक निबाहा भी। यद्यपि मेरा प्रथम लेख जून, १९१२ के 'नवजीवन' में छपा था (यह पत्र स्व० केशवदेवजी शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर काशी से निकलता था), तथापि इस विषय की विशेषज्ञता प्राप्त करने का खयाल मुझे सन १९१४ में ही आया। इसी वर्ष में एक आकस्मिक घटना से दीनबन्धु एण्ड्रयूज का भक्त बन गया। उस घटना का ब्यौरा मैं लिख चुका हूं।

प्रवासी भारतीयों की जो सेवा मुझसे बन पड़ी, उसका विस्तृत विवरण देने के लिए यहां स्थान नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मैंने इस विषय पर कई ग्रंथ लिखे, सैंकड़ों लेख भी। प्रवासी भारतीयों की दशा की जांच कराने के लिए कांग्रेस ने मुझे १९२४ में अफ्रीका भेजा था और सन १९२१ से १९२५ तक चार वर्ष महात्माजी के साबरमती आश्रम में रहने का सुअवसर भी मुझे मिला था। कानपुर कांग्रेस के अवसर पर कांग्रेस में प्रवासी विभाग कायम करने का प्रस्ताव मेरा ही था और वह प्रस्ताव पास भी हो गया। अपनी प्रथम पुस्तक, जो मैंने पं० तोताराम सनाढ्य के लिए लिखी थी उसका नाम था—'फिजी द्वीप में मेरे २१ वर्ष'। बातें सब पं० तोतारामजी ने ही बतलाई थीं, पर भाषा मेरी थी और उनकी कथा को विधिवत अध्यायों में बांटने का काम भी मेरा था। सरकारी नौकर होने के कारण मैं उस पुस्तक पर अपना नाम नहीं दे सकता था, इस कारण वह आत्मचरितात्मक ढंग पर ही लिखी गई थी। उसे आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। हिन्दी में उसके तीन संस्करण निकले। चार भिन्न-भिन्न अनुवादकों ने उसका गुजराती में अनुवाद किया। उसका तर्जुमा मराठी में भी हुआ और बंगला में भी। कविवर मैंथिलीशरणजी गुप्त ने उससे प्रभावित होकर 'किसान' नामक पुस्तिका लिखी और स्व० सुभद्राकुमारी चौहान के पति श्री लक्ष्मणसिंहजी चौहान ने उसी के आधार पर 'कुली प्रथा' नामक नाटक लिखा जो सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया। 'फिजी द्वीप में २१ वर्ष' का उर्दू तर्जुमा भी हुआ था और उसका अंग्रेजी अनुवाद कराके दीनबन्धु एण्ड्रयूज फिजी लेते गए थे। पुस्तक की इस असाधारण सफलता से स्वयं मुझे बड़ा आश्चर्य और हर्ष हुआ था।

तत्पश्चात अपने चार वर्ष के अवकाश का समय मैंने 'प्रवासी भारतवासी' नामक पुस्तक में लगाया, जो ७२८ पृष्ठ की हुई और जिसकी भूमिका दीनबंधु सी० एफ० एण्ड्रयूज ने लिखी थी। पुस्तक सन १९१८ में बन्धुवर द्वारिकाप्रसादजी सेवक द्वारा प्रकाशित हुई थी। इसके बाद 'फिजी में भारतीय' तथा 'फिजी की समस्या' नामक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। चार बरस तक महात्मा गांधीजी के आश्रम साबरमती में प्रवासी भारतीयों के लिए कार्य हुआ। 'मर्यादा', 'चांद', 'विशाल भारत' और 'नवचेतन' (गुजराती) के प्रवासी अंक छपे और कांग्रेस में प्रवासी विभाग कायम कराया गया। इस प्रकार मेरे २२ बरस का सर्वोत्तम समय प्रवासी भारतीयों की सेवा में बीता, और जब १९३६ में मैंने उस कार्य को निराशा के मूड में छोड़ दिया तो वह मेरे जीवन की एक अत्यंत दुखदायक दुर्घटना थी। अपने उस प्रिय विषय के वियोग की याद मुझे कभी-कभी अब भी आ जाती है, और मन में एक हूक-सी उठती है। यद्यपि दिल्ली आने पर मैंने प्रवासी भारतीयों के कार्य को पुनः हाथ में लेने का प्रयत्न किया, पर वह सफल नहीं हुआ।

मेरे जीवन का द्वितीय युग पत्र-सम्पादन और संस्थाओं की स्थापना से सम्बन्ध रखता है। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग में सत्यनारायण कुटीर, शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन, कुण्डेश्वर-टीकमगढ़ में

गांधी भवन और नई दिल्ली में हिन्दी भवन इन चारों संस्थाओं की स्थापना में मेरे समय, शक्ति और साधनों का एक अच्छा भाग लग गया और यद्यपि संस्थाओं से मेरे मन में अब विरक्ति हो गई है, तथापि उनके प्रति मन में अब भी कुछ मोह बाकी है। सत्यनारायण कुटीर का उद्घाटन महात्मा गांधी जी द्वारा हुआ था और शान्ति-निकेतन के हिन्दी भवन की नींव दीनबन्धु एण्ड्रूचूज ने रखी थी और उद्घाटन श्री जवाहरलालजी द्वारा हुआ था। कुण्डेश्वर का गांधी भवन अब मध्यप्रदेश की सरकार द्वारा बेसिक ट्रेनिंग कालेज के रूप में बड़ी सफलतापूर्वक चलाया जा रहा है और उसकी गणना राज्य के सर्वश्रेष्ठ विद्यालयों में की जाती है। इसका श्रेय मुख्यतया स्व० महाराज वीरसिंहजू देव को मिलना चाहिए, जिनके ऋण से मैं यावज्जीवन उऋण नहीं हो सकता। सत्यनारायण कुटीर सम्मेलन में एकमात्र ऐसी जगह है, जहां अतिथि लोग ठहरा करते हैं और जिसमें श्रद्धेय डा० राजेन्द्रप्रसाद जी भी ठहरे थे। नई दिल्ली का हिन्दी भवन भी लस्टम-पस्टम तरीके से आठ बरस तक चलता रहा है और पिछली ८ अक्टूबर को उसने अपने जीवन का नवां वर्ष प्रारंभ किया है। इन चारों संस्थाओं के सिवाय व्रज साहित्य मण्डल भी अपने ही आंदोलन का शुभ परिणाम था।

छः महीने तक बंधुवर हरिशंकरजी शर्मा के साथ मैंने 'आर्यमित्र' के सहकारी संपादक का कार्य किया। तत्पश्चात दस बरस 'विशाल भारत' का संपादन और पांच-छः बरस 'मधुकर' का संपादन कार्य। 'विन्ध्यवाणी' के लिए भी मुझे कुछ वर्ष काम करना पड़ा था। अपने पत्र-सम्पादन के दिनों में कई आन्दोलन मैंने उठाए--जैसे घासलेट विरोधी आन्दोलन, जनपदीय आन्दोलन, प्रान्तनिर्माण आन्दोलन और 'कस्मैदेवाय' इत्यादि। 'विशाल भारत' द्वारा हिन्दी जगत की जो यत्किंचित सेवा हुई, उसका विवरण यहां देने की आवश्यकता नहीं, केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि हिन्दी के वर्तमान युग के सर्वोत्तम आठ-दस लेखक और कवि वे ही सज्जन हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम 'विशाल भारत' पर कृपा की थी। मैं इसे अपने जीवन की सबसे बड़ी कमाई मानता हूं। पत्र-संपादन के कार्य में मुझे अच्छे-से-अच्छे सहायक मिले--यथा व्रजमोहन वर्मा, धन्यकुमार जैन, यशपाल जैन और जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी और दरअसल सफलता का अधिकांश श्रेय उन्हीं को मिलना चाहिए।

प्रवासी भारतीयों के कार्य के छूट जाने पर, जीवन में जो सूनापन-सा आ गया था, उसकी पूर्ति बहुत वर्ष बाद 'शहीदों के श्राद्ध' ने कर दी है और मेरे इस नवीन उद्देश्य ने मेरी आत्मा को अभिभूत कर लिया है।

इस पवित्र उद्देश्य ने मेरे नीरस जीवन में एक नवीन स्फूर्ति ला दी और यद्यपि स्वयं मैं अपने जीवन में कोई तपस्या नहीं कर सका, तथापि मेरी जिंदगी के अंतिम दिन तपस्वी साधकों की कीर्तिरक्षा के यज्ञ में ही बीत रहे हैं। इस विषय में मेरे अग्रज श्रद्धेय पं० झाबरमल्लजी शर्मा का सहयोग मेरे लिए बड़ा कल्याणकारी सिद्ध हुआ है।

बाबू बालमुकुन्दजी का जीवनचरित और 'गुप्त निबंधावली' का प्रकाशन मुख्यतया पं० झाबरमल्लजी का ही कार्य था यद्यपि उदारतावश उन्होंने उसमें मेरा नाम भी अपने साथ जोड़ दिया था। तब से हम लोग उसे 'श्राद्ध अभिनंदन कम्पनी' के नाम से पुकारते रहे हैं। फिर मजाक-मजाक में बंधुवर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी ने उसका नामकरण संस्कार 'श्राद्ध अभिनंदन मुंडन कम्पनी अनलिमिटेड' के नाम से कर दिया। जब मैंने 'नवीनजी' से पूछा कि इसमें 'मुंडन' शब्द का क्या अर्थ है, तो उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा--"बड़े आदमियों को मूंडे बिना आपकी यह कम्पनी चल नहीं सकती। इसलिए इसमें 'मुंडन' शब्द जोड़ दिया गया है।" खेद है कि बड़े आदमियों को मूंडने की कला हम दोनों में से किसी को नहीं आती, इस कारण

कम्पनी का काम बहुत तेजी से नहीं चल पाता। 'प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ' और 'सम्पूर्णानन्द अभिनंदन ग्रंथ' मेरे द्वारा संपादित हुए और उनके सिवाय कई ग्रंथों में मेरा सहयोग रहा।

जैसा कि मैं लिख चुका हूं अगले वर्ष जून में मेरे लेखक-जीवन के ५८ बरस पूरे हो जायंगे। इस लंबे अरसे में न जाने मैंने कितने स्वप्न लिये और कितनी आयोजनाएं बनाईं। बंधुवर नागार्जुनजी ने मजाक में मुझे 'योजनाविहारी महास्थविर' की उपाधि ही दे डाली थी। मेरे कुछ स्वप्न अक्षरशः सत्य सिद्ध हुए और कुछ योजनाएं भी सफल हुईं। प्रातःकाल चार बजे उठकर चाय के साथ अपने विचार लिपिबद्ध करने का रोग मुझे बहुत बरसों से है और इस प्रकार के विचारों से भरे हुए बीसियों मोटे-मोटे रजिस्टर और पचासों नोटबुक मेरे कमरे में जमा हो गए हैं, वसन्त ऋतु में जब आम पर बौर आता है, तो असंख्य छोटी-छोटी अमियां लगती हैं, जिनमें शायद शतांश भी आम न बन पाती होंगी। दरिद्रों के मनोरथ की तरह मेरे विचार भी प्रायः जहां-के-तहां विलीन होते रहे हैं, पर उसके लिए मुझे कोई विशेष पछतावा नहीं। एक बात में मैं अपने को अत्यंत सौभाग्यशाली मानता हूं, वह है महापुरुषों के आशीर्वाद। महात्मा गांधी, कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, सी० वाई० चिन्तामणि, आचार्य द्विवेदीजी, पं० पद्मसिंहजी तथा गणेशशंकरजी विद्यार्थी के वरद हस्त सदैव मेरे सिर पर रहे।

अपनी ७८वें साल के प्रारम्भ में यदि कोई मुझ से पूछे, 'यदि मुझे दस वर्ष का समय और मिल जाय तो मैं क्या करूंगा', तो मैं विनम्रतापूर्वक उनसे यही कहूंगा कि अपने शेष जीवन को मैं विश्राम और आनंद के साथ ही बिताना चाहता हूं। जो अत्यल्प सफलता मुझे मिली अथवा जो भारी असफलता, उनके लिए मेरे मन में न तो व्यर्थाभिमान है और न निरर्थक पश्चात्ताप। हां, दो बातें मुझे जरूर खटकती रहेंगी। एक तो यह कि कुछ अच्छे जीवनचरित मैं न लिख सका और दूसरी यह कि अराजकतावाद के सिद्धांतों के प्रति मैं वफादार नहीं रह सका। ऋषिवर क्रॉपॉटकिन की समाधि पर पुष्प चढ़ाना, मेरे जीवन की सबसे बड़ी साध थी, जो सन १९५९ में पूरी हुई।

अब मेरे विचारों में जो परिवर्तन हो गया है, उसका भी उल्लेख कर देना नितांत आवश्यक है। मेरा अब यह विश्वास हो गया है कि लैनिन के तौर-तरीकों को अंगीकार किये बिना इस अभागे देश की शोषित जनता का उद्धार न हो सकेगा। यद्यपि मेरे जैसे क्षुद्र लेखक के विचार-परिवर्तन का कुछ भी महत्व नहीं, फिर भी अपने साथियों को यह बतला देना जरूरी है।

महात्मा गांधीजी ने अपने एक लेख में लिखा था—"कोई भी व्यक्ति यदि वह गलती करते हुए नष्ट हो जाय, तो यह हजार गुना अच्छा है बजाय इसके कि वह सदा किसी दूसरे से निरंतर पथ-प्रदर्शन चाहता रहे।"

मैंने इसे अपने लिए एक मंत्र ही समझ रखा है। कितनी ही बार मैंने लगी-लगाई नौकरी छोड़ दी और जबरदस्त आर्थिक संकट में फंस गया। इससे मेरे माता-पिता तथा बाल-बच्चों को भी काफी कष्ट उठाने पड़े। पर पूज्य माता-पिता के आशीर्वाद से संकट के वे दिन बीत गए। अर्थ के प्रति मेरे मन में कभी भी कोई मोह न था और न अब भविष्य में उसकी विशेष संभावना ही है। षड्रिपुओं में मेरा दुश्मन नं० १ कौन है, यह बतलाने का वक्त अभी नहीं आया है।

फ्रांस में बेज़िल गेट नामक एक लेखक ऐसे हुए हैं, जिनके जीवन का लक्ष्य ही दूसरे फ्रांसीसी लेखकों की सेवा करना था। सुप्रसिद्ध आस्ट्रियन लेखक स्टीफन ज्विग ने उनकी बड़ी प्रशंसा की है। उनका आदर्श

मुझे भी प्रिय है। कीर्तिरूपी मिठाई अकेले-अकेले खाने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि मिल-बांट कर उसका उपभोग किया जाय। मेरे हृदय में सफल लोगों के प्रति श्रद्धा की भी भावना उतनी प्रबल नहीं रही, जितनी संघर्षशील, असफल लोगों के प्रति। हिन्दी साहित्य के जो इतिहास लिखे गए हैं, उनमें यह बड़ा दोष है कि उनमें केवल सफल लेखक और कवियों का ही जिक्र किया गया है और संघर्षशील व्यक्तित्व बिलकुल छूट गए हैं। यदि मुझे समय मिले तो मैं ऐसे असफल व्यक्तियों के पचास-साठ रेखा-चित्र प्रस्तुत कर दूं जो प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो सके। बंधुवर नागार्जुनजी की वह कविता मुझे अत्यंत प्रिय है—

जो नहीं हो सके सफल काम,
मैं करता हूं उनको प्रणाम।

एक प्राचीन बौद्ध कवि आचार्य शांतिदेव ने कहा था—"संसार के सभी प्राणियों के मुक्त होने पर मेरे हृदय में आनंदरूपी सागर की जो लहरें उठती हैं वही मेरे लिए पर्याप्त हैं, नीरस मुक्ति को लेकर मैं क्या करूं?"

मुच्यमानेषु सर्वेषु ये ते प्रामोद्य सागराः
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेण अरसिकेन किं।

हिन्दी जगत के सभी संघर्षशील लेखकों तथा कवियों के गौरव में ही मैं अपना कल्याण मानता हूं। मेरे क्षुद्र जीवन का बस यही दार्शनिक दृष्टिकोण है। ●

खंड : तीन

●

ब्रजभूमि :
साहित्य और संस्कृति

●

इस खण्ड में ब्रजभूमि के, जिसने चतुर्वेदीजी को जन्म दिया है, इतिहास, भूगोल, साहित्य, संस्कृति आदि पर सारगर्भित सामग्री संकलित की गयी है। इन रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि ब्रजभूमि कितनी समृद्ध है और भारतीय जीवन को सम्पन्न बनाने में उसकी कितनी महत्वपूर्ण देन रही है।

१. ब्रज-वर्णन

अमृतलाल चतुर्वेदी

ब्रज-वर्णन

●

रीति, प्रीति, बोली, चलन, खान पान जग मांहिं।
ब्रज से गीत, संगीत मृदु, गारीं प्यारीं नाहिं।।

ब्रज में तौ बारौ मास, आल्हा, ढोला ख्याल, रास,
भगति, चौबोला, फाग, रसियन दौर है।
मेला, परिकम्मा, गान, दंगल सुमार नाहिं,
काऊ एक गाम नाहिं सोहैं ठौर ठौर हैं।
सावन घटान की बिलोकें ही बनें हैं छटा,
ठाकुर के झूलन के ठाठ पौर पौर हैं।
राम, कृस्न, दाऊ जन्म उत्सव महान लसैं,
होरीं नाहिं होंति ऐसीं हिन्द कहूं और हैं।

छै औ ऋतु ब्रजभूमि सुषमा चुचाई परै,
गिर, बनु, बाग, फूल लुटति बहार है।
चम्पक, चमेली, जुही, पाटिल, अगस्त, कुन्द,
मल्लिका, कुमोद, जवा, हार स्रनगार है।
माधवी, बासन्ती, मुचकुन्द, रात रानी, दौना,
केवड़ा, कमल, ब्रेला, तुलसी अपार है।
केतकी, असोक, गेंदा, पुन्नग, बंधूक पुंज,
बकुल, कदम्ब, गंध वगरी बजार है।

कौन कवि कीर्ति ब्रजभूमि की बखानि सकै,
मति सेब, सारदा की जहं पै हिरानी है।
जसुदा सी मैया बलदाऊ से न भैया कहूं,
कुमर कन्हैया, ब्रजरानी सी न रानी है।
असन, बसन, बिहंसन, ब्रज बाल सी ना,
अमृत जू मथुरा सी नगरी न आनी है।

गोकुल सौ गाम, राधेश्याम सौ न नाम दूजौ,
ब्रज सौ न धाम ब्रजबानी सी न बानी है।

बाबा हरीदास से न गायक गुनी ही भये,
सरस कबीन की सदां सो रही खानी है।
साधू, सिद्ध, सन्तन की साधक महन्तन की,
भांति भांति पन्थन पुनीति रजधानी है।
गुरू औ आचारिन की पंडित पुजारिन की,
मल्ह औ अखारिन की भूमि जग जानी है।
जनमें ना-सानी, चक्रपानी कान्ह महाज्ञानी,
अमृत जू ब्रजराज अकथ कहानी है। ●

वृन्दावनदास

ब्रजभूमि का पुनर्निर्माण : चतुर्वेदीजी की दृष्टि में

●

ब्रजभूमि का पुनर्निर्माण श्रद्धेय पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी का सुख-स्वप्न है। वह इसके लिए सतत प्रयत्नशील हैं। उन्होंने अनेक लेखों तथा अपने मित्रों और प्रशंसकों को लिखे पत्रों में उसकी समय-समय पर रूपरेखा खींची है। उनके अनेक भाषणों में भी यह तत्व मुख्य रूप से विद्यमान है।

इस सम्बन्ध में वह प्रचार-कार्य बड़े अर्से से कर रहे हैं, कदाचित तब ही से जब से उन्होंने कलम उठाई है। आज ७७ वर्ष की अवस्था में भी वह फीरोजाबाद के अपने अध्ययन-कक्ष में बैठे-बैठे इस दिशा में जो महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं, उसके परिणामस्वरूप अनेक साहित्यिक बन्धुओं को पुष्कल प्रेरणा मिली है और वह ब्रजभूमि के उद्धार में लग पड़े हैं। कदाचित सहज सौजन्य से आपूरित अपने स्वभाव के कारण चतुर्वेदीजी को यह भान भी नहीं है कि वह इस प्रकार एक महान अभियान का नेतृत्व कर रहे हैं।

ब्रजभूमि के पुनर्निर्माण से चतुर्वेदीजी का आशय क्या है, यह बताने के लिए हमें ब्रजभूमि के पुनर्निर्माण की कहानी चतुर्वेदीजी की जुबानी ही सुनानी पड़ेगी। सर्वप्रथम लीजिये एक उद्धरण जो ब्रजकोकिल पं० सत्यनारायण कविरत्न अर्द्ध शताब्दी समारोह के अवसर पर चतुर्वेदीजी के अध्यक्षीय भाषण से लिया गया है:

"ब्रजभूमि शताब्दियों तक भारत की सांस्कृतिक केन्द्र रही है और ब्रजभाषा अखिल भारतीय भाषा, फिर भी उसकी एक निजी संस्कृति रही है। अपने जनपद की विशेषताओं की रक्षा करते हुए विश्व की सांस्कृतिक धारा से उसका मेल-मिलाप करने में ही हमारा कल्याण है। आज से लगभग साठ वर्ष पहिले सत्यनारायणजी ने 'भ्रमर दूत' में कहा था :

पहिले कै सो अब न तिहारौ यह वृन्दावन,
याके चारों ओर भये बहु बिधि परिवर्तन।
बने खेत चौरस नये काटि घने बन-कुंज,
देखन को बस रहि गये, निधिवन सेवाकुंज।
कहां चरिहैं गऊ ?

"ब्रज का अर्थ है 'वह हरी-भरी भूमि जहां गउएं चरती हैं।' ब्रज के हरे-भरे वन को कायम रखना और यहां गोसभ्यता का निर्माण करना है—पैट्रोल सभ्यता के आक्रमणों तथा अनाचारों से उसे बचाते हुए।"

उपरोक्त उद्धरण चतुर्वेदीजी के प्रकृति-प्रेम का तो द्योतक है ही, इससे उनकी ब्रजभूमि के विषय में एक ऐसी भूमि की कल्पना का भी पता चलता है, जो सुन्दर वन-उपवनों से पूर्ण, गौओं के प्रावल्य से युक्त और हरी-भरी शस्य-श्यामला हो।

चतुर्वेदीजी जहां वृक्षारोपण-पर्वों और वनमहोत्सवों का समर्थन करते रहते हैं और कहा करते हैं कि उद्यानों और बाग-बागीचों के स्वामियों तथा निर्माताओं की शतमुख से प्रशंसा की जानी चाहिए, वहां उन्हें वृक्षों के अनर्गल काटे जाने से बड़ी वेदना होती है। उसी अध्यक्षीय भाषण में वह अन्यत्र कहते हैं :

"रूसी लोगों ने अपनी राजधानी मास्को को संसार की सबसे हरी-भरी राजधानी बनाने का निश्चय किया था और उन्होंने उस दिशा में काफी सफलता प्राप्त की है। इधर हम लोग बिल्कुल उल्टी दिशा में चल रहे हैं। मुझे यह बात बड़ी लज्जा के साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि ब्रज को रेगिस्तान बनाने में हमारे नगर फीरोजाबाद का जबर्दस्त हाथ है। लाखों मन लकड़ी फीरोजाबाद के कारखानों में कोयले की जगह जलती रही है और डेढ़ सौ वर्ग मील के घेरे में वृक्षों का कत्लेआम होता रहता है। मैंने तो यहां तक सुना है कि देहरादून तक के जंगल फीरोजाबाद के कारखानों की बलिवेदियों पर कुर्बान हो गये। चकबन्दी के कानून की वजह से भी सहस्रों ही पेड़ कट गये। सड़क के किनारे के वृक्षों पर निरन्तर आघात होते रहते हैं। इन सब कार्रवाइयों को रोकना है और ब्रज को रेगिस्तान बनने से बचाना है।"

जिस प्रकार शरीर के बिना आत्मा रह ही नहीं सकती उसी प्रकार चतुर्वेदीजी की दृष्टि में ब्रजभूमि की संस्कृति की रक्षार्थ ब्रज के भौतिक शरीर की रक्षा तथा उसका पोषण तो किया ही जाना चाहिए। ब्रज की ओर बढ़ते हुए रेगिस्तान को रोकने का कार्य उनकी दृष्टि में किसी साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक आयोजन से कम महत्व का नहीं है।

ब्रज-संस्कृति और ब्रज-जीवन के जीते-जागते चित्र को आचार्य विनोबा भावे के निम्नलिखित शब्दों में चित्रित करते हैं :

"गोपाल कृष्ण ने गांवों का वैभव बढ़ाया, गांवों की सेवा की, गांवों पर प्रेम किया। गांव ही उनका देवता था। आगे चलकर वह द्वारिकाधीश बने। लेकिन फिर भी गोकुल में आते थे, फिर गायें चराते थे, गोबर में हाथ डालते थे, गोशाला बुहारते थे—बनमाल पहिनते थे, वंशी बजाते थे, लड़कों के साथ—गोप-बालों के साथ खेलते थे। ब्रजकिशोर उनका प्यारा नाम था। उन्होंने गोकुल में असीम आनन्द और सुख पैदा किया।"

"हमें देहातों को हरा-भरा गोकुल बनाना है—स्वाश्रयी, स्वावलम्बी, आरोग्य-सम्पन्न, उद्योगशील और प्रेमपूर्ण। ईख का कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, धुनियां धुन रहा है, तेल का कोल्हू चर्र-चर्र बोल रहा है, कुएं पर मोट चल रही है, चमार जूता बना रहा है और बंसी बजा रहा है—ऐसा गांव बनने दो। अपनी गल्ती से हमने गांवों को मरघट बना दिया। आइये, उनको गोकुल बनावें।"

यह है चतुर्वेदीजी की कल्पना का व्रज और उसका जीवन, जिसे वह आचार्य विनोबा के शब्दों में हमारे सम्मुख रखते हैं ।

एक बार एक सज्जन ने चतुर्वेदी जी से पूछा––"बुन्देलखण्ड है कहां?" यह बात उस समय की है जब चतुर्वेदीजी बुन्देलखण्ड का एक पृथक प्रान्त के रूप में निर्माण चाहते थे और उसके लिए अपने पत्र 'मधुकर' में आन्दोलन चला रहे थे। चतुर्वेदीजी ने उत्तर दिया, "बुन्देलखण्ड है इस प्रान्त के लाखों साधारण स्त्री-पुरुषों के हृदयों में, किसानों-मजदूरों की भुजाओं में, इस प्रान्त के लेखकों तथा कवियों की भावनाओं में, युवकों तथा युवतियों की आकांक्षाओं में। बुन्देलखण्ड है, 'साकेत', 'गढ़कुण्डार' और 'बापू' के रचयिताओं के हृदयों में। और यदि भौतिक जगत की बात कहें तो बुन्देलखण्ड है वहीं के पशु पक्षियों में, नदी-नद-सरोवरों और प्रपातों में, वृक्षों, क्षेत्रों, वनों-उपवनों में, वहां के जल में, वहां के वायु में और इस भूमि के कण-कण में।" यदि कोई व्यक्ति चतुर्वेदीजी से व्रज के विषय में पूछे कि वह कहां है, तो भी उनका उत्तर कुछ हेर-फेर के साथ इसी प्रकार का होगा। वास्तव में एक प्रदेश का सबसे सुन्दर और वास्तविक चित्र वही है जो वहां के समाज की दशा और प्राकृतिक सौन्दर्य को सच्चे अर्थों में प्रस्तुत करता है। प्रदेश का एक नवीन चित्र उस दर्पण के सदृश है, जिसमें वहां की सामान्य जनता और उसके चारों ओर का वातावरण प्रतिबिम्बित होता है।

सन १९४३ में एक बार चतुर्वेदीजी ने '२००० ईस्वी का बुन्देलखण्ड' शीर्षक एक लेख 'मधुकर' में लिखकर सत्तावन वर्ष बाद बुन्देलखण्ड की जिस दशा की कल्पना की थी उसका वृत्तांत बड़ा हृदयग्राही है। पुनर्निर्माण के बाद व्रजभूमि कैसी होनी चाहिए, इसका अनुमान चतुर्वेदीजी की उस कल्पना से लगा सकते हैं, जो उन्होंने २००० ई० के बुन्देलखण्ड से की थी। उन्होंने कल्पना की है कि सन २००० ई० में एक यात्री-दल वसन्त ऋतु में वेत्रवती तट की यात्रा के लिए निकलता है। इस दल में विशाल वक्षस्थल और वृषभ स्कंध वाले पच्चीस युवकों की एक टोली है, जिसके साथ दो-तीन प्रौढ़ व्यक्ति भी हैं। दस-बारह मील रोज़ चलने का इनका नियम है। दूसरी टोली दशार्ण, तीसरी केन और चौथी जामनेर के तट पर भ्रमण करेगी। हमारे विद्यालयों ने पुराना अहमकपन (अर्थात बसन्त ऋतु में छात्रों को स्कूल की चहारदीवारी में बन्द रखना) छोड़ दिया है। वसन्त ऋतु में पांच सप्ताह की छुट्टियां हुआ करती हैं। इसी ऋतु में बसन्त व्याख्यानमाला का प्रबन्ध होता है, इसलिए जितना उपयोगी व्यावहारिक ज्ञान वे स्कूल में साल भर में प्राप्त नहीं कर पाते उससे अधिक डेढ़ महीने के भ्रमण में प्राप्त कर लेते हैं।

ये यात्री-दल ओरछा के कृषि महाविद्यालय में जाकर निवास करते हैं। कृषि महाविद्यालय के साथ वहां पर ग्रामीण कार्यकर्ताओं का ट्रेनिंग स्कूल भी है। तुंगारण्य में प्रान्त की सबसे बड़ी गोशाला का निर्माण हो गया है। जिस वन में जामनेर-बेतवा संगम हुआ है वहां स्वास्थ्यागार (सैनीटोरियम) बना दिया गया है। देश-विदेश से यात्री यहां आकर ठहरते हैं। आज से चालीस वर्ष पहले ही राज्य ने यह निश्चय कर लिया था कि अनावश्यक वृक्षों को छोड़कर एक डाली भी इस वन में से न काटी जायगी। प्राकृतिक और कृत्रिम सौन्दर्य का यहां अनुपम मेल पाया जाता है।

गोधूलि के समय यह वन बड़ा रम्य प्रतीत होता है। जिन्होंने पचास वर्ष पहले गाय-बैल देखे थे उनकी आँखें आज के गाय-बैल देखकर चौंधिया जायंगी। तुलना के लिए उनके चित्र संग्रहालय में देखे जा सकते हैं। कहां छटांक भर दूध देने वाली, सूखे थन और रूखे बदन वाली चित्रलिखित गाय और कहां यह सामने खड़ी हुई गंगा, यमुना, बेतवा और जामनेर नामक गोमाताएं और उनके घड़ा-भर दूध देने वाले

स्तन। घी अब ढाई सेर का बिकता है और दूध बीस सेर का। बुन्देलखण्ड अब भारतवर्ष का उपवन है। इस प्रान्त में सरोवरों और उपवनों की भरमार है। यहां के आमों, अमरूदों, आड़ुओं और नारंगियों ने आस-पास के बाजारों को पाट दिया है।

यहां उपवनों में नदियों और सरोवरों के तट पर ग्राम विद्यालय हैं। यहां आप ग्रामगीत सुन सकते हैं और ग्रामनृत्य देख सकते हैं। यहां विद्यार्थियों को व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है, जिसका ग्राम वन से घनिष्ट सम्बन्ध है। यहां कुंजें, सड़क की दोनों ओर लगे मौलिश्री के वृक्ष और गुलाब के खेत दर्शनीय हैं। यहां के उपवनों के नाम उन महापुरुषों के नाम पर हैं, जिन्होंने उनकी उन्नति में योगदान दिया है। प्रान्तीय साहित्य संघ का कार्यालय और उसके साथ चित्रशाला द्रष्टव्य हैं, उसमें प्रान्त के सभी साहित्यिकों की कृतियां और उनके चित्र संगृहीत हैं।

इतिहास परिषद भी इसी संस्था से सम्बद्ध है। मूर्तियों का संग्रहालय अलग से है। राज्य के सभी महाराजाओं के जीवन-चरित छप चुके हैं और इस संग्रहालय में विद्यमान हैं। ऋतुओं के उत्सव होते हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष आबाल-वृद्ध सभी भाग लेते हैं।

यही चतुर्वेदीजी की कल्पना अथवा उनका सुख-स्वप्न ब्रजभूमि के सर्वांगीण विकास के लिए भी है। उनका हृदय उस ब्रज के लिए अधीर है, जिसमें दूध बीस सेर और घी ढाई सेर का बिके, जिसकी गायों के स्तनों से घड़ा-भर दूध निकले, जिसके ग्रामीण विद्यालयों में विद्यार्थियों को व्यावहारिक शिक्षा मिले, जिसका ग्रामीण जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध हो, जिसमें ऋतुओं के उत्सव मनाये जाते हों, जहां महापुरुषों का सम्मान हो, जहां साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना प्रबुद्ध रूप से विद्यमान हो, जहां रमणीक वन और उपवन हों, जिनके अनावश्यक वृक्षों को छोड़कर एक डाली भी काटने पर निषेध हो, जहां की नदियों और सरोवरों के तट सुरम्य हों, जिन पर स्वास्थ्यागार बने हों, जहां सड़कों पर दोनों ओर मौलिश्री के वृक्ष और अनेक गुलाब के खेत हों।

प्रश्न यह है क्या चतुर्वेदीजी की इन कल्पनाओं को हवाई महल की संज्ञा देकर इनको उपेक्षणीय समझा जाय? नहीं, कदापि नहीं। यदि हमारे युवकों में दृढ़ इच्छा-शक्ति है, हमारे लेखकों और कवियों के हृदय सरस और मस्तिष्क विकसित है, हमारे राजनीतिज्ञ सत्ता के खेल में ही मस्त न रह कर जनहित में व्यावहारिक चिन्तन करते हैं तो चतुर्वेदीजी की कल्पना को साकार करना कोई कठिन कार्य नहीं है। चतुर्वेदीजी के ही शब्दों में आज एक ही ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो कहे कि मैं स्वयं ही ब्रज हूं जिसके जीवन और चिन्तन में ब्रज रमा हो। वह वाल्मीकि रामायण के एक प्रसंग:

"अयं हि लंका नगरी स्वयमेव प्लवंगम" (हे बन्दर! मैं स्वयं ही लंका नगरी हूं) की बड़ी सुन्दर व्याख्या करते हैं। उसका निष्कर्ष यह कि समस्त ब्रज भूमि में कम-से-कम एक तो ऐसा व्यक्ति हो, जो दृढ़तापूर्वक कह सके कि "मैं ही ब्रज हूं।"

चतुर्वेदीजी का कथन है कि ब्रजभूमि का पुनर्निर्माण व्याख्यानों, रेडियो-वार्ताओं, और आयोजनों की व्यवस्था करने से न होगा। वह कहते हैं कि उसकी सर्वांगीण उन्नति के लिए अपने जीवन, अपने प्राण अर्पित करने वाले व्यक्ति जब तक इस भूमि में उत्पन्न नहीं होते तब तक यह स्वप्न अधूरा ही रहेगा। एक अंग्रेजी कवि की निम्नांकित उक्ति देते हुए:

It you give all and life retain
I say all your gift is in vain

वह अपना मत प्रकट करते हैं कि चाहे आप अपना सर्वस्व दे दें, पर अपने जीवन, अपने प्राणों को बचाये रक्खें तो मैं कहूँगा आपका दान निरर्थक ही गया। 'ब्रज साहित्य मण्डल' के भूतपूर्वक अध्यक्ष स्वर्गीय श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का पद्य :

अरे समुद अर्पण ही अर्पण यह जीवन का क्रम है
और ग्रहण में मृत्यु निहित है प्रतिफल केवल भ्रम है।

चतुर्वेदीजी ब्रज के प्रत्येक कार्यकर्ता के लिए आदर्श-वाक्य के रूप में मानते हैं।

'ब्रज साहित्य मण्डल' की स्थापना मुख्यतया चतुर्वेदीजी के मस्तिष्क की उपज है। जिस समय टीकमगढ़ में वह 'मधुकर' के संपादन का कार्य कर रहे थे उसी समय उन्होंने क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक स्वर पर साहित्यिक मण्डलों की स्थापना का एक मौलिक विचार प्रस्तुत किया था। विद्वानों का ध्यान उस सुझाव की ओर आकृष्ट हुआ और परिणाम-स्वरूप 'ब्रज साहित्य मण्डल' की स्थापना सन १९४० ई० में हुई।

चतुर्वेदीजी मण्डल की स्थापना के समय उसके संस्थापकों के लिए मुख्य परामर्शदाता के रूप में समझे जाते थे। चतुर्वेदीजी ब्रज साहित्य मण्डल के अध्यक्ष और उससे सम्बद्ध संस्था साहित्य परिषद के भी अध्यक्ष रहे। उन्होंने अपनी अध्यक्षता के काल में मण्डल को एक प्रौढ़ नेतृत्व प्रदान किया।

चतुर्वेदीजी के हृदय में ब्रजभाषा के लिए बड़ा मृदुल स्थान है। वह ठीक ही कहते हैं कि किसी समय ब्रजभाषा समस्त उत्तर भारत के बोलचाल की भाषा थी। वह उस भाषा की उन्नति चाहते हैं। उनका दृढ़ मत है कि ब्रजभाषा का हितसम्वर्द्धन करने से, उसका संरक्षण-सम्वर्द्धन और उन्नयन करने से हिंदी का, जिसके कि वह स्वयं एक अनन्य सेवक और साधक रहे हैं और जिसमें उनका एक अत्यन्त उच्च आसन सुरक्षित है, कोई अहित नहीं। चतुर्वेदीजी का मत है कि ब्रजभाषा हिंदी के साहित्य की भाषा है। ब्रजभाषा हिंदी से अलग हो ही नहीं सकती। ब्रजभाषा के कार्यकर्ता हिन्दी के अनिवार्यतः कार्यकर्ता हैं। ब्रजभाषा का पक्ष-समर्थन कर हम हिन्दी की उन्नति करने की दिशा में ही अग्रसर होते हैं। यहां पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि चतुर्वेदीजी का हिन्दी की अन्य उपभाषाओं के प्रति; जैसे भोजपुरी, अवधी, बुन्देली, राजस्थानी, मगधी, बघेली, मैथिली आदि के प्रति--भी यही दृष्टिकोण है। वह चाहते हैं कि इन सभी उपभाषाओं अथवा बोलियों के कार्यकर्ता अपने-अपने क्षेत्र में इनका विकास करें, इनकी उन्नति की योजना बनावें, इनके साहित्यिक पक्ष को परिष्कृत और उन्नत बनावें तो इससे हिन्दी के अहित की कोई बात नहीं, अपितु इससे तो हिंदी की समृद्धिशालिता बढ़ेगी। चतुर्वेदीजी के दृष्टिकोण में सदैव व्यापकता और एकरूपता रहती है। हमने उन्हें कभी संकीर्ण दायरों में सोचते नहीं देखा।

एक बार हमने समाचारपत्रों के माध्यम से ब्रजभाषा-भाषियों को सम्बोधित करते हुए उनसे जनगणना के अवसर पर अपनी भाषा ब्रजभाषा (हिंदी) लिखाने का आह्वान किया था। हमारे कुछ मित्रों ने इस पर आपत्ति की और इस कदम को हिंदी के हित के विरुद्ध बताया। हम स्वयं अपने को हिंदी का विनम्र कार्यकर्ता पहले और ब्रजभाषा का पीछे मानते हैं। हमें उस आपत्ति पर कुछ आश्चर्य हुआ। हमने आपत्तिकर्त्ताओं को समाचारपत्रों में ही समुचित उत्तर दे दिया था और हमारे पक्ष में अनेक विद्वानों ने अपना मत प्रगट किया था। चतुर्वेदीजी ने भी हमें इस प्रकार लिखा, "ब्रजभाषा के विषय में जो कुछ आपने लिखा है, उससे मैं पूर्णतया सहमत हूं।.... उर्दू, अवधी, भोजपुरी तथा बुन्देलखण्डी के लिए भी हमारा मण्डल भरपूर प्रयत्न करे, क्योंकि ब्रजभाषा सब की बड़ी बहन है, उर्दू की तो माता भी:

दुइ बिटिया ब्रजभाषा की हैं हिन्दी उर्दू सुन्दर नार।
जेठी महलन में है बैठी लहुरी बैठी जाइ बजार॥

मातृभाषा ब्रजभाषा अवश्य-अवश्य लिखाई जाय। इसमें डर किस बात का है। आखिर संख्या जान लेने का दूसरा उपाय है ही क्या? इस पवित्र कर्तव्य में संकोच किस बात का? इससे राष्ट्रभाषा हिंदी को कोई हानि नहीं पहुंचती। कोष्टक में (हिंदी) लिखाई जा सकती है।

जो लोग ब्रजभाषा को मातृभाषा लिखने में भी डरते हैं या संकोच करते हैं, उनकी मोटी अक्ल पर मुझे तरस आता है। वे व्यर्थ का भूत खड़ा करते हैं। ब्रजभाषा तो खड़ीबोली की माँ है। उसे सौत समझना अव्वल नम्बर की नासमझी है। आपका पक्ष इतना प्रबल है कि उसकी विजय निश्चित है।" (ता० १५-६-६९ का पत्र)

चतुर्वेदीजी सार्वजनिक संस्थाओं की अपेक्षा निजी प्रयास के रूप में ब्रज-संग्रहालयों के निर्माण के पक्ष में हैं। उनकी आकांक्षा है कि ब्रजभूमि के प्रत्येक कार्यकर्ता का निवासस्थान एक छोटे-मोटे ब्रज-संग्रहालय का रूप ही ग्रहण कर ले। उन्होंने मुझे लिखा, "आप अपने घर पर एक ब्रज-संग्रहालय की नींव डाल दें, तो अत्युत्तम हो। आपका भवन कभी ब्रजवासियों के लिए तीर्थ बन सकता है। यही बात आप श्री बालकृष्णजी गुप्त से कह सकते हैं। जो भी सामग्री मेरे पास है उसकी नकल आपके संग्रहालय में रहनी ही चाहिए, यह कोई बहुत व्ययसाध्य कार्य भी नहीं है।

"चित्रों का पूरा-पूरा संग्रह आपको रखना ही है। श्री जगन्नाथ 'लहरी' से मैंने फीरोज़ाबाद-संग्रहालय की नींव डलवा दी है। सरकारी संग्रहालय में तो चोरी होती रहती है, इसलिए मैं घरेलू संग्रहालय का प्रबल पक्षपाती बन गया हूं।"

चतुर्वेदीजी नवीन मित्र बनाने के बड़े समर्थक हैं। उन्होंने इसी उद्देश्य से मेरा अनेक साहित्यिक बन्धुओं से पत्रव्यवहार द्वारा परिचय कराया। उनका विश्वास है कि इस प्रकार सहयोगात्मक कार्यकलापों से ब्रजभूमि के पुनर्निर्माण में सुगमता होगी। उन्होंने लिखा, "सबसे अधिक आवश्यक कार्य है लोकसंग्रह। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी समालोचक डा० जॉनसन ने कहा था :

"Sir, I consider that day lost in which I do not make a new acquaintance."

अर्थात श्रीमान, मैं उस दिन को व्यर्थ गया ही मानता हूं जिसमें मैं कोई नई जान-पहचान नहीं करता।' सो हमें नवीन मित्र बनाते रहना है, जो हमारे कार्य के पूरक हों।"

"यदि ब्रजभूमि की डाइरेक्टरी आप बना सकें तो वह बड़े काम की चीज़ होगी। व्यापारिक दृष्टि से भी वह सफल होगी। ब्रज का सर्वांगीण रूप तो हमारे सामने आना ही चाहिए। युगधर्म का यही तकाजा है। ब्रजभूमि का हमें पुनर्निर्माण करना है। इस रेगिस्तान में जहाँ कहीं भी हमें हरियाली दीख पड़े उसकी रक्षा करनी है, फिर चाहे वह साहित्यिक हरियाली हो या कृषि-सम्बन्धी। छुटभइयों को प्रोत्साहन सबसे प्रथम मिलना चाहिए।

सम्पूर्ण ब्रज का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक सर्वेक्षण हो जाना चाहिए। पर उसके साथ कृषि, व्यापार तथा उद्योग-धन्धों को भी हमें नहीं भूलना है। जिस किसी क्षेत्र में जो कुछ अच्छा काम हो रहा उसकी कद्र होनी चाहिए।

यदि ब्रज की डाइरेक्टरी तैयार कर दी जाय, तो भविष्य में यह बड़े काम की चीज होगी। न जाने कितने व्यक्तियों की कीर्तिरक्षा उससे हो जायगी और कितनों का मार्ग-प्रदर्शन होगा।" (ता० २४-१-६९ का पत्र)

"व्रजमण्डल के जनपदीय सर्वेक्षण के लिए एक समिति तुरन्त स्थापित कीजिये।
ग्राम-विभाग में ··········डा० सत्येन्द्र
आधुनिक काव्य विभाग में ···सर्वश्री अमृतलाल चतुर्वेदी, डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
कीर्तिरक्षा विभाग में ······सर्वश्री प्रभुदयाल मीतल, जवाहरलाल चतुर्वेदी तथा मेरी (श्री बनारसीदास चतुर्वेदी) सेवाएं भी आप ले सकते हैं।
वन, उपवन, स्वास्थ्य विभाग में ···आप (वृन्दावनदास)
अखाड़े का सचित्र वृत्त आना ही चाहिए। औद्योगिक विभाग श्री बालकृष्ण गुप्त के अधीन रहे। यमुनाजी तथा अन्य छोटी-मोटी नदियों पर भी लेख रहने चाहिए आप इस सर्वेक्षण के मुख्य सचिव रहे––उसकी चलती––फिरती आत्मा के रूप में।" (ता० २१-७-६९ का पत्र)

"व्रजभूमि की सर्वांगीण उन्नति के लिए यह जरूरी है कि हम लोग कुछ भ्रमण करें। अब की बार फीरोजाबाद-यात्रा के अवसर पर कोटला जरूर जाइये। वहां भाई बालकृष्णजी का बढ़िया बगीचा है, जिसके आम गतवर्ष २० हजार में बिके थे। भाई बालकृष्णजी ने फीरोजाबाद में घर से एक मील दूर एक उपवन की नींव डाली है। उस पर वे पचास हजार व्यय करेंगे। स्नानागार भी उसमें होगा। उन्हें बधाई का पत्र तो भेज ही दीजिये।" (ता० २६-८-६९ का पत्र)

"अपने जनपद से प्रेम करने के लिए यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि हम उसकी प्रकृति से, पुरुषों से, नदी-नद, सरोवर, वृक्ष, वन, पशु, पक्षी, द्रव्य साधन, खनिज पदार्थ और लोकवार्ता तथा सामाजिक जीवन इत्यादि से भलीभांति परिचित हों।" चतुर्वेदीजी अपने मित्रों को लिखे हुए अनेक पत्रों में तथा अपने लेखों में कुछ रमणीय स्थलों और उपयोगी संस्थाओं का बार-बार उल्लेख करते हैं और उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते। ये स्थल जिनको वे बहुधा तीर्थ कहकर पुकारते हैं उनके ब्रजभूमि के उस चित्र के अन्तर्गत आ जाते हैं, जिसको उन्होंने अपने हृदय और मस्तिष्क में संजोकर रक्खा है। वह लिखते हैं :

"ब्रजभूमि में जहाँ जो भी अंकुर उग रहे हों, जिनमें आगे चल कर वृक्ष बनने की संभावना हो, उन्हें पल्लवित करना हमारा कर्त्तव्य है। हमें ब्रज में नवीन तीर्थों का निर्माण करना है। यदि गोवर्द्धन में वृक्षारोपण सफलतापूर्वक हुआ है, तो वह हमारे लिए डबल तीर्थ है और ब्रज साहित्य मण्डल का भावी भवन भी कभी तीर्थ का रूप धारण कर सकता है। आचार्य ब्रह्मचारी स्व० जीवनदत्तजी का 'नरवर संस्कृत महाविद्यालय' तो महान तीर्थ ही है। महाकवि शंकर का हरदुआगंज तीर्थ है। धांधूपुरा में सत्यनारायण कुटीर और जौंधरी में श्रीधर पाठक का स्मारक आज नहीं तो कल बन ही जावेगा।"

इनके अतिरिक्त गुरुकुल सिरसागंज, नागरी प्रचारिणी सभा आगरा, भारतीभवन फीरोजाबाद, माथुर चतुर्वेद पुस्तकालय मैनपुरी, हिंदी साहित्य समिति भरतपुर आदि साहित्यिक संस्थाओं को चतुर्वेदीजी सदैव स्नेहमयी दृष्टि से देखते हैं और इनके लिए उनके पास सदैव प्रशंसा के चार शब्द रहते हैं। संत प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का कृषि फार्म, श्रीराम शर्मा का नवजीवन फार्म, छलेसर का बबूलवन, बा० प्रतापनारायण अग्रवाल (राजाबाबू) का इटौरा वाला बाग तथा श्री बालकृष्ण गुप्त का कोटले का उपवन––को तो चतुर्वेदीजी ब्रजभूमि के तीर्थस्थान मानते हैं।

इन तीर्थों की झलक दिखाते हुए वह लिखते हैं, "हमने इन तीर्थों की एक अधूरी झलक ही यहां दिखलाई है—अधूरी इसलिए कि उसमें न तो नदी माताओं का उल्लेख हुआ है, न, सरोवरों का और न पहाड़ियों का। आशा है कि दूसरे ब्रजवासी भी अपने-अपने प्रिय स्थानों पर लिखेंगे।

इस जनपद में स्वस्थान-प्रेम को विकसित करने की आवश्यकता है। यदि हम अपने-अपने स्थान को सुन्दर बना सकें तो हमारा जनपद अत्यन्त रमणीक बन सकता है। देश का भविष्य जनपदों के सर्वांगीण दृष्टि से रचनात्मक पुर्ननिर्माण पर निर्भर है। ब्रजभूमि का पुर्ननिर्माण ही हमारा मुख्य उद्देश्य है।"

चतुर्वेदीजी जनपदीय आन्दोलन के नेता रहे हैं। उनका विश्वास है कि जनपदीय बोलियां अमरवाणियाँ हैं, उनके आश्रय से हम अपना निरुक्त समृद्ध बना सकते हैं। वह स्वर्गीय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को इस आन्दोलन का प्रवर्तक मानते हैं तथा उनकी पुस्तक 'पृथिवी-पुत्र' को जनपदीय आन्दोलन की बाइबिल। उन्होंने लिखा, "आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल की पुस्तक 'पृथिवी पुत्र' हमारी बाइबिल है और उसे साथ लेकर और उसके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करते हुए हमें अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना है।"

रक्तहीनता के कारण पैरों में सूजन आगई थी इसलिए कुछ दिनों के लिए टहलना बन्द हो गया था। परन्तु चतुर्वेदीजी पड़े-पड़े ब्रजभूमि का ही चिन्तन करते रहे। उन्होंने हमें लिखा, "इस बीच में आप लोगों का चिन्तन करता रहा। इस बसंत ऋतु को ब्रजमण्डल के लिए चिरस्मरणीय बनाना है। बसंतपंचमी से रामनवमी तक का एक साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम बना लेना चाहिए। केवल मथुरा में ही नहीं; फीरोजाबाद, एटा, मैनपुरी, इटावा, अलीगढ़ इत्यादि में साहित्यिक उत्सव होने चाहिए। ये उत्सव कम-से-कम खर्च में हों। ज्यादा खर्च हम ब्रजवासी कर ही नहीं सकते :

१. बसन्त व्याख्यानमाला
२. आसपास के सुन्दर स्थानों में गोष्ठियां
३. छोटे-छोटे ट्रैक्टों का प्रकाशन
४. हस्तलिखित अभिनन्दन-ग्रन्थों तथा स्मृति-ग्रन्थों की तैयारी
५. खयालगो लोगों का संगठन

इत्यादि विषयों पर विचार कीजिये। सबसे ज़रूरी चीज लोकसंग्रह है। अच्छे कार्यकर्ताओं को जुटाना है। यजमानों का भी संग्रह करना है।" (ता० १७-१-६९ का पत्र)

पौरुष ग्रंथि के लिए शल्यक्रिया कराने के पूर्व चतुर्वेदीजी ऑपरेशन की सफलता के प्रति आश्वस्त थे। यह उनकी दृढ़ इच्छा-शक्ति का ही एक उदाहरण है। परन्तु ब्रजभूमि के लिए मार्मिक भावों का उद्घाटन करते हुए उन्होंने लिखा था, "ब्रजभूमि के लिए आप लोग प्रयत्नशील हैं, इस आशाप्रद भावना के साथ ही मैं परलोक-यात्रा करना चाहता हूं। यदि कुछ समय और भी मिल जाय तो ब्रजभूमि की सेवा में ही उसे बिताऊंगा।" (ता० ४-७-६९ का पत्र)

चतुर्वेदीजी का ऑपरेशन पूर्णरूप से सफल हो गया। उनके भावी कार्यक्रम में निस्संदेह ब्रजभूमि के पुर्ननिर्माण को ही प्राथमिकता प्राप्त है। सर्वशक्तिमान से यही प्रार्थना है कि चतुर्वेदीजी चिरायु हों और इसी प्रकार ब्रजभूमि के सर्वांगीण विकास के प्रति मार्गदर्शन करते रहें। ●

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

ब्रज के वाहन

गावो वृषा वत्सरा हरिद्रातैलरूषिताः।
विचित्रधातुबर्हस्रग् वस्त्र कांचन मालिनः।।[1] (श्रीभाग०, १० स्कं०, ५ अ० ७२ श्लो०)

छप्पय

गैयां सब बगदाइ खिरकमहं फिरितैं लाईं ।
तेल फुलेल लगाइ न्हवाईं फेरि सजाईं ।।
मोरपंख के मुकुट लसैं घुंघुरू पग जिनिके ।
गेरू तेल मिलाइ रंगे तन सींग सबनि के ।।
गंडा गर में चमकनों, कनक हार पहिराइ कें ।
हरषित ह्वै पूजन करें, शाल दुसाल उढ़ाइ कें ।। (भागवत चरित)

जैसे ब्रज की भाषा अत्यंत मधुर है, वैसे ही ब्रजवासियों के त्यौहार-बार तथा रीति-रिवाज भी बड़े सरस हैं। पहले ब्रज का नाम ब्रह्मर्षि देश था । सौभरि आदि ब्रह्मर्षि वृंदावन के समीप सुनरख में रहते थे। यह देश अत्यंत ही पावन माना जाता था । धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जब श्रीकृष्णचन्द्रजी का सर्वप्रथम पूजन होने लगा, तो इसे शिशुपाल सहन नहीं कर सका । वह श्रीकृष्ण को पूजा के अयोग्य बताकर उनकी बुराई करने लगा । बुराई करते-करते उसने कहा--"ये श्रीकृष्णादि यादव इतने नीच हैं कि इन्होंने ब्रह्मर्षियों द्वारा सेवित ब्रजमंडल ऐसे परमपावन देशों को छोड़कर अब्रह्मवर्चस (अर्थात् वेदों की चर्चा से रहित) समुद्र में आकर बस गये ।" इसीसे पता चलता है कि सर्वसाधारण लोगों में ब्रजमंडल का कितना गौरव था । मनु आदि महर्षियों ने कुरुक्षेत्र से लेकर प्रयाग तक के इन देशों के सम्बन्ध में लिखा है कि यहां का सदाचार ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था । पृथिवी के सभी मनुष्य यहीं के सदाचार को प्रमाण मानते थे ।

ब्रज के उत्सवों में बड़ी सरसता है, समय के प्रभाव से वह सरसता अब समाप्त-सी हो गयी है। अपने बाल्य-काल में ही ब्रज की जो झांकी मैंने की है, वह अब देखने को भी कहीं नहीं मिलती। ब्रज की प्रत्येक बात पर विशदविवेचन किया जाय, तो कितनी ही सुंदर बातें सम्मुख आवेंगी। ब्रजभाषा के शब्दों का ही संग्रह किया जाय, तो संसार की सभी भाषाओं से अधिक शब्द इसमें मिलेंगे। ठेठ ब्रजभाषा के हजारों शब्द अब लुप्तप्राय हो रहे हैं। पुराने लोगों को छोड़कर अब कोई उनका अर्थ भी नहीं जानता। शीघ्र ही इनका संग्रह न किया गया, तो ये शब्द लुप्त हो जायंगे। यहां हम ब्रजभाषा के शब्द-कोष की आवश्यकता न बताकर आज इसी के सम्बन्ध में बतावेंगे, कि ब्रज में अधिकतर किन वाहनों का उपयोग किया जाता था।

प्राचीन काल में पांच प्रकार के वाहन होते थे--१. नरवाहन, २. हाथी, ३. ऊंट ४. घोड़ा, और

१—श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के समय समस्त ब्रजवासियों ने अपने-अपने गाय, बैल और बछड़ों को सजाया। उनके अंगों में हल्दी-तैल का लेप कर दिया गया और उन्हें गेरू आदि रंगीन धातुओं से रंगकर, मोरपंख के गंडा, फूलों के हार, तरह-तरह के सुंदर वस्त्र पहिनाये और उन्हें सोने की जंजीरों से बांध दिया।

५. रथ। प्रायः देशभर में इन्हीं वाहनों का उपयोग होता था। फिर भी कुछ देश के विशेष वाहन होते थे। ब्रज के विशेष वाहन कौन-कौन थे, आज इसी बात पर विचार करेंगे।

१. **नरवाहन**--नरवाहन उन वाहनों को कहते हैं, जिन्हें मनुष्य ही ढोते हैं; जैसे पालकी, पीनस, सुखासनी आदि। इनमें कहार लगते हैं। गलीचा-गद्दा बिछाकर तोसक-तकिया लगाकर सवारी करने वाला इनमें बैठता है। वह चाहे तो लेट भी सकता है, सो भी सकता है। इसे ढोने वाले पैर मिलाकर इस क्रम से चलते हैं, कि सवार को हाल न लगे, कोई कष्ट न हो। यह बड़े लोगों की सवारी मानी जाती थी या बहुत रोगी जो चलने-फिरने में असमर्थ हैं, वे इनमें ले जाये जाते थे। विवाह में दूल्हा भी इसी में जाता है। स्त्रियों की प्रायः यह सवारी थी। डोलाओं में स्त्रियां चलती थीं। उनके आसपास अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सैनिक चला करते थे। यद्यपि ब्रज में भी विवाह-शादियों में वर के लिए तथा बड़े लोग अपनी परदेवाली स्त्रियों के लिए इसका उपयोग करते थे, किन्तु यह ब्रज की मुख्य सवारी नहीं थी। यह पहाड़ों की मुख्य सवारी थी जहां हाथी, ऊंट, रथ नहीं चल सकते थे। सभी बड़े-बड़े पहाड़ी लोग पालकी-डोला में ही आते-जाते थे।

२. **हाथी**--यह बड़े लोगों की प्रतिष्ठा की सवारी मानी जाती थी। यद्यपि हाथी की सवारी बहुत सुखकर नहीं थी, फिर भी सबसे अधिक प्रतिष्ठा की सवारी यही मानी जाती थी। जिसके घर पर हाथी बंधा है, वह बड़ा ही आदमी होगा। "अजी उनका क्या कहना वे तो हाथीनशीन हैं।" जिनके यहां जितने ही अधिक हाथी होते थे, वह उतने ही बड़े राजे-महाराजे माने जाते थे। यद्यपि ब्रज में बड़े-बड़े लोग हाथी रखते थे, तथापि यह ब्रज की मुख्य सवारी नहीं है। हरिद्वार, ऋषिकेश, गंगा के इस पार और उस पार बिजनौर जिले के जंगल पहले कजरीवन के नाम से विख्यात थे। इस वन में हाथी-ही-हाथी रहते थे। अब तो दस-बीस जंगली हाथियों के झुंड ही हों नहीं तो हाथियों का वंश तो नष्टप्राय हो चला है। पहले आसाम के जंगलों में, मध्यप्रदेश के सरगुजा, जसपुर आदि के वनों में हजारों हाथी रहते थे। वहां के राजाओं के यहां हाथियों की बड़ी भारी सेना होती थी। अब तो हाथी कहीं-कहीं देखने को ही मिलते हैं। हाथियों की ऐसी ही उपेक्षा रही, तो इनकी जाति ही नष्ट हो जायगी।

३. **ऊंट**--यह भी एक विचित्र सवारी है, इस पर काठी कसकर दो आदमी बैठते हैं। ऊंट की उत्पत्ति की कहानी ऐसे हमने सुनी है कि जब घोड़े पर लोग चढ़ने लगे और उसे बहुत दौड़ाने लगे तब घोड़ा दुखी होकर ब्रह्माजी के पास गया और बोला--"महाराज! ये मनुष्य मेरी पीठ पर चढ़ते हैं, ऐसा उपाय कीजिये कि कोई मेरी पीठ पर चढ़े नहीं। "ब्रह्माजी ने कहा "तुम जो कहो सो मैं करूं।"

घोड़े ने कहा--"महाराज! मेरे पैरों को बहुत लंबा कर दीजिये, जिससे मनुष्य उछल कर मेरे ऊपर चढ़ न सके। मेरी गर्दन को इतनी लम्बी कर दीजिये, जिससे इसमें लगाम न लग सके। मेरी पीठ के बीचोबीच ऐसा कूबड़ दीजिये जिससे कोई मेरी पीठ पर चढ़ न सके। मेरे पैरों के खुरों को इतना चौड़ा और मुलायम कर दीजिये जिससे लोग उसमें लोहे की नाल गाड़कर दौड़ा न सकें। अब तक मेरा भोजन घास और चने का दाना है। इस कारण मुझे मनुष्यों के अधीन रहना पड़ता है। अब मेरा नीम, बबूर, जबासा, बैरिया, कांटेंदार वृक्ष ऐसा भोजन बना दीजिये जो स्वेच्छा से जंगलों में मिल सके, जिससे मुझे मनुष्यों का मुख न ताकना पड़े।"

ब्रह्माजी ने कहा--"अच्छी बात है, अभी सब घोड़ों को तो ऐसा नहीं करते। परीक्षा के तौर पर कुछ को बनाये देते हैं। फिर जैसा हो आकर मुझसे कहना।" यह करके ब्रह्माजी ने घोड़ों की सब-की-सब

मांगें स्वीकार करलीं। घोड़ों से पृथक एक जंगली जाति बन गई । मनुष्य भी कुछ कम कांइयां नहीं है। उसने जब देखा लंबी गरदन होने से इसके मुख में लगाम नहीं लग सकती, तो उसने इसकी नाक में नकेल डालकर नचाना शुरू कर दिया । लंबे पैरों के कारण उछलकर नहीं चढ़ सकते, तो उसने नकेल के सहारे उसे बैठाना आरंभ कर दिया । पीठ में कुब्बड़ होने से जीन नहीं कसी जा सकती तो उसने ऐसी काठी बनाली जिसमें कूबड़ बीच में आ जाय और एक के स्थान में दो-दो सवारी बैठ जायं। जब दुहरी सवारी बैठने लगी तो उसने जाकर ब्रह्माजी से कहा--"महाराज ! यह तो और भी आफत हुई, मनुष्य बड़ा कांइयां है, उसने मेरी समस्त योजनाओं पर पानी फेर दिया, अब मुझे फिर घोड़ा ही बना दो।"

हँसकर ब्रह्माजी ने कहा--"अब बन गया सो बन गया । बचे हुए घोड़े घोड़े ही रहेंगे। तुम्हारी जाति वाले ऊंट कहलायेंगे।" चौबेजी गये थे छब्बे बनने, रह गये दूब्बे। तभी से यह विचित्र आकृति वाला घोड़ा ऊंट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि ब्रज में ऊंटों का अधिक उपयोग किया जाता है, किन्तु ऊंट ब्रज की मुख्य सवारी नहीं है। मुख्य सवारी तो यह मारवाड़ की है। बालू के कारण जहां और कोई सवारी नहीं जा सकती वहां ऊंट सरलता से बालू में चला जाता है । उसके पैरों की गद्दी बालू के ही उपयुक्त है। मारवाड़ में ऊंटों की गाड़ियां भी होती हैं । उनमें दो-तीन आदमी बैठ सकते हैं।

हमारे बाल्यकाल में ऊंटों की बहुत-सी गाड़ियां होती थीं । सैकड़ों ऊंटगाड़ियां हमने साथ-साथ चलते देखी है। मेलों में हजारों ऊंटगाड़ियां यात्रियों को ढोती रहती थीं । गंगाजी का मेला, झूला और होली के ब्रज के मेलों में सैकड़ों ऊंटगाड़ियां खड़ी रहती थीं। कहना चाहिए गरीबों की यही मुख्य सवारी थी। किन्तु हमारे यहां की ऊंटगाड़ी और मारवाड़ की ऊंटगाड़ी में बहुत अंतर है। मारवाड़ की गाड़ियां तो छोटी लहड़ू की भांति एक मंजिल होती हैं, जिनमें दो-तीन से अधिक सवारी नहीं बैठ सकतीं। किंतु ब्रज की बैलगाड़ियों में तो तीस-चालीस आदमी बैठ सकते हैं। वे दो मंजिली होती हैं। सोलह आदमी नीचे की मंजिल में सोलह ऊपर की मंजिल में इस तरह बत्तीस तो बैठ ही सकते हैं। कोई-कोई चालीस-चालीस भर लेते हैं। इन्हें ऊंटगाड़ी या 'सिकरम' कहते थे। अपने बाल्यकाल में गंगाजी के मेले में जाने के लिए हम अलीगढ़ से अतरौली तक इन सिकरमों में बहुत बैठें हैं। किराया भी बहुत कम, एक अधेला मील से भी कम। अलीगढ़ से अतरौली स्यात तीस-बत्तीस मील होगी। सिकरम का भाड़ा उन दिनों ६ पैसा या दो आने होता था। ये ऊंटगाड़ियां रात्रि में खच्चर-खच्चर करती हुई चलती थीं। सौ-सौ, पच्चीस-पचास एक साथ चलती थीं। रात्रि के छः-सात बजे चलती थीं। प्रातः छः-सात बजे ये अतरौली पहुंचा देती थीं । वहां से सात कोस रामघाट तक पैदल जाना पड़ता था । इनमें एक ही दोष था, कि पक्की सड़क के अतिरिक्त कच्ची सड़क पर नहीं चल सकतीं। पूरी सड़क को घेर कर चलती हैं । इसीलिए प्रायः रात्रि में ही चलती थीं, गाड़ी को हांकने वाला 'गड़वारा-ऊंटबरिया' सो जाता था। ऊंट अपने-आप चलता रहता था। उन दिनों बस, ट्रक-ठेला आदि का आविष्कार ही नहीं हुआ था। मोटर किन्हीं बहुत बड़े आदमी पर, केवल जिले के कलेक्टर पर होती थी। इसलिए रात्रि भर सड़क खाली रहती थी। एक के पीछे दूसरा ऊंट चला जाता था। हांकनेवाले गहरी नींद में सोते रहते थे। दस-बीस मील चलकर कोई मजाक में आगे के ऊंट को पकड़कर उसका मुख पीछे विपरीत दिशा में कर देता था तो सभी ऊंटगाड़ियों के ऊंट उसी का अनुसरण करते और फिर लौट कर जिस अड्डे से चले थे सब गाड़ियां वहीं लौट आती थीं।

ऊंटगाड़ियों में प्रायः ऐसा नियम रहता था, कि ऊपर की मंजिल में तो स्त्रियां रहती थीं नीचे की में पुरुष। प्रायः सबके सब ऊंघते रहते थे। ऊपर से किसी बच्चे ने लघुशंका करदी, तो पुरुषों में

कोलाहल होने लगता था। मेले का कितना सरस वातावरण होता था। लोगों में कितनी श्रद्धा-भक्ति होती थी। जब वृंदावन जाता हूं, तो अब भी कभी-कभी सड़क पर चलती हुई एक-दो ऊंटगाड़ियां दिखाई दे जाती हैं, किन्तु पहले जसे सैकड़ों ऊंटगाड़ियों की रेंगती हुई पंक्तियां अब कहां ! अब तो उनकी कथामात्र शेष रह गई है।

४. घोड़ा––चौथी सवारी घोड़े की है। ब्रज में घोड़े भी होते हैं। जवान लोग उन पर चढ़कर अब भी दौड़ाते हैं। इक्का, तांगा, बग्गी, जोड़ी इनमें घोड़े जोते जाते हैं, किंतु घोड़ा भी ब्रज की मुख्य सवारी नहीं। यह तो सिन्ध, काबुल, पहाड़ी तथा अन्य राज्यों का मुख्य वाहन है। राजाओं के यहां सबसे अधिक घोड़े रहते थे। अब भी सैनिकों के काम में घोड़े आते हैं। किन्तु इन मोटर साइकिल, साइकिल, ट्रक, बस, ठेलों ने घोड़ों की प्रतिष्ठा धूल में मिला दी। कहां अयोध्या से कुन्दलपुर (विदर्भ बरार) में सौ योजन (आठ सौ मील) राजा नल अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के घोड़ों को एक दिन में ले गया था। वैसे शक्तिशाली दौड़ने वाले घोड़े अब कहां हैं ? वैसे इंजनों की शक्ति की नाप अब भी अश्व शक्ति (हार्स पावर) से ही की जाती है किन्तु अब हार्स पावर शक्ति का ही वाचक रह गया।

५. रथ––पांचवीं सवारी है रथ। प्राचीन पुस्तकों में रथों में सदा घोड़े ही जोते जाते थे। जहां भी रथों का वर्णन आया है, उनमें दो, चार, आठ और कहीं-कहीं तो सैकड़ों घोड़े वाले रथों का वर्णन आया है। आठ-आठ घोड़ों की बग्गियां तो हमने भी देखी हैं। चार घोड़ों की तो अभी तक चलती रहीं। दो घोड़ों की गाड़ियां बंबई, कलकत्ता में पहले चलती थीं, जिन्हें विक्टोरिया कहते थे। बंबई में तो अब भी कहीं-कहीं छुटपुट दिखाई देती हैं। किन्तु हमारे ब्रज में जो 'रथ' कहलाता है ऐसे रथ में घोड़े जुड़ते हुए हमने कभी नहीं देख। ब्रज में रथ में बैल जुड़ते हैं और ब्रज का यही मुख्य वाहन है। बैलों की गाड़ी ही ब्रज की अपनी विशिष्ट सवारी है। इन बैलों की गाड़ियों के कई भेद हैं। प्रस्तुत लेख का मुख्य उद्देश्य इन्हीं बैलगाड़ियों का वर्णन करना है। अतः इतनी भूमिका के अनन्तर प्रस्तुत विषय पर आजाइये। अब हम बतावेंगे कि ब्रज में बैलगाड़ियों के कितने भेद हैं।

१. दुबुर्जी रथ––ब्रज में रथ एक बहुत ही भव्य, बहुत शान की सवारी समझी जाती थी। विवाह-बरातों में लोग यही देखने आते थे, इस बरात में कितने रथ आये हैं। रथों को साधारण बैल नहीं खींच सकते। उनमें बढ़िया किस्म के नागौड़ा बैल जोड़े जाते थे, जो चलते नहीं थे, हवा में तैरते थे। ऐसे रथों में मैं बैठा हूं। रथ में हाल तो अवश्य लगती है, किन्तु वह अन्य सवारियों की अपेक्षा आरामदेह होता है। उसके दो भाग होते हैं। आगे के भाग को ठेल कहते हैं, पिछले को रथ। उसमें चार पहिये होते हैं, दो ठेल में, दो अद्धा में। खाट की भांति आसन होता है, वह निबाड़ या रसी से बुना रहता है, दोनों भाग चाम से मढ़े रहते हैं। छोटी-छोटी लकड़ियों से अत्यंत कारीगरी से दो बुर्ज उसमें बनाये जाते हैं, वह बहुमूल्य रेशमी कपड़ों से या ऊनी कपड़ों से मढ़ रहते हैं। उन पर बगुले की पंख के समान स्वच्छ कपड़ा मढ़ा रहता है। उसके ऊपर लाल रंग का मोटे कपड़े का परदा पड़ा रहता है। चारों ओर छोटी-छोटी सैकड़ों घंटियां बंधी रहती हैं, जूआ के नीचे एक बजनेवाली बड़ी टाल लटकी रहती है। जब रथ तेजी से चलता है, तो सैकड़ों घंटियों और टालों की झंकार से बहुत ही श्रुतमधुर शब्द निकलता है। बरातों में जब दस-बीस रथ एक साथ झनझन करते हुए जाते थे और गड़वाले अपने बैलों की कला दिखाते हुए जब परस्पर में होड़ लगाकर दौड़ते थे, उस समय समा बंध जाता था। विवाह-शादियों में बहुएं रथ में ही बिठाकर विदा की जाती थीं। स्त्रियों के बैठने पर सब परदे डाल दिये जाते थे। जब पुरुष बैठते थे, तो परदे ऊपर बांध

दिये जाते थे। जिस बरात में जितने ही अधिक रथ आते वह उतनी ही अधिक समृद्धिशाली बरात मानी जाती थी। बरातों में जो झगड़े होते थे, वे खाने-पीने और लेन-देन पर प्रायः नहीं होते थे। झगड़े गड़वाले ही करते थे, विशेषकर रथ वाले। मैं अपने बैलों को अढ़ाई सेर घी, आठ सेर रातब दाना लूंगा। उधर के कहते––"रथवालों को सवा-सवा सेर घी चार-चार सेर दाना मिलेगा।" रथवान कहते––आप अपने घी-रातब को रखे रहें। हमारे बैल चार सेर घी पीते हैं।" इतना कहकर रथ का गड़वाला नाराज होकर चला जाता। एक के जाने पर सब गड़वाले चले जाते। फिर बड़े-बूढ़े लोग बीच में पड़कर बीच-बचाव करते। इतना घी, इतना गुड़, इतना दाना रथ वालों को, इतना बहली वालों को, इतना गाड़ीवालों को तब कहीं जाकर वे भोजन करते। बैलों को लोग प्राणों से अधिक प्यार करते थे। जब तक घी-गुड़-दाने का निबटारा नहीं हो जाता कोई पांति में जाता नहीं था। दुबुरजे रथ बड़े-बड़े किसानों के होते थे। प्रायः रथ में चलने-वाले बैल खेती के काम में नहीं लाये जाते थे।

२. **इकबुरजा रथ**––यह दुबुरजे रथ से छोटा होता था। दो के साथ में मंदिर की भांति इसमें एक ही बुरजी रहती थी। और सभी बातें दुबुरजे रथ की भांति होती थीं। इसमें भी दो बैल जोते जाते थे।

३. **बहली**––यह रथ की बहन है। इसमें बुरज नहीं होते। गोल छाई रहती है। उसमें घंटियां, टाल बंधी रहती हैं। इसमें चार-पाँच आदमी बैठ सकते हैं। परदा इसमें भी रहता है।

४. **मंझौली**––बहली से कुछ छोटी होती है। इसमें भी घंटियां लगी रहती हैं, दौड़ने में यह बहुत तेज दौड़ती है, कारण कि हलकी होती है। झनझन करती हुई दौड़ती हुई मंझौली दर्शकों के मन को मोह लेती है।

५. **रब्बा**––यह बहली मंझौली की भांति न तो ऊपर से बुना रहता है, न गोल होता है। चौखूंटा होता है। परदा पड़ा रहता है। इसमें घंटी आदि नहीं होती। सादा होता है। बुलंदशहर, बदायूं की ओर इसका बहुत प्रचार था।

६. **फिरक**––छोटी गाड़ी का नाम है। यह खुली रहती है। इसमें छाया नहीं होती। एक ही आदमी इसमें बैठ सकता है। एक हांकने वाला भी बैठ जाय, नहीं तो बैठने वाला ही उसे स्वयं हांक भी लेता है।

७. **छकड़ा**––यह भी बिना छाया का खुला रहता है, इसमें चार-पांच आदमी बैठ सकते हैं। माल भी ढो सकते हैं।

८. **गाड़ी**––प्रायः अनाज, खाद तथा अन्यान्य सामान ढोने के काम में आती है। बिना छाया की लंबी होती है। बांस की खप्पचों से या रस्सियों से बनी रहती है। आदमी भी दरी बिछाकर बैठ सकते हैं। मेला-ठेला में दस-पाँच औरतें बैठ कर इनमें जाती हैं।

९. **गाढ़ा**––गाड़ी का सबसे बड़ा भाई होता है, बहुत लम्बा। इसमें पचास मन तक बोझा लाद सकते हैं। पूरे-के-पूरे परिवार का सामान इसमें भर दो। श्रीकृष्ण को यशोदा माता ने इसी गाढ़े के नीचे पलना में सुला दिया था, जिसे बालकृष्ण ने अपने पैर की ठोकर से गिरा दिया। इसको संस्कृत में शकट कहते हैं। सैकड़ों घी के कुप्पे, दूध-दही के भांड गिरकर चकना-चूर हो गये।

१०. **लढ़िया**––गाढ़ा से कुछ छोटी सामान ढोने की गाड़ी है। इसमें प्रायः भैंसा जुतते हैं। बैल भी जोते जाते हैं।

११. **लढ़ा**––लढ़ा गाढ़ा से भी बड़ा भारवाहक होता है। इसमें सबसे अधिक सामान आता है। वैसे गाड़ी, गाढ़ा, लढ़िया ये सब प्रायः एक ही भांति के हैं। छोटे-बड़े का भेद हैं।

१२. **चौपैया**--यह प्राचीन वाहन नहीं है। मेरा ख्याल है जब से पक्की सड़कें बनने लगी हैं तभी से बना है। इसमें चार पहिये होते हैं। दो बैल एक मेड़िया तीन इसे खींचते हैं। मालों से भरी बोरियों को यह ढोता है। खुला रहता है सब से अधिक भार ढोता है। हाथरस आदि में इसी के द्वारा माल ढोया जाता है।

ये सब ब्रज के बैलों के वाहन हैं। ब्रज के बैलों की बहुत-सी जातियां हैं। सबसे अच्छे बैल 'नागौड़िया' होते हैं। नागौड़ ब्रज से सटा हुआ जोधपुर राज्य में एक गांव है। वहां के बैल अत्यंत सुंदर और बलिष्ट बड़े कीमती होते हैं। मेरे बाल्यकाल में ढाई-तीन सौ की एक जोड़ी आती थी। उस समय के ढाई सौ आज के ढाई-तीन हजार के बराबर हैं। उस दिन हम मोटर से मथुरा जा रहे थे। एक नागौड़ी बैलों की सुंदर जोड़ी को देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। मोटर खड़ी करके रामराज पूछने गया। कितने की जोड़ी है? तो स्यात् उसने चार हजार की बताई। महाराजा जोधपुर वैष्णव हैं, नागौड़ में उनके मंदिर हैं। जोधपुर से नागौड़ स्यात पचास-साठ मील है, वे भगवान का दर्शन करने प्रातः जाते थे। दोपहर में वहां पूजा करते, विश्राम करते और शाम को जोधपुर आ जाते। दूसरे नंबर के हरियाणा के बैल हैं। हरियाणा ब्रज के ही अन्तर्गत है। वहां के सांड़-बैल बड़े बलवान और सुन्दर होते हैं। ब्रज में उनका ही उपयोग होता था। कोसी छातई के बैल भी मशहूर होते हैं। वे बहुत बड़े तो नहीं होते, किन्तु बोझा ढोने में बड़े मजबूत होते हैं। इटावा औरया जो बटेश्वर के पास ब्रज की सीमा में है, वहां के गाय-बैल भी नामी होते हैं। बटेश्वर का नाम शूरसेन देश है, मथुरा का नाम माथुर मंडल। माथुर और शूरसेन देश ये यादवों की दो राजधानियां थीं। अतः इटावे तक ब्रज ही माना जाता है। ब्रज के लोग बैलों को खूब खिलाते थे, खूब सजाते थे। गोधन ही उनका मुख्य धन था। गौ ही उनके जीवन की मुख्य रीढ़ थी। गौओं के रहने के घेरे का ही नाम संस्कृत में ब्रज है। ब्रज कहो, गोकुल कहो, गोशाला कहो, गौसदन कहो सब एक हैं। ब्रजवासियों का मुख्यवाहन बैलों की गाड़ी ही है। बैलों के गले में छोटी-छोटी घंटियों की चमड़े में जड़ी हुई मालाएं पहिनाई जाती हैं, जिन्हें स्यात जंगें कहते हैं। उनके सींगों में रंग-बिरंगी पगड़ी बांधी जाती है। उनके शरीर को मेंहदी आदि से रंगा जाता है। पगड़ी बांधे, रंग-बिरंगी झूल ओढ़े, गले में घंटी, गंडा बांधे बैल जब वाहनों में चलते थे, वह शोभा अवर्णनीय है। उसका अनुमान तो वही लगा सकता है, जिसने इस दृश्य को प्रत्यक्ष देखा है।

हमारे पं० बनारसीदासजी की अभिनंदन समिति के सम्मुख मैं एक प्रस्ताव रखता हूं। चतुर्वेदीजी असली निवासी मथुरा के हैं। वह माथुर चतुर्वेदी हैं, पंडा नहीं। उनके पूर्वज मथुरा में ही रहते थे। स्यात चौबेजी का जन्म भी मथुरा में ही हुआ है। वह स्वयं ही चूड़ी बनानेवाले नगर फीरोजाबाद में जा बसे हैं। ब्रज का मुख्य वाहन बैलगाड़ी ही है। अतः वह अठत्तर जितने भी वर्ष के हुए हों उतने बैलों की एक गाड़ी में उन्हें बिठाकर चूड़ियां पहिनाकर नहीं, उस गाड़ी को चूड़ियों से सजाकर उनकी जन्मतिथि के दिन फीरोजाबाद से मथुरा तक उनका जुलूस निकाला जाय। ऐसा संभव न हो तो कम-से-कम मथुरा में ही उनको अठत्तर बैलों के रथ में बिठाकर शोभायात्रा निकाली जाय। आशा है, इस स्तंभ के संपादक बाबू वृंदावनदासजी हमारे इस प्रस्ताव पर विचार करेंगे। अन्त में मैं ब्रज के प्रेमियों से यही प्रार्थना करना चाहता हूं, कि ब्रज की संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए सभी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए। अब वे बातें तो स्यात लौटकर नहीं आवेंगी। ब्रज की वह समृद्धि तो श्रीकृष्ण के ही साथ पुनः आवेगी, किन्तु कम-से-कम इतिहास में तो ये बातें सुरक्षित रखी ही जायं। ब्रज-विहारीनंदन के पादपद्मों में प्रार्थना है कि

वह अपने ब्रजमंडल पर अपनी कृपादृष्टि की वृष्टि करते ही रहें। वह अपने कृपा-कटाक्ष की कोर फिर से ब्रजभूमि की ओर डालें।

ब्रज में बैल प्रधान धान धन अन्न उगामें।
पैरि परोहटि करैं चलैं हर में हरषामें॥
जोतें बोमें दांइ चलावें नीर निकारें।
खाद अन्न बहु बोझ लादि इततैं उत डारें॥
रथबहली अरु मंझौली, गाढ़ी गाढ़ा फिरक बर।
रब्बा लढ़िया लढ़ा सब, बैलनि बाहन अति सुघर॥ ●

मीनारायण शर्मा 'नीरव'

ब्रज के स्थान-अभिधानों का ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक पक्ष

●

मानव का मोह संसार में सबसे अधिक 'स्व' के प्रति होता है। उसके 'स्व' से संबंधित उसका व्यक्ति-नाम तथा वास-स्थान भी उसके मोह के प्रधान अंग कहे जा सकते हैं। अपने निवास-स्थान से व्यक्ति अलक्षित शक्ति के प्रभाव से प्रभावित होकर प्रेम करता है। चाहे कभी-कभी उसे उस स्थान से कष्ट ही क्यों न मिले। जननी के साथ जन्मभूमि की महानता भी सदैव स्मरणीय है—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' जिस प्रकार हमें अपनी-अपनी जननी के प्रति, जननी के नाम के प्रति श्रद्धा होती है, उसी प्रकार अपनी जन्मभूमि के प्रति, जन्मभूमि के नाम के प्रति श्रद्धा होती है। साथ ही उसके प्रति स्नेह तथा ममता का होना भी स्वाभाविक है।

'ब्रज' शब्द वर्तमानकाल तक आते-आते विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक के साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर 'ब्रज' शब्द के अर्थ के मूल में एक निश्चित स्वरूप अवश्य प्राप्त होता है। ऋग्वेद का 'ब्रज' जिस प्रकार गाय आदि पशुओं से परिपूर्ण है, उसी प्रकार पुराण-साहित्य का 'ब्रज' भी गोप, गाय आदि से अलंकृत है, जिसमें भगवान श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था का परिजन-समुदाय भी सम्मिलित है। अतः गायों के कुल (समूह) से परिपूर्ण होने पर ही नन्द का निवास-स्थान (गोकुल, गोष्ठ, व्रज) 'ब्रज' संज्ञा का अधिकारी है। मध्यकालीन हिंदी-साहित्य में 'ब्रज' का विस्तार हुआ और उसने एक विस्तृत क्षेत्र का स्वरूप ग्रहण कर लिया। पुराणों में वर्णित श्रीकृष्ण के विभिन्न लीलास्थल इस क्षेत्र के अंतर्गत समाविष्ट हुए। इसी काल में ब्रज-यात्रा का भी सूत्रपात हुआ, जिससे ब्रजभूमि एक क्षेत्र विशेष ('ब्रज ८४ कोस') में निश्चित हुई। राजनैतिक दृष्टि से ब्रजप्रदेश शूरसेन जनपद, मथुरा राज्य, प्रदेश, जिला के रूप में जाना जाता रहा है तथा विभिन्न कालों में क्षेत्रफल की दृष्टि से यह

भूभाग घटता-बढ़ता भी रहा है। धार्मिक दृष्टि से यह भूभाग मथुरामंडल-व्रज-व्रजमंडल कहा जाता रहा है तथा विस्तार-परिमाण-आकार तथा सीमा की दृष्टि से इसका केवल एक निश्चित रूप स्थिर नहीं रह सका है। परस्पर-विरोधी पौराणिक विवरणों के आधार पर व्रज के संबंध में इतिहास, साहित्य या भाषा के विषय में कुछ भी लिखनेवाले विद्वानों ने व्रज के आकार, सीमा तथा विस्तार पर विचार व्यक्त करते समय अनुमान तथा कल्पना के सहारे विभिन्न निष्कर्ष निकाले हैं। ध्यान रहे, हमें 'व्रज ८४ कोस' में संख्या के प्रति बिल्कुल यथातथ्य भावना नहीं रखनी चाहिए। ८४ कोस की भावना केवल धर्म पर आधारित है, भौगोलिक सर्वेक्षण तथा गणित पर नहीं। यात्रा-वर्णनों से स्पष्ट है कि 'व्रज-व्रजमंडल-मथुरामंडल' का आकार, विस्तार-क्षेत्र समय-समय पर घटता-बढ़ता रहा है, परंतु धार्मिक भावना ८४ की संख्या में ही बंधी रही है और संभवतः बंधी भी रहेगी। धार्मिक दृष्टिकोण से 'व्रज' का प्रादेशिक स्वरूप जितना ही संकुचित है भाषा की दृष्टि से व्रज-क्षेत्र उतना ही विशाल है। धार्मिक दृष्टि से 'व्रज ८४ कोस' की भावनावाले छोटे-से प्रदेश के धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, लोकसाहित्य, संस्कृति ने व्रज-भाषी प्रदेश को ही नहीं, वरन परोक्ष रूप से संपूर्ण भारत को प्रभावित किया है। प्रस्तुत लेख का संबंध इसी धार्मिक भावना से बद्ध 'व्रज ८४ कोस' से है। इस क्षेत्र के अंतर्गत उत्तर में कोटवन, शेषशायी; ईशान में सुरीर; पूर्व में राया; अग्निकोण में बलदेव; दक्षिण में तारसी; नैॠत्य में पूछरी; पश्चिम में खोह, परमदरा; वायव्य में कामा है। इस प्रकार मथुरा जिले की चारों तहसीलों (छाता, मथुरा, माट, सादाबाद), भरतपुर जिले की कामा, डीग तहसीलों का अधिकांश इस क्षेत्र के अंतर्गत आ जाता है।

व्रज के स्थान-अभिधानों में प्रधानतः चार कोटियों के अभिधान सम्मिलित किये गए हैं--आवास, गिरि, वन, जलवर्गीय। व्रज के स्थान-अभिधानों के नामकरण के पीछे मानव-समाज की नाना प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं, यथा--धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि। व्रज के स्थान-अभिधानों में प्राप्त पूर्वांश प्रायः किसी व्यक्ति, वस्तु, जाति, ग्राम अथवा भाव का सूचक है तथा उत्तरांश प्रायः ग्राम, पर्वत, वन, कुंडवाची विभिन्न शब्दों में से किसी एक (कभी-कभी दो भी) का सूचक है। विभिन्न स्थान-अभिधानों में मुख्यांश तथा गौणांश के अग्रलिखित रूप प्राप्त होते हैं:

१. केवल मुख्यांश--'तोष'; 'रतनदास'।

२. केवल गौणांश--'गढ़ी'; 'नगरिया'।

३. मुख्यांश + गौणांश--क्रमशः पूर्वांश + उत्तरांश

(१) किशोरीरमण — (२) नगर — 'किशोरीरमरणनगर'

४. पूर्वांश + उत्तरांश क्रमशः गौणांश + मुख्यांश

(१) नगला — (२) महाराजसिंह — 'नगला महाराजसिंह'

५. मुख्यांश+गौणांश (योजक परसर्ग सहित)

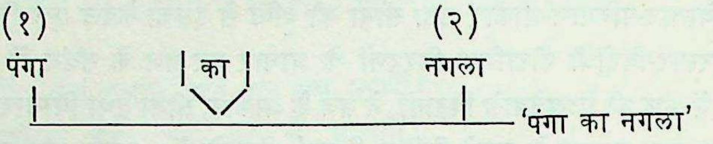

६. मुख्यांश+गौणांश (केवल योजक परसर्ग सहित)

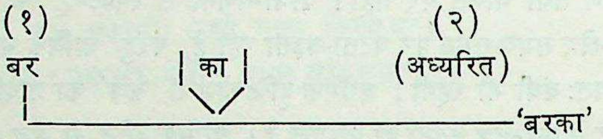

७. मुख्यांश+गौणांश (भेदक शब्द सहित)

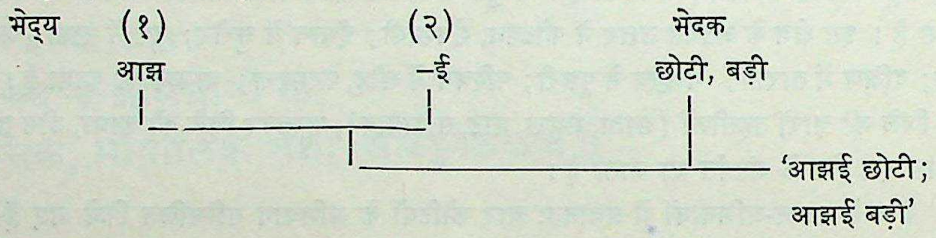

एक ही शब्द के अभिधान 'सरल'; एक से अधिक शब्दों (एक मुख्यांश+एक गौणांश) के अभिधान 'मिश्रित' तथा एक मुख्यांश या एक गौणांश से अधिक मुख्यांश या गौणांश अथवा योजक प्रत्यय या भेदक शब्दों वाले अभिधान 'संशिष्ट' कहे जा सकते हैं। यहां व्रज के स्थान-अभिधानों में प्राप्त केवल गौणांशों को ही सूचनार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है:

आवासवर्गीय : अड्डा, अवल, अवली; आ, आना, आबाद, आरी, आवता, आश्रम; इनी; ई; उली; ऊ, ऊटी; एरा; ऐन; ओं, ओ, ओई, ओक, ओट, ओठी, ओंती, ओंव, ओरा, ओली, ओहा; औंवा, औ, औट, औटा, औठी, औता, औनी, औरा, औरी, औल, औला, औली; का, की, कुटी, कूल, कोठी, कौ; ख, खेड़ा, खेरा; गंज, गढ़, गढ़ी, गाम, गांव; चावली; डेरा; थरा; नगर, नगरा, नगरिया, नगरी, नगला, ना; पुर, पुरा, पुरी; व, बसई, बाठी, बास; मई, महाल, मिलिक; या; र, रा; ल, ला, ली; वटी, वल, वा, वारा, वारी, वरौ; स, सराय, सेरस; हरा।

गिरिवर्गीय : अचल, अद्रि; कन्दरा, कुटी, कोट; खेरा; गढ़, गिरि, गुफा; घाटी; टीला; पर्वत, पहाड़ी; शिखर, शिला; सानु।

वनवर्गीय : अटवी, अरण्य; कदम्ब, कदम्बखंडी, कुंज, क्यार; खोर; गोचरभूमि; धनौ; ढाक; तमाल; निकुंज; पीपरी; बगीचा, बाग; रूंध; वट, वन, वाटिका, वृक्ष।

जलवर्गीय : ओखर; कुंड, कूंआ; खार; गंगा; घाट; जलघड़ा, जलविहार; झील; दह;
नंदा, नाला; पुलिन, पोखर, पोखरा; बावरी; रेती; सर; सरोवर, सागर; ह्लद।

किसी क्षेत्र के स्थान-अभिधान भी उस क्षेत्र-विशेष की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक स्थितियों पर प्रकाश डालते हैं। सांस्कृतिक विकास तथा परिवर्तन के साथ-साथ स्थान-अभिधानों में भी परिवर्तन होता रहता है। ब्रज के स्थान-अभिधानों में जब उत्तर वैदिक तथा प्राक्-बुद्धकाल के अभिधान ही अति अल्प संख्या में मिल पाते हैं तब द्रविड़कालीन अभिधानों के विषय में तो कहा ही क्या जा सकता है? यद्यपि पौराणिक ग्रंथों से ब्रज-भूक्षेत्र की सत्ययुगीन एक-दो घटनाओं (यथा—ध्रुव का मधुवन में तपस्या करना; शत्रुघ्न द्वारा लवणासुर का वध, मथुरा का पुर्ननिर्माण होना) की सूचना तो प्राप्त होती है, परन्तु तत्कालीन बोलचाल की संस्कृत जनभाषा में इस भू-क्षेत्र में बसे होने वाले ५०–१०० स्थानों के क्या नाम रहे होंगे, आज जान लेना कठिन है। प्राकृत तथा अपभ्रंश काल के अभिधानों में भी अन्तर करना कठिन है, क्योंकि दोनों में उच्चारण-परिवर्तन लगभग समान थे। अतः 'पुर' उर, ओर, और, ओल या औल में; ग्राम गाम, गाँव, आँव में; 'खेटक' खेड़ा, खेरा में समान रूप से ही परिवर्तित हुए। 'मधुपुरी' का महौली कब हुआ, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। जिन अभिधानों के साथ अरबी-फारसी का अंश नहीं है, वे प्राक्-मुस्लिम काल (प्राकृत तथा अपभ्रंश काल) के ही हो सकते हैं, किन्तु सभी ऐसे अभिधान उस काल के ही नहीं हैं, क्योंकि मुस्लिम-युग में भी अरबी-फारसी तत्वों से रहित अभिधान अवश्य ही रखे गए हैं। 'ब्रज' जैसे धार्मिक क्षेत्र में पवित्र माने जाने वाले अपने तीर्थ-स्थानों के अभिधानों को विदेशी भाषा (प्रमुखतः अंग्रेजी) के शब्दों से युक्त करना यहां की जनता ने अधर्म ही समझा। अतः जिन आवास-स्थानों; कुंडों-सरोवरों; शिलाओं-टीलों; वनों-उपवनों और कुंजों का धार्मिक महत्व माना जाता है, उनके अभिधानों में विदेशी भाषा के तत्व बिल्कुल भी नहीं हैं।

किसी क्षेत्र के स्थानों के काल का परिचय उस क्षेत्र के स्थान-अभिधानों, जनसंख्या तथा पुरातत्व-सामग्री से प्राप्त हो सकता है। जनसंख्या के आधार पर किसी गांव की आपेक्षिक प्राचीनता तभी निर्धारित की जा सकती है, जबकि उस गांव के निवासियों का कुछ इतिहास ज्ञात हो तथा वहां के निवासियों के स्थायित्व के विषय में भी जानकारी हो। उत्तर भारत में 'ब्रज' एक ऐसा क्षेत्र है, जिसपर विदेशियों की कुदृष्टि सबसे अधिक पड़ी है। अपने धर्म, ईमान को बचाने के लिए ग्रामवासियों को एक स्थान से दूसरे तथा दूसरे से तीसरे पर भागते रहना पड़ा। एक ओर तो जो गाँव कभी विस्तृत क्षेत्र में बसे हुए थे, मुसलमानों, अंग्रेजों के आतंक के परिणामस्वरूप बहुत ही सीमित क्षेत्रवाले रह गए, यथा—तरतोरा, बिजौली, दौताना, कोटा आदि; और दूसरी ओर मुसलमानी काल में बसे राधाकुंड, गोकुल, बलदेव, बरसाना जैसे गाँव आज काफी उन्नत हो गये हैं। अतः केवल जनसंख्या के आधार पर किसी स्थान की प्राचीनता का निर्णय नहीं किया जा सकता। पुरातत्व-सामग्री जिन स्थानों पर प्राप्त हुई हैं, वे स्थान तो प्राचीन कहे जा सकते हैं, परन्तु उन स्थानों के पास बसे हुए आवास-स्थान भी उतने ही प्राचीन हैं, कहना उचित नहीं, क्योंकि यह सम्भव है कि किसी अन्य गांव से आकर लोग वहां बस गए हों। अतः केवल पुरातत्व के आधार पर भी स्थान की प्राचीनता का कोई निश्चय नहीं हो सकता। केवल अभिधानों को ही इसके लिए आधार बनाना भी उचित नहीं है क्योंकि 'पुरी', 'अवलि' दोनों ही विकसित होकर 'औली'; 'पल्ली' विकसित हो 'पाली' तथा 'पाल' (एक राजवंश) + ई 'पाली' शब्द स्थान-अभिधानों में प्राप्त हैं। अतः स्थानों की प्राचीनता का निर्णय करने के लिए जन-संख्या, अभिधान तथा पुरातत्व तीनों को आधार बनाना आवश्यक है।

अंग्रेजों की सभ्यता का इतिहास तबसे आरंभ होता है जबकि भारत के इतिहास का उज्ज्वलतम युग समाप्त हो चुका था। विदेशियों ने तो अपने आक्रमणों में भारतीय पुरातत्व-सामग्री को नष्ट किया ही, भारतीयों ने भी अपने प्राचीन ग्रंथादि को विदेशियों के हाथों न पड़ने देने के लिए नष्ट करने में संकोच न किया। दीमकादि भी इस कार्य में पीछे न रहे। भारत में यदि कोई राज या प्रकृति-प्रकोप किसी नगर या ग्राम पर होता है और वहां के वासियों को पड़ोस में या कुछ दूरी पर वैसा ही रहने के लिए स्थान मिल जाता है, तो प्रायः नगर या ग्रामवासियों को अपना प्राचीन घर छोड़कर भाग जाने में हिचक नहीं होती। उस ग्राम या नगर के प्राचीन पुरातत्वावशेष के स्थान पर वे भौंड़ा-सा केवल एक पत्थर खड़ा करके ही संतोष-लाभ कर लेते हैं। ब्रज में एक विशेष परंपरा यह भी है कि यहां के अधिकांश निवासी इतिहास, समय-परिवर्तनादि का बिना ध्यान किये ही अपने पूर्वजों के कार्यों का उल्लेख करते हैं तथा कहते हैं कि जैसे वे अब अपने पिता-दादा के यश-कार्यों का अनुकरण कर रहे हैं, उसी प्रकार उनके दादा-परदादा तथा उनके पूर्वज भी करते आये हैं। सर्वेक्षण के समय लेखक को इस प्रकार के तथ्य देखने को मिले, यथा—वृन्दावन का पुराना 'गोविन्ददेव' मन्दिर जो अकबरकालीन है, देवताओं द्वारा एक रात्रि में निर्मित, अति सुदूरकालीन समझा जाता है; 'कोइला' गांव जो इसी नाम की झील के नाम पर बसा हुआ है, वसुदेव द्वारा श्रीकृष्ण को गोकुल ले जाते समय यमुना की लहरों से बचाने के लिए 'कोई-लो! 'अरे, कोई-लो!!' चिल्लाने से जोड़ा जाता है। लेखक ने जब ग्रामवासियों से कहा कि श्रीकृष्ण के युग में तो हिंदी का प्रचार भी नहीं था तब वे उनकी तथाकथित धार्मिक कथाओं (दन्तकथाओं) पर अविश्वास करने वाले को धर्म का मर्म न जानने वाला, नास्तिक कहने में भी नहीं चूकते। प्रायः सभी ब्रजवासियों को पक्का विश्वास है कि उन का गांव-विशेष, उसका नाम कृष्ण के युग से ही चला आ रहा है। ऐसी परिस्थितियों में ब्रज के स्थान-अभिधानों की प्राचीनता का पता लगाना अति दुष्कर ही है। जो स्थान आज से १५–२० वर्ष पूर्व भी बसे हैं, उनके संबंध में निश्चित वर्ष-संख्या देना धोखा देना ही होगा, क्योंकि उन ग्रामों के बसने के दिन आजकल के बड़े नगरों में होने वाले उद्घाटन-समारोह या शिलापट्ट लगाने की क्रियाएं सम्पन्न नहीं होती थीं। वर्तमान ब्रज के आवास-स्थानों, उनके अभिधानों की प्राचीनता प्रत्येक स्थिति में लगभग शब्द से युक्त करके ही द्योतित की जा सकती है।

किसी जाति की संस्कृति बहुत लम्बे काल से चले आ रहे पुरखों के जीवन-प्रवाह के संस्कार ही हैं। आज सभी भारतीयों की एक जाति तथा एक संस्कृति 'भारतीय संस्कृति' है। विदेशी रंग-ढंग में रंगे हुए व्यक्ति ही अपनी संस्कृति को अन्य समझते हैं। भारतीय संस्कृति के चार अध्याय स्पष्ट हैं; यथा—आर्य या वैदिक और द्रविड़ संस्कृति-मिलन; इस मिली हुई भारतीय संस्कृति में शक-हूणादि का मिलन; पुनः इस मिली-जुली भारतीय संस्कृति से अरबी-ईरानी-तुर्की संस्कृतियों का संघर्ष तथा परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होना तथा इसके पश्चात अंग्रेजियत या ईसाइयत का प्रचार-प्रसार। ब्रज के स्थान-अभिधानों में वैदिक, द्रविड़, शक-हूण संस्कृति को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता, क्योंकि ये जातियां बहुत घुल-मिल चुकी थीं। 'जखिनगांव'; 'तूमौरा'; 'सकना' ही यक्ष-यक्षिणी, एक प्राचीन अनार्य जाति 'तुम्बर' तथा शकों की ओर संकेत करते हैं, जिनका ब्रज में कभी अस्तित्व रहा होगा, यद्यपि सैकड़ों वर्षों से इन गांवों में कोई यक्ष-यक्षिणी, तुम्बर या शक नहीं हैं, पर ये अभिधान सहस्रों वर्षों से विकसित होते हुए चले आ रहे हैं, जैसा कि अब भी होता है। धार्मिक वृत्ति प्रधान होने से ब्रज के स्थान-अभिधानों में अंग्रेजी का कोई तत्व प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु आर्थिक, राजनैतिक या धार्मिक प्रभाव के कारण मुस्लिम संस्कृति से ब्रज के स्थान-अभिधान

प्रभावित हुए बिना न रह सके; यथा--अकबरपुर, अजीजपुर, आज़माबादसराय; आटस मियां आदि अभिधानों में अरबी-फारसी-तुर्की उपादान देखे जा सकते हैं।

ब्रज के लगभग डेढ़ सौ वनवर्गीय अभिधान यह सिद्ध करते हैं कि प्राचीन काल में ब्रजभूमि प्रमुख रूप से वनों से आच्छादित गोचर-भूमि ही थी। यद्यपि इन अभिधानों में से अधिकांश अभिधान ५००–५५० वर्ष से पूर्व के नहीं हैं, फिर भी इन अभिधानों के लिए थोड़े-बहुत वन-क्षेत्र का होना तो आवश्यक था ही, जो अपने नामकरण से पूर्व विशाल क्षेत्र में रहा होगा। भद्रवन; महावन; लोहवन; वृन्दावन जैसे आवास-वर्गीय अभिधानों का होना यह सूचित करता है कि इन बस्तियों के पास पूर्वकाल में अवश्य ही बड़े-बड़े वन रहे होंगे। इन वनों का पहले आर्थिक उपयोग रहा होगा। इसीलिए इन्हें धार्मिकता की दृष्टि से मान्यता मिली और ब्रज में 'वनयात्रा' की परम्परा प्रचलित हुई। गिरिवर्गीय अभिधान ब्रज की भौमिक अवस्था को बहुत-कुछ स्पष्ट करते हैं। जलवर्गीय लगभग पांच सौ अभिधान भी ब्रज की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। आर्थिक या सामाजिक दृष्टि से उपयोगी वस्तु को धार्मिक पक्ष दे देना भारतीयों का स्वभाव रहा है। अतः विभिन्न कुंड-सरोवरों को भी धार्मिक महत्व मिला। धार्मिक भावना से प्रेरित होकर ही गिरि-वन-जलवर्गीय अभिधानों में से अधिकांश का नामकरण हुआ है। इस नामकरण का मूलाधार 'ब्रज ८४' की ब्रजयात्राएँ (रामदल; बंगाली; पुष्टिमार्गी) रही हैं। जहां-जहां पुष्टिमार्गी 'बड़ी यात्रा' गई वहां-वहां के नष्ट-भ्रष्ट होने वाले कुंड, कूप, वन, मन्दिर, कदम्बखंडी आदि की स्मृति को बनाए रखने के लिए उन स्थानों के जीर्णोद्धार पर तन-मन-धन से ध्यान दिया गया। तब से अब तक यह कार्यक्रम बराबर चल रहा है। ये सभी यात्राएं 'ब्रज ८४' कोस की यात्रा के नाम से ही जानी जाती हैं चाहे यात्री ब्रज के सभी स्थानों पर जायं या न जायं।

लेखक ने 'ब्रज ८४' के यात्रा-मार्ग वाले स्वयं बनाये हुए मानचित्र में विभिन्न यात्रा-मार्गों को प्रदर्शित किया है। इनकी दूरियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, यथा--केवल बाहरी मार्ग की लंबाई लगभग २३२ मील है; डीग से सीधे कामा होकर तथा सुरीर, राया-कारब को छोड़कर यात्रा-मार्ग की लंबाई लगभग २०६ मील है; गिरिराज की परिक्रमा करते हुए धार्मिक महत्व के प्रत्येक स्थान पर होते हुए जाने वाले यात्रा-मार्ग की लंबाई लगभग २९६ मील है। जो यात्री पहाड़ियों, यमुना के खादर से बचकर यात्रा करना चाहते हैं उन्हें इससे कम ही चलना पड़ेगा तथा वह यात्रा-मार्ग लगभग १६० मील ही लंबा होगा। ●

नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी

ब्रज-क्षेत्र में यक्षोपासना

●

यक्षों की स्थिति साधारण मनुष्यों से ऊपर परंतु देवताओं से नीचे के स्तर की मानी गई है। 'यक्ष' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य से ही मिलने लगता है। इनकी उत्पत्ति की चर्चा करते हुए रामायण[1] हमें बतलाती है कि ब्रह्मा ने जल को उत्पन्न करके उसके संरक्षण के लिए कुछ सत्त्वों का निर्माण किया। इनमें जिन्होंने संरक्षण करने की बात कही वे राक्षस और जिन्होंने पूजन की बात कही वे 'यक्ष' कहलाने लगे। वस्तुतः यक्ष उस काल की लोकोपासना के प्रतीक हैं जिस समय वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन आदि ऊंची दार्शनिक भूमिका वाले धर्म या तो अस्तित्व में ही नहीं आये थे; अथवा उनका प्रचार कुछ उच्च वर्गीयों तक ही सीमित था। जनसाधारण को अपनी गोद में लेने के लिए उनके मान्य देवी-देवताओं को स्वीकार करना सभी धर्मों के लिए आवश्यक हो गया। फलतः ब्राह्मण, बौद्ध व जैन तीनों धर्मों ने यक्ष, नाग, पिशाच, किन्नर आदि लोकदेवताओं को अपने उपप्रधान देवता के रूप में अपना लिया। तीनों धर्मों के ग्रंथ यक्षों के उल्लेख से भरे पड़े हैं।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही यक्षों के दो रूप प्रचलित थे। उनका सर्वांग सुंदर रूप लोकमंगलकारी था तथा दूसरा बेडौल एवं तामसी रूप लोगों के लिए भयजनक और कष्टप्रद था। मूर्तिकला में हमें दोनों प्रकार की प्रतिमाएं मिलती हैं। वस्तुतः भारतीय मूर्तिकला का प्रारम्भिक इतिहास इन्हीं यक्ष-मूर्तियों ने गढ़ा है।

प्रथम प्रकार के यक्ष स्वरूप के लिए एक हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले विशाल, सुप्रसन्न एवं सब प्रकार से समृद्ध पुरुष की आकृति को मूल आधार माना गया। आज से लगभग दो हजार तीन सौ वर्ष पूर्व भारत के कई स्थानों पर इस प्रकार की विशाल यक्ष-प्रतिमाएं सुशोभित थीं। इनका नियमित रूप से पूजन किया जाता था तथा यक्षों के सम्मान में विविध प्रकार के उत्सव मनाये जाते थे। यक्षों के ये स्थान यक्षायतन, यक्षचैत्य, यक्षपुर आदि नामों से पुकारे जाते थे। बौद्ध ग्रंथ 'महामायूरी' से पता चलता है कि कई नगरों के अपने यक्ष थे।[२] मथुरा का यक्ष था 'गर्दभक' जिसके परिवार में पांच सौ यक्ष थे। इतने ही बड़े परिवार वाली बेंदा, मधा, आलिका आदि यक्षिणियां भी यहां रहती थीं। बुद्ध को नगरप्रवेश के अवसर पर एक यक्षिणी का सामना करना पड़ा था।[3] जैन ग्रंथ मथुरा के 'भाण्डीरवण' नामक यक्ष का उल्लेख करते हैं जिसके सम्मान में यहां मेला लगता था।[४] कृष्ण-भक्ति संप्रदाय में ब्रज के भाण्डीर वट का महत्वपूर्ण ढंग से उल्लेख है। यह भी विचारणीय है कि वट या बरगद के पेड़ का यक्षों से घनिष्ठ संबंध है। 'कथासरित्सागर' में मथुरा

---

१. वा० रामायण, उत्तरकाण्ड, iv. 9. 13

२. वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० 128

३. Gilgit Manuscripts, Vol. 3, Pt. 1, pp. 15-17

४. Dr. Motichandra, Some Aspects of Yaks a Cult, Bulletin of the Prince of Walse Museum, Bombay, 1952-53, no. 3, pp. 43-62; त्रिषष्ठी शलाका पुरुष चरित्र (महाबीर चरित), Vol. VI, Book. X, Oriental Institute Baroda, 1962, pp. 60-61

के अन्य यक्ष का उल्लेख है, जो नगर के बाहर गड़े खजाने की रखवाली करता था।[५] मथुरावासियों पर यक्ष-संप्रदाय का इतना जोर था कि 'हरिवंश' के अनुसार कंस की सभा में भाग लेने के लिए जब श्रीकृष्ण और बलराम प्रथम यहां आये, तो लोगों ने उन्हें यक्ष ही समझा था।[६]

मथुरा के यक्षों-संबंधी ये साहित्य के उल्लेख तब सजीव हो उठते हैं जब लोकभाषा एवं लोककला में हम उनके प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। 'जक्ख' 'जक्खैया' 'जक्ख की जात' 'जात ले जाना' आदि प्रयोग आज भी ब्रजभाषा के अंचल में छिपे पड़े हैं। अब तक हमें ब्रज के परिसर से विशालकाय सुन्दर यक्ष-यक्षिणियों की लगभग दस प्रतिमाएं मिल चुकी हैं। इनमें परखम, वरोद, नोह, पलवल आदि स्थानों से मिली हुई मूर्तियाँ विशेष महत्व की हैं।[७] परखम की मूर्ति पर जो लेख खुदा है उससे स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रतिमा मणिभद्र यक्ष की है। यक्षों के अधिपति तो कुबेर थे। पर उनसे नीचे का स्थान मणिभद्र का था। सफल व्यापार के संरक्षक मणिभद्र ही हैं। यह 'बड़ी माता' नामक रोग से भी बचाते हैं।[८] मणिभद्र की एक दूसरी विशाल प्रतिमा ग्वालियर से भी मिली है। यक्ष की एक दूसरी मूर्ति मथुरा जिले के बरोद नामक गांव में स्थापित थी जिसकी चरण चौकी और वक्ष-स्थल का भाग हमें मिल चुका है। यहीं के 'झींग का नगरा' नामक स्थान पर एक यक्षिणी की विशाल प्रतिमा है। इस पर का लेख हमें बतलाता है कि यह यक्षी 'लावाया' का विग्रह है। मथुरा के अन्य स्थान यथा मोरा, तुमोला, छाता आदि भी यक्ष-प्रतिमाओं से सुशोभित थे। इन मूर्तियों के खण्डित अंश स्थानीय संग्रहालय में विद्यमान हैं। भरतपुर का क्षेत्र ब्रज के अंचल में ही माना जाता है। यहां के 'नोह' नामक गांव में एक विशाल यक्ष-प्रतिमा है। एक और दूसरी वहीं की खुदाई से हाल ही में मिली है।[९] इसी सन्दर्भ में उत्तर प्रदेश की सीमा के बाहर वाले किन्तु मथुरा जिले के निकटवर्त्ती पलवल नामक स्थान का उल्लेख आवश्यक है जहां कभी एक विशाल यक्ष-मूर्ति थी। आज उसका ऊपरी भाग लखनऊ के राज्य संग्रहालय में देखा जा सकता है (लखनऊ संग्रहालय संख्या, ओ० १०७)।

अब तक जिन मूर्तियों की चर्चा की गई है उनमें से कोई भी सत्रह सौ वर्षों से कम पुरानी नहीं है। स्वतंत्र रूप से पूजित होने वाली इन बृहत्काय यक्ष-प्रतिमाओं के अतिरिक्त यक्षों की कुछ छोटी मूर्तियां भी मिली हैं जिनमें सुन्दर आभूषण पहने हुए यक्ष अंकित किये गए हैं।

जब नवीन उदित होने वाले आर्य धर्मों ने लोकदेवताओं को अपना लिया तब उनकी नवीन प्रकार की मूर्तियां भी बनने लगीं। ब्राह्मण धर्म ने यक्षराज कुबेर की प्रतिमाएं बनाईं तो बौद्धों ने वज्रपाणि, पांचिक यक्ष, चार महाराज आदि की मूर्तियां एवं जैनों ने तीर्थंकरों के शासन देवताओं के विग्रह बनाये। ये सभी

---

[५] कथासरित्सागर, लम्यक, XXXIV, 67-74, p. 59

[६] हरिवंश, विष्णुपर्व, 27. 23-24

[७] इनमें से अधिकतर यक्ष-प्रतिमाएं मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में हैं। नोह की प्रतिमा उसी स्थान पर पूजित है।

[८] Motichandra, पृष्ठ ९४ पर देखिये नं० 4, पृ० 62, लेखक ने जैनग्रंथ पिंड निर्युक्ति, 245 को उद्धृत किया है।

[९] Agrawala R.C. Yaksa Torso form Bharatpur Region, Journal of the Oriental Institute Vol. XVII, no. 1, September 1967, pp. 64-65.

यक्ष-प्रतिमाएँ थीं। इसी प्रकार यक्षिणियों में प्रथमा यक्षी, एकानंशा, लक्ष्मी, हारीति आदि की मूर्तियों का प्रचलन हुआ।

सुस्वरूप यक्षों की चर्चा करते समय मथुरा के उन कुषाण कालीन वेदिका स्तंभों को हम नहीं भूल सकते जिन पर अंकित यक्षिणियां भारतीय कला की एक अमूल्य निधि हैं। यक्षों को नरवाहन या मनुष्यों के ऊपर सवारी करने वाला माना गया है। वेदिका स्तम्भों पर की यक्षिणियां बहुधा एक तुन्दिल मानव के ऊपर चढ़ी हुई दिखलाई गई हैं। इसके सिवा इनका वर्णन कतिपय ग्रन्थों से मेल खाता है। उदाहरणार्थ 'मंजुश्री मूलकल्प'[१०] में कहा गया है कि नटा नाम की यक्षिणी सिद्ध होने पर साधक के सामने एक ऐसी सुन्दर स्त्री के रूप में प्रकट होती है जो एक वृक्ष के तने के सहारे खड़ी होकर एक हाथ से उसकी शाखा को झुका रही हो। नटा का यह रूप मथुरा की वृक्षिकाओं से पर्याप्त मिलता है।

प्रारम्भ में हम यक्षों के विकराल रूप की ओर संकेत कर चुके हैं। छोटे-छोटे हाथ-पैर, लटकता हुआ लंबा पेट, बड़ा-सा सिर, गोल-गोल आँखें, फैला हुआ विकराल मुख, टेढ़ी भौहें आदि इन यक्षों की विशेषताएं हैं। मथुरा संग्रहालय में इस वर्ग की कई मूर्तियाँ हैं जिनमें नुकीले कान वाले शंकु कर्ण यक्ष[११], कानों में घंटा पहने हुए घंटाकर्ण यक्ष[१२], अथवा नाचने वाले कई भयंकर यक्षों को देखा जा सकता है। कभी-कभी तो ये कुछ कथाओं के अंग बनकर भी सामने आते हैं, यथा 'बुद्ध चरित' एवं 'जातक कथाओं' के अंकन में इनके कई बार दर्शन होते हैं।

यक्षों की इन बेडौल आकृतियों का उपयोग कला के कुछ अलंकरणों एवं अभिप्रायों के लिए भी किया गया। फलतः कभी तो ये यक्ष अपने कंधों पर बड़ी-बड़ी मोटी मालाओं को ढोते हुए मिलते हैं[१३], कभी खड़े या उकड़ूं बैठे हुए यक्ष के मुंह से अंगूर की बेल दौड़ती हुई दिखलाई पड़ती है[१४] और कभी ऐसी ही द्राक्षालता उसकी नाभि से प्रस्फुटित होती हुई देखी जा सकती है। भारवाही यक्ष एक दूसरा अलंकरण है, जिसमें स्थूल काय यक्ष घुटने टेक कर अथवा खड़े-खड़े सिर एवं दोनों हाथों के सहारे से छत, छज्जा, विशाल पात्र या कोई अन्य प्रकार का भार ढोते हुए दिखलाए जाते हैं। यह वही वस्तु है जिसे विदेशी शब्दावलि में Atlantis Figures कहा जाता है। भारतीय कला में भारवाही यक्षों का यह अलंकरण शुंगकाल से राजपूत-मरहठों के काल तक बराबर मिलता है।

मथुरा की कुषाण कला काल्पनिक जीवों के अंकन के लिए भी प्रसिद्ध है। इस सृष्टि में यक्षों को भी नहीं छोड़ा गया। यहां ऐसी अनेक यक्ष-मूर्तियां मिलती हैं जिनका ऊपरी भाग तो मानव का है, गुप्तांगों को कुछ पत्तों से ढका गया है तथा कमर से नीचे के भाग में या तो दो सांप बने हैं[१५] अथवा पैरों को मछलियों की पूंछों का आकार दे दिया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि यक्ष-पूजा भारत के विभिन्न धर्मों में समाविष्ट हो गई तथापि

---

[१०] Motichandra, ऊपर देखिये नं० 4, पृ० 56.

[११] Joshi, N.P. Mathura Sculptures, p. 7

[१२] पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा, संख्या 15-590

[१३] Joshi, N.P. Mathura Sculptures, p. 25

[१४] पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा, संख्या 15-662

[१५] देखिये ऊपर संख्या 11

भाषा, कला और लोकाचार के माध्यम से वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थिर रखने में सफल हुई। ब्रज और उसके आसपास की जनपदीय कला में यक्षों के दर्शन तो होते ही हैं, पर साथ-ही-साथ अमरावती जैसे सुदूर दक्षिण के स्थान भी उसके चंगुल से बाहर नहीं हैं। ●

कृष्णदत्त बाजपेयी

कम्बोडिया के एक प्राचीन लेख में मथुरा का वर्णन

●

हिंदचीन क्षेत्र के अंतर्गत कम्बोडिया का प्राचीन नाम 'कम्बुज' था। यह नाम उन भारतीयों द्वारा दिया गया था, जिन्होंने लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व यहां अपनी बस्ती बसाई थी। अफगानिस्तान के उत्तर तथा प्राचीन गांधार राज्य के पश्चिम-उत्तर में काम्बोज नामक प्रसिद्ध जनपद था। यही नाम कालांतर में हिंद-चीन में उक्त क्षेत्र को दिया गया। आरंभिक वैदिक युग में मध्य-एशिया के पामीर (सुमेरु) क्षेत्र से देवों तथा असुरों का प्रसार वर्तमान अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिम भारत के अनेक भागों में हुआ था। इस भू-भाग के अनेक जनपदों, नगरों तथा नदियों के नाम वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में उपलब्ध हैं। उनमें से बहुसंख्यक नाम धीरे-धीरे आर्यावर्त में और फिर दक्षिणापथ में पहुंचे। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारत के अनेक भागों से लोग हिन्दचीन तथा हिन्देशिया के विभिन्न क्षेत्रों में जाकर बस गये। वहां उनके द्वारा भारतीय संस्कृति का व्यापक प्रसार हुआ। दक्षिण-पूर्व एशिया के विस्तृत क्षेत्र में अनेक भारतीय भौगोलिक नाम इस देश के उपनिवेशकों ने रखे। ये नाम बर्मा, श्रीलंका, हिन्द-चीन तथा हिन्देशिया के अनेक भागों में आज तक प्रचलित हैं।

भारत से बाहर उक्त देशों में बसनेवाले भारतीय लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों के थे। इन तीनों वर्णों के लोग विदेशों में भी शास्त्र-निर्धारित अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। ब्राह्मणों के द्वारा पठन-पाठन तथा वैदिक यज्ञ किये जाते थे। क्षत्रिय लोग शासन-विषयक विविध कार्य करते थे और वैश्य गण व्यवसाय तथा व्यापार की वृद्धि में योग देते थे।

कंबोडिया के एक शिला-लेख में मथुरा से प्राचीन कंबुज जानेवाले दिवाकर भट्ट नामक एक ब्राह्मण का वर्णन मिलता है। यह लेख संस्कृत भाषा में है तथा इसका समय ईसवी दसवीं शती का उत्तरार्ध है। (इंडियन कल्चर, जिल्द ४, पृ० १२६)। मूल लेख इस प्रकार है:

कालिन्दी यत्र रम्या ऋतुभ...रिज्यानै-र्द्विजेन्द्रैः,
षट् त्रिंशद्भिस्सहस्रैरनुसवनकृतै-र्ऋग्यजुस्सामशब्दैः।
कृष्णः कृष्णाहिमर्द्दी दितिजकुलहरः क्रीडितोयत्र बाल्ये,
तत्रैवाभूत्स देवो दिवसकर इतिख्यात भट्टस्सुकीर्तिः॥

इस लेख के अनुसार दिवसकर (दिवाकर) भट्ट नामक ब्राह्मण मथुरा का निवासी था। कालिन्दी (यमुना) नदी के तट पर बसे हुए उस मथुरा नगर में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के विधानानुसार छत्तीस

हजार श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा यज्ञों में वेद-पाठ होते थे। इसी मथुरा नगर में काले सर्प (कालिय नाग) का मर्दन करनेवाले तथा दैत्यकुल का नाश करनेवाले श्रीकृष्ण ने बाल-लीलाएं की थीं। दिवाकर भट्ट नामक ब्राह्मण उसी मथुरा का निवासी था, जिसने कंबुज पहुंचकर वहां वैदिक धर्म का प्रचार किया। इस लेख से ज्ञात होता है कि प्राचीन शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा से कई हजार मील की यात्रा करके दिवाकर भट्ट नामक ब्राह्मण कंबुज देश में पहुंचा था। मथुरा के अन्य विद्वान् भारत के बाहर धर्म तथा साहित्य के प्रचारार्थ विदेशों में जाया करते थे। ये लोग वैदिक धर्म, वैंष्णव, शैव तथा बौद्ध आगमों में निष्णात होते थे।

उक्त लेख से यह भी पता चलता है कि दसवीं शती तक विदेशों में मथुरा की प्रसिद्धि वैदिक धर्म के महान केंद्र के रूप में अक्षुण्ण बनी थी। प्राचीन मथुरा नगर तथा ब्रज-क्षेत्र का यह असाधारण गौरव था कि शताब्दियों तक वहां वैदिक धर्म तथा उसकी अनेक प्रमुख शाखाओं के साथ जैन और बौद्ध धर्म भी पुष्पित-फलित होते रहे। विभिन्न धर्मों के एक साथ प्रवर्धन का उपयुक्त वातावरण ब्रज-क्षेत्र में एक दीर्घ काल तक विद्यमान रहा।

मथुरा नगर और उसके आसपास से अनेक ऐसे कलावशेष उपलब्ध हुए हैं, जो इस बात के परिचायक हैं कि वहां वैदिक यज्ञों की परंपरा बनी रही। वर्तमान मथुरा नगर के दूसरी ओर यमुना-पार स्थित ईसापुर नामक गांव से दो विशाल यूप-स्तंभ प्राप्त हुए थे। उनमें से एक पर कुषाण-शासक वासिष्क के समय का ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। ईसवी दूसरी शती के इस लेख से ज्ञात होता है कि मथुरा के ब्राह्मणों द्वारा ''द्वादसरात्र'' नामक वैदिक यज्ञ निष्पन्न किया गया था। गुप्त शासन-काल में ब्रज में वैदिक धर्म तथा भागवत धर्म की विशेष उन्नति हुई। गुप्त-सम्राट समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्त ने प्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ किये।

कंबुज से प्राप्त अनेक प्राचीन शिलालेखों में वैदिक यज्ञों के किये जाने के उल्लेख मिलते हैं। इन यज्ञों को भारतीय वैदिक ग्रंथों के आधार पर ही किया जाता था। कंबुज के ये लेख ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत भाषा में लिखे हुए हैं। कंबुज में वैदिक मतावलंबी भववर्मा, विष्णुवर्मा, जयवर्मा आदि कई प्रतापी शासक हुए। उनके द्वारा विशाल हिन्दू-मंदिरों और बहुसंख्यक मूर्तियों का निर्माण कराया गया। भारतीय ढंग के अनेक आश्रम गुप्त-काल से लेकर ईसवी १३वीं शती तक कंबुज में विद्यमान थे। कंबुज के पूर्व-मध्य कालीन अनेक अभिलेखों में भारत के लिए ''आर्यदेश'' नाम प्रयुक्त हुआ है। ●

राजेंद्र रंजन

सखी री, ब्रज कौ बसिबौ नीकौ

●

भक्तों के लिए तो ब्रजभूमि स्वर्ग और वकुण्ठ की महिमामयी कल्पना तथा चतुर्धा मुक्ति से भी बढ़कर है, क्योंकि उनको तो ब्रज हरिमय है। ब्रज का कण-कण उनसे 'ब्रज तज अनंत न जाइहौं' कहता प्रतीत होता है, परंतु तनिक समीप से निरखें तो सभी ब्रज-जन-जीवन अद्भुत प्रतीत होगा। 'रसो वै सः' का उपनिषद्-उक्त सिद्धांत ब्रज-जीवन में

साहित्य, संगीत, कला, दर्शन, प्रेम, विनोद और भावुकता आदि शत-शत उदात्त भावों के साथ सदा-सर्वदा किलकता रहता है। प्रातःकाल से रात्रि-पर्यंत इन्हीं भावों के सागर में डूबता-तिरता ब्रज-जीवन नित-नित नूतन रूपों में सजता है। भोर की पहली किरण के साथ ही शुक-पिक-मयूरों के कल-कूजन के मध्य ब्रज की स्वर-सरिता इठलाने लगती है और बूढ़ी दादी का कण्ठ घर-आंगन में छनन-मनन नाचती बुहारी के साथ प्रभाती की धुन से मुखरित हो उठता है:

जागियै ब्रजराज कुंवर भोर भयौ अंगना, बाटके बटोही चले पंछी चले चुगना।

और सचमुच ब्रज की जीवन-धारा यमुना की बाट जागरित होने के साथ ही कोटि-कोटि कण्ठों में अपने आराध्य ब्रजराज को टेरने लगती है। "झोका है रह्यौ है" "दरसन मिलंगे कि नांहि" "तैयारी है" "आरती ह्वै रही है" की अनुगूंज के साथ उतावली से मंगला-दर्शन को बढ़ते-उठते उल्लसित चरण ब्रज की गलियों को सचमुच पावन बना देते हैं। एवम् :

छगन-मगन प्यारे लाल कीजियै कलेवा!
छींके पै दधि धरौ ऊखल चढ़ उतार लेउ, पैर लेउ झगली फेंट बांध लेउ मेबा॥

अथच :

एक बूंद चरनामृत लैकें कुटुम सहित बैकुण्ठ सिधाऊं

आदि 'ब्रजबानी' ही वेद की ऋचाएं ब्रज के भोर को धन्य बना देती हैं।

वास्तव में तो ब्रज गीतों का देश है, वह गीतों के साथ सोता है और गीतों के साथ जगता है, गीतों के साथ ही खेलता है और गीतों में ही बोलता है। गीतों में ही रूठने-मनने-हँसने · · · · · 'और रोने के लिए भी ब्रज-जीवन में भागवत के 'रुरुदुः सुस्वरा राजन्' का आदर्श है।

ब्रज-नारी तो गीतों की रानी है, एक पल भी उसे गीत के बिना नहीं सुहाता। वह तो हर दिन अपने गीतों की अलका में खोयी रहती है, फिर चाहे फागुन की धमार हों या श्रावण के रसिया और मल्हार, क्वार का 'लेउ री लेउ वाकौ पेट घड़ा सौ' हो या कार्त्तिक का 'तुरसा महारानी नमो नमो' अथवा 'राधा दामोदर बलि जैयै', उसकी गोदी में सदा ही गीत नटखट बालक की भांति मचलते रहते हैं। इतने पर भी गीतों का श्याम-रंग मन को छिन-छिन उजला बनाने के लिए आतुर रहता है। और इन्हीं [illegible] की भाव-भूली भीड़ में नृत्यों की थिरकन भी ब्रज-जीवन के आंगन में सिहरती रहती है। ढांड़ाढांड़ी, चरकला, लल-मनियां और होली आदि श्रृंगार-नृत्यों के साथ वीर लोक-नृत्यों की परंपरा ब्रज की अपनी विशेषता है। पखावज, मृदंग, झांझ और भर्रा पर "झैं पतंग झैं पतंग झिग झिग झिग झैं" की ताल के समानांतर उठते चरण और बढ़ती-बांह नृसिंह-नृत्य को आकर्षक बना देती है। "कंस मार मधुपुरी आए, कंसा के घर के घबराए" के घने स्वर के साथ राजसी-पोशाकों में दिपती रंग-बिरंगी, उछलती लाठियों की थिरकन के साथ 'कस-मेला' के दर्शकों का मन भी नाचने लगता है।

गीत-संगीत के साथ ही उल्लास-मय उत्सवों को भी ब्रजभूमि बड़ी प्रिय है। 'आठ बार नौ त्यौहार' कहावत ब्रज में अपनी बांकी अदा के साथ क्रियार्थ होती है। सदियों पुराने वे ही दोलोत्सव, फूलडोल, दुर्गार्चन, दुर्वासा, मधुवन, अक्षयनवमी, रथयात्रा और ब्रजयात्रा आदि के विविध-विध मेला ब्रज-जीवन से गले लग कर अपने को धन्य मानते हैं, फिर चाहे वे लोकपर्व और मनोरथ हों या सांप्रदायिक (आज के अर्थों में नहीं) या परंपरागत धार्मिक त्यौहार। विभिन्न संप्रदायों (वल्लभ, निंबार्क, रामानुज, हरिदासी, राधावल्लभी, गौड़ीय आदि) की अर्चा-पद्धति ने तो इन पर्वों को संख्यातीत ही बना दिया है। ब्रज के राजा दाऊदयाल,

राजाधिराज द्वारकाधीश, राजराजेश्वरी राधा और मां यमुना के दरबार में तो उत्सव नित्य-प्रति नृत्य करते ही रहते हैं और अपने आराध्य के पदपद्म-भ्रमर ब्रजबासी मधुकर की ही भांति रस-ग्रहण करते हैं। उत्सवों के स्वागत को प्रतिनिमिष उत्सुक ब्रज-जीवन के मादक-मधुवन को भौतिक-युग की विभीषिका आज भी झुलसा नहीं सकी, वहां तो आज भी वसंत का वह वैभव पुलक रहा है, जो नन्दन के हृदय में भी स्पृहा-भाव जगा देता है।

अनेक दर्शनों का जन्म-स्थान और भक्ति-आंदोलन के विविध मार्गों का प्रकाश-स्तंभ होने के कारण यह ब्रह्मर्षि-देश भारतीय परंपरा की समस्त चिंतन-धाराओं का 'प्रयाग' है, जो ब्रजबासियों के भव्य भाल पर दमकती विभिन्न मुद्राओं से सहज ही प्रकट हो जाता है। वल्लभीय, माध्व-गौड़ीय, निंबार्कीय, राधा-वल्लभीय, हरिदासी, रामानुजीय वैष्णवों, समयाचारतत्पर शाक्तों और शैवों की परंपरा का इतना सहज-सुलभ सम्मेलन अन्यत्र कहां ? तथापि इन सभी मतों के ऊपर ब्रज का अपना उपासना-भाव है, दास्य, दांपत्त्य, माधुर्य आदि विभिन्न भावों के बीच वात्सल्य और उससे भी अधिक सख्य-भाव ब्रजवासी को रुचिकर है। यही तो कारण है कि अपने आराध्य को खरी-खोटी सुनाने में वह हिचकता नहीं, "हरि ! तुम बेपैंदी के लोटा" या इससे भी आगे :

चोर है चपर है चलाक चाटुकार प्यारौ,
ठाकुर हमारौ कारौ टेढ़ौ टांग बारौ है।

और इससे भी आगे "चौर जार शिखामणि" कह कर संबोधन देने की सामर्थ्य ब्रजवासी को ही है।

भोग और राग ब्रजवासी की भाव-धारा के दो किनारे हैं, इसीलिए ब्रज के भोग, भोजन-बिजन, अपनी अनोखी अदा लिये हैं। भोजन का जो आदर्श ब्रज-जीवन में कृष्ण ने स्थापित किया **—रस्याः स्निग्धाः स्थिरा, हृद्या आहाराः सात्त्विक-प्रियाः —**वह ब्रज के भोजन-विधान में भली भांति समा चुका है और अपनी महामहिमा को छप्पन भोग, कुणवारा और अन्नकूट के मनोरथ-पर्वों पर साकार कर देता है—मठरी, बरफी, कलाकंद, पेड़ा, मोतीचूर-मुठिया बेसनी-मगद-खोआ और कंरसाई के लड्डू, रबड़ी, मलाई की पूड़ी महेरी, रसगुल्ले, छाना, अंदरसे, श्रीखण्ड, खुरचन, खासा-खरखरी लुचई और मैदा की पूड़ी, सुहार आदि विविध-विध पक्वान्न मिष्ठान्न और दूधघर की सामग्री तथा टेंटी, आम, आमरे, निसौड़े आदि के अचार अपने मधुर दर्शन से ही दरिद्राणां मनोरथों को भी तृप्ति कर देते हैं। ब्रजबासी स्वभाव से ही सात्त्विक-मधुर भोजन-प्रिय है। प्रातःकाल ही चाय के स्थान पर गांवों में माखन-मिश्री और शहरों में कचौड़ी-जलेबियों का कलेवा अपने संप्रदाय का विस्तार देख-देखकर पुलकित होता सहज ही नजर आ जाता है। दैनिक जीवन में दाल-चावल-कढ़ी ब्रज के प्रिय भोजन हैं। मूंग, भात, झोर (कढ़ी) के लिए तो यहां के चौबे विख्यात ही हैं :

भात खात न अघात मूँग लूट लूट खात,
घी ऐसें सोख जात जैसें बालू बीच पानी है।
पुरी पचधारी मिठयाई खात नाना भांति,
झोर के परसैयन ने हार हार मानी है।

विविध भोजन करने के लिए ही नहीं, उनके पाक में भी चौबे बड़े प्रबीण होते हैं। इनका आलू का झोर तो कुछ ऐसा है, जो खाता है वह अपने-इनके दोनों के भाग्यों को सराहता है। वन-भोजन ब्रज की पुरानी परंपरा है, 'दाल का बघार (छौंक) और चूरमा के लड्डू' की मधुर सुगंधि चाहे जब, चाहे जिस पल्लव-पुष्प-फलान्वित-उद्यान को सुरभित बनाने को उत्सुक रहती है।

ब्रज में कुछ सामग्री अवसर-विशेष की होती हैं, यथा : राधा अष्टमी पर वृंदावन के टट्टी संस्थान की घुइयां, नवरात्रियों पर शक्तिपीठों में बनने वाली कढ़ी, अन्नकूट पर द्वारकाधीश मंदिर में बनने वाली मठरी और बरफी अपनी उपमा की प्रतीक्षा करती रहती हैं। कुछ सामग्री स्थान-विशेष की होती हैं, यथा :

दाऊजी कौ माखन और मिसरी अनौंखी खीर गोकुल की लोटी सो सवाद बंदवाने की।
चंद्रमा की चंद्रकला चहूं ओर जाहिर है दही औ बतासे वृंदादेवी मनमाने की।
मथुरा के पेरा वर टेंटी ब्रजमंडल की गोवरधन अन्नकूट सोभा सरसाने की।
दूध औ महेरी हेरी प्यारे नंदगाम की ही अतिसै सुगंध नीकी बीरी बरसाने की।

इस प्रकार सर्वांग सुंदर ब्रज-जीवन को, ब्रज-जनों के विनोदी स्वभाव को और भी प्रखर बना देता है, जो हाजिरजवाबी से दूना दमककर अपना प्रकाश ब्रज की गली-गली में बिखेर देता है। दिल खोलकर हँसना और कोलाहल करना ब्रज-जीवन की प्रकृति है 'ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बांही' कहकर सूर ने भी इस ओर इंगित किया है। अपनी इस वृत्ति के ही कारण ब्रजवासी ऐसे अवसरों पर चूकता नहीं तथा धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान के साप्ताहिक हास्य-स्तंभों को वह दैनिक रूप से प्रकाशित करता ही रहता है, जिनका संकलन दूभर है, किंतु अब एक जीभ तक आ ही गया है तो सुन लीजिये : एक चौबेजी अपने बच्चों को बाजार घुमाने ले जा रहे थे। उनके यजमान ने टोका—चौबेजी, इन्हें कहां ले चले ? बोले—बेचने ! —'बच्चों को क्यों, बच्चों की मां को क्यों नहीं बेचते ?' इस पर बोले—अरे अजान, बाजारों में मील (कारखाने) से बनी सामग्री बेची जाती है, मील को भी कोई बेचता सुना है ? इस प्रकार के न जाने कितने विनोद गली-गली, द्वार-द्वार अठखेलियां करते-फिरते हैं। परन्तु विनोद की प्रखरता यत्र-तत्र गाली को भी अपनी सहचरी बना लेती है। वैसे तो ब्रज-जन की वाणी बड़ी मधुर और सरस है, पर है उसमें एक अल्हड़पन भी। औपचारिकता के प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही उसके पास नहीं हैं। जो कहना होता है, सहज ही भोले भावों में कह ही बैठता है और ऐसी स्थिति में रागों में विवादी स्वर की भांति गाली भी यदा-कदा आ जाती है, पर अन्यथाभावशून्य होने के कारण प्रायः बुरी लगती भी नहीं तथा बुरी लगने को कही भी नहीं जाती। पुल्लिग में दईमारे, बजमारे, ज्वानीपीटे, कनास, उजरे, निपुते, अडते, कढ़ी-खाये और स्त्रीलिंग में सौत और रंड़िया मुख से रपट ही पड़ती हैं, अब चाहे हम सभ्यता-उपासक इसे कितना ही निन्द्य क्यों न कहें, पर भावुक जन तो इसे सुनने में ही आनंद मानते हैं :

दास नागरि चहत नहिं सुख भुक्ति आदि अपार।
सुनौं ब्रज बस स्रवन में ब्रज बासियन कौ गार॥

एक कवि ने इसकी व्याज-निंदा करते हुए कहा है :

भली बनी मधुपुरी तुम्हारी।
हेलंत बोली बचनंत गारी,
करील वृक्ष कूपजल खारी॥

जहां तक विश्वासों का प्रश्न है, गीत-संगीत, दर्शन-भक्ति और विनोद तथा भोजन-बिजन का यह धनी (ब्रजवासी) आज के विज्ञान-युग में भी अपने कोमल-हृदय और लोकधर्मभीरु होने के कारण अपने दैनिक जीवन के विधि-निषेधों के जाल का अतिक्रमण नहीं कर पाया। संध्या समय यदि देहली पर बैठा होगा, तो शीघ्र ही निषेध करती हुई वाणी उसके कानों में गूंज जायगी 'कुबेरी बिरियाँ देहरी पै नांहि बैठें, दोष होऐ।' इसी प्रकार 'ऐंतवार को चना नांहि खाएं दरिद्री होऐ', 'परकम्मा भज कें नांहि करें अगले जनम

में घोड़ा होएं', 'ग्रहण में नांहि खायें भंगी है जाएं', 'रात के बखत 'बिलैया' नांहि कहैं चोर कौ सगुन है जाए' आदि। 'डुकरिया पुराण' की सूक्तियां घर में गूंजती ही रहती हैं। इसी प्रकार बृहस्पतिवार को बाल न बनवाना, खाने से पूर्व गो-ग्रास निकालना, इतवार को तुलसी न तोड़ना, दक्षिण में पैर करके न सोना ब्रज के मान्य विधि-निषेध हैं। कुछ विश्वास तो बड़े मजेदार हैं: 'फटकन मौऊँ मत बैठे नहीं तौ दायजौ कभ आबैगौ', 'ब्याउली छोरी काम करैगी तौ ब्याउ में मेहु बरसैगौ', 'ऐंतबार द्वादसी अमावस कों खीचरी खाय कें दरिद्रता आवै', 'शनिवार कों चना खाये तो दुसमन नष्ट ह्वै जायें' आदि-आदि। तथापि 'सरसिजमनविद्धं शैवलेनाऽपिरम्यं, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्य लक्ष्मीं तनोति' की भांति इन रूढ़ि आदि की धूलि से धूसरित होने पर भी अंतर में उमड़ते अल्हड़ प्रेम, आंखों में झूमते मस्त संसार, अपनी सरस संगीत गूंज में खोये प्रखर व्यक्तित्व, ओठों पर खेलती भोली मुसकान, मस्तक की सरल रेखाओं में सिहरते-सिमटते भक्ति-वैभव एवं वाणी में इठलाती हेलंत बोली के कारण ब्रजबासी वंदनीय है, और इनसे भी अधिक नमनीय हैं ब्रज-जीवन को स्वर देने वाली और परात्पर को छछिया भर छाछ पै नाच नचाने वाली वे प्रेमदिवानी ब्रज-ललनाएं, जिनकी चरण-रेणु बन जाने के लिए ज्ञानि-नामग्रगण्य उद्धव यही कहते हैं:

आसामहो चरणरेणु जुषामहंस्यां, वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा, भेजुर्मुकुंद पदवीं श्रुतिभिविमृग्याम्॥

और आज भी उन ब्रजनारियों की चदरिया पर चढ़ा कृष्णरंग धूमिल नहीं हुआ, तभी तो घर के कामकाज से भी पहले वे दर्शन-झांकी और यमुना-स्नान को महत्त्व देती हैं। घर के दरवाजे का ताला लगा देखकर एक भक्त महिला के पति की किंकर्त्तव्य-अवस्था को किसी लोक-कवि ने अपने सच्चे व्यंग में कितना सुंदर संजोया है:

भोरी भम्मा गई परकम्मा अभी नांहि आई रे।

और वास्तव में यही रहस्य है कि भक्त भावुक विधाता से बार-बार यही विनती करते हैं:

ए हो बिधिना तो पै अंचरा पसारि मांगों
जनम जनम दीजो याही ब्रज बसिबौ। ●

आनन्दस्वरूप पाठक

श्रीकृष्ण के शैशव का लीलास्थल : महावन

●

सुन्दरवन, विन्ध्याटवी, हिमाचल की उपत्यका और अधित्यका में स्थित वन, पम्पा सरोवर के निकट का वनखंड तथा ब्रज के वन अपने अंचल में अनेक पौराणिक आख्यान, ऐतिहासिक गाथाएं, सांस्कृतिक अनुश्रुतियां और धार्मिक उपाख्यान संजोये हुए हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाण, भट्ट सूर, तुलसी आदि भारती के अनेक वरद पुत्रों ने अपनी अमरवाणी में इनकी पुनीत गाथा को गाया है। भारत के किसी भी वन को ले लीजिए, उसका संबंध हमारे देश के

किसी-न-किसी अवतार, मुनि, ऋषि या इतिहास-प्रसिद्ध महामानव अथवा पुरन्ध्री से अवश्य होता है। इन वनों में अनेक ऐसे स्थल हैं, जिनके पुण्य दर्शन करके भारतीय जनता स्वयं को कृतकृत्य समझती है और उनके समक्ष श्रद्धाभाव से नतमस्तक होती है। सभ्यता तथा औद्योगिक विकास-जन्य भौतिकतावाद से वनसंपदा ह्रासोन्मुख अवश्य हो रही है, फिर भी सहस्राब्दियों के संस्कारों के कारण निश्शेष नहीं हो पाई है।

ब्रज के वन अनंत काल से भारतीयों का श्रद्धा-भाजन रहे हैं। ब्रज में बारह वन हैं, उनमें महावन पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व का वन रहा है। पुराणों और धर्म की दृष्टि से महावन अति महत्व का स्थल है। इसकी यशोगाथा का वर्णन प्रायः सभी मुख्य पुराणों में है। वाराह पुराण में उल्लेख मिलता है कि यह महावन भगवान वाराह को अतिप्रिय है। पद्मपुराण के पाताल खंड के ६९वें अध्याय में ब्रज के द्वादश वनों का महात्म्य वर्णन करते हुए अन्य वनों के साथ महावन के नाम का भी निर्देश इस प्रकार है:

भद्रं श्री लोह भांडीर महा ताल खदीरिका।
वकुलं कुमुदं काम्यं मधुं वृंदावनं तथा॥

पद्मपुराण ने महावन और गोकुल को एक ही माना है जैसा कि "महारण्यं गोकुलाख्यं मधुं वृन्दावन तथा" इस पंक्ति से व्यक्त है। महाराज परीक्षित ने श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ को ब्रज जाकर कृष्ण के लीलास्थलों को पुनः बसाने और लीलाओं के आधार पर उनका नामकरण करने का तथा ब्रज के प्रमुख छह स्थानों पर, जिनमें महावन की भी परिगणना की गई है, सैनिक आस्थान बनाने का उपदेश दिया था।

स्कंदपुराण की ये पक्तियां इसी भाव की परिचायक हैं:

कृष्णलीलानुसारिणः कृत्वा नामानि सर्वतः
त्वया वासयिता ग्रामान् संसेव्या भूरयं परा
गोवर्धने दीर्घपुरे मथुरायां महावने
नन्दिग्रामे बृहत्सानौ कार्या राज्यस्थिति त्वया।

जैनों के ग्रंथ 'मथुराकल्प' में, जिसकी रचना १४वीं शती में आचार्य जिनप्रभुसूरि ने की थी, ब्रज के द्वादश वनों के संदर्भ में महावन का उल्लेख किया गया है:

दुवालसवणाई। तं जहां– लोहजंघवणं, महुवणं, विल्लवणं, तालवणं, कुसमअवणं, विंदावणं, भांडीरवणं, खइरवणं, कामिअवणं, कोलवणं, बहुलावणं, महावणं।"

'मथुरामहात्म्य' के उत्तरखण्ड में महावन का उल्लेख कृष्ण के प्रिय वन के रूप में मिलता है:

महावणं चाष्टमं तु सदैव हरि बल्लभम्
तद्दृष्टवा मनुजो भक्त्या शक्रलोके महीयते।

'चैतन्य चरितामृत' में भी चैतन्य महाप्रभु के महावन-गमन का वर्णन है:

श्रीवन देखि पुनः गेला लोहवन, महावन गया जन्मस्थान दरशन

श्रीमद् भागवतपुराण में इसे वृहद्वन नाम से अभिहित किया गया है, जो महावन का ही पर्याय है। अन्यत्र इसका महारण्य नाम भी मिलता है। इस कांतार को अगम्य और सुरक्षित स्थान समझ कर ही श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव उन्हें अपने परमसुहृद नंद के पास छोड़ गये थे, जो इसी वृहद्वन में अपने सुंदर गोवंशों और गोकुलों के साथ रहते थे। श्रीकृष्ण के शैशव से संबंधित यमलार्जुन मोक्ष तक की सभी घटनाएं इसी वृहद्वन में घटित हुई हैं। असुरों के उत्पात से खिन्न होकर नन्दबाबा ने ब्रज के तत्कालीन

वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध गोप उपनन्द से महावन छोड़कर वृन्दावन जाने की मंत्रणा की थी। भागवतकार ने लिखा है :

गोपवृद्धा महोत्पाताननुभूय बृहद्वने
नन्दादयः समागम्य व्रज कार्यमन्त्रयन्
तत्रोपनन्द नामाऽह गोपोज्ञानवयोधिकः
देश कालार्थ तत्वज्ञः प्रियकृदरामकृष्णयोः
उत्थातव्यमितोअस्माभि गोकुलस्य हितैषिभिः
आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाश हेतवः।

जैनों के 'विविध तीर्थ कल्प' नामक ग्रंथ में भी महावन का उल्लेख मिलता है।

यमुना-तट पर स्थित आधुनिक महावन एक महान वन तो नहीं रहा है, वहां इस अभिधान का एक ग्राममात्र शेष है। इसके चारों ओर विरल वन अवश्य है, जो कृषि-क्षेत्र के विकास के साथ ह्रासगामी हो रहा है। यमुना तट पर स्थित वनस्थली के प्राचीन परिसर में कदम्ब, करील, बदरी, बबूल, सीसम, सेमल, पीलू, पीपल, फरास, बरगद, गूलर, गोंदी, छोंकर, नीम, इमली, खिरनी, जामुन, आंवला, ढाक आदि के वृक्ष हैं तथा आक, धतूरा, नागफनी, झाऊ कास, जवासा और कटीली झाड़ियों के पौधे हैं। श्री ग्राउज ने 'मथुरा ए डिस्ट्रिक्ट मैमोअर' में लिखा है कि इस वन में कुछ वृक्ष 'पारस पीपर' की जाति के हैं, जिनमें शीतऋतु में कपास की भांति फूल निकलते हैं। इस प्रकार के वृक्ष व्रज में और कहीं नहीं मिलते। यह वन-प्रांत मयूर, कोयल, कपोत, तीतर, बटेर, तोते, भरुही, हरिल, गारी, नीलकण्ठ, श्याम चिरैया, लालमुनैया, पिडकुलिया, खुटबढ़ई, खंजन आदि पक्षियों का सुखद आवास है, यत्र-तत्र कारण्डव और बगुले भी जलाशयों के निकट दिखलाई पड़ जाते हैं। काकों और कौशिकों की अनिवार्य बहुलता तो है ही। भेड़िये, गीदड़, लोमड़ी, सेह, नकुल, सर्प, बन्दर आदि की विद्यमानता विचरण के समय वन की सशंकता को बनाये रखती है।

महावन की परिसीमा में सांप्रतिक गोकुल, अनंदी, बंदी, कर्णावल आदि स्थान आते हैं। धार्मिक दृष्टि से महावन क्षेत्र आज भी अति पुनीत माना जाता है। ब्रह्मपुराण में महावन के इक्कीस पुण्य स्थलों का उल्लेख मिलता है:

एक विशंति तीर्थानां युक्तं भूरिगुणान्वितम्
यमलार्जुन पुण्यात्मानम, नन्दकूपं तथैव च
चिन्ताहरण ब्रह्माण्डं कुण्डं सारस्वतं तथा
सरस्वती शिला तत्र विष्णुकुण्ड समन्वितं
कर्णकूपं कृष्णकुंडं गोपकूपं तथैव च
रमणं रमणस्थान नारदस्थान एव च
पूतना पतन स्थानं तृणावर्ताख्य पातनम्
नंदहर्म्यं नन्दगेहं घाटं रमण संज्ञकम्।
मथुरानाथोद्भूवं क्षेत्रं पुण्यंपापप्रनाशनम्।
जन्मस्थान तु शेषस्य जन्मं योगमायया॥

श्यामललाजी का मंदिर और छटी पालना का मंदिर भक्तों के लिए आकर्षण का स्थान है छटी पालना मंदिर में चौरासी स्तम्भ हैं। यहां यशोदा के दधिमंथन करने का स्थान है। बालकृष्ण को झुलाने

का पालना है। निकट ही गोपों का खिड़क है। माखन चुराने और लुटाने के अपराध में यशोदा ने श्रीकृष्ण को उलूखल से बांधा था, उसी की स्मृति में यहां एक उलूखल भी है। पूतना, शकटासुर और तृणावर्त तीनों असुरों के मृत देह के गिरने के स्थान, पूतनाखार, शकटख.र और तृणावर्त खार के नाम से जाने जाते हैं। यहां एक नंदकूप है। जनश्रुति है कि नन्दबाबा इस कुएं पर दतौन किया करते थे। यह व्रज के प्रधान दस कूपों में से हैं। जगतनंद ने व्रजवस्तु-वर्णन में इसका उल्लेख किया है:

व्रज में लख दस कूप हैं, सप्तसमुद्रहि जान।
नंदकूप अरु इन्द्रकूप चन्द्रकूप करि मान॥

रमणरेती वह पुण्यस्थल है जिसकी मृदुल रज में श्रीकृष्ण-बलराम घुटनों के बल चले थे, खेले थे। सूरदास की **'घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित'** और रखसान की **'धूरि भरे अति सुन्दर श्याम जू'** वाली पंक्तियां इसी रज की गौरवगाथाएं हैं। अनेक वीतरागी सिद्ध महात्मा संसार के कोलाहल से दूर इस शांतस्थली में भगवत-भजन करते-करते अपनी इहलीला समाप्त करते हैं। इसके निकट का प्रांत 'खेलन वन' के नाम से विश्रुत है।

महावन का ब्रह्मांड घाट ज्ञान-क्षेत्र है। एक दिन बालकृष्ण ने विचार किया कि ब्रजरज में ऐसी कौन-सी विशेषता है कि देवता, ऋषि और मुनि सभी कहते हैं कि **'ब्रज रज दुर्लभ देवन कूं'**। इस रज का स्वाद लेने के लिए बालकृष्ण ने चोरी से मिट्टी खा ली। मां ने जब कृष्ण का मुंह खोलकर देखा तो उसमें भूगोल, खमंडल, ज्योतिश्चक्र, चौदह भुवन-समेत समस्त ब्रह्मांड दिखलाई दिया। मां के कोमल हृदय ने सोचा कि मेरे लाडले पर कोई आपत्ति है। शिव ने आकर उनको चिंतामुक्त किया। यहां से थोड़ी दूरी पर चिंता-हरण महादेव का मन्दिर भी है। महावन में नारद के तप करने का स्थान नारद टीला नाम से विश्रुत है। महावन के निकट ही कर्णावल है। इस स्थान पर गर्गाचार्यजी ने कृष्ण-बलराम का नामकरण किया था और यहीं उनका कर्णछेदन भी हुआ था। इसी स्थान पर व्रज का प्रसिद्ध कूप कर्णकूप भी है। गोकुल पुष्टि-सम्प्रदाय का धर्मपीठ है। यहां गोकुलनाथजी का मन्दिर, महाप्रभुजी की बैठक, ठकुरानी घाट और गौघाट प्रसिद्ध स्थान हैं। महावन के अंतर्गत ही अनंदी और बंदी नामक दो कुण्ड हैं। कहा जाता है कि इन नामों की दो बहनें यशोदा की गोबर थापने वाली परिचारिकाएं थीं।

कालांतर में इस महावन में एक सुंदर नगर बस गया जिसका प्राचीन इतिहासकारों ने वर्णन किया है। यूनानी लेखक मेगस्थनीज ने 'मेथोरा और क्लीसोबोरा' नामक दो नगरों का वर्णन करते हुए लिखा है कि उनके बीच में जेबोरस नदी बहती थी। दूसरे प्लिनी नामक यूनानी लेखक ने लिखा है कि "जैमोनस नदी मैथोरा और क्लीसोबोरा के बीच बहती है।" श्री एफ० एस० ग्राउज ने 'मथुरा मैमॉयर' में अपना मत व्यक्त किया है कि "यूनानियों का क्लीसोबोरा वर्तमान महावन है।" कल्पना की जाती है कि यह केशवपुरा का अपभ्रंश रूप है।

महमूद गजनवी के नवें हमले का वर्णन करते हुए अल-उत्बी ने अपनी किताब 'तारीखे यामिनी' में लिखा है:

"महावन में उस समय कूलचन्द नामक राजा का किला था। यह राजा बड़ा शक्तिशाली था। उससे कोई विजय प्राप्त नहीं कर सकता था। उसका राज्य बहुत बड़ा था। वह अपार धन और एक बड़ी सेना का स्वामी था और उसके सुदृढ़ किले को कोई दुश्मन जीत नहीं सकता था। जब उसने सुल्तान की चढ़ाई की बाबत जाना तो अपनी फौज लेकर तैयार हो गया, किंतु उसकी सेना शत्रु को हराने में असफल रही। सुल्तान को इस विजय से १८५ हाथी और अन्य माल हाथ लगा।"

महावन एक सुंदर नगर रहा होगा, इसका परिचय यहां के खंडहरों से लगता है। मथुरा-स्थित पुरातत्व विभाग के कर्जन संग्रहालय में शुक से क्रीड़ा करती हुई सुंदरी की एक मूर्ति अति सुंदर है, जिसका समय ईसा की दूसरी शती माना जाता है, वह इसी महावन से ही मिली है।

साहित्य की दृष्टि से भी महावन का बहुत महत्व रहा है। 'सारावली' में, जिसे सूरदास कृत माना जाता है, वृहद्वन का उल्लेख किया गया है।

यहि विधि क्रीडत गोकुल में हरि निज वृन्दावन धाम।
मधुवन और कुमुद सुन्दर बहुलावन अभिराम।
नन्दग्राम संकेत खिदरवन और कामवन धाम।
लोहवन माट बेलवन सुन्दर भद्र बृहद्वन गाम।

कृष्णदासजी ने भी नगर के सौन्दर्य का वर्णन 'गोकुल और महावन की छवि 'सारद लिखी न जाई' कह कर किया है।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में महावन का वर्णन तीर्थस्थल के रूप में किया गया है। लिखा है :

"एक समै गोबिन्ददास आंतरी गाम तें ब्रज कों आये और महावन में आइके रहे, काहे तें, जोया ब्रजधाम है। इहां भगवत चरणारविंद की प्राप्ति होयगी।"

रसखान कवि ने तो महावन में ही वास किया था। इस वन में रसखान कूप और रसखान की समाधि है। वह 'कालिन्दीकूल कदम्ब की डारिन' पर सब कुछ न्यौछावर कर चुके थे। महावन से वह इतने प्रभावित थे कि उन्होंने अपनी इच्छा को इस पंक्ति में कहा भी है :

रसखान कबौं इन आंखिन सों ब्रज के बन बाग तडाग निहारौं

वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रमुख कृष्णभक्त अलीखान पठान और उसकी पुत्री की समाधियां भी इसी क्षेत्र में हैं।

गह्वर वनों की विद्यमानता के कारण ही, यह ब्रज प्रदेश, सनातन धर्म ही नहीं अपितु जैन और बौद्ध धर्म के महात्माओं की तप-साधना की भूमि रहा है। वनरोपण का जहां धार्मिक महत्व है वहां भौतिक दृष्टि से भी उसका उपयोग अपेक्षाकृत अधिक ही है। ब्रज की शेष वन-सम्पदा को सजीव रखने के लिए रक्षोपाय बरते जाने चाहिए अन्यथा कदंब, सेमल, तमाल के वृक्ष और श्याम चिरैया, हारिल और लालमुनैया जैसे पक्षी दुर्लभ हो जायंगे। ●

अक्षयकुमार जैन

ब्रज की सीमा : बरहद

ब्रजभूमि सांस्कृतिक चेतना और ऐतिहासिकता के लिए तो प्रसिद्ध है ही, उसके अंतर्गत आने वाले गांव और नगर भी भारतीय जनता के लिए दर्शनीय रहे हैं। इसी श्रृंखला में आता है बरहद गांव जो जिला अलीगढ़ के ऐतिहासिक कस्बा विजयगढ़ से कोई तीन किलोमीटर दूरी पर है। बरहद का अर्थ ब्रज हद यानी ब्रज की सीमा तो है ही, किंतु इसके साथ योगिराज श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम से संबंधित एक घटना भी है, जिसके कारण इस छोटेसे गांव को ख्याति प्राप्त हुई और प्रतिवर्ष मेला लगने लगा। भाद्रपद में शुक्ल पक्ष लगते ही बरहद की चहल-पहल बढ़ने लगती है और छठ को, जिसे बलदाऊ छठ भी कहा जाता है, अपार जनसमूह यहां देखा जा सकता है।

बरहद में एक बारहमासी सरोवर है जिसमें लाल, पीले कमल अवर्णनीय छटा का आनंद देते हैं, निकट ही है एक छोटा-सा मंदिर, जिसमें बलदेवजी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। प्रतिमा सुंदर सलोनी है और दर्शकों को प्रभावित करती है। बलराम कृष्ण के बड़े भाई तो थे ही, साथ ही वे मल्लविद्या में निपुण भी थे। दुर्योधन और भीम दोनों को गदायुद्ध उन्होंने ही सिखाया था। वे कंधे पर हल धारण करते थे, इससे वे हलधर भी कहलाये।

हलधर और बरहद का संबंध किस प्रकार जुड़ा और यह स्थान उनके नाम से कैसे प्रसिद्ध हुआ, इस बारे में एक किंवदंती है। कहते हैं कि बलराम कंधे पर हल रखे कहीं जा रहे थे तो उन्होंने देखा कि कोई व्यक्ति व्यासगद्दी पर बैठा हुआ प्रवचन कर रहा है और बहुत से लोग नीचे बैठे हैं। पण्डितों और ब्राह्मणों में उनकी श्रद्धा तो थी ही, वे भी वहां पहुंच गये। किन्तु उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि व्यासगद्दी पर बैठा व्यक्ति तिलक-पुण्ड आदि नहीं लगाये है। लोगों से पूछा तो पता चला कि वह ब्राह्मण नहीं है, इसलिए तिलक आदि नहीं लगाया हुआ।

हलधर का क्रोध तो सर्वविदित है। उन्हें यह कदापि पसंद नहीं आया कि व्यासगद्दी पर बैठा व्यक्ति तिलक न लगाये। उन्होंने आव देखा न ताव, झट अपना हल उठा लिया और उस व्यक्ति को दे मारा, जिससे तत्काल ही उसकी मृत्यु हो गयी। तभी उन्होंने देखा कि उनकी हथेली पर एक बाल जम गया है। हथेली पर बाल का उगना जहां अनहोनी घटना थी वहां वह एक अपशगुन भी था। वे सोच में पड़ गये। घर आये और चिंता में डूब गये। श्रीकृष्ण को भी इस बात का पता चला। उन्हें भी दुःख हुआ कि आखिर कौन-सी घटना घटी, जिसके कारण यह सब हुआ।

श्रीकृष्ण मृत व्यक्ति के घर पहुंचे। आसपास के लोगों से उसके बारे में जानकारी प्राप्त की। लोगों ने उन्हें बताया कि इस क्षेत्र में कोई भी ब्राह्मण इस योग्य नहीं कि वह लोगों को धर्म-कर्म की बातें समझा सके और धर्माचरण के लिए प्रेरित कर सके, अतः अनेकानेक ब्राह्मणों के कहने पर ही वह व्यक्ति व्यासगद्दी पर बैठा था। बलराम ने अच्छा नहीं किया। जब श्रीकृष्ण ने बाल उगने की बात कही तो लोगों ने कहा कि हो सकता है कि मृत व्यक्ति की पत्नी ने शाप दिया हो। श्रीकृष्ण उसके पास पहुंचे। उन्होंने अपने भाई के अपराध की क्षमा मांगी और बाल उगने की बात कही। उसने कहा कि जब हलधर कोई भलाई का काम करेंगे तो उनके हाथ से बाल स्वयं ही गिर जायगा।

बलदाऊ को दुःख तो हुआ ही था, वह उस कृत्य का शमन करने के लिए तीर्थाटन को निकले। जब वे उस स्थान पर पहुंचे जहां आज बरहद गांव है तो क्या देखते हैं कि राजस्थान का कोई तीर्थयात्री, जो संभवतः ब्रजमण्डल की यात्रा को आ रहा था, प्यास से व्याकुल हो अचेत हो गया। उसकी सहधर्मिणी असहाय अवस्था में कुछ नहीं कर पा रही थी, क्योंकि आसपास दूर-दूर तक जल का कहीं नामोनिशान तक दिखायी नहीं दे रहा था। हलधर को दया आ गयी और उन्होंने अपने हल को भूमि पर दे मारा। परिणाम यह निकला कि एक सोता फूट पड़ा और स्वयं उस पानी को अपनी अंजलि में भर कर उस आकुल राजस्थानी को पिलाया। उस दंपति के हृदय से आशीष निकली और उन्होंने देखा कि उनकी हथेली का बाल गिर गया है।

इस प्रकार बरहद को बाल-हद यानी बाल गिरने का स्थान भी कहा जाने लगा। कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि जहां आज बलदाऊ का मन्दिर बना है वहां उन्होंने वर्षों तपस्या की थी। बलराम की तपस्थली होने के कारण इस स्थान को प्रमुखता मिली और उनके द्वारा जो सोता फूटा था वही कालांतर में सरोवर बन गया जिसमें कमल-दल लहलहाने लगा। प्राकृतिक दृष्टि से यह स्थान बहुत ही रमणीय है और सरोवर में कमलों की छटा देखते ही बनती है।

बरहद में बलदाऊ का जो मन्दिर खड़ा है वह प्रागैतिहासिक नहीं कहा जा सकता। वह जाट-नरेशों द्वारा बनवाया हुआ है। किंतु मूर्ति निश्चय ही अत्यंत प्राचीन दिखायी देती है। बताया जाता है कि उक्त जाट-नरेश को स्वप्न हुआ कि बलराम प्रकट होना चाहते हैं और खुदाई करने पर यह प्रतिमा भूमि से निकल आयी।

बरहद में जो मेला लगता है उसमें ब्रजमण्डल के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन के चित्रण होते हैं। महिलाएं अपने बच्चों को गोद में लिये विभिन्न प्रकार के राग मल्हार, निहालदे आदि गाती हुई वहां पहुंचती हैं। घोड़ागाड़ी, बैलगाड़ी और रथ आदि विभिन्न वाहनों से लोग बरहद पहुंचने का यत्न करते हैं। दूर-दूर के लोग रेलगाड़ी से आते हैं और सासनी तथा रती का नगला स्टेशन पर उतर कर वहां पहुंचते हैं। पुत्रवती महिलाएं बलदेव छठ के दिन वहां पहुंच कर पूजन-अर्चन करती हैं। लोगों में यह धारणा पायी जाती है कि छठ के दिन मंदिर में बलरामजी के दर्शन करने से बच्चे को किसी प्रकार की आधि-व्याधि नहीं सताती। वे हृष्ट-पुष्ट बनते हैं।

बरहद के मेले का मुख्य आकर्षण खच्चरों और गदहों का क्रय-विक्रय भी है। यहां हजारों की संख्या में गदहे और खच्चर बिकने आते हैं। गधे और खच्चरों का इतना बड़ा मेला ब्रजमण्डल में ही नहीं दूर-दूर तक कहीं नहीं लगता। इस कारण लोगों की भारी भीड़ हो जाती है और लोग खरीदने तथा बेचने के लिए यहां आते हैं।

बरहद का मेला अष्टमी को उखड़ कर विजयगढ़ आ जाता है और दशमी तक रहता है।

ब्रजमण्डल का समूचा क्षेत्र कृष्ण और बलराम के जीवन से ओतप्रोत है। मथुरा में कृष्ण ने जन्म लिया तो वृंदावन में बालक्रीड़ाएं कीं। यमुना के किनारे ग्वाल-बालों के साथ रास रचाया, गोवर्धन को उठाकर इंद्र का मान-मर्दन किया तो बरहद बलराम के गौरव-गाथा का प्रतीक बन गया। यहां ही उनके पुण्य कार्य से शाप दूर हुआ और उनके द्वारा पुण्य सरोवर का उदय, जिसके कारण बरहद का क्षेत्र प्राकृतिक सुषमा से भरपूर हो गया। ●

मधुमोद के० रायज़ादा

ब्रज के तीर्थस्थल

भला कोई ऐसा भी मनुष्य होगा, जो अपने हृदयाराध्य भगवान आनंदकंद श्रीकृष्ण-चन्द्र की जन्म-भूमि ब्रज के दर्शन करना न चाहे ? ब्रजभूमि की रमणीयता अलौकिक-अवर्णनीय है। यद्यपि प्यारे श्यामसुन्दर को अवतार लिये पांच हज़ार वर्षों से भी अधिक समय व्यतीत हो चुका है, फिर भी श्याम के प्यारे आज भी उसकी लीलाओं, उसकी बांसुरी की धुन देखने-सुनने को लालायित हैं। कहा जाता है कि ब्रजभूमि को स्वयं भगवान श्रीकृष्ण गोलोक से पृथ्वी पर लाये थे और उनके अवतार लेने से पूर्व ही देवी-देवताओं ने गोपी-गोपिकाओं के रूप में जन्म ले लिया था। कुछ भी हो, इस पावनस्थली की रज मस्तक पर लगाने में धर्मपरायण व्यक्ति अपना परमसौभाग्य समझते हैं। आज भी कृष्ण-जन्मस्थली का माहात्म्य गौरवपूर्ण है। देशी-विदेशी कृष्णभक्त इस पावन धाम के दर्शनों को तरसते हैं। पुराणों में भी कहा गया है कि यह भूमि सृष्टि एवं प्रलय की व्यवस्था से भी परे है:

ता वां वस्तून्युश्मसि गमध्वे यत्र गावो भूरि शृंगा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य कृष्णः परमः पदमभवति भूरि हृति॥

भारतवर्ष में अनेक तीर्थधाम हैं किन्तु ब्रज की तो लीला ही निराली है। यहां का साहित्य, संस्कृति, धर्म-सम्प्रदाय, स्थल-दर्शन, आध्यात्मिक जीवन, लोकगीत, भक्ति-दर्शन, कवि, साहित्यकार, कलाकार, चित्रकार, पहलवान, साधु, लीलाएं, कलाएं, उद्योग-धंधे, वन-उपवन, वृक्ष-पुष्प, मन्दिर, उत्सव इत्यादि अपने आप में एक विशेषता-अद्वितीयता लिये हुए हैं। श्री मद्‌भागवत में भी कहा गया है—**मथुरा भगवान यत्र नित्यं सन्निहिता हरिः।**

वास्तव में 'ब्रज' शब्द व्याप्तिसूचक है। जिस भूमि में पशुओं की विशेषता होती है, उसे ब्रजभूमि कहा जाता है। कहा भी गया है—**व्रजन्ति अस्मिन जनाः श्रीकृष्ण प्राप्त्यर्थमिति व्रजः।** ब्रजभूमि का क्षेत्र चौरासी कोस तक माना गया है। इसके तीर्थों में स्नानादि करने से मानव समस्त पापों से मुक्त हो जाता है, ऐसा कहा गया है। यह तीर्थयात्रा 'परिक्रमा' के रूप में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में विभिन्न रूप से होती है। इसका शुभारंभ मथुरा के विश्राम-घाट से होता है और यात्रा की समाप्ति भी विविध स्थानों के दर्शनों के पश्चात विश्राम-घाट पर ही समझी जाती है।

मथुरा : तीर्थनगरी मथुरा का अपना एक विशेष स्थान है। धार्मिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से यह सदा से अत्यंत महत्वपूर्ण नगरी रही है। अनेक प्रमाणों के आधार पर आज की मथुरा नगरी कभी एक निर्जन वन के रूप में थी। इसमें मधु नामक एक राक्षस रहा करता था, जिसका विवाह महापंडित रावण की सौतेली बहन कुम्भनसी से हुआ था। मधु के पुत्र लवणासुर ने जब घोर अत्याचार किये तब शत्रुघ्न ने उसका विनाश करके नगर का नाम 'मथुरा' रखा और सुबाहु को यहां का राजा नियुक्त किया। वास्तव में मथुरा का वैदिक नाम शूरसेन है। इसका त्रेतायुग में 'मधुवन' तथा द्वापर में 'मधुपुरी' और अब कलयुग में 'मथुरा' नाम है।

इतिहास साक्षी है कि अनेक यवन शासकों तथा अंग्रेजों ने इसे नष्ट-भ्रष्ट करने में कोई कसर न छोड़ी। इसे अनेक बार लूटा गया और अनेक बार यहां 'आम हत्या' की गई। फिर भी ब्रज की गौरव नगरी मथुरा

आज भी विद्यमान है, एक संदेश, एक महत्व लिये । इसका माहात्म्य स्वयं भगवान ने स्वीकारा है :

अहो न जानन्ति नराः दुराशयाः पुरी मदीयां परमां सनातनीम्।
सुरेन्द्र नागेन्द्र मुनीन्द्र संस्तुत्य मनोरमां तां मथुरा पराकृतिम्।।

मथुरा को यदि घाटों का तीर्थ-नगर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यहां चौबीस प्रसिद्ध घाट हैं---बारह उत्तर में और बारह दक्षिण में। विश्राम घाट, मथुरा का एक बहुत प्रसिद्ध घाट है। कहा जाता है कि कंस-बध के पश्चात भगवान श्रीकृष्ण-बलदेव ने इसी स्थल पर विश्राम किया था। यह वही पावन स्थान है जहां यमुनाजी ने श्री भागवत की कथा सुनी थी। इस घाट के निकट ही 'कंसखार' है जहां कंस के मल्ल राक्षस रहा करते थे। यहीं पर वह स्थान भी है जहां कंस की रानी सती हुई थी। और जो अब 'सती का स्थान' नाम से विख्यात है। योगमाया घाट पर श्री राजराजेश्वर, काल-भैरव, योगमाया बटुक तथा पिपलेश्वर महादेव के प्रसिद्ध मंदिर हैं। प्रयाग घाट का श्री वेणीमाधव और पंडरीनाथजी का मंदिर भी अपना निजी स्थान रखता है। इसी प्रकार श्याम घाट पर श्यामजी, दाऊजी घाट पर दाऊजी, गोकुलनाथजी तथा मदनमोहनजी के मंदिर भी दर्शनीय हैं। इससे थोड़ी ही दूर पर विभिन्न घाटों पर अनेक तीर्थ एवं टीले बने हुए हैं, जिनमें से सप्तऋषि टीला, ध्रुव टीला, तिन्दुक तीर्थ, कनखल तीर्थ, बुद्ध तीर्थ, रावण टीला और बलि टीला इत्यादि प्रमुख हैं। द्वारिकाधीश महाराज का मंदिर मथुरा की भव्यता--महिमा का प्रतीक है।

ब्रजधाम यात्रा : यह यात्रा प्रायः 'परिक्रमा' के रूप में प्रारंभ होती है। तीर्थयात्री विविध प्रणालियों से अपनी यात्रा 'विश्राम-घाट' से अनेक पावन-स्थलों के दर्शनादि करते हुए प्रारंभ करके 'विश्राम-घाट' पर ही पूर्ण करते हैं। अनेक तीर्थस्थानों का महत्व वहां हुई लीलाओं के कारण ही है।

विश्राम-घाट से लगभग १.६१ कि० मी० दूर एक ताल बना हुआ है जिसे 'शिव ताल' कहा जाता है। ताल के ठीक सामने मंदिर भी बना हुआ है। एक मतानुसार यहां आशुतोष भगवान शंकर ने सौ वर्ष तक घोर तस्पया की थी। इस ताल में स्नान करने से 'शिवलोक' की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा जाता है। दूसरे मतानुसार यहां पर 'मधु' राक्षस का किला है। इसी कारण इसे 'मधुवन' कहा जाता है। इससे थोड़ी ही दूर पर वह स्थान है, जहां भगवान श्रीकृष्ण ने मधु राक्षस का बध करके नारदजी की शंका का समाधान किया था। इस स्थान से लगभग १ कि० मी० दूर पर लवणासुर की गुफा है। यहां पर प्रतिवर्ष भादों बदी ११ को मेला होता है।

आगे 'तालवन' पर श्री दाऊजी के मंदिर और भलभद्र कुंड मिलते हैं। यह वही स्थान है जब 'गर्दभ रूप' में आये 'धेनुकासुर' की पिछली टांगों को पकड़ कर भगवान ने तालों के वृक्षों पर मार कर उसका बध किया था। आज भी वहां ताल वृक्ष मिलते हैं।

तालवन से पश्चिम की ओर लगभग ५ कि० मी० दूर 'कुमुद वन' मिलता है जहां कमल अधिक पैदा होते हैं। यह वही स्थान है जहां कपिल मुनिजी ने तपस्या कर श्रीश्यामसुन्दर के दर्शन किये थे। इस स्थान से थोड़ा आगे 'सांतनुकुंड' मिलता है जहां कभी राजा सांतनु ने दर्शनों की लालसा तथा पुत्र-प्राप्ति के लिए घोर तपस्या की थी। भगवान श्रीकृष्ण-बलराम ने राजा द्वारा लगाये 'सतुओं' के भोग को स्वीकार करके ही राजा की मनोकामना पूर्ण की थी। आज भी निःसन्तान स्त्री-पुरुष रविवार, भादों सुदी सप्तमी को मंदिर में श्रीभगवान के दर्शन कर 'सतियों' को अंकित कर सन्तान-प्राप्ति की भीख मांगते हैं। यहां इस तिथि को

मेला भी लगता है। इसी कुंड की दाहिनी दिशा में लगभग ६ कि० मी० की दूरी पर 'गंधर्व कुंड' तथा 'पूतना कुंड' आदि मिलते हैं। इससे आगे ही 'रारवाटी' ग्राम है जहां भगवान ने सिंह तथा गाय का न्याय किया था।

राधाकुंड तथा कृष्णकुंड : इन कुंडों के निर्माण की भी एक कथा है। जब 'अरिष्ठासुर' नामक राक्षस बैल के रूप में भगवान श्रीकृष्ण को मारने आया तो उन्होंने उसे 'मानसी-गंगा' की उत्तर दिशा में मार दिया। वहां के निवासियों ने प्रभु से कहा कि आपको बैल-हत्या लगी है। यह तभी दूर होगी जब कि आप किसी तीर्थ में स्नान करेंगे। तब श्यामसुन्दर तथा राधाजी ने पृथक-पृथक दो कुंडों का निर्माण अपने-अपने श्री-हस्तों से किया। योगीराज कृष्ण ने अपनी मोहक बांसुरी द्वारा १०१ तीर्थों का आह्वान करके कार्तिक अष्टमी की पावन तिथि को पवित्र जलों से भर दिया और तब भगवान ने राधाजी और अन्य साथियों के साथ स्नान करके लोगों का संदेह भंग किया।

इन कुंडों की एक विशेषता यह भी है कि दोनों कुंड केवल एक घाट के अंतर से बने हुए हैं, चाहे कैसी भी परिस्थितियां क्यों न हों, दोनों कुंडों में जल सदा एक तल तक रहेगा और कभी भी कुंड जल से रीते नहीं होते हैं।

राधाकुंड के उत्तर में श्रीगोविन्द देव, गिरिराजजी की जिह्वा, राधाकृष्ण, पांच पांडव और नारायण स्वामी के मंदिरादि हैं। किसी समय यहां पांच वृक्ष थे किन्तु आज उनके अवशेष भी नहीं हैं।

राधा-कुंड से लगभग एक कि०मी० दक्षिण की ओर भरतपुर के महाराजा जवाहर सिंह का बनवाया हुआ 'कुसुम-सरोवर' है। यहां पर पत्थर के सुंदर काम की 'छत्री' है जहां श्री दाऊजी की विशाल प्रतिमा स्थापित है। निकट ही 'कुसुम-वन' है। कहते हैं श्यामसुन्दर यहीं अपनी प्यारी का शृंगार विविध पुष्पों से किया करते थे। इसके निकट ही नारदकुंड है जहां नारद मुनि को वृन्दादेवी के दर्शन हुए थे और उनका संदेह दूर हुआ था। नारायण स्वामी की समाधि भी यहां पर है जिनकी किशोरी 'राधाजी' के रूप में बृज-किशोर के साथ रासक्रीड़ा किया करती थीं। इसी स्थान पर श्रीकुसुमबिहारी, दाऊजी, गिरिराजजी के पावन दर्शन-स्थल भी हैं।

गोवर्द्धन : गोवर्द्धन पर्वत, जिसे चित्तचोर श्रीकृष्ण ने अपनी 'छंग अंगुली' पर गोपी-गोपिकाओं को इन्द्र की कुदृष्टि से बचाने के लिए उठाया था, लगभग सात कोस में स्थित है। इसी विशाल पर्वत के अंचल में पवित्र 'मानसी गंगा' बहती है। कहते हैं—एक बार यहां भगवान विष्णु श्री गंगाजी के साथ रमण कर रहे थे कि किशोरीजी वहां पर आ गईं। उनके भय से गंगाजी विष्णु भगवान की 'मनस्थली' में छिप गईं। किशोरीजी के चले जाने पर भगवान ने उन्हें अपने मन से प्रकट किया और तभी से उन्हें 'मानसी गंगा' कहा जाने लगा।

मानसी गंगा के पवित्र तट पर श्री गिरिराजजी महाराज के 'मुखारबिन्दु' के दर्शन होते हैं। इस पवित्र दर्शन की विशेषता है कि दिन में हम महाराज के दर्शन एक 'मुखारबिन्दु' के रूप में करते हैं और रात्रि में प्रभु के संपूर्ण मुखादि के। इस पवित्र मन्दिर में ठाकुरजी को दूध से स्नान कराने की परंपरा है जो आदि काल से चली आ रही है। प्रभु का चरणामृत मंदिर के बाहर बने 'गौमुख' से धर्म-परायण जनता द्वारा संग्रह कर लिया जाता है और कुछ भाग श्रीमानसी गंगा में चला जाता है। मंदिर में लगे कदंब के वृक्ष वातावरण को अत्यंत सुगंधमय कर देते हैं।

इस पावन स्थल पर दीपावली के दिन 'दीपदान' करने की परंपरा है। अंधियारी रात्रि में दीपों

से सजी मानसी गंगा ऐसी लगती है मानो आकाश के तारे इन पृथ्वी के 'तारों' से मंद-फीके हैं। दीपावली के दूसरे दिन गोवर्द्धन पर्वत पर प्रायः सम्मिलित रूप से 'गो-धन' रखने की भी प्रथा है।

इस तीर्थस्थल की परिक्रमा और स्नान विख्यात हैं। यहां आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को बहुत बड़ा मेला लगता है। परिक्रमाएं भी लगती हैं किंतु भाद्रपद शुक्ला ११ को सर्वाधिक फल मिलता है, ऐसा कहा गया है।

यहीं से थोड़ा आगे 'कामवन' है, जहां वृन्दादेवी और गोविन्दजी के मंदिर हैं। यह वही स्थान है जहां श्रीकृष्ण ने गोपियों से दान लिया था। निकट ही बरसाना है जो कभी वृषभान और कीर्तिरानी की राजधानी थी। यहीं पर विलासगढ़, संकीर्ण पथ, मानगृह, मोर कुटी आदि हैं। यहां पर होली का मेला फागुन सुदी ८, ९ और १० को प्रतिवर्ष होता है। राधाजी इसी 'बरसाना' की निवासिनी थीं और श्रीकृष्ण इस स्थान से थोड़ा ही आगे 'नन्दगांव' में रहते थे।

वृन्दावन : श्रीबांकेबिहारी की रमणींक नगरी 'वृन्दावन' मथुरा से लगभग ५ कि० मी० आगे है। एक समय था जब यहां की शोभा अपूर्व थी। श्यामसुन्दर की लीला-स्थली को शांति-सौभाग्य-धाम कहा जाता था। इसकी करुण दशा से दुखित होकर संवेदनाशील कवि सत्यनारायणजी ने कहा था :

पहिले को-सो अब न तिहारों यह वृन्दावन,
याके चारों ओर भये बहु बिधि परिवर्तन।
बने खेत चौरस नये, काटि घने बन-कुंज,
देखन को बस रहि गये, निधि बन सेवा कुंज ॥

यह सत्य है कि इस तीर्थनगरी में पहले सघन वनों-कुंजों की भरमार थी। इसकी शोभा निराली--अवर्णनीय थी। इस पावन नगरी में आज चार हजार से अधिक मंदिर, पक्के घाट, दुकानें, बाजार, धर्मशालाएं आदि बन गई हैं, जो निश्चय ही प्रगति--आधुनिकता की प्रतीक हैं। आज भी ब्रजवल्लभ की प्यारी लीलास्थली की साहित्यिकता-सांस्कृतिकता को जीवितरखने के लिए अनेक लीला-भवन, शोध-स्थल आदि बन चुके हैं। यदि इनमें कुछ कमी है तो केवल एक पवित्र आत्मा और निःस्वार्थ भावना की, जिसे केवल श्यामसुन्दर हीं दे सकते हैं। ब्रज की प्यारी भाषा भी अब आधुनिकता की ओर है। सत्यनारायणजी ने ठीक ही प्रार्थना की थी :

सजन सरस घनस्याम अब, दीजै रसु बरसाय।
जासों ब्रजभाषा लता हरी-भरी लहराय ॥

यह तीर्थस्थान प्रभु की विभिन्न लीलाओं का केन्द्र तथा भव्य मंदिरों का प्रतीक है। यमुना के तीर पर बने अनेक स्थान हमें श्रीकृष्ण-लीलाओं का स्मरण कराते हैं। केशीघाट पर बना स्थान प्रभु द्वारा 'केशी' नामक राक्षस के बध का स्थान है। कहा जाता है कि यहां पर स्नान करने से मानव अपने घोर पापों से मुक्त हो जाता है। इसके आगे 'सूर्यतीर्थ' है, जहां कालीनाग का एक भव्य मंदिर है जहां श्रीकृष्ण ने कालीनाग को नाथकर जन-जीवन को सुखमय बनाया था। सूर्यतीर्थ से आगे 'द्वादशादित्य' तीर्थ है जहां बारह आदित्यों ने वृन्दावन-वास से पूर्व बारह तीर्थों का निर्माण किया था। इसमें स्नान करने से मनोवांछित फल मिलता है--ऐसा कहा गया है। इसके निकट ही प्रेसकंद-तीर्थ है जहां 'कालीदह' का स्नान करके मानव घोर पापों से तरता है।

वृन्दावन में अनेक भव्य-विशाल मंदिर हैं जो निश्चय ही उत्तर-भारत के सर्वश्रेष्ठ मंदिरों में से एक हैं। १८५० ई० में बना श्रीरंगनाथजी का मंदिर अपने विशाल भवनों तथा स्वर्ण स्तंभ के लिये विख्यात है। यहां सोने-चांदी के अनेक पात्र, वाहन तथा झूले आदि हैं। यहां चैत्र कृष्ण १ से अमावस्या तक रथ का मेला लगता है।

जयपुर के महाराजा मानसिंह का बनवाया हुआ मंदिर––श्रीगोविन्दजी महाराज का पवित्र स्थान है। ऐतिहासिक सूत्रों के अनुसार औरंगजेब ने ईर्ष्या तथा मूर्खतावश इसकी चार मंजिलें तुड़वा दी थीं।

वृन्दावन में सबसे अधिक महिमा निश्चय ही श्रीबांकेबिहारीजी के मंदिर की है। श्रीबिहारीजी का प्राकटच स्वामी हरिदासजी की भक्ति एवं संगीत-साधना के द्वारा श्रीनिधिवनराज में आज से लगभग ४५० वर्ष पूर्व हुआ था। स्वामीजी वृजकिशोर की अत्यन्त प्रिय सखी ललिताजी के अवतार कहे जाते हैं। अपनी अनन्य भक्ति के कारण ही वह बिहारीजी को पा सके। वह रासलीला के प्रवर्तक, सखी भावना के अनुपम उपासक तथा महान संगीतकार थे। स्वामीजी ने भव्य मूर्ति के प्राकटच का वर्णन इस प्रकार किया है :

माई री, सहज जोरी प्रगट भई, रंग की गौर-स्यामघन दामिनी जैसैं।
प्रथमहु हुती, अबहू, आगेहू रहिहै, न हरिहै-तैसैं॥
अंग-अंग की सुघराई, चतुराई, सुन्दरता ऐसैं।
श्रीहरिदास के स्वामी-स्यामा कुंजबिहारी सम बैस-बैसैं॥

श्रीबांकेबिहारीजी का सर्वप्रथम अभिषेकोत्सव लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व 'निधिवनराज' में हुआ था। यह उस समय की बात है जब औरंगजेब हिन्दुत्व के साथ विध्वंस तथा विनाशकारी खेल खेल रहा था। ब्रज की अनेक मूर्तियां बिहारीजी के साथ ही विभिन्न रजवाड़ों में चली गईं। फिर समय अनुकूल होने पर गोस्वामी समाज करौली से श्रीबिहारीजी को वृन्दावन ले आया। तभी 'बिहारीपुरा' बसा और एक छोटे मंदिर में भगवान की पूजादि होने लगी। गोस्वामी समाज के शिष्य वर्ग ने वि० सं० १९२१ में लगभग सत्तर हजार रुपये से यह भव्य मन्दिर बनवाया जहां कि आज सेवा-पूजा होती है। इस भव्य मन्दिर का निर्माण लाल पत्थर से हुआ है, केवल प्रवेश-द्वार आदि ही अद्भुत शिल्पकारी से सफेद पत्थर का बना है। मंदिर की गौरव–छतरी और स्वर्ण-कलश दर्शनीय हैं। मंदिर में अनेक उत्सव होते हैं जिनमें सोने-चांदी के फूलों आदि का प्रदर्शन होता है।

निधिवनकुंज में आज भी वह लताकुंजों का जमघट है जहां कभी श्यामसुन्दर ने लीलाएं की थीं। यहां पर स्वामीजी के अर्द्धनारी-रूप की एक भव्य मूर्ति एक विशाल मन्दिर में स्थापित है। यह नारी-रूप उनका 'ललिता' सखी के रूप में है। कहा जाता है स्वामीजी 'ललिता' के रूप में प्रभु की रासलीला में भाग लिया करते थे। इन्हीं कुंज में वह पवित्र स्थान भी है जहां श्रीबिहारीजी का प्राकटच हुआ था। इसी कुंज-वन में 'रंगशाला' भी बनी है जहां हर रात प्रभु के लिए बिस्तर, फल-फूल, दातुन आदि का प्रबन्ध किया जाता है और हर दिन यह अस्त-व्यस्त मिलता है। यह कहा जाता है कि बरसाने से किशोरीजी तथा बिहारीजी के मंदिर से बिहारीजी इस 'रंगशाला' में आकर विश्राम करते हैं। इसी प्रकार की कथा 'सेवाकुंज' के बारे में भी है। वहां रात्रि में मानव यहां तक पशु-पक्षी भी कुंज से बाहर चले जाते हैं। यदि कोई भूलवश वहां रह भी जाय तो उसकी मृत्यु हो जाती है, ऐसी अनेक कथायें प्रचलित हैं। स्वामीजी के दूसरे 'टट्टी स्थान' में राधाष्टमी को भारी उत्सव आदि होते हैं।

से सजी मानसी गंगा ऐसी लगती है मानो आकाश के तारे इन पृथ्वी के 'तारों' से मंद-फीके हैं। दीपावली के दूसरे दिन गोवर्द्धन पर्वत पर प्रायः सम्मिलित रूप से 'गो-धन' रखने की भी प्रथा है।

इस तीर्थस्थल की परिक्रमा और स्नान विख्यात हैं। यहां आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को बहुत बड़ा मेला लगता है। परिक्रमाएं भी लगती हैं किंतु भाद्रपद शुक्ला ११ को सर्वाधिक फल मिलता है, ऐसा कहा गया है।

यहीं से थोड़ा आगे 'कामवन' है, जहां वृन्दादेवी और गोविन्दजी के मंदिर हैं। यह वही स्थान है जहां श्रीकृष्ण ने गोपियों से दान लिया था। निकट ही बरसाना है जो कभी वृषभान और कीर्तिरानी की राजधानी थी। यहीं पर विलासगढ़, संकीर्ण पथ, मानगृह, मोर कुटी आदि हैं। यहां पर होली का मेला फागुन सुदी ८, ९ और १० को प्रतिवर्ष होता है। राधाजी इसी 'बरसाना' की निवासिनी थीं और श्रीकृष्ण इस स्थान से थोड़ा ही आगे 'नन्दगांव' में रहते थे।

वृन्दावन : श्रीबांकेबिहारी की रमणींक नगरी 'वृन्दावन' मथुरा से लगभग ५ कि० मी० आगे है। एक समय था जब यहां की शोभा अपूर्व थी। श्यामसुन्दर की लीला-स्थली को शांति-सौभाग्य-धाम कहा जाता था। इसकी करुण दशा से दुखित होकर संवेदनाशील कवि सत्यनारायणजी ने कहा था :

पहिले को-सो अब न तिहारों यह वृन्दावन,
याके चारों ओर भये बहु बिधि परिवर्तन ।
बने खेत चौरस नये, काटि घने बन-कुँज,
देखन को बस रहि गये, निधि बन सेवा कुंज ।।

यह सत्य है कि इस तीर्थनगरी में पहले सघन वनों-कुंजों की भरमार थी। इसकी शोभा निराली––अवर्णनीय थी। इस पावन नगरी में आज चार हजार से अधिक मंदिर, पक्के घाट, दुकानें, बाजार, धर्मशालाएं आदि वन गई हैं, जो निश्चय ही प्रगति––आधुनिकता की प्रतीक हैं। आज भी ब्रजवल्लभ की प्यारी लीलास्थली की साहित्यिकता-सांस्कृतिकता को जीवितरखने के लिए अनेक लीला-भवन, शोध-स्थल आदि बन चुके हैं। यदि इनमें कुछ कमी है तो केवल एक पवित्र आतमा और निःस्वार्थ भावना की, जिसे केवल श्यामसुन्दर ही दे सकते हैं। ब्रज की प्यारी भाषा मी अब आधुनिकता की ओर है। सत्यनारायणजी ने ठीक ही प्रार्थना की थी :

सजन सरस घनस्याम अब, दीजै रसु बरसाय ।
जासों ब्रजभाषा लता हरी-भरी लहराय ।।

यह तीर्थस्थान प्रभु की विभिन्न लीलाओं का केन्द्र तथा भव्य मंदिरों का प्रतीक है। यमुना के तीर पर बने अनेक स्थान हमें श्रीकृष्ण-लीलाओं का स्मरण कराते हैं। केशीघाट पर बना स्थान प्रभु द्वारा 'केशी' नामक राक्षस के बध का स्थान है। कहा जाता है कि यहां पर स्नान करने से मानव अपने घोर पापों से मुक्त हो जाता है। इसके आगे 'सूर्यतीर्थ' है, जहां कालीनाग का एक भव्य मंदिर है जहां श्रीकृष्ण ने कालीनाग को नाथकर जन-जीवन को सुखमय बनाया था। सूर्यतीर्थ से आगे 'द्वादशादित्य' तीर्थ है जहां बारह आदित्यों ने वृन्दावन-वास से पूर्व बारह तीर्थों का निर्माण किया था। इसमें स्नान करने से मनोवांछित फल मिलता है––ऐसा कहा गया है। इसके निकट ही प्रेसकंद-तीर्थ है जहां 'कालीदह' का स्नान करके मानव घोर पापों से तरता है।

वृन्दावन में अनेक भव्य-विशाल मंदिर हैं जो निश्चय ही उत्तर-भारत के सर्वश्रेष्ठ मंदिरों में से एक हैं। १८५० ई० में बना श्रीरंगनाथजी का मंदिर अपने विशाल भवनों तथा स्वर्ण स्तंभ के लिये विख्यात है। यहां सोने-चांदी के अनेक पात्र, वाहन तथा झूले आदि हैं। यहां चैत्र कृष्ण १ से अमावस्या तक रथ का मेला लगता है।

जयपुर के महाराजा मानसिंह का बनवाया हुआ मंदिर––श्रीगोविन्दजी महाराज का पवित्र स्थान है। ऐतिहासिक सूत्रों के अनुसार औरंगजेब ने ईर्ष्या तथा मूर्खतावश इसकी चार मंजिलें तुड़वा दी थीं।

वृन्दावन में सबसे अधिक महिमा निश्चय ही श्रीबांकेबिहारीजी के मंदिर की है। श्रीबिहारीजी का प्राकटय स्वामी हरिदासजी की भक्ति एवं संगीत-साधना के द्वारा श्रीनिधिवनराज में आज से लगभग ४५० वर्ष पूर्व हुआ था। स्वामीजी वृजकिशोर की अत्यन्त प्रिय सखी ललिताजी के अवतार कहे जाते हैं। अपनी अनन्य भक्ति के कारण ही वह बिहारीजी को पा सके। वह रासलीला के प्रवर्तक, सखी भावना के अनुपम उपासक तथा महान संगीतकार थे। स्वामीजी ने भव्य मूर्ति के प्राकटय का वर्णन इस प्रकार किया है :

माई री, सहज जोरी प्रगट भई, रंग की गौर-स्यामघन दामिनी जैसैं।
प्रथमहु हुती, अबहू, आगेहू रहिहै, न हरिहै-तैसैं॥
अंग-अंग की सुघराई, चतुराई, सुन्दरता ऐसैं।
श्रीहरिदास के स्वामी-स्यामा कुंजबिहारी सम बैस-बैसैं॥

श्रीबांकेबिहारीजी का सर्वप्रथम अभिषेकोत्सव लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व 'निधिवनराज' में हुआ था । यह उस समय की बात है जब औरंगजेब हिन्दुत्व के साथ विध्वंस तथा विनाशकारी खेल खेल रहा था। ब्रज की अनेक मूर्तियां बिहारीजी के साथ ही विभिन्न रजवाड़ों में चली गईं। फिर समय अनुकूल होने पर गोस्वामी समाज करौली से श्रीबिहारीजी को वृन्दावन ले आया । तभी 'बिहारीपुरा' बसा और एक छोटे मंदिर में भगवान की पूजादि होने लगी। गोस्वामी समाज के शिष्य वर्ग ने वि० सं० १९२१ में लगभग सत्तर हजार रुपये से यह भव्य मन्दिर वनवाया जहां कि आज सेवा-पूजा होती है । इस भव्य मन्दिर का निर्माण लाल पत्थर से हुआ है, केवल प्रवेश-द्वार आदि ही अद्भुत शिल्पकारी से सफेद पत्थर का बना है। मंदिर की गौरव–छतरी और स्वर्ण-कलश दर्शनीय हैं। मंदिर में अनेक उत्सव होते हैं जिनमें सोने-चांदी के फूलों आदि का प्रदर्शन होता है ।

निधिवनकुंज में आज भी वह लताकुंजों का जमघट है जहां कभी श्यामसुन्दर ने लीलाएं की थीं। यहां पर स्वामीजी के अर्द्धनारी-रूप की एक भव्य मूर्ति एक विशाल मन्दिर में स्थापित है। यह नारी-रूप उनका 'ललिता' सखी के रूप में है । कहा जाता है स्वामीजी 'ललिता' के रूप में प्रभु की रासलीला में भाग लिया करते थे। इन्हीं कुंज में वह पवित्र स्थान भी है जहां श्रीबिहारीजी का प्राकटय हुआ था। इसी कुंज-वन में 'रंगशाला' भी बनी है जहां हर रात प्रभु के लिए बिस्तर, फल-फूल, दातुन आदि का प्रबन्ध किया जाता है और हर दिन यह अस्त-व्यस्त मिलता है। यह कहा जाता है कि बरसाने से किशोरीजी तथा बिहारीजी के मंदिर से बिहारीजी इस 'रंगशाला' में आकर विश्राम करते हैं। इसी प्रकार की कथा 'सेवाकुंज' के बारे में भी है। वहां रात्रि में मानव यहां तक पशु-पक्षी भी कुंज से बाहर चले जाते हैं। यदि कोई भूलवश वहां रह भी जाय तो उसकी मृत्यु हो जाती है, ऐसी अनेक कथायें प्रचलित हैं। स्वामीजी के दूसरे 'टट्टी स्थान' में राधाष्टमी को भारी उत्सव आदि होते हैं।

वृन्दावन का कांच का मंदिर, लूतों का मंदिर, गंगाजी का मंदिर, इत्यादि भी प्रदर्शनीय हैं। आज भी श्यामधुन की मधुर धुन विभिन्न संम्प्रदायों के नर-नारियों द्वारा निरंतर गूंजती रहती है।

गोकुल : यह तीर्थस्थान मथुरा में यमुनाजी के दूसरे तट पर स्थित है। यह स्थान नन्द-यशोदाजी का स्थान है। यह वही स्थान है जहां वासुदेवजी श्रीकृष्ण को यशोदाजी के पास सुला आये थे।

गोकुल से महावन लगभग १ कि० मी० दूर है जहां श्रीभगवान ने बाल-लीलाएं की थीं। इसके निकट ही ब्रह्माण्ड-घाट है जहां बाल कृष्ण ने माता यशोदाजी को मुख में सारे ब्रह्माण्ड का दर्शन कराके उन्हें आश्चर्य में डाल दिया था। महावन से लगभग ४ कि० मी० दूर दाऊजी ग्राम है जहां बलरामजी का एक प्रसिद्ध मंदिर है। यह वही स्थान है जहां से तीर्थयात्री परिक्रमा करते हुए लौटते हैं। मथुराजी के विश्राम-घाट पर जब यह यात्री पुनः स्थान करते हैं तो 'चौरासी कोस' की परिक्रमा पूर्ण मान ली जाती है। यह है, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की पावन ब्रजभूमि की तीर्थयात्रा। यह कितनी सुखद, रमणीक तथा अनुपम है इसका आनन्द तो वही धर्मपरायण व्यक्ति उठा सकेंगे, जो यह पुण्ययात्रा करेंगे। ●

२. ब्रज संस्कृति

प्रभुदयाल मीतल

ब्रज-संस्कृति की विशेषता

प्राचीन इतिहास, परंपरा, रूढ़ि और आदर्श की समानता के कारण समस्त भारतवर्ष की एक ही संस्कृति है। इसे विभिन्न प्रदेशों, जातियों, समाजों और वर्गों में विभाजित नहीं किया जा सकता। फिर भी प्रत्येक देश में वहां के विविध क्षेत्रों तथा वहां की जातियों की कुछ अपनी-अपनी विशेषताएं होती हैं, जो उक्त देश की सामूहिक प्रकृति को पूर्णता प्रदान करती हैं। जिस प्रकार एक गुलदस्ता में विविध रंग और सुगंध के पुष्प अपनी-अपनी विशेषताएं रखते हुए भी उसके सामूहिक सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार क्षेत्रीय संस्कृतियां भी समस्त देश की सामूहिक संस्कृति को गरिमा और पूर्णता प्रदान करती हैं।

ब्रज-संस्कृति अखिल भारतीय संस्कृति के अंतर्गत एक क्षेत्रीय संस्कृति है। यह भारत की सामूहिक संस्कृति का अंगमात्र होते हुए कुछ अपनी विशेषताएं भी रखती है। इनके कारण जहां इसे विशिष्ट रूप प्राप्त है, वहां इसने अखिल भारतीय संस्कृति के गौरव की वृद्धि करते हुए इसे पूर्णता भी प्रदान की है। इसकी पृथक रूप से चर्चा केवल यह बतलाने के लिए की जा सकती है कि इसने भारत की विराट संस्कृति के निर्माण और विकास में तथा इसकी उन्नति और समृद्धि में अपना कितना योग दिया है!

ब्रज-संस्कृति का निर्माण कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि में हुआ है। कृष्णोपासक सभी महानुभाव कृष्ण-काल से ही इसे सजाने-संभारने में अपना-अपना योग देते रहे हैं। इसके मध्यकालीन प्रतिष्ठाताओं में महाप्रभु बल्लभाचार्य, गोसाईं विट्ठलनाथ एवं सूरदासादि उनके शिष्यगण तथा चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुचर गौड़ीय गोस्वामियों का स्थान सर्वोपरि है। उनके पश्चात स्वामी हरिदास, हित हरिवंश और निंबार्क

संप्रदायी संतों के नाम लिये जा सकते हैं। उनके द्वारा निर्मित ब्रज-संस्कृति की विशेषताएं इतनी अधिक हैं कि उन सब पर प्रकाश डालना यहां संभव नहीं है। इस समय तो उसकी कुछ सामान्य बातों की चर्चा ही की जा सकती है। मोटे तौर पर ब्रज-संस्कृति की विशेषताएं सरल, स्वाभाविक और उल्लासपूर्ण जीवनचर्या, त्याग-भावना, गौ-सेवा और देश-प्रेम हैं।

ब्रज-संस्कृति की पहली विशेषता यहां की सरल, स्वाभाविक और उल्लासपूर्ण जीवन-चर्या है। आजकल ऊपरी आडम्बर और व्यर्थ की टीम-टाम के कारण प्रत्येक व्यक्ति ने अपना व्यय-भार इतना बढ़ा लिया है कि उसकी पूर्ति के लिए उसे अनुचित उपायों से धन जुटाना पड़ता है। इसीलिए देश में भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी आदि सामाजिक बुराइयां बढ़ गई हैं। ब्रज-संस्कृति ने मानव-जीवन को सरलता और स्वाभाविकता से जीने का मार्ग प्रशस्त किया है। ब्रजवासी सदा से अपने सीधे-सादे रहन-सहन के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। ब्रज के जिन महात्माओं के दर्शन की लालसा से बड़े-बड़े राजा-महाराजा और धनी-मानी व्यक्ति उनके द्वार के चक्कर काटा करते थे, वे स्वयं रूखा-सूखा खाने वाले और फटे-पुराने चीथड़े पहनने वाले विरक्त जन थे। उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर ब्रजवासियों का यह स्वभाव बन गया था कि चाहे उन्हें पर्याप्त भोजन-वस्त्र न मिले, तब भी वे अनुचित उपायों से धन प्राप्त करना निंदनीय कर्म समझते थे। जब से ब्रज-संस्कृति का प्रभाव कम हुआ है, तब से ब्रज में भी सरल और स्वाभाविक जीवनचर्या दुर्लभ हो गई है, यह बड़े खेद की बात है। उल्लासपूर्ण जीवन बिताने के लिए ब्रज में नाना प्रकार के उत्सव-त्यौहारों और मनोविनोद के साधनों की व्यवस्था की गई है। ब्रज में वर्ष का कोई महीना ही नहीं, बल्कि महीना का भी शायद ही कोई दिन ऐसा हो, जब यहां किसी प्रकार के उत्सव, त्यौहार एवं मनोविनोद का आयोजन न हो। इसीलिए ब्रज में 'सातवार, नौ त्यौहार' की कहावत चल पड़ी है। संस्कृति की छाप साहित्य पर अवश्य पड़ती है, फलतः ब्रजभाषा साहित्य में ब्रज-संस्कृति की मनोरम झांकी दिखाई देती है। ब्रज के भक्तों ने सरस और गेय पद-रचनाओं द्वारा, कृतविद्य कवियों ने कमनीय छंदों में रची हुई चमत्कारपूर्ण सूक्तियों द्वारा तथा लोक-कवियों ने सरल, स्वाभाविक और भावपूर्ण तुकबंदियों द्वारा ब्रज-संस्कृति का मार्मिक कथन किया है। ब्रज में प्राचीन काल से ही वन-उपवनों और यमुना तटवर्ती कुंज-कुटीरों की अधिकता रही है। इनमें भ्रमण, यात्रा और केलि-क्रीड़ा करना ब्रजवासियों के मनोविनोद के सर्वोत्तम साधन रहे हैं।

ब्रज-संस्कृति की दूसरी विशेषता त्याग की भावना है। इसके कई रूप हैं; जैसे धन-वैभव का त्याग, पद-प्रतिष्ठा का त्याग और मान-सम्मान का त्याग। इन तीनों प्रकार के त्यागों पर ब्रज-संस्कृति में इतना बल दिया गया है कि ब्रज में इसके अगणित उदाहरण मिलते हैं। वर्तमान काल की समस्त बुराइयां, जैसे भ्रष्टाचार, धन-लोलुपता, पद-प्रियता, दलबंदी और द्वेष की भावना इसीलिए बढ़ी हुई है कि हममें त्याग की भावना नहीं रही। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हमारे बड़े-बड़े नेतागण एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं, वे ब्रज-संस्कृति के पुनरुद्धार से जड़-मूल से दूर की जा सकती हैं। ब्रज-संस्कृति के जितने भी निर्माता हुए हैं, उनके स्वयं के और उनके अगणित अनुगामियों के जीवन की अनेक घटनाएं त्याग की भावना से भरी हुई हैं। धन-वैभव का त्याग तो उन्होंने तृण के समान किया था। जिस समय महाप्रभु वल्लभाचार्य ने दक्षिण के विजयनगर राज्य की धर्म-सभा में अपने मत की श्रेष्टता सिद्ध की थी, तब राज्य की ओर से उनका कनकाभिषेक किया गया था। उसमें उन्हें सोने से तोलकर वह समस्त स्वर्ण-राशि प्रचुर संपत्तिसहित उन्हें भेंट की गई थी, किंतु उन्होंने उसे स्वयं ग्रहण न कर उपस्थित विद्वानों में ही उसे बंटवा दिया था। वल्लभाचार्यजी के सेवक कुंभनदास और सूरदास को तथा वृंदावन के विख्यात संत स्वामी हरिदास को मुगल सम्राट अकबर ने प्रचुर

धन देना चाहा; किंतु उन महात्माओं ने उसे स्वीकार नहीं किया। जिस शाहंशाह की कृपा प्राप्त करने को उस समय के बड़े-बड़े राजा-महाराज और सुलतान तरसा करते थे, उसकी उन्होंने बड़ी निर्ममता से उपेक्षा की थी। पद-प्रतिष्ठा का मोह तो ब्रज के किसी भी भक्त जन को कभी नहीं रहा। विगत काल में जो महानुभाव विविध स्थानों से आकर ब्रज में बसे थे, वे बड़े-बड़े राजकीय पदों को छोड़कर यहां आये थे। चैतन्य महाप्रभु के सेवक रूपसनातन गोस्वामी बंगाल के मुसलमान शासक हुसेनशाह के प्रमुख पदाधिकारी थे, जिनकी योग्यता से समस्त राज्य का संचालन होता था। वे दोनों भाई अपने उच्च राजकीय पदों को छोड़कर विरक्त भाव से ब्रज में आकर बसे थे। सूरदास मदनमोहन सम्राट अकबर के शासन-काल में संडीले के अमीन थे। वह भी अपने उच्च पद को छोड़कर वृन्दावन में अकिंचन भाव से रहने को आये थे। भक्तवर हरिराम व्यास ओरछा के राजगुरु, धुरंदर विद्वान और मधुकरशाह के प्रतिष्ठित दरबारी पंडित थे। ओरछा में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, किंतु हितहरिवंशजी के उपदेश से प्रभावित होकर उन्होंने अपने उच्च पद और प्रतिष्ठा को छोड़ दिया और ब्रज में आ गये। मधुकरशाह ने उन्हें वापिस बुलवाने की बड़ी चेष्टा की, किंतु वे नहीं गये। रघुनाथदास गोस्वामी बंगाल के सबसे धनी तालुकेदार के एकमात्र पुत्र थे। वह अपने अपार वैभव-घर की प्रतिष्ठा को छोड़कर अत्यंत विरक्त भाव से ब्रज में आकर बसे थे। ये थोड़े से उदाहरण ब्रजवासियों की पदप्रियता के प्रति उदासीनता प्रकट करने को पर्याप्ति हैं। उनके आचरण से आजकल के पद-लोलुप व्यक्तियों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। मान-सम्मान का त्याग भी ब्रज-संस्कृति की एक बहुत बड़ी विशेषता रही है। ब्रज में जिस भक्ति-भावना का विकास हुआ था, उसमें मान-सम्मान का त्याग सबसे पहली शर्त थी। जो व्यक्ति मान-प्राप्ति का इच्छुक हो, उसे ब्रज की भक्ति का अधिकारी नहीं माना जाता था। चैतन्य महाप्रभु ने अपनी शिक्षाओं का सार बतलाते हुए कहा है——**तृष्णादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना, अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः** अर्थात——अपने को तिनका से भी छोटा समझना चाहिए और सहिष्णुतापूर्वक स्वयं मान की इच्छा न कर दूसरों को मान देना चाहिए। यह ऐसी शिक्षा है कि इसे हृदयंगम करने से वर्तमान काल की विकट दलवंदी और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेश को जड़-मूल से नष्ट किया जा सकता है।

ब्रज-संस्कृति की तीसरी विशेषता गो-सेवा की भावना है। ब्रज के उपास्यदेव भगवान श्रीकृष्ण को गायें अत्यंत प्रिय थीं, इसलिए वह गोपाल कहे जाते थे। ब्रज-संस्कृति में गो, गोपी, गोप, गोकुल और गोष्ठ का बड़ा महत्व है। आजकल कृषि की उन्नति और जनता के स्वास्थ्य-सुधार पर बड़ा बल दिया जा रहा है, किंतु गो-सेवा के बिना इन दोनों में वांछनीय सफलता मिलना संभव नहीं है। रासायनिक खाद और ट्रेक्टरों पर प्रति वर्ष करोड़ों रुपये व्यय किये जाते हैं। इसमें गो-सेवा द्वारा बहुत कमी की जा सकती है। गोवर से अच्छा कोई भी खाद नहीं होता है। इसी प्रकार महंगे ट्रेक्टरों के स्थान पर बैलों से बहुत-कुछ काम लिया जा सकता है। इन सबके लिए गोसंवर्धन का बड़ा महत्व है। वैसे तो सरकार और जनता द्वारा गोवंश की वृद्धि के अनेक उपाय किये जा रहे हैं, किंतु उन्हें गो-सेवा की भावना से करना उचित है, तभी उनसे वास्तविक लाभ हो सकता है। ब्रज में गायों का पालन-पोषण बड़े लाड़-चाव से किया जाता था। बड़े-बड़े धनवान और प्रतिष्ठित व्यक्ति गायों को नौकरों पर न छोड़कर स्वयं अपने हाथ से उनकी सेवा का कार्य करते थे। इसीलिए ब्रज में गोवंश की बड़ी वृद्धि हुई थी, और यहां की गायें प्रचुर परिमाण में दूध देती थीं। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं गो-चारण और गो-दोहन कर गो-सेवा का आदर्श उपस्थित किया था।

ब्रज-संस्कृति की चौथी विशेषता देश-प्रेम की भावना है। ब्रज-भक्तों का देश श्रीराधाकृष्ण का वह क्रीड़ा-स्थल है, जहां गिरिराज पर्वत शोभायमान है, जहां शीतल-मंद-सुगंधित पवन चलती है, झरना झरते हैं,

मोरों की गुंजार होती है और जहां के सुन्दर वृक्ष छहों ऋतुओं में फूलते-फलते रहते हैं। इसका वर्णन करते हुए अष्टछाप के रससिद्ध कवि चतुर्भुजदास ने कहा है :

ललित ब्रज देश गिरिराज राजें।
त्रिविध पौन संचरै, सुखद झरना झरें, ललित सौरभ सरस मधुप गाजें।
ललित तरु फूल-फल फलित षट् रितु सदा, 'चतुर्भुजदास' गिरिधर समाजें॥

ऐसे पावन देश में निवास करने की कामना समस्त ब्रजभक्तों की सदैव रहती थी, चाहे उन्हें किसी भी योनि में जन्म लेना पड़े। इस भावना का ऐसा व्यापक प्रभाव हुआ था कि हिन्दू ही नहीं, वरन सहृदय मुसलमान भी उसी रंग में रंग गये थे। दिल्ली के पठान वंशीय भावुक भक्त रसखान अपनी उसी भावना को व्यक्त करते हुए कहते हैं :

मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं नित गोकुल गांम के ग्वारन।
जौं पसु हौं तो कहा बस मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि कौ, जो कियौ हरि छत्र पुरंदर कारन।
जो खग हौं तो बसेरौं करौं, नित कालिंदी कूल कदंब की डारन॥

वर्तमान काल में देश-प्रेम की इस भावना में कुछ परिवर्तन और परिवर्धन कर उसे समस्त भारत देश से संबंधित करने की आवश्यकता है। यदि ऐसा किया जा सका, तो सांप्रदायिक भेद-भाव निश्चय ही दूर हो सकता है। फिर रसखान, रहीम, अलीखान और ताजबीबी की तरह मुसलमान ही नहीं; वरन सिक्ख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन जो भी भारत देश में निवास करते हैं, सभी श्रद्धापूर्वक देश-प्रेम के गीत गावेंगे।

ब्रज-संस्कृति की ये विशेषताएं कितनी उपयोगी और लाभप्रद हैं, तथा वर्तमान युग में भी इनका कितना अधिक महत्व है, यह भली-भांति जाना जा सकता है। ●

कैलाशचन्द्र मिश्र

ब्रज-संस्कृति का सार्वभौम स्वरूप

आर्य-संस्कृति अर्थात वैदिक संस्कृति की रसात्मक परिणति ही ब्रज की संस्कृति है। जिस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट के साम्राज्य के अंतर्गत अनेक सामंतों और उनके परिसीमित छोटे-छोटे रजवाड़ों की स्थिति होती है अथवा देवालय के गर्भगृह में प्रतिष्ठित अभीष्ट पावन देव-प्रतिमा तक पहुंचने के लिए जिस प्रकार सोपान-परम्परा का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार वैदिक संस्कृति की प्राणभूत ब्रज-संस्कृति तक पहुंचने के लिए विश्व की विविध चिन्तन-धाराएं और मत तथा संप्रदाय अधिकारी-भेद के कारण उत्पन्न होकर, अपनी सार्थकता बनाये हुए हैं। संस्कृति शब्द का मुख्यार्थ तो केवल आर्य-संस्कृति ही है। अन्य स्थानों में जहां विकृतियों के लिए संस्कृति पद का प्रयोग हो, उसे गौण या लाक्षणिक ही समझना चाहिए।

संस्कृति पद का ही व्युत्पत्ति लभ्य दूसरा रूप, संस्कार है। संस्कार का अर्थ होता है गुणों का आधान

करना। कोई भी वस्तु जब किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति का साधन बन जाती है, तो वह गुणवान कहलाती है। और जब वही वस्तु अभीष्ट की प्राप्ति में बाधक या प्रतिकूल हो जाती है तो दोष कहलाती है। अभीष्ट के प्रति अनुकूलता या प्रतिकूलता की दिशा ही किसी वस्तु के गुण या दोष होने का कारण होती है। समन्वय पद का यही अर्थ है। अभीष्ट की ओर सम्यक अर्थात शास्त्रविहित अनुकूल 'अय' अर्थात गति को ही समन्वय कहा जाता है। बहुत-सी विरुद्ध विकृतियों के क्रम-हीन मिश्रण या ढेर को समन्वय नहीं कहा जाता। शहर की अनेक विकृत और विरोधी वस्तुओं का मिश्रण या ढेर घूरे में देखा जा सकता है; परन्तु इसे वस्तुओं का समन्वय नहीं कहा जा सकता।

अतः आर्य-संस्कृति का प्राप्य, साध्य, प्रेष्ठ या अभीष्ट क्या है इसे समझ लेने से, इसी की रसात्मक परिणति व्रज-संस्कृति का स्वरूप भी स्पष्ट हो जायगा। वैदिक वाङ्मय में विविध यज्ञों द्वारा, अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओं को जो हवि, आज्य आदि समर्पण करके जिस अभीष्ट को पाने की आकांक्षा व्यक्त की जाती थी वह 'स्वर्ग' अर्थात् दुःख से असंभिन्न आनन्द ही तो था। सोमपान करके अमृत अर्थात् अमर हो जाने के उद्गार वहां भरे पड़े हैं। देवता के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसे पुरोहित, ऋत्विक्, होता और रत्न-धाता के रूप में वर्णन किया गया है। और इन सभी देव-विभूतियों को एक ही सद्वस्तु, आत्मा या ब्रह्म का स्वरूप माना गया है।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' का उद्घोष यही सिद्ध कर रहा है। उपनिषदों में यही आत्म-तत्त्व प्रधान रूप से प्रतिपादित हुआ है। यह आत्मा सत्, चित् और आनंद रूप है; वही एकमात्र वस्तु है और उसी अव्यक्त और अमूर्त्त से इस नाम-रूपात्मक मूर्त्त प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति और लय की लीला चलती रहती है। 'अयम् आत्मा ब्रह्म' कह कर अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। हम सभी इसी प्राप्य की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयत्न कर रहे हैं। कौन है, जो अमृत लाभ करके सदा बना नहीं रहना चाहता? कौन है जो इसी क्षण सर्वज्ञ नहीं होना चाहता? कौन है जो निरंतर आनंद की कामना नहीं करता? यही तो सभी प्राणियों की सत्, चित् और आनंद की नैसर्गिक खोज चल रही है। हम सभी चाहते हैं कि समग्र विश्व हमारे शासन में हमारी इच्छा के अनुसार चलता रहे। हम कभी दीन या दूसरे के अधीन न हों। एक शब्द में कहें तो कह सकते हैं कि जीवभाव की परिसीमाओं से मुक्त होकर हम ईश्वरत्व की स्थिति चाहते हैं। क्यों ऐसा ही चाहते हैं, इसके विपरीत क्यों नहीं चाहते इसका कारण यही है कि यही हमारा स्वाभाविक स्वरूप है और प्रत्येक वस्तु अपने नैसर्गिक रूप में ही रहना चाहती है। इस प्रकार लक्ष्य का निश्चय हो जाने पर, अपने अभीष्ट, प्रेष्ठ या साध्य को समझ लेने पर अब देखिए कि विश्व की इस ज्ञान-ज्योति का स्रोत कहा स प्रवाहित हुआ है।

ईश्वरत्व-प्राप्ति की आकांक्षा जहां क़ुफ़्र माना जाता है, अनल हक़ का घोष करने वाले सन्त जहां सूली पर चढ़ाए जाते हैं वहां इस ज्ञान-ज्योति का स्रोत खोजना निरर्थक है। व्यक्तिमूलक सभी मत भगवान् के पैग़म्बर या पुत्र तक पहुंच कर तर्क-युक्ति से घबड़ा जाते हैं। यह केवल आर्य संस्कृति की ही विशेषता है जहां तर्क और प्रमाण के आधार-धरा पर ही श्रद्धा और विश्वास का कल्पवृक्ष शोभा पा रहा है। इसीलिए अंध-विश्वास और जड़ रूढ़िवाद पर उगे हुए मत-मतांतर और झाड़-झंखाड़ यहां भस्म होते रहे हैं। जो सर्वशक्तिमान्, पुत्र या संदेशवाहक भेज सकता है वह स्वयं क्यों यहां आने में असमर्थ है, नर में ही नहीं, सभी मूर्त्तरूपों में प्रभु विराजमान हैं। वे स्वयं अवतार ग्रहण करते हैं और शाश्वत धर्म की स्थापना, साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश करते हैं---यह विचारधारा केवल वैदिक संस्कृति में ही उपलब्ध

है। **ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव** वेद की इस वाणी से लेकर, **एकोऽहं बहु स्याम। तच्च त्यच्च अभवत्। नाम रूपे व्याकर वाणि। द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्त्तं च अमूर्त्तं च।** इन औपनिषदिक पंक्तियों में अवतारवाद की स्वीकृति आर्य संस्कृति की सर्वप्रथम और अपनी विशेषता है। गीता में **संभवामि युगे युगे।** कह कर भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रज-संस्कृति का शिलान्यास किया है। यदि अन्य अवतार अंशकलाएं हैं तो 'कृष्ण स्तु भगवान्' स्वयं हैं।

२. **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः** भगवान् ने ही जन्म, गुण और कर्म-विभाग पूर्वक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की सृष्टि की है। गीता की यह उक्ति भी ऋग्वेद के 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' आदि का पुनराख्यान मात्र है। वर्णसंकर सन्तान को **संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।** कह कर गीता ने जहां एक ओर समाज की शुद्धि और मर्यादा का विधान किया है वहां भगवान् की प्राप्ति के मार्ग में——जो जीवन का एकमात्र सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है——कोई बाधा उपस्थित नहीं की है। **स्व स्व कर्माणि अभिरतः** एवं, **स्व कर्मणा समभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः।** तथा, **स्वधर्मे निधनं श्रेयः। परधर्मो भयावहः** के विधान द्वारा सभी उस भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं। श्रुति और स्मृति भगवान् की आज्ञाएं हैं। अतः, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का निश्चय केवल औपनिषादादि शास्त्र प्रमाण से ही हो सकता है। अन्य प्रमाण केवल उसकी रक्षा के लिए हैं। आर्य संस्कृति की यह दूसरी विशेषता है। वर्णों की यह व्यवस्था सर्वत्र विद्यमान है। देवों में भी, पशु, पक्षी और वृक्षों में भी यही व्यवस्था है।

३. वेद में गौ को 'अघ्न्या' या अवध्य कहा गया है। गोपाल कृष्ण तो **नमो ब्रह्मण्य देवाय, गो ब्राह्मण हिताय च। जगतहिताय कृष्णाय, गोविन्दाय नमो नमः।** के अनुसार गौ, ब्राह्मण के हितैषी कहे गये हैं। कविकुलगुरु कालिदास ने अपने रघुवंश के प्रारम्भ में ही दिलीप द्वारा नन्दिनी गौ की सेवा से रघु जैसे प्रतापी पुत्र की प्राप्ति वर्णित की है। ब्रज का तो अर्थ ही गोशाला या गोष्ठ है। गोधन से धनी ब्रज की प्रेम-मूर्त्ति गोपियों की मटकियों से माखन और दधि के प्रचुर सेवन से परिपुष्ट देहधारी कृष्ण ने ही कंस और चाणूर का मर्दन किया था। गोभक्ति और गौ में देवताओं का निवास मानना ब्रज-संस्कृति की तीसरी विशेषता है।

४. गीता में प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्ग कहे गये हैं। कर्मयोग तथा सांख्ययोग के द्वारा भगवत्प्राप्ति होती है। कर्मयोग के अन्तर्गत भक्तियोग आ जाता है। वेद में जो कर्मकाण्ड लौकिक भावफलों के लिये प्रधान रूप से अनुष्ठित होता था उसे निष्काम भाव से, भगवद् अर्पण बुद्धि से करने का विधान किया गया है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

कह कर कर्मयोग को ज्ञान के साथ एक स्तर पर उठा दिया है। **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः** में **सर्वं खलु इदं ब्रह्म** की उपनिषद्-ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। ब्रज-संस्कृति का यह समन्वयवाद उसकी विशेषता है।

५. मानव के पास दो ही शक्तियां हैं, जिनसे वह अपने ध्येय को प्राप्त करता है——रागतत्व और बुद्धितत्त्व। रागतत्व की अत्यधिक प्रधानता होने पर अर्थात् मूल में भी बुद्धि का संयम न रहने पर उन्माद या पागलपन की दशा हो जाती है। केवल बुद्धितत्त्व का अतिशय प्राधान्य होने पर मानव में सत्पथ पर चलने की प्रेरणा नहीं होती। पूर्ण मानवता के लिए दोनों का उचित विकास और समन्वय अपेक्षित है। सत्त्व की विशुद्ध भूमि पर जब बुद्धि स्थित हो जाती है तब उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा जाता है। उस समय वह एक-

मात्र सद् वस्तु, आत्मा या चिति के, अतिरिक्त किसी का ग्रहण नहीं करती। रागतत्त्व भी जब विशुद्ध सत्त्व की इस भावभूमि पर पहुंच जाता है तब भगवान् अर्थात् आत्मा के आनंदरूप में परिणत होकर वह भी अद्वैतावस्था में स्थिर हो जाता है। अधिकारी-भेद से सामान्यतः मानव इनमें से किसी एक का अवलम्बन किया करता है। रागतत्त्व-प्रधान भक्त अपने श्रेष्ठ वासुदेव के अतिरिक्त किसी को नहीं देखता। देहाध्यास और क्षुद्र अहन्ता से रहित, प्रियतम के सौन्दर्य में मग्न ऐसा भक्त, जगत् की दृष्टि में उन्मत्त, विक्षिप्त, वृक्षवत् या पिशाचवत् देखा जाता है। बुद्धि की पराकाष्ठा में भी ये सब लक्षण पाये जाते हैं। भेद केवल इतना ही है कि ज्ञानमार्ग में मनोनाश की दशा होती है जब कि रागानुगा भक्ति में--प्रेमाभक्ति में--मनोनाश नहीं होता। मन की प्रियतम के रूप में परिणति हो जाती है। ऐसा भक्त आत्मसमर्पण करके देश-काल की सीमा से पार हो जाता है। भक्त और ज्ञानी दोनों एक अनिर्वचनीय आनन्द रूप हो जाते हैं। ज्ञान-मार्ग, राग के आधार अन्तःकरण को, ज्ञानाग्नि में भस्म कर देता है। अग्निदग्ध बन्धनरज्जु की भस्म रेखा के समान, अन्तःकरण का संस्कार परमतत्व की प्रेरणा से उसकी देह के समग्र कार्यकलाप को परिचालित करता है। शम पर प्रतिष्ठित ऐसा ज्ञानी, बाह्यक्रियाओं से रहित होकर भी भगवान् से अभिन्न होने के कारण उन्हीं के **दिव्य कर्म**—लोकरक्षा एवं संहार के कार्यों को, कर्त्तृत्व शून्य होकर भी करता हुआ प्रतीत होता है। आर्त्त जिज्ञासु, अर्थार्थी भक्तों में से, इसीलिए ज्ञानी भक्त को गीता में ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् कहा गया है। उसमें और भगवान् में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। वह निर्विशेष होकर भी निखिल-कल्याणगुणनिलय होता है। उपनिषद् में **सन्तमेनं ततो विदुः** कह कर ज्ञानी को ही मुख्यार्थ में 'सन्त' कहा गया है।

भक्तिमार्ग में हृदय की उन रागात्मक वृत्तियों को, जो जगत् की ओर उन्मुख होने पर बन्धन का कारण बनती हैं, भगवान् के सगुण रूप की ओर प्रवाहित किया जाता है। कोटि कन्दर्प से भी सुन्दर दिव्य भगवद्रूप की अनुकूल दिशा में, जब मानव की अहं, ममादि वृत्तियां, प्रभु की ही अहैतुकी कृपा से आकृष्ट और प्रवाहित हो जाती हैं, तव परमश्रेष्ठ के प्रेमोन्माद में मस्त भक्त, मोक्ष तक की कामना से मुक्त हो जाता है। मिलन के आनन्द की विस्मृति की अपेक्षा, निरन्तर प्रियतम की स्मृति कराते रहने वाले, प्रतिक्षण वर्धमान, विरह को ही वे अधिक श्रेयान् मानते हैं। दास्यासक्ति से लेकर कान्तासक्ति तक किसी आसक्ति की डोर से अपनी जीवन-नैया को कैवर्त्त कः केशवः के हाथ में छोड़ कर वे निश्चिन्त हो जाते हैं। वे भी **अनित्यमसुखं लोकभिमं प्राप्य भजस्व माम्** की प्रिय पुकार को सुन कर विराग अर्थात् विशिष्ट राग की परम उपादेय भूमिका पर पहुंच जाते हैं। जगत् की वे समग्र वासनाएं जो मन्मथ बनकर नर को नचाया करती हैं जब **साक्षान्मन्मथमन्मथः** का अमृत स्पर्श प्राप्त कर लेती हैं, तब दिव्य रूप में परिणत हो जाती हैं। प्रेमसाधना का यह दिव्य सिद्धि-पीठ, यदि त्रिभुवन में कहीं है, तो यह ब्रज-भूमि ही है, जहां भगवान् की दिव्य लीलाओं का शाश्वत अभिनय सदा होता रहता है। राग की सत्त्व भूमि पर पहुंचे हुए प्रेमिक भक्त कोटिक हू कलधौत के धामों को यहां के करीर के कुंजन पर वारा करते हैं और अपने घनश्याम के अपरिमित सौन्दर्य और दिव्य लीलाओं के अमृत को छक कर आत्मारामाः निर्ग्रन्थाः मधुसूदन सरस्वती एवं शुकदेव के समान मुनिगण एक स्वर से पुकार कर कह उठते हैं--**कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहम् न जाने।** ब्रज के प्रति रंचमात्र अनुराग रखने वाले व्यक्ति क्यों कहीं अपने 'आराध्य' ढूंढ़ने के लिए अन्यत्र निकलते हैं? **'रसौ वै सः। रसं ह्येव लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।**

अलसी पुष्प संकाशं, पीतवाससमच्युतम्।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं, न तेषां विद्यते भयम्॥

प्राणकान्तार पाथेयं, संसारोच्छेदभेषजम्।
दुःख शोक परित्राणं, हरि रित्यक्षर द्वयम्।।

अखिल देवाधिदेवों के भी परम आराध्य ऐसे आलम्बन को छोड़ कर 'हमारे आराध्य' और कौन हो सकते हैं ? परन्तु :

जन्मान्तर सहस्रेषु तपोध्यान समाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णेभक्तिः प्रजायते ।।

यह भी तो सत्य है। ब्रज के अधिष्ठातृ देवता, सौन्दर्य, रस और प्रेम की आनन्दघन-कादम्बिनी, हमारे ब्रज के आराध्य तो देवकीपुत्र वासुदेव ही हैं। क्योंकि :

न वासुदेवात् परमस्ति मङ्गलं
न वासुदेवात् परमस्ति पावनम्।
न वासुदेवात् परमस्ति दैवतं
तं वासुदेवं प्रणमन्न सीदति।।

त्रिभुवन के आराध्य, लीलापुरुषोत्तम, भगवान श्रीकृष्ण की लीलास्थली पावन ब्रज धरा ही है। यह उसका ऐसा वैशिष्ट्य है जिसके अन्तर्गत अन्य सभी कुछ आ जाता है।

ऐसा ब्रज कहां है ? क्या चौरासी कोस की सीमा से परिसीमित भूमि-क्षेत्र में ही, अनन्त भगवान की अनन्त लीलाएं परिसमाप्त हो गई हैं ? इस भूमिखण्ड को भारत की अखण्ड-पुण्यभूमि से पृथक करके केवल शौरसेनी की मधुमती पुत्री की प्रगति से ही ब्रज-संस्कृति की क्या रक्षा और विकास हो जायगा ? ऐसी बात नहीं है। जहां-जहां गौओं की भक्ति होती है; उनकी रक्षा और धर्म-बुद्धि से, केवल अर्थ और काम-बुद्धि से ही नहीं––उनकी पूजा-अर्चा होती है वह सब भूमि, ब्रजभूमि है। वहां-वहां गोपाल भी विराजमान हैं। जहां ऐसा नहीं होता, वहां केवल कंसादि असुरों का शासन समझना चाहिए। 'सबै भूमि गोपाल की या मैं अटक कहा ?' का उद्घोष सुन कर भी श्रीकृष्ण-सेना के शूर सैन्य कैसे यहां अटक सकते हैं ? दक्षिण में प्रेम-मग्ना आण्डाल और आड़वार सन्तों की रंगभूमि को ब्रज से पृथक् क्या कहा जा सकता है ? मीरा, सूर, शंकर, चैतन्य, रामानुज, निम्बार्क आदि की ज्ञान-लक्षण-भक्ति अथवा भक्तिलक्षण-ज्ञान की वाणियां, श्रीकृष्ण की लीलाओं की झंकार जिस भी वाणी में कर गई हैं वे सब ब्रजभाषा हैं और वह सब क्षेत्र ब्रजभूमि है।' 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र निवसामि नारद,' सुनकर भी हम ब्रज-साम्राज्य का संकोच क्यों चाहते हैं ? जहां-जहां गोपाल रहे हों और अपनी लीलाएं करते रहे हों, यदि वह ब्रज नहीं है तो फिर ब्रज कहीं नहीं है। हम कह चुके हैं कि ब्रज-संस्कृति आर्य संस्कृति ही है। और 'कृण्वन्तु विश्वमार्यम' के विधि-वाक्य की अवहेलना करके कौन विज्ञ प्रत्यवाय का भागी बनना चाहेगा ? जो देश आज अनार्य हो गये हैं, वृषलत्व को, ब्राह्मणों के अदर्शन के कारण ही, प्राप्त हो गये हैं, उन्हें पुनः संस्कृत करके आर्य बनाना ही होगा, राम और श्रीकृष्ण की भक्ति और ज्ञान उन्हें सिखाना होगा। कंस, जरासन्धादि असुरों के राज्यों को ध्वंस करके पुनः धर्मपुत्र, धर्मयुद्ध में स्थिर रहनेवाले, किसी युधिष्ठिर को मूर्धाभिषिक्त करके धर्मसाम्राज्य की प्रतिष्ठा करनी ही होगी और उसी के अन्तर्गत सब को बसाना होगा। अर्जुन का गाण्डीव और श्रीकृष्ण का पांचजन्य यही संदेश दे रहे हैं। ●

मलखानसिंह सिसौदिया

ब्रज-संस्कृति और विश्व को उसकी देन

वैसे तो प्रशासनात्मक दृष्टि से भारत राज्यों, मण्डलों एवं जनपदों में विभाजित है, किन्तु इस विभाजन को कृत्रिम ही कहा जायगा। इससे भिन्न एवं अधिक महत्वपूर्ण एक प्रकार का और विभाजन है, जिसे चाहे शासकीय स्तर पर स्वीकृति भले ही न मिली हो किन्तु जो एक क्षेत्र-विशेष के जनसमूह की भावात्मक एकरूपता का द्योतक होता है। इसका आधार स्थूल न होकर सूक्ष्म होता है। वह आधार सांस्कृतिक एकधर्मिता है। उसका संबंध उस क्षेत्र की आत्मा से होता है, जो काल-परिवर्तन से निरपेक्ष होती है। ऐसे विभाजन में प्रत्येक खण्ड के मूल तत्व अपने में विशिष्टता लिये हुए दूसरों से भिन्न होते हैं। यह मूलतत्व ही मिलकर किसी विशेष संदेश के वाहक बन जाते हैं और यह संदेश ही उस क्षेत्र की संस्कृति का प्रतीक होता है। इस संदेश और मूलतत्वों की महत्ता से ही उस सांस्कृतिक क्षेत्र की महत्ता प्रकट होती है। उदाहरण के लिए अवध संस्कृति के क्षेत्र की अपनी विशिष्टताएं और अपना संदेश है, बुन्देलखंड सांस्कृतिक क्षेत्र की अपनी विशिष्टताएं हैं और अपना संदेश है। मैथिली और राजस्थानी संस्कृति की अपनी-अपनी विशिष्टताएं एवं संदेश है। इसी प्रकार ब्रज-संस्कृति की अपनी विशिष्टताएं और अपना संदेश है। यदि यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण न मानी जाय, तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि ब्रज-संस्कृति का संदेश सर्वथा निराला सार्वजनीन और सार्वयुगीन है।

वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत तथा हरिवंशादि पुराणों में 'ब्रज' शब्द का प्रयोग 'गोचरभूमि, वन' अथवा 'पशुओं का बाड़ा' के अर्थ में किया गया है। पुराकाल में ब्रजमण्डल शूरसेन जनपद के नाम से अभिहित किया गया था, जिसमें वर्तमान काल में मथुरा (मधुबन) और उसके आसपास का क्षेत्र आता है। राजस्थान और हरियाणा का कुछ भाग भी इसमें सम्मिलित है। प्राचीन काल में आगरा 'अग्रबन' था, जो ब्रजमण्डल का अंग है। इस भूखण्ड में नैसर्गिक सौन्दर्य से परिपूर्ण अनेक वन एवं चरागाह थे, अतः इसके निवासी खानाबदोश गो-पालक थे। निर्मल झीलों, सुन्दर सरोवरों, तीन भिन्न रंग की पहाड़ियों, कदम्ब, शमी, बट और तमाल के हरे-भरे वनों के मनोरम एवं स्वच्छन्द वातावरण के प्रभाव में वे मुक्त हृदय, उल्लासमय जीवन के पोषक बन गये, जिसमें प्रेम, सौन्दर्य, नृत्य और संगीत का प्राधान्य था। उनमें संकीर्णता नहीं उदारता थी; रूढ़िप्रियता नहीं, गतिशीलता थी; कृत्रिमता नहीं, सहज स्वाभाविकता थी और छलछद्म नहीं, निश्छलता थी, वे सहयोग, सहजीवन और प्रेमभावना के मूर्तिमान प्रतीक थे। उन्होंने अपने को किन्हीं कठोर सामाजिक बन्धनों में नहीं बांधा था। इस प्रकार वे गतिशील जीवन के उपासक बन गये जो 'ब्रज' शब्द के गत्यर्थक भाव को संकेतित करता है। 'ब्रज' का अर्थ गतिशीलता है और ब्रजवासियों के जीवन में भी रूढ़िबद्धता नहीं, गतिशीलता थी, जो उस युग के रूढ़िग्रस्त समाज के लिए नितान्त नवीन और अद्भुत थी। देश के तत्कालीन संकीर्णताग्रस्त समाज को इस भूखण्ड के उदार मानवतावादी एवं लोकमुखी जीवन-मूल्यों से नई स्फूर्ति और प्रेरणा मिली और एक-एक महापुरुष के असाधारण व्यक्तित्व के कारण उनके प्रति सारा भारत आकर्षित हुआ। यह अपनी ही तरह की एक सामाजिक, आध्यात्मिक एवं राजनीतिक क्रान्ति का उद्भव था। परिणामस्वरूप इस काल में ब्रजखण्ड सारे देश का प्रेरणा-केन्द्र बन गया।

ब्रजखण्ड का यह गौरवपूर्ण काल कृष्ण-युग था। वस्तुतः ब्रज-संस्कृति के शिल्पी कृष्ण थे और उनमें

ही इसका चरमोत्कर्ष मिलता है, अतः वही इसके प्रतीक बन गये। ब्रज-संस्कृति कृष्णमय है। उनसे अलग इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। यह बात किसी धार्मिक भावना के अन्तर्गत नहीं कही जा रही है, अपितु शुद्ध लौकिक दृष्टि से उस काल की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कही जा रही है। कृष्ण के बहुमुखी व्यक्तित्व ने ब्रजवासियों को नये नैतिक मूल्य दिये, जो उस युग की मान्यताओं से मेल नहीं खाते। उन्होंने जाति और श्रेणी के भेदभाव से मुक्त नई आचार-पद्धति दी, जिसमें स्वाभाविक प्रेम का प्राधान्य था और जिसमें नारी-पुरुष के सामाजिक मिलन में ऊपर से थोपी गई निषेधात्मकता और वर्जनशीलता नहीं थी। निश्चय ही वह प्रेम राजभवनों की कृत्रिमता में आवद्ध वासनामूलक आभिजात्य प्रेम नहीं था, वरन उसमें जीवन की सहजता थी और रूढ़ि, नैतिकता के प्रति विद्रोह था। उसमें मानसिक कुंठाएं और ग्रन्थियां नहीं थीं। जीवन के कर्मक्षेत्र और प्रकृति के मुक्त प्रांगण में वह स्त्री-पुरुष का ऐसा मिलन था, जो दीवारों के भीतर बन्दी नहीं रहता है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही ब्रज-संस्कृति के मूल में जड़ विधि-निषेधों के प्रति उपेक्षा भाव और उदार मानवीय संबंधों के प्रति आग्रह मिलता है। उसमें नारी और पुरुष समान स्तर पर एक दूसरे के पूरक हैं।

कृष्ण का व्यक्तित्व क्रान्तिकारी था। उन्होंने राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक और धार्मिक क्षेत्रों में अस्वस्थ रूढ़ियों और परम्पराओं को तोड़ा, निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध जनतंत्रात्मक संघर्ष किया, कंस के अन्यायपूर्ण राजतन्त्र को समाप्त कर और गणतन्त्र को पुनर्जीवन देकर जनमत को सशक्त किया। उन्होंने सामाजिक भेदभावों को कम किया, धर्म को जीवन की आवश्यकताओं से सम्बद्ध किया और परिस्थिति-निरपेक्ष आदर्शवादी चिन्तन के स्थान पर परिस्थिति-सापेक्ष यथार्थवादी चिन्तन को प्रधानता दी। उन्होंने कर्म और चिन्तन तथा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में समन्वय किया। कृष्ण की मुरली माधुर्य प्रेम और मिलन की प्रतीक थी और अर्जुन के प्रति उनका उपदेश फलासक्ति से रहित कर्मशीलता का संदेश था। ब्रज-संस्कृति के अंतर और बाह्य का निर्माण भी इन्हीं उपकरणों से हुआ है। उसका कर्मरत जीवन से निकट का संबंध है। संसार को वास्तविक और यथार्थ मानकर उसमें इहलौकिक मूल्यों को प्रधानता दी गई है, जो उच्चतर स्थिति का भी संस्पर्श करते हैं। वह दैनन्दिन जीवन में सरसता और माधुर्य का पोषण करती है। निश्चय ही उसमें युद्ध-प्रियता नहीं शान्ति-प्रियता है। यद्यपि उसमें रौद्र, बीभत्स, और वीर-रस के स्थान पर हास्य, वात्सत्य, श्रृंगार और अद्भुत को अधिक महत्ता दी गई है, किन्तु वह दुर्बल जन की पलायनवादी संस्कृति न होकर कर्मरत जन की संस्कृति है। यह उस जनसमूह की संस्कृति है, जो गोपालक है, कृषक है, समाज में अपने अस्तित्व के प्रति सजग है, निरंकुशता के विरुद्ध जनतन्त्री भावनाओं से परिचालित रहता है और जो सामूहिक उद्योग में आस्था रखता है। इसमें कृष्ण के साथ गौ अर्थ स्वास्थ्य कां प्रतीक है। इसका प्रतिनिधि पक्षी मोर प्रकृति से निकटता एवं सुन्दरता का द्योतक है। कृष्ण ने दूध, दही और मक्खन बेचने की वणिक वृत्ति को नष्ट करने का प्रयास किया। बलराम का हलधर रूप भी सप्रयोजन है। इस प्रकार ब्रज-संस्कृति जीवन के वैविध्य से परिपूर्ण है।

ब्रज-संस्कृति मूलतः व्यक्ति-प्रधान न होकर समष्टि-प्रधान है। वह उच्चवर्गीय और सामन्तीय नहीं, अपितु सर्वसाधारण की संस्कृति है। उसका दर्शन आह्लादपूर्ण जनजीवन का दर्शन है। अतः सामाजिक, धार्मिक एवं कलात्मक समारोहों तथा उत्सवों में किसी वर्गगत अलगाव की भावना उसमें नहीं मिलती। ब्रज का प्रसिद्ध संगीतरूपक रास और प्रसिद्ध राग रसिया सामूहिकता एवं लोकधर्मिता के प्रतीक हैं। यह जन-जीवन से दूर राजदरवारों के रागरंग में वनिता और वारुणी द्वारा केवल एक सुविधा-प्राप्त वर्ग के मनो-

रंजन के साधन नहीं हैं, अपितु इनमें बिना किसी भेदभाव के प्रकृति के खुले वातावरण में सामूहिक रूप से स्त्री-पुरुष भाग लेते हैं। ब्रज की होली सारे भारत में अपने ढंग की निराली है। इसमें भी स्त्री-पुरुष एवं समाज के सभी वर्गों के स्वस्थ संबंधों की झलक मिलती है। इसी प्रकार श्रावण मास के झूलनोत्सव का अपना ही आह्लादकारी आकर्षण है। ब्रजखण्ड में ऋतुओं और मासों की विशिष्टताओं के अनुसार त्यौहारों, उत्सवों और मेलों के आयोजन इस संस्कृति की जीवन्तता एवं सम्पन्नता के परिचायक हैं। वर्ष में एकाधिक वार की जाने वाली सांस्कृतिक यात्राएं, जिनमें देश भर से लाखों स्त्री-पुरुष सम्मिलित होते हैं, ब्रजभूमि और उसके प्राकृतिक सौन्दर्य से निकटतम सम्पर्क रखने के साधन हैं। ब्रज-संस्कृति का यही उन्मुक्त लोकवादी स्वरूप उसका अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष है। यही कारण है कि आज भी ब्रज के इन समारोहों का आकर्षण यथापूर्व बना हुआ है और सारे भारत से विभिन्न अवसरों पर प्रतिवर्ष लाखों यात्री इनका रस लेने को आते हैं। ब्रजभूमि में पहाड़ियां, मैदान, वन, जलाशय जैसे स्वतः समन्वयशील हो जाते हैं।

ब्रज-संस्कृति बौद्धिक न होकर भावनात्मक है और इसकी प्रेरणा रचनात्मक है। इसलिए इसमें साहित्य और कलाओं के विकास के लिए उपयुक्त उपकरण मिलते हैं। ब्रजभाषा का साहित्य सम्पन्न है। उसकी मूल-भावना समर्पणशीलता है। संगीत, नृत्य एवं अभिनय तो ब्रज-संस्कृति के प्राण हैं। मूर्तिकला, चित्रकला और स्थापत्यकला के अत्यन्त भव्यरूप समस्त ब्रजखण्ड में मिलते हैं। मानवजाति की आदिम मनोवृत्ति प्रेम है। सृष्टि के निर्माण और विकास के मूल में यही वृत्ति है। इस वृत्ति का परिष्कृत स्वरूप, जिसमें उच्च-जीवन-मूल्यों का समावेश है, ब्रज के साहित्य और उसकी कलाओं में देखने को मिलता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है ब्रजखण्ड का राजनैतिक स्वरूप गणतन्त्रात्मक ही रहा है। इसके निवासियों में शासक-शासित अथवा दास्य का भाव नहीं अपितु समतामूलक सख्य-भाव मिलता है। वे प्रकृत्या सहृदय एवं स्वतन्त्रता-प्रिय होते हैं। जनसमूह का यह स्वभाव इसके साहित्य और नाट्य-अभिनय आदि में स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसको दूसरे शब्दों में ब्रज-संस्कृति की प्रकृति भी कहा जा सकता है।

विश्व को ब्रज-संस्कृति की देन गुणात्मक रूप में बहुत महत्वपूर्ण और मूल्यवान है। यह बात कहने में कुछ अटपटी लग सकती है, किन्तु है यह एक वास्तविकता कि पुराकालीन ब्रज-संस्कृति के भाव-बोध का स्वरूप बहुत-कुछ आधुनिक युग के अनुकूल है। जिस परिवेश और जिन परिस्थितियों में इस संस्कृति का निर्माण और विकास हुआ, उनमें और आधुनिक युग की परिस्थितियों में मूलतः विशेष अन्तर नहीं है। आज के युद्ध, भय, अविश्वास, कटुता, वैमनस्य तथा शारीरिक एवं मानसिक तनावों से ग्रस्त विश्व को यह संस्कृति प्रेम, माधुर्य एवं मिलन का संदेश देती है। इसकी समर्पण-भावना मानव की वह उच्चतम स्थिति है, जो लोक-मंगल की साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसकी मुख्य वृत्तियां सेवा एवं स्नेहशीलता हैं, जो मानव-जाति के अस्तित्व का ही आधार हैं। इसकी सत्यम्, शिवं और सुन्दरम् की भावना जीवन के यथार्थों से सम्बद्ध होने से मानव के लिए अत्यन्त उपादेय है। यह संस्कृति प्रेम के आधार पर भेदों-विभेदों में अभेदता और अनेकता में एकता का कल्याणकारी मूलमंत्र लिये हुए है। मानवसमाज के लिए योग और भोग तथा विराग और राग दोनों की अतिशयता चिंतनीय बन जाती है, क्योंकि अन्ततोगत्वा एक जीवन को निषेधात्मक बनाकर रिक्तता की स्थिति उत्पन्न कर देती है, तो दूसरी उसे मोहाविष्ट बनाकर पतन की ओर ले जाती है। ब्रज-संस्कृति दोनों की अतिशयता में सन्तुलन का संकेत देती है। इसके साथ ही वह चिंतन और भाव में साम्य के लिए भी प्रेरित करती है। वस्तुतः ब्रज-संस्कृति में मस्तिष्क-तत्व की अपेक्षा हृदय-तत्व अधिक है। आज के विश्व के अधिकांश संकटों का कारण इस हृदय-तत्व का अभाव ही है। अतः विश्व

के लिए यह तत्व अत्यंत वांछनीय है। जीवन-संघर्ष की विषमता के कारण आज मनुष्य निराशा और कुण्ठा से ग्रस्त हो गया है। इस स्थिति में ब्रज-संस्कृति जीवन के प्रति आह्लादमय दृष्टिकोण अपनाने के लिए निर्देशित करती है। यदि मानव-समाज में आह्लाद को उचित स्थान दिया जाय तो हमारी बहुत-सी समस्या की उग्रता का शमन हो सकता है। उग्रता का शमन और शान्तिभाव का जनन ब्रज-संस्कृति की सर्वोपरि विशेषता है, जो आज के विग्रह-पीड़ित युग के लिए अत्यावश्यक है। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि मानव-जीवन को अधिक आकर्षक, अधिक सुन्दर, अधिक कर्मठ, अधिक व्यावहारिक तथा अधिक प्रेमपूर्ण और शान्तिमय बनाने की दिशा में अन्य क्षेत्रीय संस्कृतियों की अपेक्षा ब्रज-संस्कृति ने अधिक महत्वपूर्ण योगदान किया है।●

भवेश पचौरी

कोटिक हू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर बारौं

●

हर धरती में अपना एक वैशिष्ट्य होता है और हर माटी में अपनी एक महक। हर धरती का गगन अनंत है और हर अनंतता में निहित है एक रहस्यात्मक सौन्दर्य। हर धरती में जीवन-रस है और हर महक में अपनी मोहकता। गगन की इस अनंतता की गहराइयों में डूबती-उतराती महक भरी मोहक माटी की ज्ञान-पिपासा ने न जाने कितने दर्शनों को जन्म दिया है। इस माटी की भौतिकता और गगन की रहस्यात्मकता ने आध्यात्मिकता को न जाने कितना जीवन-रस-पाथेय प्रदान किया है। यह धरती, यह माटी, यह गगन और यह अनन्तता कितनी गरिमामयी, कितनी गौरवमयी और कितनी महिमामयी है; मानव से कहते नहीं बनता। फिर भारत की भूमि, इसकी धरती, इसकी माटी, इसके गगन, इसके वैशिष्ट्य, इसकी महक, इसकी अनन्तता, इसकी रहस्यात्मकता, इसके सौन्दर्य, इसके जीवन-रस, इसके अध्यात्म और दर्शन के क्या कहने! विश्व भर की संस्कृतियों की अग्रजन्मा इसकी संस्कृति है। विश्व-सभ्यता का प्रथम तूर्य घोष इसी माटी ने किया।

विश्व-संस्कृति का प्रथम सूर्य जब जन्मा था, इसकी प्रथम स्वर्ण किरण ने इसी धरती, इसी माटी को अपना प्रथम प्रणाम निवेदन किया था। इसी धरती के गगन में वेद-ऋचाएं सहज नर्तन कर उठी थीं और यहीं से आगे स्यात विश्व-संस्कृति का समारंभ हुआ था। यही है वह भारत भूमि––अग्रजन्माओं की धरती-शस्य श्यामला, वेदों की जन्मभूमि, गीता की गेय भूमि। क्यों न हो यह अनन्त गौरवमयी, महिमामयी और महनीय, जिसके दृढ़तम मूलाधार हैं––मर्यादापुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र और लीलापुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण। दोनों ने ही इस धरती को सब कुछ दिया है। लीला पुरुषोत्तम को पूर्णावतार कहा गया है, तब इनकी जन्मभूमि, लीलाभूमि, कर्मभूमि ब्रज को आप क्या कहेंगे? कौन-सी ऋचाएं इसकी संस्कृति का स्तवन करेंगी, कौन-सा नैरुक्त 'ब्रज' शब्द की निरुक्ति करने को आयगा और कौन भौमिक ब्रज की माटी की महिमा के मर्म को खोलेगा?

यहां समग्र दर्शनों का समन्वय हुआ और समस्त संस्कृतियों का सम्मिलन। विविध दिशाओं, विविध प्रदेशों से अनन्त श्रीविभूषित सर्वश्री निम्बार्काचार्य, रामानन्दाचार्य, बल्लभाचार्य, चैतन्य देव, सनातन, रूप, जीवगोस्वामिवर, हितहरिवंश, हरिदास स्वामी, नारायण भट्ट प्रभृति धर्माचार्य, सन्त, महात्मा, मनीषी और महर्षि ब्रज-माटी की महक से आकृष्ट होकर यहां आये। व्याकरण-मार्तंड दंडी विरजानन्द ने इसी धरती को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। श्रीमद्दयानन्द ने यहीं आकर गुरुदीक्षा ली। नारद, ध्रुव, अम्बरीष, वेदव्यास आदि पौराणिक महापुरुषों की तपश्चर्या के पावन-प्रतीक अद्यावधि इस मही के गौरव को गुरुता प्रदान कर रहे हैं। बौद्ध, जैन, शक, कुशाण और गुप्तकालीन इतिहासोत्कर्ष के प्रतीकों के रूप में यहां की पुरातत्त्व-निधि इस भूमि का गौरव गान करती है।

अकेले मथुरा मंडल में इतने देवालय हैं कि ब्रज को कोई मन्दिरों का देश भी कह सकता है। पुरातत्त्व के इन सहस्रों प्रतीकों की अपनी-अपनी सरस-कठोर कहानी है, अपना-अपना इनका इतिवृत्त है। भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन, भारतीय धर्मों और सम्प्रदायों की यदि सजीव-मूर्त्त झांकी लेनी हो, तो संस्कृति के इन मूक आरक्षी-प्रहरियों से दो क्षण बात करके कोई देखे। स्वर्ग की धरती पर अवतारणा के दर्शन करने हों, तो सावन-भादों के झूलनोत्सवों के समय इस माटी के पल-पल परिवर्तित पट का प्रेक्षण कीजिये।

आप यदि सैलानी हैं, तो थोड़ा ब्रज-बन-विहार करके देखिये। गिरिराज का गौरवमय रम्यरूप निहारिये। यदि आप कवि हैं, तो कहीं किसी एकान्तिक शिलाखंड पर क्षण-भर विराम करके देखिये, काव्य की निर्मल निर्झरिणी बहेगी। यदि आप वीतराग हैं, तो जरा मयूरकुटी पर रमिये। आप चिन्तक हैं, मनीषी हैं, तो कृष्णप्रिया कालिन्दी की रमणीय रेती में रमण कीजिये। आप भक्त हैं, तो आपको 'क्षण-क्षण बानिक और ही और' मिलेगा। आप तूलिकी हैं, तो खींच देखिये इस बानिक की कोई झांकी। कुछ न सही, आप मानव तो हैं ही, तो सीख लीजिये ब्रज की माटी से मानवता का भोलापन, निरीहता, दया, क्षमा, शील, और करुणा। सिधाई यहां बेमोल मिल जायगी आपको, हो सकता है आप अच्छे तार्किक हों, ब्रह्मवादी हों तब हृदय न सही, मस्तिष्क को लेकर खोजिये यहां अपने ब्रह्म को। मेरा दावा है कि आपका ब्रह्म यहां वंशी बजाता, गाय चराता, रास रसाता, ताता थेई नृत्य करता, ग्वाल-गोपियों के साथ करील कुंजों में आंख-मिचौनी खेलता मिलेगा। वह अशरीरी आपको कहीं गोदुग्ध-पान करता मिलेगा। कहीं वह मां से चंद्र-खिलौना के लिए मचलता मिलेगा और कहीं कंस-चाणूरादि दैत्यों की छातियों पर पाद-प्रहार करता दिखेगा। आप आँखें मलकर पुनः-पुनः देखेंगे तो लगेगा कि आप उद्धव हो गये हैं, और आपके ज्ञान की भारी गठरी करील कुंजों में खुलकर रह गई है और रस ही रस बह रहा है। आपको मस्तिष्क प्रणाम करता दिखेगा और सर्वोपरि हृदय आपके ज्ञान-गज पर आरूढ़ दिखेगा। झर-झर आपके नेत्र सावन-भादों-से बरसने लगेंगे। देख लिया न आपने ब्रज! अब आप ब्रजरज को माथे, और नेत्रों पर मल लीजिये। पदे-पदे भक्ति उमड़ी पड़ रही है यहां। कण-कण में राधा और कृष्ण और राधा-कृष्ण की जोड़ी आपको दिखती है।

प्रिया और प्रियतम, राधा और कृष्ण ब्रजभूमि के दो अनन्त छोर हैं, ब्रह्मांड के अथ और इति। कृष्ण-प्रिया यमुना इस माटी के दो कूल बना देती है। कल-कल बहती इस सरिता के दोनों तट नाना रंग-रूपों में राधा और श्याम के द्वैताद्वैत रूपों की मनोहारी छवि प्रस्तुत करते दिखते हैं। यह प्रवाह मानो श्री मद्भागवत का अक्षुण्ण प्रवाह है। एक तट पर वक्ता वेद व्यास हैं, तो दूसरा तट भागवत-भक्तों

से आकीर्ण है। एक कूल लोक है, तो दूसरा पर-लोक। एक तट ज्ञान है, तो दूसरा भक्ति। एक कर्म है, तो दूसरा सिद्धांत। एक चिन्तन है, तो दूसरा दर्शन। यहीं बसा हुआ है ब्रज लोक और यहीं हैं उसके उपजीव्य।

ब्रजभूमि के वृक्ष-पादप, लता-गुल्म, कुंज-निकुंज, नद-नदी, सर-सरोवर, बन-उपवन, करील-कुंज, कोकिल-कीर-कपोत-केकी-कूजित सघन द्रुमावलियां, चन्द्रसखी के शब्द-शिल्प पर उठती-थिरकती स्वर लहरियां, ग्रैवेयिक स्वरूप गिरिराज की महिमामंडित आभाश्री, कल-कल, छल-छल ध्वनित यमुना की लोल-लहरियां, लहरों पर ताल देता मत्त पवन, पवन पर थिरकते-मचलते वंशी-अलगोजों की स्वर-लहरी, स्वरों की मीड़ित अनुगूंज में स्वर्गोपम स्वर-माधुरी, माधुरी से भरे, खेत-खलिहान, चूल्हे-चौपाल-गली-कूंचे और गोबर लिपे आंगन, आंगन भरे नाच, नाचते हुए अल्हड़ कदम, इठलाता यौवन, गदराता कैशोर्य, घुटुरुअन दौड़ता दधिस्नात निष्कलंक बाल मुख, अस्ताचल की ओर ढुलकता परिपक्व वार्द्धक्य, सहज भोलापन, क्वारी सचाई, निष्कपट-निश्छल व्यवहार। हेला देते होठ और हाथ, गाली देते गाल, तनती ग्रीवाएं, उफनता उल्लासमय आनन सभी कुछ तो मधुर हैं।

यह उस कल्पनातीत, भावातीत, चिर-सौंदर्य का एक अंशमात्र है, एक झांकी भर है। एक ऐसा 'स्नैपशॉट' जिसे देख कर मीरा ममीरा बनकर रह गई, जिसे खोजते-खोजते सूरादि कवि नक्षत्र बन गये, जिसकी खोज में अनेक चिंतक, मनीषी और भक्तजन यहां आये और आकर यहीं रह गये, रम गये ब्रज की रज में। जिस रूप ने रहीम, रसखान, ताज बेगम जैसे अहिन्दुओं को भी परम वैष्णव बनाकर छोड़ा, उस रूप को क्या कहिये, कहते नहीं बनता। इसीलिये तो रसखान कह उठे:

कोटिक हू कलधौत के धाम करील की कुंजन पर वारौं।

ब्रज की रज की महिमा अनंत है और अनन्त है ब्रजलोक की माधुरी। बलिहारी इस ब्रज पर और इस ब्रजमाधुरी पर। ●

राधेश्याम द्विवेदी

ब्रज-संस्कृति में कदम्ब

●

ब्रज-प्रदेश ने अपने देश की वनश्री किंवा वनस्पति की समृद्धि को स्थिर रखने के लिए वन-संरक्षण को अपनी संस्कृति में प्रमुख स्थान दिया है। ब्रज की संस्कृति, ब्रज की लोक-परंपरा और यहां के आचार-विचारों का अनुगमन भारत के अन्य प्रदेश कसौटी मानकर करते थे। यहां के वनों के प्राचुर्य ने अन्य देशवासियों के सामने एक सुन्दर सुख-समृद्धि-दायक आदर्श रखा, जिसका जनता ने हार्दिक स्वागत किया। एक समय था जबकि सारा ब्रज-प्रदेश वनों से घिरा हुआ था:

पूर्वं हास्य वनं पुण्यं दक्षिणस्योपहारकम्
पश्चिमे जन्हु संज्ञाकम् भुवनास्यम् तथोत्तरे

अर्थात इसके पूर्व में हास्य वन, दक्षिण में उपहार वन, पश्चिम में जानुवन, उत्तर में भुवन वन थे और इन चार वनों से घिरा हुआ पूरा ब्रज-मंडल एक अत्यंत रमणीय, प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त और आनन्द-दायक वन्य प्रदेश था। ब्रज-मंडल में बारह वन, बारह उपवन थे। अनेक कदम्ब खण्डियां थीं, जिनकी रक्षा यहां के शासकों ने तथा ब्रजवासियों ने प्राणपण से की, क्योंकि ब्रज के ये वन जन-कल्याणकारी व प्राणिरक्षक थे। कालिन्दी का कलित कूल और कदम्ब के वृक्ष राजा से लेकर रंक तक को मोहित व आनन्दित करते थे।

वैसे तो ब्रज में ताल-तमाल, कुरबक, नाग, पुन्नाग, पाकर, सुपारी, प्रियाल, पनस, कोविदार तथा कल्हार, मल्लिक, यूथिका, मन्दार, कदम्ब आदि वृक्षों और पुष्पों का उल्लेख पौराणिक ग्रंथों में मिलता है, परन्तु इन सब में कदम्ब पुष्प का वृक्ष ब्रज के वनों में अत्यधिक होता था, और यहां के कदम्ब के अनेक वन व कदम्ब खण्डियां प्रसिद्ध व दर्शनीय थीं और आज भी पिसाया, श्यामढाक, उद्धवक्यार, सुनहरा की कदम्ब खण्डियां ब्रज की शोभा बढ़ा रही हैं। ब्रज का वर्णन जहां-कहीं भी पुराणों व साहित्य-ग्रंथों में, कवियों की रचनाओं में आया है, उनमें कदम्ब का वर्णन अत्यधिक मिलता है, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण ने इसे अपनाया है। अतएव ब्रज-मंडल की शोभा का वृक्ष कदम्ब ही है, जिसपर बैठकर भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी मधुर मुरली बजाई और गोपियों के चीर लेकर इस वृक्ष पर बैठे।

पद्मपुराण में कहा है :

कदम्ब मूलं आसीनं पीत वास समुद्भुतम्।
वनं वृंदावनं नाम नव पल्लव मण्डितम्॥

अर्थात भगवान श्रीकृष्ण पीताम्बर धारण किये नव-पल्लवों से मण्डित वृन्दावन में कदम्ब वृक्ष के नीचे विराजते थे। इसी प्रकार भागवत में भी कई स्थानों पर भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं के वर्णन में कदम्ब वृक्ष का संबंध बतलाया गया है। जब भगवान श्रीकृष्ण कालीनाग को नाथने को उद्यत हुए तब वे कदम्ब के वृक्ष से ही कालिन्दी में कूदे थे। संस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त भाषा के कवियों ने भी श्रीकृष्ण और कदम्ब का संबंध स्थान-स्थान पर वर्णन किया है, यथा,

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
जमुनाकूल कदम्ब की छैंया नित उठि धेनु चरावन।
श्री वृंदावन कुंज-कुंज में आंख मिचौनी भावन॥

गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने एक पद में कहा है :

कदम तर ठाड़े हैं पिय प्यारी।
मोहन के सिर मुकुट बिराजत, इत लहरिया की सारी।

कवि परमानन्ददासजी का पद देखिये :

बादर भरन चले हैं पानी
स्याम घटा चहुं ओर तें आवत, देखि सबै रति मानी
कदम वृक्ष अवलम्ब स्याम घन, सखा मंडली संग
बाजत बेनु अरु अमिय सुधासुर, गरजत गगन मृदंग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी की उक्ति देखिये :

कूकैं लगी कोयलें कदम्बन पै बैठि फेरि
धोये धोये पात हिलि हिलि सरसैं लगे

ब्रज कोकिल कविरत्न सत्यनारायणजी की उक्ति में कदम्ब वर्णन :

कमल केतकी जुही कुटज केसर प्रिय प्रफुलित
कुसुमित कलित कदम्ब करत वन उपवन सुरभित

वल्लभ कवि ब्रज के शोभा वर्णन में कहते हैं :

कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन, कूजल केकिन के गन ऐखें
तुंग तरंगित त्यों जमुना तहं, ता मंह सोर करें बहु भेखे

श्रीकृष्ण कवि ने अपने 'सरद सौरभ' ग्रन्थ में भी कदम्ब का वर्णन लिखा है :

सखी री लखौ यह कौतुक सरद में महा
पादप कदम्ब तर सुषमा अनूठी है
स्याम तहं ठाड़े स्याम नीलम लखात परै
अधर प्रबल दन्त हीरन कनूठी है

ब्रज के अनेक लोक गीतों में कदम्ब को प्रमुख स्थान दिया गया है। लोकगायक घासीरामजी का लोकगीत देखिये :

कोई लै गयौ चीर हमारे, जुलुम करि डारे
मदमाती तुम भई गुजरिया हौं इलजाम लगाऔ
ये तो फूल्यौ कदम हमारौ जाकों चीर बताऔ

दूसरा लोकगीत **"कदम्ब तर आय जइयौ कटीले काजर वाली"** तो प्रसिद्ध ही है।

संगीत के स्वरों में भी जब हम यह सुनते हैं :

ललित त्रिभंगी कदम तरु ठाड्यौ मोहत ब्रज की बाम,
बसुरिया यहां बजाई स्याम,

तो भगवान श्रीकृष्ण का चित्र नेत्रों के सामने उपस्थित हो जाता है। कविवर रसखान ने भी अपनी मनोकामना और चाहना में यही कहा है :

जो खग हों तो बसेरौं करौं नित कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन

इस प्रकार कदम्ब का वृक्ष ब्रज-संस्कृति का अभिन्न अंग और ब्रज के श्रीकृष्ण का प्रिय वृक्ष है। इसको हरिप्रिय और हलिप्रिय भी कहा गया है, क्योंकि यह भगवान कृष्ण और दाऊजी दोनों को ही प्रिय है।

कदम्ब के और भी अनेक नाम हैं, जैसे संस्कृत में कदंब, सुगर्भ, हरिप्रिय, जीर्णपर्ण, नीप, प्रियक, ललनाप्रिय, कादम्बवर्यः इत्यादि। यह कर्णपूरक सुगंधित पुष्पों का वृक्ष है, जो वर्षाकाल में ही फूलता है। यह न बहुत बड़ा होता है और न बहुत छोटा। अतः यह मध्यम ऊंचाई वाला वृक्ष होता है और अधिकतर पर्वतीय क्षेत्र में होता है। गिरि गोवर्धन की तलहटी और कालिंदी का फूल होने से ब्रज-मंडल में भी कदम्ब विशेष रूप से विद्यमान रहा, कदम्ब का पुष्प सफेद व कुछ पीले रंग का होता है। इसका आकार गोल होता है। इसके पुष्प पर पंखुड़ियां नहीं होतीं, किन्तु सुगंधित केशर या तन्तु चारों ओर होते हैं। इसकी जातियां भी अनेक हैं; यथा राजकदम्ब , धाराकदम्ब, धूलिकदम्ब, भूमिकदम्ब, आदि।

अष्टछाप के कवियों ने ही नहीं कालिदास, माघ, भारवि आदि संस्कृत के कवियों ने भी अपने काव्य-नाटक-ग्रंथों में प्रकृति के वनस्पति-वर्णन में कदम्ब को मुख्यतः वर्णित किया है। आयुर्वेदिक दृष्टि से भी इसका महत्व है। इसकी छाल तेज कड़वी, मृदु कसैली, कामोद्दीपक, शीतल, दुष्पच्य, दूध बढ़ाने वाली, विष-

निवारक व घाव पूरने वाली, गर्भाशय के रोगों, रक्त-रोग, कफ, पित जलन आदि में लाभदायक होती है। इसकी छाल सर्प-दंश-विष-नाशक होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कदम्ब का वृक्ष और पुष्प, यहां तक कि उसकी छाल के लोककल्याणकारी होने के साथ जन-आनंददायी होने के कारण ब्रजवासियों ने और ब्रजेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने इसे महत्व का स्थान दिया और यह ब्रज संस्कृति का अंग माना गया है। ●

गनेशीलाल बुधौलिया

होली-गीतों में ब्रज-संस्कृति का प्रभाव

●

हिन्दी वांङ्मय पर ब्रज-संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट है। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल की सगुणधारा की कृष्णभक्ति शाखा तथा रीतिकाल का श्रृंगार साहित्य राधा-कृष्ण की मधुर मोहक लीलाओं से तो ओत-प्रोत है ही, भारतीय लोकगीतों पर राधा-कृष्ण की छाप अमिट है। राधा-कृष्ण ब्रज-संस्कृति के प्रतीक हैं, उसके केन्द्र-बिन्दु हैं। ब्रज-संस्कृति का जितना मनोरम और हृदयग्राही स्वरूप भारतीय होली गीतों में मुखरित हुआ है उतना अन्य गीतों में नहीं। ब्रज की होली विशेषकर बरसाने की तो देश प्रसिद्ध है।

होली गीत हमारे लोकसाहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं, बाबू सम्पूर्णानन्दजी के शब्दों में :

"फाग के संबंध में लोकसाहित्य में जो रचनाएं मिलती हैं, वह लोकजीवन को बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित करती हैं। उनकी पंक्तियों में लोक-हृदय का स्पंदन सुन पड़ता है। स्त्रियों और पुरुषों की भावनाएँ छलक पड़ती हैं। प्रसुप्त आकांक्षाएं और वेदनाएं मुखरित हो उठती हैं, उनमें स्वाभाविकता है। इसलिए भाषा कभी-कभी उद्दण्ड हो जाती है, उन बंधनों को तोड़ देती है, जिनके द्वारा सभ्यता की आड़ में पनपती कृत्रिमता वाणी और मनोवेग को वंदी बनाकर रखना चाहती है।"[१]

यहां पर हमारा अभीष्ट है भारतीय होली गीतों में ब्रज-संस्कृति का प्रभाव। उसी पर हम संक्षेप में विचार करेंगे। कुछ प्रदेशों के होली गीत यहां प्रस्तुत हैं, जिनमें ब्रज-संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है।

कुमाऊं के पहाड़ी अंचलों में होली गीत बड़ी तन्मयता के साथ गाए जाते हैं।

एक गीत प्रस्तुत है : गोपी उपालम्भ—

जसुदा तेरो लाल बड़ो झगड़ी।
पाणी भरन गई वै रगड़ी।
दधि वेचण गई वै पकड़ी
जल कसके भरुं जमुना गहरी।

१—बुन्देली के फाग साहित्य के आमुख से।

राजस्थान का एक फाग गीत––फागुन का महीना रंगीन होली के साथ आ गया :

होली आई रंगीली रुत ल्याई
रमण न चालौ खेलन न चालौ जी
फागुण की रुत आई, मिलजुल के खेलौं भाई।
मानो मानो जी कुंवर कन्हाई, रंगीली रुत आई जी।
उड़े उड़े गुलाल, सारा हो गवो बेहाल, गावे गावे दे ताल
होली आई जी।

गुजराती का होली गीत––गोपी अपनी सहेली से कन्हैया से होली खेलने का आग्रह कर रही है :

सखी चलौ सांवला थीं रमियें होली।
लाल के पाणो ने ग्वाल घणा छे राधा अकेली ने भोली।
केसर कुंकुम अतर अरगजा, ले चालो रंग घोली।
राधा-माधव होली रमशें, आपण आंख मिचौली।

बंगला का होली गीत––फागुन का मस्त महीना, सघन कुंज वन, नक्षत्रों सहित पूनम का चांद। ऐसे मादक वातावरण में केशर-अबीर की होली :

गमन इच्छत सोई ठाम
सखी खने विनदिनी कांति जिनि सौदामिनी।
ताहे चित्त अरुण बसंत ठी छले पूर्ण चंद्र
संगलइया तारा वृन्द, ते छे घनी जाय कुंज वन।
बहु विधि यन्त्र सगे, कुमकुम अबीर अगे
निरखई गोवर्द्धनदास।

बघेली गीत––केसर का उड़े फुहारा, कदम तर भीजे सांवरी मूरत।
कै मन केसर तोहरे बिरज मा, कै मन उड़े फुहारा।
कदम तर भींजे सांवरी मूरत।
नौ मन केसर हमरे बिरज मा, नौ मन उड़े फुहारा।
कदम तर भीजे सावरी मूरत।

भोजपुरी––मो मैं रंगा न डारो स्यामलिया।
मैं तो ऊसई रंग में डूबी लला, मो पै रंगा न डारो स्यामलिया।[1]

बुन्देलखंड तो ब्रज का प्रतिवेशी है ही, वहां के होली-गीतों पर ब्रज-संस्कृति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

ब्रज की होली का एक दृश्य-चित्रण बुन्देलखंड के प्रसिद्ध फागकार ठाकुर भुजबलसिंह की एक छन्दयाऊ फाग में द्रष्टव्य है :

ब्रज में हो रई फाग सुहाई, चलौ देखिए भाई !

---

[1] होली गीतों के उदाहरण––आचार्य श्यामसुंदरजी 'बादल' के 'बुंदेली के फाग साहित्य' से साभार

छन्द—जमुना के तीर, गोपिन की भीर, मारत अबीर, भर भर झोरन।
लई पिचक खींच हो गयो कीच, ब्रज बीच बीच गलियन खोरन।
उड़ान—रंग की मार मचाई।
टेक— भए सरबोर गोप और गोपी, रहे सकल मिल गाई।
छंद— बजे बीन चंग, मुंह चंग संग, ढोलक मृदंग सम से गावें।
हो रओ उमंग, दिल होत दंग, लै लै के रंग हरि पै धावें।
उड़ान—लीला करत कन्हाई।
टेक— लै कें राधे के गालन पै लाल गुलाल लगाई। ब्रज में०
छंद —लै कें गुलाल, श्री नन्दलाल, सखियन पै घाल, अघ सकल हरैं।
जसुदा कुमार ब्रज में मुरार, नित नई रार, प्रभु चरित करैं।
उड़ान—भक्तन के सुखदाई।
टेक— भुजबल सिंह चरन के सेवक रह गए ध्यान लगाई।। ब्रज में०

स्वस्थ रोमांस इस लोकगीत में छलका पड़ता है। इस लोकोत्सव में लोकवाद्य के साथ ब्रज की पुनीत लोक-संस्कृति दर्शनीय है। बुन्देलखंड में होली के लोकगीतों का बहुत प्रचार है। गांव-गांव में फागकार हैं। लगभग सभी फागकारों में ब्रज-संस्कृति की माधुरी की मिठास वहां के लोकमानस को आकर्षित करती है। राधा-कृष्ण के माध्यम का आश्रय लेकर न जाने कितने होली गीत लिखे गए हैं। प्रणय-व्यापार के सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभाव श्लील और अश्लील की मर्यादाओं से परे इन लोकगीतों में बड़े सुन्दर ढंग से उभारे गये हैं।

कृष्ण ने राधा से होली खेलने का सप्रेम अनुरोध किया है। भला राधा इस निमंत्रण को कैसे ठुकराती!

बुंदेलखंडी सूर-श्याम की एक फाग देखिए:

चलिए खेलन होरी, मोहन टेरत राधा गोरी।
सुन्दर रंग बना केसर को, भर गुलाल की झोरी।
श्री वृषभानसुता तुम मानों, अरज आज यह मोरी।
गई ब्रजबाल नन्द लाला पै, करन लगी बरजोरी।
कंचन घट भर भर कें डारत, मलत कपोलन रोरी।
'सूर स्याम' राधापुरवासी सरन स्यामरे तोरी।।

बुंदेली लोककवि ईसुरी की एक फाग में सौतिया डाह उभर कर रह गया है:

जैयो उतईं कुंवर कन्हाई, जां सब रैन गवांई।
अब हो चुकी हमारी तुम्हरी, इतईं सें भेंट भलाई।
चुन चुन कलियां सेज लगाई, सब रत दिया जराई।
'ईसुर' कऊं ना सुनी निबातन, सौतै सौत सुहाई।

प्रणय की मधुर फटकार मानो मुखरित हो उठी है। कलियों की सुंदर सेज कितनी सुरुचि के साथ सज्जित की और प्रतीक्षा में रात भर दिया जलता रहा, फिर भी श्याम न आये। गोपी की प्रतिक्रिया स्वाभाविक है।

बुंदेलखंड की तरह ब्रज में भी अनेक इस प्रकार के लोक-गीतकार हैं। ब्रज के होली गीत प्रायः

रसिया में बदल गए हैं। ब्रज के रसिया वहुत प्रसिद्ध हैं। ब्रज के रसियाकारों की भांति बुंदेलखंड में भी रसिया लिखे गए हैं।

कितने संयोग की बात है यह कि सूरश्याम और चन्द्रसखी ब्रज की भांति बुंदेलखंड में भी हुए हैं। ब्रज के चालीस रसियाकारों में वारह रसियाकार ब्रज लोक-साहित्य के महाकवि हैं—गोविन्दप्रभु, कालिदास, कवीर, चन्द्रसखी, सूरश्याम, वृन्दावनहित, परमानन्द, आनंदघन, लछीराम, मीरा, नन्ददास और कृष्णदास। इन रसियाकारों में सूरश्याम और चन्द्रसखी भी हैं।

सूरश्याम की एक फाग हम पहले दे चुके हैं। बुंदेलखंडी चन्द्रसखी की एक फाग अपने कथन की पुष्टि में दे रहे हैं:

कान्हा कही हमारी मानों, गैल न झगड़ो ठानों।
हरे कुसुम की चूनर मोरी, फट जैहै न तानों।
दूरई रहौ हाथ न धरियो, पास कंस को थानों।
'चंद्रसखी' कयें गोरस लै लेव, जो रस आय विरानो।

प्रणय की डांट और नारी का पवित्र शील इस फाग में निहित है।

चन्द्रसखी के रसिया भी प्रसिद्ध हैं।

एक रसिया देखिए:

नेक ठाड़े रहौ रसिया रंग डारों।
अबीर गुलाल मलों मुख तोरे गुलचा गालन मारों।
चौल, चन्दन और अरगजा, घिस घिस तो पै डारों।
'चंद्रसखी' भज बालकृष्ण छब, तन मन धन तो पै वारों।

उड़ीसा की फाग प्रसिद्ध है, पर ब्रज में जो बरसाने की फाग है उसमें भारतीय लोकसंस्कृति की सहज मनोहर अनुभूति है। एक रसिया देखिये जिसमें बरसाने की होली का दृश्य-चित्रण है:

बरसाने में सांवरे की होरी रे।
लाल गुलाल लाल भए बदरा, मारत भर-भर झोरी रे।
कै मन तौ याने रंग घुरायो, कै मन केसर घोरी रे।
नौ मन तौ याने रंग घुरायो, दस मन केसर घोरी रे।
कौन गाम के कुंवर कन्हाई, बरसाने की गोरी रे।
कहा हाथ में कुंवर कन्हाई, कहा हाथ में गोरी रे।
ढाल हाथ में कुंवर कान्ह जू के, लठा चला रही गोरी रे।
कहा कर रहे ग्वाल बाल सब, कहा कर रहीं गोरी रे।
ढाल रोपि रहें ग्वालबाल सब, लठा चला रही गोरी रे।
बरसाने में सांवरे की होरी रे।

होली का यह मदनोत्सव कितना मादक और उन्मत्त कर देने वाला है! 'लठा चला रहीं गोरी रे' अंतिम पंक्ति में ब्रज लोकसंस्कृति की विशिष्टता सजीव हो उठी है। रसिया एक तरह के ग्रामीण मुक्तक हैं जिनमें श्रृंगार और वासना का विशेष संयोग है। होली गीतों का संबंध राग से है। लौकिक रुचि ने इन होली गीतों को लोकसंगीत में ढालकर रसिया का रूप दे दिया है और यही कारण है कि सूरदास के

पद और होली रसिया लोकगीतों में ढल गए हैं। रसिया की गायन शैली में उमंग और उत्साह के दर्शन होते हैं ।

उद्धव ब्रज-संस्कृति और साहित्य का विशिष्ट व्यक्तित्व है। साहित्य में 'भ्रमर गीत' की एक पुष्ट और सम्पन्न परंपरा रही है। होली लोकगीतों में भी 'भ्रमर गीत' का गुंजन है। एक होली अंत में देखिए।

उद्धव-गोपी-संवाद––

ऊधौ जब ऋतुराज हमारे, आवत व्यथा पसारे।
कोइल की कूकन सुन, मूँदत हम कानन के तारे।
भौंरन देख केलिन पै मींचत , दुइ नैनन के वारे।
कवि 'घनश्याम' कहत तब ऊधौ, इनने कहा बिगारे।
बोलीं, छली होत मिठबोला जे कारे रंगवारे।

गोपियों की विरह-वेदना , प्रणय व्यंग्य और अपने इष्ट के प्रति अनन्य प्रेम की व्यंजना व्यंजित हो रही है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय होली गीतों में ब्रज-संस्कृति का प्रभाव अपने सहज सलोने रूप में व्याप्त है । ●

३. ब्रज में भक्ति

चंद्रभान रावत

भक्ति संदर्भ में ब्रज

●

भक्ति संदर्भ––एक व्यापक सांस्कृतिक संदर्भ था। जीवन के रूढ़ मूल्यों के प्रति क्रांति, वर्गवादी धर्म की लोक-धर्म में परिणति, शास्त्राश्रित दर्शन का भावात्मक संस्कार, तथा अर्द्ध-मृत एवं बिखरी हुई सांस्कृतिक शक्तियों का पुनरुत्थान इस संदर्भ की विशेषताएं थीं। भौगोलिक दृष्टि से केन्द्र और परिधि का पूर्ण सामंजस्य घटित हुआ।

दाक्षिणात्य परिधि बौद्धिक उद्वेलन का अनुभव कर रही थी। दक्षिण के आचार्यों ने शांकर अद्वैतवाद या मायावाद के प्रति उत्कट बौद्धिक, शास्त्रार्थपरक प्रतिक्रिया की और प्रस्थानत्रयी का भक्तिपरक भाष्य करके शंकर के दार्शनिक आभिजात्य को चुनौती दी। इन आचार्यों ने, आरंभिक स्थिति में, भावान्वेषण आल्वार और नायनार भक्ति साहित्य में किया।[1] वहां की भक्तिधारा गुह्य तांत्रिक साधनाओं एवं यौन यौगिक (सेक्सो-यौगिक) अभिचारों से मुक्त रही। परिणामतः चाहे भावगत सघनता कम रही हो, पर आचार्यों

---

[1] ––दक्षिण में वैष्णव भक्ति-केंद्रों की स्थिति प्राचीन काल में भी थी। भंडारकर ने ई० पू० प्रथम शती से भी इनकी स्थिति मानी है।–वैष्णविज्म, शैविज्म एंड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृ० ६८–७०

ने बौद्धिक और दार्शनिक पद्धति से इसका अनुमोदन किया। श्री रामानुज ने स्थानीय स्रोतों एवं भागवत में भावान्वेषण किया। निंबार्क और वल्लभ की बौद्धिक चेतना भावान्वेषण और संदर्भान्वेषण के लिए केन्द्राभिमुख हुई। इनकी गति ब्रज की ओर हुई। माध्व-चेतना पूर्वी अंचलों में होकर ब्रज पहुंची। इस प्रकार शास्त्रार्थ की जटिल भूमियों में भटकती हुई बौद्धिक क्रांति का पर्यवसान ब्रज के भाव-संदर्भों एवं वहां की रसात्मक साधना में हुआ।

दूसरी ओर शैव और शाक्तों की गुह्य एवं उग्र साधनाओं के केन्द्र देश में बिखरे हुए थे।[१] पूर्वी परिधि में ये शक्तियां संक्रमण की स्थिति में थीं। वज्रयान, सहजयान एवं तांत्रिक साधनाओं के केन्द्रों से संकुल यह क्षेत्र वैष्णवीकरण की प्रक्रिया में था। वैष्णव सहजिया संप्रदाय, साहित्य की परंपराओं को अविरल माधुर्य के संप्लव में निमज्जित किये दे रहा था। पीछे इस धारा को स्वतंत्र दार्शनिक व्यवस्था भी मिली।[२] शुद्ध वैष्णवीय भावों और संदर्भों की खोज में गौड़ीय भक्त और आचार्य भी केन्द्राभिमुख हुए; [३] ब्रजभूमि में उनके अन्वेषण-केन्द्र बने।

इस प्रकार धीरे-धीरे, भक्ति-संदर्भ में ब्रज की केन्द्रीय स्थिति हो गई। उस समय केन्द्र मध्यदेश-ब्रज-स्तब्ध, आक्रांत और शक्ति-समन्वय की प्रतीक्षा में था।[४] केन्द्र ने परिधियों से आगत जिज्ञासुओं को समन्वय और संगम की सुविधाएं प्रदान कीं। पुराणोक्त ब्रजलीलाओं के संदर्भों को मांसल बनाया। ब्रजभाव, गोपीभाव, राधाभाव एवं सखीभाव की अनिर्वचनीय सरणियों का अनुसंधान इसी ब्रजभूमि में हुआ। ब्रज में विकसित सखीभाव के माधुर्य में राम-शाखा का मर्यादावाद भी खो गया[५] इस भाव ने मर्यादावादी राम-शाखा को नवीन संक्रमिति प्रदान की। नवीन भाषान्वेषण से निर्गुण धारा भी अप्रभावित नहीं रही।[६] इस प्रकार ब्रज की केन्द्रीय स्थिति महत्वपूर्ण हुई।

वैदिक प्रतीकान्वेषण——वैदिक स्रोतों के आधार पर ब्रज का भौगोलिक रूप नहीं, प्रतीकात्मक रूप ही अधिक उभरता है। 'सोम' शब्द अनेक प्रतीकार्थों और आध्यात्मिक अर्थों से समन्वित है। यही अस्तित्व की प्रथम अवस्था का द्योतक है। अव्यय पुरुष के मन, प्राण, वाक् आदि तत्व इसी में प्रतिबिंबित हैं।

---

[१] केंद्र ये थे : सिलहट——(श्रीहट्ट, आसाम), कामरूप, कामाख्या (आसाम), विक्रमशिला, नालंदा, पूना, श्रीपर्वत (कर्नाटक), (आबूअर्बुद, राजस्थान), जलंधर (पंजाब), ओडियान (पश्चिमोत्तर प्रदेश)। पूर्वी परिधि पर तांत्रिक बौद्ध धर्म, पश्चिमोत्तर में शैव-शाक्त साधनाएं, कश्मीर में प्रत्यभिज्ञा शैवमत, दक्षिण में शैव, शाक्त, बौद्ध एवं वैष्णव साधनाएं थीं।

[२] रूप, सनातन और जीव जैसे मर्मज्ञों ने प्रेमाभक्ति का शास्त्रीय निरूपण किया। बलदेव विद्याभूषण जैसे पंडितों ने भाष्य भी प्रस्तुत किये।

[३] चैतन्य, माधवेंद्रपुरी, रूप, सनातन आदि षट् गोस्वामियों ने ब्रज की यात्रा की।

[४] "मैं प्रस्ताव करना चाहता हूं कि मध्यदेश ने इसयुग में स्मार्त मत को पूरी तरह अपना लिया था। कुछ ज्ञात, अज्ञात, ऐतिहासिक शक्तियों के दबाव में इस प्रदेश को अधिक उदार एवं समन्वय प्रधान होना पड़ा था।" ——डा० देवीशंकर अवस्थी, बुलेटिन आफ़ द इंस्टीट्यूट पोस्ट ग्रैजुएट ईवनिंग स्टडीज, (१९६६) पृ० १०७–१०८

[५] अग्रदासजी ने गलताजी में रामभक्ति का नव संस्कार किया।

[६] उदाहरण के लिए शुक्र संप्रदाय को लिया जा सकता है।

'सोम' का एक वैदिक पर्याय 'गो' भी है। 'गो' का अर्थ किरण भी है। 'सोम' को गौओं का उत्पादक भी कहा गया है। गोतत्व का प्रादुर्भाव जन-लोक नाम के परमेष्ठी मंडल में हुआ। पुराणों में जनलोक ही 'गोलोक' है। अंततः गोलोक का अवतरित रूप ही ब्रजधाम रूप में मान्य है। ब्रज वही, जहां गौ रहे, बैठे या चले। ऋत्विक यजमान को सपत्नीक इसी लोक में भेजने की कामना करता है।[1] इस लोक में बड़े-बड़े सींगोंवाली, निरंतर गतिशील गौएं निवास करती हैं। इसी लोक में भगवान का परमपद प्रकाशित होता है। इस मंत्र में '**वृष्णः**' शब्द आया है। इसके संबंध में पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की यह टिप्पणी महत्वपूर्ण है: "हमारे एक मान्य पंडितजी कहा करते थे कि यहां 'वृष्ण' पद 'वृष्णेः' का ही परोक्ष रूप है। और वृष्णि पद भगवान कृष्ण का वाचक सुप्रसिद्ध है।"[2] पुराणों में श्रीकृष्ण को गोलोक धाम का अधिपति और वहीं का विहारी कहा गया है।[3] भक्ति-भावना के अनुसार रसावतार कृष्ण की नित्य लीला गोलोक में घटित होती रहती है। भक्त की भावना और **कसना** को तृप्त करने के लिए गोलोक और उसकी नित्य लीला ब्रजधाम, वृंदावन और ब्रजलीला के रूप में अवतरित होती है। इस प्रकार ब्रजभूमि के प्रतीकात्मक रूप की भौगोलिक परिणति सिद्ध होती है।

प्रतीकात्मक अर्थ का संक्रमण भौगोलिक अर्थ में, वेदों में ही होने लगा था। इसका धात्वर्थ 'जाना' है।[4] वेद में ही इसका अर्थ 'पशुओं का घेरी' (बाड़ा) हो गया। अमरकोश में ब्रज गोष्ठ, मार्ग और समूह का द्योतक हो गया। पुराणों की अवतार-भावना के साथ सामान्य अर्थ का भौगोलिक विशिष्टीकरण हो गया। हरिवंश पुराण में मथुरा का निकटस्थ स्थान--नन्द का गोष्ठ--इस शब्द का अर्थ हो गया। भागवत में यह 'गोकुल' का वाचक शब्द वन गया। फिर उसके आसपास का वृत्ताकार क्षेत्र भी इस शब्द से सूचित होने लगा। वैदिक गो शब्द 'गोकुल' 'गोवर्धन' तथा 'गोपाल' जैसे शब्दों में संलग्न ही है। ये बस्तियां गोप, गाय आदि से भरी पूरी थीं। पीछे विकास हुआ गोकुल : नन्द का गाँव। परवर्ती साहित्य में 'ब्रज' इसी अर्थ में प्रयुक्त रहा। जिस ब्रजभूमि में कृष्ण का अवतार हुआ, जहां कृष्ण ने अपनी नैज या अंतरंग शक्तियों के साथ, साकार लीला संपन्न की और जहां भगवान के प्रति विविध मानवीय संबंधों का विकास हुआ वह सगुण मार्गी और विशेष रूप से रागानुगा भक्ति मार्गी के लिए आध्यात्मिक गंतव्य वन गया। भक्ति के संदर्भ में ब्रजभूमि की केन्द्रीय स्थिति हो गयी। भक्ति की विविध सैद्धांतिक धाराएं देश के कोने-कोने में उमड़ीं, पर अपने रागात्मक संस्कार और उन्नयन के लिए ब्रजभूमि के संस्पर्श के लिए मचल उठीं।

ब्रजलीला : स्थलान्वेषण--पौराणिक खोज--पौराणिक परिकल्पना में ब्रज कृष्ण की लीला भूमि बन गया। भगवान के पावन संस्पर्श से ब्रजभूमि दिव्यता और नित्यता प्राप्त करती है। वृहद वामन पुराण में भगवान ने ब्रज को अपना घर कहा है। इसी दिव्य संदर्भ में ब्रज या गोकुल ब्रह्मपुर, गोलोक या परमपद का वाचक हो गया। भागवदोक्त वृहदवन"[5] में नंदरायजी का निवास था। कृष्ण के जन्म-दिन से ब्रज अनंत

---

१. तावां वास्त् न्यूश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृंगाः अयासः।
अत्राह तरुदुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरिः॥

२. ब्रज और ब्रजयात्रा, पृ० १४

३. विष्णु की उपासना चार चरणों में मान्य है : वैकुण्ठनाथ विष्णु, क्षीरसमुद्रशायी, श्वेतद्वीपाधिपति।

४. ब्रजन्ति गावो यस्मिन्निति ब्रजः।

५. आज संभवतः यह महावन और गोकुल का क्षेत्र है।

श्री से विभूषित हो गया। ब्रज का दूसरा बन वृन्दावन है[1]। वृहदवन कृष्ण की शिवपरक लीलाओं का प्रमुख क्षेत्र रहा[2]। वृंदावन-निवास, गोकुल के निवास के पश्चात, नंदजी ने संकटापन्न अवस्था में किया। वृंदावन में शिवपरक लीलाएं शिथिल और शृंगारपरक किशोर लीलाएं प्रबल होती हैं। माधुर्यभाव का नवांकुरण इसी क्षेत्र में हुआ। भागवतकार ने इसे 'गोपगोपी गंवा सेव्यं' कहा है। जहां 'गोपी' तत्व कैशोर्य को प्राप्त करता है, वहीं गोपी-भाव भी चरमोन्मुख होता है। जो भगवान के निवास की और लीला की भूमि हो, वह भक्त का गंतव्य बन जाता है। ब्रज में तीन स्थानों पर लीलाएं घटित हुई। स्थानानुसार उनके नाम हैं : गोकुल लीला (=मर्यादा-पुष्टि लीलाएं), वृंदावन लीला (=पुष्टि लीला, रास), मथुरा लीला (=मर्यादा-पुष्टि, पीछे केवल मर्यादा)। ब्रज से बाहर कृष्ण की मर्यादा-लीलाओं का केन्द्र द्वारका बना। कृष्ण के संदर्भ में ब्रज की लीलाओं की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। मर्यादालीलाएं किसी-किसी क्षेत्र में ही मान्य रह सकीं[3]। पुराण-प्रसिद्ध कृष्ण वृत्त का ब्रज से अभेद्य संबंध हो गया।

पुराणों में एक और क्रम चला। ब्रज के स्थानों की लंबी-लंबी सूचियाँ दी जाने लगीं। ये स्थान कृष्ण की लीलाओं से संबद्ध माने गये। भागवत् में ब्रज के सौंदर्य का विवरण अधिक है, सूची देने की प्रवृत्ति कम। भविष्यपुराण में १२ वनों की एक लंबी सूची दी है और इनकी स्थिति चौरासी कोस में मानी है[4]। भविष्यपुराण, विष्णुपुराण, वराहपुराण, आदिपुराण, स्कन्धपुराण आदि में बारह वनों की सूची मिलती है। वृहन्नारदीय पुराण में अड़तालीस वन बतलाए गए हैं। इन वनों के देवताओं की गणना की गयी है। देव और कोई नहीं, प्राय: कृष्ण के ही रूप हैं। पद्मपुराण में सोलह वनों की संख्या दी है। भविष्यपुराण ने तो सभी वनों का प्रदक्षिणा-परिमाण भी दिया है। इस सबसे यह स्पष्ट होता है कि पुराणों में कृष्ण की लीलाओं एवं रूपों से संवद्ध स्थानों की सूची दी है। पुराणोक्त सूची के अनेक स्थानों की कृष्ण-संदर्भीय स्मृति लुप्त हो गई। भक्ति के प्रमुख आचार्यों ने फिर से इन स्थानों का आविष्कार किया। इस पर आगे विचार किया गया है।

पुराणों की शैली रूपक-परक रहती है। सभी स्थानों को, कुछ उपपुराणों में, भगवान के अवयवों के रूप में लिया गया। सभी अवयवों को मिलाने से कृष्ण का जो विराट् रूप बनता है, वह ब्रजभूमि से अभिन्न हो जाता है। ब्रज और भगवान के स्वरूप की अभिन्नता विष्णु-रहस्य में विशेष रूप से कथित है।[5] यह एक प्रकार से ब्रजकृष्ण के विराट् रूप का नखशिख ही है।

ब्रज के माहात्म्य की सिद्धि भी पुराणों में हुई है। इसे मोक्षलाभ करने वालों का गंतव्य देश, पुण्यात्माओं के गमन का साधन आदि व्याख्याएं पुराणोक्ति हैं। मथुरा में तो भगवान् सदा निवास ही करते हैं।[6]

---

[1] श्रीमद्भागवत्, १०।११।१७

[2] पूतना, तृणावर्त, शकटासुर जैसे लोक-त्रासकों का यहीं बध हुआ।

[3] तेलुगु साहित्य में द्वारिका की मर्यादा-लीलाओं का ही अधिक गायन हुआ है।

[4] ब्रज और ब्रज यात्रा, पृ० ४०-४१

[5] मथुरा=हृदय, मधुवन=नाभि, कुमुद=तालवन=दो स्तन, वृन्दावन=भाल, बहुला=महावन=दो बाहु, भांडीर-कोकिलाबन=हाथ, खलिर-भद्रकवन=स्कंध, छत्र-लोहबन=नेत्र, आदि। इस योजना में पचपन स्थानों का उल्लेख है।

[6] 'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः'। भागवत, १०।१।२८

ब्रजभूमि में ही अवतार ग्रहण करने की बात राधा ने कही[१]। राधा की इच्छा जानकर कृष्ण ने गोलोक के ८४ कोस के एक खंड को मनुष्य-लोक में भेज दिया[२]। इसीलिए कृष्ण ने स्वयं मथुरा-मंडल को अपना स्थान कहा है[३]। गर्ग संहिता ने माहात्म्य घोषित किया--"धन्यो व्रजो धन्यमरण्यमेतद् यत्रैव साक्षात्प्रकट: परोहिस:"। नारदपुराण[४] ने तथा श्रीमद्भागवत ने[५] भी इस भूमि के माहात्म्य की मुक्त कंठ से घोषणा की। इस प्रकार ब्रजभूमि का पौराणिक संदर्भ में एक महत्वपूर्ण स्थान हो गया। संक्षेप में इस परंपरा के मुख्य बिंदु ये हैं :

१—ब्रज : वन-उपवनों से भरी मनोरम भूमि।
२—ब्रज : कृष्ण की लीला-भूमि।
३—ब्रज : गोलोक-खंड का अवतरित रूप।
४—ब्रज : स्वयं कृष्णरूप
५—ब्रज : महात्माओं और भक्तों का गंतव्य, मोक्षदा।
६—ब्रज : कुछ ऋषियों-महात्माओं द्वारा ब्रजयात्रा और स्थलों की खोज।

पौराणिक साहित्य में ब्रज की कुछ यात्राओं का भी विवरण मिलता है। यात्रा करने वाले ऋषि या महात्मा कृष्ण-संसर्ग से चमत्कृत स्थलों पर जाकर महाभाव या महासुख की उपलब्धि करना चाहते थे।

ब्रह्मा कृष्ण के ब्रजभाव को नहीं समझ पाया था। परीक्षणोपरान्त जब ब्रह्मा मोहमुक्त हुआ और ब्रज के भाव के मर्म से अवगत हो गया, तो कृष्ण ने स्वयं ब्रह्मा को ब्रजयात्रा का उपदेश दिया था[६]। तात्पर्य यह कि ब्रजभाव की पूर्ण अवगति के लिए ब्रजयात्रा आवश्यक तत्व बन गई। श्रीमद्भागवत में उद्धवजी की ब्रजयात्रा का भी उल्लेख है। पहली यात्रा तो उन्होंने भ्रमरदूत के संदर्भ में ही की। वज्रनाभ को भी उद्धव ब्रज में मिले थे। इससे प्रतीत होता है कि कृष्ण की द्वारका-लीला के संवरण के पश्चात् भी उद्धव ब्रज में आये थे। इसी प्रकार नारदजी की ब्रजयात्रा का उल्लेख मिलता है। पद्मपुराण पातालखंड के अनुसार नारदजी ने ब्रज में जाकर राधाजी की कृपा से कुसुम सरोवर पर रास देखा। इस यात्रा में विविध ब्रज-स्थलों का विवरण नहीं है। वृहन्नारदीय पुराण में भी नारदजी की ब्रजयात्रा का उल्लेख है। इस प्रसंग में ब्रज के वन-उपवनों की सूची भी संलग्न है[७]।

उद्धव और नारद तो कृष्ण के लीला-स्थानों से परिचित थे। उद्धव को ब्रज के विभिन्न लीला-स्थानों का परिचय गोपियों से प्राप्त हुआ। नारद को वृंदादेवी की सहायता से ब्रज के रास-स्थलों का ज्ञान हुआ। पीछे इन स्थानों की स्थिति और इनसे संबद्ध लीलाप्रसंग विस्मृत होने लगे। इसलिए कृष्ण के लीलास्थानों

---

[१] गर्गसंहिता १।३।२४
[२] ग० सं० १।३।२४
[३] ग० सं० २।१।४२
[४] ना० पु० उत्तरखंड ५९।२००
[५] भा० १०।४४।१३
[६] श्रीमुख वाणी कहत, बिलंब अब नेक न लावहु। ब्रज परिक्रमा करहु, देह कौ पाप नसावहु —सूरदास
[७] वृहन्नारदीय पुराण, उत्तरखंड, ७९।६-१८

की खोज आवश्यक हुई। स्कंद पुराण में इसी प्रकार की एक खोज की ओर संकेत है।[१] कृष्ण की चौथी पीढ़ी में वज्रनाभ का उदय हुआ। वह मथुरा का राजा हुआ। उसकी जिज्ञासा कृष्ण-संबंधी संस्थानों की खोज थी। गोपों के पुरोहित शांडिल्य की सहायता से यह खोज संपन्न हुई।[२] राजा परीक्षित और वज्रनाभ ने इन स्थानों का लीलाओं के अनुसार नामकरण किया और कृष्ण के लीला-विग्रहों की स्थापना भी की। भगवान के ही नाम पर कुण्ड और कुएं खुदवाए।[३]

अन्त में यह पौराणिक युग समाप्त हुआ। वज्रनाभ का प्रयत्न विस्मृति के गर्भ में लीन होने लगा। कुंड, कुएं और विग्रह खंडित हो गये। नामकरण विकृत हो गया। आगे किसी पौराणिक खोज और ब्रज की पुर्नस्थापना का उल्लेख नहीं मिलता। मध्यकाल में भक्ति के प्रमुख आचार्यों ने ब्रज के लीलास्थानों की फिर से खोज की।

नारद पुराण के आधार पर वल्लभ संप्रदाय की खोज—आचार्य वल्लभ ने ब्रज की यात्रा की।[४] एक उजागर चौबे की सहायता से उन्होंने ब्रज के भिन्न-भिन्न स्थानों को देखा। वल्लभाचार्यजी ने गोवर्धन-खंड की विशेष खोज की। गिरिराज स्थित श्रीनाथजी उनके उपास्य बने। गिरिराज पर्वत के 'मुखारविंद' की ओर संभवतः आचार्यजी ने पहले संकेत किया। 'गोकुल' की खोज भी आचार्य वल्लभ ने की। महाबन (=पुराना गोकुल) की तुलना में वल्लभोक्त गोकुल को 'नया गोकुल' या गुसाइयों का गोकुल कहा जाता है। मथुरा में विश्राम घाट का उद्घाटन हुआ: उनसे पूर्व यह स्थान श्मशान था। उन्होंने और भी अनेक स्थानों पर प्रवचन या कथावार्ता के कार्यक्रम रखे। नारदपुराण में उल्लिखित द्वादश वनों तक की ही वल्लभाचार्यजी की ब्रजयात्रा सीमित रही।

वल्लभाचार्य के पश्चात् गुसाईं विट्ठलनाथजी ने ब्रज की यात्रा की। इन्होंने दूसरी ब्रजयात्रा सं० १६२४ में की। इसका वर्णन कवि जगतनंद ने किया है[५]। 'ब्रजवस्तुवर्णन' नामक रचना में ब्रज के प्रमुख स्थलों और वस्तुओं का वर्णन किया है। यह भी एक खोज का ही परिणाम दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार के एक और प्रयत्न की सूचना श्री अगरचंद नाहटा ने दी है।[६] कहने की आवश्यकता नहीं कि वल्लभ-संप्रदाय के आचार्यों ने ब्रज के स्थानों की खोज में महत्वपूर्ण योगदान किया। यह वज्रनाभ की ब्रज-संबंधी खोज की एक महत्वपूर्ण इतिहासकालीन कड़ी है। वल्लभाचार्यजी की खोज में कुछ ही स्थलों की स्थिति स्पष्ट हुई। विट्ठलनाथजी के उद्योग से और बहुत-से स्थल और उनसे संबंधित भावनाएं प्रकाश में आईं।

स्वयं वल्लभाचार्यजी ने ब्रजभूमि से प्राप्त बाल-भाव का प्रचार सारे भारत में करने का प्रयत्न किया। गो० विट्ठलनाथजी ने ब्रज-प्रेम की माधुरी में राजस्थान, गुजरात और सौराष्ट्र को निमग्न कर दिया। ब्रज का पवित्र क्षेत्र पश्चिम भारत के लिए तीर्थ बन गया। इस संप्रदाय के गोस्वामियों ने राजस्थान,

---

[१] स्कन्दपुराण, द्वितीय वैष्णवखंड, श्रीभागवत माहात्म्य, प्रथम अध्याय।

[२] वही, श्लोक १७।

[३] वही, श्लोक २७।

[४] कांकरौली का इतिहास, पृ० ४९।

[५] जगतनंद की तीन रचनाएं प्राप्त हैं: वनयात्रा, ब्रजवस्तुवर्णन, ब्रजगांमवर्णन,। ये तीनों कृतियां शुद्धाद्वैत एकेडमी, विद्या विभाग, कांकरौली से जगतानंद के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। सं० २००२

[६] ब्रज और ब्रजयात्रा, पृ० ११५।

गुजरात और सौराष्ट्र में अनेक स्थानों पर हवेलियां स्थापित कीं।

वाराहपुराण के आधार पर चैतन्य संप्रदाय की खोज--वल्लभाचार्यजी की व्रजयात्रा के विवरणों से प्रतीत होता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु से उनकी भेंट गोविन्द कुण्ड पर हुई थी।[1] चैतन्य महाप्रभु भी लुप्त तीर्थों का अनुसंधान करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि लीलास्थानों की खोज और रस-शास्त्र-निरूपण साथ-साथ चलें। इसी उद्देश्य से उन्होंने सनातन और रूप को यहां भेजा था।[2] इस संदर्भ में वज्रनाभ के व्रजानुसंधान का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। रूप-सनातन ने वराहपुराणोक्त कृष्णलीला से संबंधित स्थानों का अन्वेषण किया।[3] स्वयं चैतन्य महाप्रभु ने व्रजयात्रा की।[4] और कई लुप्त स्थानों की ओर संकेत किया। यात्रा का आरंभ उन्होंने मथुरा से किया। जब महाप्रभुजी वृंदावन पधारे तो यहां के लता-गुल्म-द्रुम प्रेम-पुलकित हो गये। अन्य स्थानों पर कविराज की वाणी परिगणनात्मक है। वृंदावन के विवरण में उनकी वाणी भाव-विगलित हो जाती है। चैतन्य भी आनंदित और वृंदावन भी आनंदित।[5] राधाकुंड में आकर उन्हें किसी से तीर्थ का स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं हुआ। लुप्त तीर्थ का प्रतीकात्मक महत्व महाप्रभुजी ने ज्ञापित किया। उन्होंने बतलाया कि यह प्रिया-प्रियतम की जल-केलि सरसी है।[6] यहां की जनता से उन्होंने स्थानों और देव-विग्रहों के संबंध में सूचनाएं प्राप्त कीं। कामवन में आकर उन्होंने लोगों से पूछकर गुहा-स्थित त्रिभंगी विग्रह का साक्षात्कार किया। इस प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने व्रज-स्थित केलि-स्थलों की यात्रा की। उनसे संबंधित अनुभूतियों का आविष्कार किया। स्वयं अनेक स्थलों का महत्व उन्होंने घोषित किया। लुप्त व्रज की खोज और उसके पुनरुद्धार में चैतन्य का महत्व बहुत अधिक है। उनका भावावेश वृंदावन में आकर फूट पड़ा। वृंदावन के रास-स्थल को देखकर तो उन्हें भाव-मूर्च्छा ही हो गई--'रास स्थली देखे प्रेमे मूर्च्छित होइला'। इस प्रकार भावावेश और मौलिक आविष्कार की दृष्टि से वृंदावन और राधाकुण्ड का नाम इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है।

इस संप्रदाय ने व्रज-प्रेम, बिहार, बंगाल, आसाम और मणिपुर में जागृत किया। तंत्र-रसाविष्ट पूर्वी क्षेत्र वैष्णव-माधुर्य के संप्लव में निमग्न हो उठा और उस माधुर्य का अजस्त्रस्रोत व्रजभूमि में था। यहीं रसशास्त्र की अद्भुत अलौकिक व्याख्या हुई। समस्त पूर्वी भारत को व्रजभूमि की ओर आकृष्ट करने का श्रेय इस संप्रदाय को है।

नारायण भट्ट ने दक्षिण से आकर व्रज के लुप्त स्थलों का उद्धार अत्यंत मनोयोग के साथ किया।[7] राधाकुण्ड के भौतिक रूप का प्राकट्य इन्हीं महानुभाव के उद्योग से हुआ। कृष्णकुण्ड का आविष्कार करके

---

१. वल्लभ संप्रदाय की वार्ताओं के आधार पर यह भेंट सं० १५५० वि० में हुई थी।

२. व्रजे जाइ रस-शास्त्र कर निरूपण।
तीर्थ सब लुप्त तार करिओ प्रचारण।।--चैतन्य चरितामृत, अ० १..; भक्तरत्नाकर, पंचम तरंग।

३. पुलिन बिहारी दत्त, माथुर कथा, पृ० २७९।

४. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, अ० १६-१८

५. प्रभु देखे वृंदावन स्थावर जंगम। आनंदित बंधु जे न देखे बंधु गण।

६. सब गोपी हेइति राधा कृष्णेर प्रेयसी। तैषि राधाकुण्ड प्रिय प्रियार सरसी।
जेइ कुंड नित्य कृष्ण राधिकार संगे। जले जलकेलि करे तीरे रास रंगे।

७. लुप्त व्रज की खोज की दृष्टि से इनका ग्रंथ 'व्रज भक्ति विलास' अत्यंत महत्वपूर्ण है।

दोनों के संगम की ओर भी आपने संकेत किया। राधाकुंड-गोवर्धन क्षेत्र के अन्य स्थानों का प्राकट्य करके वे मथुरा आये और यहां के लुप्त स्थानों और विग्रहों को खोज निकाला। महावन और वृंदावन क्षेत्रों में भी आपकी खोज ने चमत्कार दिखलाये ।[१]

आपकी खोज से प्रभावित होकर लोक ने इनको नारद का अवतार माना। नाभादासजी ने भट्ट जी का यही कर्तृत्व स्वीकार किया है कि इन्होंने गुप्त स्थानों की खोज की[२]। राज-साहाय्य से स्थान-स्थान पर भट्टजी ने रास-मंडल बनवाये[३]। ग्राउज़ महोदय ने इन्हीं बातों को देखकर नारायण भट्ट को ब्रजयात्रा का आरंभकर्ता मान लिया था[४] ।

एक आरंभिक कड़ी की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। चैतन्य महाप्रभु का संपर्क गया में ईश्वरपुरी से हुआ था। ईश्वरपुरी वृंदावन के एक विरक्त विद्वान भक्त माधवेन्द्रपुरी के शिष्य थे। वृंदावन के पुनरुद्धार का वास्तविक श्रेय माधवेन्द्रपुरी को ही है। माधवेंद्रपुरी बंगाली थे[५]। 'इन्हीं की प्रेरणा चैतन्य, रूप, सनातन आदि के माध्यम से ब्रज में प्रतिफलित हुई।

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीनाथजी की खोज भी चैतन्य महानुयायियों ने की थी। श्रीनाथजी की पूजा पहले बंगाली वैष्णव माधवानंद करते थे। वल्लभाचार्यजी ने श्रीनाथजी के मंदिर का निर्माण कराया। उस समय भी सेवा-भार वैष्णवों के हाथ में ही था। इन सेवकों में एक माधवेंद्रपुरी भी थे। कृष्णदास अधिकारी ने कूटनीति से बंगालियों को यहां से निकाला। आरोप यह लगाया गया कि इनकी पूजापद्धति शुद्ध वैष्णव नहीं थी : ये साथ में एक देवी की उपासना भी करते थे। इस प्रकार सहजिया साधना के अवशेषों से युक्त बंगाली वैष्णव ब्रज में जम चुका था। चैतन्य भी सहजिया वैष्णव मत के उत्तराधिकारी बने। चैतन्य की पृष्ठभूमि में माधवेंद्रपुरी का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण था। इन्होंने ब्रज के तीर्थों के उद्धार का कार्य आरंभ किया जिसे चैतन्य और उनके पार्षदों ने आगे बढ़ाया।

निंबार्क संप्रदाय की खोज : निंबार्काचार्यजी का संबंध ब्रज से घनिष्ठ रहा[६]। ये भी दाक्षिणात्य थे[७]। गोवर्धन के समीप 'नीमगांव' नामक स्थान है। वहां आपने निवास किया था ।[८] यहां अब भी एक मंदिर इस संप्रदाय का और इस गांव के बहुत-से लोग इस संप्रदाय के अनुयायी हैं। इस स्थान का पौरा-

---

१. प्रियादासजी के अनुसार तो स्वयं कृष्ण ही प्रकट होकर भट्टजी को तीर्थों का रहस्य बतलाते थे—
'बोलिकें बतायें यहां अमुक स्वरूप है जू, लीला कुंड धाम स्याम प्रकट दिखाए हैं।

२. गोपस्थल मथुरा मंडल, जिते वाराह बखाने। किये नारायण प्रकट सकल पृथ्वी ने जाने। (भक्तमाल)

३. ठौर ठौर रास के विलास लै प्रकट किये, जिये यों भगत जनकोटि सुख पाये हैं। (भक्तमाल, टीका)

४. मथुरा मेमोयर्स, पृ० ८९

५. डा० देवीशंकर अवस्थी, ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति, पृ० ३६

६. बलदेव उपाध्याय, भागवत संप्रदाय, पृ० ३१४।आ० जी० भंडारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृ० ९३। परशुराम चतुर्वेदी, वैष्णव धर्म, पृ० ८५

७. इनका जन्म बिलारी माइसूर जिले के निंबपुर गांव में माना जाता है। कुछ लोग इनका जन्म ब्रज भी मानते हैं। पर यह पुष्ट मत नहीं है।

८. नीम गांव श्री निंबाकाचार्यजी का साधना-स्थल है। ब्रज में यह स्थल निंबार्क संप्रदाय का प्रधानतीर्थ स्थल है।—ब्रज और ब्रजयात्रा, पृ० १५४

णिक नाम संभवत: निंबवन था। पद्मपुराण के लेख से ज्ञात होता है कि इस स्थान का संबंध गोपीभाव से था[1]। राधाभाव के अन्वेषी निंबार्काचार्य का यहां निवास करना कुछ अर्थ रखता है। इस स्थल की खोज और इसका महत्व-संकेत भी उनके द्वारा होना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

कोकिल वन से भी निंबार्काचार्यजी का संबंध प्रतीत होता है। वल्लभाचार्यजी की, अपनी यात्रा में, इस संप्रदाय के एक साधु से यहां भेंट हुई थी। इससे प्रतीत होता है कि निंबार्काचार्यजी ब्रज के कुछ स्थानों की खोज कर चुके थे। कोकिला वन का संबंध भी रास-भावना से है। कहा जाता है : महारास के अवसर पर कृष्ण राधा के साथ, गोपियों के बीच से अंतर्धान हो गये। राधा के मन के गर्व-विकार को देखकर कृष्ण राधा को भी यहीं छोड़ गये थे। यहीं राधा की भेंट अन्य वियोग-कातर गोपियों से हुई थी।

मध्व संप्रदाय की खोज : मध्वाचार्य के ब्रज-संबंध पर अभी अधिक खोज नहीं हुई है। इतना तो निश्चित है कि इस संप्रदाय का विस्तार ब्रज-मंडल तक अवश्य हुआ। वृंदावन में इस संप्रदाय का भी पीठ है। वल्लभाचार्यजी को अपनी यात्रा में, भांडीरवन में एक माध्व महंत व्यासतीर्थ मिले थे[2]। संभवत: ये महंतजी आचार्यजी को शिष्य भी बनाना चाहते थे। श्री वल्लभ और व्यासतीर्थ का समकालीन होना तो सिद्ध है। श्री कृष्णदेवराय के दरबार में इन दोनों का शास्त्रार्थ हुआ बतलाया जाता है[3]। पर व्यासतीर्थ की ब्रज में स्थिति चिंत्य है। इस स्थान की पुनर्स्थापना में माध्व संप्रदाय का हाथ हो सकता है। इस स्थान का संबंध बालभाव या सख्य से रहा होगा[4]। यहां दाऊजी तथा बिहारीजी की साथ-साथ झांकी सख्य की ओर संकेत करती है। श्रीराधा-कृष्ण का भी एक मंदिर है। पौराणिक दृष्टि से दाऊ-कृष्ण की लीलाओं से इस स्थान का संबंध है। ब्रज में माध्व संप्रदाय की स्थिति वल्लभ-पूर्व मानी जानी चाहिए। भांडीर-वन ब्रज के सख्यभाव क्षेत्र में ही आता है।

आगे चलकर माध्व और चैतन्य मतों में सामीप्य हुआ। ब्रज का संबंध माध्व से अव्यक्त रूप में ही रहा। 'प्रेमरत्नावली' में माध्वमत की गुरु-परंपरा इस प्रकार दी गई है[5] : मध्व, पद्मनाभ, नरहरि, माधव, अक्षोभ्य, जयतीर्थ, ज्ञानसिंधु, दयानिधि, विद्यानिधि, राजेंद्र, जयधर्म, पुरुषोत्तम, ब्रह्मण्य, व्यासतीर्थ, लक्ष्मीपति, माधवेंद्र, ईश्वरपुरी, श्रीचैतन्य। चैतन्य महाप्रभु के संदर्भ में यह देखा जा चुका है कि श्री माधवेंद्र वृंदावन में भी निवास करते थे। उनके शिष्य ईश्वरपुरी से उनकी भेंट पुरी में हुई थी। उनकी प्रेरणा से ही चैतन्य ने ब्रजानुसंधान-अभियान आरंभ किया था[6]। इससे प्रतीत होता है कि ब्रजानुसंधान में चाहे आचार्य मध्व का हाथ न रहा हो, पर माधवेंद्रजी और ईश्वरपुरी का अवश्य ही हाथ रहा। इनका अभियान ही चैतन्य के रूप में प्रबल हुआ। वृंदावन में माध्व संप्रदाय की भी एक शाखा आज है। मध्व और चैतन्य का संबंध ऐतिहासिक है। दार्शनिक और भावात्मक दृष्टि से इनमें भेद है।

---

१. गोपिका रमणोल्लास सौरभ्य सुख दायिने। कृष्ण कैवल्य संज्ञाय निंबनाम्ने नमोस्तु ते। (पद्मपुराण)

२. यहां महाप्रभु वल्लभाचार्यजी की एक गुप्त बैठक भी बतलायी जाती है।

३. एन० एस० दक्षिणामूर्ति, कर्नाटक और उसका साहित्य (बेंगलूर' १९६४), पृ० १६६

४. मध्वाचार्य जी स्वयं माधुर्य भाव के उपासक नहीं थे।

५. भागवत संप्रदाय, पृ० २२८, २२९

६. "Madhavendra is described as the seed, Iswaripuri as the sprout, Shri Chaitanya as the trunk." (The Cultural Heritage of India, Vol. II, P. 152)

ब्रज के स्थानीय आचार्यों की खोज : दक्षिण और पूर्व के आचार्यों ने ब्रजयात्रा के द्वारा कृष्ण की लीलाओं से संवद्ध स्थानों की खोज की और ब्रज-निवास के द्वारा कृष्णाश्रयी विविध भावों का अन्वेषण किया। ब्रजभूमि में भी आचार्य अवतीर्ण हुए, जिन्होंने स्थलों और भावों का अन्वेषण किया। इनमें दो आचार्यों का नाम विशेष उल्लेखनीय है : स्वामी हरिदास और श्री हितहरिवंश।

स्वामी हरिदास : इनको जन्म देने का श्रेय ब्रजभूमि को ही है[1]। इनकी साधना-भूमि वृंदावन ही रही। संवत् १५६२ में इन्होंने वृंदावन को अपना केंद्र बनाया। इन्होंने निधिवन का अन्वेषण किया[2]। वहीं सं० १५६७ में इनके उपास्य श्री बांकेबिहारीजी का प्राकट्य हुआ। ब्रजगत निकुंज-लीला-भाव के आप अन्यतम गायक थे

गोस्वामी हितहरिवंश : हितहरिवंशजी को भी ब्रजभूमि ने ही जन्म दिया[3]। वृंदावन क्षेत्र के एक जमींदार नरवाहन ने आपको साधना के लिए भूमि दी। इनकी स्थायी साधना-भूमि वृंदावन बनी। हितहरिवंशजी ने अपनी आराध्या के केलिस्थलों का अनुसंधान और प्राकट्य किया। ये केलि स्थल ये हैं : मान-सरोवर, सेवाकुंज, रासमंडल और वंशीवट[4]।

मानसरोवर की भावना है कि यह राधारानी के मान का स्थान है। यहां उनके नेत्रों के दर्शन हैं। यहां दो सम्मिलित कुंड हैं: मानकुंड एवं कृष्णकुंड। भाव है, मानकुंड राधा-मान से पीड़ित कृष्ण के अश्रुजल से भरा है। हो सकता है उस स्थान की भावनाओं का प्राकट्य हितजी ने ही किया हो। वैसे, यहां वल्लभाचार्यजी और गुसाईंजी दोनों की बैठकें हैं। सेवाकुंज में हितजी ने राधा-वल्लभजी के विग्रह की स्थापना की थी। भक्तों की मान्यता है कि अब भी नित्यप्रति रात को यहां रासविहार संपन्न होता है और अधिकारी भक्तों को उसका दर्शन भी मिलता है। यहां नामसेवा की स्थापना है। रासमंडल कृष्ण की रास लीला का स्थल है।

इस प्रकार हित हरिवंशजी ने कृष्ण की निकुंजलीला के स्थानों का प्राकट्य किया।

ब्रज में भावानुसंधान : ब्रज की रागात्मक संस्कृति का केंद्र राधा-कृष्ण भाव है। इसका स्पष्टीकरण डा० सत्येंद्र ने किया है : "इस कृष्ण या राधा-कृष्ण संस्कृति का मूल तत्व तो अमर्यादित प्रेम है : . . . इंद्र को परास्त कर यहां कृष्ण उठे हैं, वैसे ही वेद को और उसकी मर्यादा को छोड़कर यहां कृष्ण-प्रेम उभरा है।"[5] इस संस्कृति का दूसरा ध्रुव कृष्ण-बलदेव के युग्म से अनुप्राणित है। इसे हम गोपाल, गोकुल या गोवर्धन संस्कृति के नाम से अभिहित कर सकते हैं। भक्तिगत भावानुसंधान की भी ये ही दो दिशाएं बन गईं। पहली दिशा प्रेम और माधुर्य भाव की बनी और दूसरी सख्य और वात्सल्य की। समाजशास्त्रीय दृष्टि से वन्य संस्कृति का संक्रमण 'गोपाल' और 'हलधर' की संस्कृति में हो रहा था और शास्त्रीय धर्म रागानुगा पद्धति के सामने

---

[1] आपका जन्म अलीगढ़ जिले के हरिदासपुर ग्राम में माना जाता है। एक दूसरे मत के अनुसार आपका जन्म वृंदावन के समीप राजापुर में हुआ था।

[2] वन निधिमें स्वामी जी की समाधि है और उनके शिष्यों)—विट्ठलविपुल, भगवदरसिक आदि) समाधियां भी हैं।

[3] आपका जन्म मथुरा के निकट 'बाद' नामक ग्राम में हुआ था।

[4] वंशीवट आजकल निंबार्क संप्रदाय के पास है।

[5] ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ० ८

स्तब्ध-निष्क्रिय पड़ा था। एक ओर 'वन', 'गो-ब्रज', में परिणत हो रहे थे और दूसरी ओर वे उपवन और गह्वर-निकुंजों का रूप धारण कर रहे थे। मधु, लवण और कंस राक्षसी राज्य-पद्धतियां विदा ले रही थीं और इनके स्थान पर आभीरों की शक्ति के विकेंद्रीकरण पर आधारित ग्राम व्यवस्था स्थापित हो रही थी। मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन के संदर्भ में आचार्यों और भक्तों ने इस भूमि में भावान्वेषण किया और स्थान का भावन एवं 'विभावन भी किया। यह कार्य यद्यपि स्थलों के अनुसंधान के साथ-साथ पुराणों ने ही आरंभ कर दिया था, तथापि भावनाओं के फिर से लुप्त हो जाने के कारण भक्ति-आंदोलन के कर्णधारों को फिर से अनुसंधान करना पड़ा।

पुराणों में भावानुसंधान : पुराणों में दो महानुभावों ने ब्रज में भावानुसंधान किया : उद्धव और नारद[1]। उद्धव जैसे ज्ञानी योगी को पहले भावानुसंधान की प्रेरणा स्वयं कृष्ण से मिली। उद्धव को ब्रज की गोपियों ने भाव-दीक्षा दी। उद्धव को ब्रज की गोपियों ने भाव-दीक्षा दी। उद्धव गोपी-भाव में दीक्षित हो गया। उद्धव ने गोपियों की पद-रज की वंदना उसी प्रकार की[2] जिस प्रकार गुरु पद-रज की वंदना की जाती है। पीछे भी उद्धव इस माधुर्य-भाव से स्निग्ध भूमि से अपना संपर्क बनाये रहे। यह सब गोकुल में हुआ।

नारद के भावानुसंधान का प्रसंग भी पुराणों में है।[3] नारद कृष्णावतार की बात सुनकर निकुंजेश्वरी राधा के दर्शन के लिए ब्रज में आए। बालिका राधा ने किशोरावस्था में स्थित होकर उन्हें दर्शन दिया। वर के रूप में नारद ने रास-दर्शन की याचना की। राधा की अनुमति से वे रात को कुसुम-सरोवर पहुंचे।[4] (कुसुम सरोवर के पास ही नारदकुंड और उद्धवकुंड भी हैं। कहा जाता है कि वज्रनाभ ने उद्धव की प्रेरणा से यहां भागवत कथा और हरिकीर्तन का आयोजन कराया था।) समय पर प्रिया-प्रियतम पधारे। लता-वृक्षादि सभी नारी रूप हो गए और इस आधिदैविक परिवेश में नारद ने रास-दर्शन किया। रूपक शैली में यह रास-रस और सखी-भाव का ही अनुकथन है। यह स्थान गिरि गोवर्धन के क्रोड़ में है[5]।

'वृहद् नारदीय पुराण' में यही प्रसंग अन्य प्रकार से दिया है[6]। नारद जी एक बार अष्ट-सखियों की स्थली कुसुम सरोवर आये। यही वृंदा की तपोभूमि है। वृंदा से नारद की भेंट हुई। नारद ने कृष्ण-रहस्य की जिज्ञासा की। वृंदा ने यह कार्य अपनी सखी माधवी को सौंपा। उसने नारद को वृंदा-सर में स्नान कराया। और नारद नारी रूप में परिणत हो गए। इस रूप में वे कृष्ण के केलि-महल में गए। ललितादि सखियों से विभूषित कृष्ण ने 'नारदी' से भी रमण किया। इस वृत से रास-रहस्य, केलि-क्रीड़ा जैसे भावान्वित प्रसंगों पर तो प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही यह भी ध्वनित होता है कि

---

१. ब्रज में कई स्थानों पर नारदकुंड, उद्धवकुंड आदि बने हैं। कहीं-कहीं इनकी मूर्तियां भी हैं। ब्रह्मा की वत्स-हरण क्रिया की भावानुसंधान की ओर ही उसे प्रेरित करती है।

२. वंदे नंद ब्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः (भागवत)।

३. पद्मपुराण एवं बृहद् नारदीय पुराण में यह उपलब्ध है।

४. श्रीमद्भागवत में इस स्थान का वर्णन है—'(भा० १०।१५।२)। पद्मपुराण में इसे पुष्पवन भी कहा गया है। कुछ स्थलों पर कुसुमवन को वृंदावन भी कहा गया है।

५. यह कथा पद्मपुराण के आधार पर है।

६. बृहद्नारदीय पुराण, अ० ८०

कृष्ण की रास-लीला में केवल नारी का प्रवेश है : पुरुष तो इस स्थल में केवल कृष्ण हैं[1]। किसी अन्यपुरुष का इस स्थली में प्रवेश नहीं है।

नारद भक्ति रस के प्रथम व्याख्याताओं में से हैं। उन्होंने अपने 'भक्तिसूत्र' में इसी नव-अन्वेषित भाव की व्याख्या प्रस्तुत की है। नारद ने भक्ति को परम प्रेम रूप और अमृत स्वरूपा कहा है[2]। कर्म, ज्ञान और योग सभी से भक्ति को श्रेष्ठ भी घोषित किया है[3]। भक्ति की रसात्मकता का अनुसंधान नारद ने सरोवर के निकुंज और केलि-महल में किया। उद्धव का भावानुसंधान भी इसी कोटि का कहा जा सकता है। वहां भी सखा-भाव, सखी-भाव में संक्रमित हो रहा है। किंतु सखीभाव का पारिभाषिक रूप स्पष्टतः निष्पन्न नहीं होता।

आगे इस भक्ति रस शास्त्र के ग्रंथों की परंपरा बनी जो आधुनिक युग तक चली आती है।[4] रस शास्त्र के सभी ग्रंथों में ब्रज वृंदावन किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठित है।

पौराणिक भावानुसंधान के उपक्रम से ज्ञात होता है कि उद्धव को ब्रज में मात्र गोपीभाव की प्राप्ति हुई थी। नारद को गोपीभाव के साथ सखीभाव की भी उपलब्धि हुई। उनको केलिमहल की भावना भी मिली। नारद को कुब्जाभाव का रहस्य-दर्शन भी कराया गया। उद्धव ने यशोदा-नंद के बालभाव का भी दर्शन किया था। उसमें सख्य भाव का भी बीज था, चाहे आगे चलकर गोपी भाव के सम्मुख वह निस्पंद हो गया हो।

पुराण-संकेतों को पाकर भक्तिकालीन आचार्यों ने भी भावानुसंधान किया। इसका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया गया है।

वात्सल्यानुसंधान : ब्रज में इस भाव का क्षेत्र गोकुल माना जाता है। महावन और गोकुल में जो पुराने स्मृतिचिन्ह बतलाये जाते हैं वे भी बालभाव-समन्वित हैं। करणावल में कृष्ण-बलराम का कर्णछेदन हुआ था, ब्रह्मांड घाट पर बालकृष्ण ने मिट्टी खाने के बहाने अपने मुख में ब्रह्मांड-दर्शन कराया था, महावन में नंदभवन, छटीपालने आदि हैं। गोकुल में तो बाललीलाओं का अधिकांश घटित ही हुआ। आज यह बताना कठिन है कि किसको इस भावानुसंधान का श्रेय है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र वल्लभ संप्रदाय का प्रमुख केंद्र है[5] और बालभाव इस संप्रदाय का केंद्रीय भाव भी है। वार्ता-सहित्य की रचना भी प्रायः यहीं हुई थी। अतः आधुनिक युग में इस क्षेत्र के वात्सल्य भाव का अनुसंधान वल्लभ संप्रदाय के आचार्यों और भक्तों के द्वारा माना जा सकता है।

---

१. इस भावानुसंधान का क्षेत्र गोवर्धन रहा। वहीं के स्थानों का उल्लेख इस प्रसंग में हुआ है।

२. ना० भ० सू०, २, ३

३. वही, २५

४. इस परंपरा में ये ग्रंथ लिये जा सकते हैं—हरिभक्तिरसामृतसिंधु, उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिसंदर्भ, प्रीति-संदर्भ, चैतन्यचरितामृत (कृष्णदास कविराज), भक्ति रसतरंगिणी (नारायणभट्ट) भक्तिरसायन (मधुसूदन सरस्वती)।

५. वर्तमान गोकुल की स्थापना ही आचार्य वल्लभ ने की थी। यहां इस संप्रदाय की चौबीस हवेलियां हैं। महाप्रभुजी की दो बैठकें हैं। दामोदर हरसानी की बैठक, गोसाईं गोकुलनाथ जी की बैठक आदि भी इस स्थान के सांप्रदायिक महत्व के परिचायक हैं।

आचार्य जी अडैल से ब्रज आते थे। संभवतः वे पहले इसी क्षेत्र में पदार्पण भी करते थे। जब वे सूर को साथ ले कर ब्रज पधारे तब भी यही क्रम रहा। इसी क्षेत्र में वात्सल्य के अन्यतम गायक सूर के मन में वात्सल्य की लीलाएं, फुरी[१]। नवनीतप्रियाजी के सामने 'सोभित कर नवनीत लिए'––गीत फूट पड़ा।

भक्ति की सैद्धान्तिक विवेचना में तो वात्सल्य भाव की स्वीकृति अन्य संप्रदायों में भी है[२]। पर इसकी साधनापरक और काव्यगत परिणति अन्य संप्रदायों में प्रायः नहीं हुई। गौड़ीय वैष्णव कवियों ने इस भाव के प्रति उदासीनता ही रखी। निंबार्क संप्रदाय में कुछ छींटे अवश्य हैं, पर "उससे संबंधित रति बालक कृष्ण और राधा के पोषण में सहचरी भाव की नित्य विहार-दर्शन की सुख-लालसा ही छिपी है[३]।" हरिदासी एवं राधावल्लभ संप्रदाय में तो इस भाव की स्वीकृति ही नहीं है।

वल्लभ संप्रदाय में भी यह भाव गोपीभाव में सिमटने लगा। इस संप्रदाय के अनुसार गोपियों की तीन कोटियां हैं: गोपांगनाएं, गोपी और ब्रजांगनाएं। इनमें से ब्रजांगनाओं को वात्सल्य भावापन्न माना गया है[४]। वल्लभ संप्रदाय के वात्सल्य सहवर्ती के गोपी भाव से संबद्ध हैं जिनकी स्थिति गोवर्धन क्षेत्र में है। गोवर्धन गोपीभाव और भागवदोक्त रास का क्षेत्र है। इस प्रकार वल्लभ संप्रदाय भी अंततः गोपीभाव की गहराइयों में प्रविष्ट हो गया।

गोपी-भाव का अनुसंधान : भक्तिगत सभी भाव दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं : ऐश्वर्यबोध-युक्त भाव एवं इस प्रकार के बोध से मुक्त भाव। प्रथम कोटि के भावों का विकास मथुरा, द्वारिका या बैकुंठ में होता है। शुद्ध भावानुभूति की उपलब्धि केवल ब्रज या गोकुल में ही संभव है।[५] गोपियों की भक्ति प्रेमाभक्ति है, जो नवधा भक्ति के परे भक्ति का दशधा रूप है।[६] प्रेमाभक्ति की आदर्श गोपिकाएं हैं[७] और इस भाव के प्रतिफलन के सबसे अधिक उपयुक्त स्थान ब्रज माना गया है। राधा इस महाभाव की प्रतीक हैं। उनकी प्रीति गोपिकाभाव की ही थी[८]। सभी जीवों को ब्रजवासियों की भाँति भाव-साधना करनी चाहिए। नारद ने यथा 'ब्रजगोपिकानां' कहकर इसी तत्व को स्वीकार किया है।

इस गोपीभाव की न्यूनाधिक स्वीकृति सभी भक्ति संप्रदायों में मिलती है। दक्षिण में नाम्मातवार तथा आण्डाल ने अपने को गोपी रूप में परिकल्पित किया और अपने को श्री रंगम की पत्नी घोषित किया। गौड़ीय संप्रदाय का तो यह केंद्रीय भाव ही रहा। सिद्धांत-निरूपण में भी इस भाव का प्रमुख स्थान रहा और

---

१. अब जो श्री आचार्यजी महाप्रभु ब्रज कौ पांव धारे सो प्रथम श्री गोकुल पधारे। तब श्री आचार्यजी महाप्रभून के साथ सूरदास हू आये।...श्री गोकुल जी की बाललीला सूरदास जी के हृदय में फुरी (वार्ता)

२. भक्ति रसामृत सिंधु, ४।८, २०–२४, २७३ आदि

३. डा० नारायणदत्त शर्मा, निंबार्क संप्रदाय के कृष्णभक्त कवि

४. वल्लभाचार्य, सुबोधिनी, रासपंचाध्यायी, फल प्रकरण, ३।२–५

५. कृष्णदास कविराज, चैतन्यचरितामृत, परि० १९

६ स्वामी रसिकदेव, भक्तिसिद्धांत चिंतामणि, ७२।७३, ८९

७. नारद भक्तिसूत्र, २१; शांडिल्यभक्तिसूत्र, १४

८. भक्तिरसामृतसिंधु, (पू० वि०) २। ६०–६२

अनेक बंगाली वैष्णव रस-साधना के लिए ब्रज में ही आकर बस गये। भागवत में गोपीभाव को सर्वोपरि कहा गया है। लोकसाहित्य-परम्परा में राधा और कृष्ण प्रेमिका और प्रेमी के रूप में अंकित किए गए। इसमें सखी भाव की प्रतिष्ठा है। गौड़ीय वैष्णवों ने गोपीभाव और राधाभाव का सैद्धांतिक और साधनापरक सामंजस्य किया है। सिद्धांत-निरूपण में गौड़ीय गोस्वामियों ने ब्रज में व्याप्त तत्ससंबंधी लोकवार्ता की भी उपेक्षा नहीं की।[1]

जहां उन्होंने 'भागवत संदर्भ' में पौराणिक भाव-तत्त्व को लोकमानसीय और लोक-साहित्यिक तत्वों से समन्वित करके निरूपित किया, वहां 'श्रीकृष्ण संदर्भ' में कृष्णलीला से संबंधित स्थानों, व्यक्तियों आदि का परिगणन और निरूपण भी किया[2]। नित्य लीला का व्यावहारिक रूप बिना इस योजना के कैसे प्रतिफलित होता! यहीं उन्होंने 'गोकुल'—गोलोक को सर्वोपरि माना[3]। वृंदावन में गोलोक की अपेक्षा एक वैशिष्ट्य माना गया : वृंदावन में कृष्ण प्रकट और अप्रकट दोनों रूपों में रहते हैं, लेकिन अप्रकृत गोलोक में उनका केवल अप्रकट रूप ही रहता है[4]। यद्यपि कृष्णलीला के तीन रंगमंच रहे : मथुरा, द्वारका एवं वृंदावन, तथापि जीवगोस्वामी ने वृंदावन को ही सर्वोत्तम कहा है। कुछ बंगाली महानुभाव तो मथुरा और द्वारका आज भी नहीं जाते। ऐश्वर्य-निरपेक्ष माधुर्य का चरमोत्कर्ष वृंदावन-गोकुल में ही हुआ। किशोर वय में आलंबन कृष्ण भी यहीं रहे, इसलिए भी वृंदावन श्रेष्ठ है[5]।

आचार्यों का यह भी मत है कि परकीया भाव ब्रज के अतिरिक्त कहीं भी प्रतिफलित नहीं हो सकता है[6]। गोपियों के अतिरिक्त कोई भी इस भाव का आश्रयत्व नहीं प्राप्त कर सकता है। इस धाम-कल्पना से व्यक्त होता है कि दर्शन की व्यावहारिक परिणति के लिए गोकुल, वृंदावन या ब्रज को बंगाली आचार्यों ने अनिवार्य तत्त्व समझा और यहां का निवास भी आवश्यक बतलाया।

गोपीभाव का अन्वेषण वल्लभ संप्रदाय में भी हुआ। स्वयं आचार्य जी ने गोपियों को अपना 'गुरु' माना—'गोप्यस्तु अस्माकं गुरुः'[7]। उन्होंने अपनी गोपीभावापन्न साधना के फूल के रूप में गोपियों की विरहवेदना की आकांक्षा की[8]। गो० विट्ठलनाथजी ने गोपीभाव को ही नहीं, राधा-भाव को भी स्वीकार कर लिया था[9]। गोपांगनाओं को इस संप्रदाय में परकीया भाव-सर्मपिता माना गया। सखीभाव या राधा-भाव की स्वीकृति वल्लभ-परवर्ती आचार्यों ने की। वल्लभाचार्यजी ने 'गोपी' तत्त्व की विस्तृत व्याख्या

---

१. डा० शशिभूषणदासगुप्त, श्रीराधा का क्रम विकास, पृ० २१४

२. ये दोनों ही कृतियां जीवगोस्वामी की हैं।

३. 'तदेव गोलोकं वर्णयित्वा तस्य गोकुलेन सदाभेदमाह'। —श्री कृष्णसंदर्भ, पृ० ३६९

४. श्रीकृष्णसंदर्भ, पृ० ३७४।

५ चैतन्य संप्रदाय में गोकुल, ब्रज और वृंदावन प्रायः पर्याय हैं।

६. परकीय भावे अति रसेर उल्लास। ब्रज बिना इहार अन्यत्र नांहि वास।।
चै० च०, आ० ली० परि० ४

७. सन्यास निर्णय, ८।

८. निरोध लक्षणम्, १।

९. गुसाईं जी ने स्वामिन्यष्टक, स्वामिनी स्तोत्र, एवं शृंगाररसमंडल जैसी कृतियों में इसी का भावन और प्रतिपादन किया है।

की है[1], राधातत्व की इतनी नहीं। ब्रज, गोकुल, वृंदावन और ब्रजवासी सभी इस संप्रदाय के लिए स्तुत्य हैं[2]।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं वल्लभाचार्य जी गोकुलाश्रित बालभाव को प्रकट रूप में और गोपीभाव को निजी, गोपनीय साधना के रूप में स्वीकृत करते थे। इसमें से प्रथम का अन्वेषण उन्होंने गोकुल क्षेत्र में किया और दूसरे का गोवर्धन क्षेत्र में। गुसाईं जी ने राधाभाव को ग्रहण किया और वृंदावन का तत्त्व भी इस संप्रदाय में समाविष्ट हो गया। वृंदावन में आज भी वल्लभ संप्रदाय की स्थिति माधुर्याश्रित संप्रदायों की अपेक्षा दुर्बल है। वैसे "गोपीभाव को जितनी शक्ति के साथ इस संप्रदाय ने स्थापित किया उतना उसके समकालीन किसी अन्य संप्रदाय ने नहीं किया।"[3]

निंवार्कजी का गोवर्धन-निवास उनके भावान्वेषण की दिशा का प्रतीक है। इस संप्रदाय के अनुयायी उन्हें युगलोपासना के प्रथम प्रणेता मानते हैं और प्रमाण-स्वरूप दशश्लोकी का पांचवां श्लोक प्रस्तुत करते हैं--'अंगे तु वामे वृषभानुजा मुद्रा आदि। अन्य कुछ विद्वान् इस संधारण को स्वीकार नहीं करते[4]। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि निंवार्काचार्यजी के व्यक्तित्व का रसोन्मुख विकास हुआ। आरंभ में उन्हें विष्णु के सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता था और वाणी-साहित्य में उन्हें रंगदेवी सखी का अवतार कहा गया है। इस प्रकार उपास्य की शक्ति एवं उसके ऐश्वर्य से उनका व्यक्तित्व गोपीभाव में समर्पित हो गया था। यह संक्रमण गोपीभाव के क्षेत्र गोवर्धन में ही प्रतीत होता है। गोपीभाव और युगलोपासना का बीज वाणी-ग्रंथों में पूर्ण विस्तार प्राप्त करता है। महावाणी में धाम के रूप में वृंदावन ही मान्य है। इसको नित्य विहार के स्थली के रूप में वंदनीय कहा गया है[5]। दक्षिण से गोवर्धन और गोवर्धन से वृंदावन, ये भाव-विकास की स्थितियों को प्रकट करने वाली शृंखला है। वृंदावन राधाभाव या सखीभाव का केंद्र है। इस संप्रदाय में ब्रज-लीलाओं से संबद्ध गोपीभाव का भी अभाव नहीं और निकुंज-लीलाश्रित सखीभाव की स्फूर्ति भी इसमें है।

राधाभाव का अन्वेषण : ब्रज और कृष्ण से संबंधित भक्ति संप्रदायों में ब्रजलीलाभाव से आरंभ होकर, गोपीभाव में होता हुआ भावान्वेषण राधाभाव एवं सखीभाव में लीन हो जाता है। राधाभाव का अन्वेषण भी ब्रजभूमि की माधुरी में ही हुआ।

पुराण साहित्य में राधाभाव : पुराणों में से श्रीमद्भागवत को प्रस्थानत्रयी के साथ जोड़कर प्रस्थान-चतुष्टय की मान्यता हुई[6]। वल्लभ और चैतन्य दोनों ही संप्रदायों ने भागवत को अत्यधिक महत्व प्रदान किया। श्रीमद्भागवत में राधाभाव का उल्लेख नहीं है। रासपंचाध्यायी में कृष्ण की एक गोपी का वर्णन अवश्य है और इसी संदर्भ में 'अनयाराधितो' पद भी पाया है। इसको लेकर भागवत में राधा के अन्वेषण का विफल

---

[१] सूर निर्णय, पृ० २०४

[२] सबोधिनी, रासपंचाध्यायी, फलप्रकरण, अ० ३। २-५।

[३] परमानंददास जी ने इनकी स्तुति में अनेक पद लिखे हैं--परमानंद सागर, ८३५-८६०

[४] डा० देवीशंकर अवस्थी, ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति, पृ० २४३।

[५] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दशश्लोकी को संप्रक्षिप्त माना है, हिंदी साहित्य, पृ०११९

[६] महावाणी, सिद्धांत सुख, १७०

[७] यह मान्यता वल्लभसंप्रदाय में हुई।

प्रयास किया गया है[1]। वास्तविकता यह है कि भागवत गोपीभाव की प्रतिष्ठा का ग्रंथ है, राधाभाव का नहीं। कुछ पुराण तो राधा के संबंध में इसी प्रकार मौन हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण[2], पद्मपुराण, वाराहपुराण, और आदि। पुराण राधा के संबंध में मुखर हैं। विष्णुपुराण एवं हरिवंशपुराण में वृंदावन की रासलीला का वर्णन है, पर वहां भी रासेश्वरी राधा नहीं है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण की राधा की आरंभिक स्थिति गोलोकधाम में मानी गई है और उनकी अवतरित स्थिति वृंदावन में[3]। अवतरित रूप में वह ब्रजमंडल में भक्तों की आराध्य बनी। 'राधावाराहकल्प' के अनुसार राधा गोकुल में वृषभानु गोप के यहां अवतरित हुईं। रायाण के साथ राधा का विवाह भी वर्णित है। इससे परकीया भाव का संकेत मिला है। इस भाव की परिष्कृति के लिए कहा गया है—राधा अपनी छाया वृषभानुसुता में रख गई और उसी छाया का विवाह रायाण के साथ हुआ और राधा श्रीकृष्ण के पास ही रही।[4] पद्मपुराण में राधाकृष्ण का 'युगलध्यान' का अन्वेषण है[5]। पुराणों में राधा के जो नाम आये हैं उनमें से कुछ रास-परक हैं, कुछ कृष्णपरक हैं, कुछ चंद्रपरक हैं, और शेष वृंदावनपरक—वृंदावन विनोदिनी आदि। इस प्रकार पुराणोक्त राधा-भाव वृंदावन से संबद्ध हो जाता है। पुराणोक्त राधाभाव की संक्षिप्ति : राधा से अनंत गोपियां प्रादुर्भूत, रासेश्वरी राधा, वृंदावन में राधा, राधा के बिना कृष्ण की पूजा असंभव[6]। तथा युगलध्यान।

राधा को वृषभानुसता भी कहा गया। वृषभानु का संबंध बरसाने से था। किंवदंती के अनुसार 'रावल' वृषभानु का पूर्वनिवास माना जाता है। राधा का जन्म भी यहीं हुआ बतलाया जाता है। इन दोनों ही स्थानों पर राधाजी के दर्शन हैं। भक्तिकाल में राधा-भाव के अन्वेषण के ये ही स्थान बने।

वृंदावन लता-कुंज से विभूषित होकर कृष्णलीला का केलि-स्थल बनता है। वृंदावन ही नित्य विहार की रस-माधुरी का एकमात्र कारण है[7]। संप्रदाय के कवियों ने वृंदावन की महिमा का गान किया है। भौतिक वृंदावन का महत्त्व अपने नैज गुणों के कारण है, आध्यात्मिक प्रतीक की दृष्टि से नहीं। "वृंदावन को कल्पना पर निर्भर सूक्ष्म या आध्यात्मिक नहीं माना गया। भौतिक रूप में यह वृंदावन नित्य और शाश्वत रहता है। यही इसकी विशेषता समझनी चाहिए।"[8] नित्य विहार के चार तत्वों में वृंदावन की गणना भी है[9]। यहां कृष्ण की कैशोर लीलाएं सदा संपन्न होती रहती हैं। वृंदावन को साक्षात् राधारूप ही कहा गया[10]। राधा-

---

१. सनातन गोस्वामी (वैष्णवतोषिणी टीका) विश्वनाथ चक्रवर्ती, कृष्णदास कविराज आदि ने इसी प्रकार का प्रयत्न किया। आधुनिक युग में फर्कुहर साहब ने भी इसी प्रकार का प्रयास किया।

२. दृष्टव्य ब्रह्मांड खंड, प्रकृति खंड, कृष्ण जन्म खंड।

३. अवतार का एक कारण उनकी रासपरायणता है और दूसरा श्रीदामा का शाप।

४. ब्र०वै०, प्रकृतिखंड, ४।८५

५. प० पु०, उत्तराखंड, राधाष्टमीव्रत, अ० १६२-६३।

६. देवीभागवत, खंड, ९, अ० ५०

७. रा० सु० निधि, २१६, २६१, २६६, २७५

८. डा० स्नातक, रा० व० सं०, पृ० १३६

९. चार तत्व हैं—राधा, कृष्ण, सहचरी और वृंदावन

१०. राधासुधानिधि में राधा के अंग-प्रत्यंगों का वृंदावन में उपकरणों के साथ रूपक भी बांधा गया है।

माधव को वृंदावन के अधीन भी कहा गया। जब वृंदावन का यह रूप स्थापित हो गया तो इस संप्रदाय के भक्त गायक वृंदावन-वास के लिए उत्सुक हो उठे। सेवक जी गोंडवाना से, ध्रुवदासजी सहारनपुर से, नेही नागरीदासजी बुंदेलखंड से, अनन्य अली आदि अनेक कवि और महात्मा अनेक स्थानों से आकर वृंदावन में नकुंज-लीला का भावना और गायन करते थे। अनेक कवियों ने अपने पुल्लिग को विस्मृत करके स्त्रीलिंग उपनाम से विभूषित किया। उदाहरण के रूप में अनन्यअली (भगवानदास), चंद्रसखी, सुखसखी (सहचरी सुख) आदि को लिया जा सकता है। इस प्रकार भौतिक वृंदावन सखीभाव में स्नात हो उठा और यहां का वातावरण बाहर के आगत भक्त कवियों की वाणी से गूंज उठा।

सखीभाव के अन्वेषण की दृष्टि से हरिदासी संप्रदाय भी उल्लेखनीय है। इसका दूसरा नाम सखी-संप्रदाय भी है। इसके प्रवर्तक हरिदास की सखीभावाविष्ट युगलोपासना में एकनिष्ठ थे[1]। भावसाधना को इस संप्रदाय के भक्तों ने शास्त्रीय व्याख्यान से बोझिल नहीं बनाया। युगल तत्व, निकुंज-विहार और राधा का प्राधान्य अपने आप में स्वतःपूर्ण हैं। यहां तक कि सखी आदि के वर्गीकरण की चिंता भी इन रसोपासकों ने नहीं की। केलिमाल में हरिदासी नामक सखी का भी उल्लेख है[2]। इसी प्रकार राधावल्लभ संप्रदाय में हितसखी की मान्यता है। ये दोनों व्यक्तित्व सखीभाव में पूर्णतः सर्मपित होकर स्वयं सखी बन गये थे।

लीलाधाम निकुंज है। निकुंज की सत्ता वृंदावन में है। वृंदावन ब्रज में है। ब्रज के भौतिक रूप की मान्यता इस संप्रदाय में भी रही। अनेक कवि भक्त बाहर से आकर वृंदावन में रहने लगे। नरहरिदास और स्वामी रसिकदास बुंदेलखंड से, पीतंबरदास नारनौल (शाहजहांपुर) से, ललितकिशोरी भदावर से, बनीठनीजी किशनगढ़ से आकर वृंदावन की निकुंज-भावना ,में रम गये। इस संप्रदाय के कवियों ने भी स्त्रीलिंग उपनाम धारण किये। उदाहरण के लिए ललितकिशोरी, रूपसखी, शीलसखी आदि का नाम लिया जा सकता है।

राधावल्लभ और हरिदासी संप्रदाय एक प्रकार से ब्रज की ही देन हैं। दोनों की भावभूमि भी प्रायः समान है। फिर भी विद्वानों ने इन दोनों में कुछ अंतर बतलाये हैं[3]। डा० देवीशंकर अवस्थी ने जो अंतर बतलाये हैं उनका सार इस प्रकार है : ब्रजलीला (पुराणोक्ति) एवं वृंदावनलीला (सखी भावापन्न) की दो भावधाराओं की खोज एवं प्रतिष्ठा ब्रजभूमि में हुई। राधावल्लभ संप्रदाय में ब्रज लीला की झंकृति हितजी के द्वारा कृष्ण, नंदनंदन, गोवर्धनधर, ब्रजनाथ जैसे कृष्णवाची शब्दों में है। सखी संप्रदाय या हरिदासी संप्रदाय में प्रायः इन शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। वहां समस्त नाम निकुंज एवं वृंदावन अथवा लीला के आधार पर व्युत्पन्न हैं। दूसरा अंतर यह कि श्री हितहरिवंशजी ने ललितादिक कहकर सखियों के बहुत्व की ओर संकेत किया है और ध्रुवदास ने अष्ट सखियों का निरूपण भी किया है[4]। हरिदासी संप्रदाय में सखीतत्व के परिगणन और निरूपण में कोई रुचि नहीं ली गई। राधावल्लभ संप्रदाय में राधा और वृंदावन

---

१. युगलनाम सों नेम जपत नित्य कुंज बिहारी।
अवलोकन रह केलि सखी सुख के अधिकारी।। (भक्तमाल ९१)

२. केलिमाल, २५

३. विजयेंद्र स्नातक, रा०व०सं० पृ० ५८४, डा० देवीशंकर अवस्थी, ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति, पृ० २१९–२२

४. ध्रुवदास, बयालीस लीला, सभामंडललीला, पृ० १३१–३२, रसानंदलीला, पृ० २५०

को पर्याप्त उभार मिला। हरिदासी साहित्य के उन तत्वों को इतना उत्कर्ष प्राप्त नहीं हुआ। संक्षेप में कहा जा सकता है कि शुद्ध सखी भाव की खोज हरिदासी संप्रदाय ने ही की। राधावल्लभ संप्रदाय की भी चरम परिणति सखीभाव में ही हुई थी, पर ब्रज लीला का पलोथन इसके साथ लगा रहा।

ललित संप्रदाय में भी यह भाव विकसित हुआ। इसमें राधा तत्व का चरमोत्कर्ष हुआ। परात्पर तत्व कृष्ण नहीं, राधा ही है[1]। वैसे यह संप्रदाय भी युगलोपासक है। हरिदासी संप्रदाय की भांति ललिता में गुरुत्व की प्रतिष्ठा भी की गई[2]। अष्टसखियों का विवरणात्मक निरूपण भी इसमें मिलता है[3]। इस प्रकार ललित संप्रदाय पर हरिदासी और राधावल्लभ संप्रदाय का सम्मिलित प्रभाव परिलक्षित होता है।

सखीभाव की व्याप्ति इससे प्रकट होती है कि रामभक्तिशाखा[4] और शुक्र संप्रदाय भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। इसके प्रवर्तक महात्मा शामचरणदासजी में एक ओर तो योग और निर्गुण तत्वों की स्वीकृति मिलती है और दूसरी ओर सखीभाव की अनुकृति। इस प्रकार वृंदावन में अन्वेषित सखीभाव की व्याप्ति निर्गुण मार्ग और रामशाखा दोनों में हुई। यही सखीभाव की दिग्विजय है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भक्तिसंदर्भ की समस्त धाराएं ब्रज की ओर प्रभावित हुईं। ब्रज में कृष्णलीला से संबंधित स्थलों का अन्वेषण आरंभ हुआ। आरंभिक स्थितियों में तीन क्षेत्र प्रमुख रूप से प्रकाश में आये : मथुरा-गोकुल, गोवर्धन-राधाकुंड, और कामवन-बरसाना। आगे स्थलान्वेषण, निकुंज के अन्वेषण में समाहित हो गया और वृंदावन एकमात्र निकुंज बन गया। स्थलान्वेषण में कृष्ण की ब्रजलीला से संबद्ध भाव उभरते रहे—वात्सल्य, सख्य, गोपीभाव आदि। ज्यों-ज्यों निकुंज-भावना प्रबल होती गई, राधाभाव और सखीभाव भी प्रमुख होते गये। और एक दिन इस भाव-युग्म ने समस्त भक्तिदर्शन और भक्ति-साधना को आच्छादित कर दिया। ●

---

१. वंशी अली जी के दो प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथ राधातत्व प्रकाश एवं राधा सिद्धांत हैं। राधोपनिषद की टीका भी आपने लिखी। वंशी अली को राधा की वंशी का अवतार भी माना जाता है।

२. हरिदासी संप्रदाय में हरिदास जी को लीला का अवतार कहा गया है।

३. राधासिद्धांतम्, ७८–८०

४. राम की रसोपासना के प्रवर्तक अग्रदासजी थे और इस उपासना का जन्मस्थान गल्ताजी। पूर्ण परिचय के लिए द्रष्टव्य डा० भगवतीप्रसाद सिंह रामभक्ति में रसिक संप्रदाय तथा डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र रामभक्ति में मधुरोपासना।

श्याम परमार

रासलीला

प्रचलित अर्थ में रासलीला कृष्ण की विविध लीलाओं से सम्बन्धित नृत्य-अभिनयात्मक सांगीतिक अभिव्यक्ति है। लीलानुकरण के साथ ब्रज के इस लोकग्राही नाट्य-स्वरूप में नृत्य को प्राथमिकता दी गयी है जिसे 'नित्य रास' कहा जाता है। 'नित्य रास' के पश्चात् 'लीला' (चरित्र) में कृष्ण-विषयक परम्परागत कथा-प्रसंगों की अनुकृति की जाती है। शताब्दियों से अर्जित यह अनुकृति, मात्र अवस्थानुकृति नहीं, बल्कि अपने स्वरूप में, सांगीतिक उपलब्धियों सहित, मध्यकालीन चित्र-शिल्प को भी समाहित किये हुए हैं। लोक-नाट्य के तत्वों से अनुप्राणित 'नित्य रास' और 'लीला' दोनों ही अंग पारस्परिक रूप में अन्योन्याश्रित हैं। सहसम्बन्धों की यही नृत्य-नाट्य शैली, ब्रज के लोकपरक अभिप्रायों से पूरित होने के कारण, खुले मंच की सर्वसुलभ विद्या है।

पिछले कुछ वर्षों में रास-सम्बन्धी अनेक रचनाओं की खोज हुई जिन पर कई दृष्टियों से विचार किया गया। रास संज्ञक ये रचनाएं बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुईं। यद्यपि शोधकर्ताओं द्वारा इन रचनाओं का विशेष अध्ययन अभी शेष है, तथापि प्रकाश में आयी इस सामग्री को काव्यरूपों के अन्तर्गत विद्या के रूप में अवश्य स्वीकार कर लिया गया। जैन साहित्य में उपलब्ध प्रबन्धों एवं चारणों द्वारा लिखित रासो साहित्य के सन्दर्भ में 'रासक', 'रासउ', 'रासा', 'रहस' आदि शब्दों की समय-समय पर चर्चा होती रही। रास के विषय में जब-जब आचार्यों ने अपने विचार प्रकट किये तब-तब शब्दों के पारिभाषिक मानदंड भी परिवर्तित हुए। विश्लेषण की दृष्टि से निष्कर्ष की किसी स्थिति तक शोधकर्ता अभी नहीं पहुंचे, क्योंकि रासलीला के वर्तमान स्वरूप, प्राचीन रास-प्रबन्ध एवं रासो काव्य के बीच संगत आधार अभी नहीं मिला है।

'रसानां समूहो रास' के अनुसार रास रसों का समूह है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के तैंतीसवें अध्याय में वर्णित महारास में कृष्ण के अनेक रूपों की कल्पना और दो गोपियों के मध्य एक-एक कृष्ण की अवस्थिति (योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोः द्वयों :) वस्तुतः एक सम्पूर्ण आयोजन है। वहां भी रास में नृत्य, अभिनय और संगीत की त्रयी द्वारा रस की सृष्टि की जाती है। हरिवंश पुराण में गान-वाद्य और अभिनय से युक्त नृत्य को 'रास क्रीड़ा' कहा है। उसमें कृष्ण के अतिरिक्त कोई पुरुष नहीं था, अर्थात् वह प्रधानतः स्त्रियों का नृत्य-नाट्य था (विष्णु पर्व, अध्याय २०, श्लोक संख्या २४–३५)। एक मत के अनुसार रास वह नृत्य है जिसमें कृष्ण गोपियों के साथ मण्डलाकार नृत्य करते हैं। डॉ० कंकड का कथन है कि रस शब्द की उत्पत्ति 'रस' से नहीं अपितु 'रास' से है जिसका तात्पर्य नृत्य के मध्य में जोर से चिल्ला उठने से है, जैसा कि आजकल ग्रामीण लोकनृत्य अथवा आदिवासियों के मनोरंजन में देखा जाता है। डॉ० दशरथ ओझा का कथन है : "रास शब्द संस्कृत भाषा का नहीं है, प्रत्युत देशी भाषा का है, जो संस्कृत बन गया और देशी नाट्य कला को, जो रास के नाम से प्रसिद्ध भी है, 'रास' के नाम से ही संस्कृत ग्रन्थों में उद्धृत कर दिया गया है। रास के देशीय होने का अनुमान इस बात से भी ज्ञात होता है कि रासो और रासक नाम से राजस्थानी में इसका प्रयोग मिलता है और वह रास, जिसका विशेष सम्बन्ध गोपियों से है, ग्वालों में प्रचलित कोई देशीय नाटक हो सकता है, जो संस्कृत नाटक से अपहृत नहीं माना जा सकता।" रस की परिभाषा व्याख्या का विषय है, तो भी रस रास का मूलतत्व है। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी वीर-गाथाकालीन

'रासो' का सम्बन्ध 'रासक' से बताते हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है--'वीसलदेव रासो' में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से 'रासो' हो गया है।" ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ३२)। कदाचित रस शब्द से परिपूरित होने के कारण वीरोचित लीलाओं के ग्रन्थ रासो कहलाने लगे हों। हो सकता है उसमें अभिनय का समावेश भी हुआ हो। भरत द्वारा नाट्य-शास्त्र में रास का उल्लेख क्रीड़ा-नृत्य के संदर्भ में किया गया है:

क्रीड़नीयकमिच्छायां दृश्यं श्रव्यं चयद् भवेत्

(नाट्य शास्त्र, प्रथम अध्याय)

भरत के अनुसार 'रासक' उपरूपक है। उन्होंने रासक के तीन भेद--तालरासक, दण्डरासक और मण्डलरासक बताये हैं। हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' के अनुसार रासक गेयरूपक है। धनिक ने रास का निर्देश सात उपरूपकों में किया है। 'अग्निपुराण' में जिन सत्रह उपरूपकों के नाम उपलब्ध हैं, उनमें नाट्य-रासक और रास के नाम अलग-अलग हैं। 'भावप्रकाश' में प्राप्त बीस, 'नाट्यदर्पण' में उल्लिखित चौदह और 'साहित्यदर्पण' में वर्णित अठारह उपरूपकों में इस विद्या की जानकारी मिलती है। 'भावप्रकाश' में तनिक विस्तार से लिखा गया है। उसके अनुसार रासक में एक अंक, नांदीपाठ पांच पात्रों का विधान, मुख, प्रतिमुख और निर्वहण संधियों का प्रयोग, कौशिकी और भारतीय वृत्तियों का निर्वाह, मूर्ख नायक और योग्य नायिका, विभिन्न भाषाओं का प्रयोग, वीथ्यंक आदि आवश्यक है। 'साहित्यदर्पण' ने भी इन्हीं लक्षणों का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में नाट्य तनिक अलग है। उसमें एक अंक, बहुताल-लय स्थिति, उदात्त नायक, उपनायक, श्रृंगार और हास्यरस, वासक-सज्जा तथा लास्यांगों का नियोजन रहता है।

विश्वनाथ के समय तक नाट्य-रासक और रासक के भेद स्पष्ट हो गये थे। इनमें नृत्य के साथ संगीत और अभिनय भी समाहित हुए। लोकभाषा का सहज उपयोग होने लगा था; प्रायः लोकप्रसिद्ध नायकों पर आधृत ये उपरूपक विशेष उत्साह के साथ प्रदर्शित किये जाते हैं। नृत्य यों भी इस कोटि के मनोरंजनों में आवश्यक थे। बाण ने 'हर्षचरित' में मंडलाकार नृत्य के लिए रासक शब्द का प्रयोग किया है (चतुर्थ उच्छ्वास)। आजकल इस शैली के लोकनृत्य राजस्थान, मारवाड़, ब्रज, सौराष्ट्र-मालवा और दक्षिण भारत में मिलते हैं। इनका सम्बन्ध निश्चय ही नाट्यशास्त्र में वर्णित ताल रासक, दण्डरासक और मंडलरासक रहा होगा:

नालरासक नामस्यात् तत्त्रथा रसिकं स्मृतम्।
दण्डरासकमवन्तु तथां मण्डल रासकम्।

तालरासक तालबद्ध नृत्य है। नाट्यशास्त्र की दृष्टि से तालरासक में निपुण भाट जाति बतायी गयी है। राजस्थान के भाट आश्रित अथवा पेशेवर यश-वर्णन करने वाली जातियों में गिने जाते रहे हैं। किसी समय वे नृत्य-गान में निपुण रहे होंगे।

उपदेश रसायन में तालरासु, लकुट या लड़डारासु का उल्लेख है। 'तालारासु विदिति विरयणहिं दिवसि लड़डा रसु सहुं परिसिहिं।' इन नृत्यों का जिक्र 'कर्पूरमंजरी' में भी उपलब्ध है। बागल ने बाघगुफा के एक चित्र को लड़डा रासु की अनुकृति बताया है। यह स्पष्ट है कि रास-संज्ञक नृत्य में तालियों का और डंडा खेलने की क्रियाओं का समावेश हो गया था। जैन-मंदिरों में भी श्रावक लोग तालियां बजा-बजा कर रात्रि में रास गाते थे। बाद में जीवहत्या के भय से उसे बन्द कर दिया। इस तरह के नृत्य चौदहवीं शताब्दी में पुरुषों और स्त्रियों द्वारा किये जाते थे जिन्हें बाद में अनुचित बताकर बंद कर दिया गया (देखिए 'नागरी

प्रचारिणी पत्रिका' में अगरचंद नाहटा का लेख, वर्ष ५, अंक ४, पृ० ४२०) ।

दण्डरासक दण्डों से किया जाने वाला नृत्य है। जिनदत्त सूरि ने इसे लकुट-रासक की संज्ञा दी है। 'सप्तक्षेत्र रास' में दण्डरासक करने वाली जाति नर्तक बतायी गयी है। सूरि ने दण्डरासक देखना वर्ज्य घोषित किया था। राजस्थान का डंडिया नृत्य इस कोटि में आता है। मारवाड़ में इसे 'डिडिया' या 'डांडिया' कहते हैं। डाण्डिया नृत्य के अन्तर्गत लगभग बीस-पच्चीस पुरुषों की एक टोली वर्तुलाकार नृत्य करती है। नाना प्रकार के वेषों से सज्जित नर्तक दोनों हाथों में लम्बी-लम्बी छड़ियां लेकर नाचते हैं। डण्डों अथवा छड़ियों को बजा कर क्रमबद्ध ध्वनि उत्पन्न की जाती है। हाथों में धारण किया हुआ दण्ड कभी तो विपरीत दिशा-स्थित व्यक्तियों के डण्डों से पृथक-पृथक बजता है तथा कभी-कभी एक साथ ही एक व्यक्ति दोनों हाथों के डण्डों को वाम दिशा के बन्धु से तथा पुनः दक्षिण दिशा के व्यक्ति से ध्वनित करता है। नाट्य की दृष्टि से इस नृत्य की विशेषता यह है––राजा, रानी, व्यापारी, साधु, जाट-जाटनी, राम, कृष्ण, शिवशंकर, सिन्धन या बंगालिन आदि के वेष बना कर नर्तक मैदान में आते हैं। ये शृंगार बहुरूपियों-से होते हैं और प्रायः राजस्थान की परम्परागत वेशभूषा में किये जाते हैं। सौराष्ट्र में यही नृत्य किंचित अलग रूप में प्रचलित है। स्त्रियां इसे डण्डों की सहायता से वृत्ताकार नाचती हैं। मुगलों के शासन-काल में स्वामी हरिदास, घमंडदेव और नारायण भट्ट प्रभृति अनेक संतों ने नृत्य के इन्हीं रूपों का संस्कार किया। अष्ठछाप के पदों का उस पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। उनके माध्यम से उसका संगीत मुखर हुआ। कहते हैं उस समय वल्लभ नामक नर्तक ने रास के उत्थान में बड़ा योग दिया। नाभादास के भक्तमाल में (छप्पय संख्या ८८) वल्लभ के सम्बन्ध में निम्न पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:

नृत्यगान-गुन निपुन, रास में रस बरसावत।
निज लीला ललितादि, बलित दंपतहिं रिझावत।।
अति उदार, विस्तार सुजस ब्रजमंडल राजत।
महामहोत्सव करत, बहुत सबही सुख साजत।।
श्रीनारायण भट्ट प्रभु परम प्रीति रस बस किये।
ब्रज-बल्लभ वल्लभ परम दुर्लभ सुख नैननि दिये।।

रास का यही नृत्यपरक रूप गरबा में लक्ष्य किया गया। यह भी कहा जाता है कि धूमरनृत्य से गरबा की उत्पत्ति हुई। क्षत्रपों ने गरबा को संवारा। 'फागुन की चांदनी रातों और नवरात्रियों में गरबा खिलता है।' सीथियन और हूण जाति के नृत्यों की शैली के अनुरूप गरबा की रमक है। गीत के साथ तालियों या डंडियों की ताल पर जब गरबा नाचा जाता है तब का दृश्य अत्यन्त मनोहर लगता है। 'स्पष्ट है, नृत्य की प्रवृत्ति वैष्णवीय है।' शाक्तों ने इसमें कुछ अनुष्ठान और जोड़ दिये। शक्ति का प्रतीक गरबा घट (जो घटदीप या गर्भदीप का द्योतक है) शाक्तों की ही देन है। उत्तर-भारत में प्रचलित गरबा इसी से प्रभावित है। 'मध्ययुगीन गुज़राती-साहित्य में लम्बे गरबों की रचना हुआ करती थी। वल्लभरचित ऐसे अनेक गरबे हैं, जिन्हें गाना आज पर्याप्त कठिन है।' बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में दयाराम ने अनेक छोटे गरबों की रचना की, जो आज भी प्रचलित हैं।

लकुटरास अथवा तालरास के समान इस नृत्य का एक और भेद है––गरबी, जिसे सम्पूर्ण गुजरात में पुरुष नाचते हैं। रास अथवा रासड़ा प्रायः इसी तरह के नृत्यों के लिए गुजराती में प्रचलित पर्याय है।

सामूहिक मंडलरासक पुरुषनृत्य दंडकरासक (अथवा गरबी) के बहुत निकट है। मालवा में इसे ही

'अण्टया रमण्या' कहते हैं। गोपालक जातियों के मण्डलाकार नृत्य, व्रज के 'ढाड़ा-ढाड़ी' नृत्य इसी रासक का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्राचीन चित्रों में इस शैली के नृत्यों के अनेक रेखांकन मिलते हैं।

हल्लीश नामक नृत्य इसी मण्डल-रासक का एक भेद है। भरत ने दोनों की चर्चा की है। वात्सायन ने इसका उल्लेख किया है—'हल्लीशक क्रीड़ेन के गायेनः। अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दों में हल्लीश नृत्य को मंडलकार नृत्य बताया है—'मण्डलेन तु यन्नाट्य हल्लीसकिमिति स्मृततर्म'। इससे ज्ञात होता है कि नवम शताब्दी तक दोनों नृत्यों में निहित भेद लुप्त हो गया होगा। हल्लीश एक प्रकार का मंडलाकार नृत्य था, जिसके लिए 'हरिवंश पुराण' के एक टीकाकार ने 'चक्रवाल' एवं बाणभट्ट ने 'आवर्त' की संज्ञाएं दीं। सबसे पहले बाण ने ही इसे उपरूपक-विशेष बताया। अभिनव गुप्त ने भी इसे इसी का समकक्ष नृत्य माना है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने हल्लीशक का उद्‌गम यूनानी नृत्य 'इलीशियन' से हुआ बताया। उनके अनुसार कृष्ण के रासनृत्य और हल्लीशक दोनों भिन्न परम्पराएं थीं, पर ईसवी सन के आसपास दोनों में संबंध हो गया।[1] यह सम्भव है कि ईसवी सन के पूर्व लोकप्रचलित नृत्यों पर बाहरी प्रभाव पड़ा हो।

चाहे रासक को उपरूपक कहें अथवा नृत्य, उसमें नाटकीय तत्वों का बहुत कुछ समावेश हुआ। यों तो गेय रूप में जो भी कुछ जैनमुनि कहा करते थे उसे रास कहा गया। हल्लीशक[2] शब्द के प्रयोग से रास के संबंध में बहुत प्रकाश पड़ता है। उसमें निहित शारीरिक हावभाव-प्रदर्शन अथवा नृत्य-गमन इन्हीं शब्दों से सम्बन्धित है। चूंकि कृष्ण-गोपियों के नृत्य एवं लीलाओं से संबंधित नाट्यगतरूप रास में निहित माने गये, इसलिए कंकड़ जैसे विद्वान ने रास का संबंध प्रधानतः नृत्य से ही माना। इतना ही नहीं, उन्होंने पहले से चले आ रहे आदिम नृत्य से उसका सम्बन्ध भी जोड़ लिया, क्योंकि रास का एक अर्थ जोर से चिल्लाना भी है। वन-नृत्यों-सी अनघड़ता रास में होती तो उसे सुरुचिसम्पन्न व्यक्ति विद्या के रूप में स्वीकार ही क्यों करते?

दूसरी ओर कृष्ण-लीलाओं में रास का उत्थान मानकर मैकडोनल ने भारतीय नाटकों की उत्पत्ति का आधार कृष्ण-भक्ति के प्रसार से ही माना।

भोज के 'सरस्वती कंठाभरण' और 'श्रृंगारप्रकाश' में रास संज्ञा का उल्लेख मिलता है। 'काव्यानुशासन' में उसे रागकाव्य की संज्ञा दी है। उसमें रासक को गेयरूपक ही बताया है।

जैन-साहित्य के अक्षय भंडार में जिन रासों का पता चला उससे इस काव्य विद्या के संबंध में बहुत प्रकाश पड़ा। यद्यपि ग्यारहवीं शताब्दी तक रासों को गीत और नृत्य से अलग नहीं माना गया था, परन्तु आगे चल कर जैन-साहित्य में यह विद्या गीत तक सीमित हो गयी। जैन श्रावकों ने नृत्य और अभिनय के महत्व को कम कर दिया। इससे इस शैली के दो प्रधान तत्व लुप्त हो गये। बारहवीं शताब्दी में रास उपरूपक कहे गये। उस समय इनमें नये विषयों को प्रश्रय मिला। कथातत्व का प्रवेश हुआ। चरित्रों को महत्व दिया गया। श्रेष्ठ श्रावकों और उदार पुरुषों पर चरितकथा-प्रधान रास रचे गये। इन्हें विविध छंदों में लिखने के कारण 'रासाबन्ध' संज्ञा दी गयी। आगे चलकर रास और रासा एक ही छंद माना गया। यह परम्परा क्रमशः लोक-काव्य के निकट आती गयी।

---

१. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३२—३३।

२. भास ने 'हल्लीशक' शब्द रास के अर्थ में प्रयुक्त किया है जिसमें गोप-गोपिकाओं का साथ में क्रीड़ा करने का उल्लेख है (भास नाट्यचक्रमः देवघर, पृ० ५६८–४०)

गीत-नृत्यपरक धारा : बारहवीं और चौदहवीं शताब्दी के बीच में रासग्रन्थों की बहुत रचना हुई। इसके पूर्व रासो नाम से अभिहित रचनाएं संस्कृत एवं प्राकृत में भी उपलब्ध नहीं होती थीं। ये रचनाएं अपभ्रंश में पहले-पहले आयीं। बाद में हिन्दी एवं गुजराती में लिखी गयीं। ये रचनाएं गीत-नृत्य एवं छंद वैविध्यपरक हैं। गीत-नृत्यपरक धारा प्रधानतः गुजरात एवं राजस्थान में खूब प्रतिफलित हुई। दूसरी धारा पूर्वी राजस्थान एवं कुछ हिन्दी-प्रदेशों में विकसित होती देखी गयी। रास की दृष्टि से हम उन्हीं रचनाओं पर विचार करेंगे जिनका संबंध नाट्य विद्या से है। इस दृष्टि से छंदवैविध्यपरक रासो-धारा की किसी भी रचना का प्रणयन नृत्य-नाट्य में नहीं हुआ। गीत-नृत्यपरक रासो-धारा के अन्तर्गत कुछ रचनाओं का क्रम इस प्रकार है : (१) उपदेश रसायन (११४३ ई०)--रचयिता जिनदत्त सूरि--यह उपदेश की दृष्टि से लिखी गयी रचना है। इनमें कोई कथा नहीं। (२)भरतेश्वर बाहुबलीरास (११९४) ई०--इसके रचयिता शालिभद्र सूरि हैं। इसमें ऋषभदेव के दो पुत्रों भरतेश्वर और बाहुबलि के बीच राजसत्ता के लिए हुए संघर्ष की कथा है। (३) बुद्धिरास (११८४ ई०)--इसके रचयिता भी उपयुक्त शालिभद्र सूरि हैं। इसका विषय उपर्युक्त उपदेश रसायन की भांति जैन धर्मोपदेश है। (४) जीवदायारास (१२०० ई०)--इसके रचयिता आसगु हैं। इसका विषय दया-धर्म का उपदेश है। (५) चन्दनबाला रास (१८०० ई० के लगभग)--रचयिता आसगु हैं। इसमें चन्दनबाला की धार्मिक कथा कही गयी है। (६) जम्बूस्वामीरास(१२०७ ई०)--यह रचना धर्मसूरि की है। इसमें महात्मा जम्बूस्वामी का चरित तथा गुण वर्णित हैं। (७) रेवंतगिरिरासु (१२३१ ई० के लगभग)--यह कृति विजयसेन सूरि की है। इसमें गिरनार के जैन-मन्दिरों की कथा है। (८) नेमिजिणन्दररासो अथवा आबूरास (१२३२ ई०)--यह पाल्हण की कृति है। इसमें नेमिनाथ की कथा कही गयी है। (९) गयसुकुमाररास (१२४३ ई० के लगभग)--यह देल्हणि की कृति है। इसमें गयसुकुमार का चरित वर्णित है। (१०) सप्तक्षेत्रिरासु (१२७० ई०) --इसका रचयिता अज्ञात है। इसमें जैन-सप्तक्षेत्रों—जिन-मंदिर, जिन-प्रतिमा, ज्ञान, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका की उपासना वर्णित है। (११) पेथड़रास (१३०३ ई० के लगभग)—इसके रचयिता मंडलीक हैं। इसमें संघपति पेथड़ का चरित वर्णित है। (१) वच्छुलिरास (१३०६ ई०)--इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। इसमें एक जैन वच्छुलि ग्राम का वर्णन है। (१२) समरारासु (१३१४ ई० के बाद)--इसके रचयिता अम्बदेवसूरि हैं। इसमें संघपति समरा का चरित वर्णित है। (१३) बीसलदेवरास (१२९७ ई० के लगभग)--इसके रचयिता नरपति नाल्ह हैं। इसमें राजा बीसलदेव की स्त्री से रूठ कर उड़ीसा जाने की कथा है। (हिन्दी-साहित्य कोष, डा० माताप्रसाद गुप्त की टिप्पणी से उद्धृत)। इन रासों के अतिरिक्त अनेक रास और भी हैं जिनका यहां उल्लेख करना आवश्यक नहीं लगता है। इतना अवश्य है कि शेष रचनाओं की परम्परा इन्हीं रचनाओं के अन्तर्गत आती है। जहां तक अभिनय का प्रश्न है, 'रेवन्तगिरिरासु' की पुष्पिका में संकेत किया गया है कि रास का अभिनय करने वालों पर नेमिनाथ प्रसन्न होते हैं और अम्बिका उनकी समग्र इच्छाओं को पूर्ण करती है।

कथानक की दृष्टि से 'भारतेश्वर वाहुबलीरास' अभी तक सर्वप्रथम उपलब्ध रचना है। इसे हिन्दी का प्रथम रास माना जा सकता है। इसकी भाषा प्राचीन राजस्थानी और पुरानी गुजराती अथवा पुरानी हिन्दी अपभ्रंश की परवर्ती है। यद्यपि नाहटा ने 'भारतेश्वर वाहुबली घोर' (व्रजसेन सूरि रचित) को इससे भी पहले ही रचना बताया है। यह वीररसपूर्ण प्रवन्ध है और इसके कई स्थानों पर नाटकीय संवादों की व्यवस्था है।

क्रम की स्थिति में पहले क्रीड़ात्मक, फिर नृत्यगीतमय और अन्त में गीतमात्र (श्रव्य-काव्य) से संबंधित रास उपलब्ध हैं।

जहां तक रास में वीरोचित आदर्श के समावेश का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि ऐसे रासक उद्धत गेय रूपक की श्रेणी में आते हैं। उद्धत तत्व के कारण इन रचनाओं में वीरत्व का समावेश हुआ। कभी-कभी राज्य अथवा देश में रण की परिस्थिति बन जाने पर ही इस विद्या का उपयोग भी हुआ लगता है। इसलिए कतिपय वीररस प्रधान काव्य 'रास' अथवा रासो' कहे गये। इसे रास की चारणी साहित्य-परम्परा के अन्तर्गत विकसित एक धारा के रूप में महत्व दिया जा सकता है।

प्राचीन गुजराती साहित्य में रास-ग्रन्थों की एक साहित्यिक परम्परा का उल्लेख कन्हैयालाल मुन्शी ने अपने ग्रन्थ 'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' (१९३५) में किया है। ईसवी सन ११११८ के 'नवतव भाष्य' में यही परम्परा अपभ्रंश साहित्य का अंग वतायी गयी। मुंशी का कहना है कि गुजरात में विकसित रास-परम्परा का सम्बन्ध 'भारतेश्वर बाहुवली' से है।

रासलीला की उत्पत्ति और विकास : धार्मिक ग्रन्थों में 'रास' दार्शनिक विचारों का स्पर्श पाकर ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप से सन्निद्ध हो रहस्यमय स्थिति तक पहुंच गया। 'लीला' वस्तुतः एक क्रिया है, यद्यपि 'लीला' शब्द भी दार्शनिक परिभाषा में गूंथा जा चुका है। भगवान रास-रूप में निहित हैं। रास में ही उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। लीला रससृजन का माध्यम है। वही भगवान की प्रेमस्वरूपा अभिव्यक्ति है।

रासलीला, जैसा कि आरम्भ में कहा गया है, प्रचलित अर्थ में कृष्ण-चरित्र से संबंधित नृत्य-अभिनयात्मक विविध लीलाओं का द्योतक शब्द है। नृत्य के साथ आंशिक रूप में संवादों एवं प्रधान रूप से संगीत का इसमें प्रचार है। इसीलिए कालान्तर में रासलीला कतिपय नाटक के तत्वों से अनुप्राणित होकर अपने लोकग्राही रूप में खुले रंगमंच की नाट्य संपत्ति बन सकी।

भारतीय साहित्य एवं कला में कृष्ण ऐसे चरित-नायक रहे हैं जो न केवल अपनी लीलाओं के लिए विख्यात हैं, बल्कि दर्शन, साहित्य और राजनीति में भी उनका प्रवेश निस्संदेह प्रभावी रहा। मध्यकाल में, उत्तर भारत में कृष्ण-लीलाएं लौकिक रंगमंच का विषय बनीं। रास अर्थात नृत्यपरक अभिव्यक्ति और लीला दोनों का संयुक्त संयोजन रासलीला में हुआ। द्विवेदीजी का अनुमान है कि रासलीला का सम्बन्ध केवल श्रीमद्भागवत से ही नहीं, बल्कि उस पर एक और भिन्न परम्परा का प्रकाश भी पड़ा है। उस परम्परा का उत्सव जयदेव के गीत-गोविन्द में रहा है। भागवत-परम्परा की रासलीला शरद पूर्णिमा को हुई थी, गीत-गोविन्द-परम्परा का रास वसन्त काल में हुआ। सूरदास और उनके समकालीन भक्त कवियों की रचनाओं पर इन दोनों परम्पराओं का प्रभाव पड़ा। (मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० १३५)। इन भक्त कवियों द्वारा रचित पदों का आधार लेकर अनेक लीलाओं की सृष्टि की गयी। स्पष्ट है कि इन लीलाओं का केन्द्र ब्रज क्षेत्र रहा है। इसी क्षेत्र में रासलीला को अपने परिष्कृत रूप में विकसित होने का अवसर मिला। आरम्भ में रासलीला का स्वरूप ही नृत्यपरक रहा है और बाद में उसमें झांकी (चित्रात्मकता) और अभिनयात्मक वैविध्य का समावेश हुआ। रासलीला का प्रारम्भिक अंश नित्य रास है जिसमें राधा और कृष्ण (स्वरूप) गले में परस्पर बाहें डाले नृत्य करते हैं। रासमंडलियों के मुखिया (स्वामी) द्वारा गेय पदों पर आधृत इस नृत्य का मूलबिन्दु गोपालक जातियों में प्रचलित लोकनृत्य में है, जिसमें केवल स्त्रियां ही भाग लेती हैं। इसका प्रभाव इतना व्यापक रहा है कि अनेक ग्रन्थों में रास का उल्लेख हुआ। किन्तु जब रास के साथ लीला को जोड़ा गया और उसके परस्पर नियोजन में जो स्वरूप विकसित होकर आया, वह निश्चय ही पन्द्रहवीं शताब्दी

के बाद की चीज है। रासलीला में माखनचोरी, मानलीला, उद्धवलीला, चीरहरण, पनघटलीला आदि लीला-प्रसंगों के समावेश का श्रेय स्वामी हरिदास, वल्लभ सम्प्रदाय के स्वामी विट्ठलनाथ (सत्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ), निंबार्क सम्प्रदाय के घमंडदेव, चैतन्य सम्प्रदाय के नारायण भट्ट और हितहरिवंश को है। इनके समय तक रासधारियों की मंडलियां बन गयी थीं। ग्राउज़ महोदय नारायण भट्ट को रासलीला का संस्थापक मानते हैं (ए डिस्ट्रिक्ट मेमॉयर आफ़ मथुरा, पृ० ८७, सन् १६००)। ग्राउज़ ने रास को यूरोप के मिरेकल प्लेज़ के समान 'दृश्यरूपक' बताया। ब्रोटन उसे 'बेले'(समूह नृत्य) और नारविन हेवन उसे धार्मिक रूपक मानते हैं। नृत्य का प्राधान्य रासलीला का प्रमुख विषय रहा। लीलाओं का आश्रय धार्मिक भावों से प्रेरित होकर लिया गया लगता है। कहते हैं, घमंडीदेव ने ललित सखी के ग्राम करहला के कुछ ब्राह्मण लड़कों की रासधारी मंडली बनायी। बाद में कामबन, कमई, पियास आदि ब्रज के अन्य स्थानों में मंडलियां बनीं। व्यावसायिक मंडलियां भी बन गयी थीं। ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि ब्रज क्षेत्र के बाहर रासमंडलियां लीला करने जाया करती थीं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में उज्जैन में की गयी रासलीला का उल्लेख प्राप्त है। अठारहवीं शताब्दी में तो कई मंडलियां सक्रिय थीं। मोहनदास (संवत १७१४ के लगभग), किशोरीदासजी और उनके घराने के बालकृष्ण स्वामी (संवत १७८० के पूर्व), चन्द्रसखी (संवत १७००–८०), उदयकरण खेंमकरण (१८वीं शती का अंतिम दशक) आदि की मंडलियां इसी काल में हुईं। टॉड ने 'दी ऐनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान' में दौलतराव सिंधिया के दरबार में मथुरा से प्रतिवर्ष ग्वालियर जाकर रासलीला प्रदर्शित करने वाले रासधारियों का उल्लेख किया है। टॉमस डूएट बोटन ने भी, जोकि माधवराव सिंधिया के शिविर में ब्रिटिश प्रेसीडेन्सी का प्रधान अंगरक्षक था, अपने एक पत्र में (१० अगस्त, १८०९) रासधारियों के उत्सव की चर्चा की है।

उन्नीसवीं शताब्दी में रासलीला अपने पूर्ववर्ती रूप में ही बनी रही। 'रास सर्वस्व' (संवत १९५० के लगभग) में इस समय के रासधारियों का ब्यौरा मिलता है। आजकल रास की अनेक पुस्तकें उत्तर-भारत में मिलती हैं। इन पुस्तकों में कथोपकथन की गीतबद्ध शैली के साथ प्रायः संगीत का निर्देश भी होता है । नारायण स्वामी कृत 'ब्रज विहार,' चाचावृन्दावनदास कृत 'रास छद्मविन्यास'; विजयसखी रचित 'रासलीलाएं' और ब्रजवासीदास कृत 'ब्रजविलास' (स० १८०९) तो रास रसिकों की प्रिय पुस्तक हैं।

जन-रुचि की अनुकूलता एवं अभिनयात्मक प्रसाधन के लोकग्राही विकास में रासलीला अधिकांशतः श्रृंगारमयी होती रही, जिसका परिणाम यह हुआ कि इतर प्रान्तों में ये लीलाएं वहां की परम्परागत धाराओं को भी प्रभावित करने लगीं। आज रासलीला लोक-नाट्य ही है एवं खुले रंगमंच तथा उसके प्रसाधनों को देखते हुए वह 'लोक' की ही वस्तु सिद्ध होती है।

१५वीं शताब्दी में सम्भवतः रास की तीन श्रेणियां हो गईं :

(१) जन-नाट्य के रूप में, (२) चरित के रूप में, और (३) रासो के रूप में।

जहां कहीं भी रासलीला का प्रदर्शन होता है, श्रद्धालु जनता मंत्रमुग्ध होकर देर तक बैठी रहती है। पात्रों के पद्यात्मक संवाद लोगों को प्रभावित करते हैं। रासलीला के नायक कृष्ण और प्रधान नायिका राधा होती हैं। राधा गोपियों के साथ मंच पर प्रवेश करती हैं। खलनायक कंस है, जो रसनागर कृष्ण का एकदम विरोधी है। अतः उसके संवाद पद्यबद्ध न होकर गद्यमय होते हैं।

रासलीला की उत्पत्ति के विषय में श्रीमद्भागवत की यह कथा उल्लेखनीय है, जिसमें राधा एवं अन्य गोपियों में अहंकार और अभिमान उत्पन्न होने के कारण प्रधान नायक कृष्ण अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। उन्हें

स्मरण करने और उनकी लीलाएं करने से वे पुनः प्रकट हुए। इससे कहा जाता है कि रासलीला की उत्पत्ति वियोग-शृंगार से हुई। फिर भी यह निर्विकार है कि भागवत-धर्म के प्रसार ने रासलीला को बहुत आगे बढ़ाने में योग दिया।

एक किंवदन्ती के अनुसार रासलीला मणिपुरी नृत्य की उत्पत्ति का आधार मानी जाती है। एक बार पार्वती ने नृत्य और घुंघरू की ध्वनि सुनी और उसके पश्चात शिवजी से रासलीला के दर्शन कराने का अनुरोध किया। भगवान शंकर ने यह स्वीकार नहीं किया, किंतु पार्वती के अनुरोध का अनुमान कर किसी गुप्त स्थान पर वह आयोजन पुनः करने की स्वीकृति दे दी। शिवजी ने बड़े यत्न से एक स्थान खोज निकाला। उन्होंने देवी-देवताओं, गन्धर्वों-अप्सराओं आदि को रासलीला में सम्मिलित होने का निमंत्रण भेजा। नंदी मृदंग लेकर, ब्रह्मा शंख लेकर और इन्द्र वेणु लेकर उपस्थित हुए। नागराज की कृपा से सम्पूर्ण स्थान आलोकमय हो गया। गंधर्वों ने अपना स्वर्गीय संगीत आरम्भ किया। रासलीला प्रारम्भ हुई। यह रासलीला लगातार सात दिन और सात रात होती रही। कहते हैं, तभी से मणिपुरी नृत्य-परम्परा आरम्भ हुई।

कालियानाग के दमन के पश्चात श्रीकृष्ण ने वृंदावनवासियों के साथ नृत्य किया था। वह नृत्य अवश्य ही लोकनृत्य रहा होगा। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भागवत पुराण में उपलब्ध रासलीला की जो विस्तृत चर्चा की उसमें राधिका के साथ के नृत्य के अतिरिक्त पुरवासियों के साथ भी नृत्य किये जाने का उल्लेख है। यह नृत्य गोलाकार हुआ करता था। कृष्ण मध्य में और उनके आस-पास गोपियों के जोड़े नृत्य करते थे। कई प्राचीन चित्रों में राधिका के साथ कृष्ण मध्य में बताये गये हैं। तालियां देकर नृत्य करते हुए चित्र भी उपलब्ध हैं।

गुजरात के संतकवि नरसिंह मेहता (१५वीं शताब्दी) के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने कृष्ण की रासलीला का आत्मदर्शन किया था। उस समय वे हाथ में मशाल लिये हुए थे। रास-दर्शन में वे इतने तल्लीन हो गये कि मशाल उनके हाथ को ही जलाने लगी।

नृत्य में प्रयुक्त परमूल और सांगीतिकता : रासलीला का आरम्भिक अंश नित्य रास से सम्बन्धित है। नृत्य की इस शैली के संबंध में रासधारियों के घरानों में प्रचलित मौखिक तथा लिखित प्रमाणों का बहुत अभाव है।

आरम्भिक गान के पश्चात कतिपय औपचारिक सस्वर संवादों से रास की भूमिका प्रस्तुत की जाती है। उदाहरणार्थ राधा-कृष्ण की युगलछवि की ओर उन्मुख होकर एक सखी विनीत भाव से निवेदन करती है : 'रास को समैं ह्वै गयो अब आप पधारें।' कृष्ण सिंहासन से उठते हैं।

भूमिका के बाद राधा-कृष्ण का युगल नृत्य होता है। फिर सखियां भी नृत्य में सहयोग देती हैं। प्रायः नृत्य की व्यवस्था परम्पराश्रित गान-वाद्य पर निर्भर करती है। नृत्य प्रधानतः मंडलाकार होते हैं और उनमें ताल का विशेष महत्व होता है। अतः पद के विलंबित गान के समय जो गति होती है, वह उसके दुगुन और चौगुन के समय बराबर बढ़ायी जाती है। नृत्य के विभिन्न अंगों का उल्लेख करना यहां संगत नहीं होगा, किन्तु इतना स्पष्ट है कि कत्थक नृत्य में प्रयुक्त परन और मूल विकास स्पष्टतः रास के इसी नृत्यरूप से आया हुआ लगता है।

नृत्य में अभिनय का अंश लुप्त नहीं होने पाता। कृष्ण और राधा चक्राकार घूमते हैं। सखियां भी ताल पर नृत्य करती हुईं, सम पर कृष्ण और राधा के समक्ष ही घुटनों के बल बैठती हैं। कृष्ण सखियों के

साथ भी नाचते हैं और मंडल में से बाहर आकर पुनः राधा के सम्मुख मुंह-मुंही खड़े होते हैं। राधा भी इस क्रम को दुहराती हैं। इस क्रम में पद-संचालन का वैशिष्ट्य बराबर लक्ष्य करने की चीज है। अभिनय का अंश कृष्ण द्वारा राधा का श्रृंगार करने और पुनः अपने सिंहासन पर आकर बैठने में प्रकट होता है।

नृत्य के बाद रासधारियों का प्रमुख, स्वामी, विभिन्न कवित्त, सवैये और पद गाता है। कुछ समय इस प्रकार गान करने के पश्चात सामूहिक गान और नृत्य आरम्भ होता है। राधा और कृष्ण के युगल नृत्य में सखियों द्वारा जो पद गाया जाता है उसका परमूल इस प्रकार है। ता ता थेई, ता ता थेई, चरन चपल आली। ···और जब डंडों की ताल पर सभी मंडलाकार नृत्य करते हैं, तब एक प्रचालित पद के अंतर्गत 'था किट, घुम टिक, तकिट तका। तक धुम किट, धुम किट तक था' परमूल की आवृति होती है।

नित्य-रास का अंतिम पक्ष सामूहिक गान द्वारा ही सम्पन्न होता है। एक ही पंक्ति में सभी स्वरूप (पात्र) खड़े होते हैं। पंक्ति में से ही पद-ताल देते ही वे क्रमशः आगे बढ़ते हैं और हाथों के द्वारा भाव-प्रदर्शन करते हैं।

नित्य रास के बाद ही लीला प्रस्तुत की जाती है।

रासलीला का कोई औपचारिक मंच नहीं होता। स्वरूपों को कुर्सी या तख्त पर आसीन करके उनके समक्ष अभिनय का स्थान बना लिया जाता है। उपयुक्त स्थल मंदिर का प्रांगण, खुला बगीचा या ऐसा स्थान होता है जहां दर्शकों के बैठने का सुभीता हो।

लीला में स्थान एवं दृश्य-परिवर्तन का संकेत पद-गायन द्वारा किया जाता है। पात्र स्वयं ही यह कार्य कर लेते हैं। पर्दे के लिए साधारण शाल या चादर को काम में लिया जाता है। झांकी-प्रदर्शन के लिए रासधारियों में से ही कोई दो व्यक्ति पर्दा तानकर दर्शक का औत्सुक्य बढ़ाते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह समस्त व्यापार सहज होता है। सम्पूर्ण आयोजन के प्रति दर्शक की परम्परागत श्रद्धा क्षीण नहीं होने पाती, और बीच-बीच में से राधा-कृष्ण की जय-ध्वनि वातावरण को उत्फुल्ल बना देती है।

जहां तक संगीत का सम्बन्ध है, रासलीला में पहले प्रयुक्त किये जानेवाले कुछ वाद्यों का उल्लेख परमानन्ददास, सूरदास, कुंभनदास और गोविन्द स्वामी ने अपनी रचनाओं में किया है। उल्लिखित वाद्य हैं: ताल, मृदंग, झांझ, डफ, मुरली, मुरज, उपंग, कंसताल, कठताल, श्रृंग मुहचंग, अधौटी, बीना, तान-तरंग और पखावज। आजकल केवल सारंगी, पखावज, हारमोनियम और मजीरा का प्रयोग ही शेष रह गया है। उरप, तिरप, सुलप, लाग, डाट, ध्रुवा, छंद, जाति, ग्राम और राग आदि शब्दों के पारिभाषिक प्रयोग भी रास-साहित्य में ध्यान देने योग्य हैं। ···

लीला के पूर्व राधा-कृष्ण की युगल छबि की आरती उतारी जाती है। आरती के समय रंगभूमि के गायकादि तथा प्रेक्षक उठ खड़े होते हैं। उसके अनन्तर निश्चित लीला-कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता है। पात्रों में राधाकृष्ण और गोपिकाएं रहती हैं। बीच-बीच में हास्य का प्रसंग भी रहता है। विदूषक के रूप में मनसुखा रहता है, जो विभिन्न गोपिकाओं के साथ प्रेम एवं हंसी की बातें करके कृष्ण के प्रति उनके अनुराग को व्यंजित करता है, साथ ही दर्शकों का भी मनोरंजन करता है। जब कभी अभिनेताओं को वेशविन्यास या रूपसज्जा करने में विलम्ब होता है, तो उन क्षणों के लिए कोई हास्य या व्यंग्यपूर्ण दो पात्रों के प्रहसन की योजना कर ली जाती है, किन्तु यह कार्य लीला से सम्बन्धित नहीं होता। कृष्ण का गोपियों, सखियों के साथ अनुरागपूर्ण वृत्ताकार नृत्य होता है। कभी कृष्ण गोपियों के कार्यों एवं चेष्टाओं का अनुकरण करते हैं और कभी गोपियां कृष्ण की रूप चेष्टाओं का अनुकरण करती हैं और कभी राधा सखियों के कृष्ण की

रूप-चेष्टाओं का अनुकरण करती हैं। यही लीला है। कभी कृष्ण गोपियों के हाथ-में-हाथ बांध कर नाचते और कभी वे मण्डलाकार गोपियों से घिरकर उनके बीच में नाचते हैं। इन लीलाओं की कथावस्तु प्रायः राधाकृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाएं होती हैं, जिनमें अष्टछाप के कवियों के भजन गाये जाते हैं। लीला में अभिनय कम, संलाप अधिक रहता है। कृष्ण धीरललित नायक होते हैं, जो समस्त कलाओं के अवतार माने जाते हैं। राधा उनकी अनुरंजनकर्त्री शक्ति के रूप में दिखायी जाती है। वही समस्त गुणों एवं कलाओं की खान, नायिका, बनती हैं। गोपियां-सखियां, प्रगाढ़ यौवना और भावप्रगल्भा होती हैं। उनमें शोभा, विलास, माधुर्य, कान्ति, दीप्ति, विलास, विच्छित्ति, प्रागल्भ्य, औदार्य, लीला, हाव, हेला, भाव आदि सभी अलंकार होते हैं।

लीला के अंत में युगल-छवि की पुनः आरती होती है। इस बार प्रेक्षक जनता भी आरती लेती है और आरती के थाल में रुपये-पैसे की भेंट चढ़ाती है। इस बार आरती के बाद लीला के विषय में मंगल कामना की जाती है।

ऐसा लगता है ब्रज की पद्धति ४०० वर्ष पुरानी है। फिर भी बारहवीं शताब्दी के बाद में लिखे गये रासो साहित्य को देखते हुए रास के रूप शास्त्रीय और लोकपरक दोनों शैलियों में विभक्त किये जा सकते हैं। लिखित रास के समय भी उनके लोकपरक रूप रहे होंगे जो अब भी किन्हीं अंशों में मंडलाकार नृत्यों और अन्य लोकगीतात्मक नृत्य-प्रवृत्तियों में लक्षित होते हैं। इन सब में ब्रज की रासलीला सुघड़ जान पड़ती है। उसके कलात्मक रूप को विकसित किये जा सकने की पूरी सम्भावनाएं हैं।

रासलीला की परम्परा हिन्दी-साहित्य की ही वस्तु नहीं, अपितु उत्तर-भारत तथा उसके निकटवर्ती एवं सुदूर प्रान्तों के साहित्य की भी सम्पत्ति है। लोकनाटकों की परम्परा में रासलीला की बिखरी कड़ियां द्रष्टव्य हैं। रास ने जहां एक ओर नृत्य की भूमिका प्रस्तुत की है वहां दूसरी ओर नाट्य सामग्री की दृष्टि से लीलाओं में अभिनय संबंधी उपरकण भी दिये हैं।

रास ग्रन्थों की खोज ने हिन्दी नाट्य के आरंभ का समय तेरहवीं शताब्दी प्रमाणित किया है। रासो की परम्परा ने सैकड़ों वर्षों तक हिन्दी के आदिकाल को संवारा है। अपभ्रंश में उपलब्ध रास साहित्य का यथोचित अनुसंधान और भी अधिक सम्भावनाओं को प्रकाश में ला सकता है। रास से सम्बन्धित 'रहस' शब्द की चर्चा विद्वानों ने की है जो रहस्य का द्योतक है। कहा गया है कि उपलब्ध रास-नाट्य को रहस कहा जाता था। श्रीकृष्णदास के शब्दों में वाजिदअली शाह अपने यहां रहस ही खेलता था और उसके अभिनय के लिए उसने कैसरबाग में रहसखाना बनवाया था। मगर रहस का सम्बन्ध रास से जोड़ना मात्र भ्रांतिपूर्ण अनुमान है।

रासकों के विकास-क्रम की साधारण स्थिति इस प्रकार प्रथम तीन भागों में विभाजित की जा सकती है। चौथी स्थिति विकृत प्रभावों की है।

१. जैन रासकों की परम्परा, जो ब्रज में प्रचलित रासलीला के प्रारम्भ से चली आ रही थी। १६वीं शताब्दी तक इस जैन-परम्परा का प्रभाव बना रहा।

२. वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ ही कतिपय आचार्यों ने श्रीमद्भागवत के विविध प्रसंगों से कथानक लेकर इस नाट्य-शैली का आश्रय लिया। यह परम्परा नन्ददास तक अपने अनगढ़ स्वरूप से चलती रही।

३. सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर नन्ददास द्वारा परिष्कृत रासलीला, श्री वियोगी हरि रचित 'छद्मयोगिनी लीला' (संवत १९७८ वि०) तक सतत रूप से बनी रही।

४. इसके आगे रासलीला विभिन्न लीलाओं के प्रयोग का आधार बनी। उसका गीति-नाट्य वाला स्वरूप धीरे-धीरे गद्य की ओर झुकने लगा। परिणाम-स्वरूप विकृतियों का समावेश हुआ। थियेट्रिकल कम्पनियों का प्रच्छन्न प्रभाव भी इस परिवर्तन का कारण हुआ।

रासलीला का आज के ग्रामीण जीवन में जो महत्व है, उसके मूल में कृष्ण की विविध लीलाओं के प्रति शताब्दियों का पोषित लगाव स्पष्ट है। श्रद्धा और भक्ति का स्रोत उसे वैष्णव संस्कारों से उपलब्ध हुआ। ब्रज-क्षेत्र में रासधारियों ने कालान्तर में इसे जीविका का साधन बना लिया। परिणामस्वरूप रासलीला के परम्परागत स्वरूप को तद्वत बनाये रखना कठिन होता गया। स्थायी रूपरेखा का ध्यान रखते हुए भी मंडलियां अपनी और दर्शकों की सुविधाओं के लिए लीला-प्रदर्शनों में सामयिक हेरफेर कर लेती हैं। मगर वैष्णव भक्ति से उत्पन्न इस नृत्य-नाट्य शैली का प्रभाव सदियों पहले आंशिक रूप से असम के अंकिया और किर्तनिया नाटकों पर जिस तरह पड़ा वैसा कहीं और लक्ष्य नहीं किया गया। ब्रज-क्षेत्र की इस अपूर्व नाट्य शैली ने राजस्थान में भरतपुर, करौली, धौलपुर आदि स्थानों के माध्यम से प्रवेश किया। अपने प्रभाव वैशिष्ट्य के कारण कुछ मंडलियों ने इसे बाद में उपजीविका का साधन बना लिया। जयपुर के पास फुलेरा में रासलीला करने वाली व्यावसायिक मंडलियां लीला के नाम पर आजकल केवल राधा और कृष्ण की युगल छवि दिखाकर थाली फिरा देती हैं और बाद में नथाराम के ख्याल शुरू कर देती हैं। ब्रज की तरह इतना अवश्य यहां लक्ष्य किया गया है कि कृष्ण-मुकुट कुछ विशिष्ट जातियां ही धारण करती हैं। स्यामी, ब्राह्मण और कुम्भावत जाति के व्यक्ति ही फुलेरा क्षेत्र में इसके अधिकारी हैं। कुछ मंडलियां पीढ़ियों से रासलीला का प्रदर्शन करती आ रही हैं। भरतपुर की ओर राय जाति के लोगों का पेशा ही रासलीला दिखाना है। उनमें माखनचोरी, क्रीड़ा-कौतुक, यशोदा-विलाप, गोपी-विरह आदि प्रसंग बहुत प्रचलित हैं। ●

विजयेन्द्र स्नातक

राधावल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति

●

राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त द्वैत या अद्वैत-परक किसी विशिष्ट दर्शनमार्ग पर आधृत नहीं हैं। इस सम्प्रदाय का मूलाधार प्रेम-तत्व है। अत: प्रेम-लक्षणा भक्ति के उपर्युक्त उपकरणों का ही दर्शन आचार्यों ने किया है। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अनुशीलन करने के लिए हम उसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग में भक्ति-विधायक सिद्धान्त रखे जा सकते हैं और दूसरे भाग में रसोपासना के सम्पादक नित्य विहार-संबंधी चार तत्वों का समावेश हो सकता है। इसी आधार पर हमने सैद्धान्तिक विवेचन के निमित्त इन दो शब्दों का चयन किया है। भक्ति-सिद्धान्तों में प्रेम-हित, प्रेम-नेम, प्रेम-काम, विधि-निषेध, मान, विरह, मिलन, अर्चा-उपासना-विधि का वर्णन होने के कारण गहन दार्शनिक चिन्तन के लिए अवकाश नहीं रहता, किंतु रस-दर्शन के अन्तर्गत राधा और कृष्ण का स्वरूप सहचरी की स्थिति, वृन्दावन का नित्य नैमित्तिक रूप और

महत्व का विचार होने से इनके वर्णन में दार्शनिक ऊहापोह के लिए अवकाश निकल सकता है। वैष्णव सम्प्रदायों में दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य-रचना द्वारा द्वैत-अद्वैत-परक भाव-व्यंजना प्रारम्भ से होती जा रही है अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय का इस दिशा में क्या मन्तव्य है। क्या इस सम्प्रदाय में अद्वैतवादी दृष्टि से राधा और कृष्ण का ऐक्य मानकर शंकराचार्य का अनुगमन किया गया है या किसी अन्य आचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत-परक-भावना की पुष्टि की गई है। इसी प्रकार की अन्य सम्भाव्य शंकाओं के लिए स्थान होने से इस सम्प्रदाय के परवर्ती कतिपय विद्वान महापुरुषों ने अपने सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यता स्थिर करने की चेष्टा की है, किंतु हम उनके दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। अतः संक्षेप में दार्शनिक मतवाद पर कुछ कहना आवश्यक समझते हैं।

सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य श्री हितहरिवंश गोस्वामी ने ब्रह्मसूत्रों पर कोई भाष्य नहीं लिखा। गोस्वामीजी द्वैत और अद्वैत की जटिलता से बचकर एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करना चाहते थे, जिसका अनुगमन करने वाले प्रेमी भक्त को किसी दुरूह एवं शुष्क दर्शन की उलझन में फंसकर अपने प्रेम-पथ का त्याग न करना पड़े। वे नहीं चाहते थे कि अद्वैत को स्वीकार कर माया के बन्धन में पड़ें अथवा शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत या विशिष्टाद्वैत के प्रपंच में पड़ कर रस की सरसता से वंचित हों। फलतः उन्होंने इस प्रकार के किसी शुष्क तार्किक एवं दार्शनिक मतवाद को अपने सम्प्रदाय में स्थान नहीं दिया। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इस सम्प्रदाय में न तो दार्शनिक जटिलता है और न भक्ति-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन ही। हृदय की रसस्निग्ध भावनाओं की सहज स्वीकृति और रस-अभिव्यक्ति ही राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धान्त की नींव और रसोपासना का आधार है।

श्री हितहरिवंशजी ने अपने ग्रंथों में बाह्य कर्मकाण्ड को कहीं भी प्रधानता नहीं दी। वे लौकिक कर्मों के प्रति प्रायः अनास्था बुद्धि से ही चलते रहे और जो कुछ उन्हें कर्त्तव्य कर्म प्रतीत हुआ उसे भी कर्मकाण्ड की उलझन में न फंसकर सहज रूप से कहा। स्फुट वाणी के जिन पदों में बाह्य विधि का संकेत किया है, वह ऐसी सीधी और सरल है कि कोई भी भक्त-प्रेमी उसे बिना किसी श्रम और क्लेश के अपना सकता है। स्फुट वाणी के अन्तिम चार दोहे सिद्धान्त स्थिर करते हुए भी किसी अनुष्ठान की कठोर साधना की ओर इंगित तक नहीं करते। इन दोहों में जो भाव व्यक्त किया है वह लौकिक कर्मकांड से दूर करने वाला ही कहा जायगा। यह होते हुए भी परवर्ती महानुभावों ने रसभक्ति का विधान भी शास्त्रीय शैली से तैयार किया और श्री हितहरिवंशजी की भावना (स्पिरिट) के सर्वथा प्रतिकूल अनेक ग्रंथों का निर्माण कर दिया। 'राधावल्लभ पटल', 'ऊर्ध्वविनिर्णय', 'श्रीसेवा दर्पण', आदि इसी कोटि की प्रकीर्ण रचनाएं हैं जो अखिल भारतीय श्री हित-राधावल्लभीय वैष्णव महासभा वृन्दावन की ओर से प्रकाशित हुई हैं। यदि आचार्य हितहरिवंशजी की भावना को इन अनुयायियों ने भली भांति हृदयंगम किया होता तो इस प्रकार के परम्परावादी प्रयत्न न होते।

यथार्थ में राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धान्त या रस-दर्शन का आधार न तो दार्शनिक जटिलता है और न वाह्याचार की रूढ़ियों के पालन में ही भक्ति की स्थिति है। भक्ति-सिद्धान्त का मूलाधार है प्रेम या हित-तत्व, इसे भलीभांति हृदयंगम किये बिना राधावल्लभीय भावना का बोध कदापि सम्भव नहीं। दर्शन-ऊहापोह के स्थान पर इन सम्प्रदायों में 'नित्य-विहार' का वर्णन है और उसी को रस-दर्शन कहा जाता है। कहीं-कहीं उसे ही वृंदावन रस भी कहा है। माधुर्य-भक्ति की चरम परिणति इसी रस में होती है। यह ही जीवात्मा का चरम ध्येय है। प्रेम की व्यापक परिधि को समझ लेने के वाद ही इस रस-क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है। किसी प्रकार के द्वैत या अद्वैतपरकवाद के आग्रह में न पड़कर श्री हितहरिवंशजी

ने इसी रस की स्थापना अपने सम्प्रदाय में की है। हम आगे की पंक्तियों में उसी का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्री हितहरिवंशजी ने अपने ग्रंथों में ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में भी कहीं विचार व्यक्त नहीं किये हैं। इन जिज्ञासाओं का धरातल प्रायः दार्शनिक रहता है और दर्शन की सूक्ष्म विवेचना द्वारा ही इन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न चिर अनादि से होता आ रहा है, फिर भी आज तक कोई एकमत स्थिर नहीं हो सका। 'नैको पुनिस्यमतं न भिन्नम्' के मर्म को समझने वाले आचार्य हरिवंश गोस्वामी ने इस उलझन से दूर रह कर अपनी प्रेमाभक्ति का ही प्रतिपादिन करना समीचीन समझा। अतः हमने भी राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति एवं रस-दर्शन-विषयक विवरण में ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष, बन्धन आदि के विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा है। भक्ति-विधायक तत्वों में प्रेम-तत्व की मीमांसा प्रस्तुत करके तत्सम्बद्ध भावों और विषयों का ही उल्लेख किया है। रस-दर्शन में नित्य विहार के सम्पादक राधा-कृष्ण, सहचरी और वृंदावन का स्वरूप विस्तार से प्रदर्शित किया गया है और यथास्थान समसामयिक माधुर्य भुक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों के साथ साम्य, और वैषम्य भी दिखाया है। यथार्थ में ये ही मुख्य सिद्धान्त राधावल्लभीय भक्ति और रसमार्ग के विधायक हैं और इन्हीं की सुदृढ़ नींव पर यह सम्प्रदाय अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित किये चला आ रहा है। इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त-पक्ष इसीलिए जटिल और दुर्बोध न होकर मोहक और आकर्षक है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम का स्वरूप अन्य वैष्णव सम्प्रदायों से विलक्षण, व्यापक और मोहक है। अनन्त भावों और अनन्त रूपों में नित्य क्रीड़ा करने वाला यह प्रेम ही परात्पर तत्व है। इस प्रेम को रस संज्ञा देकर 'रसौवै सः' आदि श्रुतिपरक वाक्यों द्वारा भी समझा जा सकता है। अर्थात रस-रूप भगवान और परात्पर प्रेम-तत्व में तात्विक भेद नहीं है। यह प्रेम सहज और असीम होने के कारण नित्य माना जाता है। जैसा कि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, इस सम्प्रदाय में रसोपासना है, अर्थात राधा-कृष्ण के नित्य विहार की स्थिति में जो अनिवर्चनीय आनन्द उत्पन्न होता है उसी को रस संज्ञा दी जाती है और वह प्रेम की आस्वाद्य स्थिति का ही रूप है। 'हित' शब्द प्रेम के लिए ही इस सम्प्रदाय में पारिभाषिक शब्द के समान प्रयोग में आता है। प्रेम की व्यापक परिधि में सामान्यतः रस, हित, नेह, प्रीति आदि सभी भाव समाविष्ट हो जाते हैं। हित और प्रेम में भाव-व्यंजनामूलक व्यावर्तक रेखा खींचना सरल नहीं, किन्तु प्रेम की विशिष्ट भावना के उद्देश्य से हित शब्द का व्यवहार आचार्य हितहरिवंशजी ने किया है। दार्शनिक शब्दावली में ब्रह्म और जीव की एकता प्रतिपादित करने के लिए 'ज्ञानदशा' शब्द का प्रयोग न करके यहां 'प्रेमदशा' को ही ऐक्य भावना का स्रष्टा कहा जाता है। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में मोक्ष-प्राप्ति की कामना के साथ ज्ञान या साधनापरक भक्तिमार्ग का अनुगमन विधेय होता है, उसके बिना न तो माया के आवरण उच्छिन्न होते हैं और न भवबन्धन से मुक्ति ही सम्भव है। किन्तु इस सम्प्रदाय में न तो मुक्ति की कामना है और न ज्ञान या साधनापरक भक्तिमार्ग का ही कोई विधान है। यहां तो नित्य-विहार-दर्शन ही सहचरी (जीवात्मा) का उपास्यभाव है और उसकी प्राप्ति प्रेमतत्व से होती है। इस प्रेमदशा में पहुंचने के लिए सहचरी-रूप जीवात्मा को अपना लौकिक रूप विसर्जित कर राधिका के महल में सेवा-परिचर्या करके निकुंज-लीलाओं का दर्शनाधिकार प्राप्त करना होता है। इस नित्य विहार के विधायक जो चार तत्व माने गए हैं, उनमें यह एक प्रेमतत्व ही समान रूप से अनुस्यूत है और यहां विहार-भावना का पोषक है। चराचर जगत का जो रूप हमारे सामने है और जो अव्यक्त, अगोचर रूप भावना द्वारा जाना जाता है उस सब में यही प्रेमतत्व व्याप्त है। श्री लाड़िलीदास

ने 'सुधर्मबोधिनी' में इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है:

सबै चित्र हित मित्र के, जंइलों धामी धाम।
काहि तजों काको भजों, सजों गिरा हित नाम।[1]

अर्थात––समस्त धाम और उनमें निवास करने वाले धामी उसी हित देवता (प्रेम) के विचित्र चित्र हैं। अतः किसको त्याग कर किसका भजन करें यह निर्णय कठिन है। यथार्थ में हितगिरा ही उपास्य है। यहां हित को प्रेम के व्यापक रूप में ग्रहण करके साम्प्रदायिक प्रेमतत्व को लक्ष्य कराया गया है। इसी भावना को ध्यान में रखकर कुछ लोगों ने 'सिद्धाद्वैत' जैसे दार्शनिक शब्द को राधावल्लभ सम्प्रदाय का सिद्धान्त कहने का साहस किया था। वस्तुतः इस प्रेम या हित की स्थापना किसी दार्शनिक रूढ़ि-परम्परा का पालन न होकर हित-हरिवंशजी की अपनी मौलिक सृष्टि है।

हिताष्टक में इसी भाव को––**यत्किंचित् दृश्यते सृष्टां सर्व हितमयं विदुः** कह कर भी व्यक्त किया गया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय का मूलाधार 'राधाप्रेम' ही है, उसके भीतर ही साधक का साधन और साध्य निहित रहता है। यह राधाप्रेम ही आस्वादित होकर रस कहलाता है। इस प्रेम को अद्वय युगल-स्वरूप समझा जाता है। प्रिया-प्रियतम (श्यामाश्याम) में नित्यभाव से विद्यमान यह प्रेम ही रस-रूप होकर प्रस्फुटित होता है। इसी की उपलब्धि सहचरी का उपास्य है।

प्रेम की ऐहिक और आमुष्मिक महत्ता प्रदर्शित करते हुए इस सम्प्रदाय की वाणियों में इसका जो विशद-व्यापक वर्णन हुआ है वह इस बात का प्रमाण है कि प्रारम्भिक साधना के सिवा नवधा भक्ति को भी प्रेम के आगे कोई महत्व प्राप्त नहीं होता।[2] रागानुगाभक्ति का आश्रय लेने वाले भक्त के लिए भी कैवल्य या मुक्ति कोई महत्ता नहीं रखती, अतः वह मुक्ति की आकांक्षा को त्यागने में ही कल्याण मानता है किन्तु, राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रतिपादित यह प्रेम-लक्षणा तो उससे भी एक चरण आगे की वस्तु है अतः इसे पाने की इच्छा रखने वाले प्रेमियों के मन में तो कोई और इच्छा-अभिलाषा पैदा ही क्यों कर हो सकते हैं। 'राधा-सुधानिधि' ग्रंथ में इसीलिए श्री हितहरिवंशजी ने राधा के प्रेम को प्रधान मानते हुए स्पष्ट कहा है कि सांसारिक विषय-वार्ता तो कोटि-कोटि नरकों के समान घृणित है अतः इसे बन्द करो। श्रुतिकथा में भी श्रम व्यर्थ है। और हमें तो (इस राधा-प्रेम के सामने) कैवल्य से भी भय प्रतीत होता है।[3]

---

१. श्री लाड़िलीदास कृत 'सुधर्मबोधिनी' पृष्ठ १०, दोहा १७

२. महा माधुरी प्रेम रस आवै जिहि उर मांहि।
नवधा हू तिंहि रुचै नहीं, नैम सबै मिटि जांहि।
––ध्रुवदास कृत भजन कुंडलियां लीला (बयालीस लीला) पृष्ठ ६६

साधन विविध प्रयास तें सकल विहावहीं।
श्रवन कथन सुमिरन सेवन चित लावहिं।।
अर्चन वन्दन अरु दासन्तन सख्य और आत्मा-समर्पण।
ये नव लक्षण भक्ति बड़ाई, तब तिन प्रेम लक्षणा पाई।
––सेवक वाणी (श्रीहित ध्यान प्रकरण) पृष्ठ १२५
––सेवक वाणी
स्वर्ग न इच्छै नरक न डरै, धरै धर्म हरिवंश को

३. अलं विषयवार्तया नरक कोटि वीभत्सया, वृथा श्रुतिकथाश्रमोवत विमेभि कैवल्यतः।
परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः, परं तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु।
––राधासुधानिधि, श्लोक सं० ८३

प्रेम की प्रभुता और गरिमा स्थापित करने के बाद उसे विलक्षण रूप देने के लिए शाश्वत तत्व माना गया और संसार में प्रतीत होनेवाले संयोग वियोग से सर्वथा रहित कहा गया। तात्विक दृष्टि से इस सम्प्रदाय में प्रेम नित्य मिलन के साथ अभिन्न सम्बन्ध रखने वाला एक स्थायी भाव है जो किसी भी रूप में आनन्दरहित होकर क्षण भर भी नहीं ठहरता। गौड़ीय सम्प्रदाय की विरह-भावना का उसमें स्वतः महत्व हो जाता है।[1] निम्बार्क सम्प्रदाय स्वकीया भाव का समर्थक है, अतः वहां मिलन ही में रससृष्टि सम्भव है। वल्लभ सम्प्रदाय में गोपियों के विरह की स्थिति को प्रेम की उत्कर्ष-स्थिति कहा गया है। सूरदास ने 'ऊधो विरहौ प्रेम करै' कहकर विरह-दशा को प्रेम की परिपाक दशा बताया है। काव्य-साहित्य में भी विप्रलम्भ श्रृंगार को संयोग से अधिक प्रबल और आकर्षक माना जाता है। ऐसी स्थिति में नित्य मिलन माननेवाले राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसे सर्वथा नूतन रूप में प्रस्तुत करके विरह-मिलन की संकीर्ण सीमाओं को मिटा दिया है। विरह-मिलन की यह अद्‌भुत स्थिति किसी अन्य सम्प्रदाय में दृष्टिगत नहीं होती।

प्रेम में विरह-मिलन की इस विलक्षण दशा को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए आचार्यवर श्री हरिवंशजी ने अपनी स्फुट वाणी में दो कुण्डलियां लिखी हैं। इन कुण्डलियों में संसार में प्रसिद्ध दो कोटि के प्रेमियों के उदाहरण देकर इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। चक्रवाक-दम्पति और सारस-युगल का प्रेम काव्य-साहित्य में अपने-अपने ढंग से त्याग और बलिदान के लिए प्रसिद्ध है। कहते हैं कि चकई रात्रि होते ही अपने प्रियतम चकवा से वियुक्त होकर नदी के दूसरे किनारे चली जाती है। रात-भर विरह-वेदना से संतप्त रहती है और देव के इस विधान को सहकर प्रभात होने तक अपने प्रियतम से मिलने की बाट जोहती है। रात्रि के विरह से उसकी प्रेमानुभूति तीक्ष्ण और प्रबल हो जाती है और प्रभात का मिलन उसे अपेक्षाकृत अधिक आह्लादक एवं आनन्दमय प्रतीत होता है, 'सुखं कि दुखान्यनुभूय शोभते'। चकई की दृष्टि में यह विरह उसके प्रेम की परीक्षा है, उसकी वेदना का अन्त मिलन रूपी वरदान में होता है, अतः वह इस वियोग को सहन करने में भी गौरव ही समझती है। चकई की इस दशा पर व्यंग करता हुआ सारस कहता है—'हे चकई, प्रिय-वियोग के बाद भी तेरे शरीर में प्राण व्यर्थ ही रहते हैं। सरिता के दो कूलों की दूरी, रात्रि का भयंकर समय, भयावह निर्जन स्थान और भीषण मेघगर्जन के होते हुए भी तू प्रियतम से बिछुड़कर जीवित रहती है, तुझे अपने इस जीवन पर लज्जा क्यों नहीं आती? अश्रुविहीन नेत्रों से कैसे तू प्रभात की प्रतीक्षा करती हुई प्राणरक्षा करती है? कौन-सा ऐसा सन्देश है जो तुझे प्रभात तक जीवित बनाए रखता है? विरह की दारुण घड़ियों में जीवित रहने को मैं तो प्रेम की न्यूनता ही मानता हूं। विरह में जीवित रहना क्या किसी सच्चे प्रेमी को शोभा देता है?'[2]

---

[1] संगम विरह विकल्पे, वरमिन्ह विरहो न संगमस्तस्थ।
एकः स एव सर्गे, त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे। ——रूपगोस्वामी-पदावली

[2] सारस की उक्ति—

चकई प्राण जु घट रहै पिय बिछुरन्त निकज्ज।
सर अन्तर, अरु काल निशि, तरफ तेज घन कज्ज।
तरफ तेज घन कज्ज लज्ज तुहि बदन न आवै।
जल बिहून नैन भौर किय भाय बितावै।
हितहरिवंश विचारि याद अस कौन जु चकई।
सारस यह सन्देश प्राण घट रहै जु चकई।।

सारस की इस व्यंगोक्ति में विरह-भाव पर गंभीर आक्षेप छिपा है जो प्रेम में वियोग की कल्पना भी सहन नहीं कर सकता। किन्तु बिना विरह के प्रेम का पूर्ण परिपाक भी तो सम्भव नहीं। तब फिर कौन-सी स्थिति यथार्थ युक्ति-युक्त और मनोवैज्ञानिक है। सारस की उस उक्ति के पीछे उसका अपना आत्म-बलिदान, त्याग और प्राणविसर्जन का भाव छिपा है।

सारस-युगल के लिए प्रसिद्ध है कि ज्योंही उनमें से एक का विछोह होता है, दूसरा उसके विरह में तड़प-तड़प कर प्राण गंवा देता है। अतः सारस की दृष्टि में चकई का विरह-दशा में भी जीवित रहना प्रेम का दम्भ करना है। चकई का प्रेम कहीं-न-कहीं न्यून है, तभी तो विरह में जीवित रहना प्रेम की न्यूनता नहीं वरन प्रेम की परिपूर्णता ही है। सारस की व्यंग्यमयी भर्त्सना का उत्तर देती हुई चकई कहती है—‘हे सारस। सरिता के दूसरे कूल पर जाकर रात्रि-भर विरह-वेदना को सहकर और प्रेमाग्नि के संताप का अनुभव करके जीवित रहना ही प्रेमोन्माद का परिचायक है। वियोग में प्राण देने से तो प्रेमी के प्रति अपनी मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं आता। प्रेम की यथार्थ और परिपूर्ण अनुभूति के लिए विरह की घड़ियों का दाह अनुभव करना अनिवार्य है। हे सारस, तुम निरन्तर अपने प्रेम-पात्र के पास रहते हो अतः प्रेम के मर्म का तुम्हें भला क्या पता हो सकता है?[1]

सारस-चकई के इस सम्वाद को प्रस्तुत करने का हमारा प्रयोजन यही है कि ये दोनों कुंडलियां सम्प्रदाय में प्रेम-सिद्धान्त की स्थापना करने वाली मानी जाती हैं। इनमें से कोई-सा एक पक्ष स्वीकार नहीं किया जाता वरन चकई की विरहाकुलता और सारस का आत्मत्याग दोनों ही मिलकर प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। श्री करपात्रीजी ने इस प्रेमतत्व को इस प्रकार व्यक्त किया है—‘सारस-पत्नी लक्ष्मण केवल सम्प्रयोगजन्य रस का ही अनुभव करती है और चकवी विप्रयोगजन्य। तीव्र ताप के अनन्तर सहृदय हृदय वेद्य सम्प्रयोगजन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है, परन्तु वह भी विप्रयोग काल में सम्प्रयोग-जन्य रसास्वादन से वंचित रहती है। परन्तु नित्य निकुंज में श्री निकुंजेश्वरी को अपने प्रियतम परम प्रेमास्पद श्री ब्रजराजकिशोर के साथ सारस-पत्नी लक्ष्मण की अपेक्षा शत कोटि गुणित दिव्य सम्प्रयोगजन्य तीव्र ताप के अनुभव के अनन्तर पुनः दिव्य रसानुभूति होती है। यही इसकी विशेषता है।’ भागवत सम्प्रदाय नामक ग्रंथ में राधावल्लभीय सम्प्रदाय प्रकरण में इस विषय पर विचार व्यक्त करते हुए श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—‘प्रेम विरहा ही राधावल्लभीय पद्धति का सार है। मिलने में भी विरह जैसी उत्कंठा इसका प्राण है। युगल-किशोर श्री राधावल्लभ लाल के नित्य मिलन में वियोग की कल्पना तक नहीं है। परन्तु इस मिलन में प्रेम की क्षीणता नहीं, प्रत्युत प्रतिक्षण नूतनता का स्वाद है। प्रेमासव का अनवरत पान करने पर भी अतृप्ति रूपी महान विरह की छाया सदा बनी रहती है, प्रतीत होती है—मिलेहि रहत मानों कबहुं मिले ना।

---

[1] चकई की उक्ति—

सारस सर विदु रत्त को जौपल सह्य शरीर।
अगिन अनंग जु तिय भखै तो जानें पर पीर।
तौ जाने पर पीर धीर धरि सकहि वज्र तन।
भरत सारसहि फूटि पुनि न पर चौजुलहत मन।
हित हरिवंश विचारि प्रेम विरहा बिना वा रस।
निकट कंत नितरहत भरम कह जानै सारस।

प्रेम में तत्सुख भाव : प्रेम प्रेमी की रागात्मिकता वृत्ति का वह रूप है जो प्रेमास्पद के प्रति आकृष्ट करके उसके दर्शन, स्पर्शन, वार्तालाप आदि द्वारा प्रेमी को सन्तुष्ट और सुखी बनाता है। सांसारिक प्रेम में, प्रेम करने वाला प्रेमी अपनी वृत्तियों के परितोष के लिए ही प्रेम के संसार में प्रविष्ट होता है। स्व-सुखसिद्धि ही सामान्यतः प्रेम का लक्ष्य भी माना जाता है किन्तु राधावल्लभीय प्रेम की परिभाषा इससे सर्वथा भिन्न है। यहां प्रेमी और प्रेमपात्र (श्री राधा और माधव) अपने प्रेम की परितुष्टि के लिए प्रयत्नशील न होकर दूसरे के परितोष में ही आत्मसमर्पण करते हैं। राधा की समस्त चेष्टाएं माधव को रिझाने, प्रसन्न करने में हैं और माधव राधा के प्रमोद और आनन्द की चेष्टा करते हैं। आत्म-विसर्जन के बाद ही दूसरे की तुष्टि सम्भव है यही इस मत का प्रेम-सम्बन्धी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को श्री हितहरिवंशजी ने 'हित चौरासी' के प्रथम पद में ही स्पष्ट किया है। इस पद का आशय यही है कि राधाकृष्ण एक ही प्रेमतत्व के दो विग्रह हैं। क्रीड़ा या विलास के लिए दो रूप धारण करते हैं। जब राधाकृष्ण यथार्थ में एक ही तत्व के दो दृश्यमान रूप हैं तो कौन किसे प्रसन्न-प्रमुदित करे, यह प्रश्न ही नहीं उठता। अतः पारस्परिक परितुष्टि पर ही बल दिया जाता है। अपनी प्रसन्नता का आधार अपने भीतर न होकर 'जोई जोई प्यारो करे, सोहि मोहि भावे' अर्थात प्रियतम श्रीकृष्ण जो कुछ करते हैं, वही मेरी प्रसन्नता का कारण है, क्योंकि मैं अपने सुख की उपलब्धि में मग्न न होकर कृष्ण के सुख की सतत कामना करती हूं। और दूसरी ही ओर श्रीकृष्ण भी अपना सुख न देखकर मेरे सुख के लिए वही-वही काम करते हैं, जो मुझे अच्छे लगते हैं। मुझे उनके नेत्रों में रहना ही सुहाता है तो वे भी मेरे नेत्रों की पुतली बन जाते हैं। वे मुझे अपने तन, मन, प्राण से भी अधिक प्रिय हैं और उन्होंने मेरे लिए अपने कोटि-कोटि प्राण न्योछावर कर रखे हैं। श्री हितहरिवंशजी इस भाव को दृष्टान्त से पल्लवित करके कहते हैं कि आप दोनों (राधाकृष्ण) वृंदावन प्रेम-पयोनिधि रूपी मानसरोवर के हंस-हंसनी हैं। आपका सम्बंध जल-तरंग के समान अभिन्न है, आप दोनों को पृथक कौन कर सकता है। इस पद में श्रीहितहरिवंशजी ने अपने प्रेमविषयक सिद्धान्त को स्पष्ट करने के साथ रावा-कृष्ण के नित्य सम्बंध पर भी प्रकाश डाला है।[1] इस सिद्धान्त का मूलाधार राधाकृष्ण की एकता ही प्रतीत होता है। ब्रह्मसंहिता, श्रीसंहिता, श्री राधातापिन्युपनिषद् और गोपालतापिन्युपनिषद् में इसी भाव को 'यः कृष्णः सापि राधा या राधा कृष्ण एव सः' द्वारा प्रतिपादित किया है।

---

[1] जोई-जोई प्यारौ करै सोइ मोहि भावै,
भावै मोहि जोई-जोई, सौई-सोई करै प्यारे।
मोंको तौ भांवती ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारौ भयौ चाहे मेरे नैननि के तारे।
मेरे तन मन प्रानहूं ते प्रीतम प्रिय,
अपने कौटिक प्रान प्रीतम मों सौ हारे॥
(जैश्री) हित हरिवंश हंस-हंसिनी सांवलगौर,
कहौ कौन करै जल तरंगिनि न्यारे॥

—हित चौरासी, पद सं० १२

प्रेम में अनन्यता : अनन्यता प्रेम का प्राण और प्रेमिका का जीवन है। सभी भक्तों ने अनन्यता को प्रेम की पहली शर्त मानकर इसे प्रेम-मार्ग की परमोपास्य निष्ठा बताया है। श्री हितहरिवंशजी के मत में तो अनन्यता धर्म का आधार है। स्फुटवाणी के दो पद इस अनन्यता की स्थापना में इतने स्पष्ट और व्यापक रूप में प्रस्तुत किये हैं कि किसी प्रेमी भक्त को नाना धर्मों के प्रलोभन में पड़ने और इधर-उधर भटकने का कोई प्रसंग आ ही नहीं सकता :

रहो कोऊ काहू मनहिं किये।
मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा सपथ करौं त्रण छियें।
जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ ब्रत जु हियें।
तेऊ उमगि तजति मर्यादा बन विहार रस पियें।
खोये रतन फिरत जे घर-घर कौन काज ऐसे जियें।
(जैश्री) हित हरिवंश अनत सचु नाहीं विनया रजहिं लियें।
(श्री हितहरिवंश कृत स्फुटवाणी, पद सं० २०)

मोहन लाल के रंग रांची।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ बात दसों दिस मांची।
कंत अनंत करौं जो कोऊ बात कहौं सुनि सांची।
यह जिय जाहु भलै सिर ऊपर हौं व प्रगट ह्वै नांची।
जागृत शयन रहत उर ऊपर मणि कंचन ज्यौं पांची।
(जैश्री) हित हरिवंश डरौं काके डर हौं नाहिन मति कांची।
(श्री हितहरिवंश कृत स्फुटवाणी, पद सं० १२)

अनन्यता की परिभाषा और व्याख्या करते हुए ध्रुवदास जी कहते हैं—अनन्यता याकों कहिये छांड़ि अपनौ इष्ट और न जानै। न मन चलै, जो चलै तो अनन्यता नाहीं। (सिद्धान्त विचारलीला)

रसोपासना में विधि-निषेध मर्यादा : माधुर्य-भक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों में भक्ति के दो भेद माने जाते हैं। पहली रसभक्ति और दूसरी शास्त्रभक्ति। शास्त्रभक्ति को ही मर्यादा-भक्ति कहते हैं। मर्यादा-मार्ग से भक्ति करने पर साधन-पालन अनिवार्य होता है। साधनों में रत रहने से स्नेह की हानि होती है। रसमार्ग की भक्ति में स्नेह की प्रधानता और परिपूर्णता ही साध्य और साधन है। अतः बाह्याचार पर बल नहीं दिया जाता। रस रूपाभक्ति के भाव, मान, प्रणय, स्नेह, राग और अनुराग, ये षट् भेद बताये हैं, उनके लिए साधनों की विशेष आवश्यकता नहीं समझी गई। शास्त्र या मर्यादा भक्ति नवधा है जिसको सभी शास्त्रों ने स्वीकार किया है। अतः यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं कि रसमार्गीय भक्ति-पद्धति का अवलम्बन करके चलने वालों को शास्त्र मर्यादानुरूप विविध साधनों की वैसी आवश्यकता नहीं होती जैसी नवधा भक्ति को स्वीकार करने में होती है।

श्री हरिवंशजी ने जिस भक्ति का प्रतिपादन अपने सम्प्रदाय में किया वह रसभक्ति है। अतः शास्त्रोक्त विधि-निषेध की कठोर मर्यादा का उस पर आरोप करना उन्हें उचित नहीं लगा। वैष्णव सम्प्रदायों में शास्त्र-मर्यादा की अवहेलना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं होती। छोटे-छोटे कर्मकाण्ड के नियमों का पालन भी वहां अनिवार्य ही समझा जाता है, किंतु हरिवंशजी ने शास्त्रीय नियम न बनाकर प्रेम-साधना के लिए राधा

की वंदना को ही एक मात्र नियम ठहराया। विधि-निषेध को स्वीकार न करने में हरिवंशजी का प्रयोजन यही था कि बाह्याचारों में फंसकर शुद्ध प्रेम की क्षति होती है। हृदय कर्मकाण्ड की कठोरता के कारण सरस और स्निग्ध नहीं रहता। स्नेह के अभाव को राधा-कृष्ण के नित्यविहार की स्थिति का आनन्द-लाभ प्राप्त करने की उसमें क्षमता नहीं रहती। प्रेम की स्वच्छन्द लीलाओं को यदि शास्त्र की शृंखला से जकड़ दिया जाय, तो उनमें चित्त को द्रवित करके अपने में रमाने की सहज शक्ति का अभाव हो जाता है। जो प्रेममार्ग को स्वीकार कर चुका, उसके लिए तप, जप, यज्ञ, पूजा, पाठ, व्रत आदि की आवश्यकता भी क्या है!

श्री नाभाजी ने अपने 'भक्तमाल' में हरिवंश-चरित-सम्बंधी जो छप्पय लिखा है, उसमें 'विधिनिषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी' कहकर श्रीहित हरिवंशजी की दो विशेषताओं का उल्लेख किया है। 'विधि-निषेध नहिं' पद में शास्त्रीय विधि-निषेध की अस्वीकृति व्यक्त की गई है किंतु दूसरे पद में अपने व्रत में अनन्यता और उत्कटता बताई गई है। यह विरोधाभास ही उनके चरित्र की विशेषता को घोषित करता है। अनन्य व्रतधारी का तात्पर्य अपनी रसभक्ति (राधा भक्ति) में अनन्यता का सूचक है शास्त्रीय अनन्यता का नहीं। प्रियादास ने टीका कवित्त में ही बात और स्पष्ट रूप से कह दी है--**विधि औं निषेध छेद डारे प्रान प्यारे हिये**। आप विधि और निषेध से सर्वथा मुक्त थे। उनके प्राण प्राणनाथ ही थे जो हृदय में बसते थे। (रूपकला वार्तिक तिलक)

'राधासुधानिधि' ग्रन्थ में श्री हितहरिवंशजी ने 'रसिक स्वरूप' का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'श्री गुरु के भजन रूपी पराक्रम युक्त कोई महा बुद्धिमान पुरुष इस पृथ्वी पर बिरले ही हैं जो न तो अपने बाहुमूल में कभी शंखचक्रादि (वैष्णव चिह्न) धारण करते हैं और न कभी ललाट-पटल पर विचित्र हरिमन्दिर (तिलक) ही रचते हैं, और कंठभाग में सुहावनी तुलसी माला ही धारण करते हैं।' आगे पुनः दूसरे श्लोक में कहते हैं कि 'गूढ़ाश्चर्य रूप उज्ज्वल रसाश्रित रसिकगण वेदोक्त कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करें या न करें; माला, चन्दन आदि विषय समूह अर्थात भोग विलास के उपकरण ग्रहण करें या न करें; इससे उनकी न कोई हानि है और न लाभ ही। इन दोनों श्लोकों का भाव स्पष्ट रूप से कर्मकाण्ड की कठोरता के पक्ष में नहीं है। राधासुधानिधि के अन्य श्लोकों में विधि के रूप में एक ही तत्व को माना है, वह है श्रीराधा की प्रेम-निमग्न निकुंज विहार स्थिति का वर्णन। सहचरी रूप से जीवात्मा यदि जुगलकिशोर की लीला को देख सके तो यही उसके इस जीवन का फल है। निकुंज-लीला के समय 'माहिली' बनने का सौभाग्य मिले वही सब करना विधेय है। अन्य कुछ भी विधि के अन्तर्गत नहीं आता।

श्री हरिवंशजी ने अपने स्फुट पदों में श्रीकृष्ण की सेवा-पूजा (आरती) के लिए एक पद लिखा है, जिसमें विस्तारपूर्वक शृंगार तथा भोग-विधि का संकेत है। सेवा पूजा की विधि का बाह्याचार की दृष्टि से इससे अधिक विस्तृत वर्णन कहीं और नहीं किया। किंतु इस विधि-विधान के होते हुए भी हित सम्प्रदाय में 'राधा-प्रेम' ही आराध्य माना गया है, अन्य कठिन कर्मकाण्ड की पद्धति नहीं बनती। अतः कोमल और कठिन का संग नहीं हो सकता। प्रेम-मार्ग की उपमा ध्रुवदासजी ने केहरी से दी है, जो निर्द्वन्द्व होकर जंगल में घूमता है, किसी के शासन की परवाह नहीं करता। अन्य सब पूजा-अर्चा गौण है। 'स्फुटवाणी' में भी सिद्धान्त प्रतिपादित करने वाले चार दोहों में किसी बाह्य कर्मकाण्ड का वर्णन न करके सूक्ष्म तत्व का ही उल्लेख किया है।

सबसों हित, निष्काम मति, वृंदावन विश्राम।
श्री राधावल्लभलाल को हृदय ध्यान सुख नाम।।
तनहि राखि सत्संग में, मनहि प्रेम रस मेव।
सुख चाहत हरिवंश हित, कृष्ण कल्पतरु सेव।।

(स्फुटवाणी, श्रीहितहरिवंश)

श्रीहित हरिवंशजी की साम्प्रदायिक भावना के सर्वप्रथम व्याख्याता भाष्यकार श्री दामोदरदास (सेवकजी) हैं। आपने 'सेवकवाणी' में सिद्धांतों की स्थापना का प्रयत्न किया। इसीलिए आपकी वाणी को हित चौरासी का पूरक ग्रंथ माना गया और श्रीहरविंशजी के उत्तराधिकारी पुत्र गो० श्री वनचन्द्रजी ने हित चौरासी के साथ सेवकवाणी का रहना अनिवार्य बताया, 'सेवकवाणी को पढ़ो हितचौरासी संग।' तब से हितहरिवंशजी के चौरासी पद और सेवकवाणी एक साथ ही लिखी-पढ़ी जाती है और दोनों को समान संम्मान प्राप्त है। सेवकवाणी में श्री सेवकजी ने जो सिद्धांत स्थिर किये हैं वे हितचौरासी के आधार पर हैं। अतः हम उन्हें भी साम्प्रदायिक महत्व में किसी भांति न्यून नहीं समझते। श्री सेवकजी ने विधि-निषेध की मर्यादा में प्राचीन शास्त्रों की दुहाई नहीं दी वरन जो विधेय बताया वह आचार्य हरिवंशजी के आधार पर ही। हां, हरिवंशजी का नाम-स्मरण, उनका स्थान और महत्व अवश्य अपनी ओर से विधि में ठहराया।

विधि-निषेध की दृष्टि से सेवकजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को संक्षेप में इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :

१. श्री हरिवंशजी की उपासना रीति यह है कि उसमें 'श्याम श्यामा' का नाम एक साथ लिया जाता है। इनमें श्याम (कृष्ण) आराधक और श्यामा (राधा) आराध्य हैं। ये दोनों निकुंज में नित्य-विहार करते हैं और श्री हरिवंशजी इनकी परस्पर प्रीति का गान करते हैं। सहचरी रूप जीवात्मा को इनके सुख-भोग को देखकर आत्मसुख लाभ करना इष्ट या साध्य है।

२. श्री हरिवंश की रस रीति में वृंदावन, सहचरीगण, श्यामसुंदर और श्यामा (राधा) परस्पर तत्सुखमयी प्रीति में आबद्ध होकर लोक एवं वेद की मर्यादाओं से अतीत परम-प्रेममयी क्रीड़ा में प्रवृत्त रहते हैं।

३. अन्य प्रेमियों के भजन में अन्तर्यामी स्वरूप (निर्गुण) की उपासना को अवकाश नही है क्योंकि प्रकट रूप से ही प्रीति का आश्रय बन सकता है। प्रकट रूपों में बसे शुद्ध रूप वह हैं जो वृंदावन में नित्य रासक्रीड़ा में निमग्न हैं।

४. श्री हरि (कृष्ण) और हरिवंश में कोई भेद नही है। हरि की उपासना के लिए लीलाश्रवण, गुणकथन एवं नामस्मरण में दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। इस रीति से ग्रहण किये बिना भक्ति का उदय नहीं होता।

५. विधर्मियों के साथ प्रेम संबंध स्थापित करने से कोई लाभ नहीं। विविध शास्त्रों के फेर में रहने में स्वधर्म की हानि भी होती है। अतः सच्चे धर्मी को अपने धर्म में दृढ़ आस्था रखकर हरिवंश-प्रतिपादित मार्ग पर ही चलना चाहिए।

संक्षेप में, यही सेवकजी के मतानुसार विधि-निषेध मर्यादा है। उपर्युक्त मर्यादा के होते हुए सेवकजी 'विधि-निषेध' की कोई शास्त्री मर्यादा नहीं मानते क्योंकि प्रेमोपासना में व्रत, संयम, नियम आदि की कोई विधि टिकती नहीं। उन्होंने इसीलिए बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा कि :

'या रस में विधि नही निषेध, तहां न लगन ग्रहण्न के वेध, तहां कुदिन दिन कछु नहीं। नहीं शुभ-अशुभ मान-अपमान, स्थांन किया जप-तप नहीं । (सेवकवाणी, पृष्ठ ८२) ●

४. ब्रजभाषा और उसका साहित्य

जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल

आधुनिक ब्रज-गद्य-धारा

●

आज तक 'हिन्दी गद्य का विकास' साहित्य के इतिहासों में अपूर्ण रूप में ही विवेचित हुआ है। हिन्दी गद्य का विकास केवल खड़ी-बोली गद्य का ही विकास नहीं है, वरन ब्रजभाषा, राजस्थानी आदि हिन्दी की उपभाषाओं का गद्य भी इसके अन्तर्गत आता है। ब्रजभाषा गद्य के संबंध में यह धारणा बन गई थी कि इसका विकास न हो सका, किंतु मेरे अनुसन्धान से तथा मेरे द्वारा आगरा विश्वविद्यालय को सन १९६४ में प्रस्तुत किये 'ब्रजभाषा गद्य का विकास' नामक शोध-प्रबन्ध से यह धारणा निर्मूल हो जाती है।

ब्रजभाषा गद्य की धारा ब्रजभाषा काव्य की परम्परा के साथ ही प्रवाहित हुई किन्तु इसका बहुत-सा साहित्य काल के प्रवाह में नष्ट हो गया और बचा हुआ विद्वानों की दृष्टि से ओझल रह गया। अनुसन्धान से मुझे ब्रजभाषा गद्य का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है वह विषय की दृष्टि से तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। पहली श्रेणी धार्मिक गद्य साहित्य की है, दूसरी साहित्यिक गद्य रचनाओं की और तीसरी उपयोगी रचनाओं की। ब्रजभाषा के धार्मिक गद्य का संबंध भक्तिकाल से विशेष है, जिसमें पुष्टिमार्ग का विपुल वार्ता साहित्य निर्मित हुआ, पुराणों एवं धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद हुए, आचार्यों एवं भक्तों ने अपने धर्म-सिद्धान्तों के प्रचार के लिए वचनिकाएं एवं भाष्य प्रस्तुत किये। साहित्यिक श्रेणी का ब्रजभाषा गद्य उत्तरमध्यकाल या शृंगार काल में प्रधानतया काव्य ग्रन्थों की टीकाओं में प्रयुक्त हुआ है। इनका निर्माण संस्कृत की टीका-शैली पर हुआ। इस श्रेणी की स्वतन्त्र मौलिक काव्य-शास्त्रीय रचनाएं भी हैं, किन्तु उनमें पद्य का प्राधान्य है। उपयोगी श्रेणी का ब्रजभाषा गद्य वैद्यक, ज्योतिष, सामुद्रिक, शालिहोत्र, कोकशास्त्र, भूगोल, गणित आदि विषयों की रचनाओं में मिलता है।

रूप की दृष्टि से उपरोक्त ब्रजभाषा गद्य को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—पहला मौलिक या स्वतन्त्र गद्य और दूसरा परतन्त्र गद्य।

ब्रजभाषा गद्य के साहित्यिक स्वरूप को पूर्ण रूप से समझने एवं अध्ययन की सुविधा के लिए हमने उसके साहित्य-रचनाकाल को साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर तीन कालों में इस प्रकार विभक्त किया है:

(१) **आविर्भावकाल**—विक्रमी १६ वीं शती से पूर्व अर्थात संवत १५०० से पूर्व।

(२) **विकास एवं उत्कर्ष काल**—संवत १५०० से १८५० तक। इसे दो उपविभागों में बांटा जा सकता है। ये उपविभाग इस प्रकार हैं—

(अ) पूर्व विकास एवं उत्कर्षकाल—संवत् १५०० से संवत १७०० तक।

(आ) उत्तर विकास एवं उत्कर्षकाल—संवत १७०१ से संवत १८५० तक।

(३) **ह्रास काल**—संवत १८५१ से प्रारम्भ।

अब हम इन कालों में रचित ब्रजभाषा गद्य-साहित्य का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

आविर्भाव : ब्रजभाषा गद्य की रचना कब से प्रारम्भ हुई, यह निश्चय करना कठिन है क्योंकि प्राचीन गद्य-साहित्य नष्ट हो चुका है या अनुपलब्ध है किन्तु १६ वीं शती के ब्रजभाषा गद्य के वार्ता-ग्रन्थों में गद्य के विकसित रूप को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसका आविर्भाव बहुत पहले हुआ होगा। इस अंधकार युग या आविर्भावकाल की जो गद्य रचनाएं बताई जाती हैं, वे अध्ययन करने पर 'पूर्व विकास एवं उत्कर्ष काल' की ठहरती हैं। दसवीं शताब्दी के आसपास का कहा जाने वाला नाथपंथी ब्रजभाषा गद्य विक्रमी सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व का नहीं ठहरता। पृथ्वीराजरासो की ब्रजभाषा गद्य की वचनिकाएं इस अन्धकार युग को प्रकाशित करने में चिनगारी का काम करती हैं, किन्तु इनका समय भी १५५० विक्रमाब्द से पूर्व का नहीं है। अत: आज भी हम ब्रजभाषा गद्य के आविर्भावकाल के संबंध में अनुमान ही लगा सकते हैं, निश्चित कुछ नहीं कह सकते। जब तक इस काल की कोई प्रामाणिक रचना नहीं मिल जाती, हम इस काल के गद्य साहित्य के रूप एवं भाषा के संबंध में कोई निर्णय नहीं ले सकते।

ब्रजभाषा गद्य का पूर्व विकास एवं उत्कर्ष काल : संवत १५०० से संवत १७०० विक्रमाब्द तक। इस काल में ब्रजभाषा गद्य-साहित्य-रचना की मूल प्रेरणा धार्मिक एवं साम्प्रदायिक भावना और विशेष रूप से कृष्ण-भक्ति रही। ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के विकास और उत्कर्ष का प्रमुख श्रेय वल्लभ-सम्प्रदाय के वार्ता-साहित्य को है। इस वार्ता-साहित्य की साफ-सुथरी भाषा एवं स्थिर गद्य शैली को देखकर यह धारणा भी पुष्ट होती है कि ब्रजभाषा-गद्य की प्राचीन परम्परा रही होगी और उसमें बहुत-सी रचनाएं भी हुई होंगी जो आज प्राप्त नहीं हैं।

इस युग का ब्रजभाषा गद्य मूलत: दो प्रकार का है—

पहला प्रकार—मौलिक स्वतन्त्र गद्य—जो वल्लभ-सम्प्रदाय के वचनामृतों, चौरासी एवं दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं तथा अन्य वार्ता-ग्रन्थों, एवं अन्य सम्प्रदायों की धार्मिक व सैद्धान्तिक रचनाओं, कथाओं, प्रबन्ध-काव्य की वचनिकाओं, पद्यात्मक दार्शनिक रचनाओं की वार्ता, पत्रों, इश्तहारों तथा मन्दिरों के शिला-लेखों में मिलता है।

दूसरे प्रकार का परतंत्र गद्य टीका, वचनिका, अनुवाद, छायानुवाद, टिप्पण-टिप्पणी, भाव-भावना और तिलक-वार्ता आदि में मिलता है। इस साहित्य का विशद विवेचन मैंने अपने 'ब्रजभाषा गद्य का विकास' नामक शोध-प्रबन्ध में किया है।

ब्रजभाषा गद्य के इस पूर्व उत्कर्ष काल में मौलिक-स्वतंत्र गद्य की रचनाएं परतंत्र गद्य की रचनाओं की अपेक्षा बहुत अधिक हुईं। इस युग का गद्य प्रमुख रूप से धार्मिक एवं साम्प्रदायिक प्रेरणा से अनुप्राणित है। वैष्णव सम्प्रदायों की प्रेरणा से रचित वार्ता गद्य एवं सिद्धान्त वचनिका के रूप में प्रस्तुत हुआ गद्य कहीं-कहीं ललित भी है। नाथपंथी साधुओं का सिद्धान्त कथनात्मक गद्य अनलंकृत है एवं साहित्यिक दृष्टि से उसका महत्व नहीं है। शुद्ध साहित्य की दृष्टि से इस युग के वार्ता-साहित्य का गद्य एवं पं० बनारसीदास

जैन का दार्शनिक निबन्धात्मक गद्य ही महत्वपूर्ण ठहरते हैं। इस युग में परतंत्र गद्य टीका, भाव-भावना, वचनिका आदि अनेक रूपों में मिलता है। हरिरायजी के भावप्रकाश को छोड़कर शेष रचनाएं प्रायः टीकापरक हैं। भावप्रकाश व्याख्यापरक वार्ता-ग्रन्थ है जो मौलिक शैली से युक्त एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इस युग के प्रमुख मौलिक गद्यकारों में महाप्रभु वल्लभाचार्य, दामोदर जैन, श्रीहितहरिवंश, गंगाबाई, गो० विट्ठलनाथ, गो० गोकुलनाथजी, नाभादास, नाभाअली, गो० दामोदरवरजी, जैन-कवि बनारसीदास, मुकुन्ददास, वैकुण्ठमणि शुक्ल, रूपरसिकदेव, दामोदर स्वामी, श्री हरिरायजी आदि प्रमुख हैं। इस युग के परतंत्र गद्य लेखकों में गोसाईं विट्ठलनाथ, श्रीधर स्वामी, ताराचन्द, राजमल्ल जैन, गो० गोकुलनाथ, किशोरदास, परमहंस विष्णुपुरी, हरिराय जी तथा गोपेश्वरजी प्रमुख हैं।

ब्रजभाषा गद्य का उत्तर विकास एवं उत्कर्षकाल : संवत १७०० से सं० १८५० तक। इस काल में ब्रजभाषा गद्य के विकास की पूर्ववर्ती परम्परा चलती रही। इस युग में मौलिक रचनाएं उतनी नहीं हुईं जितनी परतंत्र रचनाएं रची गईं। परतंत्र रचनाओं की प्रमुख प्रेरणा भी साहित्यिक भावना थी। यों धार्मिक एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थों के रूपान्तर एवं व्याख्यात्मक टीकाएं भी निर्मित होती रहीं। इस युग में गद्य के क्षेत्र में टीकाओं का बाहुल्य दिखाई पड़ता है। मौलिक गद्य की रचनाएं धार्मिक एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं, उनमें साहित्यिकता का अभाव है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त इस युग में राधावल्लभीय तथा अन्य कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों के भक्तों तथा जैन एवं नाथपंथी साधुओं ने ब्रजभाषा गद्य में सिद्धान्त एवं दृष्टान्त कथन में किया। इनका गद्य प्रायः अललित, अनलंकृत एवं तथ्य कथनात्मक है। दो तीन लेखकों, जैसे अनन्य अलि आदि को छोड़कर शेष सभी का गद्य व्यावहारिक श्रेणी का है।

इस काल का टीका-साहित्य अपना विशेष साहित्यिक महत्व रखता है। इसमें व्यावहारिक समीक्षा अर्थात काव्यगत विशेषताओं का उद्घाटन भी मिलता है। इसलिए कहीं-कहीं ये टीकाएं बड़ी मार्मिक हैं। आधुनिक व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत रचनाओं की जिन विशेषताओं की मीमांसा की जाती है, वे किसी न किसी रूप में इन टीकाओं में मिलती हैं। ब्रजभाषा गद्य के टीका-साहित्य की समीक्षा में अपनापन है। इसकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षाओं में मौलिकता है। उसकी अपनी शैली है जो संस्कृत साहित्य की परंपरा में पल्लवित हुई है। इस काल की अधिकांश टीकाएं ब्रजभाषा के काव्य ग्रन्थों की हैं। विशेष रूप से महाप्रभु हित हरिवंश के 'हित चतुरासी' और बिहारीलाल की 'बिहारी सतसई' की कुछ गद्य-टीकाएं अत्यन्त विशद, व्याख्यात्मक एवं चमत्कारपूर्ण हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में प्रौढ़ टीका-साहित्य का निर्माण हुआ है। इस काल में रीतिशास्त्र के आचार्यों ने अपने पद्य-गद्य-मय काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में तिलक, वार्ता, वचनिका आदि के रूप से व्याख्यात्मक गद्य का भी प्रयोग किया। ऐसे लेखकों में आचार्य भिखारीदास, सोमनाथ प्रभृति रीतिकालीन अचार्यों की गणना की जा सकती है। ऐसा ही स्फुट गद्य संस्कृत से ब्रजभाषा में रूपान्तरित 'गोविन्द हुलास नाटक' तथा 'विदग्ध माधव नाटक' में भी मिलता है।

ब्रजभाषा गद्य का ह्रास काल––सं० १८५१ से प्रारम्भ––ब्रजभाषा गद्य की परंपरा ह्रास काल में भी चलती रही किन्तु इस काल में मुद्रणालय की सुविधा तथा अन्य कारणों एवं परिस्थितियों से खड़ी-बोली का साहित्य-क्षेत्र में प्रभुत्व स्थापित हो गया। ईसाई धर्म प्रचारकों, आर्यसमाजी तथा अन्य समाज-सुधारकों के प्रोत्साहन से खड़ी-बोली गद्य की समुचित उन्नति हुई। लार्ड वेलेजली द्वारा संवत १८५७ में स्थापित फोर्ट विलियम कालिज ने भी खड़ी-बोली को विशेष प्रोत्साहन दिया। इसके साथ ही पाश्चात्य वैज्ञानिक आविष्कार हिन्दी-साहित्य में जिस नवीन दृष्टिकोण को जन्म दे रहे थे, उससे भी खड़ी-बोली गद्य की उन्नति

हुई। खड़ी-बोली हिन्दी प्रदेश में जातीय भाषा के रूप में फैली । पाश्चात्य प्रभावापन्न नई चेतना को आत्मसात करने के लिए साहित्य में गद्य-रूप को प्रमुखता मिली । इस प्रकार समय का प्रभाव गद्य को महत्व दे रहा था। तत्कालीन ऐसी परिस्थितियों में ब्रजभाषा गद्य-साहित्य इस नई चेतना को समाहित न कर सका। इसीलिए जो कवि ब्रजभाषा का उत्कर्ष चाह रहे थे वे भी अपनी गद्य-रचना खड़ी बोली में प्रस्तुत कर रहे थे। स्वयं भारतेन्दुजी ने ऐसा ही किया। इसके साथ ही खड़ी बोली की सर्वप्रियता बढ़ रही थी। इन्हीं सब कारणों से ब्रजभाषा-गद्य का इस युग में ह्रास हुआ ।

ब्रजभाषा गद्य के इस ह्रास-काल का अध्ययन हम दो शीर्षकों में सुविधापूर्वक कर सकते हैं । एक तो ह्रास-काल का प्रथम चरण सं० १८५१ से १९२९ तक। और दूसरा आधुनिक काल सं० १९३० से आज तक।

ब्रजभाषा गद्य का आधुनिक काल या आधुनिक ब्रज-गद्य-धारा : ब्रजभाषा में गद्य-निर्माण की परंपरा आज भी चल रही है किन्तु वह उतनी समृद्ध नहीं जितनी खड़ी बोली गद्य की है। आधुनिक काल में भी ब्रजभाषा के प्रेमी साहित्यकार इस भाषा के भंडार को अपनी गद्य-रचनाओं से भर रहे हैं। ब्रजभाषा के आधुनिक गद्यकार नाट्य रूपक, कथासाहित्य, अनुवाद, कृष्णभक्ति संबंधी संवाद, रासलीला आदि का निर्माण कर रहे हैं। ब्रजभाषा-गद्य के विकास में इस काल में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहयोग आकाशवाणी का है जिसके प्रोत्साहन से बहुत-सी गद्य-रचनाएं ब्रजभाषा में निर्मित एवं प्रसारित हुईं। अब तो ब्रजक्षेत्र में आकाशवाणी मथुरा की स्थापना से इन साहित्यिक प्रयत्नों को और भी प्रभावशाली रूप प्रदान किया जा रहा है। आधुनिक काल के प्रमुख ब्रजभाषा-गद्यकार ये हैं––श्री अनूप शर्मा रूप, आदर्शकुमारी यशपाल, चिम्मनलाल गोस्वामी, कल्याणप्रसाद शर्मा किशोरी, चन्द्रभान राधे-राधे, पातीराम अध्यापक, झम्मनलाल अग्रवाल, जगदीशप्रसाद, रामगोपाल शर्मा, श्रीकृष्णदास अग्रवाल, सत्यवती जैतली आदि ।

श्री अनूप शर्मा आकाशवाणी के लखनऊ केन्द्र के देहाती कार्यक्रम के संचालक हैं। आपने 'फेरि मिलिबो' नामक चम्पू काव्य की रचना ब्रजभाषा पद्य एवं गद्य में की, जिस पर आपको देव पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसमें भावगत के दशम स्कन्ध की कथा अत्यन्त मौलिक रूप में ललित ढंग से प्रस्तुत की गई है। इस रचना में कथात्मक अंश मुख्यत: गद्य में और वर्णनात्मक पद्य में लिखा गया है ।

पं० कल्याणप्रसाद शर्मा 'किशोरी' वृन्दावन की रासलीलाओं से संबंधित लीला-लेखक हैं। इनके गद्य-लेख 'सर्वेश्वर' मासिक पत्रिका में जून, सन १९५८ से सितम्बर १९६२ तक धाराप्रवाह रूप से प्रकाशित होते रहे हैं जिनमें से कुछ के नाम ये हैं––गोपाल-गोचारन, अवतार-लीला, नंदोत्सव, पूतनामोक्ष, महादेव-लीला, स्वप्नमिलन, प्रत्यक्ष मिलन, जसोदा द्वारा श्रीकृष्ण को शिक्षा, अलौकिक विवाह, श्री ब्रजेन्द्रनन्दन की बारात, श्री राधा बिदा, परस्पर होरी तथा युगल अवतार आदि । ये वर्णन प्राचीन कृष्णभक्ति-काव्य पर आधारित हैं।

'कल्याण' एवं 'कल्याण कल्पतरु' के सम्पादक श्री चिम्मनलाल गोस्वामी ने श्री राधा-माधव-चिन्तन के सोलह गीतों का ब्रजभाषा-गद्यानुवाद प्रस्तुत किया है। इस अनुवाद में शुद्ध साहित्यिक ठेठ ब्रजभाषा प्रयुक्त है। ब्रज के ग्राम-साहित्य में आज भी 'ब्रजभाषा-गद्य' का मौखिक रूप मिलता है। बहुत-सा ग्राम-साहित्य लिपिबद्ध भी हुआ है। डा० सत्येन्द्र जी[1] ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। ग्राम-साहित्य के अन्तर्गत गांव के मनुष्यों का मौखिक उद्‌गार साहित्य है। जो कुछ आज वे मुख से कहते हैं वह अपने बड़े-बूढ़ों

---

[1] ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन ––डा० सत्येंद्र।

से कई पीढ़ियों से सुनते आए हैं तथा उसका उपयोग मनोरजन या ज्ञानवर्द्धन के लिए करते आए हैं। यह अनेक प्रकार का होता है, यथा ग्राम-कहानी। ग्राम कहानी साधारण मनोरंजक, जाति-विषयक, धर्म-विषयक, त्योहार-विषयक, अन्धविश्वास संबंधी, कहावत व्याख्या संबंधी तथा पद्यबद्ध कहानियां भी होती हैं। ब्रज की ग्राम कहानियों में ब्रज संबंधी कहानियां, उपदेशात्मक धार्मिक अनुष्ठान संबंधी गाथाएं, बुझौअल कहानियां, पंचतंत्रीय कहानियां तथा लघु छंद कहानियां प्रमुख हैं। मौखिक लोक-साहित्य में लोकोक्ति साहित्य का विशेष महत्व है। सांसारिक व्यवहारपटुता और सामान्य बुद्धि का जैसा निदर्शन कहावतों में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

ब्रज की लोक-कहानियां : ब्रज में कहानियों का अखंड भंडार है। इन कहानियों में से कुछ का संग्रह ब्रज-साहित्य मंडल, मथुरा द्वारा 'ब्रज की लोक कहानियां' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

इन कहानियों के संकलनकर्त्ताओं ने इनमें भाषा के लोकप्रचलित एवं प्राचीन रूप को प्रतिष्ठित किया है। लोहवन से प्राप्त एक प्रसिद्ध कहानी 'यारु होइ तो ऐसौ होइ' श्री चन्द्रभान 'राधे-राधे' द्वारा प्रस्तुत की गई है।[1] इस कहानी का प्रारम्भ इस प्रकार है--

एकु राजा कै लरिका और बढ़ई के बेटा में यारई है। एक दिनां दोनों सिकार खेलिबैं गए। जांत-जांत बहौत दूरि निकरि गए। गरमी कौ बखतु और रस्ता की थकानि, राजा कै बेटा ऐ प्यास लगी। थोरी सी दूरि पै कहा देखैं कै चील और कउआ मडराइ रहे ऐं। बढ़ई के बेटा ने कही यार! होइ न होइ म्वां पानी जरूर मालिम परतुऐ। राजा के बेटा ने कही तौ तौ यार तु जा और मेरैं काजें पानी ला। नई तौ में यांई अपने प्रान छौड़ि दुग्गौ।

यह ग्राम-कहानी है। यह मूलतः कहां निर्मित हुई, इसके संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता है। ऐसा अनुमान होता है कि कम-से-कम उत्तरी भारत में तो यह व्याप्त ही है। बंगाल से इसका प्रमाण भी मिला है।

श्री 'राधे-राधे' द्वारा संकलित अन्य ग्राम कहानियां ये हैं--न्यौरा भइया, गीदड़ की चालाकी, तीन चोरु और एक राजा, ठगौ को ठगने वाला, सुपने कौ देसु, हिरनावती, आदमी की उमरंन, सगुनियां कोरी, निन्यानवें का फेंर, जाट की कहानी, अंधरे नें घरू छींडि लयौ, धर्म की जर हरी, जि कोंनकी बहू होगी, जुगती औरु टल्ली, जितौ बु चौं, बुतौ जि चौं--आदि। ये सभी कहानियाँ ब्रजसाहित्य मंडल द्वारा 'ब्रज की लोक-कहानियों' में संकलित हैं।

ब्रज की 'लोक-कहानियां' लिखने वालों में श्री पातीराम अध्यापक, अकबरपुर का नाम प्रसिद्ध है। इनकी प्रसिद्ध लोक-कहानियां ये हैं--आंधरौ और रचोंदुआ, ठाकुर रामपरसाद, कोरिया की मैंहमानी, चार यार, एक ठाकुर की चतुराई आदि।[2]

इसी प्रकार श्री झम्मनलाल अग्रवाल, बिलौठी ने 'बिल्ली कौ बौहरौ' और 'मिश्र और मिश्रानी' नामक लोक-कथाएं संकलित कीं। श्री जगदीशप्रसाद, कोसीकलां ने 'फूलनदेई; कौलनदेई'; श्री कन्हैयालाल, अकबरपुर ने 'चोर धरी में जनम'; श्री रामगोपाल शर्मा, तूमोला ने गधा ते आदमी, सत्त की जड़ हरी, धरमराज, जा जुग में रह्यौ, कछु बाऊ के गुन गाऔ, चतुर की चतुराई और रामगोपाल ओछटा ने दीन और दोजखु तथा एक चतुर नारि नामक लोक कहानियां ब्रजभाषा-गद्य में प्रस्तुत कीं। श्री मनोहर शर्मा

---

१. ब्रजभारती संवत् २००२, अंक ४, पृ० १९।

२. ब्रज की लोक कहानियों में संकलित।

चतुर्वेदी ने ब्रज की एक लोककथा के आधार पर 'ये रितु रूसिबे की नाहीं' नामक गल्प लिखी। इसका प्रारम्भ बड़ा काव्यात्मक है––"मधु-मयी राति की जोवन-क्रीड़ा, उद्दाम लालसा बनकें हिरदे में न पेंठन पाई ही कि अपनी अलसाई भई आंखिन में अंसुआंन कौ अरघ भरि के मालती ने माधव को विदा कीन्हो। पति के परदेस गमन पै अनेक तियान कों रोवत बानें देख्यौ ऐ और विनें देखि कै बौ हंसी ऊऐ। पै, जब वो पति नाम के प्रानी कों जानती ऊ नाइनी।"[1]

श्री ब्रजकिशोर पाठक ने 'झिलमिला जोगी' नामक लोक कहानी लिखी। इसका प्रारम्भ इस प्रकार है––"एक नगरिया में एकु राजा रहतौ। बाकी एकु रानी हती, वाके सात कुमार हे और गुन सांतौ कुमारन कौ व्याहु है गयो हतौ। बा राजा ने राज में परजा सब तरियाँ ते सुखी ही।"[2] श्री कृष्णदास अग्रवाल, अंडीग ने एक पृष्ठ की लघु 'ग्राम्य कहानी' लिखी।[3] यह अपने ढंग की निराली कहानी है।

श्री कृष्णदासजी का 'गांव की बोलचाल' नामक एक संवादात्मक लेख भी छपा है।

ब्रजभाषा-गद्य में कहानी लिखने वाली दो लेखिकाएं विशेष प्रसिद्ध हैं––सौ० सत्यवती जैतली तथा श्रीमती आदर्श कुमारी यशपाल, दिल्ली। सौ० सत्यवती जैतली ने 'सुखिया कौ लाला'[4] नामक एक लोक कहानी प्रस्तुत की। इन्होंने रवीन्द्रनाथ टैगोर के एक गीत का भी ब्रजभाषा-गद्य में रूपांतर किया है।[5]

श्रीमती आदर्श कुमारी ने 'बाँदी की चतुराई' नामक लोक-कथा प्रस्तुत की।[6] इनकी ब्रज की एक ग्रामीण कहानी, 'जैसी करनी वैसी भरनी' शीर्षक की ब्रजभारती में छपी। श्रीमती यशपाल की हास्यरस की लोक कहानी 'दिल्लगीबाज'[7] ब्रजभारती में छपी। कहानी का प्रारम्भ इस प्रकार है––"एक गाँव में एक आदिमी सब सूं हर बखत दिल्लगी कत्तु रहतुओ। सब नै बाका नाम दिल्लगीबाज रखि छोड़ौ औ। बु इतनी जादा दिल्लगी कत्तओ कं बाके हंसी-मजाक सूं सबरो गांम तंग आइ गयौ औ। एक दिना सबन्ने मिलि कै सलाह करी कै कैसऊ जा दिल्लगीबाज की अकल ठिकाने लगामनी चैयै। कै तो जि दिल्लगी करिबौ छोड़ै, नई तो हमारौ गांम छोड़िकै अंत कहुं चलौ जाइ।"

ब्रज की गीति कहानी : गीति कहानी का प्रारम्भ गद्य में होता है और बाद में यह पद्य का रूप धारण कर लेती है। डा० सत्येन्द्र का कथन है कि––"ब्रज में कितनी ही ऐसी कहानियां प्रचलित हैं, जिनमें पद्यात्मकता होती है। यह पद्यात्मकता अनेक रूप की होती है, और अनेक रूपों वाली कहानियां इसके उपयोग से अनेकरूपता प्राप्त करती हैं। किसी कहानी में (१) पद्य बीच-बीच में काम में लाया जाता है। उसका कुछ कथानक ही पद्यात्मक होता है। (२) किसी में केवल कुछ कथन ही पद्य में होता है। (३) किसी में केवल चुटीले स्थल ही पद्यात्मक रूप ग्रहण करते हैं। (४) कुछ ऐसी भी कहानियां हैं, जो पूरी की पूरी पद्य में मिलती हैं।

---

[1] ब्रजभारती, सं० १९९९, अंक ११, पृ० १६।

[2] वही, सं० २००४, अंक २, पृ० ३४।

[3] वही, सं० १९९८, अंक ४, पृ० २६–२७।

[4] वही, सं० २००४, अंक २, पृ० ३४।

[5] वही, सं० २००४, अंक १, पृ० १।

[6] वही, सं० २००१, अंक ६, पृ० ७।

[7] वही, सं० २००८, अंक ३, पृ० ४४।

वर्तमान काल में ब्रजप्रदेश से प्रकाशित होने वाली कुछ पत्रिकाएं भी ब्रजभाषा-गद्य में कुछ-न-कुछ सामग्री प्रस्तुत करती रहती हैं। 'ब्रजभारती' में ब्रजभाषा-गद्य में लेख-पत्र आदि प्रकाशित होते रहते हैं।

'सर्वेश्वर' मासिक पत्रिका में भी कई वर्ष तक ब्रजभाषा-गद्य के लिए एक विशेष स्तम्भ रहा जिसमें श्री कल्याणप्रसाद शर्मा 'किशोरी' रास-लीलाएं तथा इनसे संबंधित अन्य प्रकार के गद्य लेख लिखते रहे। पुष्टिमार्ग से सम्बंधित 'वल्लभ विज्ञान' मासिक पत्र में भी यदा-कदा व्याख्या रूप में ब्रजभाषा-गद्य प्रयुक्त होता है।

पुष्टिमार्ग में आज भी ब्रजभाषा का पुरुषोत्तम भाषा के रूप में प्रयोग होता है। श्री विद्या विभाग श्रीनाथद्वारा से अब भी प्रतिवर्ष 'उत्सव तथा व्रतन की टीप' नाम से प्रत्येक वर्ष पुस्तिकाएं प्रकाशित होती हैं। इनमें ब्रजभाषा-गद्य में ही तिथि, वार एवं उत्सव तथा व्रतों का निर्णय रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में भी ब्रज-गद्य-धारा प्रवाहित हो रही है और भविष्य में विद्वानों द्वारा इस क्षेत्र में विशेष योगदान की आशा की जा सकती है। ●

हरिमोहनलाल श्रीवास्तव

ब्रज-भाषा की व्यापकता

●

शब्दों का अर्थ घिस-पिटकर अथवा कभी कुछ विचित्रताओं से बदलते रहने के कारण उनका इतिहास भी कितना रोचक होता है! 'ब्रज' का तत्सम रूप 'व्रज' है, जो संस्कृत धातु 'व्रज्' से बना है, और जिसका अर्थ है 'जाना' (गमन), किन्तु 'ऋग्वेद संहिता' में यह शब्द 'पशुओं के समूह या बाड़े' के अर्थ में आया है, हिन्दी साहित्य में 'ब्रज' शब्द पहले-पहल मथुरा के चारों ओर के प्रदेश के अर्थ में आया। परिहास की बात नहीं कि मथुरा क्षेत्र को 'पशुओं का बाड़ा' समझा गया। खरा अनुमान है कि गोपालन की लोकप्रियता के बीच गोधन को सर्वोपरि मानने वाला भूभाग 'ब्रज' के नाम से विख्यात हुआ। बहुत पीछे से यह शब्द मथुरा के आसपास की भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

केवल 'भाषा' शब्द साहित्यिक देशभाषा के लिए प्रयोग में आता रहा। उर्दू लेखकों ने ब्रजभाषा को 'भाखा' के सुविधाजनक नाम से पहचाना। काव्य की भाषा के नाते राजस्थान में इसे 'पिंगल' कहा गया —'डिंगल' से भिन्न। उस समय बोली जाने वाली भाषा के रूप में भी इसका अपना आदर रहा है। साहित्य में ब्रजभाषा का प्रयोग बल्लभ संप्रदाय के प्रभाव के कारण ही प्रारंभ हुआ। दूसरे शब्दों में, बल्लभ संप्रदाय ने अपने प्रचार-प्रसार के साथ ब्रज की प्रादेशिक बोली को साहित्यिक भाषा के गौरवशाली पद पर आसीन किया।

गद्य की कमी—भाषाओं का आरंभ प्रायः पद्य से होता है और आज भी ब्रज-साहित्य का अधिकांश भाग पद्यात्मक है। यों प्रथम ब्रजभाषा गद्य-लेखक गोरखनाथ के समय से थोड़ा-बहुत गद्य ब्रजभाषा में बराबर पाया जाता है, परन्तु वह 'टीका' या 'वार्ता' साहित्य से ऊँचा नहीं उठ पाया। जिस ब्रजभाषा को सत्रहवीं

शताब्दी के प्रारंभ में ही समस्त हिन्दी-भाषी प्रदेश की साहित्यिक भाषा का वैभव प्राप्त हुआ, उसके विषय में हम यह कहने की धृष्टता तो कदापि न करेंगे कि गद्य के रूप में विकसित होने में उसमें कोई अपनी नैसर्गिक त्रुटि रही है। हमारी दृष्टि में यह एक अभाव अवश्य है, और इसके दो ही कारण समझे जा सकते हैं--पद्य के माध्यम से सहज-साध्य जमी-जमाई लोकप्रियता के लालच में लोगों ने गद्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया अथवा गद्य रूप में विकसित होने के लिए ब्रजभाषा को अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त नहीं हुईं।

'मचलि मचलि माँगी जामें हरि माखन रोटी' के अमित गौरव से सम्पन्न ब्रजभाषा ने कभी साहित्य-क्षेत्र पर एक-छत्र राज्य किया है। उसके अपने वैभव के कारण ही हिन्दी-जगत में अवधी, सर्वमान्य साहित्यिक भाषा के आदर से वंचित रही है, यद्यपि अवधी ने हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ के रूप में 'रामचरित-मानस' युग-युग के लिए अमर थाती के रूप में प्रदान किया है। ब्रजभाषा के इस सब महत्व के कारण ही हमारी दृष्टि उसके एकमात्र अभाव के निराकरण की ओर भी होनी चाहिए। यों आज खड़ी बोली की अपनी लोकप्रियता है--उससे प्रतिद्वंद्विता-जैसी बात नहीं, परन्तु भाषा और साहित्य के अपने उत्कर्ष के विचार से ब्रजभाषा-प्रेमियों से सानुरोध निवेदन है कि वे इस गद्यकाल में तो यदा-कदा ब्रजभाषा को अपने गद्य से सम्पन्न कर रखने की भी कुछ चिन्ता करें। आज तो प्रजातंत्र का युग है--खड़ी बोली की सार्वभौमिकता के विरोध में नहीं, परन्तु समस्त हिन्दी साहित्य की सम्पन्नता के विचार से खड़ीबोली के साथ कंधे से कंधा मिला कर ही ब्रज, अवधी, बुन्देली आदि प्रादेशिक भाषाएं अपना हित-चिन्तन करें, तो बुराई भी कहां है--बस एक अकेली दृष्टि राष्ट्र के मूल को सिंचित करने भर पर बनी रहे। हम जहां यह स्वीकार करते हैं कि ब्रजभाषा में अनगिनत अनमोल साहित्यिक रत्न भरे पड़े हैं, वहां यह भी जानते-मानते हैं कि गद्य की सुविधा और खड़ी बोली के प्रचार के कारण ही आज ब्रजभाषा का गौरव सिमट कर प्रादेशिक भाषा के रूप में ही रह गया है। उसके आन्तरिक विकास की सम्पन्नता से प्रेरित होकर ही हम गद्य की गरिमा भी अपनाये जाने का अनुरोध करते हैं।

अन्य बोलियों से सम्बन्ध--जहां तक हिन्दी की कुछ बोलियों का सम्बन्ध है, आज भी जब ब्रज-भाषा की पूंछ कुछ कम रह गई है, उसकी व्यापकता सबकी जानी-समझी है। ब्रजभाषा-व्याकरण की बारीकियों पर विचार किये बिना ही हम प्रकट करना चाहेंगे कि ब्रजभाषा की कुछ प्रवृत्तियाँ पश्चिमी भू-भाग में तथा कुछ पूर्वी भू-भाग में विशेष रूप से पाई जाती हैं। आसपास की कुछ बोलियों पर भी उसका व्यापक प्रभाव है। ग्रियर्सन के अनुसार, कन्नौजी वास्तव में ब्रजभाषा का ही एक रूप है, और इसको पृथक स्थान सर्व-साधारण में पाई जाने वाली भावना के कारण दिया गया है। मेवाती तथा अहीरवाटी ब्रजभाषा के ही रूपान्तर माने गये हैं। गढ़वाली-कुमायूंनी का भी ब्रजभाषा से साम्य है।

ब्रजभाषा-क्षेत्र के दक्षिण में जिस बुन्देली का चलन है, उसे कुछ लोग उत्साहवश एक स्वतंत्र नहीं तो समकक्ष भाषा मानते हैं, और कुछ ब्रजभाषा का दक्षिणी रूप भर बताते हैं। विरोध को आमंत्रण दिये बिना हम इस स्थान पर इतना ही प्रकट करना चाहेंगे कि बुन्देली बोली भी ब्रजभाषा से विशेष भिन्न नहीं, यद्यपि दोनों के बीच अन्तर पर भी हमारी दृष्टि है। इन दोनों बोलियों में भेद व्याकरण के रूपों में उतना अधिक नहीं, जितना ध्वनि-समूह में है। ब्रजभाषा की मधुरता सर्वमान्य है, परन्तु जहां 'ड़' के प्रयोग की बात है, बुन्देली बाजी मारती दिखाई देती है। ब्रज में जिसे 'पेड़ा' कहेंगे, वह एक बुन्देलखंडी नायिका के मुख में 'पेरा' हो जाता है। शब्दों के मध्य में या अन्त में पाया जाने वाला 'है' बुन्देली में प्रायः लुप्त हो जाता है, जैसे ब्रजभाषा का 'कही' बुन्देली में 'कई' बन कर आता है--'नोने कई, बुरएं कई'। हमें

प्रसन्नता है कि श्रद्धेय चौबेजी (पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी) ने जहां 'खुरचन पेड़ा' की ब्रजभूमि का प्यार पाया है, वहां 'बेर मौआ' '(महुआ) की बीहड़ बुन्देल भूमि में भी जीवन के कुछ अनमोल वर्ष विताये हैं—यह भूमि भी उनके उपकारों को सदैव याद करती रहेगी।

विदेशी शब्द : अब कुछ विदेशी शब्दों को पचाने की क्षमता के विषय में भी विचार कीजिये। प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। फारसी और अरबी जैसी विदेशी भाषाओं के शब्द भी ब्रजभाषा में स्वतंत्रतापूर्वक अपनाये गये हैं। ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवियों ने विदेशी शब्दों का प्रयोग अवश्य ही कम किया है, तथापि उनके अपनाने में उन्हें संकोच न था।

'शिकायत' और 'सिफारिश' के लिए जब बहुत समय तक हिन्दी खड़ी बोली में भी सर्वमान्य पर्याय नहीं खोजे जा सके, तो एक परम उत्साही हिन्दी पंडित ने 'शिक्षायत्न' और 'क्षिप्राशीष' जैसे शब्द चलाना चाहा। 'सिफारिश' तेजी से काम करा देने वाली 'क्षिप्र आशीष' ही तो है, जिसके लिए 'अभिस्तुति' शब्द भी काम में लाया जा सकता है, और 'शिकायत' 'शिक्षा-यत्न' तो जाना-माना है। अस्तु, अब 'अनु' उपसर्ग ने कुछ अच्छा काम चला दिया है—'शिकायत' के लिए 'अनुयोग' और 'सिफारिश' के लिए 'अनुशंसा' शब्द क्रमश: लोकप्रिय होते चले जायंगे। संस्कृत शब्द 'अवकाश' की कर्णकटुता के स्थान पर बुन्देली 'उकास' की मधुरता पर हम पहले से ही मुग्ध रहे हैं, पर एक चर्चा में श्रद्धेय वर्माजी (स्व० डा० वृन्दावन लाल वर्मा) ने उसे उर्दू 'गुंजाइश' के पर्याय के रूप में भी सुझाया था। वर्माजी ने 'अपनी कहानी' में भी इस शब्द का उल्लेख किया है। अस्तु, जहां हमारा अनुरोध है कि विदेशी भाषाओं के व्यंजक शब्दों को यथासंभव तद्भव अथवा तत्सम रूप में भी अपनाने पर ध्यान दिया जाय, वहां हम यह भी कामना करेंगे कि दृष्टि अपनी भाषा के उन मूल शब्दों पर पहले जानी चाहिये, जो विदेशी शब्दों की व्यंजना करने में भली प्रकार समर्थ हों।

ब्रजभाषा काव्य में श्रृंगार-भावना : ब्रजभाषा को व्यापक क्षेत्र दिलाने में सर्वाधिक योग रहा है ब्रजभाषा काव्य में श्रृंगार-भावना को। ब्रजभाषा के वास्तविक उत्कर्ष के दिनों में बल्लभाचार्यजी के प्रभाव से श्रीकृष्ण का और हितहरिवंशजी तथा हरिदासजी की प्रेरणा से राधिकाजी के श्रृंगार का हृदयहारी चित्रण हुआ है। अष्टछाप के कवियों का हिन्दी साहित्य सदैव ऋणी रहेगा। सूरदास, नन्ददास आदि ने लीलावतार भगवान श्रीकृष्ण का हँसता-खेलता रूप दिखा कर हिन्दू-जीवन में व्याप्त नैराश्य को भली प्रकार हर लिया। आगे चल कर राधाबल्लभीय सम्प्रदाय ने राधिकाजी की भक्ति को प्रधानता देते हुए तथा टट्टी या सखी सम्प्रदाय ने स्त्रीवेश द्वारा श्रीकृष्ण की अनन्य प्रेमिका का भाव प्रदर्शित करते हुए ब्रजभाषा के श्रृंगार रस को विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया है। सूरदास और मीराबाई, हितहरिवंश और हरिदास इत्यादि विरक्त अपनी उत्कृष्ट भक्ति में ऐसे तन्मय हो जाते थे कि उनके सामने प्रकृति और पुरुष के अवतार श्रीराधाकृष्ण की मूर्तियां अनायास आ खड़ी होती थीं, और तब मूर्तिमान विशुद्ध श्रृंगार नाचने लगता था।

जहां भक्तिकाल में श्रृंगार-भावना ने ब्रजभाषा को भरपूर महत्व दिलाया, वहां रीतिकाल में तन्मयता-शून्य आधिक्य ने उसे अवनति का मार्ग भी दिखाया। १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते ब्रजभाषा साहित्य काव्य-शास्त्र से विशेष प्रभावित होने लगा था और धार्मिक पुट निरा बहाना बन गया था—

आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
ना तो राधिका कन्हाई सुमिरबे को बहानो है।

यह तो सूरदास और हितहरिवंश जैसे महात्माओं का दोष नहीं यदि परवर्ती कवियों की दृष्टि लौकिक

लाभों पर रीझ कर आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर बढ़ती चली गई। यदि रीतिकाल के रूप में इस भौतिकता का कुफल भी हमें देखने को मिला, तो भी सामाजिक ह्रास का दोष ब्रजभाषा पर लगाया जाना कदापि न्यायसंगत नहीं।

ब्रजभाषा के श्रृंगारी साहित्य की लोकप्रियता ने जहां हिन्दी के प्राचीन साहित्य को विशेष उत्तेजन दिया और अनेक कवियों को जन्म देते हुए दीर्घ काल तक साहित्य की स्रोतस्विनी को आप्लावित रखा, वहां उसने किसी के साथ कुछ भी बुराई नहीं की। समाज को उन्नत अथवा अवनत करने की दृष्टि से ब्रजभाषा के कवियों ने साहित्य-सृजन नहीं किया था—उनका ध्येय या तो 'स्वांतः सुखाय' था अथवा मनोरंजन। परन्तु अब गद्यकाल की कठोर वास्तविकता के बीच तो ब्रजभाषा के हितैषी अपना कर्त्तव्य पहचानें। भक्ति और श्रृंगार—दिव्य एवं लौकिक श्रृंगार के एकांगीपन के दोष से ब्रजभाषा साहित्य को उबार कर अब तो उसे विविध विषयों से सम्पन्न कर रखने की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। आज भी यदि हम ब्रजभाषा को व्यापक सम्मान दिलाना चाहें, तो हमारी दृष्टि समाज की वर्तमान आवश्यकताओं पर होनी ही चाहिए। प्राचीन काल के ब्रजभाषा साहित्य ने 'स्वांतः सुखाय' होकर भी 'बहुजन हिताय' की सफलता अर्जित की है, तो कोई कारण नहीं कि नये युग का साहित्य जन-हित में समर्थ न हो। हम उस ब्रजभाषा गद्य की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करेंगे, जो देवताओं और नरेशों के स्थान पर सामान्य जनता को रिझाने और उसकी अपनी समस्याओं को चित्रित करने एवं उनका हल सुझाने को अपना ध्येय समझेगा। ●

मोहनलाल शर्मा

ब्रज-भाषा भूलि सी गयौ

●

"अब भी जब उनकी याद आती है, जी भर आता है। एक प्रोग्राम बनाया था कि दो-चार ब्रजभाषा-प्रेमी मित्र मिलकर छह महीने ब्रज में घूमें, ब्रज की रज में लोटें, गांवों में रहकर जीवित ब्रजभाषा का अध्ययन करें, ब्रजभाषा के प्राचीन ग्रंथों की खोज करें, ब्रजभाषा का एक अच्छा प्रामाणिक कोष तैयार करें। ऐसी बहुत-सी बातें सोची थीं, जो उनके साथ गईं और हमारे जी में रह गईं। अफसोस !

ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफसाना था।

स्वर्गीय पूज्य पं० पद्मसिंहजी शर्मा ने स्वनामधन्य ब्रजकोकिल श्री सत्यनारायणजी कविरत्न की याद करत भए इन शब्दन में अफसोस अनुभव कियौ हौ और ३ फरवरी, ६८ बसन्तपांचैं कूं लेखक कूं लिखे भए पत्र में पूज्यपाद पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी के हृदय में उठती भई ऐसी ही कछू टीस छलकी परै है—

"मैं तौ ब्रज तैं ५०–५१ बरस दूर ई रह्यौ—मालवा, गुजरात, बंगाल, बुन्देल खन्ड वगैरै में—सो ब्रजभाषा भूलि सी गयौ।

अपनी ब्रजभूमि के लएँ जो कछु बनि परै, करौ।"

ब्रजभाषा, जीवित ब्रजभाषा और वाकौ विस्मरण ! वास्तव में हमारी कर्त्तव्य दिशा कौ बोध इन महानुभावन की सीधी सच्ची हार्दिक वेदना में छिप्यौ भयौ है। ब्रजभाषा आज हू भारत की एक जीवित और सशक्त भाषा है। हिन्दी साहित्य के तीन युगन लौं एकछत्र विचरन करिकें जानें वाकी नींव निर्माण करी जापै राष्ट्रभाषा कौ भव्यभवन निर्मित ह्वै कें देश कूं एकता कौ सन्देश दै रह्यौ है, ऊ ब्रजभाषा और वाके साहित्य के सत्य सनातन तत्व आजु हू अपने रूप में विद्यमान हैं। वस्तुत: हिन्दी कौ विकास हिन्दी की सहभाषान के सम्मिलित रूप कौ ई विकास है। ब्रजभाषा हिन्दी की केवल एक बोली या 'आदरार्थ' कही जावे वारी भाषा मात्र नाम है वरन् ऊ साहित्य सृजन की एक पुष्ट भाषा है और हिन्दी कौ एक विशिष्ट जीवमान अंग है।

स्वातंत्र्य प्राप्ति के पश्चात के इन २१ वर्षन में हिन्दी खड़ी बोली कौ राष्ट्रभाषा के रूप में पर्याप्त विकास भयौ है और ह्वै रह्यौ है। राष्ट्रभाषा व जनभाषा के या गंभीरतम दायित्व कूं ग्रहण करिबे की प्रक्रिया में हिन्दी खड़ी बोली के संगसंग वाकी सहभाषान कौ बड़ौ महत्त्वपूर्ण योगदान रह्यौ है। या दृष्टि ते ब्रजभाषा और खड़ीबोली में कोई प्रतिद्वन्द्विता नायं ह्वै सकै है। ब्रजभाषा कौ साहित्य हिन्दी कौई साहित्य रह्यौ है और रहैगौ। ब्रजभाषा की सेवा हिन्दी की ई सेवा है। मातृभाषा और राष्ट्रभाषा कौ पुष्ट समन्वय ई भारतीय साहित्य कूं एक ऐसौ ठोस और सार्वदेशिक स्वरूप प्रदान करि सकैगौ जो भारतीय गणतंत्र के विकासशील जीवनपथ में प्रत्येक भारतीय कूं राष्ट्रीय ऐक्य की भावात्मक प्रेरणा स्वत: जागृत करैगौ। तबई तौ पूज्य श्री चतुर्वेदीजी ने अपने ५–६–६७ के पत्र में स्पष्टरूप ते उल्लेख कियौ है:––

“निस्सन्देह हम अपनी पूरी शक्ति से राष्ट्रभाषा के लिए काम करेंगे परन्तु इससे हमारे मातृभाषा-प्रेम में कोई कमी न आनी चाहिए।”

(भारतीय संस्कृति के विविध परिदृश्य––पृष्ठ ३४१)

अपनी व्यापकता में हू ब्रजभाषा कौ क्षेत्र सीमित नांय है। न केवल ब्रजमंडल वरन् पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियानौ, पंजाब, उत्तरी राजस्थान और गुजरात तक ब्रजभाषा के प्रभाव क्षेत्र में आवैं हैं। मध्यप्रदेश के ग्वालियर संभाग लौं ब्रजभाषा व्याप्त ह्वै रही है। पंजाब की और ब्रजभाषा की कोमलकान्त पदावली में तौ अद्भुत साम्य है। इतनौई नांय इन सभी प्रदेशन में ब्रजभाषा साहित्य कौ पुरानौ साहित्य भारी मात्रा में आजु हू दब्यौ मुद्यौ पर्यौ है और अपने अनुसंधान और प्रकाशन की बाट जोह रह्यौ है।

आज के या विचारशील युग में जीवन के उपयोगितावादी धरातल पै आधुनिक बोध और अन्तर्बाह्य द्वन्दन के तरै तरै के सरूपन कूं व्यक्त करिबे की क्षमता ब्रजभाषा और विशेषत: वाके गद्य में पूरी तरै निहित है। ब्रजभाषा गद्य कौ प्राचीन साहित्य तौ बड़ौ समृद्ध है। वार्त्ता टीका, अनुवाद और पत्र साहित्य ब्रजभाषा-गद्य कौ अपनी निधि है। आजुहू ब्रजभाषा-गद्य कौ सजीव रूप विद्यमान है जो आजु के व्यक्ति और समाज कूं उच्चतम बौद्धिक स्तर पै सत्साहित्य की खाद्य सामग्री दै सकै है। कहा निबंध और कहा कथा, उपन्यास––साहित्य की समस्त विधानुकूं मुखरित करतौ भयौ ब्रजभाषा कौ गद्य आधुनिक भाषा की सम्पूर्ण सामर्थ्य अपने में लिए भयौ है। काव्य कौ तौ कहनौ ही कहा है। अतएव आज सर्वाधिक आवश्यकता है कै ब्रजभाषा के साहित्यकार ब्रजभाषा गद्य में नितनवीन रचना करैं जाते ब्रजभाषागद्य के स्थानीय प्रभावन ते युक्त अनेक रूप सम्मुख आमिंगे और कछू काल पश्चात वा गद्य कौ एक रूप स्थिर होइगौ जामें वर्तमान स्थानीय प्रभावन ते युक्त समस्त शैलीन को समन्वय हुइकैं एक निखरौ भयौ स्वरूप विकसित होइगौ ।

वास्तव में ब्रजभाषा-गद्य की रचना कौ स्थिर रूप ई ब्रजभाषा साहित्य के विकास की किंचित अवरुद्ध दिसान कूं खोलि कें भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति के उन आदर्शन कूं उद्घाटित करि सकै हैं जो ब्रजभूमि के कण-कण में मिलिके ब्रज जीवन में साकार ह्वै उठे हैं, जाकी रज में लोटिबे कूं पूज्य पं० पद्मसिंहजी शर्मा के समान प्रत्येक भारतीय की लालसा होइ है ।●

अम्बाप्रसाद 'सुमन'

ब्रज-भाषा-काव्य की देन और दिशा

●

हिन्दी की प्रमुख उपभाषाओं में बघेली, अवधी और ब्रजभाषा की ग्रंथ-सृष्टि ही सबसे अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। प्राचीन बघेली में रोडाकृत 'राउलबेल' की रचना ईसा की दसवीं शताब्दी की उल्लेखनीय घटना है। सन ११०० ई० में दामोदर ने अवधी में 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की सृष्टि की थी और फिर १३०० ई० में प्राचीन ब्रज एवं पूर्वी-मिश्रित खड़ीबोली में 'गोरखबानी' की सर्जना हुई। 'गोरखबानी' में छीटों की भांति दो-चार स्थलों पर ब्रजभाषा की झलक भी मिल जाती है :

सो फल षातांहै लागै मीठौ, जाणै रे जिन गुरु प्रसादैं दीठौ ।
ऊँट सिन्वाणे जलग्रह्यौ जाइ कैरौ जाली बैठो ।।

(गोरखबानी, ५।२०)

'गोरखबानी' के सृष्टि-काल में ही मैथिली के प्रसिद्ध पंडित ज्योतिरीश्वर कवि शेखराचार्य अपने ग्रन्थ 'वर्णरत्नाकर' की भी रचना कर रहे थे। ईसा की १३ वीं शती में खुसरो ने भी ब्रजभाषा में कुछ दोहे लिखे थे।[1]

काल-क्रम की दृष्टि से यद्यपि बघेली और अवधी में ग्रन्थ-रचना ब्रजभाषा से पहले प्रारंभ हुई थी, किन्तु ब्रजभाषा अपनी सक्षम अभिव्यंजकता, शब्द-माधुरी, ब्रज एवं ब्रजेश्वर की महा मधुर रमणीयता तथा मनोहारिणी लीलाओं के कारण ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी तक सारे भारत की राष्ट्रीय काव्यभाषा बनकर कोमलकान्त पदावली में भक्ति, शान्त, श्रृंगार, करुण, वीर आदि रसों की स्रोतस्विनी की अजस्र धाराएँ प्रवाहित करती रही। ब्रज-संस्कृति एवं ब्रजपति की लीलाओं का गान करते-करते भक्ति और श्रृंगार के क्षेत्र में जो सर्वोच्च स्थान ब्रजभाषा-काव्य ने प्राप्त किया, वह निश्चय ही संपूर्ण हिन्दी-काव्य-साहित्य में उत्तम, अनूठा और सरस है। निस्सन्देह, वह भारतीय वाङ्मय की पावन वसुंधरा पर प्रवहमान पवित्र पीयूषधारा है, जिसके अमृत का पान उत्तर भारत के कवियों ने हीं नहीं, अपितु दक्षिण भारत के सारस्वत-सुपुत्रों ने भी स्वयं किया था और जनता-जनार्दन को कराया था।

---

[1] **गौरी सोवै सेज पर, मुख पर डारै केस ।**
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुं देस ।।
(आचार्य शुक्ल, हिं० सा० का इतिहास, सं० २००६ वि०, पृ० ५६)

कबीर की अटपटी वाणी के माध्यम से निराकार निर्गुण ब्रह्म का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया वह झीनी-झीनी बुनी हुई चदरिया की भांति झीना ही रहा। जायसी ने लोककथा का आश्रय लेकर तथा प्रेम को प्रमुख मानकर रहस्यवादी भावनाओं के माध्यम से उस निराकार निर्गुण ब्रह्म को कुछ मानसिक आकार प्रदान तो किया, किन्तु फिर भी उनकी अन्योक्ति-समासोक्तिमयी शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारफत की सांकेतिक व्याख्याएं निर्गुण-निराकार ब्रह्म को स्पष्ट एवं बोधगम्य रूप न दे सकीं। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम सगुण भक्त-कवि सूरदास ने ही ब्रज की करील-कुंजों में कृष्णभक्ति की जो अनुपम पीपूषधारा बहायी, वह आज तक भी उसी छटा के साथ प्रवाहित है और स्वर्गीय आनन्द प्रदान करती है। ब्रजभाषा की वह अमृत-सलिला निर्झरिणी अष्टछाप के भक्त कवियों, मीराबाई, रसखान, आलम, घनानंद अदि की वाणी का योग पाकर विशाल और दिव्य रूप ग्रहण करती चली गयी। ब्रजभाषा द्वारा सत्तरहवीं शताब्दी तक भक्ति और शृंगार की पवित्र परमा और सुषमा के जैसे दर्शन कराये गये, वैसे दर्शन अन्य भाषाओं का काव्य कदाचित हमें नहीं करा सका। वस्तुतः भावनाओं के लोक में उसे पृथ्वी पर का स्वर्गलोक ही कहा जा सकता है। आज भी उस स्वर्गलोक का आलोक आलोकित है। हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल जो स्वर्णकाल के नाम से प्रसिद्ध है, उसका वास्तविक श्रेय ब्रजभाषा-काव्य को ही है। काव्य के भाव-पक्ष की ऊंचाई की कल्पना अधिक-से-अधिक जितनी भी की जा सकती है, उस कल्पना को ब्रजभाषा-काव्य ने सत्यता के रूप में प्रस्तुत करके हमें शाश्वत स्वर्गीय आनन्द प्रदान किया है।

१७ वीं शती से १९ वीं शती तक ब्रजभाषा-काव्य ने कविता के कलापक्ष का शृंगार किया। केशव, बिहारी, देव, मतिराम, सेनापति आदि के काव्यों में हमें वक्रोक्ति, अलंकार, रीति, गुण, वृत्ति आदि की सभी कला-बाजियां और चमत्कार-प्रदर्शन मिल सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि रीतिकाल के ब्रजभाषा-कवि लक्षणग्रन्थों के आचार्य हैं और शब्दों का जादू भी जानते हैं। अपनी लेखनी की नोक पर वे शब्दों को मनमाने ढंग से खिलाते और नचाते हैं, जिसे देखकर कलाप्रेमी पाठक का मन-मयूर भी नाचने लगता है। रीतिकालीन ब्रजभाषा-काव्य ने हमें वे निष्पक्षिणी एवं कलाप्रेक्षिणी दृष्टियाँ दी हैं, जिनसे हम काव्य-कला को शुद्ध कला की कसौटी कर कसकर परख सकते हैं। काव्य-कला को यदि एक कला की दृष्टि से देखने का प्रयास करें तो हम रीति-कालीन ब्रजभाषा काव्य के मूल्यांकन में न्याय कर सकते हैं। कला-कला के ही लिए होती है, यह दिशा सर्वप्रथम हमें रीतिकालीन ब्रजभाषा कवियों एवं आचार्यों ने ही दिखायी थी।

भारतेन्दु-काल में ब्रजभाषा-काव्य ने प्रचलित तथा व्यावहारिक शब्दों के सार्थक प्रयोगों के लिए नई मोड़ ली और नये युग के नये युगबोध को समझा। अपभ्रंश की परम्परा से प्राप्त त्यक्तार्थ शब्दों का बहिष्कार कर दिया गया। पंडित श्रीधर पाठक की ब्रजभाषा-कविता के कलेवर में आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण जितना सरस, मधुर, सानुप्रास और स्वाभाविक है वैसा तत्कालीन खड़ीबोली के काव्यों में दिखायी नहीं देता :

प्रकृति यहां एकान्त बैठि निज रूप संवारति।
पल-पल पलटति बेस छिनक छवि छिन-छिन धारति।
(श्रीधर पाठक, काश्मीर सुषमा)

देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भावनाओं के मार्मिक उद्‌गार भारतेन्दु-कालीन ब्रजभाषा-काव्यों में हमें स्पष्टतः सुनायी पड़ते हैं। पंडित श्रीधर पाठक भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की एक कड़ी थे। उनकी ब्रजभाषा की कविताओं ने जिस स्वच्छन्द प्रेम की धारा बहायी वही प्रवाहित एवं विकसित होकर प्रसाद-युग

में छायावाद के नाम से विख्यात हुई। सारांश यह है कि पंडित श्रीधर पाठक रचित ब्रजभाषा-काव्य एक प्रकार से खड़ीबोली हिन्दी के छायावाद का जनक या दिशानिर्देशक माना जा सकता है।

भक्तिकाल की भावमयी कविता और रीतिकाल की कलापूर्ण कविता मिलकर जो समष्टिगत मार्मिक रचना-कौशल प्रस्तुत कर सकती हैं, वह मनोमोहक स्वरूप हमें रत्नाकरजी के 'उद्धवशतक' में अच्छी तरह दृष्टिगोचर होता है। आचार्य विश्वनाथ और कुन्तक मिलकर काव्य की जो परिभाषा स्थापित कर सकते हैं, उसका वास्तविक रूप ब्रजभाषा के लोकप्रिय काव्य 'उद्धवशतक' में देखा जा सकता है।

छायावादी काल की अभिव्यंजना-शैली की भविष्य-वाणी श्री रत्नाकर अपने 'गंगावतरण' की सरस पदावली में कर चुके थे—

रह्यौ भूप कौ रूप भावना के लेखा सौ।
अस्ति—नास्ति के बीच गनित कल्पित रेखा सौ।—(गंगावतरण)

भाव के अतिरिक्त विचार एवं उक्ति-वैचित्र्य भी कविता की आत्मा मानी जा सकती है। इसका समर्थन आज की नयी कविता भी कर रही है। ऐसा ही समर्थन द्विवेदी युगीन ब्रजभाषा की कविता ने भी किया था जब कवि-सम्मेलनों में समस्यापूर्तियों की धूम-सी मची रहती थी। उस समय चमत्कार, कल्पना और बुद्धि-व्यायाम के कौशल की परीक्षाएँ समस्या-पूर्तियां ही थीं। सूर के कूटपदों से लेकर पं० नाथूराम 'शंकर' तक के ब्रजभाषा-काव्य-ग्रंथों में इस कौशल के प्रमाण हमें नयी दिशा की ओर संकेत करते हुए मिलते हैं। ब्रजभाषा के उन कवियों ने यह सिद्ध किया था कि कविता हृदय को लेकर ही नहीं चलती, अपितु मस्तिष्क के चमत्कार और कल्पना को भी साथ रखती है। आवश्यकतानुसार वह दोनों ही क्षेत्रों में विचरण कर सकती है। श्री हरिऔध के 'काव्योपवन' में ब्रजभाषा की समस्यापूर्तियां कल्पना और चमत्कार के लिए अनूठी दिशानिर्देशिकाएं हैं। उन्होंने एकबार 'अंसुआन सौं भीज्यौ लिलार कौ टीको' की समस्यापूर्ति इस प्रकार की थी—

ढूंढ़ि कै कुंज मैं त्यों कलकूल पै, नाहिं लह्यौ जब प्रानपती को।
रोदन ऐसौ कियौ ब्रषभानुजा, दुःख भौ जाते सबै जगती को॥
जा समै सीस उठाइ लख्यौ 'हरिऔध' कहै दुख मोइ ससी को।
सोग पगे रजनीपति के अंसुआन सौं भीज्यौ लिलार कौ टीको॥

ईसा की १९ वीं शती में समाज-सुधारक एक गद्य लेखक कुं० हनुमन्तसिंहजी[1] ने कुछ ब्रजभाषा-छन्द लिखे थे जिनमें संस्कृतगर्भित शब्दावली का बाहुल्य है—

जो पतिब्रता सती वीर जननी गुण-ग्रामा।
आरज कुल मुख-रती सत्य सुख-सनी ललामा॥
निज प्रण पालनि प्राण मोह तजि धीरजधामा।
अस भारत-महिला-मंडल पद पद्म प्रणामा॥ (कुं० हनुमन्तसिंहजी)

ब्रजभाषा अपनी माधुरी तथा कोमलकान्त पदावली के लिए प्रसिद्ध है और थी। इसलिए प्रायः कवि श्रृंगार, करुण, भक्ति आदि से ही सम्बद्ध रचना किया करते थे। भूषण, लाल और सूदन के बाद ब्रजभाषा-

---

[1] इसकी सूचना मुझे श्री वृन्दावनदासजी ने अपने कृपापत्र द्वारा दी। लेखक आभारी है।

काव्य-परम्परा में वीररस की धारा का अभाव खटकता था। इस अभाव की मार्मिक अनुभूति ने श्री वियोगी हरि की लेखनी से 'वीरसतसई' की अनुपम सृष्टि कराई, जो वीररसपूर्ण मुक्तक काव्यों में सर्वोत्तम कृति है। यह आज के विलासी एवं शृंगारप्रिय युवकों की धमनियों में नये रक्त का संचार करती है। उसका प्रत्येक दोहा हमें वीर और गान्धी-विचारों का राष्ट्र-सेवी बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। कायरों और उत्साहहीनों को 'वीरसतसई' के दोहे प्रेरणा और उत्साह प्रदान करते हैं—

केहि कारन सेवतु सुरुचि, नित नवीन समसानु,
जहं-तहं जौहर की भसमु, ढूंढ़त संभु सुजानु।

(वीरसतसई)

रोदन ही मैं लाल दृग, नौ रस ही मैं वीर

(वियोगीहरि, वीरसतसई)

'रोदन ' ' 'वीर' इस पंक्ति में परिसंख्या अलंकार की छटा के साथ उत्साह की प्रेरणा दी गई है।

महात्मा गांधी के प्रभाव से देश में स्वातंत्र्य की भावना और अधिक बलवती हो चली थी। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में मजदूर और किसान की दयनीय स्थिति का चित्रण जोरों से किया था। खड़ीबोली के काव्यों में भारतेन्दु युगीन तथा द्विवेदी युगीन कवि चार-छह छन्दों में यत्र-तत्र किसानों की गरीबी का मामूली-सा चित्र खींच दिया करते थे। लेकिन आधुनिक काल में ब्रजभाषा का एक कवि झंडा लेकर आगे आया और उसने 'किसान-सतसई' लिखकर किसान और उसके शोषित-पीड़ित जीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया। उस कवि का नाम है श्री जगनसिंह सैंगर। श्री सैंगरजी अलीगढ़ जिले के निवासी हैं। इनकी ब्रजभाषा की कविताएं देश की वर्तमान स्थिति का भी सच्चा चित्र उपस्थित करती हैं।

श्री जगनसिंह सैंगर ने ब्रजभाषा की लोकोक्तियों का प्रयोग भी बड़ी सटीक शैली में किया है। जैसे—

आवत देखूँ हंसि परूं, आंचर लैउं उघारि।
अपने म्हौं कैसें कहूं, आउ बैल मोहि मारि।

श्री अमृतलाल चतुर्वेदी हमारे वर्तमान ब्रजभाषा-काव्य के 'रत्नाकर' हैं। उनके नये उपमान परम आकर्षक सिद्ध हुए हैं।

ब्रजभाषा के मुक्तक काव्यों के नवीन उपमान-विधान में मथुरा निवासी स्व० श्री नवनीतलाल चतुर्वेदी सदैव अमर रहेंगे। राधा की मांग और मुख-छवि के वर्णन में उनके उपमान द्रष्टव्य हैं—

सरस सिंगार काम दाम नापिबे की किधौं,
रबि की कला कौं बन्यौ पारसी अलफ है।

× × ×

पैरें सेत सारी सो किनारीदार मुक्तमाल,
लाल कौं निहारि चट घूंघट सु दीनौ है।
दाबे ही रहत चंद्रमा तौं चांदनी कौं सदा,
आज चांदनी नैं चंद्रमा कौं दाबि लीनौ है।

(नवनीतलाल चतुर्वेदी)

आज भी अनेक कवि ब्रजभाषा में काव्य-सर्जना कर रहे हैं। किन्तु खड़ीवोली के प्रचार-प्रसार के आधिक्य के कारण ब्रजभाषा की कविताएं समय की दौड़ में कुछ पिछड़-सी गयी हैं। ब्रजभाषा-क्षेत्र के निवासी भी ब्रजभाषा की कविताओं में अपेक्षाकृत कम ही रुचि लेते हैं। इसके क्या-क्या कारण हो सकते हैं उन कारणों पर हमें यहां विचार करना चाहिए।

प्रत्येक काव्य देश और समाज की स्थिति का चित्र होता है। अतः ब्रजभाषा-काव्य को भी वर्तमान युग का व्याख्याता होना चाहिए। नये युग के नये समाज और नये युगवोध के साथ जव ब्रजभाषा की काव्य-सृष्टि होगी तब निश्चित ही वह काव्य और अधिक लोकप्रिय बन जायगा।

सर्वश्री हरदयाल सिंह ने 'दैत्यवंश', ललितेश ने 'मोहन मोहनदास', श्री हरिप्रसाद पाठक 'निराश' ने 'पक्षी', वचनेश ने 'शवरी', डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने 'गान्धीशतक' नामक काव्य लिखकर ब्रजभाषा में नयी सरणियां बनायी हैं जो युगबोध कराती हैं। गान्धीजी के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर कुछ छन्द सर्वश्री रामप्रसाद त्रिपाठी, रामलला, गोविन्द, वालमुकुन्द चतुर्वेदी, राधेश्याम द्विवेदी आदि ने भी लिखे हैं जो काव्य की दृष्टि से मार्मिक और सरस हैं।

आज के ब्रजभाषा-काव्य को अब नयी दिशाओं में मुड़कर नये ढंग से चलना होगा। उसे सब कुछ नये युग के सन्दर्भ में ही विचारना होगा। नयी दिशाएं अपनाकर ही हमारा वर्तमान ब्रजभाषा-काव्य आज के युग में लोकप्रिय बन सकता है। वे नयी दिशाएं प्रमुख रूप से तीन हो सकती हैं—(१) विषय वस्तु (२) शिल्प विधान (३) छन्द-संयोजना।

सन १९४७ से आज तक के भारत का स्वरूप हमारे वर्तमान ब्रजभाषा-काव्य में नये युगबोध के परिपार्श्व में चित्रित किया जाता तो वह और अधिक लोकप्रिय होता। आज के समाज का जीवन अपेक्षाकृत अधिक नागरिक तथा वैज्ञानिक बनता जा रहा है। मानव-समाज का सांस्कृतिक स्वरूप भी बदल रहा है। अंग्रेज़ी, फारसी आदि के शव्दों की प्रचलित वहुलता से ब्रजभाषा का वर्तमान रूप भी पहले की अपेक्षा बदल गया है। हमारे समाज के दैनिक जीवन में रहन-सहन, वेश-विन्यास, साज-शृंगार, खान-पान, मनोविनोद, सामाजिक स्थिति आदि में जो नया स्तर और नया ढंग आया है उसे आज के ब्रजभाषा-कवियों ने कुछ देखा तो है लेकिन अव और अच्छी तरह देखना चाहिए और काव्य के नये-नये आधुनिक रूपों में उसकी अभिव्यक्ति करनी चाहिए। यदि किसी भाषा का काव्य अपने युग का प्रतिनिधित्व न करेगा और अपने समाज का सच्चा दर्पण बनकर अपने समाज को प्रतिबिम्बित न कर सकेगा, तो निश्चित ही वह एक दिन निष्प्राण अवश्य हो जायगा। युगानुसारी नये उपमानों, नये प्रतीकों, नये विम्बों, नई शैलियों तथा नये छन्दों में जब भावाभिव्यक्ति की जायगी तब वह अवश्य ही जनता को आकृष्ट एवं प्रभावित करेगी। वर्तमान ब्रजभाषा-काव्य के स्रष्टा इस तथ्य से अवगत हैं और उन्हीं चरण-चिह्नों पर चल भी रहे हैं, किन्तु उन्हें द्रुत चरणन्यास से लम्बी डगें भरते हुए और भी अधिक रास्ता तै करना चाहिए। ब्रजभाषा के वर्तमान नये कवियों ने लोकगीत-सृष्टि में नयी उद्भावनाएं एवं नयी गेय शैलियां प्रदान की हैं। लोक के नये उपमानों तथा प्रतीकों का भी काव्य में स्वागत किया गया है।

वर्तमान समाज के चित्रण में श्री जगनसिंह सैंगर की 'मनियाडर मुक्तावली' और उपेक्षिता नारी-चित्रण में श्री रामनारायण अग्रवाल की 'कूबलरी' नामक काव्य-पुस्तकें वस्तुतः उत्तम उदाहरण हैं :

नित खेलत होंहिंगे जेठ जुआ, मदपान में नोट लुटावत हुंगे।
'कवि सैंगर' देवर फीस के दाम अनाप-सनाप बताबत हुंगे।

मनिहार, सुनार, बजाज जिठानिहि आये दिना ललचावत हुंगे।
बिन गौने ही सासुरे भेजि दै मा! उनके मनियाडर आवत हुंगे।

(श्री जगनसिंह सैंगर, 'मनियाडर मुक्तावली')

× × ×

भेदि कै घटान कौं जुन्हाई विकसी है कैधौं,
चंद्रमा निहारिकै कुमोदिनी खिलाई है।
कूब मंदराचल मथत प्रगटी कै रमा,
मोहन मदन जाति रति कै भुलाई है।

(श्री रामनारायण अग्रवाल 'राम', 'कूबरी')

हम यह मानते हैं कि हमारे अतीत का ब्रजभाषा-काव्य भक्ति-भावना, नायिका भेद, नख-शिख-वर्णन, शव्द-चमत्कार आदि का काव्य रहा है। उसमें राधा, गोपी, ग्वाल, करील कुंज, मथुरा, वृंदावन, गोकुल आदि का वर्णन कृष्ण-लीलाओं के संदर्भ में ही हुआ है। आज भी हमारे कुछ ब्रजभाषी कवि अधिकांश में वैसी ही रचनाएं कर रहे हैं। आज भी उनकी कविता के छन्द प्रायः कवित्त, सवैया और दोहा ही रहते हैं। अतीत को कभी-कभी मुड़कर देख लेना तो अच्छा है, किन्तु नितान्त उससे ही चिपटे रहना तथा उसे ही निरन्तर देखते रहना काव्य को प्राणहीन बनाना है। अतः युगबोधमयी क्रान्ति श्रेयस्कर है।

इसे कोई नकार नहीं सकता कि भूत मिटते-मिटते भी वर्तमान के लिए अपने कुछ चरण-चिह्न छोड़ जाता है। किन्तु युगद्रष्टा कवि उन चरण-चिह्नों को पथ-प्रदर्शक मानते हुए वर्तमान के अनुकूल ही अपने काव्य की गति-विधि नियोजित किया करते हैं। गत, आगत और अनागत नाम की तीन कालावस्थाएं भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक सूक्ष्म सुदृढ़ सूत्र से परस्पर आबद्ध रहती हैं। जागरूक युग-द्रष्टा कवि अच्छी तरह जानता है कि काल-पटल पर से मिटता हुआ अतीत अपनी अन्तिम चिनगारियों से वर्तमान को प्रज्ज्वलित करता है, किंतु उसमें नई शक्ति एवं चेतना और नूतन प्राणवत्ता तभी आती है जब वह अपने युग के स्वरूप को सच्चे अर्थों में प्रस्तुत करता है। तभी उस वर्तमान की किरणें आगे आनेवाले भविष्य को भी कुछ ज्योति प्रदान कर सकती हैं।

आज हमारे देश का आर्थिक स्वरूप क्या है? सरकार और समाज का अन्तस् और बाह्य क्या बन गया है? राष्ट्र को समर्थ और प्राणवन्त बनाने के लिए किन भावनाओं को उभारने की आवश्यकता है? इसे हमारे ब्रजभाषा-काव्यकारों को और अच्छी तरह समझना चाहिए। श्री जगनसिंह सैंगर की कविताओं ने इस ओर प्रशंसनीय कार्य किया है—

चकबन्दी भली, पर गंदी प्रथा, छरछंदिनु हीय हुलास छयौ।
कवि सैंगर ए० सी० ओ० मानतु नाहिं सिमाने पै भूड़ भिड़ाय रह्यौ।
तब बाद में पूतहि पत्र लिखै सुत पातिनु काज बनैं न कह्यौ।
मनियाडर सी० ओ० कूं सूधौ करयौ चुपचाप भलौ चकु काटि दयौ।

(मनियाडर मुक्तावली)

अब राष्ट्र और समाज की नयी अनुभूति को नये शिल्प-विधान में वाणी प्रदान करने की आवश्यकता है। यदि मुक्तछन्दों में भावाभिव्यक्ति अच्छी बन पड़ती है तो उस शैली को भी अपनाना चाहिए। ब्रजभाषा के कवियों को प्रबन्ध-काव्य और मुक्त-काव्य ही नहीं, अपितु नाट्य-काव्य एवं वीर-गीतिकाएं भी अधिकांश में लिखनी चाहिए। अभिव्यक्ति के साधनों में दोहे, कवित्त, सवैये तो बहुत हो चुके, अब उनसे

बाहर आकर अधिकांश में दिग्पाल, सार, सरसी, शृंगार, ताटंक आदि छन्दों में भी अपनी भावाभिव्यंजना करना आवश्यक है। ●

शिवदत्त चतुर्वेदी

ब्रजभाषा : हमारा कर्तव्य

●

धर्म और राजनीति के क्षेत्रों में ही नहीं, साहित्य क्षेत्र में भी समय-समय पर आन्दोलनों का होता रहना उसकी सर्वतोमुखी उन्नति तथा परिष्कार के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है। साहित्य के किसी एक अंग को लेकर विभिन्न कलाकार भले ही अपने-अपने क्षेत्र में जीवन भर अमृत भरते रहें, परन्तु उनकी अपनी अपनी एकांग-साधना से समूचे साहित्य का उतना हित नहीं होता, जितना किसी कला-विशेष से ही अपना सम्बन्ध न समझ 'समग्र' पर दृष्टि रखने वाले साहित्यकारों के सुव्यवस्थित प्रयासों से हो सकता है—ऐसे प्रयासों से, जो सभी अंगों को साथ-साथ ठोस बनने की प्रेरणा देतं हुए उनको समान अवसर प्राप्त कराने के निमित्त किये जायं। साधु उद्देश्य से सब ओर दृष्टि रखने वाले ऐसे पहरेदारों की हमें आज सबसे अधिक जरूरत है।

अपनी उपभाषाओं ब्रज और अवधी इत्यादि के साथ हिन्दी मन्दाकिनी तथा अलकनन्दा से युक्त भागीरथी के समान है, जिसको चिरन्तन रूप में प्रवाहित रखने के इच्छुकों को उसमें से किसी एक का तनिक-सा भी गत्यवरोध हिन्दी के समग्र रूप के लिए हानिकारक हो जाना स्वाभाविक ही है। हमें इस तथ्य को न भूलना चाहिए कि सूर-तुलसी की हिन्दी आज अपने वर्तमान स्वरूप को तभी प्राप्त कर सकी, जबकि भक्ति और रीतिकालीन कवियों की अमर गिरा ने निरन्तर उसका यथोचित सांगोपांग शृंगार किया—

नागरी गुनागरी बधू को अन्हवायो सूर,
चीर पहिरायो हंसि हुलसी-सुनंद ने।
कंचुकी प्रबीन कल कंकन सु केशवदास,
भूषन विभूष्यो भूरिभूषन अमन्द ने।
बेस वर बानक बनायो है बिहारीदास,
देव ने ढिठौना दियौ अंजन घनन्द ने।
शुम्भु पग नूपुर, निवाज साज्यौ जावक लै,
तौ लगि तमौल लै खवायौ हरिचन्द ने।।

आज समुन्नति के इस स्वर्णयुग में एकांग-दर्शिता बढ़ती दिखाई दे रही है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, समालोचना आदि के स्रष्टा अपने क्षेत्र को छोड़ अन्य के द्रष्टा भी बनने को तैयार नहीं। सम्पादकों का अपने-अपने पत्रों, उनके अपने स्तम्भों और लेखकों के अतिरिक्त अन्य से सम्बन्ध नहीं है और खड़ीबोली को छोड़ अन्य उपभाषाओं ब्रज अवधी आदि के साथ निश्चय ही उपेक्षा का भाव बर्ता जा रहा

है। इस समय हमें ऐसे पहरेदारों की आवश्यकता हैं, जो सब ओर दृष्टिपात करते रहें और सर्वत्र सामंजस्य बनाये रखने का प्रयास करें।

हिन्दी साहित्यांचल का सबसे अधिक मूल्यवान धन उसका ब्रजभाषा साहित्य ही है, जिसमें काव्य-रस और अलंकार के भेद, उपभेद, परिभाषा और उदाहरण सहित शास्त्रीय पद्धति पर प्रणीत वह अलभ्य रत्न-राशि उपलब्ध है, जिस पर संस्कृत को छोड़ अन्य किसी भी भाषा का वाङमय गर्व नहीं कर सकता, जिसकी श्रृंगार सम्बन्धी रचनाओं के आगे अन्य भाषाओं के तत्सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित पद्य काँच के टुकड़ों जैसे प्रतीत होते हैं और जिसके राम-कृष्ण जैसे विश्व-विमोहन चरित्र-नायकों पर लिखे गये पद-लालित्यमय भक्ति साहित्य का संसार में कोई जोड़ नहीं है। आज उसकी उपेक्षा देख किस सच्चे साहित्यिक के हृदय को ठेस न लगेगी? दुःख इसलिए होता है कि उसकी अधिकाधिक रचना के लिए उचित प्रोत्साहन नहीं मिलता और जो कुछ उसमें लिखा रक्खा है, वह संजीवन-शक्ति सम्पन्न सत्साहित्य आज हमारे और विशेषकर भावी सन्तान के सम्मुख नहीं लाया जा रहा। हम केवल खड़ीबोली-काव्य और विशेष रूप से गद्य और उसकी सन्तति के पोषण परिवर्द्धन में लगे हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि हमने अपनी समस्त शक्तियों को केवल उन्हीं पर केन्द्रित कर रक्खा है। इस प्रकार हमारा एकांगीपन हमारे नवयुवक समाज को न केवल एक लोकोत्तर आनन्द से बलकि उस आध्यात्मिक तथा दार्शनिक शिव साहित्य से भी वंचित कर रहा है, जिसमें हमारी प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति का कलापूर्ण और वास्तविक प्रतिनिधित्व संग्रहीत है। केवल खड़ी बोली अथवा उसके भी विविध वादों में से किसी एक की कृतियों को ही सब कुछ मान बैठना एकांगीपन के सिवा और क्या समझा जाय?

आज हालत यह है कि हमारी हिन्दी के बड़े-बड़े लेखकों और कवियों को ही नहीं, उच्च कोटि के साहित्यिक पत्रों के सम्पादकों तक को ब्रजभाषा के वर्तमान तथा विगत दशाब्दियों के प्रसिद्ध कवियों के नाम तक याद नहीं, तब उनकी रचनाओं को हिन्दी भाषा-भाषी जनता के सामने कैसे लाया जाय? आज से लगभग तेईस वर्ष पूर्व ब्रजभाषा में वीर-रस प्रधान एक बड़ी ही सफल रचना कविवर माहौर द्वारा रची गई थी। इन पंक्तियों के लेखक ने उस पर तत्काल समालोचना लिख कर तत्कालीन प्रमुख मासिक पत्रिका 'माधुरी' में प्रकाशनार्थ भेज दी। सम्पादक महोदय ने मेरे जैसे नये नवयुवक लेखक की कृति को बिना किसी व्यक्तिगत परिचय के 'माधुरी' में उचित स्थान दे दिया। आज के युग में क्या ऐसा होना सम्भव है?

अस्तु, इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हिन्दी के हितैषी विद्वान ब्रजभाषा को सर्वत्र उपयुक्त स्थान दिलाने के उद्देश्य से एक साहित्यिक कार्यक्रम उपस्थित करें, जिससे ब्रजभाषा के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य और उसके पुराने व नये कवियों को हिन्दी के समस्त प्रमुख पत्रों का आश्रय मिले और सभी परीक्षाओं के लिए निर्धारित पाठ्य-क्रमों की पुस्तकों के पर्याप्त पृष्ठ ब्रजभाषा के लिए सुरक्षित रक्खे जायं। इसके अतिरिक्त आकाशवाणी पर भी ब्रजभाषा तथा अवधी इत्यादि को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिलाने का यत्न करना परमावश्यक है। गत वर्ष एक सफल प्रयास लखनऊ आकाशवाणी पर किया भी जा चुका है। ब्रज के नये पुराने कवियों के जीवन-चरित्र व संस्मरण सम्बन्धी वार्ता होते रहने से भी जनता की रुचि उस ओर बढ़ेगी। इससे ब्रजभाषा-भाषी ही नहीं, समस्त भारतीय समाज लाभान्वित होगी, उसे अपनी सहस्राब्दियों पुरानी संस्कृति के कलापूर्ण स्वरूप के दर्शन होंगे और एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण विकसित होगा। हमें आशा है कि हमारे साहित्य संसार के सभी मनीषी ऐसे लोकोपयोगी आन्दोलन की रूपरेखा बनाकर इस पुनीत अनुष्ठान के प्रारम्भ करने का संकल्प करेंगे। ●

कैलाशचन्द्र भाटिया

दो दिवंगत साहित्यकार—१

बाबू तोताराम :

बाबू तोताराम वर्मा का जन्म अलीगढ़ जिले के अन्तर्गत नगलासिंह नामक ग्राम में श्रावण शुक्ल दशमी, गुरुवार सं० १९०४ को हुआ।

तोतारामजी जाति के कुलश्रेष्ठ कायस्थ थे। आपका दृष्टिकोण बड़ा ही उदार था। आपके पूर्वज अलीगढ़ जिले में मुरसान के समीप पटापटैनी गाँव के रहने वाले थे। राजा मुरसान के यहां उनका बड़ा मान था किन्तु किसी कारणवश वे वहां से चले आए और नगलासिंह में आकर रहने लगे। तोतारामजी के जन्म के बाद उन्होंने नगलासिंह को भी छोड़ दिया और वे सासनी के निकटवर्ती ग़ांव गौहाना में आ बसे।

तोतारामजी की शिक्षा का प्रारम्भ गांव गौहाना के विद्यालय से ही हुआ। तत्पश्चात उन्होंने सासनी, अलीगढ़ तथा आगरा जाकर शिक्षा प्राप्त की। जब आप आगरा कालेज में बी० ए० में पढ़ रहे थे, तभी आपकी माता का देहान्त हो गया तथा आपको भी नेत्र-रोग लग गया। अतः आपने पढ़ाई छोड़ दी। कुछ समय बाद आप फतहगढ़ के एक विद्यालय में प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। वहां से उनकी बदली बनारस के लिए हो गई। बनारस में रहकर आपने कानून का भी अध्ययन किया और कानून की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। बनारस से आपका स्थानान्तरण देहरादून के लिए हो गया। कुछ दिन वहां रहने के उपरान्त आप नौकरी छोड़कर अलीगढ़ आ गये और वकालत प्रारम्भ की। वकालत के क्षेत्र में आपको धन और यश दोनों खूब मिले।

बाबूजी का जीवन बड़ा सात्विक और धार्मिक था। भजन-पूजन में उनकी बड़ी आस्था थी। अभिमान उन्हें नाम को भी न था। तीर्थाटन में उनकी विशेष रुचि थी। 'रामचरितमानस' से उन्हें बड़ा प्रेम था और उसका वे नित्य पाठ किया करते थे। समाज में तोतारामजी का बड़ा सम्मानपूर्ण स्थान था। आप अपने जीवन काल में अनेक सभा-संस्थाओं के सदस्य और पदाधिकारी रहे।

तोतारामजी हिन्दी के बड़े भारी प्रचारक और उसके पक्ष-पोषक थे। अलीगढ़ में आपने 'भाषा संवर्द्धिनी सभा' की स्थापना की। इस सभा के तत्वावधान में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए जिनमें से सन्नूलाल की 'स्त्री सुबोधिनी' विशेष प्रसिद्ध हुई। सन १८७७ ई० में आपने अपने 'भारतबन्धु' नामक एक पत्र का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। इस पत्र के आप ही सम्पादक थे। हिन्दी के पक्ष में तत्कालीन गवर्नर सर एन्टोनी मैकडानल से जो शिष्ट मंडल मिला था उसके सदस्यों में बाबू तोतारामजी भी थे। मुजफ्फरपुर में आयोजित कायस्थों की अखिल भारतीय कान्फ्रेंस में आपने सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास कराया कि सब कायस्थ हिन्दी को ही कचहरी की भाषा बनवाना चाहते हैं।

तोतारामजी समाज-सेवी भी थे। उन्होंने १८८७ ई० में भारतवर्षीय नेशनल एसोसियेशन नामक एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के अन्तर्गत 'लायल लाइब्रेरी' का निर्माण हुआ। आजकल यही पुस्तकालय मालवीय पुस्तकालय के नाम से प्रसिद्ध है। एम० ए० ओ० कालेज की कार्यकारिणी तथा आगरा कालेज की ट्रस्ट समिति के सदस्य होने के अतिरिक्त वह २६ सभा-संस्थाओं के सदस्य तथा पदाधिकारी थे। बाबू तोतारामजी हिन्दी के प्रेमी और प्रचारक ही नहीं साहित्य निर्माता भी थे। उन्होंने केटोकृतान्त, उपदेश

रत्नावली, राम रामायण, नीतिसार, रामायण रत्नावली, नीति रत्नाकर, विवाह-विडम्बन नाटक, स्त्री धर्म बोधिनी, ब्रज-विनोद नामक अनेक ग्रन्थों की रचना की। वैद्यक संबंधी एक कोश भी तोतारामजी तैयार कर रहे थे, किन्तु वह पूरा न हो सका। अंग्रेजी में भी आपने 'मोहम्मदन ला' शीर्षक पुस्तक लिखी थी।

'केटोकृतान्त' (१८७९ ई०) जोसफ एडीसन कृत 'ट्रेजेडी आफ केटो' नामक नाटक ग्रंथ का अनुवाद है। यह प्रथम विदेशी भाषा में लिखा हुआ नाटक है जिसका अनुवाद हिन्दी में हुआ था, डा० ग्रियर्सन ने हिन्दी नाटकों के क्रम में इसका छठा स्थान निर्धारित किया था। इसमें देश-प्रेम की भावना को जागरित किया गया है। मृत्यु का आलिगन कर प्रजातन्त्र के स्वाभिमान की रक्षा करने का आदर्श बड़ा सामयिक था। बाबूजी ने इस नाटक के आधार पर ही एक दूसरा नाटक 'कीर्त्तिकेतु' भी लिखा। इसमें पात्र, स्थान आदि के नामों को भारतीय रूप दे दिया गया था। उपदेश रत्नावली (सन १८८२) में कबीर के २२५ दोहों का संकलन है। ये दोहे उपदेशपूर्ण हैं। 'नीतिरत्नाकर' में उत्तमोत्तम लगभग ५०० श्लोक संकलित हैं जो महाभारत में महाराज विदुर द्वारा धृतराष्ट्र से वार्तालाप करते समय कहे गये थे। 'नीतिसार' (१८९० ई०) में ७९६ नीति संबंधी श्लोक और उनके अनुवाद हैं। 'विवाह विडम्बन' (१८८४ ई०) तोतारामजी की मौलिक रचना है। यह नाटक समाज-सुधार की भावना से ओतप्रोत है। इसका उद्देश्य यह प्रदर्शित करना है कि कम उम्र के लड़के-लड़कियों का विवाह रचाने तथा उसमें सामर्थ्य से अधिक व्यय करने पर मनुष्य को भारी विपत्तियां उठानी पड़ती हैं। 'स्त्री धर्म बोधिनी' नामक कृति में स्त्रियों के शास्त्रोक्त कर्त्तव्यों का वर्णन है। 'ब्रज-विनोद' (१८८८ ई०) बाबू तोतारामजी की यात्रा-संबंधी रचना है। ब्रज-यात्रा के महत्त्व से कौन अवगत नहीं है। इसमें ब्रजभूमि के वन, उपवन, तालाब, आदि विविध स्थानों का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। हिन्दी में ब्रज-प्रदेश पर लिखी हुई यह प्रथम प्रामाणिक कृति है। 'राम रामायण', वाल्मीकि रामायण का हिन्दी-पद्यानुवाद हैं। इसके अन्तर्गत 'बालकाण्ड (१८८८ ई०) तथा अयोध्याकाण्ड (१८९८ ई०) की रचना की गई है। इन अनूदित काण्डों की भाषा ब्रजभाषा है। अनुवाद की शैली भावानुवाद है। 'रामायण रत्नावली' (१९०२ ई०) में बाबूजी ने 'रामचरितमानस' के विभिन्न स्थलों से चुन-चुनकर सामग्री संकलित की है।

बाबूजी ने अपनी रचनाओं में राष्ट्रप्रेम, नीति धर्म, भक्ति, ज्ञान, उपदेश, समाज-सुधार, यात्रा-इतिहास आदि विविध विषयों को अपनाया। तोतारामजी भारतेन्दु-युग के लेखकों में से थे। अतः भाषा की अस्थिरता, विराम चिह्नों की अपेक्षा, वर्तनी की अशुद्धियां आदि दोष यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं।

वर्माजी के गद्य की भाषा खड़ीबोली है, किन्तु उस पर ब्रजभाषा का भी प्रभाव है। भाषा में यथास्थान मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है। इससे भाषा का सौन्दर्य बढ़ा है। वर्माजी ने अपने गद्य-लेखन में वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विनोदात्मक, चित्रात्मक शैली का प्रयोग किया है।

आपके पद्य की भाषा ब्रजभाषा है। भाषा में 'संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग मिलता है किन्तु उनके कारण भाषा में क्लिष्टता नहीं आने पाई है।

तोतारामजी ने पद्य में दोहा-चौपाई के अतिरिक्त सोरठा-तोटक तथा गीतिका छन्द का भी प्रयोग किया है। छन्द निर्वाह भली-भांति हुआ है। अलंकारों के प्रति वर्माजी का कोई विशेष आग्रह या मोह दृष्टिगत नहीं होता तथापि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का समावेश विषय के अनुरूप यत्र-तत्र हुआ है।

वस्तुत: तोतारामजी की कृतियों में कलापक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष की प्रधानता है। तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उनकी कृतियां अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होती हैं।

ऐसे साहित्य-प्रेमी, समाज-सेवी और साहित्य-स्रष्टा बाबू तोतारामजी का देहान्त ७ दिसम्बर १९०२ ई० को अलीगढ़ में हुआ। तोतारामजी की अनेक कृतियां तथा उनके द्वारा संस्थापित संस्थाएं आज भी उनकी स्मृति को सुरक्षित रखे हुए हैं। ●

हरिहरस्वरूप विनोद

दो दिवंगत साहित्यकार—२

●

दीवान रूपकिशोर :

हिंदी के शैशवकाल में जिन साहित्यकारों ने उसे जन-जन तक पहुंचाया और अनुवाद एवं मौलिक ग्रंथों की रचना कर उसे समृद्ध बनाया उनमें 'अलिफ़लैला' के प्रथम हिंदी-अनुवादक दीवान रूपकिशोर का नाम भी उल्लेखनीय है। स्व० दीवान रूपकिशोर मुंशी प्रेमचंद के समकालीन थे। उर्दू के "जमाना" पत्र में प्रेमचंद 'नवाबराय' उपनाम से लिखते थे। उसी पत्र में दीवानजी भी 'किशोर' नाम से लिखा करते थे। जिस प्रकार प्रेमचंदजी ने उर्दू से हिंदी जगत में आकर ख्याति प्राप्ति की, उसी प्रकार दीवानजी ने भी पहले उर्दू में और फिर बाद में हिन्दी में लिखा और आजीवन हिन्दी की सेवा में जुटे रहे।

दीवान रूपकिशोर जैन का जन्म अलीगढ़ जिले के एक प्रसिद्ध कस्बे विजयगढ़ में १२ जून, १८८४ को हुआ। उनके पिता दीवान इन्द्रप्रसाद जिले के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे और उनकी गणना ताल्लुकेदारों में होती थी। बालक रूपकिशोर ने १८९० में पढ़ना आरम्भ किया। उन्हें अरबी और फारसी सिखाई गई। १८९७ में उन्होंने हिन्दी पढ़ना आरम्भ किया और कुशाग्र बुद्धि होने के कारण शीघ्र ही उसमें दक्ष हो गये।

तत्कालीन परिस्थितियों और उच्च घरानों की परंपरा के अनुसार उनकी शिक्षा घर पर ही अधिक हुई। मिडिल पास करने के बाद वे निरंतर स्वाध्याय में लगे रहे और उन्होंने अरबी, फारसी तथा हिन्दी का सम्यक ज्ञान अर्जित किया। शरत और टैगोर का अध्ययन करने के लिए उन्होंने बंगला भाषा का अध्ययन किया और बाद में गुजराती, मराठी तथा अंग्रेजी भी सीखी। इस प्रकार कुल मिलाकर वे दस भाषाएं जानते थे।

प्रत्येक भाषा में उनकी लिखावट बहुत सुन्दर होती थी। सम्पन्न जमींदार का पुत्र होने के कारण उन्हें सब प्रकार की सुविधाएं प्राप्त थीं, इसलिए उनका सारा जीवन लिखने-पढ़ने में ही बीता। उन्होंने १९०९ में आयुर्वेद का अध्ययन किया और १९०७ में फोटोग्राफी भी सीखी। एक प्रकार से वे एक कुशल चित्रकार थे। आयुर्वेद उन्होंने पीड़ित वर्ग को औषधि देने के लिए सीखा था।

दीवान रूपकिशोर का हृदय बड़ा संवेदनशील था। कहते हैं कि एक बार एक किसान को बेदखल किया गया, क्योंकि उस पर दस हजार रुपया बकाया था। वह अपने पूरे परिवार के साथ विजयगढ़ आ गया

और गिड़गिड़ाने लगा। दीवानजी ने न केवल उसे माफ कर दिया, बल्कि एक गाय देकर उसे विदा किया। उसके बाद उन्होंने किसी किसान पर जोर-जबर्दस्ती नहीं की।

जमींदारी के कार्य की देखभाल के साथ-साथ उनका साहित्य-सृजन चलता रहा। उन्होंने कुल मिलाकर ६० पुस्तकों की रचना की। कहानियां, नाटक, उपन्यास संबंधी सभी क्षेत्रों में कलम उठाकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। १९०९ में उन्होंने "चारुबाला" नामक उपन्यास उर्दू भाषा में लिखा जो अप्राप्य है। इसी वर्ष "गुलशन ए किशोर" लिखा। उनके द्वारा हिन्दी भाषा में लिखित १३ उपन्यास बताये जाते हैं, जो इस प्रकार है--शशिकान्ता (१९१०); माधवी (१९११); रत्नप्रभाकर (१९१२); मनोरमा (१९१३); सुशील कन्या (१९१४); सूर्यकुमार सम्भव (१९१५); भारतीय वीरांगना; नील प्रबोध; अवंति कुमारी; कलावती; कुदसियर बेगम; घूंघट वाली तथा श्रीदेवी। फारसी भाषा की प्रसिद्ध पुस्तक (जो एक हजार पृष्ठों की बतायी जाती है) 'अलिफलैला' का हिन्दी में अनुवाद किया। यह अनुवाद काफी लोकप्रिय हुआ।

'बारहमासी रूपकिशोर' नामक काव्य और 'किशोर पूर्णिमा' कहानी-संग्रह भी उन्हीं की रचनाएं हैं। उन्होंने कुलल्लू वैद्यराज (रूपक) और सब्जपरी गुलफाम (स्वांग) भी लिखे। ज्योतिष, शरीर-विज्ञान आदि पर भी उनकी रचनाएं मिलती है। इस प्रकार १९०९ से लेकर १९२५ तक उन्होंने लिखना जारी रखा। उनके अनेक लेख उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पाते रहे।

गांधीजी के असहयोग आन्दोलन आदि कार्यक्रमों को देश की आजादी के लिए उठाया जानेवाला कदम समझते हुए भी दीवान रूपकिशोर राजनीति की ओर उन्मुख न हो सके। उन्होंने अपना सम्पूर्ण समय साहित्यिक गतिविधियों तक ही सीमित रक्खा। जब भारत स्वाधीन हो गया और जमींदारी-प्रथा समाप्त कर दी गई, तब वह विजयगढ़ से अपने पुत्रों के पास दिल्ली चले आये और अन्तिम समय तक दिल्ली में ही रहे।

दीवान रूपकिशोर ने चार पत्रों का सम्पादन भी किया। बिजनौर से प्रकाशित 'वीर'; विजयगढ़ से 'महावीर' और हाथरस से निकलने वाले 'मार्तण्ड' का उन्होंने सफलतापूर्वक सम्पादन किया। उन्होंने स्वयं भी 'हिन्दी गल्प' नामक पत्र निकाला। ८० वर्ष की आयु में १२ दिसम्बर, १९६१ को उनका देहांत हो गया। ●

केदारदत्त तत्राड़ी

ब्रज-विभूति गोस्वामी राधाचरण 'विद्यावागीश'

●

व्यक्ति पंचभूतों से निर्मित पंजर मात्र है, तो व्यक्तित्व अनेक संस्कारों, परिस्थितियों तथा देश-काल की आकांक्षाओं का मूर्तिमत धर्म है। सामान्य रूप से यह विश्वास नहीं होता कि गोस्वामीजी का व्यक्तित्व इतना भव्य, उदार और देश-कालापेक्षी हो सकता है किंतु कुछ ऐसे भी महापुरुष होते हैं जो जीवन की परिस्थितियों से परे अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। कहना न होगा हमारे गोस्वामीजी उन्हीं में से थे।

श्री गोस्वामीजी (सन १८५९-१९२५) का जीवन-सूत्र हमारी सन १८५७ की राज्यक्रांति और प्रथम विश्वयुद्ध को मिलाने वाला एक ऐसा सूत्र है जिसके पग-पग में धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं वैज्ञानिक विभिन्न आन्दोलन एवं संघर्ष थे। गो० जी का जीवन-सुमन उन संघर्षों की चट्टानों को तोड़कर ही पुष्पित हुआ था। शैक्षणिक काल में उन्हें अंग्रेजी के अध्ययन के लिए अपने रूढ़िवादी गोस्वामी-परिवार, गुरुजन एवं समाज से संघर्ष करना पड़ा। तत्पश्चात भारतेन्दुजी से मिलने, सभा-समितियों की स्थापना करने, सर्वसाधारण के साथ उठने-बैठने एवं सामाजिक कुण्ठाओं के मूलोच्छेदन हेतु अनेक संघर्ष करने पड़े। उनका सम्पूर्ण जीवन प्रतिकूल परिस्थितियों के लिए स्वयं एक चुनौती है। घोर मत-मतान्तरों, विरोधों एवं प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा प्रस्तुत संकटों के बवण्डर भी उनको प्रशस्त मार्ग से विचलित न कर सके। शरीर अस्वस्थ रहने पर भी उनका मन सदैव स्वस्थ रहा।

शैशवकाल ही में माता-पिता, धर्म-परायण पत्नी और दोनों युवा पुत्रों की मृत्यु का वज्रपात उन पर हुआ, किंतु गोस्वामीजी ने संसार के सामने अपना रोना नहीं रोया। अनेक व्याधि-व्यवधानों ने उन्हें घेरा किंतु उनके वैष्णवोचित आचार-विचार, देशोन्नति तथा साहित्य-सर्जना में न्यूनता नहीं आने पाई। उनके लोक-कल्याण, सार्वजनिक व धार्मिक कार्यों की विरोधियों ने कटु आलोचनाएं कीं। उन पर व्यक्तिगत आरोप लगाये गए किंतु गो० जी विचलित न हुए और अन्त में विरोधियों को उनके विलक्षण व्यक्तित्व के समक्ष घुटने टेकने पड़े।

गोस्वामीजी की प्रतिभा अद्वितीय और बहुमुखी थी। उदारता, सत्यवादिता, कर्मठता, देश व राष्ट्र-प्रेम के सांचे में उनका व्यक्तित्व इस प्रकार ढला था कि वह उनकी जिन्दादिली का परिचायक बन गया। अस्तु, ऐसे व्यापक एवं अद्वितीय व्यक्तित्व की कतिपय झांकियां मात्र यहां प्रस्तुत की जा सकती हैं।

वृंदावन के रूढ़िवादी कट्टर गोस्वामी-कुल में पैदा होकर "समुद्र में रहकर मगर से बैर" वाली कहावत को उन्होंने चरितार्थ किया। तीन सौ वर्षों की पुराने रूढ़िवादी गोस्वामी-समाज की जड़ों को उन्होंने निर्भीकतापूर्वक हिला दिया। गोस्वामी-समाज में छुआछूत के भय से सर्वसाधारण के साथ न बैठकर ऊंचे आसन पर बैठने की परम्परा भंग करने तथा उसमें नवचेतना जाग्रत करने के लिए उन्होंने गोस्वामी नाटक कम्पनी, वैष्णव धर्म प्रचारिणी, वृन्दावन भाषा वर्द्धिनी सभा, गौड़ ब्राह्मण-सभा, वृंदावन अनाथालय, आचार्य कुल आदि अनेक सभा-समितियों की स्थापना की। लार्ड रिपन द्वारा जमुना बाग, मथुरा के उद्घाटन अवसर पर बल्लभ-कुल के एक गोस्वामी को मुख्य अतिथि की मेज (सबसे ऊंचा आसन) पर बैठा हुआ देखकर गोस्वामी श्री राधाचरणजी स्वयं सर्वसाधारण के जूतों के पास (सबसे नीचा स्थान) बैठ गये। यह देखकर लार्ड रिपन ने उनका हाथ पकड़ कर अपने समीप बैठाया।[1] गोस्वामीजी लगातार बाईस वर्षों तक अवैतनिक न्यायाधीश और नौ वर्ष म्यूनिसिपल कमिश्नर रहे। वृंदावन की कुंज गलियों में सर्व प्रथम उन्होंने ही छः मुख्य सड़कों का निर्माण कराया। तत्कालीन सरकार ने उन्हें राज्यारोहण दरबार (१९११ ई०) के अवसर पर रजत-पदक से विभूषित कर 'धर्म गुरु' का सम्मानपूर्ण आसन प्रदान किया। गोस्वामीजी ने बंग-भंग आन्दोलन (सन १९०५) के समय बंगालियों में क्रांति-भावना जाग्रत की। उन्होंने स्वदेशी स्वीकार विदेशी-बहिष्कार के नारे लगाते हुए विदेशी चीनी की सैकड़ों बोरियों को अपने हाथ से यमुनार्पण किया।[2]

प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता सैयद हैदररजा के सम्मान (१९०८ ई०) में एक सभा का आयोजन मथुरा

---

[1] देखें—उस समय का चित्र।

[2] द्रष्टव्य—गोस्वामीजी की डायरी—सन १९०५

में किया जा रहा था, किंतु अचानक सरकार ने उस आयोजन पर प्रतिबन्ध लगा लिया। यह देखकर गोस्वामीजी ने स्वयं यमुना की रेतिया में सभा का पुनः आयोजन किया। शासन के भय से सभापति के पद हेतु जब किसी की स्वीकृति नहीं मिली, तो उन्होंने वह आसन स्वयं ग्रहण किया और तीन घण्टे तक निर्विघ्नतापूर्वक सैयद हैदर रजा का भाषण कराया। क्रान्तिकारियों के सम्मान हेतु उनका द्वार सदैव खुला रहता था, पं० मालवीय, अयोध्यानाथ कुंजरू, तोताराम, नलिनीकान्त मुकर्जी, चारुचन्द्र, लोकमान्य तिलक, टहलराम गंगाराम, योगेश चटर्जी, रासविहारी बोस आदि गोस्वामीजी के यहां ठहर कर अपने को रक्षित पाते थे। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय दो बार (सन १९०६ और १९०८) वृंदावन पधारे। गोस्वामीजी ने हर्षोल्लास में उनके लिए बग्घी के घोड़ों को खुलवाकर, गोस्वामी होने पर भी बग्घी को खींचने में गौरव अनुभव किया। दक्षिणी अफ्रीका के आन्दोलन (सन १९१५) में पीड़ित भारतीयों के लिए उन्होंने देश में भ्रमण करके पर्याप्त धन-संग्रह किया।

गोस्वामीजी ने सन १८८२ के शिक्षा कमीशन के समक्ष हिन्दी के पक्ष में इक्कीस हजार हस्ताक्षर प्रस्तुत किये। सन १८८७ में उन्होंने हिन्दी आन्दोलन के लिए एक व्यापक योजना बनाई, जिसका लक्ष्य सरकार के समक्ष पचहत्तर हजार हस्ताक्षर प्रस्तुत करना था।[1] कट्टर वैष्णव एवं माध्य गौड़ीय सम्प्रदाय के एक प्रतिष्ठित आचार्य होते हुए भी अन्य धर्मों पर उनकी आस्था थी। उनके शिष्यों की संख्या १५०००[2] थी। उन्होंने ३ बार सवा लाख गोपाल मंत्र का अनुष्ठान किया। शीतला-पूजन के स्थान पर चैतन्य महाप्रभु के १४ महंतों के पूजन की परम्परा प्रचलित की। गोस्वामी समाज में विवाहादि पर प्रचलित भांड़ व वैश्यानृत्य के स्थान पर उन्होंने अपने पुत्रों के विवाह-अवसर पर रासलीला प्रचलित की। गौड़ीय सम्प्रदाय के तीन वर्षों से चले हुए एक गम्भीर शास्त्रार्थ पर उन्होंने विजय प्राप्त की। इस उपलक्ष में उन्हें "विद्यावागीश' की उपाधि से अलंकृत किया गया। गोस्वामीजी ने अनेक अनाथ बालक-बालिकाओं के विवाह स्वयं पिता बनकर सम्पन्न किये। जब गोस्वामीजी पिता के रूप में एक असहाय अछूत बालिका का कन्यादान कर रहे थे तो उनके द्वार पर वर-पक्ष की ओर से कौड़ियाँ लुटाई जा रही थीं।

गोस्वामीजी अपनी ओर से अनेक असहायों, वृद्धाओं को मासिक वृत्तियां देते थे। कहा जाता है कि उनकी मृत्यु के बाद आठ हजार का कर्ज़ उन पर निकला जिसका भुगतान बनारस के किसी साहू ने किया। तत्कालीन महाजन और कलवार जातियों को उन्होंने यज्ञोपवीत प्रदान किये और सीतापुर के माहुर जातीय हकीम शिवदयाल के परिवार को दीक्षा देकर 'गुप्त' उपाधि प्रदान की।

वस्तुतः गोस्वामीजी के दर्शन एक साथ ही अनेक रूपों में होते हैं। समाज-क्षेत्र में वे समाज-सुधारक और आदर्श नेता, धर्म-क्षेत्र में धर्म गुरु, राजनीति में राजनीतिज्ञ, प्रशासकीय क्षेत्र में आनरेरी मजिस्ट्रेट और साहित्य क्षेत्र में महान साहित्यिक थे। जैसा उनका विलक्षण एवं उदात्त व्यक्तित्व था वैसा ही कृतित्व भी। वे भारतेन्दु के परिकरों में अग्रगण्य थे। भारतेन्दु बाबू स्वयं उनका लोहा मानते थे। गो० जी के नाटक व प्रहसन युग-सन्धि कालीन प्रकाश स्तम्भ हैं जिनके द्वारा उन्होंने एक ओर गौरव-गर्भित हमारे उज्ज्वल अतीत को सामने रखकर युग-मानव को सचेत किया और दूसरी ओर कुण्ठित जन-जीवन की विकृतियों का उद्घाटन करके समाज की आखें खोलीं। देश में स्वाधीन चेतना जाग्रत करने के लिए उनके अमरसिंह राठौर का और

---

[1] गोस्वामीजी की डायरी —सन १८८७ ई०

[2] गो० जी का जीवन-चरित—पृ० ५,

युग-नारी के सतीत्व की रक्षा करने के लिए चन्द्रावली का बलिदान आवश्यक था। गो० जी के नाटकों का विकास युग जागरण की जनवादी व प्रगतिशील नव-चेतना के रूप में हुआ जिससे नाट्यकला को भी एक नवीन रूप मिला। भारतीय नाट्य-परम्परा के आदर्शों पर आस्था रखते हुए भी उनके नाटक युग के सांचे में ढले हुए हैं, उन्होंने पाश्चात्य ट्रेजेडी, मौरेलिटी आदि के आदर्शों द्वारा हिन्दी नाटकों को मौलिकता प्रदान की। उनका झुकाव नवीनोन्मुखी है। कहना न होगा कि गो० जी ने नाट्यकला को पारसी घृणित रंगमंच से निकाल कर उसे जनोन्मुखी एक स्वस्थ रंग-मंच भी प्रदान किया। वस्तुतः गो० जी के नाटक एक ओर तत्काली जर्जरित जन-जीवन में नवचेतना का संचार करते हैं तो दूसरी ओर अपनी मौलिकता से नाट्य कला के संवर्द्धन द्वारा नाटकों के भविष्य का मार्ग दर्शन भी। उनके उपलब्ध नाटक-प्रहसनों की संख्या चौदह है। इनके अतिरिक्त पांच नाटक अनूदित हैं।

हिन्दी नवन्यासों के तो गोस्वामीजी आदि जनक हैं। उपन्यास-रचना में भी पूरे भारतेन्दु मण्डल का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके कथा साहित्य का निर्माण ही रूढ़िवादी प्रतिक्रियाओं का एक परिणाम है। तत्कालीन मान्यताओं का सारा ढांचा समाज की दुर्बल नारी पर खड़ा था। उसके अभावग्रस्त जीवन की विषमताओं के अनेक मार्मिक चित्र गोस्वामीजी के उपन्यासों में बिखरे हुए हैं। उन्होंने पुरुष के जीवन की विकृतियों को भी ज्ञान और अनुभव के नेत्रों से देखा। इसलिए यदि वे युग-नारी को पर्दा, पराधीनता, वैधव्य आदि से मुक्त करते हैं तो युग-पुरुष में सद्गुणों की आशा भी करते हैं, वे बाल-विवाह के साथ ही वृद्ध-विवाह का भी खयाल करते हैं। विधवा-विवाह के समर्थन के साथ ही पुरुषों के बहु विवाह की भर्त्सना भी करते हैं। यदि वह पत्नी को पतिव्रता देखना चाहते हैं तो पति को भी पत्नीव्रत। इस प्रकार गो० जी ने अपने उपन्यासों द्वारा स्त्री-पुरुष के जीवन को समानता के एक ऐसे धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया जहां कि दोनों को जीने की कला मिल सकी और मिली जीवन के सत्य की व्यापकता।

गोस्वामीजी के कथा साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन मात्र नहीं है वरन वे हमारे मन की अपेक्षा जीवन के अधिक निकट हैं। उनकी कथा का विकास युग यथार्थ की कठोर भूमि से इसलिए हुआ कि वह जीवन के लिए हैं। अतः जीवन को विकासोन्मुख करने के लिए आवश्यक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वह सदैव सजग रहे हैं। समाज में क्षय रोग की तरह व्याप्त नाना कुण्ठाओं को सुसंस्कृत बनाने के लिए अनेक नैतिक सिद्धांतों के दर्शन उनके उपन्यासों में सहज ही हो जाते हैं। वस्तुतः उनके कथा-साहित्य का उद्देश्य ही जर्जरित समाज के उत्थान हेतु एक नवीन एवं सुदृढ़ ढांचा खड़ा करना था ताकि जीवन से पलायन करने वाले युग-मानव को नवजीवन एवं नवचेतना मिल सके। यदि उन्होंने एक ओर यथार्थ चित्रणों द्वारा मानवीय विषमताओं व विकृतियों का उद्घाटन किया है तो दूसरी ओर सद्चरित्रों के निर्माण द्वारा नवीन आदर्श प्रस्तुत किये। उन्हें जितनी चिंता हिंदू की थी उतनी ही हिंदी और हिंदुस्तान की। इस समय उनके उपलब्ध उपन्यास व नवन्यासों की संख्या तेरह है, जिनमें कई बाईस-अट्ठाइस अध्याय तक के भी हैं।

गोस्वामीजी के निबन्ध, लेख भाषणादि में भी हिंदी, हिन्दू और हिंदुस्तान की साधना का तीव्र स्वर मुखरित है। प्रगतिशील विचारों को सीधे-सीधे पाठकों तक पहुंचाने के सरल व सुन्दर साधन उनके निबंध हैं। उनमें काव्य में अतिरंजना देखने को नहीं मिलती वरन वह यथार्थ के अधिक निकट होने के कारण युग की सर्वतोन्मुखी उन्नति तथा नव जागरण का संवाहक है। उनकी सशक्त लेखनी अड़तालीस वर्षों तक निरन्तर इस अंग को विकसित करती रही। वर्ण्य विषय एवं शैली की अनेकरूपता उनके निबन्धों में है। उन्हें ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, साहित्यिक आलोचनात्मक, कृषि सम्बन्धी, शिक्षा संबंधी,

ज्ञान-विज्ञान-संबंधी; यात्रा सम्बंधी भाषण आदि वर्गों में सहज ही विभाजित किया जा सकता है। गो० जी के निबन्ध-लेखों में तत्कालीन मान्यताओं के प्रति तीव्र असन्तोष की व्यंजना और प्राण शोषक एवं घातक मनोवृत्तियों के प्रति एक चुनौती है। उनकी व्यंग्य-परिहासपूर्ण-शैली निबंध-रचना को प्रभावशाली बनाने के साथ-ही-साथ भावाभिव्यक्ति, अर्थ गाम्भीर्य, अर्थ विस्तार और अर्थ सिद्धि को भी बल प्रदान करती है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में एक हलचल-सी मचा देती है। कहीं हास्य की मधुर फुहार है, तो कहीं व्यंग्यों की करारी चोट। व्यंग्यों के विषय भी सरकारी कर्मचारी, सामन्त, अधकचरे नवयुवक, अन्ध विश्वास, पाखण्ड, कुरीति एवं धर्म के ठेकेदार आदि हैं। वस्तुत: गो० जी का व्यंग्य रूढ़िवादी एवं कुण्ठित समाज के मुंह पर एक करारा तमाचा है जो कि पापलीला की मूलाधार जड़ों को खोखला करने में भी समर्थ है। गोस्वामीजी के सभी निबंध लेखों पर उनके सुधारवादी व्यक्तित्व की गहरी छाप है। इटली के कवि दांते की तरह गो० जी ने भी समाज के शत्रुओं को नरक के दर्शन कराये हैं। अस्तु, गोस्वामीजी का निबंधकार भीड़ में अलग ही खड़ा दिखाई पड़ता है। उनके निबंध, लेख भाषणादि की संख्या सहज ही डेढ़ सौ को लांघ जाती है। इतनी बड़ी संख्या पं० बालकृष्ण भट्ट जी के निबंधों की तरह सम्पूर्ण भारतेन्दु-युग का प्रतिनिधित्व करने के लिए पर्याप्त है।

गो० जी का गोष्ठी-साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। हास, परिहास, एवं व्यंग्यों के माध्यम द्वारा तत्कालीन विकृतियों का उद्‌घाटन करते हुए उन्हें विकासोन्मुख करना इस साहित्य का उद्देश्य है। मित्र-मण्डली के मनोरंजन के साथ-साथ उनका सुधारवादी दृष्टिकोण इसमें स्पष्ट झलकता है। उनका गोष्ठी-साहित्य संख्या में भारतेन्दुजी से बहुत अधिक है।

गोस्वामीजी युग के जागरूक कलाकार एवं सजग प्रहरी थे। जीवन का कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता न रहा जिसके द्वारा उन्होंने समाज का मार्ग-दर्शन न किया हो। दैनिक जीवन में पत्र-पत्रिकाओं का महत्व अनुभव करते हुए उन्होंने 'भारतेन्दु' और 'श्री कृष्णचंद्र-चंद्रिका', दो मासिक पत्रों का कुशल सम्पादन किया। दोनों पत्रिकाएं जहां सुधारवादी उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं वहां भारतेन्दु युगीन पत्रकारिता को अपना विशिष्ट योगदान प्रदान करती हुई उसके अमरत्व का संरक्षण निम्न रूप में करती हैं :

१—समाज में नवचेतना के अमर सन्देश का प्रसारण।

२—जन-रुचि को परिष्कृत करना।

३—धार्मिक एवं साहित्यिक रुचि को सुसंस्कृत करना।

४—भाषा को जनोन्मुखी रूप प्रदान करके साहित्य को व्यापक बनाना।

५—नवीन लेखकों को प्रोत्साहित करना।

गोस्वामीजी केवल गद्यकार ही नहीं वरन जनता के कवि भी थे। उनकी सशक्त लेखनी के प्रताप से कविता को जनवाणी प्राप्त हो सकी। उन्होंने जीवन और साहित्य में समन्वय किया, उनकी कविताओं में जहां रीतकालीन-श्रृंगार की झलक मिलती है वहां देशभक्ति, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं साहित्यक मनोवृत्तियों का परिचय भी ? उनकी राज-भक्ति भी देश-भक्ति ही है। यदि भारतेन्दु बाबू ने लार्ड रिपन का पूजन 'अष्टक' द्वारा किया है तो हमारे गो० जी ने 'षोड़शोपचार' (अष्टक का दूना) द्वारा और अन्त में उससे वरदान मांगा हिंदी और हिंदुस्तान के उद्धार का। अभिव्यंजना की दृष्टि से उनकी गेय शैली का विशेष महत्व है। उनके गीतों में भी मौलिकता है। वे यदि एक ओर राधा-कृष्ण की परम्परागत रूप-माधुरी से स्निग्ध है तो दूसरी ओर तत्कालीन विभिन्न समस्याओं से गर्भित। उनमें एक साथ ही मीरा की टीस, तुलसी

की श्रद्धा, सूर की आत्मीयता और रसखान की तन्मयता के दर्शन होते हैं। उनके राष्ट्रगीतों में जन-परक तिलमिलाहट, क्षोभ, उद्‌बोधन और सामाजिक गीतों में अतीत का गौरवगान एवं तत्कालीन दुर्व्यवस्था के स्पष्ट चित्र दिखाई देते हैं। उनका प्रकृति-वर्णन परम्परागत होते हुए भी नवीन है। उसमें नव-जाग्रति प्रसारित करने वाले सामयिक उपादानों की स्थापना करके उन्होंने प्रकृति को भी जनोन्मुखी रूप प्रदान किया, उनके ऋतु-वर्णन में केवल रीतिकालीन विलासता ही नहीं है वरन देश-भक्ति का तीव्र स्वर भी उससे मुखरित है। उनके श्रृंगार-वर्णन में मध्यकालीन काव्य के रागात्मक तत्वों के भी दर्शन होते हैं। कतिपय स्थलों पर तो वे स्पष्ट ही सेनापति, घनानंद, पद्माकर, विहारी, देव आदि की मण्डली में बैठे हुए दिखाई देते हैं। सन्धि-युग के उस जागरूक कलाकार के काव्य में एक साथ ही राष्ट्रकवि की चेतना, जनवादी कवि की जाग्रति, भक्त-कवि की तन्मयता और रीति-कवि की रसिकता के दर्शन होते हैं, उनकी देशभक्ति युग की मांग थी तो ईश्वर भक्ति पैतृक सम्पत्ति और श्रृंगार भावना परम्परा की देन। उनके काव्य में संस्कृत के लौकिक और हिन्दी के परम्परागत छंदों के साथ ही वंगला, उर्दू एवं फारसी के प्रचलित छंदों का भी सौन्दर्य झलकता है। अस्तु, गो० जी ने सर्वत्र ही अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उनके पद्य-बद्ध ग्रंथों की संख्या तेरह है। लगभग दो सौ स्फुट पद भी उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा सम्पादित, संकलित एवं संशोधित संस्कृत ब्रजभाषा और खड़ी बोली के काव्य-ग्रंथों की संख्या पच्चीस से अधिक है।

गोस्वामीजी के नाम पर आये हुए पत्रों की संख्या ६ हजार तक होगी। लगभग इतने ही पत्र उन्होंने भी लिखे होंगे। अधिकांश उनके संग्रहालय में आज भी उपलब्ध हैं। गो० जी के पुस्तकालय के साथ इन पत्रों का भी उद्‌घाटन श्री वियोगीहरि के कर-कमलों द्वारा २९ मार्च, १९४६ को सम्पन्न हुआ।

वस्तुतः गो० जी युग-पुरुष थे। बहुमुखी प्रतिभा के बल पर, युग-सन्धि के मोड़ पर खड़े होकर भूले-निराश युग-मानव का उचित मार्ग-दर्शन किया। भले ही हिन्दी साहित्य के इतिहास के पृष्ठ उनकी अक्षय-कीर्ति से न रंगे गये हों। इसकी आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि उनके व्यक्ति और साहित्यकार की अमर लेखनी स्वयं ही अपना इतिहास बना गई है। उनका अधिकांश साहित्य तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की संजिकाओं में बिखरा पड़ा है। उसके सर्वांगीण अध्ययन बिना भारतेन्दु-युग का निःश्पक्ष अध्ययन कदापि नहीं हो सकता अथवा उसके अभाव में भारतेन्दु-युग अपूर्ण ही कहा जायगा। ●

शालिग्राम गुप्त

ब्रज-लोकगीतों में कृष्ण और रुक्मिणी

●

'**कृष्ण**' भारतीय वाङ्मय के ऐसे अभिप्राय हैं, जो अनेक नामों और रूपों में साहित्य में व्याप्त हैं और यह लोक मानस का ही प्रदान किया हुआ कई व्यक्तियों का सम्मिलित रूप है। अतः कृष्ण की कथा का लोकवार्त्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

महाभारत से कृष्ण के जिस ऐतिहासिक व्यक्तित्व की सूचना मिलती है, उससे विदित

होता है कि आरम्भ में वे मूलतः शूरसेन प्रदेशीय, कृषि वंशी सात्वत जातीय पशुपालक आभीरों के कुलदेव थे, जिनके क्रीड़ा-कौतुक की ममोजरंजक कथाएं मौखिक रूप में लोक-प्रचलित थीं--जिसमें समय-समय पर सामाजिक आवश्यकताओं तथा लोकवार्ताओं के प्रभाव से अनेक परिवर्तन होते रहे हैं और अब उनके कृत्यों में जो आद्‌भुत्य है, वह बहुत कुछ लोक-वार्ता की देन है। लेकिन इतना होते हुए भी ब्रज की लोक-कथाओं में यद्यपि अनेक देवी-देवताओं का उल्लेख हुआ है, पर एक बात अत्यन्त उभर कर आती है कि किसी भी कहानी में कृष्ण या कृष्ण-कथा नहीं आई है। इसके साथ ही एक बात और उल्लेखनीय है कि महाभारत और पुराणों में वर्णित कृष्ण का ऐश्वर्य और पराक्रमपूर्ण रूप ललित-साहित्य का विषय नहीं बन सका। कदाचित इसका कारण यह है कि कृष्ण की मधुर और लौकिक कथाएं ही लोक-साहित्य के माध्यम से अधिक प्रचलित थीं और वे ही लोक-मानस को अधिक मुग्ध भी करती रही हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण आज भी ब्रज-लोक-गीतों में पाई जानेवाली कृष्ण-कथा है, जिसमें रुक्मिणी-हरण एवं कृष्ण-रुक्मिणी विवाह; रुक्मिणी-पुत्र-(प्रद्युम्न) जन्म और सुदामा-दारिद्र्य-भंजन के अतिरिक्त कृष्ण के ऐश्वर्य और पराकर्मपूर्ण चरित्र से सम्बंधित कोई गीत नहीं मिलता।

लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोक-गीतों का प्रमुख स्थान है, क्योंकि इसके माध्यम से लोक-जीवन अपनी अनेक भावात्मक स्थितियों को विभिन्न संस्कारों, ऋतुओं, मासों, क्रियाओं और व्रतों के अनुसार अभिव्यक्त करता है। परन्तु जहां तक लोक-गीतों की लोक-जीवन में स्थिति का सम्बन्ध है, वहां इनका संदर्भ मुक्त रूप से उसके जीवन की विविध परिस्थितियों से है; साथ ही वहां कृष्ण-कथा का यह रूप अप्रमुख और अप्रत्यक्ष भी है। यही कारण है कि इनमें कृष्ण-कथा का जो रूप उपस्थित हुआ है उसमें लोक-गाथा या लोक-कहानी की कथात्मक संघटना, प्रवाह या सुसम्बद्धता नहीं है।

लोक-गीत लोक-भावना के स्वच्छन्द प्रवाह के साथ प्रस्तुत हुए हैं और कृष्ण-कथा के अनेकानेक संदर्भ इसी भावात्मक स्तर पर ग्रहण कर लिये गये हैं। इन गीतों में प्रमुख भावना 'जीवन की अभिव्यक्ति' की है, और इसी के आधार पर कृष्ण-कथा को स्वीकार भी किया गया है। कृष्ण-कथा का ऐसा कोई अंश इनमें नहीं व्यक्त हो सका है जो लोक की व्यापक भावना के साथ प्रवाहित नहीं हो सकता। कृष्ण-कथा ब्रज के लोक-जीवन में प्राणतत्व के रूप में इस प्रकार परिव्याप्त है कि वह उसके जीवन-प्रवाह का अभिन्न अंग बन गई है। लोक अपनी प्रवृत्ति के अनुसार सारे इतिहास और पुराण को अपने वर्तमान में पाता है। उसके लिए इतिहास और पुराण की, धर्म और दर्शन की समस्त स्थिति और मर्यादा धारावाहिक परम्परा के रूप में वर्तमान जीवन में ही समाहित हो जाती है। कृष्ण और उनकी कथा के अन्य समस्त पात्र लोक-जीवन की भावना के प्रत्यक्ष आलम्बन और आश्रय हैं। उसके लिए कृष्ण न ईश्वर हैं और न लीलामय।

ब्रज-लोक गीतों की कृष्ण-कथा में मुख्य चरित्र कृष्ण के साथ साथ राधा, यशोदा और रुक्मिणी का आता है। यद्यपि कृष्ण के साथ ये चरित्र कृष्ण-भक्ति-साहित्य की परम्परा से गृहीत और एक सीमा तक प्रवाहित भी कहे जा सकते हैं तथापि इनके व्यक्तित्व का भावात्मक संघटन लोक-मानस के ही स्तर पर हुआ है। विना लोक-मानस की भावभूमि के लोक-गीतों की कृष्ण-कथा के पात्रों के चरित्रों की व्याख्या करना सम्भव नहीं। कृष्ण-कथा की बाह्य परम्परा से इनका बाह्य रूप भले ही संगठित हुआ हो परन्तु इनका भावात्मक संगठन लोक-जीवन से ही प्रेरित है। इस कथन की पुष्टि के लिए श्रीमद्‌भागवत, सूरसागर तथा ब्रज-लोक-गीतों की द्वारिका-लीला-संबंधी कृष्ण-कथा के तुलनात्मक स्वरूप पर संक्षेप में विचार कर लेना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

सूरदास ने सूरसागर में कृष्ण-रुक्मिणी विवाह की कथा का दो बार वर्णन किया है तथा इसके लिए उन्होंने भागवत की कथा का ही अनुसरण किया है। विदर्भ राज की पुत्री रुक्मिणी कृष्ण के नाम एक पत्री लिखकर एक विश्वासपात्र ब्राह्मण को देती है और उसे गोपनीय संदेश बताकर कृष्ण के पास द्वारिका भेजती है। सूरदास एवं ब्रज-लोकगायक ने पाती का स्पष्ट वर्णन किया है। सूरदास ने—'द्विज पाती दै कहियो स्यामाह' ––के रुक्मिणी के मौखिक संदेश को भी विस्तार दिया है जिसमें वह ब्राह्मण से कहती हैं कि––"तुम कृष्ण से कहना कि पत्र पढ़ते ही वह यहां चले आयें। प्रभात में लग्न का समय है। अतः प्रातः शिशुपाल के आने के कुछ पूर्व ही वह आ जायं और मुझे शिशुपाल के हाथों पड़ने से बचा लें।"—(सूरसागर पद : ४७८६)। इस मौखिक संदेश का न भागवत में उल्लेख है और न लोक-गीतों में। जहां भागवत में रुक्मिणी ने कृष्ण को विवाह के एक दिन पूर्व होने वाली कुलदेवी यात्रा के अवसर पर बुलाया है, वहां सूरसागर में रुक्मिणी कृष्ण को प्रातःकाल लग्न के समय एवं शिशुपाल के आगमन के पूर्व कुंडिनपुर बुलाती हैं।

ब्रज-लोक-गीतों में कृष्ण के कुंडिनपुर पहुंचने के समय का कोई संकेत नहीं किया गया है यद्यपि द्वारिका में कुंडिनपुर आते समय ब्राह्मण देवता जिसका नाम लोक गायक ने पैंज मिश्र कहा है, कृष्ण के ब्रह्मत्व की परीक्षा लेता है। इस प्रकार का कोई भी उल्लेख भागवत या सूरसागर में नहीं मिलता। फिर लोक गीतों में एक मौलिक कल्पना यह भी मिलती है कि जब नाई लग्न लेकर शिशुपाल के पास पहुंचता है और उसे उसके हाथ में देता है तो उस समय उसका हाथ व शरीर सम्भवतः भावी अमंगल की सूचनावश कांपने लगता है जिसके परिणाम स्वरूप उसके सिर की पगड़ी भूमि पर गिर पड़ती है। पुनः शिशुपाल जब बारात लेकर कुंडिनपुर को चलता है तो उसके पूर्व एक ज्यौनार होती है। इस तरह का वर्णन न भागवत में मिलता है, और न सूरसागर में ही। गीत इस प्रकार है––

ब्राह्मण— दूरि देस कढ़ि गये किशन, मेरी कछनी रहि गई द्वारिका,
रथ को देउ बगदाइ, नहिं मेरे प्राण अजायें जाय।
कै तो किशन काऊ पै मंगाइ दै, कै रथु बगदाइ कैं लै चलौ,
बगदाइ रथ अन्तर ज्ञानी।

कृष्ण –– आवत जात देर है जागी, बहुत झमेला लगि जागौ,
कुंडिनपुर ते वारि रुकमिनी, तौनों असुर ब्याहि लै जागौ।
चलि महाराज नई लै देगों, तिहारी फटी पुरानी,
बगदाइ रथ अन्तर ज्ञानी।

ब्राह्मण— ना चहिये तेरे मुहर रुपैया, ना चहिये पीताम्बर की,
सांची कोर लगी कछनी में, ना चहिये लम्बे कर भी,
मेरी श्याम फटी मंगवाइ दै, पैज मिसुर ने ठानी,
बगदाइ रथ अन्तर ज्ञानी।
तीन लोक के अपरम्पारी, लम्बी बांह किशन ने कीनी,
वाइ ठौर पै सूखति पाई, लाइ माधौ की गहाइ दीनी,
हंसि गये मिसुर बहौनु मुसिकाय, जब ब्राह्मण ने जानी,
बगदाइ रथ अंतर ज्ञानी।

दूसरे गीत की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :

लगुन लिखाय सुसपाल के भेजी, नाई पहुंचो द्वार,
लगुन लिखाय हाथ पर रक्खी, कांपन लागे दोऊ हाथ,
सिर से पगड़ी गिरी।

सभी नातेदार बुलाये, आये माई बाप,
कर ज्यौनार बरातकूं निकरे, मौहर धारौ है सुसपाल,
खुशी सब नर नारी।

सूरसागर में जब रुक्मिणी देवी मंदिर में उनके दर्शन करने और कृष्ण को वर रूप में पाने की प्रार्थना करने जाती हैं तो सूरदास 'गौरी सुनि मुसकाई' इन शब्दों के द्वारा रुक्मिणी पर देवी की प्रसन्नता का उल्लेख करते हैं। भागवत में इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु व्रज के लोक गीतों में देवी के केवल प्रसन्न होकर रुक्मिणी को प्राण तजने से रोकने का उल्लेख अवश्य हुआ है।

भागवत में जहाँ रुक्मिणी हरण के पश्चात् शिशुपाल के साथी राजाओं द्वारा कृष्ण का पीछा कर उनसे युद्ध करने का उल्लेख है, वहां सूरदास ने शिशुपाल को भी लड़ाई में हार एवं अपने किये पर पश्चाताप करता हुआ दिखाया है। इसी अवसर पर सूरसागर में विदर्भ राज भीष्मक ने आकर कृष्ण को बहुत-सा विवाह का दहेज भी दिया है, जिसके बाद कृष्ण सानंद द्वारिका पुरी वापस लौट आते हैं। भागवत या व्रज के लोक गीतों में राणा भीष्मक के आने और दहेज देने का कहीं भी संकेत नहीं मिलता।

द्वारिका वापस आने पर भागवतकार ने अतीव हर्षोल्लास के वातावरण में कृष्ण रुक्मिणी के विवाह सम्पन्न होने मात्र का उल्लेख भी किया है, जब कि सूरदास ने विवाह का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए नारियों के गारी गीत गाने का भी वर्णन किया है। द्वारिका में होने वाले इस विवाहोत्सव का वर्णन व्रज के लोक गीतों में तो नहीं मिलता, लेकिन वहां भी नारियों द्वारा रुक्मिणी के रूप सौन्दर्य की विषय चर्चा अवश्य चलती है।

वस्तुतः व्रज की प्रेम क्रीड़ाओं के उपरान्त और मथुरा गमन के पश्चात् कृष्ण के चरित्र में लोक मानस का सहज उद्वेलन नहीं दिखाई देता। इसी कारण यहां से लोक गीतों में कृष्ण अनुपस्थित हैं। लोक भावना की स्वच्छंद भूमिका से हट जाने के बाद कृष्ण अपने सरस और भावमय व्यक्तित्व से व्यंजित न होकर निष्ठुर जान पड़ते हैं। वस्तुतः उनका मथुरा तथा द्वारिका का चरित्र लोक भावना के प्रतिकूल पड़ता है।

द्वारिका पहुँच कर कृष्ण वैभवपूर्ण जीवन बिताने लगते हैं। साथ ही यहीं रुक्मिणी का दाम्पत्य प्रेम भी स्वीकार करते हैं। वास्तव में यहां से कृष्ण के जीवन में एक भिन्न भाव भूमि ही प्रारम्भ होती है। कृष्ण के जीवन में लोक जीवन के बदले गार्हस्थ जीवन का समावेश होता है। इस जीवन में कृष्ण के भावावेश और उन्मादपूर्ण जीवन के स्थान पर स्थिर तथा व्यवस्थित पारिवारिक तथा गृहस्थी की दृष्टि विकसित होती है, जिसके परिणाम-स्वरूप कृष्ण पिता माता, बहिन के बीच एक दायित्वपूर्ण पारिवारिक व्यक्ति के रूप में उपस्थित होते हैं। इसी दायित्व के कारण वह लोक-लज्जा, मर्यादा और माता-पिता की भी आज्ञा-कारिता के वशीभूत होकर अपनी पत्नी रुक्मिणी से अधिक अपनी माता को महत्व देते हैं। वह यशोदा के जरा से रूठने पर अपनी पत्नी को मायके पहुंचा आते हैं। गीत इस प्रकार है—

ए हरि जू भोर भयौ परभात, माए जसोदा नें दांतिनि मांगी ऐ।
ए हरि जू हेला तौ दिए दस पांच, गरब गहीली ने ऊखऊ ना दियौ।

ए मैया भेरा लाऊं गंगा जलु नीर, दांतिनि लाऊं चोखे जार की।
बेटा दांतिनि तुम करि लेउ, हमरी तौ दांतिनि बिरियां टरि गई।
ए मैया कहौ तौ देउं निकारि, कहौ खदै दऊं धन के बाप के।
ए बेटा काए कूं देउ निकारि काए कूं भेजौ धन के बाप के।

× × ×

ए रुकिमिनि चों न करौ सौल्है सिंगार, तिहारे लिवैया वीरन आइए।

× × ×

धिमरा के उठि चों न डुलिया पलान, रुकिमिनि तौ जांगी बाप के।
ए रुकिमिनि पौहोची ऐ कोस पचास, जाय उतारी उनके बाप के

भाई के रूप में कृष्ण के हृदय में अपनी बहिन सुभद्रा के प्रति पवित्र स्नेह की भावना सदैव व्याप्त रहती है जिसके कारण ननद-भावज में कहा-सुनी हो जाने पर अपनी बहिन का ही पक्ष लेते हैं। पुत्र-वधू रुक्मिणी के प्रति किये गए सास यशोदा के दुर्व्यवहारों की झांकी लोक गायक प्रस्तुत करता हुआ जहां अपने समाज का वास्तविक चित्र ही खींच देता है वहीं वह सम्भवतः इसके प्रभाव से प्रभावित पुत्र-बधू को भी बदला लेने की भावना से प्रभावित दिखाते हुए नहीं चूकता। जैसा कि निम्नलिखित गीत में उल्लेख मिलता है कि पुत्र-वधू रुक्मिणी पुत्र-प्रसव के पश्चात स्वार्थपरता की भावना से अपनी ननद सुभद्रा को नेग देने के डर से नहीं बुलाती। और जब वह बिना बुलाये ही भाई कृष्ण के घर आ जाती हैं तो रुक्मिणी सींधे मुंह उससे बात भी नहीं करतीं। समाज के इन कठोर सत्यों को लोक-गायक अनदेखा नहीं करता। अतः वह उसको अपने गीतों के माध्यम से यथार्थ रूप में व्यंजित कर देता है। लोकगायक की इसी यथार्थवादी प्रवृत्ति ने सम्पूर्ण कृष्ण-कथा को ही अपने रंग में रंग लिया है। गीत इस प्रकार है :

भाभी बदनि बदी ऐ सोई देउ, जगमोहन लुगरा दीजिये।
लाली जे लुगरा ना देउं कुमार जी के सोहिले,
औढ़ूं तौ अपने चौक पै।
लाली को तिहारे गए लेन हार, को तौ छेता धरि गये।
भाभी ना कोई गए लेनहार, नाये छेता धरि गए।
भाभी हमरे बबुल की अथैयां, इने देखिबे आइए।
भाभी हमरी माय की रसोइया, इने देखन आइए।
भाभी हमरे बिरन घर सोहिलौ, सुनि कै घर आइए।
लाली लौटि बगदि घर जाउ, तौ फेरि मति आइए।
राजे नैननु भरि लाई नीर, तौ हिलकिनु रोइए। ●

रामेन्द्रमोहन त्रिपाठी

ब्रज के लोक-गीतों का स्वरूप

लोक-गीत इस वसुन्धरा की न जाने कितने सहस्र वर्षों की संचित निधि हैं। यह ब्रज के जन मानस में अंतरंगता की सीमा तक व्याप्त हैं। ग्रामीण परिवेश में जन्मी यह परम्परा आज भी जीवित है। यहां के गांव, कस्बे, शहर के जन-सम्प्रदायों में इनके प्रति गहरी आस्था है। इस प्रकार के गीत एक दूसरे के मुख से याद किये जाते हैं। फलस्वरूप इनके रचयिताओं के नाम भूतकाल के अंतराल में विलीन हो गये हैं परन्तु इनका गीति-तत्व और संवेदना आज तक जीवित है। इस अंचल का प्रत्येक व्यक्ति आज इन्हें भी उतनी ही आतुरता और आस्था के साथ सुनता है जितना कि पूर्व कालीन समाज, जिसके समय में इन गीतों का निर्माण हुआ था। यहां के गांवों में अब भी ढोला, रसिया, चौपाल की तानें गूंजती रहती हैं। कोई गबरू जवान हाथ में चिकनी लाठी लिये हुए गली से गुजरा नहीं कि एक आध गीत की पंक्ति वातारण में ध्वनित हो गई।

खड़ताले, कटोरियां, अलगोजे, ढोलक, मृदंग, झांझ, चिमटा, इकतारा, मजीरा इन गीतों की लय में अपना सहयोग देते हैं। एक तान चढ़ी नहीं कि हारमोनियम की लयकारी उसे लेकर उड़ गई। फिर तो समां ही निराला हो जाता है। गांवों की गलियों-चौबारों में इनका ही राज है। गीत का गायक गाते समय एक छत्र सम्राट् होता है। उस समय उसे दुनियां-जहान की चिंता नहीं रहती और न ही विषैली राजनीति की दुर्गन्ध ही उस वातावरण को मैला कर पाती है। इन्हीं में डूबकर लोग आत्मानंद की प्राप्ति करते हैं। कोई भी ऋतु हो गीतों की बारातें आती ही रहती हैं। गांवों में संध्या भी जल्दी आती है फिर लम्बी रात काटने के लिए कुछ तो सहारा चाहिये। इसलिए इन गीतों का सम्बल ही ब्रज-प्रदेश को ऊबने से बचाये हुए है। जाड़ा, गर्मी, बरसात सभी के अलग-अलग गीत हैं। विशेषकर वर्षा के समय जब आदमी के पास काम की अधिकता नहीं होती तो गीत गाना भी एक दैनिक कार्य के रूप में चुन लिया जाता है। गैस के हंडों या लालटेनों के धुंधले प्रकाश में चार आदमी जुड़े और जहां ढोलक पर थाप पड़ी कि गीतों की बरसात आरंभ हो गई। फिर तो जो लोग चारपाई पर लेट भी गये हैं उनके लिए करवट बदलने के अलावा दूसरा चारा शेष नहीं रहता। जब मन नहीं मानता तो उन्हें भी अपने बिस्तर समेटने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता है, फिर तो अनायास ही कदम गीत की लय पर चल पड़ते हैं। उन्हें भी अपनी इकाई को उस समूह में जोड़ देना होता है जिससे कि गीतों का झरना फूटता रहता है।

ब्रज के लोक-गीत-साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि ये अलग-अलग श्रेणियों में आसानी के साथ विभाजित किये जा सकते हैं। प्रथम तो वे गीत जिन्हें किसी विशेष संस्कार के अवसर पर ही गाया जाता है, संस्कार गीत कहलाते हैं। भारतीय परम्परा के अनुरूप सोलह संस्कारों के द्वारा इस मानव जीवन को वाधित किया गया है। इन सोलह में से तीन संस्कार प्रमुख माने गये हैं जिन पर सभी कुछ आधारित होता है, प्रथम जन्म, द्वितीय विवाह, तृतीय मृत्यु। वास्तव में ये ही जीवन की विशेष घटनाएं हैं। जन्म के समय इस प्रदेश में जो भी गीत गाये जाते हैं उन्हें हम सोभर के गीत कह कर पुकारते हैं। इसके पश्चात चरुआ के गीतों की गणना होती है। इससे पहले वै के गीत भी गाये जाते हैं परन्तु यह ठीक उस समय गाये जाते हैं जब कि बच्चा पैदा होता है। जन्म संस्कार के गीतों में सोहिलों का विशेष महत्व है। सोहिलों में भी

नेग के गीत अधिक गाये जाते हैं जिसमें ननद-भावज के नेगों की चर्चा रहती है। इसके अतिरिक्त सोहर, बधायें, चरुये, सांतिये, छठी को नौतो, जच्चा, इत्यादि के गीत भी जन्म संस्कार के समय स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। पुत्र की कामना के लिए गाये जाने वाले गीत के मार्मिक तत्व की ओर इंगित करता हुआ प्रस्तुत गीत महत्वपूर्ण है:

राजे जमुना किनारे एक तिरिया सु ठाड़ी अरज करे
मैया एक लहर हमें देउ तौ जामे डूबि जैयों

इसमें पुत्र की कामना रखने वाली एक स्त्री जमुना से एक लहर का दान मांगती है ताकि वह अपनी कामना को मर कर ही शांत कर ले, आखिरकार जमुना मैया को उस पर दया आ जाती है और वह उसे एक पुत्र का आशीर्वाद प्रदान कर वापस जाने के लिये कहती हैं:

राजे लौटि उलटि घर जाउ, लाल तिहारे होंय

वह स्त्री इस आशीर्वाद को प्राप्त करने के बाद अपने घर वापस आती है तो उसका उस घर में स्वागत किया जाता है। इस गीत में यही सब कहा गया है।

नेग के गीतों में मार्मिकता की भावनाएं अधिक पाई जाती हैं। ननद जब भौजाई से भविष्यवाणी करती है कि तुम्हारे लाल होगा तो आवेग में आकर भौजाई ननद को नेग का हार देने का वचन दे देती है:

जौ बीबी मेरे होगो नंदलाल, तुमें दुंगी गलहारू

किसी-किसी गीत में ननद-भौजाई की कटुता का भी वर्णन किया गया है। इन दोनों के व्यवहार आपस में शिष्ट नहीं है, भौजाई, 'कुछ' देने का वादा करने के बाद भी अपने वचन से मुकर जाती है। इस प्रकार के गीतों से स्वार्थपरता की भावना परिलक्षित होती है, जो स्त्री-मनोविज्ञान का एक पक्ष है।

विवाह के संस्कार गीतों की गेयता में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। यह गीत ध्वनि के आकाश से उतर कर आये मालूम होते हैं। जब शादी तय होती है तभी से लड़के तथा लड़की दोनों के घरों में गीतों का गाना प्रारंभ हो जाता है। सगाई पीली-चिट्ठी, लगुन, भात, ताई, तेल, रतजगा, मंडवा, भात ब्याह का दिन, दरवाजा, भांवर, बढ़ार, पलकाचार, बिदा, बहू का नचाना, देवी-मिलन, मंडवा सिराना, इत्यादि अवसरों पर इन गीतों का गायन होता है। स्त्रियां एक स्वर से इन गीतों को गाती हैं। समवेत स्वरों की लयकारी किसी भी मनचले को उद्विग्न कर सकती है।

भात न्योता के समय गाये जाने वाले गीत की मार्मिकता इस गीत से स्पष्ट होती है:

राजा भातई!
जब के बहिन बागन गई।
सूखे बाग हरियांय
के राजा भातई!

बहन भात मांगने भाई के घर पर पहुंचती है तो भाभी सांकल लगा देती है। इस पर बहन की चुटकी देखिये।

तू तौ री भावज ओछे घरा की
तूने जड़ी ऐं किवार
राजा भातई!

इस गीत से आखिरकार भाई का मन पसीज उठता है। भावज की बातों से घबरा कर बहन वापस लौटने लगती है तो भाई कहता है कि बहन तू मेरी मां जाई है, तू बता किस दिन तेरे घर मांडो है, मैं भात लेकर अवश्य आऊंगा।

रतजगा के गीतों में आपस की चुहल द्रष्टव्य होती है। औरतें एक दूसरे पर छींटाकशी करने में नहीं चूकतीं, कढ़ैया पर गुलगुला सेंकते समय जब वे गीत गाती हैं तो प्रथम तो किसी स्त्री का नाम लेती हैं और उसके बाद ही कहती हैं :

(फलानी) बैठी है मैंदा घोरि, मेरे गुलगुले खाइगौ कौन ?
खाय गुलगुला रहिगौ पेट।

निकरौसी के समय चाहे जैसा भी दुल्हा क्यों न हो उसकी माँ को वह प्यारा ही लगता है :

लोग कहैं दुल्हा कारौई कारौ
माई कहे मेरौ जगत उजारौ

इस गीत में मां की पुत्र के प्रति ममता और उसके दुर्गुण न देखने की प्रवृत्ति का पूरा आभास मिलता है।

'वंदनवार' के समय गाये जाने वाले गीतों में पति के प्रति समर्पण की भावना और अगाध स्नेह का भाव दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि इस गीत से स्पष्ट है।

मैंने लई ए सजन तिहारी ओट, सजन पत राखिदै'
कै पत राखे साजना,
कै राखे भगमान
मैंने दई ए गुबरिहारी धीय, सजन पत राखिदै

स्त्रियां कहती हैं कि मैंने गोबर-कूड़ा करने वाली कन्या दान में दी है, इसकी इज्ज़त का रखवाला इसके पति के अलावा और कोई नहीं हो सकेगा, अंत में स्त्रियां कहती हैं कि :

गोबर करवैयों, चाकी चलवैयों
पनियां कूं मति भेजियों,
मेरी कन्या एं दुख मती दीजियों

इससे स्पष्ट होता है कि गांव की स्त्रियां अपनी कन्या की भलाई के लिए कितनी चिंतित रहती हैं, आशंकित भी रहती हैं कि यदि लड़की को पानी भरने के लिए भेजा गया तो कुएं में गिर भी सकती है। भात मांगने गई बहन ने अपने भाई को वहुत खोजा पर वह न मिला, इस गीत से बहन की वेदना स्पष्ट होती है :

भैना तिलु-तिलु ढूंढौ गुजराति
सबरौ तो ढूंढ्यौ मालुआ
मेरी मैया के जाये ना मिले

वैवाहिक गीतों में एक स्थान (लाड़ी) गीतों का भी है। यह लड़की के विवाह के पूर्व की मां-बाप की कठिनाइयों की ओर इंगित करते हैं कि कहीं पर लाड़ो के रूप-सरूप की चर्चा करते हैं। एक गीत में बरनी अपने बाबा से सुघड़ वर ढूंढने के लिए आग्रह करती है :

चंदा से बरु ऊजरे तरैया बरु झिलमिले
उनकी प्रेम मुर्रकि रहीं जुलुफ,
सुघर वरु ढूंढियौ

एक गीत में लड़की आशंका व्यक्त करती है कि हे पिता तुम्हारे घर का रास्ता बहुत ही संकरा है, मेरे पति की बारात, जिसमें हाथी इत्यादि की सवारियां होंगी, कैसे समायेगा? पिता उस दगड़े को चौड़ा बनवाने की बात अपनी बेटी से कहता है। यहां पर स्पष्ट है कि अपनी लड़की के ऊपर पिता सब कुछ निछावर कर सकता है, यहां तक कि घर को भी तुड़वा कर फिर से बनवा सकता है:

दगरौ तो बेटी मेरी फेरि चिनाऊं
तिहारी हथिनी कौ दलह समाइये

विवाह के अवसर पर गालियों का भी प्रचलन है, परन्तु इन गालियों में शिष्टता का अभाव नहीं खटकता। प्रेम में डूबी हुई गालियां लोग बैठ कर सुना करते हैं। किसी बारात में जब गालियां सुनने को नहीं मिलतीं तो बाराती स्वयं स्त्रियों की ओर इंगित करके उनसे गाली सुनने का उपक्रम करते हैं। ब्रज की गालियों में भी रस है; और गलियों में भी:

तुम सुनहु कृष्ण बलराम हमारी गारी प्रेम भरी।
भुआ तिहारी सुभद्रा कहिये, कहियै रुप अपार
क्वारी अर्जुन संग, सिधारी, निकरी ऐ सौति छिनार।
हमारी गारी प्रेम भरी।

विदा के समय का लोक-गीत बहुत ही मार्मिक है; इसमें पिता और मां की तात्कालिक मनःस्थितियों का वर्णन किया गया है।

अपने ससुर के साथ चली
लेऊ बाबुल घर आपुनो।
छोटे बिरन पकरयो रथ को डंडा
हमारी बहन कहं जाइ?
छोड़ौ बिरन मेरे रथ कौ डंडा
अपने पराये, पराये अपुनो,
जे कलजुग व्यौहार।

जन्म और विवाह के बाद मृत्यु के संस्कार गीत प्रायः नहीं मिलते हैं। एक आध गीत का प्रचलन है, वह भी किसी वयोवृद्ध की मृत्यु के अवसर पर कभी गा लिया जाता है।

संस्कार गीतों के बाद त्यौहार, व्रत, देवी इत्यादि के गीतों का स्थान है। यह गीत प्रायः भजन के रूप में गाये जाते हैं। नौ दुर्गा, अखतीज, निर्जला एकादशी, घोघा एकादशी, रक्षाबंधन, हरियाली तीज, नाग पंचमी, कृष्णाष्टमी, अनंत चौदस, नौदेवी, सांझी, टेसू–झांझी, स्याहू, गोवर्धन, भैया दौज, देवठान होली इत्यादि के गीत गाये जाते हैं। इन गीतों में कोई न कोई कल्याण की भावना ही निहित होती है। देवी या देवता से किसी परिणाम या फल की आकांक्षा की जाती है:

एक गीत में देवी प्रसन्न होकर एक स्त्री को वरदान मांगने को कहती है, वह स्त्री अपने पति को अमर कर देने का वरदान (आशीर्वाद) चाहती है। देवी उसके प्रत्युत्तर में कहती है कि:

जा धरती पर रानी कोई ना अमरु है,
रजवा अमरु कैसे हुई है?
अमरु जलफदे की चुनरी कहिये,

अमरु, लंगुरिया की पाग

देवी के गीतों के साथ लंगुरिया अवश्य गाये जाते हैं। देवी का यह लंगुरिया माता को बहुत प्रिय है, उसका आज्ञाकारी है। देवी यदि आज्ञा दे तो वह असुर के नौ-कीलें ठोंक दे और यदि निकालने की आज्ञा दे तो फौरन उन्हें निकाल भी देता है। स्त्रियां उसे किसी और ही रूप में देखती हैं पुरुष किसी अन्य रूप में। पुरुषों की निगाह में लंगुरिया अफीम खाता है, गांजा पीता है। चिलम-पर-चिलम उड़ाता है, पर स्त्रियों की निगाह में वह अन्य ही रूप में अवतरित होता है:

कारी चुँदरियां में दागु न लगइयो लांगुरिया
दहिअ विलौवे दारी गूजरिया, विलवावै लांगुरिया
बसंती रंगवाइ दुंगी जा लांगुरिया की टोपी
लांगुर तुम लोटा हम डोरि सरकि आओ जाइवन में
करौली बारी नदिया बहाये लिये जाये
ऐ लंगुरिया हंसि मत अइयों काउ और तें
मैं मरुंगी जहर बिस खाय
अनौखी मालिनी भैना, करै तो डरपै काए कूं
ना काऊ के घर गई ना मैंने लियो बुलाय,
रस की वींध्यो लांगुरा आइगयौ मेरी सेज––अनौखी मालिनी,

लांगुर के गीतों में पति का विशेष भाव रहता है। लांगुरिया के गीतों में व्यंग, विनोद, हास्य सभी कुछ मिलता है, इन गीतों के रचयिताओं में कान्हर और धानू का विशेष नाम आता है।

ब्रज में एक गीत परम्परा जाहर परि की भी है जो एक कहानी पर आधारित है। जाहर परि का जागरण होता और उसकी ज्योति जलाई जाती है। ब्रज के सावन के गीत बहुत ही प्रसिद्ध हैं विवाहित स्त्रियां और अविवाहित कन्याओं के गीत, अलग-अलग हैं। इन गीतों में प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण दिग्दर्शित होता है।

रिमझिम-रिमझिम मेहा बरसत,अंगना में हुइ गयी कींच

नन्ही-नन्ही बुंदियों की फुहारों में यह गीत झूला पर गाये जाते हैं। हरियल सावन कुवारी कन्याओं के हृदय में हिलोर लेता है। यह गीत सामूहिक रूप से भी गाये जाते हैं। झूला पर पेंग बढ़ाती हुई स्त्रियां गीत गाती हैं तो नीचे खड़ी हुई स्त्रियां उनमें स्वर मिलाती हैं। वर्षा का आनंद इन गीतों में झलकता है :

कारी सी आई बादरी, झक मल्लारि आयो मेह,
बरसे असाढ़ी मेहरा एजी इत बालम परदेस

वियोगनी अपनी पीड़ा नहीं सम्हाल पाती है और अपने पति को संदेशा भेजने के लिए बेचैन हो जाती है।

अंचर फारि कागज करुं कोई उंगरी तराच कलम,
नैनन की स्याही करुं कोई लिखूं संदेशौ भेज।

इस संदेश का पति पर कोई असर नहीं हुआ, इधर बांस तड़कने लगे। छप्पर से औलाती टपकने लगी तो पति के वियोग में जोगन हो जाने की भी कल्पना कर डाली गई:

एरी सखी राजा जोगी हैं गये।
हमहू जोगिन है री जायं ॥

वियोग के गीतों में बारहमासी गीत भी आता है। वियोग में हर ऋतु, हर काल, स्त्री के लिए असहनीय हो गया है:

उमंगे से बादर फिरत कामिनी गाजि घोर सुनाइये,
ऐसे नंद के लाल कहिये अषाढ़ मास जो लागिथे।

भादों में घनघोर घटा छाई रहती है, बिजुरी कौंधती है। बादलों में झर लगा हुआ है। ऐसे में वियोग का दुख और गहरा हो जाता है। सेज काटने को दौड़ती है:

राम बिना सुख सेज सूनी, सेज बिलकै कामिनी

कुछ गीत लष्णुव्रती कथाओं के भी गाये जाते हैं; जैसे निहालदे, चंद्रावली और चंदना। इन गीतों में पूरी कथा गाई जाती है। चंद्रावली पठान की रानी होना अस्वीकार कर देती है और स्वयं को तम्बू में आग लगा कर भस्म कर लेती है, यह भारतीय नारी की पवित्रता का प्रतीक है।

अधिकांश गीतों का आधार प्रेम ही हैं। इन प्रबंध गीतों का आधार न कोई सत्य घटना ही होती है, जिसको कवि ने इन गीतों में संजो दिया है। प्रबंध गीतों की ही परम्परा में सरमन के गीत गाये जाते हैं। यह कथा श्रवण कुमार से सम्बंधित है। यह गीत इस क्षेत्र के भीख मांगने वाले अक्सर गाते हैं। इसी श्रेणी में ढोला का गीत भी आता है। यह काव्य लिखित रूप से उपलब्ध नहीं पर ग्रामीणों की स्मृति में यह लिखा है। ढोला वर्षा ऋतु में प्रायः सुना जाता है। चिकाड़ा की तान और सुरैया की अलाप इसमें जीवन-संचार को द्विगुणित कर देते हैं। एक ढोला का अंश देखिये। इसमें लड़के और लड़की के सवाल जवाब हैं। इसे स्त्रियां गाती हैं:

अरे छोरा! तू अति को बड़ो मलूक
इतनो बड़ो तौ क्वारो च्यों रह्यो?
अरी छोरी! तू अति की बड़ी मलूक
इतनी बड़ी तौ क्वारी च्यों रही?
अरी छोरी मेरे मरि गये मैय्या बाप री
मैय्या भरोसे क्वारे हम रहे।
अरे छोरा! मोकूं अच्छिम ढूंढौ पच्छिम ढूंढौ
हमारी जोड़ी के हजारी ढोला नामिले।
अरी छोरी! अब चलि दै सोरों घाट री
मां चलि कें डारैं भांवरी
अरे छोरा! मां बहुत जुरिंगे लोगरे,
मोकूं आवेगी लाजरी।

ढोला गीत तो बहुत हैं। कुछ तो लोक-कथाओं पर आधारित हैं और कुछ का निर्माण कल्पना पर हुआ है। ढोला बहुत ही लोकप्रिय काव्य है। देहाती ढोला मंडली भी बहुत-सी मिलती हैं। प्रत्येक ढोला का प्रारंभ भी सरस्वती की वंदना से ही होता है। बाग को ढोला, मदारी का ढोला अन्यायन्य प्रकार से प्रचलित हैं। ढोला में कोई-न-कोई कहानी वर्णित की जाती है।

कभी-कभी ब्रज के लोक-गीतों में भारतीय दर्शन के गहन तथा गूढ़ तत्व भी समाहित हो जाते हैं। इससे यह पता चलता है कि यहां का लोक साहित्य कितना गम्भीर तथा सूक्ष्मदर्शी है। इस गीत में देखिये :

तेरो पिया बिन 'सूनो है सिंगारु
तनक छोरी बारी सी।
एक महल के दस दरवज्जे
जाने कुन सी में से होगो निकासु।
तो प आपे लिबउआ लै जांगे
तेरी डुलिया में लागे कहार
घ्यौ चंदन अगरु लगामिंगे
तेरो बांस तें फोरैं कपारु
तनक छोरी बारी सी।।

रसिया का तो समां ही और हो जाता है गाने वाले के साथ सुनने वाला भी न गाने लगे तो गाने का प्रभाव ही क्या:

लड़ुआ काहे को दिखावे लम्बरदार
हेल मोपै गोबर की। (छपरी)
अब काहे में चलेगी लहुरी सौटि
मंझोली टूटी बम्बे पै

राष्ट्रीयता की भावना को भी इन गीतों में संजोया गया है। देश में असामाजिक और बाहरी तत्वों की ओर इंगित करता हुआ यह गीत कितना सटीक है जो कि केवल अंग्रेजों पर ही नहीं वरन आज के इन तत्वों पर भी सही उतरता है।

बागन बंदरा बहना मेरी वस गयेजी
एजी इन्नै दीनो है बागु उजार
कौन पुरुस को अझा बाग बन रह्यो जी
एजी जाको, को है सींचन हारु।। बागन बंदरा

ब्रज लोकगीतों का यह स्वरूप जितना कोमल है उतना ही गहन और गम्भीर भी है। हमें इस संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। ब्रज साहित्य मंडल की स्थापना स्वयं ही इस दिशा की ओर एक बढ़ता हुआ पग है। लोक-कविता की यह विधि जितनी बढ़े उतना ही श्रेयस्कर भी है। यदि लोक जीवित रहेगा तो यह गीत जियेंगे चाहे उनका रूप भले ही बदल जाय। ●

शिवशंकर त्रिपाठी

प्रेम-रस-धार से सिक्त ब्रज की लोक-वाणी

●

लोक की सांस्कृतिक-चिन्तन-परम्परा, चिरंतनता और निर्भयता की आधारभूमि ये लोकगीत राष्ट्र की वाणी के वह सशक्त स्वर हैं, जिनमें युग-युगीन चेतना की विविधता, सजीवता, प्रौढ़ता की गूंज सुन पड़ती , आत्माभिव्यक्ति और मधुर-भावानुभूति की गहनता, संगीतात्मकता से पूर्ण कल्पनामय कमनीयता, राष्ट्र की विशालता, भारतीयता की प्राजंलता से अभिभूत लोक-मानस की उदारता, चैतन्य-सहजता एवं स्वस्थ जीवन की प्रतीति प्रकट होती है। समाज की निर्भयता, लोक-व्यवहार की एकात्मकता, मानवीय-उद्गारों की प्रवणता, संस्कृति की अक्षुण्णता की सत्य और तथ्यपूर्ण विवेचना यदि कहीं सम्भव है तो राष्ट्र की धरती के श्वासों से स्नात उसके पूतों की वाणी से समय-समय पर मुखरित इन्हीं लोकगीतों में।

लोकवाणी की स्वच्छन्दता के प्रतीक ये लोकगीत हमें मधु-मधुर भाव-भावित-स्वर-लहरियों के माध्यम से मानवता की सच्ची परिभाषा का मनन करने के लिए स्वार्थ, ईर्ष्या, कपट आदि की कलुषित विचारधारा की ओर से पराङ्मुख करके नव-नवीन-सजीवता के सुधा-विन्दुओं का पान करने के लिए विकास के स्वर्णिम पथ पर अग्रसरित होने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। भारतराष्ट्र के प्राण ग्रामों की मिट्टी में संजोयी अनन्य प्राणवत्ता को आत्मसात किये ये लोकगीत ग्राम्य-जीवन की रसमय वाणी का स्मरण कराकर हमें सहज ही ग्रामींण रमणियों के मधुर-कोकिल-कण्ठ-निस्सृत गीतों के स्वर-माधुर्य से व्याप्त हरी-भरी सोरभित धरती, कल-कल–निनादिनी निर्मल जल-भरित सरित की तट-भूमि, नव-विकासाभिलाषिणी-कलियों से युक्त उपवनों और परागवाही पवन के स्नेहिल थपेड़ों से आन्दोलित पुरुष-रस-पान-लीन रसिक भ्रमरदल की क्रीड़ा-भूमि उस नैसर्गिक सीमा में विचरण करने की उत्कट भावना से उद्वेलित कर देते हैं। लोक-भारती के अमूल्य रत्न, सांस्कृतिक-जागरूकता के प्रतीक, युग-चेतना के सजग-शाश्वत प्रहरी रस-पूर्ण-उद्गारों की भाव-स्थली, सहज-अनुभूति और जीवन के शुद्ध, यथार्थ-रूप का मार्मिक-मनोहारी चित्र प्रस्तुत करने वाले ये गीत अपनी मधुर-शब्दावली, कान्त-पदावली, अकृत्रिमता, नैसर्गिक-रमणीयता के स्रोत, स्वाभाविकता और तन्मयता के कारण हमें आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकते।

कविता का मुख्य लक्ष्य वस्तुतः जीवन की रसमय व्याख्या प्रस्तुत करना, सुरुचिपूर्ण-भावों और सुसंस्कृत-भाषा में उसका प्रतिबिम्ब आभासित करा देना होना चाहिए, इस दृष्टि से लोकगीत सर्वथा पूर्ण हैं। इनमें हमें जीवन का निश्छल और व्यापक विवेचन प्राप्त होता है। लोकगीतों में हमें ऐहिक-जीवन के शाश्वत–सुखों की झलक मिलती है, ये हमारे शाश्वत साथी और जीवन-ज्योति सचेतक प्रतीत होते हैं, जब कि शास्त्रीय–कविता मात्र कुछ ही क्षणों के लिए हमें अपने भावों में रमा सकने अथवा आनन्द की सृष्टि करने में सक्षम हो सकती है। रसाभिव्यक्ति की जो पूर्णता हमें इन लोकगीतों में प्राप्त होती है वह पिंगल-शास्त्र की कसौटी पर सर्वथा खरे उतरने वाले वृथापुष्ट काव्य महाकाव्यों में नहीं। मानव हृदयों की रसमयी भावना के स्रोत ये लोकगीत देश अथवा प्रदेशगत होने के कारण विविध रूपों में निबद्ध हैं। तथापि सामाजिक आदर्श और मंगलमयी उदात्त भावनाओं की दृष्टि से सर्वथा एकरूप ही हैं। जनमानस के हृदयोद्गार और जीवन का वास्तविक चित्रण यही लोकगीत के दो प्रमुख तत्व हैं। विषय वैविध्य की दृष्टि से लोकगीतों

में प्राकृतिक सुषमा, परोपदेश, लोककल्याण भावना, श्रमजीवियों के व्यवसाय, पौराणिक कथा, देशभक्ति, विविध संस्कार तथा पर्वों के गीत। किन्तु मधुर भाव व्यंजना के दर्शन सर्वत्र एक समान होते हैं। एक मराठी गीत का भाव कितना सुंदर हैं : 'मेघराज का विवाह है। बिजली वधू बनी हुई है। भाऊ देखो तो इसकी बारात घूम रही है। वर्षा हो रही है। मालूम होता है कि पावस के व्याज से धरती के पति ही आ गये हैं। पावस आजा, आजा मैं तुमको पैसा दूंगी पावस तुम जाति से ईश्वर हो। मैं तुम्हारा भोजन भी जानती हूं। मैं तुमको मनोभाव से ग्रास खिलाऊंगी।' बादल, बिजली धरती सबका जीवधारी के रूप में वर्णन है। गीत इस प्रकार है :

मेघरायाचं लगीन। ईजवाई करवली।
माऊच्या शेतावर। ह्यांची बरात मिरवली।
पडतो पाऊस नका करूं गलबला।
जिमिनी बाईचा पती आला।
येरे येरे पावसा। तुला देईन पैसा।
जात्या तूं ईसवरा तुझ ज्येवन मलाणंखा।
घांस घालिते। मनोभावं।

ब्रजभूमि का तो अपना पृथक महत्व है, वह चौंसठ कला पूर्ण लीला पुरुषोत्तम की जन्मस्थली जो है! यही कारण है कि ये लोकगीत अवधी, राजस्थानी, गुजराती, भोजपुरी, बुंदेली आदि गीतों की अपेक्षा कुछ-न-कुछ नवीनता और रमणीयता लिये हुए हैं। ब्रज लोकगीतों को हम मुख्यत: दो विभागों में निरूपित कर सकते हैं--१. अनुष्ठान आचार सम्बन्धी--२. मनोरंजन भाव भंगिमा से पूर्ण। प्रथम प्रकार के गीत वे हैं, जो पुत्रजन्म, विवाहादि के अवसरों पर गाये जाते हैं, द्वितीय प्रकार के वे हैं जो होली, आदि विशेष पर्वों पर अथवा हँसी व्यंग्य के लिए गीत होते हैं। सबसे मजे की बात तो यह है कि ब्रज में मरण के अवसर पर भी गीत गाये जाते हैं। मृत्यु भी एक विशेष संस्कार है। यह एक ऐसा अवसर है जब समस्त वातावरण ही शोक और विषादमय हो जाता है। किन्तु ब्रज के चतुर्वेदी कुलों में इस अवसर पर भी गीत की परम्परा है। विशेषत: इस अवसर पर कुल की स्त्रियां मृत व्यक्ति की प्रिय वस्तुओं का नाम लेकर कुछ लय रागमय रुदन करती हैं। उनकी इस रुदन क्रिया में जो गीतात्मकता रहती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ स्थानों पर तो वस्तुत: गीत ही गाया जाता है :

काये के कारन जौं बये और काहे के हरे हरे बांस,
हरि रे किसन कैसे तिरयऔं।
लाला धरम के कारण जौं बये, मरन के कारन हरे हरे बांस
बेटीन ब्याही आपनी, मढये न लीयौं कन्यादान
हरि रे किसन कैसें तिरयऔं।
साजन न झुलमे द्वार, हरि रे किसन कैसें तिरयऔं।
काये के कारन गऊ दई, काये के दीये गऊदान,
पार के काजे गऊ दई, और तरन कूंदये गऊदान
हरि रे किसन कैसे तिरयऔं।

संस्कार के गीतों के अध्ययन से हमें ब्रज के समस्त रीति-रिवाजों का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभूमि का एक-एक स्थल कितना रमणीय और प्रेरणाप्रद है। विवाह तथा सावन के प्रेमभाव परक गीतों की रस माधुरी से उद्भुत अगम रस प्रवाहमयी स्रोतस्विनी में स्नान कर लेने के लिए हृदय विवश हो उठता है। ये परमभाव परक गीत विविध अन्य अवसरों पर भी गायें जाते हैं। कहीं ससुराल स्थित पुत्री के हृदय में सावन मास की तीज एवं श्रावणी––रक्षाबन्धन आदि पर्वों पर माता-पिता, सखियों आदि के प्रति उफनता स्नेह, कहीं वर्षाकालीन रसोन्माद के वशीभूत प्रवासी प्रिय की नायिका के हृदय में उमड़ता मधुर भावसिक्त अनुराग, कहीं सुगृहिणी के मन में अपने कुलजनों के प्रति संजोया प्रेम तो कहीं वात्सल्याधिक्य से अभिभूत उमड़ा माता के हृदय का स्नेह तो कहीं बहन के हृदय में जन्मतः संजोया स्नेह अवसर पाकर उमड़ पड़ता है––हृदय की निर्भयता की सहज अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। वस्तुतः सत्यानुभूति से पूर्ण भावयुक्त स्नेह व्यापार का आभास माता-पुत्री, अथवा भाई-बहनों के प्रेमपरक गीतों में ही हो पाता है। कारण कि पति-पत्नी का प्रेम तो एक प्रकार से स्वार्थमय रहता है और दूसरी ओर बहन-भाई का प्रेम सहज, स्वाभाविक तथा निःस्वार्थ होता है। श्रावण मास वस्तुतः अत्यन्त ही रसमय होता है, आगमन होते ही ब्रजभूमि जन-मानस के भावोद्रेकाधिक्य के कारण वाणीमय हो उठती है। नवजल-धरों के नवबूंदों से उच्छ्‌वसित रसधार से स्नात धरती नव नवीन आनन्दोन्माद की सृष्टि करने लगती है। ग्रीष्म तापतप्त वृक्ष समूहों पर नव हरीतिमा बिखर जाती है और नव जलधारों से वे स्नान करने में असीम आनन्द का अनुभव करते हैं :

सावन रिमझिम मेहा बरसै जोर से झर लाइए,
हरियल बन में मोर बोलैं कोइल शब्द सुनाइए।
गेंदा हजारी रौसन खिलि रह्यो चम्पा खिल्यौ है हजार
बेला चमेली फूलौ मोतिया फूलौ हार सिंगार।
अजब सुगन्धी आली उडि रही, झुकी है कदम की डार।

यह सावन ब्रज के लिए एक प्रकार से गीतों का मास है। लोकगीतों में कथित यह चम्पाबाग है। चन्दनबाग, नौलखाबाग आदि नाम से विविध बागों का दर्शन इन लोकगीतों में मिलता है। ऋतु के ये शोभामय व्यापार जब अपनी रसोन्मादकता के कारण मयूरों का केकीरव, कोकिल की कूक और नभ में उमड़ते नव-जलधरों की उमड़-घुमड़ सहृदय रस-रसिकों के हृदय को आन्दोलित किये बिना नहीं रहते। प्रवासी नायक की प्रिया इस पावस के रसमय वातावरण से वियोग की गहन अनुभूति के कारण कल्पना करती है––**कारी सो आई बादरी झकझल्लरि आयौ मेह। बरसै असाढ़ो मेहरा एजी इत बालम परदेश।** प्रिय का सिर जलार्द्र हो रहा होगा, उसकी पाग से कुसुम्मी रंग चूने लगा होगा। उसे वियोग असह्य हो रहा है। वह प्रतीक्षा करती रही, छप्पर पुराने पड़ गये, बांस तड़कने लगे पर उसका प्रियतम नहीं आया। ऐसी स्थिति में वह भी जोगिनि बन जाने का निश्चय कर लेती है :

कौने बजाई बीजां बांसुरी, कौने री गाई ये मल्हार,
एरी सखी सैया राजा जोगी है गये हमऊं जोगिनि है री जाई,
जोगिरा बजाई बीजां बांसुरी जोगिनि नेगाई मल्हार।
चम्पा बी बोये चमेली बी बोये ढिग ढिग बोये ये अनार,
एरी सखी राजा जोगी है गये सरप ने छोडी चम्पा कांचुरी,
नदिया में छोड़्यौ ऐ किनार,

ए री सखी राजा जोगी है गये सरपु सम्हारी ऐ कांचुरी,
नदिया ने सम्हार्यौ किनार।

इस प्रकार योगी पति की पत्नी ने भी उसका अनुसरण कर लिया और पति ने उसका बारा यौवन सम्हाल लिया। कितना सुंदर भाव है। पति के निर्मोह की उपमा का सर्प की केंचुल और नदी के किनारे को त्याग देने की भांति कल्पित कर लिया गया है। किन्तु दूसरी वियोगिनी तड़पती ही रही और 'अंचर फारि कागज करूं, कोई उंगरी तराच कलम। नैनन की स्याई करूं कोई लिखूं संदेशो भेज।' वह संदेशा भेजने की ही कल्पना करती रही। पावस के इन गीतों में जहां रसिकों के मनोभावों का चित्रण मिलता है वहीं यत्र-तत्र कुछ विचित्र कल्पनाएं भी मिलती हैं। एक पावस गीत में वर्षा का वर्णन हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज के समर से उपमित करके किया गया है :

पडे रे हिंडोले नालख बाग में जी, एजी कोई झूलत रानी राजकुमार,
इत मघवा दल तौ चढौ जी, एजी उत कोई दल प्रिथिवीराज,
इत मघ घोरे नन्ही नन्ही घोर से जी, एजी कोई उत तोपन धधकार।
इत घन चमके मेरी आली बीजुरीजी, एजी उत चमकै कोई तरवार,
इत घन बरसै नन्ही नन्ही बूँदरी, एजी कोई उत गोलिन की बौछार,
इत बागन ब में गावत कामिनी, एजी कोई उत शूरन हुंकार,
नाम बतानो अपने वीर कौ जी, एजी कोई गाइके राग मल्हार।

स्त्री और पुरुष का प्रेम तो स्वार्थ के कारण ही प्रगाढ़ रहता है। किन्तु माता-पुत्री और भाई-बहन का प्रेम सर्वथा निश्छल पावन होता है। यही कारण है कि सावनी तीज आदि पर्व अथवा विवाह के अवसर पर बिदाई के समय के गीतों में करुणा, वात्सल्य और स्नेह का जो सागर उमड़ता है उसमें कौन सहृदय स्नान नहीं करना चाहेगा। विवाह के समस्त रीति-रिवाजों के समापनोपरान्त जब कन्या ससुराल के लिए प्रस्थान करने लगती है तो अत्यन्त ही हृदयद्रावक दृश्य उपस्थित हो जाता है। सभी दर्शकों की आंखों में गंगा उफन पड़ती है। जन्म से जिन सखियों, माता-पिता और भाई-बन्धुओं के साथ वह क्रीड़ारत रही वही कन्या आज परायी होकर जा रही है, यह सोचकर स्त्रियां पूछती हैं 'क्या हार गये।' गीत इस प्रकार है :

लाडी के बाबा जुअरा खेलिए,
बाकी दादी रानी पूछति बात,
कहा रे पिया तुव हारिए,
ए हम हारे नांए मुहर पचास,
हारे नांई रुपया डेढसौ
ए हम हारे हैं हिगयरा कौ जियरा राजकुमारि,
जिन्हें ई जुआ में हारिए।

इससे भी अधिक मार्मिक गीत यह है जब विदा के समय कन्या के माता-पिता भाई-बहनों का हृदय क्या-का-क्या होने लगता है :

औरे रे कौरे गुडिया ओ छोडी।
रोमत छोडी सहेलरीं।

अपने बबुल को देश छोड्यो, अपने ससुर के साथ चलौ,
लेउ बाबुल घर आपनो, छोटे बिरन पकर्यो रथ को डंडा।
हमारी बहन कहां जाय, छोडो बिरन मेरे रथ कौऊ डंडा।
अपनी पराये पराई अपनी, जे कलयुग व्यौहार,
फिर चौन बोलै दारी सौन चिरैया देखूं बबुल को देसु,
अपनौ कुटुम लै उतरुंगी, बाबुल, तिहारौ नगर सूबसु बसौ,
छिअर पनारि घर बाबुल आये, माइल आई,
माहे पै चितु जाई।
फटि फटि रे मेरे हिया बज्जुर के, धीअरि जमैया तौ गयौ,
धरुरी रित्यौ, अंगना रित्यौ,
मेरो सब दुख रिति गयौ पेटु,
मैं हा फिर नहिं जनमुँगी धीअ, मेरी धीअरि जमैयालै गयौ।
मेरौ घरुरी भर्यौ, अंगना भर्यौ,
मेरौ सबु सुख भरि गयौ खेत।
मेरौ बेटा बहुए लै आइए, मैं तो नित उठ जनमूँगी पूत,
मेरौ बेटा बहुए लै आइए।

इस प्रकार अनेक अवसरों पर ऐसे गीतों का स्वर लहराता है जब स्नेह मूर्त होकर प्रकट हो उठता है। सावणी तीज के अतिरिक्त 'भात' सम्बंधी गीतों में भी भाई-बहन के प्रेम का मार्मिक चित्रण मिलता है। भात एक प्रकार को वैवाहिक प्रथा है। बहन अपने पुत्र अथवा पुत्री के विवाह के अवसर पर अपने भाई को निमन्त्रण देती है। उसका भाई तमाम वस्त्र, आभूषण आदि लेकर इस शुभ समय पर उपस्थित होता है और उसके घरवालों को भेंट करता है। इस अवसर का एक मार्मिक ब्रज लोकगीत का मार्मिक कथ्य है : 'बहन जाती है अपने भाई को भात का न्योता देने। जब तक वह पहुंची उसका सगा सहोदर मृत हो चुका था। घर पर उसके बूआ और ताऊजात भाई मिले, उन दोनों ने उसका न्योता स्वीकार नहीं किया। वह निराश होकर अपने भाई को ढूंढ़ने चल पड़ी। सर्वत्र गयी, कहीं भी वह भाई न मिला। अन्त में वह सीधे श्मशान पहुंची। और उसने भाई को सुनाकर अपना निवेदन कहा। भाई जो प्रेत योनि में एक वृक्ष पर निवास करता था, बहन की वाणी सुनकर आया और भात लेकर पहुंचने का वचन दिया, तथा अपने वचन के अनुसार यथा अवसर पहुंचा। गीत इस प्रकार है :

ए बैहनि चली एैं बीर कैं, और भले भले सगुन बिचारि,
मातु जौ नैतू अपने बीर कैं।
और मेलीनु बरघु लदाय मातु नौतूँ बीर कैं,
बीर जब रे भैनि बागन आईं, और हरे री बाग सूखि जाय,
बीर जब रे बैहन तालन आई, औरु समंदु हिलोरे लेइ,
बीर जब रे बैहन सीमनु गई, और सीमन हरीहरी दूब,
बीर जब रे बैहन ड्यौढी गई, कुत्ता उठे एैं घुघुसाय।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि बहन जब घर से निकली और भाई के घर पहुंचते तक अपशकुन ही होते रहे। जब वह घर पहुंची :

औरु मिलि गये जी भूआ के जाये बीर,
भैना हम तौ री अपनी बे के बीर, अपनौ भैया कौ जायौ ढूढिलै,
बीर बाबुल मरि महुआ भये, औरु बीरन पीपर के पेड,
भैना लौटि जु आये घर आपनै, औरु आई ऐं तनमनु वारि,

वह लौटकर घर आई। अपने पति को साथ लिया और फिर साहस करके ढूंढ़ने निकली। सारे प्रदेशों में ढूंढ़ डाला, कहीं भाई नहीं मिला तो अन्त में वह श्मशान घाट पहुंची और कहा :

भैया जौ कहूं हौ तुम बैठिए, तौ भैना ऐ बोलु सुनाय,
भैया उतरि विरछ ते आइए,
भैना कब की री तैरौ माढ्यौ,
औरु कब कौ रच्यौ ऐ विवाहु,
हम लामैं तैरौ भातु जी।

भाई ने बहन को वचन दिया कि मैं आऊंगा, तुम मुझे बता दो कि कब माडौ और कब विवाह का मुहूर्त है। बहन ने उसे बताया 'भइया इकदिसया कौ ए माढ्यौ , और द्वैदसिया कौ ऐ ब्याहु।' बहन प्रसन्न मानस घर गयी और यथा समय भाई बहन की ससुराल पहुंचा। इस गीत में बहन का स्नेह मूर्तिमान होकर उपस्थित हो गया है। भाई-बहन के प्रेमभाव परक गीत ननद और भाभी के कलह और उलहनों में सुनायी पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त आश्विन मास में एक बार पुनः गीतों का स्वर गुंजरित होता है। समस्त लोकजीवन सांझी, झांझी और टेसू के गीतों से मुखरित होकर आनन्द की सृष्टि करता है। यह क्रम शरद्पूर्णिमा तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है। सांझी के गीत लड़कियां और टेसू के गीत लड़के गाते हैं। लड़कियां अपने घरों में गोबर से सांझी बनाती है और सायंकाल आरती उतारकर भाव-विभोर हो गीत गाती हैं। इन गीतों में लड़कियां सांझी माता से अपने भाइयों के लिए अनेक वरदान मांगती हैं।

ब्रज के लोकगीतों में अनेकशः अद्भुत कल्पनाओं और भाव-विभावों से पूर्ण चित्रण भी कम नहीं है किन्तु विषयान्तर होने से हम उसका विश्लेषण तथा उदाहरण देना उचित नहीं समझते। ●

भगवानदास तिवारी

'उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी' में वासन्तिक रास

महाकवि नंददास-प्रणीत भंवरगीत-सम्बन्धी पांचवीं शोध-योजना पर कार्य करने के लिए मुझे पूना विश्वविद्यालय द्वारा तीन सहस्र रुपयों का व्यक्तिगत शोध-अनुदान मिला। इस अनुदान की सहायता से महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान और मध्य प्रदेश में अनेक शोध-संस्थानों और निजी संग्रहालयों में भंवरगीत की हस्तलिखित प्रतियां खोजते-खोजते जब मैं वाराणसी पहुंचा तब मुझे वाराणसी के वयोवृद्ध साहित्यसेवी बाबू ब्रजरत्नदासजी के निजी संग्रह में 'निज' कविकृत उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी नामक एक बृहत हस्तलिखित ग्रंथ देखने को मिला। इस ग्रंथ के आरम्भ में कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :

संप्रदाय माधव मध्व आचारज,
गौडेश्वर कृष्ण चैतन्य महाप्रभू, अवतार धार।
जगत उधारन को पतितन तारन को,
श्री भट्ट गोपाल आदि शिष्य षट निरधार।।
जासु सीस राधारोन प्रगट भये हैं ब्रज,
सेवा को दई है राधारमनी गुसाईं तार।
सोई वंस अवतंस रहस बिहारीलाल,
तासु सुत निजदास रच्यो यह ग्रंथ सार।।
राधा रमन सु इष्ट मम, आचारज चइतन्य।
जाति द्विजन्मा गौड़िया, मध्व संप्रदाय जन्म।।
रासबिहारी जू पिता, परम भागवत धाम।
श्रीराधा गोविन्द मम, बड़े भ्रात को नाम।।
ए मेरे हैं मन्त्रगुरु, श्री राधागोविन्द।
बार-बार बंदउ सदा, चरन उभय अरविंद।।[1]

उक्त अवतरण से पता चलता है कि श्री कृष्ण चैतन्य गोस्वामी, राधारमणी रसिकबिहारीलालजी के पुत्र थे। श्री राधागोविन्दजी इनके अग्रज और मन्त्रगुरु थे। श्री कृष्ण चैतन्य गोस्वामी कविता में अपना नाम 'निज कवि' लिखा करते थे। ये संस्कृत, ब्रजभाषा, काव्यशास्त्र और ज्योतिष के अधिकारी विद्वान थे। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, गोस्वामी दंपतिकिशोरजी तथा मन्नालाल 'द्विज' आदि इन्हें गुरुवत सम्मान देते थे तथा पंडित अंबिकादत्त व्यास के पिता पंडित दुर्गादत्तजी व्यास, लोकनाथ चौबे और हनुमान कवि इनके सत्संग से लाभान्वित होते थे। गोस्वामी किशोरीलालजी इनके दौहित्र तथा शिष्य थे।

उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी में निजजी के जन्मसंवत, जन्मस्थान, शिक्षा-दीक्षा, निवास-स्थान और

---

[1] निज कवि कृत 'उक्ति जुक्ति रस कौमुदी', हस्तलिखित प्रति, पत्र १–२, छंद ३–६।

मृत्यु-तिथि का उल्लेख नहीं है, पर बाबू ब्रजरत्नदासजी का कथन है कि लगभग १५० वर्ष पहले गोस्वामी रसिक बिहारी लालजी काशी के गोलघर महाल में आकर बसे थे और मैदागिन पर वर्तमान जैन मंदिर के पूर्व की ओर इनका एक बाग था। निजजी का परिचय देते हुए बाबू ब्रजरत्नदासजी ने लिखा है कि गोस्वामी किशोरीलालजी का जन्म संवत् १९२२ वि० में हुआ था, अतः उनके मातामह की आयु उस समय कम-से-कम चालीस-बयालीस वर्ष रही होगी। इस प्रकार इनका जन्म संवत १८८० के लगभग आता है। राजा शिवप्रसाद का भी यही जन्मसंवत् है, जो इन्हें गुरुवत् मानते थे, अतः गोस्वामीजी का जन्म संवत् १८७० के लगभग मान लेने में कोई अनौचित्य नहीं है। इनकी रचनाओं की पाण्डुलिपि का काल संवत् १९३४ से १९३७ तक है। भारतेन्दुजी की पत्रिकाओं में इनकी स्फुट रचनाएं छपा करती थीं तथा बाद में उन्होंने इनकी विशद रचना का कुछ अंश पुस्तकाकार भी छपाया था। भारतेंदुजी का निधन संवत् १९४२ में हुआ, अतः इसी संवत् के आसपास गोस्वामीजी गोलोक सिधारे।[1]

उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी एक बृहदाकार ग्रंथ है, जो दो जिल्दों में बंधा है। पहली जिल्द में चार कलाएं और १४७ पत्र अर्थात् २९४ पृष्ठ हैं। इसमें प्रत्येक पृष्ठ का आकार ८"×१२.७" है। प्रत्येक पृष्ठ के मध्य में ४.८"×८.३" आकार की एक पीली फ्रेम है, जिसके बीच में पृष्ठ पर २३ पंक्तियां हैं और प्रत्येक पंक्ति में लगभग ९–१० शब्द हैं। पहली जिल्द का अंतिम पत्र क्रमांक १४८ कोरा है। दूसरी जिल्द में पत्र क्रमांक १४९ से २४४ तक १९२ पृष्ठों में बारह कलाएं दी गई हैं। इस जिल्द के प्रत्येक पृष्ठ का आकार ७. २"×१२" है। इसके मध्य में ४. ८"×८. ३" का फ्रेम है, जिसके बीच में प्रत्येक पृष्ठ पर २१—२२ पंक्तियां हैं और प्रत्येक पंक्ति में लगभग ८–९ शब्द हैं। सारा ग्रंथ एक ही प्रकार की हस्तलिपि में लिखा गया है। अंतर केवल इतना है कि पहली जिल्द की अपेक्षा दूसरी जिल्द के अक्षरों का आकार कुछ बड़ा है।

ग्रंथारम्भ में निज-वंश-वर्णन के उपरान्त कवि ने ग्रंथ-रचना और उसकी विषयानुक्रमणिका इस प्रकार दी है—

॥ अथ ग्रंथ प्रयोजनं ॥

बहु कवि की कविता विमल, लाषन कोटि कबित्त।
ताहू में जो जो अधिक, सुंदर बानी मित्त ॥८॥
तिन बानी हू में भली, भली चुटीली उक्त।
सो सब जुक्तिनु छांटि के, रच्यो ग्रंथ अभिजुक्त ॥९॥
लाषन कवि के कवित्त की, उक्ति जुक्ति को छांटि।
परम चुटीली ढूँढि निज, धरी ग्रंथ में सांटि ॥१०॥
उक्त कबिनु की जुक्ति कों, जुक्त करी इक ठाम।
उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, निज कवि राख्यौ नाम ॥११॥
सहसनि ग्रंथनि को सुरस, एक ग्रंथ बिच लेतु।
उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, यही प्रयोजन हेतु ॥१२॥[2]

---

१. 'श्री गौरांग'—संपादक– बाबू ब्रजरत्नदास, वर्ष ५, अंक २, अप्रैल १९६४, पृष्ठ २६–२७।

२. उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र १–२।

।। अथ ग्रंथ अनुक्रमणिका ।।

अब बरनौं या ग्रंथ को, सकल अनुक्रम रास।
उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, सोलह कला प्रकाश ।।१३।।
ग्रंथारंभन कैरवी, प्रथम काल को नाम।
मंजु प्रेम शाला रची, दुतिय कला अभिराम ।।१४।।
नाम सौंदर्य चंद्रिका, तीजी कला प्रमान।
दृग मंजूषा सुकवि निज, चौथी कला वषान ।।१५।।
भाव कुमुद अहलादिनी, पंचम कला अनूप।
नव रस सरस चकोरिनी, छटी कला को रूप ।।१६।।
नायक इंदु प्रभा करी, सप्तम कला उजास।
नाम सु अष्टम कला को, है नायका प्रकास ।।१७।।
सर्व दूतिका दुति कला, नवमी करौं बखान।
नाम सुरति किरनावली, दसइं कला प्रमान ।।१८।।
षट रितु मंजु मरीचिका, कला इकादस नाम।
पांच कला करिकै कहौं, अलंकार गुन ग्राम ।।१९।।
राष्यो पांचहु कला को, निज कवि एकै नाम।
सु अलंकार छपा विषे, अलंकार गुन ग्राम ।।२०।।
उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, इमि सोलह अध्याय।
बरनी सोलह कला करि, कवि निजदास बनाय ।।२१।।[1]

सोलह कला-सम्पन्न इस ग्रंथ में ५२९५ छंद हैं। अलग-अलग कलाओं के अनुसार छंद-संख्या इस प्रकार है—ग्रंथारंभ कैरवी—४१९, प्रेम सुधाकर शाला—१०३७, सौंदर्य चंद्रिका नख-शिख—४१८, नेत्र मंजूषा—२७४, भावकुमुद आह्लादिनी—१९२, नवरस चकोरिनी—३८७, नायक इंदुप्रभा—३४७, नायिका प्रकास—८६८, सर्व दूतिका द्युति—२७५, सुरति किरणावलि—१७९, षटऋतु मरीचिका—३२७, अलंकारक्षपा—४३, दूषणवर्णन—२५, दूषणोल्लास दूषणसमाधान—३०, शब्दालंकार गुणालंकार—४०, अर्थालंकार—४९५। इनमें से भावकुमुद आह्लादिनी तथा सर्व दूतिकाद्युति का लिपिकाल क्रमशः संवत् १९२८ तथा १९३१ विक्रमाब्द दिया गया है। अलंकारक्षपा में वार्ता का अंश प्रचुर परिमाण में है। इस क्षपा में कुल मिलाकर २०० से भी अधिक अर्थालंकार दिये गये हैं, किंतु छंदशास्त्र पर कुछ भी नहीं लिखा गया। संपूर्ण ग्रंथ में दोहा, सोरठा, कवित्त और सवैया छन्दों का प्राचुर्य है तथा बीच-बीच में कवि ने वार्ताओं द्वारा काव्य की बारीकियों पर प्रकाश डाला है।

इतना सब कुछ होने पर भी ग्रंथ प्रयोजन में दी गई कवि की सूचना के अनुसार उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी 'लाखों-करोड़ों' कबितों' में से चुनी हुई रचनाओं का संकलन नहीं कहा जा सकता और न वह 'लाषन कवि' के कवित्त या 'सहसन ग्रंथन' को सुरस ही है। ये सभी संख्यावाचक विशेषण सही नहीं हैं। वास्तव में यह ग्रंथ कवि की सुदीर्घ संकलन-साधना और सुरुचि का द्योतक मात्र है, जिसके आधार पर यह

---

[1] उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र—२।

कल्पना की जा सकती है कि निजजी ने बड़े परिश्रम से केशवदास, कालिदास, बनवारी कवि, ग्वाल कवि, आनंदघन, गुसाई दयालदास, आलम, नाथ कवि, गुलाब कुंवर, पद्माकर, नूर कवि, मोहन कवि और बेनी आदि की रचनाओं को अत्यन्त मनोयोग से पढ़कर अपनी आवश्यकता के अनुसार उन्हें संकलित किया है, अत: संकलन की दृष्टि से उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी कालिदास-हजारा की परंपरा की रचना है। फिर भी यहां यह बात स्पष्ट कर देना अत्यंत आवश्यक है कि निजजी केवल संकलनकर्ता ही नहीं, उच्च श्रेणी के भावुक कवि और रीतिकालीन काव्य-परंपरा के आचार्य भी थे। उनकी उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी में लगभग पचास प्रतिशत काव्य उनका अपना है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से यह रचना काव्य के विविधांगनिरूपक रीतिकालीन ग्रंथों की श्रृंखला की भारतेंदुकालीन कड़ी है। ग्रंथारम्भ में कवि ने विविध देवी-देवताओं की, श्री राधारमणजी की, शुकदेवजी आदि की वन्दना के बाद यमुनाजी[1] तथा गंगाजी की अष्टोत्तरियां[2], इष्टमूर्ति बाईसी[3], त्रिवेणी तैंतीसी[4] लिखी हैं। ये सभी ग्रंथारम्भ कैरवी में हैं, जिन्हें भारतेंदु बावू हरिश्चंद्र ने संवत् १९२४ में 'कवि-वचन सुधा' (वर्ष १) में प्रकाशित किया था और फिर संवत् १९२६ में इसे लीथो में पुस्तकाकार भी छापा था।

गंगा अष्टोत्तरी में गंगा का माहात्म्य वर्णन देखिए--

पापी आयो कूल तव, मेटन को भव सूल।
गंग कौन सो ढंग यह, बकस्यो ताहि त्रिशूल।।
गंग कूल भूले मर्योउ, जम की सुनी न बात।
बाबा भयो गनेश को[5], दे दिनेस-सुत[6] लात।।

इसी तरह त्रिवेणी तैंतीसी में कवि ने त्रिवेणी-संगम की महिमा गाई और अंत में कवि ने कामना की है कि--

बेनी जू सों सुकवि निज, चहत तीन वरदान।
हरि की भक्ति, समीप गति, इज्जत सहित पयान।।[7]

कवि की उक्त कामना उसके भक्तिभाव का निदर्शन करती है।

दूसरी कला प्रेम-सुधाकर शाला या प्रेमसुधाशाला है। इसमें प्रेम के स्वरूप, पात्र, पंथ, भेद, विरह आदि का विशद वर्णन किया गया है। प्रेम के स्वरूप की मीमांसा करते हुए निजजी कहते हैं--

आदि अंत जाको न कछु, रह्यो एक रस पाग।
बीच न लैस निमित्त को, सो अभंग अनुराग।।

---

[1] उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, प्रथम कला, पत्र ३-८, छंद ४७-१५४।

[2] वही, पत्र ११-१५, छंद १७९-२९१।

[3] वही, पत्र ८-११, छंद १५५-१७८।

[4] वही, पत्र ११-२०, छंद २९२-३३६।

[5] गनेश को बाबा अर्थात शिव।

[6] दिनेस-सुत अर्थात सूर्य का पुत्र यमराज।

[7] उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र २०, छंद ३३६।

रहन देत न आन रस, इहै प्रेम की टेक।
हित को सहज सुभाव है, करत दोइ तें एक॥[१]

सच्चे प्रेमी के सम्बन्ध में निजजी का कथन है कि

प्रीतम चाह अवां अगिनि, जाको घर पकि जात।
निज कवि सोई हिए में, प्रेम अमी ठहरात॥[२]

प्रेमपंथ के पथक की आन्तरिक अतृप्ति का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

अंग अंग सब मिलि रहे, मन सों मन अरुझाइ।
प्रेम पंथ अटपट अहो, कबहुं न चित्त अघाइ॥[3]

इसके बाद प्रेमपंथ पर मर मिटने वाले उन प्रेमियों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें कबीर या जायसी आदि ने मरजीवा कहा है। निजजी के शब्दों में मरजीवा के प्रमाण हैं :

सती, सूर, चातक, मकर, मधुप, हंस, कपि हर्न।
मकरी, सूआ, सर्प, निधि, दादुर, गोहनि वर्न॥
सीप, चकोर, दूध, जल, भृंगी, मीन, कपोत।
सुरभी, पोन, पतंग इमि, बहु मरजीवा होत॥[४]

इन मरजीवों का परिचय उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी में बड़े सरस ढंग से दिया गया है।[५] प्रेमियों के विवेचन के बाद कवि ने प्रेम-तत्त्व का द्विविध विश्लेषण किया है :

प्रेम जु नर नारीन को, सो संसारी जानु।
भक्तन को भगवंत सों, परमारथी बषानु॥[६]

भगवद्रति परमार्थी प्रेम है। महर्षि नारद ने जिस प्रकार भक्ति को परमप्रेमरूपा[७] कहकर आदर्श प्रेम-कर्त्री के रूप में 'यथा व्रजगोपिकानाम्'[८] प्रमाण दिया है, उसी तरह निजजी ने भी कहा है कि

प्रेम प्रकार अनेक विधि, तिनमें उत्तम भांति।
अद्भुत प्रीति गोविंद की, जिनके उर झलकांति॥
सो यह प्रेम विलोकि निज, श्री वृजवनिता मांहि।
जिन विच अंतर निमिष को, होत जु कबहूं नाहिं॥[९]

निजजी के मत से जिस प्रकार शास्त्रज्ञान के लिए ककहरा पढ़ना आवश्यक है, उसी प्रकार परमार्थी

---

१. उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र २७, छंद ९, १२।
२. वही, पत्र २७–२८, छंद २०।
३. वही, पत्र २८, छंद २८।
४. वही, पत्र २८, छंद ४१–४२।
५. वही, पत्र २८ से ३२ तक, छंद ४३–१२८।
६. वही, पत्र २८ से ३२, छंद १२८।
७. देवर्षि नारद रचित भक्तिसूत्र, गीताप्रेस गोरखपुर संस्करण, पृष्ठ २०, श्लोक २।
८. वही, पृष्ठ ४५, श्लोक २१।
९. उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र ३३, छंद १४३–१४४।

प्रेम की उपलब्धि के लिए सांसारिक प्रेम प्रारम्भिक सोपान स्वरूप है। प्रेम के उभय पक्ष मुक्तिमार्ग के साधन हैं:

संसारी परमारथी, द्वै विधि को यह प्रेम।
दुहूं भांति सों देत है, महामुक्ति गति छेम॥
संसारी ही प्रेम सों, परमारथी पिछान।
बिना ककहरा पढ़े नहिं, होत शास्त्र विज्ञान॥[1]

इसके उपरान्त निजजी ने बड़ी बारीकी से प्रेमियों की दशा के भेद किये हैं। उनके ही शब्दों में—

प्रेमीनु की दसा के भेद अनेक॥ अभिलाष॥ श्रवण॥ उत्कंठा॥ दरसन॥ लज्जा॥ प्रेम॥ चिंता॥ गुप्त॥ अगुप्त॥ संकल्प॥ विकल्प॥ स्मृति॥ स्तम्भ॥ स्वेद॥ रोमांच॥ सुरभा॥ कंप॥ वैवर्ण॥ अश्रु॥ प्रणय॥ गुण॥ हर्ष॥ ईर्षा॥ विमोह॥ अपस्मार॥ उद्वेग॥ वस्तु॥ देश॥ काल॥ प्रलाप॥ स्नेह॥ ज्ञान॥ वैराग्य॥ उपदेश॥ संसय॥ विभ्रम॥ निश्चय॥ उन्माद॥ मद॥ मोह॥ विस्मरण॥ विक्षेप॥ विमोह॥ जड़ता॥ व्याधि॥ संताप॥ अत्यंत॥ पश्चात्ताप॥ मूर्छा॥ मरण॥

उक्त विश्लेषण प्रेम की दस दशाओं में समाहित किया जा सकता है। निजजी ने अभिलाषा के पांच भेद, यथा श्रवण, दर्शन, उत्कंठा, लज्जा और प्रेम तथा दर्शन के तीन उपभेद स्वप्न, चित्र तथा साक्षात दिये हैं। साक्षात दर्शन के चमत्कार का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि—

गोरी, गरबीली लषी, गजगामिनि उह बाल।
वा दिन तें ता गली के, भए गुलाम गुपाल॥[2]

गुपालजी गजगामिनि गरबीली गोरी के गुलाम नहीं, उस गली के गुलाम हो गये, जहां उन्हें उस सुंदरी का साक्षात्कार हुआ था। उक्ति का यह कौशल निजजी की अपनी विशेषता है।

उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी में प्रेमियों की पूर्वोक्त दशाओं का वर्णन ३११ छन्दों में किया गया है।[3] इस प्रकार से प्रेमतत्व, प्रेमी जन और उनकी प्रेमदशाओं के विधिवत् वर्णन के बाद निजजी ने लगभग ५०० से अधिक छन्दों में श्रीमद्भागवत के भ्रमर-गीत प्रसंग के आधार पर उद्धव-चरित की अत्यन्त सरस एवम् हृदयहारी रचना की है।[4]

निजजी के उद्धव न तो सूर के उद्धव की तरह मौन श्रोता और न नंददास के उद्धव की तरह भारी विवादी और शास्त्रार्थी ही हैं। निजजी के उद्धव अधिक मानवीय धरातल के प्राणी हैं। वे व्रज में गोप, गोपी, राधा, नंद, यशोदा आदि की वियोगावस्था तथा कृष्ण-प्रेम की महिमा से परिचित हो उन्हें केवल सांत्वना ही प्रदान नहीं करते, अपितु मानवीय संवेदनाओं से ओत-प्रोत हृदय से गोप-गोपियों से यह भी कहते हैं कि—

अहो सकल धीरज धरो, सपथ करों में सांच।
लाय मिलाय मुकुन्द कों, हरहुं विरह की आंच॥[5]

---

१. वही, पत्र ३३, छंद १५०।

२. वही, पत्र ३५, छंद १७९।

३. वही, पत्र ३७ से ५५ तक, छंद २१५ – ४७८।

४. वही, पत्र ५६ से ८५ तक, छंद ४९६ – ८८३।

५. उक्ति जुक्ति रस कौमुदी, हस्तलिखित प्रति, पत्र ७८, छंद ७७१।

उद्धव के मन पर गोपियों की प्रेमदशा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि---

निज जू सुकवि ब्रज छोड़िबो न भावे ऊधो,
चराचर कृष्ण महं पेखि अनुरागे हैं।
समाधान करि बनितान को सुजान मति,
भान की कुमारीजी के पायं पुनि लागे हैं॥
आज्ञा लेइ हरि की प्रियानि तें चढ़े हैं रथ,
सफल संदेस धारि द्वैत रस पागे हैं।
प्रेम में मगन भूलि गये ब्रह्मज्ञान सबै,
आये तो हैं गुरु होन चेला होइ भागे हैं॥[1]

मथुरा पहुंचने पर उद्धव ने जब कृष्ण से पुनः ब्रज जाकर गोपियों की वेदना के हरण के लिए आग्रह किया तब कृष्ण कुछ दिनों के लिए मथुरा से ब्रज आये और उन्होंने विरह-विदग्धा गोपियों के साथ पुनः वसन्त ऋतु में रासलीला की। वासन्तिक रास की परम्परा में निजजी ने रासलीला के बीच राधा और कृष्ण के एकान्त मिलन के प्रसंग पर ऋभूपाख्यान जोड़ युगलोपासना की महत्ता को पराकाष्ठा प्रदान की है, जो उनकी अपनी मौलिकता है। कृष्णकाव्य की समस्त रास परम्परा में निजजी का यह वासन्तिक रास एक विशिष्ट महत्व रखता है, अतः विद्वज्जनों के अध्ययन, मनन और चिंतन के लिए हम उसे मूल रूप में ही यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। उद्धवजी के आग्रह से, उनकी सपथ की लज्जा रखने के लिए कृष्ण जब मथुरा से ब्रज आये तो उन्होंने नंद, यशोदा, गोप-ग्वाल, गोपियों आदि को पुनः मनवांछित सुख प्रदान किया।

बसे कछुक दिन मित्र जुत, नंदगाम घनस्याम॥
पारंगत सब ही भए, लह्यो ग्यान सुषधाम॥९५४॥
सुंदर फागुन मास की, राका निसि सुष दैंन॥
रच्यो रास रस सरस हरि, श्री वृंदावन अेंन॥९५६॥
निज कवि कथा पुनीत वर, सो अब वरनहुं गाइ॥
क्रीड़ा रास विलास सुष, अति संक्षेप जताइ॥९५६॥

इति श्री राधिकादि ब्रजभक्त समागमं। अथ गर्गोक्ति ऋभूपाख्यानं॥ तत्रादौ वासंतिक रासक्रीड़ा लिष्यते॥

महाभक्तवत्सल प्रिया, राधे भानुकुमारि॥
कह्यौ स्याम ते अहो पिय, ए सिगरी व्रजनारि॥९५८॥
मो सुष सुष मो दूष दुषी, मो में प्रेम अदोष॥
इर्नाहं कृपा करि तोषिये, दै अनोषिये पोष॥९५८॥
अनुसासन लहि प्रिया कौ, रच्यौ रास रस अेंन॥
एक कलप की रैंन करि, विहरत भए सुषैंन॥९५९॥

कबित---फागुन सिसिर ससि उदित प्रकासमान अवनि अकास भासमान लौं॥
निजजू सुकवि बृज कानन पुतिन चारु चांदनी तनी है चामीकर की वितान लौं॥

---

१. वही, पत्र ८३, छंद ८३७।

कोटि कोटि मदन वसंतनि समंत सोभा, वनराज संपति विलोकि अंषियांन लों।।
वृंदावन चंद श्री गुविंद लै बजाई वंसी, मन सषियान के हैं उड़े पषियांन लों।।९६०।।
निज कवि बंसीधर मुरली अधर धारी, सारी ब्रजनारिन में फेर सोर पार्‌यो है।।
सागर को उमड़ि चली हैं सरि, नागरि वे सुत पति लाज गृह काज को विसार्‌यो है।।
ता सवाद लेन के प्रकासमान चीर चारु हीरनि के भूषन सों सिष नष सिंगार्‌यो है।।
सैकरान जूथ गोपी गोपीगन को बरूथ धायो आयो वीच पुलिन श्रीगुविंद कों निहार्‌यो है।।९६१।।
वेनु धुन लसी व्रज कोस असी चार बीच सुनि सुनि आई बाल धाइ नंदलाल पें।।
राधापति राधाजुत गोपिन समेत अति लसे रास मंडल में निर्तत तिताल पें।।
उघटें संगीत ताता थेइं तत थेइं, कहि गावत प्रबन्ध गीत नाना राग चाल पें।।
जेती ब्रजबाल तेते रूप ह्वै गोपाल लाल रच्यो है रसाल ष्याल वृंदावन भाल पें।।९६२।।
उदित अषंड चंद्र मंडल छिटक प्रभा जमुना तटक भूमि फिटक सरे सर की।।
रास को नटक कामनीन को कटक नृत्य सौरभ झटक पट कुचनि के सरकी।।
गुटक मृदंग की पटक पग नुपूर की षटकत तांन निज बांसुरी के से सर की।।
चोटी की सटक सीस मुकुट लटक कान कुंडल चटक औ मटक नकबेसर की।।९६३।।
बीच बीच गोपिन के सोभित गुविंद केसें जैसे रति संग सोहें रतिपनि चमाचमी।
कैधों मेघ चंचला को चक्र प्रति चक्र घूमें कैधों सची संग अंकित झमाझमी।।
बाजत मृदंग ताल पायल औ वेनु वीन गावत प्रवीन राग रागिनी दमादमी।
राधा वृजचन्द निज वृंदादिक वृंद संग आज रास मंडल में नांचत छमाछमी।।९६४।।
निजजू सुकवि भीर नभ में विमानन की देव वधू देषि देषि भइ हैं मन चंचला।
गिरत विलोकि लोकि लोकि ले ले भजें सुर, मदन विवस तजें उरज के अंचला।।
एक एक बाल विच ललित त्रिभंगी लाल पदन्यास वाजि रहे नूपुर छं छं छला।
अंग प्रति अंग गोपी गोविंद सुधंग सोभा, संग संग भ्रमै मानो मेघ चक्र चंचला।।९६५।।

दोहा ।। इमि ब्रज वन उपवन पुलिन, विलसत विपुल समाज।।
षेलत रास विलास वर, आए श्री गिरिराज।।९६६।।

सोरठा ।। श्री हरि कृपा निकेत, तहं तोषीं ब्रजवाम सब।।
सुरति सरस रस देत, वन उपवन गिरि कंदरनि।।९६७।।

कबित।। सैंकरान जूथ सुंदरीन को वरूथ तहां, गर्वित विलोकि कोटि कोटि व्रज अंगनान।।
निज रसराज महाराज भगवान तभी चाहत मनायौ संग सभी माननी को मांन।।
राधाजू सहित भए तहां ते अंतरहित कढ़े तीन जोजन पे रोहित अचल भांन।।
देषि चारु चंदन सुगंधित कनक लता ललित निकुंज मंजु विहरें कृपानिधान।।९६८।।

दोहा।। रमत रमत अति श्रमित ह्वै, निज श्री जुगल किशोर।।
निकसे निविड़ निकुंज तें, चले सरोवर ओर।।९६९।।
ताही रोहित गिरि विषै, ऋभु ऋषि आश्रम एक।।
सुंदर बाग तड़ाग छवि, मृग पंछीनु अनेक।।९७०।।
सो श्री बद्रीनाथ कृत, देव सरोवर नाम।।

पुंडरीक अलि मीन जुत, सोभित अति अभिराम ।।९७१।।
कबित ।। मंडित सहस दल कमल पराग गंध संकुलित भौंर भीर त्रिविध समीर है ।।
सरस चकोर हंस मोर कल कोकिलादि अति रमनीय ता सरोवर को तीर है ।।
तहां रिभु महामुनि नांगे एक पग ठाढे करहिं तपस्या ढक्यो लता सों सरीर है ।।
कृस तन तेजमान मगन जुगल ध्यान तिन्हें लषि हंसी राधे कहैं को फकीर है ।।९७२।।
दोहा ।। हंसत देषि निज पिया को, बोले कृपानिधान ।।
जुगल भक्तवर यह रिषी, याहि न हंसहु सुजान ।।९७३।।
कबित ।। राधे यह छाछट हजार दिव्य वर्षनि तें बिना अंन जल ठाढो तुम हेतु एक पाँम ।।
याहि जिन हंसो निज परम जुगल भक्त यों कहि पुकारे हरि ले ले कै रिषी को नाम ।।
हे रिभू अहो रिभू तऊ न सुनी महामुनी ध्यान परिपूरन अस्था में मगन धाम ।।
तव भगवान ऋषि ध्यान तें अलष भए षोली है पलक रिभु लष परे राधा स्याम ।।९७४।।
दोहा ।। अंतराय पल एक को, रिभुहि निरन्तर नाहिं ।।
तहां नेक अंतर परत, क्यों न नेन षुलि जाहिं ।।७९५।।
कबित ।। नैनन के षोलत ही रिषि ने लषे हैं ठाढ़े अंस भुज दीने स्याम छबिधाम हैं ।।
मानो मेघ दामिनी के सहित दसों दिसि को करत प्रकास लाजें कोटि रति काम हैं ।।
पुलकित देह दृग नेह जल पूरें निज जुगल चरन बीच कीनी परनाम हैं ।।
देह कें प्रदच्छना कों अच्छ तें प्रतच्छ पेंषि गदगद गिरा बोले रिषि अभिराम हैं ।।९७६।।

।। रिभु वाक्यं ।।

छंद ।। जय कृष्ण कृपानिधि नौमि पदं ।। श्री कृष्णा चरण सरोज हृदं ।।
रासेश्वरि जय रासेस वरं ।। जय परिपूरन प्रभु पूर्नतरं ।।
लीलावति जय लीलादि तनं ।। रमनी हरि जै राधा रमनं ।।
जै राधा माधव ब्रह्म परं ।। गो लोक सदा कल केलि करं ।।
जै देवि देव अखिलांड पते ।। जय कोटि कोटि ब्रह्मांड पते ।।
जै भक्त वछल भू भार हरं ।। जै गोप किशोरि किशोर तरं ।।
जै स्यामा स्याम सरूप कृतं ।। जै जै छवि कोटि मनोज हृतं ।।
जय संधित विग्रह स्यामसितं ।। रिभु धन्य अद्य तव सन्निहितं ।।९७७ ।।
दोहा ।। निज कवि रिभु ऋषि हरष जुत, इहि विधि अस्तुति गाइ ।।
जुगल चरन को पकरि कें, आंसुन दिये भिगाइ ।।९७८।।
कबित ।। प्रेमानंदकंद में अनंदित महामुनि न्यौछावर प्रान वारि फेरि करि दीने हैं ।।
दस मारतंड सम जोति पिंड में तें कढि चहूं ओर घूंमि लीन हरि अंग भीने हैं ।।
अैन मैंन आपुनो सरूप दै मुनीसुर कों फेरि निज वपु तें प्रगट हरि कीने हैं ।।
भक्तवर कियौ प्रेम लक्षणा सुभक्ति पेंषि स्यामां स्यामजू ने नेंन नीर भरि लीने हैं ।।९७९।।
सवैया ।। कृष्ण सरूप कों पाइ महामुनि कोटि कंदर्प के दर्प लजाए ।।
श्री हरि सीस पै हाथ धर्यौ निज बाहु भरे अरु कंठ लगाए ।।
त्यौं निजजू द्विज देइ प्रदच्छना राधिका माधव कों सिर नाए ।।

बैठि विवाँन दिसान प्रकासत देषत ही गऊ लोक सिधाए ।।९८०।।
दोहा ।। रिभु को देषि विचित्र गति, प्रेम वारि भरि नैंन ।।
विस्मित ह्वै श्री राधिका, बोली हरि प्रति वैंन ।।९८१।।
कबित ।। निजजू तिहारे ए तो वेह मतवारे भक्त कठिन तपस्या रिषि शारदूल कीनी है ।।
जिन हित प्रेम नीर नैंननि तैं ढारे पुनि मुनि कों सायुज्ज कैं सरूप गति दीनी है ।।
मंजु तप तेज पुंज वपु दीपे यातैं देह की क्रिया हू पिया क्यों न करि लीनी है ।।
दुष के विनासक हौ सुष के प्रकासक हो आसक के काज कहां कहाँ नहिं भींनी है ।।९८२।।
दोहा ।। यौं राधे के कहत हीं, रिभु वपु अति तप धाम ।।
रोहित गिरि पै नदी भो, पाप नासिनी नाम ।।९८३।।
कबित ।। ताकी देह जल रूप देषि वृषभानजा जू विस्मित ह्वै बूझैं निज प्रीतम तैं वानी हैं ।।
अहो प्राननाथ या मुनीसुर को अंग यह साँच कहो प्यारे क्यों बह्यौ जो होइ पानी हैं ।।
हे राधे तो जुत मुनि मो जुत दरस पाइ ताही के हरष देह द्रवता कों ठाँनी हैं ।।
प्रेम लच्छना की यह देषो तो परावधि कूँ प्रीत के प्रताप की पताका फहरानी हैं ।।९८४।।
दोहा ।। हे प्यारी जैंसे प्रथम, हम द्रवता कों पाय ।।
द्रवीभूत तैंसे यहू, भयो महामुनिराय ।।९८५।।
कबित ।। प्यारीजू तिहारे भय विरजा द्रवी है जैंसे गऊ लोक माँहि नदी रूप ह्वै सुहाई है ।।
बाकी जे सुताहू सब सरिता भई हैं जिमि विष्णुरूपी नदी जैंसे जमुना कहाई है ।।
वेनी सिव रूप अज रूप ज्यों ककुद्मिनी है, अपसरा आदि गंडकी ज्यौं छवि छाई है ।।
सरसुती सरिता त्यों रिभु ही की देह राधे प्रेम की परावधि तें द्रवता कों पाई है ।।९८६।।
।। राधिका वचन ।।
दोहा ।। तुम क्यों ब्रह्म द्रव भए, त्रिपथ गामिनी गंग ।।
ये सब क्यों सरिता भईं, ताको कहौ प्रसंग ।।९८७।।
।। हरि वचन ।।
दोहा ।। हे राधे पूँछें भले, बड़े कथा को गंज ।।
गीत घने थोड़ी निसा, फूलन लागे कंज ।।९८८।।
ग्रंथभार भय नदिन को, कह्यो न प्रादुरभाव ।।
अब वरनों हरि चरित वर, पूरन प्रेम सुभाव ।।९८९।।
कबित ।। रिभुजू के आश्रम सों बाहर निकसि हरि रोहित अचल तें गुवर्धन में आए हैं ।।
राधेजू सहित पुनि मालती सघन वन करत विहार ब्रज पुलिन सिधाए हैं ।।
विरह विकल सब वनिता विलोकी तहाँ प्रगट भए हैं निजदरस दिषाए हैं ।।
वीजुरि सी वामनि ने स्याम घन घेरि लीनें, जेती वाल तेते नंदलाल छवि छाए हैं ।।९९०।।
कबित ।। मान औ गुमान गंई भूलि वनितान जूथ प्रांनपति करुना निधान कों विलोकि कें ।।
दामिनी सी भामिनी मिली हैं घनस्यामजी सों जैसे रंक निधि पाय दौरि लेत लोकि कें ।।
नजजू सुकवि छबि मुकुट समूहनि की चंदमुखी जूथनि की उपमा अलौकिकैं ।।
मानो ससि सूरज असंख्य एक संग उदै मेघ चंचला पे चढ़े घूमि रहे झोंकि कें ।।९९१।।

कबित ॥ दूजो निज बंसी नाद किए हैं अनाद प्रभु पूरि गई धुनि त्यौं त्रिलोकी मोहि डारी है ॥
उडिवो विसरि पंछी तरु तें ढुरकि परें तंभित भुजंग औ कुरंग गति हारी है ॥
भए वेग रहित सरित सर सागर हुं, अचल समीर, गिरि द्रवता को धारी है ॥
मुरछित छित पैं परी सी सुंदरी हैं परी मौन धरी देव रवि चाल कों विसारी है ॥९९२॥

दोहा ॥ जड़ हू जहं जड़ता लही, चर की कहा वसाय ॥
निद्रावस सब जग भयो, बंसी बड़ी बलाय ॥९९३॥
इमि राधापति रास रस, विलस मनोरथ सारि ॥
कोटि कोटि ब्रज सुंदरिनु, गरव काम को गारि ॥९९४॥

सोरठा ॥ लषि पियरी यह प्रात, नंदगाँम गमने प्रभू ॥
लै सुंदरिनु विभात, राधे भाँन भवन गँइं ॥९९५॥

इस वासन्तिक रास के समाप्त होने के बाद भगवान कृष्ण बहुत दिनों तक ब्रज में रहे और इसके बाद

दोहा ॥ वसि बहु दिन ब्रज में प्रभू, भक्त मनोरथ पूर ॥
पुनि मधुपुर हित मन कियो, ब्रज के जीवन मूर ॥९९६॥

मथुरा लौटने के पूर्व भगवान कृष्ण ने ब्रजवासियों के अपूर्व प्रेम भरे वचन सुन अपने प्रत्येक प्रेमी भक्त को यह आश्वासन दिया कि—

ब्रज भक्तन के बैन सुनि, बोले कृपानिकेत ॥
मांस मांस प्रति आइहों, अवसि तिहारे हेत ॥

निजजी ने श्रीमद्भागवत के रास प्रसंग के गोपीविरह-वर्णन और कृष्णान्वेषण-प्रसंग को उक्ति-जुक्ति-रस-कौमुदी में युगल-स्वरूपोपासक ऋभु के मोक्षदान प्रसंग से स्थानापन्न कर वासंतिक रास लीला को नये ढंग से पल्लवित करने में अपनी अद्भुत सूझ और कल्पना शक्ति का चमत्कार दिखलाया है। आशा है—भविष्य में रास-रस-के खोजी इस वासंतिक रास की उपलब्धियों पर विचार करेंगे। ●

५. ब्रज के सौन्दर्य-प्रसाधन

राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

रीतिकालीन कविता : सौन्दर्य प्रसाधन

बौद्ध धर्म का जन्म निवृत्ति मूलक ब्राह्मण संस्कृति की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ और विशेषता यह रही कि वह पूर्णतः निवृत्तिमूलक की बना रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण संस्कृति के द्वितीय उत्थान के अन्तर्गत प्रवृत्तिपरक भावनाओं एवं विचारों का अपेक्षाकृत अधिक महत्व हो गया और राजन्य संस्कृति अथवा क्षत्रिय-संस्कृति का

उदय हुआ जो मूलतः प्रवृत्तिमूलक थी। ब्राह्मण संस्कृति-काल में विरचित ग्रंथों में प्रवृत्तिपरक जिन वृत्तियों का समावेश सूत्र भर किया गया था, वे क्षत्रिय संस्कृति में पूर्ण विकास को प्राप्त हो गईं। क्षत्रिय संस्कृति के उदय के फलस्वरूप दैनिक जीवन में भौतिक सुखों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। ये राजा तपस्वी ब्राह्मणों के शासन से स्वतंत्र ही नहीं हो गये, अपितु तपोवनों में रहने वाले साधु-सन्तों को भी अपनी ओर आकर्षित करने लगे। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार सामान्य नागरिक भी भोग-विलास की सामग्री संगृहीत करने में संलग्न हो गया। त्याग-तपस्या का स्थान कलापूर्ण विलासिता ने ले लिया।

सामाजिक प्रवृत्तियां सदैव से साहित्यिक प्रवृत्तियों को प्रभावित करती रही हैं। वैभवशाली आश्रयदाताओं का संरक्षण प्राप्त करके काव्य भी वैभव के उपकरणों से युक्त हो गया।

ब्रजभाषा में रचित हिंदी का रीतिकालीन काव्य वैभवशाली काव्य है। राजसी वातावरण, नागरिक जीवन और सामंती संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त करने वाले कवियों द्वारा उसकी सर्जना की गई। उसका प्रमुख वर्ण्य विषय रसराज श्रृंगार है जिसके रसमय वर्णनों में आभिजात्य की सुगंध है। इस काव्य के अन्तर्गत नायक-नायिकाओं के सौन्दर्य की शत सहस्र धाराएं बहती हुई दिखाई देती हैं। जिस प्रकार सोलह कलाओं से युक्त होकर चंद्रमा पूर्ण होता है, उसी प्रकार षोडश श्रृंगार, साज-सज्जा से सोलह अंगों अथवा प्रसाधन के षोडशोपचार (उबटन लगाना, स्नान करना, वस्त्र धारण करना, बाल संवारना, अंजन लगाना, सिंदूर भरना, महावर लगाना, भाल पर तिलक लगाना, ठोड़ी पर तिल बनाना, मेंहदी रचना, सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग करना, अलंकार धारण करना, पुष्पहार पहनना, पान खाना, होठ रंगना और मिस्सी लगाना) से पोषित चंद्रमुखी पूर्ण नायिका के रूप को प्राप्त समझी जाती है। नागरिक संस्कृति के प्रति अनुरक्त रहने वाले रीतिकालीन कवियों ने ब्रज-मण्डल में प्रचलित प्रसाधनों के विविध रूपों का विविध प्रकार से मनोहारी वर्णन किया है।

बिहारी ने स्वर्णाभूषणों को विविध प्रकारेण नागरिकता के आवश्यक अंग के रूप में वर्णित किया है :

अंग अंग प्रतिबिम्ब परि, दरपनु के से गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे, भूषन जाने जात।

यह बात दूसरी है कि जिसको खुदा ने खूबी दी हो, वह जेवर की मोहताज न हो––

भूषन भार संभारिहै, क्यों इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, सोभा ही कैं भार
तन भूषन, अंजन दृगनु, पगनु महावर रंग
नहि सोभा को साजियतु, कहिबे ही कौ अंग।

स्पष्ट है कि ब्रज-मण्डल की बालाएं शरीर पर आभूषण धारण करती थीं, दृगों को अंजन द्वारा तथा पगों को महावर द्वारा प्रसाधित करती थीं। इसके अतिरिक्त वे माथे पर बिंदी लगाती थीं, केश-विन्यास करती थीं और ताम्बूल द्वारा अपने कोमल अधरों को रंजित करती थीं··

बेंदी भाल, तंबोल मुख, सीस सिलसिले बार
दृग आंजे, राजै खरी, एई सहज सिंगार।

माथे की बिंदी, पांव के महावर और मुख में पान के द्वारा सौन्दर्य-प्रसाधन की चर्चा अन्य कवियों ने भी की है। यथा :

नील मनि जटित सुबेंदा उच्च कुचपै, पर्‌यो हैं,
टूटि ललित ललाट के मजेजे में। (पद्माकर)

होली के रसरंग में पान का महत्व देखते ही बनता है––

केसरि कपोलन में मुख में तमोल भरि
भाल में गुलाल नंदलाल अंखियन में। (पद्माकर)

माथे की ये बेंदियां अनेक प्रकार की होती हैं। ऊपर के छंद में नीलम से जड़ी हुई बिंदी की चर्चा है। बिहारी ने अनेक प्रकार की बिंदियाओं का वर्णन किया है। कदाचित् उतने ही प्रकार की बिंदियां वर्णित हैं जितने विभिन्न वर्गों में हमारा समाज विभक्त है अथवा नारियों के जितने रूप रंग होते हैं। गरीब-से-गरीब तक से लेकर अमीर से अमीर वर्ग की नारी के लिए ब्रज-मण्डल की सीमा में माथे की बिंदिया उपलब्ध है। धनिक नारी हीरा जड़ी बिंदी लगाकर सुशोभित होती है, और एक मध्यम वर्ग की नारी रोचन की लाल बिंदी लगाकर अपने मुख को सौन्दर्यशाली बनाती है। सुंदरता में प्रत्येक स्थिति में समान रूप से वृद्धि होती है···

तिय मुख लखि हीरा जरी, बेंदी बढ़े विनोद।
सुत सनेहु मानों लियै, बिधु पूरन बुध गोद ॥
भाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराजि।
इन्दु कला कुज में बसी, मानौं राहु भय भाजि ॥

और कुछ नहीं तो एक गरीबनी चंदन की बिंदी लगाकर अपने गोरे मुख को दीप्ति प्रदान करती है···

मिलि चंदन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाइ।
ज्यौं ज्यौं मदु लाली चढ़ैं, त्यौं त्यौं उघरति जाइ।

एक स्थान पर बिहारी ने पंचरंगी बिंदी का वर्णन किया है॥

बिहारी के कथन––"कैसी लसत गवारि यह, सुनकिरवा की आड़," "पहुला हारु हियै लसैं, सन की बेंदी भाल", "गदराने तन गोरटी, ऐपन आड़ लिलारैं" द्योतित करते हैं कि ब्रज के ग्रामों में निवास करने वाली नारियाँ सुनकिरवा नामक कीड़े के पंखों का तिलक, अथवा सन के फूल की बिंदी, अथवा ऐपन का ही टीका लगा लिया करती थीं। ब्रज-बालाएं स्नान करने के बाद मस्तक पर लाल बिंदी के साथ केसर की एक आड़ी रेखा भी बना लेती थीं। बिहारी ने इनकी शोभा से युक्त चन्द्रमुखी को जगत को रसमय कर देने वाली कहा है––

मंगल बिंदु सुरंग, मुख ससि केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत।

माथे पर कैसी भी बिंदी लगाई जाए, परन्तु बिहारी की सीधी सी राय है कि––"तिय लिलार बेंदी दिए अगनित बढ़त उदोतु।"

ब्रज की नारी माथे पर टीका तथा शीशफूल धारण करती थीं––

नीकौ लसतु लिलार पर टीकौ जरितु जराइ। (बिहारी)
प्यारौ अनुकूल, कोहू करत करन-फूल।
कोहू सीस फूल, पांवडेऊ मृदुपांव के।

कानों में कर्णफूल तथा पैरों में चांदी के भारी कड़े पहनने की प्रथा थी। जानकी की बाल-छवि के वर्णन को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानों पैरों में धारण की हुई छागलें, पायजेबें, बजनी चूड़ियां आदि अनेक आभूषण परस्पर मिलकर एक साथ सप्तस्वरीय मधुर संगीत की सृष्टि कर रहे हैं :

बरन कनक बनी, बानक बनक आई,
झनक झनक बेटी जनक नरिंद की। (सेनापति)

बिहारी की इन पंक्तियों--"अज्यौं तर्‌यौना ही रह्यौ सृति सेवत इक अंग," "मनमय नेजा नोक कीसी खुमी खुभी जिय मांहि" तथा "लसै मुरासा तिय स्रवन, यों मुकतनु दुति पाई"--द्वारा प्रकट होता है कि ब्रज-मण्डल के नारी वर्ग में ताटंक, खुभी तथा मुरासा नाक कर्णाभरणों को धारण करने की प्रथा थी।

सेनापति की भांति बिहारी ने पैरों के कई आभूषणों--पायल, मंजीर का उल्लेख किया है।[1]

ब्रज की नारियां अपने पैरों की अंगुलियों में सौभाग्य सूचक' बिछियां धारण करती थीं :

तिन नगरी तिन नागरी, प्रतिपद हंसक हीन।
जलज-हार शोभित न जहं, प्रकट पयोधर पीन॥ (केशव)

नायिका की अंगुलियों की लालिमा का वर्णन करते हुए बिहारी ने भी एक स्थान पर लिखा है कि "चुवत सुरगुं रगुं सौगुनौ, चयि बिछियनु कें भार।"

नारियां नाक में मोती लगी हुई नथुनियां, जड़ी हुई लौंग अथवा सोने की साधारण सींक धारण करती थीं। बिहारी के निम्नलिखित कथन प्रमाण हैं--

नाकु बासि बेसरि लह्यो, बसि मुकतनु के संग।
× × ×
जटित नीलमनि जगमगति, सीक सुहाई नांक
× × ×
जदपि लौंग ललितौ तऊ, तू न पहिरि इक आंक।

नाक की 'बेसरि' के वर्णन तो ब्रजभाषा की कविता में भरे पड़े हैं। राधा-कृष्ण की प्रेम लीला के प्रसंगान्तर्गत इस प्रकार के कथन प्रायः मिल जाते हैं कि **"मेरे कर मेंहदी लगी है नन्द लाल प्यारे, लट उरझी है, नेकु वेसरि सम्हारि दै।"** इस कथन के द्वारा यह भी प्रकट हो जाता है कि ब्रज-मण्डल की नारियां मेंहदी लगाती थीं।

दिठौना के नाम पर ब्रज-मण्डल की नारियां अपने मुख पर एक काली बिंदी भी लगाती थी--**"दिये दिठौना यौं बढ़ी, आनन आभा इन्दु।" (सेनापति)**

ब्रज की नारियां अपने आगे के दांतों में चोंप नाम का स्वर्णाभूषण धारण करती हैं। अन्यत्र इसका चलन नहीं है। बिहारी ने चोंप का वर्णन बहुत ही उपयुक्त अवसर के विधान द्वारा किया है :

---

[1] **पायल पांय परी रहैं, लगें अमोलक लाल।**
× × ×
किय हायल चित चाय लगी, बजि पायल तुव पांइ।
× × ×
करत कोलाहल किंकनी, गह्यों मौन मंजीर।

तरिबन-कनकु कपोल-दुति, बिच बीच की बिकान।
लाल लाल चमकति चुनीं, चौका चीन्ह, समान।।

घर से बाहर निकलते समय आंखों में काजल लगाना ब्रज में आज भी सौभाग्यसूचक माना जाता है। बिहारी का कथन है––

सनि-कज्जल चख-झख-लगन, उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौं न नृपति है भोगवै, लहि सुदेसु सब देहु।।

गले के आभूषणों की तो गिनती ही क्या है? गले में साधारण पुष्पहार तथा घुंघची की माला से लेकर चंद्रहार तक न मालूम कितने प्रकार की मालाएं धारण की जाती थीं और अब भी की जाती है। केशवदास द्वारा वर्णित मोतियों के हार को आप देख ही चुके। उर्वशी की चर्चा देखिए · · ·

उर मानिक की उरबसी, डरत घटतु दृग दृग-दागु।
छलकतु बाहिर भरि मनौ, तियहिय कौ अनुरागु।। (बिहारी)

कहीं-कहीं आजकल की फैशनपरस्त लड़कियों की तरह ब्रजबालाओं की तीन चोटियों का भी उल्लेख मिल जाता है।

"करत कोलाहल किंकनी, मौन गह्यो मंजीर" जैसे वाक्यांश यह द्योतित करते हैं कि आज की तरह उन दिनों भी ब्रज में नारियां करधनी धारण करती थीं।

हाथ की अंगुलियों में नारियां भांति-भांति की अंगूठियां और छल्ले धारण करती थीं। यथा · · ·

कोमल, अमल, कर-कमल बिलासिनी के,
रचि पचि कीनी बिधि सुंदर सुधारि हैं।
सोहति जराऊ अंगुरिन में अंगूठी पुनि
द्वै ई द्वै छलान राखे पोरऊ सिंगारि है। (सेनापति)

× × ×

टूटिहैं भूषन जो काहू तिया के तो मोल छला के लला न बिकैहो।

ये अंगूठी-छल्ले कभी-कभी बड़े भारी अनर्थ के हेतु भी हो जाया करते थे · · ·

छला परौसिनि हाथ ते, छलु करि लियौ पिछानि।
पियहि दिखाओं लखि बिलखि, रिस सूचक मुसकानि।। (बिहारी)

अंगूठी और छल्लों के अतिरिक्त हाथ के अंगूठे में आरसी पहनने की भी प्रथा थी · · ·

होत कहा नींदे, एतौ रैनि के उनीदे अति,
आरसीलै नैंना आरसी लै क्यौ न देखियै। (सेनापति)

ब्रज-मण्डल की नारियां कंकण, बाजूबंद, पहुंचियां आदि गहने भुजाओं में धारण करती थीं · · ·

कंधनतें कंचुकी भुजान तें सु बाजूबंद,
पौंचन तें कंकन हरेई-हरे सरके। (पद्माकर)

उन दिनों आजकल की भांति ब्लाउज, फिरौक अथवा कुर्ता का चलन नहीं था। नारियां चोली, अंगियां अथवा कंचुकी धारण करती थीं। इनके साथ नायिका के उरोजों को सम्बद्ध करके ब्रजभाषा के कवियों ने इस परिधान के वर्णन बहुत ही मनोयोगपूर्वक किये हैं। यथा · · ·

आंगी हूं उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।

× × ×

तंग अंगिया है तनी उरज उतंग पर। (पद्माकर)

वस्त्रों का वर्णन करते समय कवियों ने प्रायः साड़ी और चूनरि का वर्णन किया है · · ·

सोहति धोती सेत में, कनक-बरन–तन बाल। (बिहारी)
सुरगुँ कुसुँभी चूँदरी, दुरगु देह दुति होति। (बिहारी)
गौने की चूनरी टोने से कीन्हें। (मतिराम)

होली के वर्णन में चूनरि और कंचुकी का चोली–दामन का साथ देखते ही बनता है · · ·

छोरि डारी केसरि सुबेसरि बिलोरि डारी,
बोरि डारी चूनरि चुचात रंग-रनी ज्यों।
मोहि झकझोरि डारी कंचुकी मरोरि डारी,
तोरि डारी कसनि बिछोरि डारी बैनी त्यों। (पद्माकर)

पद्माकर ने घाघरे का भी वर्णन किया है · · ·

घाघरे की घूमनि सु ऊरून दुवीचे दाबि,
आंगि हु उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।

अलता और महावर द्वारा पग तल को प्रसाधित करने का चलन आज भी है। रीतिकाल के सामन्ती युग के कवियों ने महावर का अति रंजित वर्णन किया है। यथा · · ·

है कै रस जब बस दीबै कौं महाउर के,
सेनापति स्याम गह्यौ चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आंखिन सौं,
कही प्राननाथ यह अति अनुचित है। (सेनापति)

× × ×

आपने हाथ सों देत महावर आप ही बार संवारति नीके।
आपु ही आनि पहिरावत हैं सो हार संवार के मौलसिरी के।
(मतिराम)

पांइ महावर दैन जौं नाइनि बैठो आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी, एड़ी मीगंति जाइ।। (बिहारी)

पान की पीक की लीक की भांति महावर का रंग भी कभी-कभी रंग-को-भंग करके सब रंग भदरंग कर देता था। देखिए · · ·

आवत तौ आए, सुधि ताकी है कि नाहीं जाके,
पाइ के महावर की खौरि कर आए हों। (सेनापति)
बिथुर्‍यौ जावकु सौति पग, निरखि हंसी गहि गांसु।
सलज हसी ही लखि लियो, आधी हंसी उसांसु।।
पावक सो नयननु लगै, जावकु लाग्यौ भाल।
मुकुरु होहुगे नेंक में, मुकुरु बिलोकौ, लाल।। (बिहारी)

अंगराग, चंदन कपूर का लेप, गुलाब-जल आदि का प्रयोग उच्च वर्ग में सामान्य बात थी। कविजन ने इनका वर्णन संभोग-श्रृंगार और विप्रलम्भ-श्रृंगार दोनों ही स्थितियों के प्रसंग में किया है। यथा · · ·

सेनापति अतर, गुलाब, अरगजा साजि,
सार तार हार मोल लै लै धारियत है।

× × ×

सीत गुलाब हूं सौ छिसि उर पर कीनौ,
लेप घनसार कौ सो मानों घनसार कौं। (सेनापति)
अंगन में चंदन चढ़ाय घनसार, सेत,
सारी छीरफेन कैसी आभा उफनति है। (मतिराम)
ओंधाई सीसी सुलखि, बिरह बरति बिललात।
बीचहिं सूखि गुलाब गौ, छींटौ छुऔ न गात॥ (बिहारी)

इत्र-फुलेल के द्वारा कंचुकी को सुवासित करने का भी उल्लेख उपलब्ध होता है · · ·

दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सादीं सेत।
कवि अंकन के अरथ लौं, प्रगट दिखाई देत॥ (बिहारी)

ब्रज-वल्लभियां अपना श्रृंगार करके वस्तुतः श्रृंगार के देवता श्रीकृष्ण की आराधना ही करती थीं। वे श्रृंगार क्या करती थीं, मानो श्रीकृष्ण रूप ही हो जाना चाहती थीं। प्रसाधन उनके लिए कृष्ण के साथ तादात्म्य-स्थापन का साधन मात्र था। देखिए न—

'देव' मैं सीस चढ़ायौ सनेह सों भाल मृगम्मद बिंदु के भाख्यौ।
कंचुकी में चुपर्यौ करि चौव लगाइ लियौ हिय सों अभिलाख्यौ
लै मखतूल गुहे गहने मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ।
सांवरे लाल कौ सांवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यौ। (देव)

प्रसाधन-प्रयोग नारी-समाज तक ही सीमित नहीं था। पुरुष वर्ग भी वस्त्राभूषण धारण करता था और अंगराग आदि का प्रयोग करता था। रीति-काल के अन्तर्गत हमको इस सम्बंध में अनेक सुंदर वर्णन प्राप्त होते हैं।

पुरुष शरीर पर झगा अथवा अंगरखा, सिर पर पगड़ी तथा मोरमुकुट, वक्षस्थल पर माला और कटि में पीताम्बर अथवा अन्य प्रकार का रेशमी वस्त्र धारण करते थे। देखिए, केशवदास लिखते हैं · · ·

हरि राधिका मान सरोवर के तट ठाढ़े री हाथ सों हाथ दिये।
प्रिय के सिर पाग प्रिया मुक्ता हर राजत माल दुहून हिये।
कहि 'केसब' काछनी स्वेत कसैं सबही तन चन्दन चित्र किये।
निकसे जनु छीर समुद्र ही ते संग श्रीपति मानहु श्रीहि लिये।

पुरुष सिर पर मोरमुकुट के अतिरिक्त कानों में कुण्डल भी धारण करते थे—

क्यों करि धौं मुरली मनि कुंडल मोरपखा बनमाल बिसोरे। (मतिराम)
तथा— **मकराकृत गोपाल के, कुण्डल सोहत कान।** (बिहारी)
पीत पटी लकुटी पद्माकर मोरपंखा लै कहूं गहि नाखी। (पद्माकर)

उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकाव्य की सर्जना राधाकृष्ण-प्रेम-सिक्त वैभव-

विलास के वातावरण में हुई थी। रीतिकाल के कवि यद्यपि राजदरबारों के सरस राग-रति-रंग-युक्त वातावरण में रहा करते थे, तथापि वे सामान्य जन-जीवन के प्रति सर्वथा उदासीन नहीं थे। निर्धन एवं निम्न-मध्यम वर्ग में प्रचलित सौंदर्य प्रसाधनों का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि समाज के साथ उनका सम्पर्क बना हुआ था। रीतिकाव्य में उपलब्ध प्रसाधन-विधान उस समय के समाज की सांस्कृतिक परिस्थितियों का पर्याप्त उद्घाटन करता है।

रीतिकाव्य में वर्णित ब्रज-मण्डल के निवासियों के सौंदर्य-प्रसाधन, वस्त्राभूषण आदि आज भी अधिकांशतः प्रयोग में लाये जाते हैं, परंतु शहरों में रहने वाले आधुनिक काल के कवि प्राचीन, दकियानूसी, आउट ओफ डेट, ग्रामीण आदि कहकर उनकी उपेक्षा करते हैं और साथ-साथ यह भी कहते है कि रीति काल के कवियों का जन-जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। जीवन और काव्य के सम्बन्ध की कसौटी का पुर्ननिधारण करके हमें रीतकालीन काव्य का पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए। ●

हर्षनन्दिनी भाटिया

सौभाग्य और सौन्दर्य की प्रतीक चूड़ियां

●

प्राचीन काल से ही चूड़ियां, ब्रज की ही क्या प्रत्येक भारतीय सधवा नारी के सौभाग्य और सौंदर्य की प्रतीक मानी जाती रही हैं। प्रत्येक पर्व एवं शुभ कार्यों में पहले चूड़ियों को प्रधानता अवश्य दी जाती है। सुहाग की प्रतीक चूड़ियों का सधवा स्त्री के लिए अधिक महत्व होता है। वह सुहाग की रक्षा के लिए अपने सभी सुखों को न्योछावर कर देती है। वह ईश्वर से सदा प्रार्थना करती रहती है कि "विधाता! मेरे हाथों की चूंड़ियों को सदा बनाये रहे।"

भारतीय नारियों की प्रिय और सुहाग से पूर्ण चूड़ियों का व्यवहार शताब्दियों से किया गया है। मोहनजोदड़ो, अमरावती एवं मथुरा की कुषाणकालीन प्रतिमाओं के हाथों में प्रकोष्ठ तक चूड़ियां शोभा पा रही हैं। मथुरा में कुषाणकाल की जो लक्ष्मी की प्रतिमा मिली है, उसके हाथों में भी चूड़ियां सुशोभित हो रही हैं।

संस्कृत साहित्य में चूड़ी का विशेष प्रयोग नहीं मिलता। सर्वप्रथम सोमेश्वर के मानसोल्लास में यह किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत काल में यह देशज शब्द बना। यही कारण है कि 'देशी नाममाला' में इसका दो स्थानों पर प्रयोग मिलता है।

१ ' वलयावलि ' ' 'चूड (चूडक) ३। १८।
२—चूडम्मि वलयाहू ।७ ५२।

फलस्वरूप प्राकृतकोश 'पाइ अ सद्दमहण्णवो' में 'चूड' संकलित किया गया, जिसका अर्थ किया गया · · · · · 'चूड़ा, बाहुभूषण, वलयावली। (पृष्ठ ३३०)

यह चूडक ही 'चूडअ'—चूडा बन गया और 'ड' के स्थान पर 'र' का सामान्य प्रयोग होने के कारण ब्रज में, 'चूरा, चूरी' बन गया। हेमचन्द्र ने अपने अपभ्रंश व्याकरण में 'चूड्डल्लउ' शब्द का प्रयोग किया है।

पूर्व-ऐतिहासिक काल से ही 'चूड़ी' का प्रचलन मिलता है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त अवशेषों में एक बाजूबंद तथा नारी के हाथों में 'चूड़ी' जैसे आभूषण मिलते हैं। हड़प्पा से प्राप्त अवशेषों में एक पोला बाजूबंद, सोने की चूड़ी, एक चांदी की चूड़ी तथा दो ब्रेसलेट मिले हैं।

वैदिक काल में नारी और पुरुष दोनों ही समान रूप से हाथ तथा पैर में चूड़ियां धारण करते थे ऐसा उल्लेख मिलता है। 'खादि' संभवतः हाथ का कड़ा था। 'परिहस्त' (अथर्व ६।८१) से प्रतीत होता है कि पति पत्नी के हाथ में कंकड़ बांधता था। अश्वघोष के ग्रंथों में 'वलय' तथा 'कनक वलय' का प्रयोग मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र में वलय, वर्जुर, स्वेच्छितीक मणिवन्ध के आभूषण रूप में प्रयुक्त हुए। श्री० टी० एन० मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'आर्ट एन्ड इंडस्ट्री इन इन्डिया' (१८८८ ई०) में केयूर, अंगद, पंचक, कटक, भुजा के; वलय, चूर तथा कंकण कलाई के आभूषण माने हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अंगद को हस्तकटक ब्रेसलेट तथा रुचक को निष्क से निर्मित ब्रेसलेट माना है। सूचिका को चूहेदन्ती (सुई की तरह नुकीले ब्रेसलेट) कहा है।

ब्रज-संस्कृति में नारी को गृह-लक्ष्मी का प्रतीक माना गया है और वह शक्ति, वसुन्धरा, दुर्गा तथा पार्वती के रूप में शक्तिशालिनी बन गई है। प्रागैतिहासिक काल की चर्चा पूर्व ही हो चुकी है। नारी मूर्तियां कराभरणों से अलंकृत हैं। सोने चांदी के अतिरिक्त शंख के वलय भी मिले हैं। बौद्ध एवं जैन साहित्य में रांगा, सीसा, सोना, चांदी, लोहा, तांबा, हस्तिदन्त आदि के कंगन तथा वलय का उल्लेख मिलता है। थेरी-गाथा में कंगन, वलय और मुद्रिका का वर्णन मिलता है।

रामायण काल में नारियों के हाथ मणि-मुक्ताओं से सुसज्जित रहते थे।

वर कांचन केयूर मुक्ता प्रवर भूषणैः। भुजैः परमनारीणामभिमृष्टमनेकधा।। ६।२१।३।

महाभारत काल में बांहों में 'अंगद' केयूर और वलय तथा कर्णपर्व में शंख की चूड़ियों के पहनने का उल्लेख मिलता है। मौर्य, शुंग तथा सातवाहन काल की महिलाएं चूड़ियां धारण करती थीं। भरहुत में प्राप्त नारी-प्रतिमाओं के 'मणिबन्धों' में कंगन तथा अनेक चूड़ियां हैं। चूड़ियां कंगन के साथ तीन लड़ियों वाले फीतों से बंधी हैं। मनकेदार पांच-पांच चूड़ियां हैं। मथुरा तथा कौशाम्बी से प्राप्त मूर्तियों की कलाइयों में अनेक प्रकार के अलंकरणयुक्त कंगन हैं। मथुरा की मूर्तियों में घुंडीदार कड़े या मनकेदार कंगन के साथ पतली-पतली चूड़ियों से भरे हाथ मिलते हैं। खजुराहो, भुवनेश्वर के मंदिरों में प्राप्त मूर्तियों में रत्नजटित चूड़ियां तथा कंगन उत्कीर्ण हैं। खजुराहो की लक्ष्मी की मूर्ति में मोटे-मोटे कड़े हैं। अमरावती, नागार्जुनकुंड, सांची, तक्षशिला आदि सभी स्थानों से प्राप्त मूर्तियों में चूड़ियां मिलती हैं।

अजन्ता तथा बाघ की दीवारों पर अंकित 'भित्तिचित्रों' में नारियां वलय धारण किये हुए हैं। अजन्ता के चित्रों में रत्नजटित वलय हैं। कड़े के साथ अनेक चूड़ियां हैं। अजंता की एक नर्तकी दोनों कलाइयों में हाथ भर-भर कर चूड़ियां पहने है।

परवर्ती युग में अलंकार की दृष्टि से बाहु के निम्नलिखित विभाग किये जा सकते हैं :

बाहुमूल—केयूर, अंगद आदि

बाहुनाली—वर्जुर, खर्जर, स्वेच्छितीक, कटक, सुपूरक, हस्तपत्र आदि

मणिबन्ध—रुचक, उच्चितक

अंगुली—मुद्रा

कालिदास काल में 'अंगद', 'वलय', केयूर', 'कटक', और 'अंगूठी' कराभूषण थे जो स्त्री-पुरुष समान रूप के धारण करते थे। स्त्रियों के आभूषण में विशेषता यह थी कि इन्हीं आभूषणों में घुंघरू बढ़ जाते थे।

अंगद और केयूर तो एक प्रकार से भुजबंध थे। कटक प्रायः पुरुष पहनते थे। इस प्रकार 'वलय' आज की 'चूड़ी' का सामानार्थक समझा जा सकता है। 'वलय' को ऋतुसंहार में प्रकोष्ठस्थित कहा है :

न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति संगं वलयाङ दानि । ऋतु० ४।३

भुजेषु संगं वलयाङ्दानि। ऋतु० ६।७

अक्षमाला भी वलय की तरह ही लपेटी जा सकती है। वलय कई प्रकार के होते थे :

कांचनवलय लड़कियों के साथ पुरुष भी पहनते थे (रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे) कुमार० २।६४। (संधिस्तिमितवलयं) माल० २।६। कंगन की तरह नोकदार भी होते थे (वलयकुलिशोद्धट्टनोद्गीर्णतोयं) नगजड़े कंगनों की नोक। पूर्वमेघ ६५। 'शिञ्जावलय' का उल्लेख भी आया है (तालैः शिञ्जावलयसुभगैः) शिञ्जावलय घुंघरूदार होते थे और मृदुल ध्वनि करते थे। वलय ढीले होते थे और चूड़ी की तरह पहने जाते थे, क्योंकि एक स्थान पर उल्लेख है कि प्रकोष्ठ पर आकर रुक गये। कांच की चूड़ियों का कोई स्थान था इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। संभवतः शिञ्जावलय के स्थान पर आगे चलकर कांच की चूड़ियों का प्रचलन हुआ क्योंकि दोनों गुण-धर्म में एक से हैं।

'शिशुपालवध' में शंख की चूड़ियां (शंखवलय) का उल्लेख मिलता है :

अंशुकं हृतवता तनुबाहुस्वस्तिकापिहितमुग्धाकुचाग्रा।
भिन्नशङ्खवलया परिवेत्रा पर्यरम्भिर भसादचिरोढा ॥ १०–४३

(नवोढा का वेगपूर्वक आलिंगन किया, जिसमें उस रमणी के शंख के बने हुए कंकण भी दबकर फूट गये)।

बाण ने कादम्बरी तथा हर्षचरित में वलय का बड़ा चित्रमय वर्णन किया है। कादम्बरी के पूर्वार्ध में रत्नजटित चूड़ियों का उल्लेख मिलता है।

हेमचन्द्र ने अपभ्रंश-व्याकरण में कई ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनमें इसका सरस वर्णन मिलता है। यहां तक मी उल्लेखनीय है कि यह प्रथम अवसर है जब एक उदाहरण में "वलय" और दूसरे में "चूड़िडल्लउ" का प्रयोग मिलता है।

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ सहस त्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड त्ति ॥ १। ३५२॥

(कौवे को उड़ाती हुई विरहिणी ने सहसा प्रिय को देखा। इतने में उसकी आधी चूड़ियां विरह-कृशता से ढीली होने का कारण पृथ्वी पर गिर गईं और आधी प्रिय को देखने से जो हर्ष हुआ उसके कारण कृशता जाती रही और चूड़ियां कड़ी होकर तड़-तड़ करके टूट गईं।

चूड्डल्लउ चुण्णीहोइ सइ मुद्धि कवेलि निहित्तउ।
सासानल जाल-झलक्किउ बाह सलिल-संसितउ ॥३९५॥

हे मुग्धे ! तेरा कंकण गर्म सांस की आग से तपकर और आंसुओं की धारा से भीगकर स्वयं ही टूट रहा है।

यहां कंकण के स्थान पर 'चूड्डल्लउ' का प्रयोग हुआ है। हेमचन्द्र के इन उदाहरणों में जहां "चूड्डल्लउ" के सर्व प्रथम दर्शन होते हैं, वहां ध्वनि यह निकलती है कि ये चूड़ियां निश्चित रूप से कांच की ही थीं अथवा कांच जैसे पदार्थ से निर्मित थीं, जो सहसा टूट सकती थीं।

सोमदेव सूरि कृत "यशस्तिलक" (दसवीं शताब्दी) में 'कंकण' और "वलय" का ही उल्लेख मिलता है। भैंस के सींग, मृणाल तथा दांत के बने वलय का उल्लेख मिलता है। सोमेश्वर कृत 'मानसोलास' में स्वर्णनिर्मित रत्न, मुक्ता, नील, माणिक्य से जटितसिंह, मुख के आकार के बने हाथ के आभूषण को 'बाहुवलय', सूक्ष्म कांचन की शलाका से पूर्ण अनेक प्रकार के बहुमूल्य वज्र, मुक्ता आदि से जटित प्रकोष्ठ भाग के आभूषण (चूडकं मण्डकं स्त्रीणां प्रकोष्ठस्य विभूषणम् ३।८) को 'चूडक' कहा गया।

इस काल की प्राप्त मूर्तियों में, विशेषकर तारा की मूर्तियों में चूड़ियों का व्यापक प्रयोग दृष्टिगत होता है।

ज्योतिरीश्वर के 'वर्ण रत्नाकर' में भुजा और हाथ के आभूषणों में 'कराओ', 'चुलि' (चूली), वलय, कंकण का उल्लेख मिलता है। सोने के तार से खचित 'कराओ' ही आधुनिक काल का कड़ा है और पूर्व साहित्य में 'कटक' है। 'वलय' चांदी तथा सोने दोनों के हो सकते हैं। 'कंकण' ही आगे कंगना बन गया जो केवल डोरी में गुंथा रहता था। हेमचन्द्र ने इसी 'कंकण' के स्थान पर 'चूड' का आदेश किया है। चार्ल्स ने इसको स्त्रियों की कलाई का आभूषण माना है।

'चुलि-चूली' (वर्ण रत्नाकर ४।४६–५०) चांदी या सोने की 'चूरी' ही है जो नायिका (चित्रिणी जाति की नायिका, गायिका) का समान रूप से आभूषण था। यह चुलि-चूली प्राकृतकाल के 'चूडा' का विकसित रूप है।

सभा श्रृंगार में 'स्त्री-आभरण' की सूची में चूडो, कांकण, कांकड़, बहिरखा, पहुंचीया आदि हाथ के आभूषणों का उल्लेख मिलता है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रंथ 'महावाणी' में पोंहोची, 'कनक-केयूर', 'कंचन-कंकन', 'गजरा', तथा चूरा-चूरी के प्रयोग मिलते हैं :

कबहूं बाहु निहारि वारिकें बाजूबंध धारैं जु।
कबहुंक चूरा चूरी पहुँची ह्वै करि हैं रस सारें जू। पद सं० १५०
स्याम चूरी, कंकन पहुँची करपत्र प्रभा भरपूर। पद सं० २३

कांच की रंग-बिरंगी या हाथी दांत की लाल-श्वेत चूड़ियों के चित्रमय वर्णन से समस्त ब्रज-साहित्य भरा पड़ा है। सूरसागर में ही इसके अनेक प्रयोग मिलते हैं :

प्रमुख आभूषणों के साथ :

नूपुर किंकिनि कंकन चुरी। १७९८

चार-चार के जोड़े में पहनना :

डारंनि चार चुरी चुरी बिराजति।
भुजा बहूँटनि, बलय संग कौ। २०९३

मानलीला के प्रसंग में भी वलय का प्रयोग :

हस्त-बलय पट नील न धारो।

अष्टछाप के कवियों ने बाहु के आभूषणों में 'टांड', 'बहुटा' और बाजूबन्द का प्रयोग किया है :

कर कंकन तें भुज टाँड भई। सू० ४०६०

बहुँटा, कर-कंकन, बाजूबंद, एते परे हैं तौकी। सू० २१५८

बाजूबन्द तउ ढिग सोहत नग बहु मोती लगे। परमा० ९१९।८

कलाई के आभूषणों में कंकन (कंगन), कड़ा, चूरा-चूरी, पहुंचिया, पहुंची, पोहोंची, वलय आदि हैं। सूरसागर में 'कंकन' का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। एक स्थान पर 'कंकना' का तथा अन्य स्थान पर 'कंकन' का प्रयोग भी मिलता है। 'कंकन' कांच के बने होते थे इसका स्पष्ट उल्लेख सूरसागर में मिलता है :

कंकन कांच, कपूर करर सम। सू० ४१३३

'परमानंद सागर' में भी इन आभूषणों के काफी प्रयोग मिलते हैं :

गई री गिराइ करहु ते 'कंकन' द्वारे जाइ संभार्यो।

दही मथती हुई ग्वालिन का चित्र :

दधि मथति ग्वालि, गरबीली री।
रुनुक झुनुक कर कंकन बाजै बाँह बाँह हलावति ढीली री। परमा० १३६

स्पष्ट रूप से 'चूरी' का प्रयोग :

टूटत हार कंचुकी फाटत फूटत 'चुरी' खिसत सरफूल। परमा० २३३

और ये नई चूड़ियां ही खेलने में टूट गईं:

अब ही नई पहरि हौं आईं चुरियाँ गईं सब फूट। परमा० ६३५

एक साथ 'गजरा', 'पोहोंची' और 'चूड़ियां' पहने हुए हाथ :

नवग्रह गजरा जगमगै नव पोहोंची चुरियन आगे। परमा० ९१९।८

कृष्णदास के साहित्य में भी वलय, 'कंकन', बाजूबंद', चुरी, चारों का प्रयोग मिलता है :

वलय कंकन बाजुबंद हीरा–जटित। पद ४८
वलय कंकन, चुरी मुद्रिका अति रूरी। पद ५४

गोविन्दस्वामी ने एक पंक्ति में दो प्रमुख आभूषणों का वर्णन किया है :

कर कंकन, कटि किंकनि राजत। पद १७२
नौग्रही कर पोहोंचिन हो। पद १३५

नंददास में 'चूरा' तथा बयालीस लीला में 'चूरी' का प्रयोग हुआ है। हरिदास ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि हाथों में चार-चार चूड़ियां सुशोभित हैं:

हाथन चार चार चूरी––केलिमाल पद सं० २०
बनी री तेरें चार चार चूरी करन। केलि० पद ५०

चूड़ियों के साथ एक एक 'कंकन' भी सुशोभित हैं :

गुनरूप भरी विधान सँवारी, दुहुँ कर कंकन एक एक सो है। वही, पद ६३

महाकवि केशव द्वारा रचित 'करभूषन वर्णन' का कुछ अंश इस प्रकार है जिसमें गजरा, वलय तथा पौहोंची का वर्णन है:

गजरा बिराजें गजमोतिन के अति नीके,
जिनकी अजीत जाति 'केसोदास' गाई है।

बलत बलित कर कंचन कलित मनि,
लाल की ललित पौंची पोंचिनि बनाई है। केशव ग्र० भाग १ पृष्ठ छन्द २० १ श्र २८
मुँदरी उदार पौंची कंकन बलय नीके चुरी। वही १।२१३।८६

मीरा को तो अपना प्रियतम चाहिए। प्रिय के बिना वह वैरागिन हो जाना स्वीकार करती हैं :

चूरियाँ फोरूँ , मांग बखेरूं कजरा मैं डारूं धोय री।

उत्तर मध्यकाल में 'कंकण' का प्रयोग भिखारीदास ने, 'पोंची' का रसलीन तथा भिखारीदास ने, 'गजरा' का प्रयोग रसलीन, आलम, देव आदि ने, 'चूरा' का प्रयोग भिखारीदास, रसलीन, सेवक ने, 'वलय' का प्रयोग मतिराम, बेनी, देव, भिखारीदास ने तथा चूरी का (चूडी) बिहारी, रसलीन, बेनी, सुधानिधि, पद्माकर, भिखारीदास आदि अनेक कवियों ने किया है। देव की नायिका तो केवल हाथ में सौभाग्य के प्रतीक रूप में चार चूड़ियां ही चाहती हैं। देव द्वारा खींचा गया बनजारिन का चित्र द्रष्टव्य है :

हाथ हरी-हरी छाजै चूरी, अरु जूती चढ़ी पग फूँद फुँदारी।

राजस्थान में सधवा स्त्रियां अपने दोनों हाथों में हाथी-दांत आदि की बनी हुई चूड़ियां पहनती हैं। दोनों हाथों के चूड़ियों के सेट को 'चूड़ा' कहते हैं। वह चूड़ा ही स्त्रियों के सौभाग्य का चिह्न है और सधवापन का प्रतीक माना जाता है। डिंगल साहित्य चूड़े के विविध प्रतीकात्मक प्रयोगों से भरा पड़ा है। एक स्थान पर नायिका कहती है, 'कंत ! भले घर पधारे। लीजिये यह मेरा वेश धारण कर लीजिए। अब इस लज्जित चूड़ियों वाली पत्नी से तो दूसरे ही जन्म में भेंट कर सकेंगे' :

कंत भलां घर आविया, पहरीजै मो बेस।
अब धण लाजी चूड़ियाँ, भव दूजै भेटेस।।

एक स्थान पर नायिका कहती है, "यदि पति बिन विजयी हुए या बिना मरे घर आये तो मैं पग-पग पर चूड़ियां तोड़-तोड़कर बिखेर दूंगी, मैं वीर राजपूत की कन्या हूं:'

विण मरियाँ विण जीतियाँ, जो धव आवै धाम।
पग-पग चूडी पाछटूं, तो रावत री जाम।

डिंगल के प्रसिद्ध कवि सूर्यमल के साहित्य में तो चूड़े के बड़े प्रेरणास्पद प्रयोग मिलते हैं। एक स्त्री अपने पति से कहती है, 'कंत ! यह मेरा वेश और ये मेरे आभूषण अब आप ही धारण कीजिए। मैं तो योगिनी हो चली। अब आपके किस काम की। अच्छा ही हुआ आपको भी चूड़ियों' का खर्च मिटा।' कितनी गंभीर व्यंजना इन पंक्तियों में है :

यो गहणों यो बेस, अब कीजै धारण कंत।
हूं जोगण किण कामरी , चूडा खरच मिटंत।

एक स्थान पर एक स्त्री अपनी सखी को संबोधन करती हुई कहती है, 'हे सखी ! और सब बातें मुझे सह्य हो सकती हैं, किंतु यदि प्राणनाथ मेरे वलय को लजा दें और पुत्र मेरे दूध को लजाये तो ये दोनों बातें मेरे लिए समान रूप से दाहकारी और हृदय को उलटने वाली हैं' :

सहणी सबरी हूं सखी दो उर उलटी दाह।
दूध लजाणे पूत सम, बलय लजाणे नाह।।

डिंगल के वीर काव्य में 'चूड़ा' सुहाग का ही प्रतीक नहीं है वरन् वीरता, शौर्य तथा साहस का भी। राजस्थान में प्राप्त अन्य आभूषणों में करवर्‌यां, कांकण, कातर्‌या, खंजरी, खरदोंवण, खांच, गजरा,

नारमुखा कड़ा, कांचबीरी चूड़ियां, घूघरी वाली चूड़ी, चमचूड़ियां, चम्मक चूड़ी, चूड चूड्या, चन्दर बाई रो चूडो, डंक चूड्यां, दांत री चूड्या, बोरावाली चूड़ी।

'चूड़ा' अब हाथी-दांत की चूड़ियों के अर्थ में सीमित हो गया जो प्रायः विवाहोपरान्त कुछ निश्चित समय तक पहना जाता है। निमाड़ प्रदेश में हाथ में पनहने का लाख से बना नक्कासीदार सौभाग्यसूचक आभूषण 'चूड़ा' कहलाने लगा, ब्रज प्रदेश में लाख की चूड़ियों का रिवाज है। निमाड़ी में हाथ में पहनने की चूड़ियां' 'कावलई' कहलाती हैं।

जाफ़र शरीफ़ (सन् १८३२) तथा हेण्डले (१९०९ ई०) की सूचियों के अनुसार भुजा के आभूषणों में १. बाजूबन्द, २ धुलई, ३. बौटा तथा कलाई के आभूषणों में १. कड़ा, २. कंगन, ३ पहुंचियां, ४. पतरी, ५. चूर, ६ तोड़े, ७. चूरियां, ८. हिमवलय तथा ९ अस्तुर है। शरीफ की सूची के ७३ वर्ष बाद ए० पी० चार्ल्स की १९०५ की सूची में यह संख्या बढ़कर इस प्रकार हो गई:

भजभूषण : १. बाजू या बाजूबंद, २. बांक, ३. जोशन, ४. नौ नगा, ५. अनन्त, ६ बारा या टांड।

कलाई : १. पछेली या दूवा, २. छन या छनरी, ३. बंगली, ४. चूड़ी, ५. पहुंची, ६. कंगन, ७. गूजरी, ८. काड़ा, ९. परिबंद। ।मु०। १०. नौगिरी, ११ चूवादन्ती, १२ जहांगीरी या पतरी।

इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक भारतीय महिलाएं 'चूड़ी' को सौभाग्य चिह्न, के रूप में ग्रहण करती हैं। ये पहले सोना, चांदी, कांसा, तांबा, हाथी दांत, शंख, मृत्तिका से बनती थीं और आज इनके अतिरिक्त कांच, रवर, लाख, प्लास्टिक आदि का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। अकेली कांच की चूड़ियों में कितने रंग, रूप एवं प्रकार हो सकते हैं इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आइए इसके असंख्य रूप की काल्पनिक कल्पना करें। श्रद्धेय बनारसीदास चतुर्वेदी की नगरी 'फिरोज़ाबाद' चूड़ी उद्योग में सबसे आगे है। हरियाली तीज, नागपंचमी, हरितालिका तीज, गणगौर, करवाचौथ आदि विशेष अवसरों पर चूड़ियां पहनी जाती हैं। यही एक आभूषण है जो सम्पूर्ण भारत में प्रत्येक धर्म, जाति तथा सम्प्रदाय विशेष की नारी बड़े गौरव से धारण करती है।

जहां चूड़ियां नारी के सौभाग्य का प्रतीक बन गई हैं 'वहां नारीत्व' का प्रतीक भी हैं। जो पुरुष किसी कारणवश अकर्मण्य हो जाते हैं नारियां उन्हें अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक करने के लिए उपहार स्वरूप 'चूड़ियां' भेजती हैं। पुरुषों को प्रेरणा देने के लिए इनका प्रयोग किया जाता है। अबला के इस आभूषण ने प्रतीक वनकर इधर कई आन्दोलनों को आगे बढ़ाया है और उनमें चेतना डाली है। ●

६. ब्रज में हास्य

बरसानेलाल चतुर्वेदी

हास्य-काव्य में मथुरा का योगदान

मथुरा श्री कृष्ण की जन्मभूमि है। यह एक प्राचीन सांस्कृतिक केंद्र है। अष्टछाप के आठों कवियों की समाधियां आज भी ब्रज में विद्यमान हैं। अन्य सम्प्रदायों की विभिन्न वाणियों का सृजन भी ब्रज में ही हुआ। भक्तिरस के साथ-साथ हास्य रस के काव्य का सृजन भी मथुरा मंडल में अत्यंत प्राचीन काल से होता रहा है।

गोस्वामी बिट्ठलनाथजी की अष्टछाप के एक कवि छीतस्वामी थे। यह चौवे थे तथा परम वैष्णव थे। इनका लिखा हुआ हास्य रस का पद देखिए :

भोजन मथुरा ही के नीके।
नित प्रति बहु पकवान चोकने, मधुरे दूध दही के।
लड्डू, पेड़ा खुरचन रबड़ी सिखरन मेवा बाटी।।
खात खवावत घर-घर बांटत परी यही परिपाटी।।
हरि प्रसाद बहु खीर मलाई, रसना सुधा रसाल।
और पदारथ कछू न चाहैं नित चाहैं तर माल।।
नौतो पायि मगन मन डोलैं स्वर्ग राज मनु पायौ।
छीतस्वामी गिरधरन श्री विट्ठल सुख सर्वस कर आयौ।।

उक्त छन्द लगभग तीन सौ वर्ष पुराना है। नाना प्रकार के व्यंजनों का वर्णन सरल हास्य की सृष्टि कर रहा है। मथुरा में यमुना नदीं है। इसके कछुए बड़े शरारती होते हैं। संध्या को यात्री इन्हें पुण्य-लाभ के कारण चना खिलाते हैं किंतु ये उन पर मुंह मारते हैं। श्री धरनीधर ने 'कछुआ' को आलम्बन बनाकर हास्य का एक छन्द लिखा---श्री धरनीधर कौन थे, कब हुए, इसका ठीक से पता नहीं लगता परंतु यह छीतस्वामी के बाद में हुए प्रतीत होते हैं।

कछुआ देखत ही डर लागै।
लंबी नार बड़ौ सुख फारत भय जमदूतन जागैं।
कठिन कठोर घोर नख तीखे पकरत सुनैं न रागैं।।
लात घात सहि सोटा भाटा जल अगाध गहि पागैं।
चना चबात चरन मुख मारत जम को लेखा मागैं।।
'धरनीधर' इनकौ मुख पूजैं राहु केतु भय भागैं।।

ब्रज में कुछ जातियों में स्थानीय विवाह आदि होते हैं। ननिहाल, ससुराल आदि एक ही स्थान पर होते हैं। ब्रज की स्त्री सब जगह से स्नेह करती हैं। पति से प्रातः ही मां के यहां जाने का कारण बताकर माँ के यहाँ चली जाती हैं चाहे कोई आवश्यक कार्य नहीं हो, पति वेचारा भला रोक ही कैसे सकता है? ब्रज-नारियों को आलम्बन बनाकर मथुरा निवासी सुरदाम कवि ने एक कवित्त की रचना की जो इस प्रकार है।

भोर ही सौं भांयतौ भरोसौ दै कै छोड़ जात,
माइके में करत कलोल रीत न्यारी के।
जीभन में कौ जोर लुक्क अंजन लगाये फिरैं,
लाज धर नाक नकलोचन लाचारी को।
नानी भैंन मौसी मा की लाढ़ली रहत सदा,
तात भ्रात आदि लैं हिमाइत विचारी की।
'उरदाम' एतेन की ओट में करत चोट,
चरकर डारैं अद्धा आधपा सुपारी के।

रीतिकालीन कवि 'ग्वाल' का स्थान ब्रजभाषा कवियों में महत्वपूर्ण है। यह मथुरा निवासी थे, इनके अधिकांश छन्द श्रृंगाररस के हैं किंतु इन्होंने यत्र तत्र हास्यरस की पिचकारियाँ भी छोड़ी हैं। गोपियों और कृष्ण में होली हो रही है, गोपियां कृष्ण से कहती हैं, 'श्रीमान् जी, खिसियाइए नहीं, सीधी तरह से होली खेलिए, गाली गलौज करने की आवश्यकता नहीं है' :

नंद-जसुदा के सुने सूधे ही सुभाव सब, स्याम तुम सीखे कहाँ बाँक पर जारियां।
खेलवौऊ तुमसौ कबुल कारे लीनों लला, तुम पै तौ पिछौरा पै पुसाक इत मारियाँ।।
'ग्वाल कवि' जब धर जहें का बने हैं बात, कैसे के छिपैंगी जो लगेंगी पिचकारियाँ।
रेलिए ना रंग औन खेलिए दगा को खेल, मेलिए गुलाल सूधे दीजिए न गारियाँ।।

कविरत्न 'नवनीत' चौबे अपने समय के अत्यंत ख्याति-प्राप्त कवि हुए हैं। हास्यरस के प्रसिद्ध कवि श्री गोपालप्रसाद व्यास इन्हीं के शिष्य है। 'पेट की चपेट' शीर्षक उनका एक हास्यरस का छन्द इस प्रकार है :

मांगत भीख बड़े बड़े पंडित, संत महंत किते पचि हारे।
त्यों 'नवनीत' भये गुनवान, कृपान लै सूर घने रन मारे।।
मूड़ मुड़ाय बढ़ाय जटा, करि आसन वासन वस्त्र विसारे।
जोगी जती जितने जग में, ते मरे सब पेट चपेट के मारे।।

मथुरा के पास ही एक लोहबन नामक स्थान है। स्वर्गीय कवि रामदयाल जी लोहबन के निवासी थे। वे मुख्यतः हास्य-काव्य ही लिखते थे। एक छन्द देखिए जिसमें एक फैशनेबुल नवयुवक का खाका खींचा गया है :

तीसरे क्लास में लिवास त्यागो ग्राम को,
चार में बहारदार धोती लटकाई है।
पांच में छटे में लियो मुन्ना ने घुटन्ना धारि,
सांतवें में 'टाईवाच' बांधली कलाई है।
आठवें नवें में सिर बाल आठ नौ नौ इंच,
दसवें क्लास कीन मूँछन सफाई हैं।
कहै कवि 'दयाल' पित-मात देखें बार-बार,
पूत ना लखात पूतना सी बनि आई है।

श्री बालमुकुन्द चतुर्वेदी भी हास्यरस की कविता लिखते हैं, उनकी हास्य-रस संबंधी कविताओं

में व्यंग्य की मात्रा अधिक होती है, 'नया पैसा' शीर्षक उनकी कविता देखिए:

माथे की बेंदी हैं कि टोपी हैं पटाखेन की
हींगबटी गोली हैं कि सिलमा सितारो है।
मैढ़की की आंख है कि दांतन की चौंप हैं कि,
खटमल को पिता हैं कि बेरफल झारौ हैं।।
मुदित 'मुकुन्द' चाचा को चना जोर गरम,
नग है अंगूठी हो कि भूतन कौ भारौ हैं।
बाहरे तकदीर! तांबे हूं में परो टोटो आज,
पैसा देख ठोकौ खेतवारे ने कपारौ हैं।

श्री रामनारायण अग्रवाल हाथरस के उदीयमान कवि हैं। सुदामा चरित्र की एक सुंदर पैरोडी देखिए, जिसमें लखनऊ के सचिवालय का वर्णन किया है:

कमरान में बाबू भरे हैं हजारन,
गर्म से हैं कोई सर्द से हैं।
लाल टमाटर से कोई आम से ढीले हैं,
पीले से जर्द से है।
औंधी लिलारी के गोल मटोल,
कोई हंसते हमदर्द से हैं।
खूंसट से कोई छैला बड़े,
कोई नाजनी से कोई मर्द से है।।

अन्त में इस लेख के लेखक के एक छन्द से इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। 'काला चश्मा' लगाने पर आंखें दिखाई नहीं देतीं। इस छवि का ही वर्णन है:

कारे रंग बारौ प्यारी चश्मा उतारि नेकि,
देखों तेरे नैन नैन अपने मिलाय कैं।
तेरे नैन देखिवे की भौत अभिलाष मोहि,
सुन ले अरज मेरी दया चित लाय कैं।
कमल से कि मीन से खंजन से नैन तेरे,
एक है कि दोनों नेकि देखों निहारि कैं।
भैम भयौ रानी कहूँ नाहि ऐंचातानी तू,
मौकों दिखाइ नेकि चश्मा हटाइ कैं। ●

निरंकुश

ब्रज की विनोदी परम्परा

'वाराह पुराण' के

विंशतिर्योजना नां तु माथुरं मम मण्डलम्।
इदं पद्मं महाभागे सर्वेषां मुक्तिदायकम्॥
कर्णिकायां स्थितो देवः केशवः क्लेश नाशनः।
कर्णिका योजनं चात्र तदाहं तत्र संस्थितः॥

में जिस माथुर मण्डल का उल्लेख है, विद्वानों के मत से वही ब्रज है और उसकी राजधानी रही है मधुपुरी अथवा मथुरा, जिसके बारे में विख्यात हो चुका है कि वह तीन लोक से न्यारी है। इस अद्भुत प्रदेश के विषय में 'हरिऔध' ने लिखा है:

सो गोवर्धन श्रेष्ठ शैल अधुना था सामने दृष्टि के।
सत्पुष्पों सुफलों प्रशंसित द्रुमों से दिव्य सर्वांग हो।
नाना निर्झर हो प्रसूत गिरि के संसिक्त उत्संग से।
हो हो शब्दित थे सवेग गिरते अत्यन्त सौन्दर्य से।
जो छींटें उड़तीं अनन्त पथ में थीं दृष्टि को मोहती।
शोभा थी अति ही अपूर्व उनके उत्थान की पात की।
जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जंबीर औ आंवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमिली और शिंशपा इंगुदी।
नारंगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणी-बद्ध तमाल ताल कदली औ शालमली थे खड़े।
प्यारे-प्यारे-कुसुम-कुल से शोभमाना अनूठी।
काली नीली हरित रुचि की पत्तियों से सजीली।
फैली सारी वन अवनि में वायु से डोलती थीं।
नाना लीला निलय सरसा लोभनीया लतायें।
हरीतिमा का सु-विशाल सिंधु सा
मनोज्ञता की रमणीय भूमि सा
विचित्रता का शुभ-सिद्ध पीठ सा
प्रशान्त वृन्दाबन दर्शनीय था।
सुद्लिता थी अति कान्त भाव से।
कहीं स-एला लतिका लवंग की
अश्वेत ऊदे अरुणाभ बैंगनी
हरे अबीरी सित पीत संदली
विचित्र-वेशी बहु अन्य वर्ण के
विहंग से थी लसिता बनस्थली।

मगर जिन लोगों को दौरा करने का अवसर मिला है, वे जानते हैं ये तमाम इन्दराजात कितने गलत हैं। पता नहीं अयोध्यासिंह ने क्षेत्र की पड़ताल कभी की या अपने घर अथवा किसी की चौपाल पर बैठकर इलाके भर के कागजात मुरत्तब कर लिये। जो भी हो, यायावरी के दौरान मुझे तो उस ब्रजवासी की बात सौ फीसदी ठीक जंची जिसने लावण्य पर चिंता व्यक्त किये जाने पर कहा था, 'एक खारापन ही क्या यहां तो बहुत कुछ है।' जब मैंने जानना चाहा 'क्या-क्या है' तो उसने बतलाया 'पानी मज़ेदार नहीं, जमीन हमवार नहीं, पेड़ फलदार नहीं और · · ·'

मेरे 'और' कहने पर उसने कान को अपने मुंह के नज़दीक लाने का इशारा किया। मैंने बात मानकर जो चीज़ आहिस्ता से सुनी उस पर जोर की हंसी आ गई। वह मुस्कराकर बोला 'अभी हंस रहे हो। किसी दिन चक्कर में पड़ गये तो सिर पकड़कर रोओगे। मेरी कही बात कसौटी पर खरी उतरेगी। वैसे ब्रज में हास-परिहास पर कोई रोक टोक नहीं है।'

इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्रज के जीवन में मस्ती को विशेष स्थान प्राप्त है। यहां का नागरिक स्वभाव से विनोदप्रिय होता है। कदाचित हर्ष और उल्लास उसे उत्तराधिकार में मिला है। ब्रज जिस महामानव का लीला स्थल रहा उसने कौतुक करतब से विश्व की काया पलट दी और हंसी मज़ाक की भूमिकायें निभाकर ऐसे दर्शन की स्थापना की जो प्रत्येक दृष्टि से बेजोड़ है। कृष्ण बचपन में कितने नटखट थे, कितने चुहलबाज और मसखरे थे इसको प्रकट करने वाले नाना उदाहरण सूर और अष्टछाप के अन्य भक्त कवियों की रचनाओं में बिखरे पड़े हैं। जैसे :

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोंसो कहत मोल को लीनो तोहि जसुमति कब जायो।।
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुमरो तातु।।
गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हंसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर।।
तू मोही कों मारन सीखी दाउहि कबहुं न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि-सुनि रीझै।।

× × ×

मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पाछे मधुबन मोंहि पठायो।
चार पहर बंसी-बट भटक्यो सांझ परे घर आयो।
मैं बालक बंहियन को छोटी छीको किहि विधि पायो।।
ग्वालबाल सब बैर परे हैं बरबस मुख लपटायो।
तू जननी मन की अतिभोरी इनके कहे पतियायो।।
जिय तेरे कछु भेद उपजि है जानि परायो जायो।
यह ले अपनी लकुटी कमरिया बहुतहि नाच नचायो।। (सूरदास)

× × ×

भाज गयौ मेरौ भाजन फोरि।
कहा कहौं सुनि मात जसोदा, अरु खायौ माखन सब चोरि ।।
लरिका सात-पांच संग लीन्हें, रोकें रहत गांव की खोरि।
मारग में कोऊ चलन न पावत, लेत दोहिनी हाथ मरोरि ।। (परमानन्ददास)

× × ×

अब हौं या ढोटा तें हारी।
गोरस लेत अटक जब कीनीं, हंसत देत फिर गारी ।।
निस-दिन घर घर फेरो करत है, बालक जूथ मंझारी।
गोविन्द बलि, इमि कहति ग्वालिनी, ये बातें कैसें जात सहारी ।।

(गोविन्दस्वामी)

आगे चलकर गोपियों के पास स्वयं न जाकर, उद्धव को भेजना और उनके द्वारा ज्ञान का उपदेश करवाकर उनकी खिल्ली उड़वाने का प्रयत्न करना, अनोखी सूझ के साथ-साथ व्यंग्य की दिशा में एक अभूत-पूर्व प्रयोग है।

कृष्ण तो भगवान का अवतार थे, योगिराज थे, युगपुरुष थे, इसलिये उनकी ही हास-परिहास में रुचि रही हो, सो बात नहीं है। ब्रज की बेपढ़ी और कुबड्डी महिलाएं भी व्यंग्य-बाण छोड़कर मर्माहत करने में अचूक तीरन्दाज थीं, इसका आभास उस प्रसंग की चर्चा से हो सकेगा, जिसमें उन्होंने ज्ञान-गर्व से चूर उद्धव की डटकर खबर ली थी। हाथ धोकर पीछे पड़ने वाले कुछ स्थल नीचे दिये जा रहे हैं :

समुझि न परत तुम्हारी ऊधो।
ज्यों त्रिदोष उपजे जक लागत बोलत बचन न सूधो ।।
आपुन को उपचार करो कछु तब औरन सिख देहु।
बड़ो रोग उपज्यो है तुमको मौन सवारे लेहु ।।
वहां भेषज नाना विधि को अरु मधुरिपु से हैं वैद।
हम कातर डरपत अपने सिर यह कलंक है कैद ।।
सांची बात छांड़ि कत झूठी कहो कौन विधि सुनहीं।
सूरदास मुकताहल भोगी हंस ज्वारि को चुनहीं ।।

निर्गुन कौन देश को वासी।
मधुकर हंसि समुझाय, सौंह दै, बूझति सांच, न हांसी।

ऊधो! मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस ।।

ऊधौ। तुम हो निकट के वासी।
यह निर्गुन लै ताहि सुनावहु जो मुड़िया बसैं कासी।

(सूरदास)

जो उनके गुन नांहि और गुन भये कहां तें।
बीच बिना तरु जमै मोंहि तुम कहो कहां तें।।
वा गुन की परछांह री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये अमल वारि जल कीच।।
सखा सुन स्याम के।

(नंददास)

चुप रहौ ऊधौ सूधौ पथ मथुरा को गहौ
कहौ न कहानी जौ बिबिध कहि आए हौ।
कहै रतनाकर न बूझिहैं बुझाऐं हम
करत उपाय बृथा भारी भरमाए हौ।।
सरल स्वभाव मृदु जानि परौ ऊपर तैं
पर उर घाय करि लौन सौ लगाए हौ।
रावरी सुधाई में भरी है कुटिलाई कूटि
बात की मिठाई में लुनाई लाइ ल्याए हौ।। (रत्नाकर)

ब्रज में जन्मे अथवा आकर बसने वाले अनेकानेक सहृदय महानुभावों ने सरस रचनाओं के माध्यम से हास्य का पुटपाक किया है:

रसखान कहते हैं—

सोहत हैं चंदवा सिर मौर के जैसियै सुन्दर पाग कसी है।
तैसियै गोरज भाल विराजति जैसी हियै बनमाल लसी है।।
रसखान विलोकत बौरी भई दृग मूंद कै ग्वालि पुकारि हंसी है।
खोलि री घूंघट खोलौं कहा वह मूरत नैनन मांझ बसी है।।

× × ×

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।।
जाहि हिये लखि आनंद ह्वै जड़ मूढ़ हिये रसखानि कहावैं।
ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।।

सूदन ने भगवान भूतनाथ के कुनबे की शोचनीय दशा पर तरस खाकर लिखा है—

आप बिस चाखै भैया षटमुख राखै
देखि आसन में राखै बस बास जाको अचलै।
भूतन के छैया आस पास के रखैया
और काली के नथैया हूं के ध्यान हूं ते न चलै।।
बैल बाघ बाहन बसन को गयंद खाल
भांग को धतूरे को पसारि देत अंचलै।
घर को हवाल यहै संकर की बाल कहै लाज रहै कैसे
पूत मोदक को मचलै।।

ग्वाल अपने युग की पोल खोलते हुए फर्माते हैं—

देखो कलिजू की राजनीति को तमासो यह
बासो कियो आय हर एक की अकल पै।
खानदान वारे पानदान लिये दौरत हैं
तान गान वारे बैठे जोवत महल पै।।
ग्वाल कवि कहै चारु चतुरन को चैन है
न ऐस में रहत लैस कूर चढ़े बल पै।
मलमल धारे जे वे घूर रहे मल मल
मल खानवारे सोवें सेज मखमल पै।।

× × ×

जिसका जितेक साल भर में खरच तिसे
चाहिये तौ दूना पै सवायो तो कमा रहै।
हूर या परी सी नूर नाजनी सहूरवारी
हाजिर हमेश होय तौ दिल थमा रहै।।
ग्वाल कवि साहब कमाल इल्म सोहबत हो
याद में गुसैंया के हमेस विरमा रहै।
खाने को हमा रहे न काहू की तमा रहे
जो गांठ में जमा रहे तो खातिर जमा रहै।।

सीधे-सादे किशोरीलाल गोस्वामी की ऊंची उड़ान को देखिये—वाह करते ही बनती है:

जान सुगन्ध सने मद माते बसंत के भृंगन सों सरसायो।
सुन्दर साल रसालन ही पै सदा सुख सों निज धौंस गंवायो।।
सोई दसोहूं दिसान में कोकिल भागहि तें भ्रम भूरि भुलायो।
कागन की इन चोंचन की सिर ठोकर खात फिरें भरमायो।।

नाथूराम 'शंकर' शर्मा की दुनाली की सिश्त में जो बेचारा आ गया उसके चिथड़े उड़ गये। शव-परीक्षा का परिणाम कितना विवेचनात्मक है:

व्याकरण-केहरी से न कभी डरती है
पिंगल काटे सौ बार नहीं मरती है
साहित्य मत्त गज के मग में चरती है
तुकियों के उर वन में सुविहार करती है
उस कविता-कुन्ती को जो धमकाता है
वह वीर समालोचक पदवी पाता है

× × ×

उपदेशक दल के सुंड मुंड लीडर हैं
जातीय सभा के सभ्य महामिस्टर हैं
देसी सुधार के सर सर प्रोफेसर हैं

सब हैं परंतु कोरी घें घें के घर हैं
इनकी ध्वनि सुन जिसका जी मचलाता है
वह वीर समालोचक पदवी पाता है।

नई सभ्यता के रंग में रंग जाने वाले लोगों के प्रति उनके आक्रोश का बम यूं फूटा है—

ईश गिरिजा को छोड़ यीशु गिरजा में जाय
शंकर सलोने मैन मिस्टर कहावेंगे।
बूट पटलून कोट कम्फाटर टोपी डाट
जाकट की पाकट में वाच लटकावेंगे।।
घमेंगे घमंडी बने रंडी का पकड़ हाथ
पियेंगे बरंडी मीट होटल में खावेंगे।
फ़ारसी की छारसी उड़ाय इंगरेज़ी पढ़
मानों देवनागरी को नाम ही मिटावेंगे।।

श्रीधर पाठक सौम्य स्वभाव के होते हुए भी स्थानीय निकायों की उत्तुंग उपलब्धियों के यशगान का लोभ संवरण न कर सके और लिख ही बैठे—

शुक्ल-श्यामांग–शोभाढ्यां, गौन-साड़ी–विभूषिताम्।
महा–मोह-लसद्भालां, करालां, काल–सोदराम्।।
चन्दा चुंगीं विचिन्वन्तीं, खुली नाली निकालतीम्।
डालतीं च नजर अपनी, चारों जानिब रुआब से।।
टौनहाले महाभीमे, टेबिल-चेयर–शतान्विते।
लैम्प लोलुप सन्दीप्ते, प्यून भृत्य निषेविते।।
उच्चासन समासीनां, पेपर पेन चलत्कराम्।
महाविचार में मग्नां, मनोलग्नां धनागमे।।
तां श्री महा-म्यूनिसिपेलिटीति
ख्यातां सतीं भारत-भाग्यदेवीम्।
सर्वे वयं नम्र-विनीति-शीर्षाः
पुनः पुनः पौरजना नमामः।।

कवि को कितने आगे का दीख जाता है, इसका प्रमाण यह है कि पाठकजी की कल्पना में आई मोरी विशारदा महाम्यूनिस्पेलिटी आज की मत्स्यगंधा महापालिका के रूप में गठित हो चुकी है।

सत्यनारायण कविरत्न 'हेमन्त वर्णन में आधुनिकता की इस अनूठी छटा को प्रस्तुत करते हैं—

जावैं युवक पाठशाला जब, पहन कोट पतलून
मोजे डाट बूट खटकावत शीत लगै तऊ दून।
पेड़ अथवा और सेगरेट सेफ़ मैच से बाल
इंजिन का सा धुआं उड़ावैं तो भी बुरा हवाल।।

नवनीतजी ने गोरी के तिल पर तिलक कर कैसी बढ़िया तिलकुट तैयार की है—

सोहत चिबुक चारु तरुनी तिहारैं तिल, दिपत अलोल औ अनूप उपमा जाकी।

नवनीत प्यारे रूपसिंधु के सुधाकर में पिय मन डूबि गयौ रंचक सिखा बाकी।
कैधों काम कंज पै पर्‌यौ है अलिछौना एक कीलि दियौ जोबन हनोज हद है ताकी।
कैंधों प्रानप्यारी को बनाइकैं विलोकियौ विधि टपकि परी है कैधों कलम विधाता की।

परंतु उस व्यावसायिक दृष्टि से नहीं, जिसे उर्दू के शायर यह कहकर प्रदर्शित करते हैं कि

तिल खेत में निकलें तो गोदाम में ले जायें
क्या फायदा आरिज़ पे किसी बुत के जो तिल है।

साहित्य वाचस्पति पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' ने चाय के प्रति कितनी चावभरी श्रद्धांजलि अर्पित की है :

कारो तारकोल सो न पतरो औ न सीरा ही सौ
धर्‌यौ यह पदार्थ तरल कहा मध्य प्याला है
तिक्त कटु अम्ल अरु लवण कषाय नाहिं
शब्द ना मिलत कोष अमर ढूंढ डाला है
टीन सों निकारि सेत सेत कछू मांड़ ही सो
वाने वामें अबै मेरे सामने ही घाला है
मोसों पुनि कहत आय 'टी इज़ नाऊ रेडी सर'
चाय है कि काढ़ा कै हलाहल को प्याला है

श्री अमृतलाल चतुर्वेदी ने 'स्याम संदेशो' में पुनः उद्धव की मिट्‌टी पलीद करवाई है। उनके इशारों पर नाचने वाली गोपियां कृष्ण-सखा को आड़े हाथों लेकर कहती हैं :

ऊधौ कछू सूधौ सौ संदेसौ दै हैं जानी हम
लागत सुहावने हैं ढोल सबै दूर के।
आइ नियराने अब ढप ढप कानैं होत
मानैं नहिं मानैं कोऊ लाड़ू छके बूर के।।
प्रानन के लालें अकरूर अनमानौ आयौ
हम सौं हटायौ कान्ह कहैं कंस क्रूर के।
चाही तुम ऊधौ ब्रज मनसौं निकासौं स्याम
भले आये आप बाप बने अकरूर के।।

पद्मश्री गोपालप्रसाद व्यास रहते दिल्ली में हों परंतु हैं सौ नये पैसे भर ब्रजी। वह हास्य-व्यंग्य की धरोहर यहीं से बटोरकर ले गये हैं। व्याख्यान को मैटीरिया मेडिका में सम्मिलित कर उसके क्रांतिकारी गुणों पर यूं प्रकाश डालते हैं :

यदि दर्द पेट में होता हो
या नन्हा मुन्ना रोता हो
या आंखों की बीमारी हो
अथवा चढ़ रही तिजारी हो
तो नहीं डाक्टरों पर जाओ
वैद्यों से अरे न टकराओ

है सब रोगों की एक दवा
भई। भाषण दो! भई भाषण दो।
भाषण देने से सुनो स्वयं
नदियों पर पुल बंध जायेंगे
बंध जायेंगे बीसियों बांध
ऊसर हज़ार उग आयेंगे
तुम शब्द शक्ति के इस महत्व को
मत विद्युत से कम समझो
भाषण का बटन दबाते ही
बादल पानी बरसायेंगे।

बच्चनजी रोग-शैया पर निस्संदेह पड़े हुए हैं। भगवान उन्हें शीघ्र सेहत बख्शे, ताकि हृदय में गुदगुदी पैदा करने वाली इन पंक्तियों का रचना क्रम जारी रहे :

सिनेमा के शुरू में न्यूज़ या टेलर दिखाते हैं
मदारी भी शुरू में डुगडुगी अपनी बजाते हैं
नहीं हैं आज के कवि भी मदारी से जरा कम
शुरू में आजकल वे भी हमें मुक्तक सुनाते हैं।

× × ×

विदेशों से आवागमन हो रहा है
नई सभ्यता का दमन हो रहा है
मिला हाथ स्वागत किया श्रीमती ने
वे समझे कि पाणिग्रहण हो रहा है।

श्री बरसानेलाल चतुर्वेदी को बरसना आता है, उनका गरजना है वह भी फुहार के रूप में, मूसल जैसी धार बनकर नहीं। तभी तो लोग भींगने का आनन्द ले पाते हैं इन पानीदार पंक्तियों में :

चुनाव लड़ने खड़े हुए रामाधीन भैया
प्रचार कार्य करने में बेंच डाली गैया
ज़मानत हुई ज़ब्त
दिमाग़ हुआ खब्त
श्रीमती जी धैर्य बंधाती घबड़ाओ मत सैंया।

हाथरस हंसोड़ कवियों का गढ़ बनता जा रहा है। सबल प्रतिनिधित्व करते हैं 'काका' जिन्होंने गालिबन बरसाने की होली और दाऊजी के हुड़ंगे से पटा-पट लाठी चलाने तथा भिगो-भिगोकर मारने की प्रेरणा ग्रहण की है। मज़रूबों का परिचय देते हैं:

सबसे ऊंचा डाक्टर, काका ऐसा होय
नुसखा जिसके हाथ का वांच सके नहिं कोय।
है वकील बढ़िया वही ऊंचा वही कहाय
जिसकी ऊंची फ़ीस सुन भाग मुवक्किल जाय।

बड़े वही कविराज हैं और सभी कवि व्यर्थ
श्रोता जिनके काव्य का समझ न पावें अर्थ।
अफ़सर ऊंचे हैं वही जिनका ऊंचा पेट
आवें आफिस में सदा ढाई घंटा लेट।
वोटर असली है वही देय उसी को वोट
थमा देत जो हाथ में दस रुपये का नोट।
सड़ी घड़ी टूटी छड़ी छः आने का पैन
फूटी इंगलिश बोलते बाबू जेन्टिलमैन।

कुछ लोग बहुत सीरियसली सोचने लगे हैं कि हाथरस को हास्य की संकर जाति मानकर उसकी खेती क्यों न शुरू कर दी जावे।

ऐसी बात नहीं है कि व्रजवासियों की विनोदी प्रतिभा का विकास पद्य में ही हुआ हो। गद्यलेखन की शैली भी ऐसी रही है कि पढ़ने अथवा सुनने वाला लोटपोट हो जाये। बदरीनाथ भट्ट की कलम की रवानी देखिये :

राजा––(मूंछों पर ताव देकर, ग्रेजुएट से) तुम कौन हो।

ग्रेजुएट––(सकपकाकर) जी मैं भी आदमी हूं।

मुंशोजी––(बीच ही में ग्रेजुएट से) हैं हैं ! हजूर कहकर बोलो। हजूर कहकर। अमां क्या तुम्हें इतनी भी तमीज़ नहीं ? (राजा से) अभी ये साहब नये हैं बकौल शख्से की हाल ही में कालेज से छूटकर आये हैं इसीलिये अधूरे हैं। सिरी हजूर पुरनूर, सरबुलन्द, नालए जिगर सोज़, जाविएमुरुत्ता मुस्तकी मुलख़्वतैन। (ग्रेजुएट अचरज से मुंशी जी की ओर देखता है)

राजा––(ग्रेजुएट से) तुम अब तक क्या करते थे ?

ग्रेजुएट––हजूर पढ़ता था।

राजा––अजी लिखते थे या नहीं। मुझे तो पढ़नेवाला नहीं लिखनेवाला बी० ए० चाहिये, क्योंकि मेरे यहां तो चिट्ठियां लिखने-लिखाने का काम है, न कि पढ़ने-पढ़ाने का। समझे तुम !

ग्रेजुएट––(आश्चर्य से) हजूर मैं लिख भी लूंगा।

राजा––(अविश्वास की हँसी हँसता हुआ) हूं, मुझे ही बनाने चले हैं और भी किसी को नहीं। कहीं पढ़ने के साथ भी लिखने का काम हो सकता है। मुंशी जी सोचिये जरा !

हरिशंकर शर्मा का पेन कितना पैना था, इसके परिचय के लिए इन पंक्तियों का पारायण करना होगा :

राष्ट्रभाषा हिन्दी की अभिवृद्धि और उन्नति देखकर, दिलदारों के दिल ख़ुशी से बल्लियों ऊंचे उछलने लगते हैं। प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता। कविता की दृष्टि से तो सचमुच हिन्दी उन्नति के एवरेस्ट पर चढ़ चुकी है। वर्तमान समय में जितने कवि हैं, उतने बाबा वाल्मीकि और काका कालिदास के युग में भी न हुए होंगे। राजकवि––समाजकवि, सरकारकवि––दरबारकवि, धर्म्मकवि––कर्म्मकवि, राष्ट्रकवि––महाराष्ट्रकवि, क्रांतिकारीकवि––भ्रान्तिकारीकवि, वीरकवि––गंभीरकवि, रहस्यकवि––भविष्यकवि, भजनीककवि––प्रत्यनीककवि, उपहारकवि––इश्तहारकवि, ठाठकवि––भाटकवि, फटकारकवि––चाटुकारकवि, हंसैयाकवि––गवैयाकवि, जनानाकवि––मर्दानाकवि, छायावादीकवि––कायावादीकवि,

प्रगतिकवि--कुगतिकवि, प्रयोगीकवि--वियोगीकवि, चोरकवि--शोरकवि, व्यापारीकवि--परोपकारीकवि, रोगीकवि--भोगीकवि वाहककवि--आहकवि, फीसकवि--खीसकवि, स्वच्छन्दकवि–गीतमन्दकवि इत्यादि सैकड़ों प्रकार के कवि हिन्दी काव्य कानन में किलोल करते दिखाई देते हैं।

और मुर्वारिखा पहली अप्रैल के एक खत में क्या कुछ नायाव ढंग से फ़र्माते हैं--

'आपका पत्र पढ़कर मैं सोधा चतुर्वेदोजी की सेवा में पहुंचा। वे नई देहली के नार्थ एवेन्यू में निन्यानवे के फेर में पड़े थे। सो रहा हूं का साइन बोर्ड लगा हुआ था। मुझे क्या सोच संकोच था। आव देखा न ताव दिली दोस्ती का दस्ते दराज़ पकड़कर पर्दाफ़ाश किया और कमरे में दाखिल हो गया। देखा तो जंनाब चौबे जो साहब चाय की चुस्कियों के साथ दालमोट महिला का मानमर्दन कर रहे हैं। कभी कभी पेठे की पठिया और बिस्कुट की बिटिया का भी बोसा ले लेते हैं।

मुझे देखते ही बड़े मीठे मुँह यानी शीरीं जबान से बोले "आओ, आओ, खूब आये कब आये, कैसे आये।" मैंने कहा "चौबेजी महाराज, आपके इस कक्ष पर तो सोने का पर्दा पड़ा था, पर आप तो चुपके-चुपके चायामृत पान कर रहे हैं।" कहने लगे "साहब, क्या किया जाय! बेकार बौड़म व्यर्थ ही आ-आकर वक्त बरबाद करते हैं। इसीलिये 'सो रहा हूं' का सहारा लेना पड़ता है, इससे कुछ राहत मिलती है। फिर भी कुछ यार लोग आपकी तरह आ ही टपकते हैं।"

चतुर्वेदीजी चायकी चुसकी लेकर बड़ी गम्भीरता से बोले "विनोदानन्दजी, आपने अपनी सम्मति में राष्ट्रभाषा की कितनी सेवा क्यों न की हो, कितने ही वृथा पुष्ट पोथे क्यों न लिखे हों, परंतु आज के हिन्दी इतिहास में आपका कहीं भी उल्लेख नहीं है। आचार्य इमरतीराम से लेकर प्रो० पकौड़ीप्रसाद तक के लिखे सब ही इतिहास मैंने पढ़े हैं। कहीं आपका नामोनिशान नहीं। फिर कोई क्यों आपको साहित्यिक या साहित्यकार समझे। बताइये आपने किसी प्राध्यापक-पद को प्रतिष्ठित किया। इतिहास-लेखक-वृन्द के चरणारविन्द के चारु-चंचरीक बने। आलोचकों के पद-पद्मों में सिर झुकाया। संपादक-समुदाय से दोस्ती की। किसी गोष्ठी या गुट्ट के चारण चक्रवर्ती कहलाये।"[1]

गुलाबराय ने निबंधशैली को बहुत विकसित किया। वह गंभीर हास्य के कायल थे। अपने स्वनाम-धन्य नाई महाशय बेनीराम के संबंध में बिना लाग लपेट के लिखते हैं:

'वे भी मेरी तरह से अर्ध-प्राचीनतावादी जिजमानी-वृत्ति करने वाले नाइयों में से हैं। नाई शब्द अरबी में भी है। वहां वह मौत की खबर लाने वाले का बोधक है। शायद अरब के लोगों को यहां के लोगों की अपेक्षा क्षौरकार्य का काम कम पड़ता था, इसलिए उसके नाम से ऐसे अशुभ संस्कार लगे हुए हैं। हमारे यहां तो जन्म की मंगल दूब भी लेकर वही जाता है:। मालूम नहीं हमारा नाई शब्द अरबी के नाई की संतान है अथवा उसका जन्म संस्कृत 'नापित से', 'प' और 'त' के लोप से हुआ है।

साधारण शेव में भी बेनीरामजी कलाकार का कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व निभाना चाहते हैं। एक बार के शेव में उनका संतोष नहीं होता है। वे सच्चे कर्मयोगी हैं, जब तक मन भर कर अपनी कला का प्रदर्शन न कर लें तब तक वे अपने को कृतकार्य नहीं समझते। जब कभी उनका उस्तरा भौंहों की साज-सम्हाल की ओर अपने आक्रमणकारी पग बढ़ाता है, तब समय के उस दुरुपयोग पर

---

१. पता नहीं पत्र शर्माजी ने लिखा भी था या पानेवाले सज्जन ने उनके नाम से स्वयं लिखाकर साहित्य कोष की अभिवृद्धि की।

मुझे सात्विक क्रोध आ जाता है और भगवान से 'त्राहि माम्।' की पुकार कर मैं प्रार्थना करने लगता हूं कि 'हे ईश्वर, मुझे ऐसे कर्त्तव्य परायण कलाकारों से परित्राण दे।' वे इस क्रोध को सच्चे तपस्वी की भांति क्षमा कर देते हैं। 'क्षमा रूपं तपस्विनाम्।'

गृह-निर्माण पर उन्होंने तीखा व्यंग्य किया है। 'आपबीती' में लिखते हैं—

'किराए के मकान के संबंध में कालिरज आदि अंग्रेजी के सुकवियों की तरुण कथायें पढ़ी थीं। सुना जाता है एक बार वे बड़ी सुन्दर कविता लिख रहे थे जिसे उन्होंने स्वप्न में रचा था। वह संसार की सर्वोत्तम कविताओं में से एक होती, किंतु वे कुछ ही पंक्तियां लिख पाये थे कि मकान वाले ने आकर घोर तकाजा किया और कवि महोदय की जिह्वाग्र सरस्वती हंसारूढ हो ब्रह्मलोक चली गई। संसार एक सुन्दर कविता से वंचित रह गया। यह कथा पढ़ने के पश्चात मुझे किराए के मकानों से चिढ़ सी हो गई।'

सैनिक के संस्थापक-संपादक श्री कृष्णदत्त पालीवाल कुश्ती कसरत के शौकीन थे। मल्ल-कौशल उनके लेखन में भी प्रगट हुआ। वह फ्री स्टायल में इस खूबी से कलम चलाते थे कि उसकी लपेट में जो आ जाता था वह चित हुए बिना नहीं रहता। दाँव-पेच से युक्त निर्भीक शैली के दर्शन नीचे दी गई पंक्तियों से हो सकते हैं:

'इस अभागे मुल्क में इस गीत वन्देमातरम् के पीछे एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है। उसे शुरू किया मद्रास के एक मुसलमान ने। बात यह है कि जब से मद्रास में काँग्रेसी मंत्रि-मंडल कायम हुआ तभी से वहाँ असेम्बली की बैठक शुरू होने से पहले वन्देमातरम् गीत गाया जाने लगा। उस पर मुसलमान मेम्बर ने एतराज किया कि यह गीत तो इस्लाम के लिए खतरा और इस्लामी मजहब के खिलाफ है। उस वक्त हम लोग यह समझते थे कि उन मेम्बर साहब को कुछ दिन तक आगरा के बिलोचपुरे में रहकर खीर खाने की जरूरत है। लेकिन असली रहस्य लखनऊ में मुस्लिम लीग के जलसे में खुला। लीग ने खुल्लम-खुल्ला वन्देमातरम् के खिलाफ एक प्रस्ताव पास किया और आजकल मिस्टर जिन्ना वन्देमातरम से वैसे ही बिचकते हैं जैसे बैल लाल कपड़े से।'

'बात का बतंगड़ बना देने वाले इन भले आदमियों का कहना है कि क्योंकि 'आनन्द-मठ' में वन्देमातरम् का नारा हिन्दू नौजवानों ने एक मुसलमानी रियासत के खिलाफ़ बुलन्द किया था, इसलिए गीत भी मुसलमानों के खिलाफ हो गया। इतना ही नहीं, उनका कहना यह भी है कि गीत शरीयत के खिलाफ है, क्योंकि एक तो वैसे ही सब गीत शरीयत के खिलाफ होते हैं, इस गीत में तो बुत-परस्ती की बू आती है। इससे भी ज्यादा बात यह है कि गीत ऐसी भाषा में है, जो हमारी समझ में नहीं आती। 'सैनिक' के पढ़ने वाले यह देखेंगे कि जहां यह आन्दोलन असल में शरारत से उठाया हुआ है, वहां मुसलमानों के कुछ एतराज, आखिरी भाषा वाला एतराज सही भी है।' (सैनिक : २९ जून १९२५)

इटावा में जन्मे और आजकल लखनऊ में रहनेवाले श्री विनोद शर्मा ने शिष्ट हास्य और व्यंग्य लेखन की जिस नई और सशक्त विधा का आविष्कार किया है उसका संक्षिप्त परिचय उनके एक सर्वथा व्यक्तिगत और गोपनीय किंतु मुद्रित, प्रकाशित एवं मुक्त-मन से वितरित पत्र के निम्नलिखित उद्धरण से कराया जा सकता है:

'प्रिय महोदय,

जिस प्रकार साधारण हिन्दू के मरने के बाद उसकी सद्गति के लिए श्राद्ध आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार ५० या ६० वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर साहित्यिक आत्मा की मुक्ति और सद्गति के लिए उसकी स्वर्ण जयंती या हीरक जयंती का मनाया जाना भी आवश्यक है। अभिनंदन-ग्रंथ का निका-

लना इस कर्म की पूर्त्ति के लिए परमावश्यक माना गया है। यदि साहित्य क्षेत्र में कार्य करने वाले किसी व्यक्ति की जयंती न मनाई जाय तो इसके अर्थ यही हैं कि उसके साहित्यिक मित्र उसकी सद्गति नहीं होने देना चाहते।

मैंने अपने जीवन में जो साहित्य सेवा की है उसका बखान अपने मुंह से करना शोभा नहीं देता। चाहे मेरे पीठ पीछे लोग मुझे साहित्यिक न समझते हों किंतु मेरे मुंह पर तो लोग मुझे साहित्यिक मानते रहे हैं और उनकी स्वीकारोक्ति का क्रम इतने दिनों से चलता चला आ रहा है कि मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि मैं साहित्यिक हूं। मैं आपको याद दिला दूं कि मेरे महाकाव्य 'छेड़छाड़' पर मुझे देव पुरस्कार मिलते-मिलते रह गया था। वह अवश्य मिल जाता यदि उस वर्ष के निर्णायक मेरी ऊंची काव्य कला को समझ सकते और उनका हृदय निपट नीरस मरुस्थल न होता।

अतएव जब मेरी अवस्था ५० वर्ष की हुई तब मैंने आशा की कि मेरे साहित्यिक मित्र मेरी जयंती मनायेंगे और मेरे नाम पर अभिनन्दन ग्रंथ निकालकर मुझे समर्पित करेंगे। किंतु मुझे निराश होना पड़ा, मैंने यह सोचा कि बहुत लोगों की सम्मति में ५० वर्ष पर प्रौढ़ता नहीं आती। हिन्दी में सठिया जाने पर ही सम्मान होता है। अतएव मैंने धैर्य और संतोष का अवलंबन ग्रहण करना ही ठीक समझा और मधुर प्रतीक्षा और उत्सुकता में एक दशक ज्यों का त्यों निकाल दिया।

समस्या यह थी कि अभिनन्दन ग्रन्थ का संपादन कौन करे। मैंने चारों ओर निगाह दौड़ाई तो अभिनन्दन ग्रंथ संपादन कार्य में मुझे अपने परम मित्र पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ही मालूम पड़े। सारा संसार जानता है कि उनका शील का स्वभाव है और वे देवर्षि नारद के समान ही परानुग्रहकांक्षी हैं। मैं कई काव्यों में उनका स्तवन कर चुका हूं। अतएव मैं रुपया खर्च करके दिल्ली गया। मैं एमर्सन, थोरो, क्रॉपॉटकिन के उद्धरण रटकर गया था कि दीनबंधु एंडरूज के भी कई संस्मरण याद कर ले गया था। प्रवासी भारतवासियों की समस्या पर भी उनका ग्रंथ पढ़ लिया था। विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत पर उनसे सहमत होने का निश्चय करके गया था। उनके आधुनिकतम प्रोपेगंडा के समर्थन करने की तैयारी कर ली थी। मैंने किसी समय विनयपत्रिका पढ़ी थी। उसमें एक पद है:

कबहुंक अंब अवसर पाय।
मेरिहू सुधि द्याइबी कछुक करुण कथा चलाय।

तो मैं इन सब उपायों से अवसर बनाने का उपाय कर रहा था, क्योंकि आधुनिक सिद्धांत के अनुसार पुरुष अवसर की राह नहीं देखते, स्वयं उसका निर्माण कर लेते हैं। जब, इस प्रकार उनकी सभी 'ब्रेनवेवों' और सनकों का समर्थन करके मैंने उचित अवसर बना लिया तब मैंने अपनी करुण कथा उन्हें सुनाई। मेरी करुण कथा सुनकर उनका हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने अपने लच्छेदार शब्दों के द्वारा सहानुभूति के सागर के सागर उलीच दिये, और अन्त में वे बोले कि आप ऐसे महान् साहित्यिक का सम्मान न होना हम सबका अपमान है। तब मैंने बड़ी विनम्रता और विनय के साथ उनसे निवेदन किया कि 'हे अभिनन्दन ग्रंथ-शार्दूल, आप मेरे अभिनन्दन ग्रंथ का संपादन कर मुझे कृत कृत्य करें और मेरी साहित्यिक सद्गति करके मेरा उद्धार करें।' मैंने समझा था कि इतनी तैयारी के बाद और स्वयं सहानुभूति का इतना रस बरसाने के बाद वह अवश्य ही इस छोटे से कार्य के द्वारा मेरी सहायता करने को तैयार हो जायंगे। किंतु अब उनकी तरल मृदुता कठोरता में परिणत हो गई। उनकी सहानुभूति उनकी आंखों में 'लोचन जल रह लोचन कोना, जैसे परम कृपन कर सोना' की तरह जहां की तहां रह गई। वे बोले 'आपके साथ मेरी पूरी सहानुभूति है। मैं

आपके अभिनदन-ग्रंथ में रवीन्द्र बाबू और दीनबधु एंडरूज के कुछ संस्मरण देकर अवश्य सहयोग दूंगा। किंतु मैंने संपादन का एक स्तर बना लिया है। मैं केवल मिनिस्टरों और प्रकाशकों के अभिनंदन-ग्रंथों का संपादन करता हूं। आप इन दोनों में से एक भी नहीं हैं और न आपके मिनिस्टर या प्रकाशक होने की कोई सम्भावना ही है। अतएव मुझे खेद है, हार्दिक खेद है, वास्तविक खेद है कि मैं आपकी प्रार्थना स्वीकार करने में असमर्थ हूं। कसम थोरो, एमर्सन और क्रॉपॉटकिन की, आपके साथ मेरी पूरी-पूरी और हार्दिक सहानुभूति है। आप विश्वास रखें कि मैं आपके अभिनंदन-ग्रंथ के लिए धुआंधार प्रोपेगंडा कर दूँगा।'

इतनी तैयारी और आशा से मैं उनके पास गया था। उनके इस इन्कार ने मेरी आशा पर वज्रपात कर दिया। मैं सीज़र की तरह कहना चाहता था--दाउ टू ब्रूट्स! किंतु निराशा से मेरी वाक्शक्ति स्तब्ध हो गई थी। उर्वशी को भी अर्जुन के उत्तर से शायद इतनी निराशा न हुई होगी जितनी मुझे उस समय हुई। मैं उसी प्रकार हतप्रभ होकर लौटा जिस प्रकार दुर्योधन द्वारा संधि प्रस्ताव के ठुकराये जाने पर भगवान श्री कृष्ण लौट आये थे। किंतु मैं निराश होनेवाला नहीं। तब मैंने भीष्म-प्रतिज्ञा की कि अब मैं किसी से भी अपने अभिनंदन-ग्रंथ के संपादन की प्रार्थना न करूंगा। और इन अभिनंदन-ग्रंथों के संपादकों को दिखला दूंगा कि मैं उनसे कम अच्छा संपादन नहीं कर सकता। अतएव मैंने निश्चय किया है कि मैं अपने अभिनन्दन-ग्रंथ का स्वयं संपादन कर एक नयी, स्वस्थ, क्रांतिकारी और ईमानदार साहित्यिक परंपरा की स्थापना करके एक युगांतरकारी कार्य करूंगा।'

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की उन्मुक्त जीवन-पद्धति ने उनकी लेखनी पर स्याही नहीं जमने दी। संस्मरण लिखने में वह अपना सानी नहीं रखते। एक प्रसंग पर उनकी कलम की कुलाचें देखिए:

'उज्जैन में श्री संपूर्णानन्दजी ने मेरे साथ फिर एक मज़ाक़ किया। क्षिप्रा नदी में दो नौकाएं डाली जाने वाली थीं और उनका संतरण संस्कार श्री संपूर्णानंदजी के ही हाथ से होना था। हम लोग साथ-साथ ही गये। नौका में बैठते वक्त मेरे जूते की एड़ी से कुछ कीचड़ लग गई। संपूर्णानंदजी ने उसे देख लिया और तुरंत ही कहा 'यह है आपका सलीका'। हम लोगों को माधव कालेज की मीटिंग में पहुंचने में बीस मिनट की देर लग गई। श्री संपूर्णानंदजी वक्त के बहुत पाबंद थे और उन्होंने उपस्थित जनता से क्षमा याचना करते हुए कहा 'माफ कीजिए। एक दुर्घटना के कारण हम लोग लेट हो गये। बात यह हुई कि हमारी राज्यसभा के नवीन सदस्य चतुर्वेदीजी क्षिप्रा नदी में डूबते-डूबते बच गये, वह तो खैरियत यह हुई कि हम लोगों ने उन्हें निकाल लिया, नहीं तो यह मीटिंग शोकसूचक बन जाती।' इस बात को सुनकर मैं तो मुस्करा दिया, पर 'लीडर' के संवाददाता ने इस घटना को सच्चा समझा और इलाहाबाद को तार दे दिया कि चौबेजी डूबते-डूबते बचे। यह खबर 'भारत' में भी छपी, नतीजा यह हुआ कि मेरे घर वालों को बड़ी चिन्ता हो गई। प्रसाद बांटा गया और परिचितों तथा शुभचिंतकों के तार और चिट्ठियां आईं। टीकमगढ़ के कई मित्र चार मील चलकर कुण्डेश्वर पधारे और मेरे डूबने से बचने की खुशी में मुझसे आमों की दावत ले ली। झांसी के एक साहित्य-प्रेमी मजिस्ट्रेट अपनी कार में कुण्डेश्वर आये। वह भी इसी भ्रम में थे कि मैं क्षिप्रा नदी में डूबते-डूबते बचा था। चिट्ठियों और तारों का जवाब देते-देते मैं तंग आ गया और मैंने चिढ़कर श्री संपूर्णानंदजी को लिखा--'आपने अच्छा मजाक किया। उसकी वजह से प्रसाद, पोस्टेज और आतिथ्य में मेरे अठारह रुपये खर्च हो गये हैं, जो आपसे वसूल किये जायंगे। मेरे पत्र का जो उत्तर संपूर्णानंद जी ने दिया वह यहां उद्धृत किया जाता है:

'आप डूब रहे थे या नहीं इसका कोई महत्व नहीं, महत्व इस बात का है कि मैंने बचाया। यह हो

सकता है जिस कविता को आपने उद्धृत किया है 'नाथ कैसे गज को फन्द छुड़ायो' उसमें गज को न छुड़ाया हो; वह स्वयं हाथ पांव मारकर निकल आया हो, पर इस बात को देखिये कि यदि नाथ से छुड़ाये जाने की प्रसिद्धि नहीं होती, तो उस गज का कोई नाम भी नहीं लेता। इस बात की काफी संभावना है कि यदि आज से कुछ दिन बाद आपकी जीवनी लिखी गई तो उसमें इस बात का भी उल्लेख होगा कि उसके करुण क्रन्दन को सुनकर दयासिंधु भगवान संपूर्णानंद नाव पर से क्षिप्रा में कूद पड़े और उस डूबते हुए ब्राह्मण को निकाल लाये। इस वर्णन में सत्य का कितना अंश है इसकी खोज कोई पागल इतिहास का पण्डित करता फिरे। उसकी सुनेगा कौन। गो-ब्राह्मण के प्रतिपालक होने की मेरी प्रसिद्धि इतिहासवेत्ता के लिखने को अरण्य-रोदन बना देगी और मेरे जैसे नाथ के कारण आप जैसे गज को अमरत्व प्राप्त हो जायगा।'

डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी किस खूबी से उस घटना का जिक्र करते हैं, जिसमें उन्होंने आम के साथ गुठली के दाम वसूल किये :

'मैंने ब्रिटेनिया बिस्कुट का एक डिब्बा मोल लिया। उसके भीतर एक टिकट निकला, उस पर छपा था--यदि बिस्कुटों में कोई खामी मालूम पड़े तो अपना पता लिखकर कृपया इस टिकट को कम्पनी के कार्यालय में भेज दें। मैंने ऐसा ही किया। सातवें दिन मेरे पास बिस्कुटों का एक नया डिब्बा आ गया। उसके साथ ही पृथक् डाक द्वारा एक पत्र भी आया। इस पत्र के द्वारा कम्पनी के व्यवस्थापक ने मुझे होने वाली असुविधा के लिए क्षमा याचना की थी।

मैंने तुरंत ही पत्र का उत्तर दिया और लिखा कि वास्तव में बिस्कुटों में कोई दोष न था। मैंने वैसे ही परीक्षा करने के लिए टिकट लौटा दिया था। कृपया लिखें कि इस नए डिब्बे के बदले आपको कितने रुपये भेज दिये जायं। बिस्कुट कम्पनी का उत्तर आया कि आप कुछ भी भेजने का क़ष्ट न करें। बिस्कुटों का शौक़ से उपभोग करें। आपका पत्र ही हमारे लिए आवश्यकता से अधिक पुरस्कार है।'

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' आगरा में निजी मकान बनवाकर बहुत पछताये। इस मामले में बाबू गुलाबराय को भी अनूठी अनुभूतियां हुई थीं, जिन्हें उन्होंने एक लेख में व्यक्त भी किया था। 'कमलेश' एक कदम और आगे बढ़ गये, लिखते हैं :

'मैंने जिस कालोनी में मकान बनवाने की मूर्खता की है, उसका नाम सूर्यनगर है। मेरा उपनाम कमलेश है और उसका एक अर्थ सूर्य भी होता है। मकान का नाम भी मैंने आलोक रखा है। जब सन ६२ में राम-राम कह कर मकान का मुहूर्त किया था तो बड़ा प्रसन्न हुआ था। सूर्यनगर में आलोक और उसमें निवास करें कमलेशजी, यह सोचकर लोग और कुछ नहीं तो कम-से-कम मेरे जीवन में प्राप्त संयोगतत्व का तो अवश्य ही गुणगान करेंगे। विशेष रूप से जब वे यह जानेंगे कि मेरे सुपुत्र का नाम भी 'अमिताभ' अर्थात अनन्त आलोक से युक्त है तब तो वे और भी आश्चर्यचकित होंगे। इन्हीं सब विचारों में लीन अपने मकान के निर्माण पर मैं फूला नहीं समाता था। धीरे-धीरे पानी का अभाव वैसे ही दिखाई देने लगा जैसे राजनीतिक दलों में सरकार में शामिल होने पर जनसेवा का अभाव दिखाई देने लगता है। उसका उग्र रूप इस वर्ष सामने आया है। प्राइवेट पलश की टंकियों में पानी नहीं चढ़ता जिसके कारण मकानों में गंदगी घर कर रही है।

इस कालोनी में अधिकांश व्यापारी रहते हैं और वे भी जूते वाले हैं। यों उनका जूता रूस और अमेरिका तक चलता है पर अपनी कालोनी के लिए जब वे अधिकारियों से मिलते हैं तो हवाई चप्पल पहनकर ही काम चलाते हैं। आवश्यकता होने पर वे चांदी का जूता भी मार सकते हैं पर उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि

सामूहिक हित में न हवाई चप्पल काम देती है और न चांदी का जूता, इसके लिए तो निरंतर आन्दोलन का जूता ही कारगर होता है।'

मथुरा के श्यामसुंदर 'सुमन' ने हास्यरस-प्रधान उपन्यास 'मनसुखा' ब्रजभाषा में लिखा है। श्रीकृष्ण के सखा तथा व्यंग्य के प्रतीक मनसुखा इसके नायक हैं। उनकी कारगुजारी देखने काबिल है। यह तय हुआ था कि शाम को रसिया होगा और तदुपरांत पधारने वाले सज्जनों को दलिया खिलाया जायगा, जिसके लिए वे भोजन-पात्र घर से साथ लेकर आवें। मनसुखा के सिपुर्द दलिया बनाने का काम हुआ।

'मनसुखा झट्ट पट्ट नहाय आयौ। ठड़ी भई बबूरिया कूं बानै कुढारी ते चीर कै भट्टी में दै दीनौ और आंच बराय दई। चौपार में ते बड़ी सी नाद निकार कै भट्टी पै जल भर कै धर दई और जल कूं औटायबे लग्यौ। कोठार में ते अपनी बुद्धि के अनुसार आवश्यक बस्तून कूं लैकै बानै नाद में पटक दीनौ और लकड़िया ते चलाय-चलाय कै रांधबे की बाट जोहबे लग्यौ।

ग्राम-प्रधान जब निभट नहाय कै चौपार पै पहुंचे तौ मनसुखा पै दृष्टि पड़ते ई बोल उठे 'बड़ौ सुदौसी आय पहुंचौ रे तू मनसुखा। मैं तौ सोच रह्यौ औ कै मैंई सुदौसी पहुंच रयौ ऊं।'

मनसुखा गाम-प्रधान मांऊ दृष्टि डारि कै बोल्यौ 'तुम सुदौसी पहुंचबे की बात कह रहे औ। मैं तो आंच बराय कै दरिया ऊ रांधिबे लग्यौ।'

'भौत बढ़िया। तेरी तौ बड़ाई करिबे कूँ मो पै शब्द ई नांय मनसुखा।'

ग्राम-प्रधान के म्हौड़े ते अपनी बड़ाई सुनकै मनसुखा मन ई मन स्यायबे लग्यौ और बोल्यौ 'जे सब तुमारे आसीरबाद कौ ई प्रभाऊ ऐ परधान जी।'

'कोई बस्तु चहिऐ तौ मोते कह दीजौ, पर दरिया उन्नीस न बननौ चहिए, इक्कीस ई रहे–ऐसौ जुगाड़ जुड़इयौ मनसुखा!'

'परधान जी तुम काऊ बात की चिन्ता मती करौ––मैं सिग ठीक कर लुंगो।'

'दरिया नैकऊ फीकौ न रह जाय।' गाम-प्रधान कहबे लग्यौ 'भेली की भेली चिन रई ऐं कोठार में। दस की ठौर पै भलई बीस भेली गिर जायं पर दरिया में इत्तौ मिठास हौनौ चहिए मनसुखा कै लोग-लुगाई उंगरिया चाटत ई रह जांय।'

'ऐसौ ई लीयों परधान जी मनसुखा आश्वासन दैकै बोलौ।'

'कछु अबेर पीछै ई हातन में थारी-गड़ुआ गहे गामबासी ऊ आय पहुंचे और चौपार पै बैठ गये।

अबेरी तोली रसिया होमते रहे, ता पीछै सिग गामबासी पंक्तीन में थरिया-गड़ुआ लैकै बैठ गये। जमुना-जल ते जब गड़ुआ भर दये तौ गामबासी दरिया परोसबाबे की राह देखबे लगे।

मनसुखा कूँ हेला दैकै प्रधान बोल्यौ 'ओरे मनसुखा! कितकूँ गयौ। का खन है गयौ दरिया औटते-औटते। अब तौ रंध गयौ होय गौ बो। बेग ले आ जाते परोसगा ई हैबे लगै।'

'नैक और ठैरौ–अबई लाऊं।' मनसुखा ने आश्वासन दयौ।

'कोऊ बस्तु ऐसी तौ नाय जो दरिया में डारिबे ते रह गई होय'––प्रधान नै पुछी मनसुखा ते।

'सब कछू डारि दयौ मैंने जामे। खाय के देखियों। जब जाकौ स्वाद जीब पै बोलैगौ तब तुमकूं जा दरिया के गुन दीखेंगे।' मनसुखा ने ऊतर दीनौं।

'चौं नाय, चौं नाय' ग्राम-प्रधान बोलौ 'मोय तोपै ऐसौ ई बिसवास ओ। अब तू बेग लेआ बाकूं।'

'हवाल लायौ' मनसुखा ने फिर आश्वासन दीनौ।

'अरे यार दरिया औटते-औटते एक पहर तौ बीत गयौ——फिर कब लावैगौ।'

खोपड़ी पै हात फेर के, मनसुखा सुध करकै बोलौ 'परधान जी! एक बस्तू तौ बामै डारबे ते रह ई गई।'

ग्राम-प्रधान ताज्जुब ते बोलौ 'कुनसी बस्तू रह गई। का गुड़ रह गयौ।'

'गुड़ तौ खूब डार दीनौं परधान जी।' मनसुखा बोलौ।

'तौ का जल रह गयौ।' ग्राम-प्रधान नै पूछी।

'बोऊ खूब डार दीन्हों ओ।' मनसुखा ने ऊतर दयौ।

'तौ का रह गयौ——म्हौड़े मेंते तौ फूट मनसुखा।'

मनसुखा मूड़ खुजायतौ भयौ बोलौ 'जामै दरिया डारिबौ तो मैं भूल ई गयौ परधान जी।'

गंभीर प्रकृति और सौम्य स्वभाव के लोग भी व्रजवासी होने पर किस प्रकार चुभती हुई बात कहे बिना नहीं रह सकते, इसका उदाहरण बाबू वृन्दावनदास हैं। अपने एक संपादकीय में विश्वविद्यालयों के अधिकारियों का अकल-अजीरन रोग शीर्षक से उन्होंने इस प्रकार लिखा:

'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने लिखा है 'चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकल-अजीरन रोग।' मालूम होता है यह महारोग अब विश्वविद्यालयों में भी घुस गया है। विश्वविद्यालयों के हिंदी शोध के संबंध में फैली कुव्यवस्था इसका पुष्ट प्रमाण है। डाक्टर विजयेंद्र स्नातक ने एक स्थान पर लिखा है कि हिन्दी में जो छः-सात सौ प्रबंध स्वीकृत हुए हैं उनमें चार-सौ शुद्ध पिष्टपेषण की कला के निदर्शन हैं। यदि इन चार सौ शोधप्रबंधों का अनुसंधानात्मक दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन किया जाय, तो विदित होगा कि इन प्रबंधों के दस लाख पृष्ठों में से दो हजार ही नवीन हैं, शेष पिष्टपेषण हैं, पुनरावृत्ति और संकलन मात्र हैं। यह कितनी हीन और दयनीय स्थिति है। इस व्यापक अंधेर को देखकर कुछ लोग अक्सर कहते सुने गये हैं कि आजकल विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि लेना सरल है, एम० ए० पास करना कठिन।

एक ओर तो यह दशा है, अब दूसरा और अकल-अजीरन देखिये। स्वर्गीय डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल पर शोध का इस आधार पर निषेध किया गया कि उनका सृजनात्मक साहित्य कोई नहीं है। वाह रे अकल की खूबी। उस युग के प्रवर्त्तक मनीषी की, जिसने वैदिकी विद्या को हिन्दी जगत में फैलाया हो, जिसने अपार जनपदीय भण्डार से हिन्दी के कलेवर की वृद्धि स्वयं की और दूसरों से कराई हो, जिसने अनवरत रूप से उपनिषदों के नवनीत से हिन्दी के कलेवर की पुष्टि की हो, उसकी कृतियां इस योग्य नहीं समझी गईं कि उन पर अनुसंधान हो। डाक्टर अग्रवाल के अकेले पाणिनि के भाष्य पर ही अनेक शोध प्रबंधों का मसाला उपलब्ध हो सकता है।'

ब्रज के परंपरागत उल्लासमय जीवन की इस संक्षिप्त झांकी को बिना दो एक लतीफे सुनाये समाप्त करना उचित नहीं दीखता। किसी सम्मेलन में डा० वृन्दावनलाल वर्मा और डा० हरिशंकर शर्मा दोनों को भाग लेना था। चलते समय वर्माजी ने मनोविनोद की मुद्रा में ब्रज-संस्कृति पर कोई छींटा कस दिया। शर्माजी कुछ नहीं बोले पर सम्मेलन में जब भाषण देने खड़े हुए तो जहाँ और बातें कहीं वहाँ यह व्यंग्य बाण भी छोड़ गये कि ब्रज की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। यहाँ जो यह वर्मा जी बैठे हैं इनके नामकरण के लिए बुन्देलखंड में कोई उपयुक्त शब्द ही न जुड़ पाया, सो यह ब्रज से अपना नाम वृंदावनलाल उड़ाकर ले गये।

मेरे एक रेडियो एक्टिव फ्रेन्ड का पेट गड़बड़ा गया और बकौल उनके शौचालय की पचास-साठ यात्राओं के बाद भी काबू में नहीं आया। उदर की बौखलाहट दूर करने के लिए वह कमरा बंद करके अपने दफ्तर की बड़ी मेज पर पंखा चलाकर लेटे हुए थे। मैंने घरेलू चिकित्सा की दो चार गोटें बैठाने की कोशिश की मगर उन्होंने बिसात उठा दी। बोले 'आप भी क्या हिमाकत का नुस्खा बतलाते हैं। हमारे यहां इलाज दूसरे तरीके से होता है।' मैंने उनकी पद्धति जानने की इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने फर्माया 'विष को विष ही मार सकता है, हमें भोजन अधिक करने की आदत से यह बवंडर उठा है। लगभग पन्द्रह दिन से हमारा पेट गुम था, फिर भी हमने आहार करना नहीं छोड़ा। कल रात से हमारी डाक खुली है। इसका मतलब यह तो नहीं है कि हम चिट्ठियां छोड़ना बंद कर दें। हम लेट फीस लगाकर माल झोंक रहे हैं। आपके पधारने से कुछ पूर्व एक खर्बूजा और दो गिलास शर्बत ले चुके हैं। मैं समझ गया खर्बूजा अगर छोटा भी रहा होगा तो भी एक डेढ़ किलो से कम वजनी नहीं होगा और यदि उसी गिलास से उन्होंने शर्बत पिया था जो उनकी सुराही पर औंधा पड़ा था तो निस्संदेह शर्बत की मात्रा भी लगभग डेढ़ दो लिटर की रही होगी। बहरहाल उन्होंने तर्क प्रस्तुत कर और अपने संगी साथियों के उदाहरण देकर यह सिद्ध कर दिया कि अजीर्ण अथवा अतिसार के रोगी को स्वाथ्यलाभ तभी हो सकता है जब वह सामान्य से दुगुना तिगुना भोजन करे, वे पदार्थ खाये जो उपाय-उपचार की किताबों में वर्जित लिखे हुए हैं और दवादारू का नाम न ले। ताज्जुब यह है कि जब तीसरे दिन उनसे बाजार में भेंट हुई तो वह पहले से कहीं ज्यादा तन्दुरुस्त दिखलाई पड़ रहे थे। आदत के मुताबिक मैंने टोका तो कहने लगे 'घर लौटने पर मैंने एक किलो हथेली के बराबर मोटी मलाई का दूध हलवाई से ले लिया। उसे दुकान पर डकार कर मकान गया। शाम को जैसा खाना खाता आया हूं वैसा प्रेमपूर्वक खाया। सुबह उठा तो बड़ा अच्छा महसूस कर रहा था। दस्त-वस्त पता नहीं कहां पीछा छोड़कर भाग गये।'

मैंने उन्हें सिर नवाया, जिसके एवज में उन्होंने मुझे बढ़िया बनारसी पान खिलाया।

पान-सुपारी चाहे कोई खिलाये या न खिलाये, मैं इस हँसती, मुस्कराती और मस्ती बिखेरती ब्रजभूमि को शत-शत प्रणाम करता हूं। ●

रमेशचन्द्र दुबे

दादाजी के दो प्रिय कवि

●

श्रद्धेय दादाजी (पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी) के साहित्यिक व्यक्तित्व से तो मैं सन् १९४६ से ही परिचित था, जब उन्हें आगरा कालेज की हिन्दी सभा के मन्त्री के नाते मैंने स्व० पं० श्रीराम शर्मा एवं स्वर्गीय डा० हरिशंकर शर्मा के साथ हिन्दी की महत्‌त्रयी के रूप में अपनी सभा का उद्‌घाटन करने के लिए आमंत्रित किया था। पर उनकी गहरी संवेदनशील मानवीयता का पुलकाकुल संस्पर्श मुझे अप्रैल सन् १९६८ के सत्यनारायण 'कविरत्न' के अर्ध-शताब्दी समारोह के आयोजन के अवसर पर ही मिला। उस समारोह के बाद से तो मैं उनका आत्मीय ही हो गया। 'सत्यनारायण की जीवनी' तो पहले भी पढ़ी थी, पर 'सत्यनारायण स्मृति ग्रंथ' के सम्पादन

के लिए उसे फिर से पढ़ा और उसे पढ़कर हृदय पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि मैंने पाँच सर्गों में 'सत्यनारायण की कथा' शीर्षक से उस जीवन-कथा को काव्यरूप ही दे दिया। उस जीवनी के लेखक के व्यक्तित्व के प्रति भी मेरा आकर्षण बढ़ा और श्रद्धेय बाबू वृन्दावनदास के निबंध-संग्रह 'भारतीय संस्कृति के विविध परिदृश्य' में दादाजी के पत्रों को पढ़कर उनकी विचारधारा से मैं बहुत प्रभावित हुआ। दादाजी को सत्यनारायण 'कविरत्न' से तो बेहद प्रेम था ही, मेरी जन्मभूमि मैनपुरी के विख्यात लोकप्रिय कवि स्वर्गीय कौशलेन्द्र से भी उन्हें अतिशय लगाव है। कौशलेन्द्रजी, सत्यनारायण की तरह ही, अल्पायु में आग की दुर्घटना में सपरिवार दिवंगत हो गए थे। उस समय डा० हरिशंकर शर्मा की अध्यक्षता में कौशलेन्द्रजी अक्सर आगरा आदि स्थानों पर कवि-सम्मेलन में कविता पाठ किया करते थे। उनके बिना तब कवि-सम्मेलन सफ़ल नहीं हो पाते थे। वास्तव में कविता के प्रति मेरी रुचि को बढ़ाने में कौशलेन्द्र की 'काकली' का बचपन से ही बड़ा हाथ रहा। मेरे साहित्य और काव्य-प्रेमी स्वर्गीय पिता पूज्य पं० सीताराम दुबे को 'काकली' से विशेष लगाव था और उनकी पीढ़ी के सभी साहित्य-रसिक मैनपुरी, आगरा आदि नगरों में कौशलेन्द्र की कव्य-पंक्तियाँ अकसर दुहराया करते हैं। अतः साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न करने में 'काकली' के कवि का यह लेखक वास्तविक ऋणी है। नीचे कौशलेन्द्र और फिर ब्रजकोकिल पं० सत्य नारायण 'कविरत्न' के संबंध में परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत कर रहा हूं। सत्यनारायण-संबंधी विवरण 'सत्यनारायण की जीवनी' से तथा 'कौशलेन्द्र' सम्बंधी तथ्य 'काकली' की भूमिका में उपलब्ध पं० मधुसूदन दासजी चतुर्वेदी के विवरण से ही अधिकांशतः ग्रहीत हुए हैं। वैसे मैनपुरी जनपद के साहित्यिकों से कौशलेन्द्र के बारे में कई बार सुना है और मेरे अन्तर्मन में कभी 'कौशलेन्द्र स्मृति ग्रंथ' को भी प्रकाशित करने की योजना बरबस घूम जाया करती है।

कौशलेन्द्र--कौशलेन्द्र का पूरा नाम ठाकुर हाकिमसिंह राठौर था। 'कौशलेन्द्र' मिश्रबन्धु पं० कृष्णबिहारी मिश्र एवं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन थे। इस उत्साही, होनहार और भावुक कवि का जन्म श्रावण शुक्ल १९५६ विक्रमी संवत सन् १८९९ में डालूपुर ग्राम, जिला फर्रुखाबाद में हुआ, जो मैनपुरी जिले के बेवर-फर्रुखाबाद मार्ग पर है। बीमा कम्पनी में उनकी जन्मतिथि अक्तूबर, १९०२ 'लिखी है और श्री ब्रह्मचारी 'इन्द्र' ने 'त्रिवेणी' में उनकी जन्मतिथि २० सितंबर १९०१ लिखी है। उनके बड़े भाई का नाम बच्चूसिंह था और पिता का नाम ठाकुर खूबसिंह। ठाकुर खूबसिंह फारसी उर्दू के अच्छे विद्वान थे। एटा जिले के रुदायन स्टेशन के निकट राजा का रामपुर नामक गांव कभी राठौर क्षत्रियों की राजधानी था। उसी राजवंश के उदैचंद खिमसेपुर, जिला फर्रुखाबाद के उत्तराधिकारी हुए। बाद में खिमसेपुर का विभाजन होने पर श्री केसराज (पौत्र उदैचंद) नवादा के जमींदार हुए और केसराज के पौत्र तीखाराम डालूपुर में आये। तीखाराम की सातवीं पीढ़ी में कौशलेन्द्र का जन्म हुआ।

कौशलेन्द्र की प्रारंभिक शिक्षा कानपुर के एक लालाजी द्वारा हुई। १९१० ई० में कौशलेन्द्र नवीगंज के मदरसे में दाखिल हुए। १९११ में वह छिबरामऊ की अंग्रेजी पाठशाला में भरती हुए। डेढ़ वर्ष वहां पढ़कर उन्होंने छठवीं कक्षा की योगयता प्राप्त कर ली। १९१३ में वह बलवन्त राजपूत हाई स्कूल में सातवीं कक्षा में भरती हुए। १९१४ की बलवन्त राजपूत स्कूल की छात्र हड़ताल के बाद वह वहां से निष्कासित कर दिये गए और तब उनका सारा अध्ययन स्वाध्याय द्वारा हुआ। १९१४ में कौशलेन्द्र का पहला विवाह पखरिया (हरदोई) से हुआ और १९१७ में उनकी प्रथम परिणीता की मृत्यु हो गई।

कौशलेन्द्र की एकमात्र प्रकाशित रचना 'काकली' में प्रकाशित 'मरणोन्मुखी पत्नी से' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियाँ सुनते ही मर्म को छू लेतीं हैं :

जीती कुछ और देख लेती सुख आपका तो,
खलती न आज कठिनाई मर जाने की।
प्राणनाथ ! तुम पर मरती सदा थी किन्तु,
अब मौत पर मैं अभागी मरी जाती हूं ।।

कौशलेन्द्र ने सन १९१७ में कविता लिखना प्रारंभ किया और आर्यसमाजी विचार-धारा के कारण शिवजी के लिए कुछ अकथनीय वर्णन कविता में कर दिया । दैवयोग से उसी दिन कुश्ती लड़ने में उनकी बांह की हड्डी टूट गई और तब कौशलेन्द्र को शिवजी पर विश्वास हो गया। उन्होंने लिखा था—'तिहि कारण मो भुज भोरई टूटी।' फिर दो महीने पिताजी के साथ वह काशी रहे, वहीं वह हड्डी ठीक हुई ।

१९१८-१९ में कौशलेन्द्र उर्दू के शेर लिखने लगे। महाभारत के बहुत से भाव उर्दू छंदों में कर दिये। 'रुकमिनी वर्णन' उनकी बहुत प्रशंसित रचना थी, १९२३ ई० की उर्दू बनाम हिन्दी रचना से विदित होता है कि वह बहुत पहले ही उर्दू में कविता लिखना बंद कर चुके थे।

नेरी (सीतापुर) में कौशलेन्द्र की ननिहाल थी। वहां के कविजनों से भी कौशलेन्द्र का स्नेह सामीप्य १९१८ में हो गया था जब वह वहाँ ६ महीने रहे थे। १९१८ में ही सैंदपुर, मैनपुरी से कौशलेन्द्र का दूसरा विवाह हुआ। उनकी मृत्यु के बाद उनकी पत्नी वहाँ अपने भाई तेजसिंह के साथ रहने लगीं।

'प्रताप' के सम्पादक श्री पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल को अपनी रचना न छापने पर उन्होंने एक व्यंग कविता में लिख भेजा था और फिर 'प्रताप' में उनकी रचनाएं छपने लगीं। 'चातक' जी के साथ एक 'मोहन' पत्र की योजना उन्होंने बनाई थी। राजा साहब तिर्वा के यहां इस योजना को लेकर जाने पर उन्हें जब उचित आदर नहीं मिला तो वह योजना उन्होंने त्याग दी।

दयानन्द-बोधोत्सव के १९२४ के कवि सम्मेलन तक कौशलेन्द्र की प्रतिभा देदीप्यमान हो उठी थी। 'सुधा', 'माधुरी' में उनकी रचनाएं प्रकाशित होती थीं।

१९२६ से ३० तक कौशलेन्द्र मैनपुरी रहे। उनके भाई बच्चूसिंह मैनपुरी राज्य में नायब के पद पर तब कार्य करते थे। माथुर चतुर्वेदी पुस्तकालय, मैनपुरी उनकी तब की स्मृतियों से अब भी धनी है और 'काकली' की प्रतियाँ साहित्य-प्रेमियों को अब भी वहाँ उपलब्ध हो जाती हैं, १९२९ में आगरा कालेज की हिन्दी सभा का जन्म हुआ। उस सभा का उस वर्ष का कवि सम्मेलन कौशलेन्द्र के कारण ही अभूतपूर्व सफलता से सम्पन्न हुआ। सन् २९ में कौशलेन्द्र ने 'कादम्बरी' के आधार पर 'महाश्वेता' काव्य लिखना प्रारंभ किया। इसके २८ छंद ही अब प्राप्य हैं।

सन् १९३० में कोशलेन्द्र अपने भाई बच्चूसिंह के साथ डालूपुर वापस चले गए। २८ अप्रैल सन् १९३० का वह दुर्भाग्य-पूर्ण दिन था, जब कौशलेन्द्र के पड़ोस के मकान के छप्पर में आग लगी और उनका मकान निरापद होते हुए भी धुएं से भर गया। उसने कौशलेन्द्र सहित उनके सम्बन्धी ८ व्यक्तियों की जान ले ली। उनके कवि-मित्र स्वर्गीय नेहजी का कहना था कि बड़े भाई बच्चूसिंह को मृत जानकर कौशलेन्द्र ने कहा कि मैं भी अब जीवित रहकर क्या करूंगा और उन्होंने उसी धुंएं में घुसकर स्वयं भी

प्राण दे दिये। इस प्रकार असमय में, केवल ३१ वर्ष की अल्पायु में, हिन्दी का यह देदीप्यमान प्रदीप सहसा अधंकार में विलीन हो गया।

श्री रवीन्द्र नाथठाकुर, डा० गंगानाथ झा, प्रसादजी, गुप्तजी, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० कृष्ण बिहारी मिश्र (मिश्रबंधु) आदि सभी सम-सामयिक प्रतिभाओं ने कौशलेन्द्र की काव्य प्रतिभा को सराहा था और उन्हें प्रोत्साहित किया था।

उनकी संकलित कविताओं का संग्रह 'काकली' अब भी सहृदयों का कण्ठहार है। उसमें सच्ची अनुभूति से युक्त भक्तिपूर्ण रचनाएं जहाँ एक ओर हृदय को छूती हैं वहाँ उस भावुक कवि की सांसारिक पीड़ाओं से व्यथित उक्तियाँ भी मानस में घर कर जाती हैं। मेरे पूज्य पिताजी पं० सीताराम दुबे 'काकली' के अनन्यप्रेमी थे और अक्सर वह निम्न पंक्तियाँ दुहरा देते थे:

स्वार्थ का सगा है सारा जग खूब देख लिया,
भरम गँवाना ही किसी को अपनाना है।

भगवान के प्रति कवि की इन मार्मिक उक्तियों में कितनी भाव-प्रवणता है:

'कौशलेन्द्र' रहते न दीन ही जगत में, तो
दीनबन्धुता तुम्हारी आती किस काम में?
पूछता न कोई तुम्हें कौड़ी को भी कमलेश!
कमला न होती जो तुम्हारे स्वर्ग धाम में?

'दुःख' का यह व्यापक प्रसार भी कवि की अपार व्यथा की छाया को मूर्तिमान कर देता है:

काँपता पवन अविराम पंथ चलने से,
धरा हुई धूल भार जग का उठाने से।
जलती अनल अपने में ही निरन्तर है,
नीला पड़ा अम्बर है आहें टकराने से।।
'कौशलेन्द्र' जल भी बना कवल प्यास का है
बच सका कौन जगती में दुख पाने से।
डाल दिया मुझको कहाँ है भगवान! हाय,–
दुखिया हुआ मैं इन दुखियों में आने से।।

'वधिक से' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियां उस भोले-भावुक कवि की भाव-गहनता को सघनता के साथ प्रतिच्छापित करती हैं:

मरते सभी हैं हम डर मरने का नहीं,
मार कर हमको न आप कुछ पाएंगे।
होगा अपकार रम जायगा कुरंग-कुल,
जग में कभी न तुम्हें भोले पतिआएंगे।
'कौशलेंद्र' हमें बस शोक इतना है, जब---
प्यारे मृग खोज में हमारी यहाँ आएंगे।
सूनी विपिनस्थली विलोकि दूनी होगी व्यथा,
उर भर आंयेंगे, नयन झर लायेंगे।।

'महाश्वेता' की निम्न पंक्तियों के उद्धरण से इस स्वाधीन-चेता, स्वाभिमानी कवि को अपना नमन अर्पित करते हुए इस वृत्तान्त को मैं समाप्त करता हूं :

शिक्षा हमें यह दे रहे
चरते हुए मृग-गण भले।
जग में रहे स्वाधीन चाहे,
पेट तिनकों से पले।।

सत्यनारायण 'कविरत्न'——दादाजी के दूसरे प्रिय कवि ब्रज-कोकिल, कविरत्न, पंडित सत्यनारायण के विषय में भी कुछ तथ्य संकलित करके यहाँ इस उद्देश्य से दे देना चाहता हूं कि उस सरस भोले व्यक्तित्व की अमृताभा हिन्दी के पाठकों के हृदयाकाश में अपनी प्रकाश-किरणों को इस ग्रन्थ के माध्यम से भी आपूरित करती रहे। 'सत्यनारायण की जीवनी' दादाजी के लेखन की सर्वोत्तम उपलब्धि मुझे लगती है। सत्यनारायण अर्धशताब्दी समारोह (अप्रैल १९६८) के बाद जो सूचनाएं और मिलीं, उनका भी इंगित कहीं-कहीं कर दिया गया है।

सत्यनारायण ब्रज की धरती के सपूत थे। इसकी मिट्टी और इसकी बोली से उन्हें बेहद प्रेम था। इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आठवें अधिवेशन में जाते समय वहाँ की काली मिट्टी देखकर वह कह उठे थे :

या माटी कों तो हमारो कन्हैया नाहि खावतो।

लखनऊ में खड़ी बोली के मंच पर डटकर, द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में सत्यनारायण ने 'ब्रजभाषा' की आवाज ऊंची की उस अवसर पर पढ़ी गई अपनी 'ब्रजभाषा' कविता में उन्होंने लिखा :

बरनन को करि सकै भला तेहि भाषा कोटी।
मचलि मचलि जामें माँगी हरि माखन-रोटी।।

सत्यनारायण के मधुर कंठ से इस कविता को सुनकर लखनऊ में ब्रज-भाषा की धाक जम गई थी। भार्गव प्रेस के मुंशी नवल किशोर ने सत्यनारायण को गले लगा लिया था। मोटर पर बिठालकर वह उन्हें हजरतगंज में सी० मल फोटोग्राफर के यहाँ लिवा ले गए और फोटो खिंचवाया। सत्यनारायण का वही फोटो, नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा से प्रकाशित उनकी पुस्तक 'हृदय तरंग' में छपा है। यह पुस्तक भी दादाजी द्वारा सम्पादित है।

सत्यनारायण सहज स्नेही, सीधे-सादे, सरल प्रकृति के व्यक्ति थे। गाँव की बोली और गाँव की वेष-भूषा, बिना बनावट लिये हुए सबसे प्रेम का व्यवहार, यही सत्यनारायण का व्यक्तित्व था। अपने विवाह की बात ज्वालापुर, हरिद्वार के 'शारदा-सदन' के संस्थापक पं० मुकुन्दराम शर्मा की कन्या सावित्री देवी से तय हो जाने पर पं० पद्मसिंह शर्मा से उन्हें एक पत्र मिला था। उसमें उन्होंने सत्यनारायण को 'तकल्लुफ' न करने को लिखा था। उत्तर में सत्यनारायण ने २६ दिसंबर १९१५ को शर्माजी को यह पत्र लिख भेजा :

आई तब पाती।
नहिं बिसरायो अजहुं मोहि यह जानि सिरानी छाती।

बड़े भाग जो इतने दिन में सोचि कछू सुधि लीनी।
दास पिपासाकुल कों आधी जीवन आशा दीनी।
जो मोसों हँसि मिले होत मैं तासु निरन्तर चेरो।
बस गुन ही गुन निरखत तिहि-मधि सरल प्रकृति को प्रेरो ।।
यह स्वभाव को रोग जानिये मेरो बस कछु नाहीं।
नित नव विकल रहत याही सों सहृदय बिछुरन मांहीं।
सदा दारु योषित सम बेबस आज्ञा मुदित प्रमानै ।।
कोरो सत्य ग्राम को वासी कहा 'तकल्लुफ जानै'।

ऐसे निर्दोष और प्रेमपथ के पथिक थे हमारे 'कोरे ग्रामवासी' सत्यनारायण, जो अपनी कोयल जैसी मधुर काव्य-पाठ की वाणी के कारण 'व्रज-कोकिल' कहलाये ; और सुन्दर-भावपूर्ण काव्य रचनाओं के कारण 'कविरत्न' नाम से विख्यात हुए।

इस 'कविरत्न' नाम के कारण उन्हें कुछ वैद्यों ने वैद्य समझकर अपनी सभाओं में आमंत्रित किया था, क्योंकि वैद्यों की उपाधि बंगाल में 'कविरत्न' भी होती है। जब वह द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में भाग लेने प्रयाग गये थे तो वहां तृतीय वैद्य सम्मेलन भी हो रहा था। वहाँ आपने वैद्यों के स्वागत में जो कविता पढ़ी उसमें स्वर्गीय शंकरदाजी शास्त्रि पदे के नाम का भी उल्लेख आया। जैसे ही वह पद उन्होंने पढ़ना शुरू किया कि सभा में एक सर्प निकल आया। उसके निकलते ही वहां खलबली मच गई। पर सर्प एक ओर गेंडुरी मार कर स्थिर भाव से फन फैला कर बैठ गया। किसी ने कहा, स्वयं शंकर दाजी शास्त्रि पदे आये हैं। जो हो, जब तक वह पूरी कविता समाप्त नहीं हुई तबतक वह सर्प वहीं बैठा रहा और ज्योंही कविता समाप्त हुई, वह सर्प भी खिसक गया।

सत्यनारायण का काव्य अत्यन्त सरस एवं पावन होता था। वे एक अलौकिक व्यक्ति थे। सत्यनारायण का जन्म अब से ८९ वर्ष पूर्व सन १८८० की २४ फरवरी को अलीगढ़ जिले के सराय ग्राम में हुआ था। रात्रि का दो बजे का समय था। माघ शुक्ल १३ संवत १९३६ का सोमवार का दिन था। उनकी माँ तलफो ग्राम जरैरा, तहसील सिकन्दरा राऊ, जिला अलीगढ़ के पं० खुशालीराम की पांचवीं सन्तान थी। कोयल अलीगढ़ के धन-धान्य सम्पन्न जमींदार पं० गोविन्दराम दुबे से उनका विवाह १४—१५ वर्ष की उम्र में हुआ। धनाढ्य वंश में उनका नाम रानी सर्दार कुंवरि रख लिया गया। पर थोड़े समय में ही वह विधवा हो गईं और अपने मायके के पास के ग्राम सराय में रहीं। पिता ने उन्हें तुलसी की रामायण का खूब अभ्यास कराया था। ससुराल की जायदाद पर झगड़े चले और पं० खुशालीराम के वर्तमान वंशज पं० बहादुरसिंह ने, जो अब तहसील सिकन्दरा राऊ, जिला अलीगढ़ में काम कर रहे हैं, हमें बताया कि उस मुकदमे में ससुराल वालों ने यह कहा था कि सत्यनारायण का कोई हक जायदाद में नहीं है, क्योंकि वह दुबेजी की सन्तान नहीं हैं। पर बाद में समझौता हो गया और तलफो को कुछ जायदाद मिली, जिसे उन्होंने बाद में मायके वालों को दे दिया। इसका एक दस्तावेज भी पं० बहादुरसिंह के पास है। तलफो ने इस जायदाद से जरैरा में एक आयुर्वेदिक औषधालय चलाया और एक मन्दिर की स्थापना की, जिसकी पूजा-अर्चा अब भी पं० बहादुरसिंह के परिवारी जन स्वयं करते हैं। पं० बहादुरसिंह के अनुसार ससुराल वालों ने बालक सत्यनारायण को विष देने को आदमी भेजे थे पर बालक की सुन्दरता पर मुग्ध होकर वे ऐसा न कर सके और तलफो को आगाह कर गये। इसी से आशंकित होकर तलफो ने अपने इकलौते

बेटे के साथ जारखी, कोटला, आगरा, धांधूपुरा में आश्रय लेने की सोची और वे जगह-जगह भटकती रहीं। लुहारगली, रावतपाड़ा, आगरा के डा० रामनारायण ने अभी हाल में सत्यनारायण की लिखी 'दयानन्द मद-मर्दन' पुस्तिका प्रकाशित करके उसकी भूमिका में लिखा है कि सत्यनारायण ने 'सारस्वत' पढ़ना उनके यहां शुरू किया था। बाबा रघुवरदास धांधूपुरा वाले उनके यहां आते-जाते थे। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की लिखी 'सत्यनारायण की जीवनी' में उल्लेख है कि एक बार सत्यनारायण बहुत बीमार पड़े तो बाबा रघुवरदास के उपचार से वह ठीक हो गए थे। तब से तलफो अपने बेटे के साथ बाबा रघुवरदास के मन्दिर में धांधूपुरा ही रहने लगी। वहां ताजगंज स्कूल से सत्यनारायण की विधिवत शिक्षा शुरू हुई। फिर मिढ़ाकुर मिडिल स्कूल में वह पढ़े। बाद में मुफीद आम स्कूल में शिक्षा पाई। वहां जब वे १९०१ में विद्यार्थी थे तभी उन्होंने 'दयानन्द मद मर्दन' पुस्तक दोहा-चौपाइयों में लिखी थी। दिसंबर १८९८ ई० में उन्होंने लोअर मिडिल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और दिसंबर १९०० में अंग्रेजी मिडिल द्वितीय श्रेणी में पास किया। जनवरी १९०३ में वह सेंट जोन्स कालेजिएट हाई स्कूल से एंट्रेंस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। दो बार एफ० ए० परीक्षा में फेल होने पर वह सेंट पीटर्स कालेज में भर्ती हुए। इसी सेंट पीटर्स कालेज में हमने उनकी अर्द्धशताब्दी पिछले साल मनायी थी और आगरे के परम पावन आर्चविशप डोमिनिक एथेड ने विद्यालय के इस पुराने छात्र के चित्र का आदर और प्रेम से अनावरण किया था। कालेज के प्रिंसिपल फादर कोलम्बन तो हर मौके पर अपने छात्रों को सत्यनारायण की तरह ख्याति पाने को प्रेरित करते हैं। उन्होंने सत्यनारायण के कई चित्र कालेज में बनवा रक्खे हैं। सेंट पीटर्स कालेज से १९०८ में सत्यनारायण ने द्वितीय श्रेणी में एफ० ए० परीक्षा पास की। १९१० में वे सेंट जोंस कालेज से बी० ए० में बैठे, पर फेल हो गए।

१९०४ तक उनकी रचनाएं वार्णिक या श्रृंगारिक होती थीं। १९०५ से स्वदेशी आन्दोलन छिड़ा और सत्यनारायण ने ब्रजभाषा में स्वदेशी की निराली तान छेड़ दी। उनके 'भँवरदूत' में भी यशोदा मैया के माध्यम से भारत मैया के ही दुःख का गान सुनाई पड़ता है।

१९१२ के अन्त में सत्यनारायणजी को श्वांस की बीमारी हो गई। इस बीमारी के कारण उन्हें रात-रात भर नींद नहीं आती थी, माथा जमीन पर रखकर बैठे रहते थे। उसी समय उन्होंने लिखा था:

बस, अब नहिं जाति सही।
विपुल वेदना विविध भांति
जो तन मन व्यापि रही।
कब लों सहैं, अवधि सहिबे की,
कछु तौ निश्चित कीजै।
दीनबंधु! यह दीन दसा लखि
क्यों नहिं हृदय पसीजै।।

एक दिन एक गांव में रात बिताने पर वहां के एक वृद्ध ग्रामीण कृषक ने उन्हें बबूल की छाल की कोई औषधि दे दी थी, जिससे उन्हें रात भर खूब नींद आई। उसी दवा से वह अच्छे हो गए।

अपने समय की सभी महान विभूतियों से सत्यनारायण का संपर्क हुआ था। स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, सरोजिनी नायडू, मदनमोहन मालवीय, सभी महापुरुषों की यशगाथा

कहने में उनकी वाणी मुखरित हुई थी। स्वदेश बांधव, चतुर्वेदी, भारतमित्र, सरस्वती, आदि उस समय के सभी पत्रों में उनकी रचनाएं छपतीं थीं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकन्द गुप्त, पं० श्रीधर पाठक, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि सभी साहित्यकारों की उन पर कृपा दृष्टि रही थी।

सन १९१६ की सात फरवरी को शारदा सदन, ज्वालापुर, हरिद्वार के अधिष्ठाता पं० मुकुन्दराम शर्मा की पुत्री सावित्रीदेवी से उनका विवाह हो गया। पर सावित्रीदेवी को उनका ग्रामीण जीवन नहीं रुचा और भोले सत्यनारायण को लिखना पड़ा, "भयो क्यों अनचाहत को संग।" पता नहीं, विधाता क्यों यह 'अनमेल संग' सहृदयों के पल्ले बांध देता है। मां की करुणा और फिर अपने जीवन की महान करुणा दोनों के अनुरूप ही सत्यनारायण ने संस्कृत के अत्यन्त करुणापूर्ण नाटक 'उत्तर राम चरित' का अनुवाद हिन्दी में किया। यह अनुवाद गद्य और पद्य दोनों में ही बहुत सुन्दर और भावपूर्ण बन पड़ा है। 'मालती माधव' का अनुवाद उनकी अंतिम कृति थी। उनकी हृदयहारी कविताएं 'हृदय तरंग' में संकलित हैं। 'देश-भक्त होरेशस' का अनुवाद उन्होंने अंग्रेजी से ब्रजभाषा में किया था। पर सत्यनारायण का मन तो गांव में रमता था। वहां की बोली उनको अत्यन्त प्यारी थी। वहां की लोक-धुनों में वे मस्त हो जाते थे। एक बार एक रसिया बना कर उन्होंने अपने ग्रामीण मित्रों को सुनाया:

तुम चौंना मोकूँ तारो,
जगतारन नाम तिहारो,
बलि तारो, प्रहलाद उबारौ,
तुम गज को संकट टारौ।
तुम चौंना मोकूँ तारौ

जब महाराज भरतपुर को अधिकार मिले थे तो पंडित सत्यनारायणजी भरतपुर भी गये थे। वहां एक रसिया उन्होंने गाया:

बनि दुलहिन सो रही आजु
भर्तपुर नागरिया।

उनकी मृत्यु केवल ३८ वर्ष की अल्पायु में, अचानक बीमारी से १५ अप्रैल १९१८ को हो गई। रोटी खाने के बाद उनका जी मिचलाया। डाक्टर को बुलाया गया, पर वह मृत्यु के दो ढाई घंटे बाद पहुंचे। मृत्यु से पहले वह सावित्रीदेवी को अपने 'मालती माधव' के अनुवाद के प्रूफ से पढ़कर 'शिव की स्तुति' सुना रहे थे। शिवजी के दिन सोमवार को वह जनमें और शिवजी की स्तुति गाते हुए केवल ३८ वर्ष बाद शिव-लोक को चले गये। पर ब्रज की धरती का ऋण वे ब्रजभाषा की अविस्मरणीय सामयिक रचनाओं से चुकता कर गये।

अंगूरी बाग के पास यमुना के तट पर उनके शिष्य तालेवर ने जब उनकी चिता सुलगाई तो उनकी मृत्यु पर उनके गांव के एक साथी ने कहा, 'हम चारि आदमी बड़े मित्र हे सो हमारी तो मानों एक भुजाईं टूटि गई।' दूसरे साथी ने कहा, 'सत्यनारायण पैलें हमको अपनी कविता सुनाई देते और जब हम कहि देते कि ठीक है तब वे वाइ छपवाइवे भेजते। बाकी तो रहि रहि कें याद आवति है।' तीसरे साथी ने कहा, 'बड़ौ साहिर आदमी हो, ताईं तैं बाको नाम दूरि दूरि फैलि गयो।'

उनकी याद में उनके 'भंवरदूत' के गीतों के ढंग पर लिखीं निम्न काव्य पंक्तियां उद्धृत करके हम इस करुण कथा का उपसंहार करेंगे:

प्रेम पंथ को पथिक, निपट, सूधे, अति भोरौ।
रस रहस्य कौं चतुर जगत व्यौहारनि कोरौ।
भावुकता की खानि हो, सुचिता सों भरपूर।
रूखे जग कों दै गयो, नेह सुधा सौं चूर,
संदेसो स्याम को।

सत्यनारायण की कीर्तिकथा का एक प्रसंग और भी उल्लेखनीय है। वे मिरजई पहन कर जब इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में गए तो इन्हें गंवार समझ कर लोगों ने मंच पर नहीं जाने दिया। जब पहचान लिये गये तब पहुंचाए गए। गांधीजी सभापति थे। उन्होंने कार्यक्रम में पढ़ कर घोषणा की कि अब सत्यनारायण कविता पढ़ेंगे। सत्यनारायण ने रसखान के दो सवैये पढ़े : 'या लकुटी अरु कामरिया' वाला और 'मानुस हौं तो वही रसखानि' वाला। ऐसा मधुर स्वर था कि पंडाल में सन्नाटा छा गया। उसके बाद उन्होंने अपनी कविता पढ़ी। उसकी अंतिम पंक्तियां थीं :

मोहन प्यारे तुमसों निसदिन विनय विनीत हमारी।
हिन्दू, हिन्दी, हिन्द देश के बनहु 'सत्य' हितकारी।

मोहनदास गांधी नाम के 'मोहन' और सत्यनारायण नाम के 'सत्य' के इस योग से कविता में कितनी ध्वनियाँ निकल रही हैं, यह पाठक स्वयं देख सकते हैं।

'लीडर', 'न्यू इन्डिया' आदि अखबारों को तार भेजते हुए पं० वेंकटेशनारायण तिवारी ने तब लिखा था कि सत्यनारायण की मनोहारी कविताओं के पाठ से श्रोता मंत्र-मुग्ध से होकर निश्चल हो गए। ●

खंड : चार

●

प्रेरक पत्र

●

चतुर्वेदीजी का वहुत-सा समय पत्र लिखने में व्यतीत होता है। वह बड़ी हार्दिकता से पत्र लिखते हैं। अपने पत्रों में वह जहां दूसरों को प्रोत्साहन देते हैं, वहां कोई-न-कोई उत्तम विचार अथवा योजना भी दिये बिना नहीं रहते। उन्होंने लाखों पत्र लिखे हैं। इन पत्रों में पिछले पचास-साठ वर्ष का युग स्पंदित होता है। पत्र लिखते समय चतुर्वेदीजी यह भूल जाते हैं कि वह किसी विशेष व्यक्ति को लिख रहे हैं, या किसी सामान्य कार्यकर्त्ता को। उनका प्रत्येक पत्र मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत है। इस खंड में पाठक उनके कुछ चुने हुए पत्र पढ़ेंगे।

अयोध्याप्रसाद गोयलीय के नाम

•

(निजी) टीकमगढ़

२२-१-५०

प्रिय गोयलीयजी,

वन्दे ! मौलवी अब्दुलहक साहब का पत्र आया है। वे लिखते हैं :

"डाक्टर सीताराम इनवाइटेड मी टु टेक टी विद हिम यसटर्डे। देयर वर सैवरल गैस्ट्स, आलमोस्ट आल आफ़ देम मुसलमान्स। ही इज ए कल्चर्ड मैन एण्ड वी हैड ए वैरी प्लैज़ेंट टाइम। यू आर इन्डीड ए वंडरफ़ुल मैच-मैकर।"

मौलवी साहब के इस पत्र को मैं अपने लिए सर्टीफ़िकेट मानता हूं। साहित्य का कार्य––मुख्य उद्देश्य हृदयों को मिलाना है और जो भी ग्रंथकार, लेखक या पत्रकार इस दिशा में प्रयत्न करता है, वह अनुकरणीय है, अभिनंदनीय है।

मैं उर्दू नाम मात्र को ही जानता हूं। अब घर जाकर उसे विधिवत पढ़ने का विचार है। फिर भी मेरा यह विश्वास है कि उर्दू की हमें उपेक्षा न करनी चाहिए। आपने अपनी पुस्तक से एक सदुद्देश्य की ओर कदम बढ़ाया है। इसलिए मैं आपको हार्दिक बधाई देता हूं। द्वितीय संस्करण के लिए कुछ परामर्श भेजने हैं।

मेरी पिछली चिट्ठी आपको मिली होगी। भाई यशपालजी यहां पधारे थे। उनका कहना था कि तीन हजार प्रतियां छपवाने से मूल्य चार रुपया रक्खा जा सकता है। प्रेस मण्डल से तो ६४ रु० प्रति फार्म छपाई लेता है। आपसे ८० रु० क्यों?

जैसा कि मैंने पिछले पत्र में आपकी सेवा में निवेदन किया था, केवल आर्थिक संबंध ही मेरे लिए सब कुछ नहीं, और अब मैं अपनी रचनाओं के विषय में तटस्थ-सा हो गया हूं। काल का सिद्धांत मुझे अत्यंत प्रिय है। जब समय आवेगा तब रेखाचित्र और संस्मरण छप ही जायंगे। और उनके न छपने से साहित्य की कोई हानि भी नहीं।

आप लोग जो भी निर्णय करें, चित्त की प्रसन्नता के साथ करें।

अच्छी चीजें लिखने का युग अब आया है। अपनी पिछली रचनाओं को मैं महत्व नहीं देता। बूढ़े आदमी ही पीछे देखते हैं और चूंकि मेरे पूज्य पिताजी ९० वर्ष तक जीवित रहे थे––उनका स्वर्गवास हुए अभी ५ वर्ष ही गुजरे हैं––इसलिए स्वभावतः मैं यही अनुभव करता हूं कि मेरे साहित्यिक यौवन के दिन अब आने वाले हैं।

किसी अच्छे प्रकाशक से, जो मेरे दृष्टिकोण को समझ सके, अवश्य ही मैं संबंध स्थापित करना चाहता हूं, पर उसके लिए भी चिंता नहीं करता। आशा है कि आप सकुशल हैं।

विनीत

बनारसीदास

रेखाचित्र और संस्मरण तैयार हैं।

टीकमगढ़

प्रियवर, ४-२-५०

चि० बुद्धिप्रकाश से मैंने कह दिया है कि वह संस्मरण तथा लेख आदि एक बार देखकर रजिस्ट्री से आपको भेज दे। मैं आप पर विश्वास करता हूं, बस इतना ही कहना पर्याप्त है।

जर्मनी के एक प्रकाशन-गृह (जो युद्ध में नष्ट हो गया था, पर पुनः जीवित हो रहा है) का वृत्तांत पढ़ लीजिये। 'दि वर्ल्ड आफ यस्टर्डे' (स्टीफन ज्विग) से टाइप कराके भेजता हूं। आप अन्य गोरखधंधों से मुक्ति पाकर केवल प्रकाशन-कार्य पर ही संपूर्ण शक्ति लगा दें। यही चीज कायम रहेगी। इससे आप लाखों पाठकों का हित कर सकेंगे तथा बीसियों लेखकों का भी। हां, व्यापार तो व्यापारिक ढंग पर ही चलाना चाहिए। पर सहृदयता का जबरदत पुट उसमें न रहा तो अनाज के बजाय भूसी ही हाथ रह जायगी।

केवल सर्वोत्तम चीज ही छपाइये। 'नो' कहने की हिम्मत हमें रखनी चाहिये। श्री साहूजी की भी यदि कोई साधारण रचना हो तो अस्वीकार कीजिये। किसी के साथ इस मामले में रियायत न कीजिये।

विनीत

बनारसीदास

आम्रनिकुंज, टीकमगढ़

प्रिय गोयलीयजी, २२-४-५०

सादर वंदे। आपके भेजे हुए पन्द्रह सौ (१५००) रुपये कल मिल गये। इस कृपा के लिए अत्यंत अनुग्रहीत हूं। निस्सन्देह वे बहुत वक्त पर मिले हैं और उनसे मेरी आधी चिंता मिट गयी है। धन्यवाद देने की रस्म-अदाई में मेरा विश्वास नहीं, हृदय से कृतज्ञ अवश्य हूं।

'हमारे आराध्य' को परसों सोमवार को रजिस्ट्री द्वारा अवश्य भेज दूंगा। उसके चार-पांच लेखों का रिविज़न बाकी है। वह कल हो जायगा, पर कल रविवार है।

अब जिस सूत्र में हम लोग बंध गये हैं, उसे मैं व्यक्तिगत तौर ही नहीं, सार्वजनिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण मानता हूं। आपकी अपनी ग्रंथमाला के गौरव की वृद्धि के लिए मैं निरंतर विचार करता रहूंगा और अपने परामर्श आपकी सेवा में भेजता रहूंगा।

अभी मैंने विलायत के एक प्रसिद्ध जर्मन लेखक डॉक्टर आर० फ्रीडैन्थल को (जो ज्विग के साहित्यिक उत्तराधिकारी हैं) लिखा है कि वे सुप्रसिद्ध जर्मन प्रकाशन संस्था 'इनसेल 'वेरलाज' को वृत्तांत मुझे भेज दें। उन्होंने वचन भी दिया है। अपने तीस वर्ष व्यापी संबंध में उक्त संस्था ने ज्विग की किसी पुस्तक में एक भी प्रिंटिंग की भूल नहीं होने दी, और तो और, एक भी पत्र, जिसमें कोई कांट-छांट हो, इस बीच में उन्हें नहीं मिला। हिटलर के शासन-काल में युद्ध के दिनों में बम से उसका विशाल मकान नष्ट हो गया था। अब फिर वह पनपने लगी है। जर्मनी के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों को उक्त प्रकाशन-संस्था ने सूत्रबद्ध कर लिया था। उसका यह नियम था कि उसका कलाकार कहीं दूसरी जगह पुस्तक नहीं छपा पाता था। और इसकी इच्छा भी उसके मन में क्यों होने लगी!

सर्व साधारण को सात्विक मानसिक भोजन देना एक महान यज्ञ है, जिसका महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा और इस यज्ञ की आंशिक पूर्ति के लिए ही हम लोगों का यह संबंध हुआ है, ऐसा मैं मानता हूं।

कृपया लेखों को पढ़कर आप निःस्संकोच अपने परामर्श भेजिये। उन पर सहर्ष विचार करूंगा।

आपके इस सद्व्यवहार के बाद मेरी यह इच्छा होती है कि अपने साहित्यिक निबंध भी आप द्वारा ही प्रकाशित कराऊं, यद्यपि उनके विषय में लिखा-पढ़ी चल रही है। प्रकाशन, विज्ञापन और प्रचार के विषय में आपको विस्तार से फिर लिखूंगा।

जहां-जहां आपके विज्ञापन छपते हैं, वहां 'रेखाचित्र और संस्मरण' तथा 'हमारे आराध्य' के भी विज्ञापन छपाना शुरू कर दीजिये। विज्ञापन मैं बना दूंगा या चिं० बुद्धिप्रकाश से कह दूंगा कि वह बना दे।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
५-५-५०

प्रियवर,

कृपापत्र मिला। कृतज्ञ हूं। पं० पद्मसिंहजी तो सर्वोच्च हिंदी पत्र-लेखक थे, पर उनके कई सौ पत्रों में चुनाव करने पर १०१ से अधिक हिंदी पत्र छपने लायक न निकलेंगे। मैं खास-खास पत्रों की बात कहता हूं।

क्या यह उत्तमतर न होगा कि द्विवेदीजी, पद्मसिंहजी, गणेशजी प्रभृति लेखकों के पत्रों का संग्रह एक साथ कर दिया जाय? ३०० पृष्ठों के पत्र और ५० पृष्ठों की भूमिका।

पत्र-संग्रह और पत्र-लेखन मेरा मुख्य व्यसन है। पत्रों का संग्रह मेरे पास है। भर्ती की एक भी चिट्ठी मैं नहीं छपाना चाहता। उससे तो पुस्तक का महत्व ही चला जायगा। यों तो हजार पृष्ठों का पोथा आसानी से तैयार हो सकता है। पर वह 'वृथापृष्ठ' होगा। (बाबू श्यामसुन्दरदासजी के ग्रंथ को पंडित पद्मसिंहजी ने 'वृथापृष्ठ पोथा' कहा था।)

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़
१४-५-१९५१

प्रिय गोयलीयजी,

वन्दे। अलग रजिस्ट्री द्वारा प्रूफ लौटा रहा हूं। विलंब के लिए क्षमा-प्रार्थी हूं।

मेरी समझ में—

१. कुटेशंस दूसरे टाइप में होने चाहिए।

२. फाइनल प्रूफ मैं हर हालत में देखूंगा, क्योंकि गलती रह जाने से पाठकों पर बुरा असर पड़ेगा।

३. आपने अंग्रेजी अंश का जो अनुवाद किया है, तदर्थ कृतज्ञ हूं। कविता का अनुवाद मैंने छोड़ दिया है।

आप स्वयं मेरी पुस्तकों को जल्दी छपाने का इतना प्रयत्न कर रहे हैं कि स्वयं मैं निश्चिंत हूं। एक दूसरा यज्ञ मैंने हाथ में ले लिया है। वह भी 'लेबर आफ लव' है। वस्तुतः अपनी रचनाओं के प्रति

मैंने प्रारंभ से ही बहुत कम ध्यान दिया है। दूसरों के लिए चिंता करते-करते अपनी रचनाओं के प्रति उपेक्षा का ही भाव प्रदर्शित करता रहा हूं। आप और भाई लक्ष्मीचंद्रजी इधर ध्यान न देते तो शायद अनेक वर्षों तक ये भी पड़ी रहतीं। अन्य कई ग्रंथ तैयार-से हैं। चाहता तो यह था कि सब एक ही जगह से निकलें, पर शायद यह संभव नहीं, इसलिए अन्यत्र लिखा-पढ़ी कर रहा हूं।

'ज्ञान गंगा' और 'गहरे पानी पैठ' के लिए अत्यंत कृतज्ञ हूं। उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ूंगा। भाई नारायणप्रसादजी तक मेरी बधाई पहुंचा दीजिये। वे मुझे जानते हैं और एक बार मेरे क्रांतिकारी पाम्फलेटों को सरकार द्वारा जब्त होने से उन्होंने बचाया था। ला जर्नल तो पूरी-की-पूरी किताब एक साथ टाइप कर देता है। यदि ऐसा हो सके तो फिर फाइनल प्रूफ देखने में सुविधा हो। शेष फिर।

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

---

१२३ नार्थ एवेन्यू, नईदिल्ली

२०-९-१९५२

प्रिय गोयलीयजी,

वंदे!

कल कार्ड भेजने के बाद मेरे मन में एक विचार आया वह यह कि क्यों न ज्ञानपीठ ही मेरी सब रचनाओं को छापे।

प्रश्न इतना रायल्टी का नहीं है—शेष ग्रंथों पर जो भी रायल्टी आप देंगे, मुझे स्वीकार होगी।

जब साठ वर्ष की उम्र तक एक पैसा भी बैंक में जमा न कर सका, तो अब क्या करूंगा? मैं एक ही जगह किताब छपाना चाहता था। मेरे कुछ साहित्यिक निबंधों का संग्रह सस्ता साहित्य मण्डल ने लिया है और पेशगी ३०० रु० मुझे रायल्टी के हिसाब में दिये थे। मैं उस चीज को उनसे वापस लेकर ज्ञानपीठ को दे सकता हूं—बशर्तेकि पेशगी वाले रुपये ज्ञानपीठ उन्हें दे दे और मेरे हिसाब में लिख ले।

इसी प्रकार चार सौ रुपये भी नाथूरामजी प्रेमी से पेशगी प्रिंस क्रॉपॉटकिन के क्रांतिकारी निबंधों के संग्रह के लिए ले चुका हूं। उनसे भी आग्रह करके आपको पुस्तक दिलवा सकता हूं। दोनों चीजें खासी अच्छी हैं। उनमें घाटा आपको हर्गिज न रहेगा। एक जगह छपने से मुझे यह लाभ होगा कि मैं तब आपकी ग्रंथमाला के लिए सर्वथा निस्स्वार्थ भाव से भरपूर प्रयत्न कर सकूंगा। पर मैं जानता हूं कि व्यापारिक जगत में निस्स्वार्थ सेवा को राइट स्प्रिट में कभी आंका नहीं जाता। कोई इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि सर्वथा निस्स्वार्थ भाव से भी साहित्य-सेवा की जा सकती है। मेरे पिछले ८–१० ग्रंथों में से प्रायः सभी बिना पैसे के लिखे गये थे।

इसलिए मैं आपसे विशेष आग्रह नहीं करता। इसी के लिए मैं आपका और ज्ञानपीठ का हृदय से कृतज्ञ हूं कि आप लोगों की कृपा से मेरे तीन ग्रंथ छप गये, जो शायद मेरे परलोकगमन के बाद ही छपते। मैंने अपनी रचनाओं की चिंता अब तक तो न की थी।

पत्रों के विषय में मैंने एक लेख साप्ताहिक हिन्दुस्तान में लिखा था। आशंका इस बात की है कि इन मूल पत्रों को दीमक ही न चाट जाय। इतना पैसा मेरे पास नहीं कि फायर प्रूफ़ अलमारी में भलीभांति उनको सुरक्षित भी रख सकूं। निस्संदेह इन पत्रों में से चुने हुए संग्रह से एक छपने लायक चीज बन सकती है।

मैं स्वयं अस्वस्थ रहने लगा हूं और कभी-कभी अपने संग्रहालय के लिए चिंतित भी हो उठता हूं। पर जो कुछ होगा ठीक ही होगा, इस कल्पना से संतोष कर लेता हूं। किन पत्रों ने 'हमारे आराध्य' की आलोचना की है।

क्या 'संस्मरण' छप गया! मुझे तो अभी मिला नहीं।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

१२३, नार्थ एवेन्यू, नईदिल्ली
१३ सिलम्बर, १९५२

प्रियवर, वंदे!

'संस्मरण' को देखकर हृदय में वैसे ही भाव उत्पन्न हुए जैसे किसी बड़े आदमी को चढ़ती उम्र में बालक उत्पन्न होते देख कर हो सकते हैं। मेरी प्रथम पुस्तक 'फिजी द्वीप में मेरे २१ वर्ष' सन १४ या १५ में छपी थी (लिखी तो वह सन १९१४ में ही गई थी) और आज ३८ वर्ष बाद यह पुस्तक आई है। इस बीच में भी अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए, पर अपनी मानसिक संतान के प्रति इतना अपराधी मैंने अपने को कभी भी महसूस न किया था। मेरे अक्षम्य प्रमाद के कारण यह पुस्तक बिना मेरे एक प्रारंभिक शब्द के ही साहित्य जगत में आई है। यद्यपि उसकी पंक्ति-पंक्ति में मैं बोल रहा हूं—मेरे क्षुद्र व्यक्तित्व का ही उसमें चित्रण है।

आपने धाय का काम किया है। इस चिट्ठी का मजा प्रभाकरजी खूब ले सकते हैं। यह उन्हें अपने कमेन्ट्स के साथ भेज दीजिये।

इसे आलोचनार्थ कहां-कहां भेजा है।

श्री प्रभाकरजी की पुस्तक भी मिली।

विनीत
बनारसीदास

पुनश्च: १३ सितम्बर, १९५२

सार्वजनिक जीवन का यह अभिशाप है कि उसमें मनुष्य अपने समय का मालिक बड़ी मुश्किल से रह पाता है। और मेरे जीवन में एक भयंकर त्रुटि है, यानी न मैं अपनी और न संतानों की चिंता करता हूं और न मानस-संतानों की। यदि मैं थोड़ा-सा भी प्रयत्न करता तो अपने ग्रंथों को छपवा कर आर्थिक चिंता से मुक्त हो गया होता, पर मेरे लिए यह संभव नहीं। कोई परोपकार की भावना से नहीं, बल्कि मन की मौज में ही दूसरों की रचनाओं की चिंता किया करता हूं। यदि आप प्रयत्न न करते तो मेरे ये तीनों ग्रंथ भी वर्षों तक न छप पाते। निस्संदेह ज्ञानपीठ के प्रति मुझसे घोर अन्याय बन पड़ा है। घोर आर्थिक संकट में भी मैं अपने विषय में और कुटुंब के हित के लिए चिंतन नहीं कर पाता। पर मैं यह जानता हूं कि यह नीति अन्ततोगत्वा मुनाफे की ही है। अपने लिए चिंता करने वाले कोई-न-कोई मिल ही जाते हैं। अब साठवें वर्ष में मैं अपने लिए चिंतन करने का मार्ग शायद ही अपना सकूं।

विनीत
बनारसीदास

१२३ नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली
१-१०-१९५२

प्रियवर,

यदि स्व० पं० पद्मसिंहजी के पत्रों में से चुनकर २००–२५० पत्र छपवा दिये जावें और उसकी भूमिका के तौर पर एक लेख मैं लिखूं––हिंदी-अंग्रेजी पत्रों के महत्व पर और दूसरा आप लिखें, उर्दू पत्रों के विषय में, तो कैसा रहे?

उक्त पुस्तक की दो-तिहाई रायल्टी स्व० पद्मसिंहजी शर्मा के सुपुत्र को आपके यहां से सीधी उनके नाम भेज दी जाय और एक-तिहाई ना० प्र० सभा आगरा को स्व० पद्मसिंहजी के स्मारक के लिए रवाना कर दी जाय।

इस प्रकार एक श्राद्ध-कार्य संपन्न हो सकता है, शर्माजी के कुटुंब की भी कुछ सहायता हो सकती है और ना० प्र० सभा आगरा में धीरे-धीरे उनका कोई स्मारक भी बन सकता है।

उस पुण्य-कार्य से न मुझे एक पैसा लेना है, न आपको।

यदि यह प्रस्ताव स्वीकृत हो तो प्रयत्न किया जाय। हां एतदर्थ मुझे टीकमगढ़ जाना पड़ेगा। मैं स्वयं घोर आर्थिक संकट में से गुजर रहा हूं, इसलिए जाना आसान नहीं। रायल्टी के लिए जो नियम आपने भेजे थे, वे भी इस समय मेरे पास नहीं, वहीं टीकमगढ़ में छूट गये हैं। वैसे मुझे तो पन्द्रह सौ रुपये एडवान्स में मिल भी चुके हैं।

अपनी किताबों की खपत की मुझे फिक्र है। पत्र-व्यवहार करने वालों को बराबर लिखता रहता हूं कि वे यदि मंगा सकें तो पुस्तक मंगा लें।

एक बार २५-२५ प्रतियां अपनी प्रत्येक पुस्तक की यहां रख कर उनके बेचने का प्रयोग तो करना ही चाहता हूं। हां खतरा यह अवश्य है कि यार लोग यों ही उन्हें न उठा ले जावें।

कल का सारा दिन पत्र लिखते बीता, यही हाल आज हुआ। अपना काम कुछ भी न कर सका। यही आत्मघातक नियम चलता रहता है। इसमें परोपकार की भावना का नहीं, व्यसन का सवाल है।

मेरी किताबें जिन-जिन को आपने भेजी हों, उनके नाम तथा पते कृपया भेजिये। रिव्यू किस-किस ने की। शेष से लिखा-पढ़ी करके आलोचना लिखाऊंगा।

श्री यशपालजी से पूछना है कि वे सस्ता साहित्य मण्डल से मेरी किताब वापस दिला सकेंगे क्या? वे आज-कल में कलकत्ते से लौटने वाले ही हैं।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

---

१२३ नार्थ, एवेन्यू, नईदिल्ली
११-१०-५२

प्रियवर,

स्व० पं० पद्मसिंहजी के ४००-५०० पत्र मेरे पास हैं। वे केवल मेरे ही नाम नहीं है––बीसियों अन्य सज्जनों के नाम भी हैं। मेरे नाम तो १००–१२५ ही होंगे। निस्संदेह वे सर्वोत्तम हिंदी-पत्र-लेखक थे। चुनाव तो सभी पत्रों से करना है। एक प्रार्थना है––मेरा खयाल है कि रायल्टी के नियमों में शायद ऐसा

एक नियम आपने रक्खा था कि ग्रंथों के प्रकाशित होते ही आधी रायल्टी दे दी जायगी। पंद्रह सौ रुपये तो मुझे मिल ही चुके हैं। २० प्रतिशत (बीस फीसदी) रायल्टी के हिसाब से कुल जितने निकलते हों, उसके आधे में से १५००) निकाल कर शेष भेजवा सकें तो यहां जीवित रह सकूं। दिल्ली के खर्च इतने अधिक हैं कि मैं तो नित्य प्रति ऋण-ग्रस्त होता जाता हूं। पाकिस्तान के राजदूत मि० श्वैब कुरैंसी साहब से मैंने आपके प्रशंसनीय उद्योग का जिक्र परसों किया था।

विनीत
बनारसीदास

---

३ मिलिटरी लाइन्स, रीवां
१९-१०-५२

प्रिय गोयलीयजी, वंदे।

पत्रोत्तर नहीं मिला। संभवतः व्यस्त होंगे। नई-दिल्ली के अत्यधिक खर्चीलेपन से तंग आकर और करीब पांच सौ रुपये का कर्जदार होकर मैं कल रीवां जा रहा हूं। मेरा खयाल था कि यहां रहकर हिंदी के लिए बहुत कुछ कार्य किया जा सकता है--केंद्रीय स्थल है, अपने को शिक्षित बनाने के लिए अनेक साधन हैं, पर मुझे जो कटु अनुभव हुए उससे मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि यहां वही व्यक्ति काम कर सकता है, जिसकी मासिक आय एक हज़ार से ऊपर हो। राज्य परिषद् के सदस्यों को तो सिर्फ साढ़े तीन या चार महीने पैंतीस रुपये प्रतिदिन के हिसाब से मिलेंगे (यानी ३२५ से ३५० मासिक) जिसमें १०० रु० तो किराये के ही निकल जाते हैं। फिर भी जो सेवा बन सकी, मैंने की। हिंदी के ही कार्य के लिए तीन बार मौलाना साहब से मिला और कई बार श्रद्धेय राजेन्द्रबाबू से भी। श्रीमान केसकर साहब से भी मिला।

मेरी पुस्तकों की आलोचना किन-किन पत्रों ने की है।

शेष द्वितीय कार्ड में।

विनीत
बनारसीदास

---

१२३ नार्थ एवेन्यू, नईदिल्ली
कार्ड नं० १ २०-१०-५२

प्रिय गोयलीयजी, वंदे।

दोनों ग्रंथ मिल गये। कृतज्ञ हूं। संभवतः श्री मुहम्मद अजमल खां साहब मौलाना आजाद साहब के साथ हैदराबाद गये होंगे। उनके लौट आने पर मैं ये दोनों ग्रंथ उनकी सेवा में भेंट कर आऊंगा। भले आदमी हैं। उस दिन बीस मिनट मैंने मौलाना साहब से बातचीत की थी। १०--१२ हजार की इनामें और भी रखने के लिए अर्ज किया था। नज़ीर अकबराबादी की सभी रचनाएं हिंदी लिपि में छपाने की बात मैंने फिर दुहराई थी। मौलाना साहब हैदराबाद जाने की जल्दी में थे, इसलिए अधिक बातचीत न हो सकी। अगर दो-चार आदमी और भी मौलाना साहब से मिल कर रचनात्मक परामर्श दें तो निस्संदेह काम बन सकता है। पर हिंदी वालों को सिर-फुड़ौअल से फुर्सत नहीं। सम्मेलन के मुकदमे चल ही रहे हैं। ६ लाख की रकम विलीन हो गयी। नहीं तो अब तक हिंदी भवन बन गया होता।

मेरी दोनों किताबों की दस-दस प्रतियां मेरी रायल्टी के हिसाब में भेज दीजिये और 'रेखाचित्र' की २० भेजिये—दस हिसाब में।

शेष दूसरे कार्ड में।

विनीत
बनारसीदास

३ मिलिटरी लाइन्स, रीवां

द्वितीय कार्ड

श्वैव कुरैंसी साहब से भी मिला। श्रीमान पं० जवाहरलालजी से प्रवासी भारतीयों के विषय में आध घण्टे तक बातचीत हुई। हिंदी की अनेक सभा-समितियों में शामिल हुआ। जो थोड़ा-बहुत क्षेत्र तैयार भी हुआ, उसमें बीज वपन के लिए जितने साधनों की जरूरत है वे मेरे पास नहीं। ऐसी परिस्थिति में अधूरा काम छोड़ कर चले जाना ही ठीक समझा। अब केवल अधिवेशन के दिनों में ही यहां रहने का विचार है।

मैंने पं० पद्मसिंहजी के पत्रों के विषय में लिखा था। पत्र मिला होगा। पत्र केवल मेरे ही नाम नहीं है, अन्य बीसियों व्यक्तियों के नाम भी हैं। उस सब संग्रह में से चुनाव करना है। शेष रायल्टी के विषय में भी आपको मैंने लिखा था। अधिक-से-अधिक जो भी सुविधा आप मुझे दिलवा सकें, दिलवा दें। ४०–५० रुपये महीने तो पत्र व्यवहार पर ही खर्च करना पड़ता है। उसे भी बंद करने की नौबत आ रही है।

क्या स्टीफन ज्विग की कहानियों के संग्रह को छाप सकेंगे ? अपने भानजे प्रकाशचंद्र द्वारा अनुवादित एक अत्युत्तम कहानी (जो 'सुमित्रा' में छपी है) बुक पोस्ट से भिजवा रहा हूं। मेरी 'फेवरेट स्टोरी है।

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़
२९-१०-५२

प्रिय गोयलीयजी,

वंदे। 'शेर ओ शायरी' नामक सुंदर ग्रंथ पर मेरा हार्दिक अभिनंदन स्वीकार कीजिये। यद्यपि मेरा उर्दू विषयक ज्ञान नगण्य ही है तथापि आपकी इस पुस्तक की मदद से मैं अनेक उर्दू कविताओं के रस को ग्रहण कर सका। बहुत बढ़िया चीज़ आपने तैयार कर दी है। इसके बारे में विस्तारपूर्वक किसी पत्र में लिखना चाहता हूं। मैंने आज ही श्री महेन्द्रकुमारजी को लिखा है कि वे इस महत्वपूर्ण ग्रंथ की प्रति मौलवी अब्दुल हक साहब, अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू, हास्पिटल रोड, कराची को भेज दें। मौलवी साहब ने उर्दू के लिए बड़ी साधना की है। स्वर्गीय अख्तर शीरानी के दर्शन मैंने उनके घर पर ही लाहौर में किये थे। कलकत्ते में वे 'विशाल भारत' कार्यालय में पधारे थे। उनके विषय में कुछ मसाला इकट्ठा कर रहा हूं। क्या उनका काव्य-संग्रह छपा है ?

पानीपत में जब हाली-शताब्दी मनाई गई थी उस समय सर इकबाल साहब और सर एस० मसूद तथा हफ़ीज़ साहब के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

२९-१०-५२

पुनश्च--

'आधुनिक जैन-कवि' नामक पुस्तक पर मैंने एक विस्तृत पत्र लिखा था। उसकी प्रति मिल गई तो भेजूंगा। मुझे आशा है कि इस पुस्तक का प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो जायगा। द्वितीय संस्करण में कवियों के चित्र और स्केच दीजिये। अकबर के सर्वोत्तम संस्मरण 'विशाल भारत' में छपे थे। और उन्हें मेरी प्रार्थना पर स्व० पं० पद्मसिंहजी शर्मा ने लिखा था। जिगर साहब पर भी एक बढ़िया लेख छपा था। अन्य उर्दू कवियों पर भी लेख छपाये थे, आपकी इस पुस्तक की योग्यतापूर्ण समीक्षा श्री हरिशंकरजी शर्मा (शंकरसदन, राजा मण्डी आगरा) कर सकेंगे। आप खुद इसकी एक कापी उन्हें भेजें। उन्होंने 'उर्दू साहित्य का इतिहास' लिखा है। पंडित पद्मसिंहजी अपनी प्रत्येक पुस्तक की सौ दो सौ प्रति भेंट कर देते थे अधिकारी व्यक्तियों को और उसीको मुनाफा मानते थे। हमारे यहां अच्छे-से-अच्छे ग्रंथों की आलोचना नहीं हो पाती। श्री लक्ष्मीचंद्रजी को मेरा प्रणाम कहिये।

विनीत
बनारसीदास

१२३ नार्थ एवेन्यू,
नईदिल्ली

प्रिय गोयलीयजी,

प्रणाम।

अत्यन्त कृतज्ञ होऊंगा यदि आप कृपा कर अपने ग्रंथों का एक पृष्ठीय विज्ञापन 'कलकत्ता में निरालाजी' नामक ग्रंथ में दे दें। पुस्तक के प्रकाशन के समय यह सब रुपया श्रीमान निरालाजी को भेंट कर दिया जायगा। इस विषय में श्रीयुत बरुआजी विस्तार पूर्वक लिखेंगे।

निरालाजी महाप्राण व्यक्ति हैं और उनके स्वास्थ्य-लाभार्थ उन्हें विदेश के किसी सर्वोत्तम स्वास्थ्यागार में भेजने का विचार किया जा रहा है।

कृपया यह विज्ञापन अवश्य दे दीजिये। जिन्होंने विज्ञापन दिया है, उनकी सूची बरुआजी आपको भेज रहे हैं। अधिक क्या निवेदन करूं?

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

महाबीर डायरी क्या मिली?

कृष्णानन्द गुप्त के नाम

९१, अपर सरकूलर रोड,
कलकत्ता
२८-९-२८

प्रिय गुप्तजी,

वन्दे! कृपा पत्र मिल गया था। ······।

श्री सियारामशरणजी की कविता आपने सितम्बर के अंक में देखी होगी। ···

कोई गल्प भेजिये। तुर्गनेव की 'मूमू' का अनुवाद मैंने करा लिया है।

गुप्तजी के चित्र तथा उस कविता का ब्लाक भी बनवा लिया है। नवम्बर के अंक में लिखना चाहता हूं।

···सम्पादन कार्य के लिए मैं नया ही हूं। इसके सिवाय मेरा एक ही विषय प्रवासी भारतीय रहा है। जब तक मैं यहां हूं आप लोगों की—साहित्यसेवियों की—अधिक से अधिक सेवा करना चाहता हूं। फिर तो मुझे कहीं किसी उपनिवेश को जाना ही है।

विनीत
बनारसीदास

९१, अपर सरकूलर रोड,
कलकत्ता
४-१०-२८

प्रिय कृष्णानन्दजी,

मीठी चुटकी की आलोचना मिली। धन्यवाद। इसी अंक में दे दूंगा। श्री गुप्तजी का चित्र तथा चरित्र दोनों ही भेजिये। बर्लिन विश्व-विद्यालय के हिन्दी अध्यापक श्री ताराचन्द राय ने मुझसे हिंदी कवियों तथा लेखकों के चित्र तथा चरित्र मांगे हैं और मैं इस समय श्री प्रेमचंदजी तथा श्री मैथिलीशरणजी को छोड़कर अन्य किसी को संसार साहित्य में जाने के योग्य नहीं समझता। सम्भवतः मेरी भूल हो, पर मेरी यह ऑनेस्ट सम्मति है। श्री गुप्तजी की कविता का मैं वर्षों से भक्त हूं।

कृपया उनका अच्छा चित्र तथा चरित्र ज़रूर भेजिये।

कृपाकांक्षी
बनारसीदास चतुर्वेदी

'विशालभारत' कार्यालय,
कलकत्ता

प्रिय कृष्णानन्दजी,
ता० १२ मार्च, १९२९

बिलकुल सहमत हूं कि 'वेदनागीत' मेरे स्टैण्डर्ड से भिन्न कोटि की है। मैं श्री माखनलालजी को लिखने ही वाला था कि वे उसका अर्थ भी लिख देते, पर भेजते-भेजते रह गया। मैंने एक नियम कुछ महीने

पहले बना लिया था और वि० भा० में लिख भी दिया था कि कोई लेख तथा पत्र लेखक के नाम के बिना नहीं छप सकते। मैं आपकी चिट्ठी को छापने के लिये अत्यंत उत्सुक हूं। क्या इसमें आपका नाम दे दूं? मैंने कविता केवल इसी कारण से कि वह माखनलालजी की है छाप दी (कारण कुछ-कुछ ठीक भी) है, यद्यपि उसमें यह बात भी शामिल है कि भिन्न-भिन्न रुचि वालों के लिये भिन्न-भिन्न मसाला देना पड़ता है। तो आपको उनका खुलकर विरोध करने में संकोच न होना चाहिये। मैं अपनी भूल सम्पादकीय में स्वीकार कर लूंगा, पर आपको अपना नाम अवश्य देना चाहिये। यहां पर यह भी लिखना उचित है कि स्वयं माखनलालजी ने कविता के कुछ अंश मुझे सुनाकर कुछ-कुछ समझाये भी थे।

आप एक बात और न भूलें। जनवरी तथा फरवरी के अंक में शायद इस कविता को छोड़कर और कोई लेख या कविता इस ढंग की नहीं छपी।

चिट्ठी को वापिस इसलिये भेजता हूं कि इसमें एक तो अपना नाम दे दीजिये और दूसरे नाम देने की वजह से जहां कहीं Moderate करना चाहें, कर दीजिये। वैसे मैं कड़ी से कड़ी चीज़ सिद्धांत की लड़ाई में छाप सकता हूं, पर स्वयं Moderation के पक्ष में हूं।

चिट्ठी वापिस शीघ्र ही अवश्य-अवश्य भेजिये।

आपका
बनारसीदास

१२०।२ अपर सरकूलर रोड, कलकत्ता
१७-२-३०

प्रिय कृष्णानन्दजी,

प्रणाम। ११ ता० का कृपा पत्र मिला। ···आपका नोट निरर्थक नहीं गया। मेरी भी उस कविता के विषय में वही सम्मति थी जो आपकी थी चाहे मैं उसे कुछ अधिक नरमी से प्रकट करता। सम्भवतः यह मेरा दोष हो पर मैं उन कविताओं को जो सर्वसाधारण की समझ में नहीं आवें पसंद नहीं करता। सब प्रकार के आदमियों की रुचि का ख्याल करके भले ही मैं ऐसी चीजें छाप दूं, पर मेरी रुचि Masses की समझ में आने वाली कविता की ओर है। इसी कारण मैं ···को इधर ३० वर्षों में जो काव्य ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं उनमें सर्वश्रेष्ठ मानता हूं। पर सम्पादक को दूसरों की रुचि का भी ख्याल रखना चाहिये, इसलिये अपनी रुचि से विपरीत चीजें भी देनी पड़ती हैं।

आपने विशाल भारत के लिए कुछ नहीं भेजा?

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़
१९४२ (लगभग)

माई डीयर काकासाहब,

श्रीयुत यशपाल जी के लिए आपने कोई प्रबंध अभी तक नहीं किया। पुरानी स्कीम जहां की तहां रह गई।

अब उनकी शिकायत आई है कि मेरे पत्र शुष्क होते हैं।

सरस पत्रों का प्रबंध बुंदेलखण्ड में जल्दी-से-जल्दी कराइये, ताकि रात के बारह बजे तक उनका उत्तर भी लिखा जा सके। आशा है कि इस विषय में आप ढील न डालेंगे। कोष की अपेक्षा यह काम निहायत ज़रूरी है। थोड़ा लिखा बहुत जानना।

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़,
९-१०-५०

प्रिय काकासाहब,

प्रणाम। आपका विस्तृत पत्र दिल्ली-कानपुर की लम्बी यात्रा के बाद मिला। हष हुआ। मैं ६ ता० को लौटा हूं।

एक बुढ़िया लिप्टन की चाय पिया करती थी। उसमें, ऐसा कहा जाता है, अफीम के कुछ छींटे होते हैं। एक बार दूसरी चाय उसे पिलाई गई तो उसने कहा--"यह नहीं, वही लाओ।"

बस ऐसी ही कोई चीज आप अपने सन्देशों में डाल देते थे--बादाम पिसी हुई?--या कुछ अन्य स्वादिष्ट वस्तु? कि वह स्वाद हमारे यहां आया ही नहीं, यद्यपि भगोना को मिलाकर हमने तरकीब तो पूछ ली, पर काकी साहबा ने पूरी विधि नहीं बतलाई। इसलिये प्राय: सन्देश खाते समय आपका स्मरण अनिवार्य रूप से आ जाता है। आज फिर बनवा रहा हूं।

आपके विस्तृत अध्ययन या आलोचना-शक्ति की याद भुला देना आसान है, पर सन्देश का विस्मरण किसी चौबे को कैसे हो सकता है?

विस्तार से फिर लिखूंगा। भाषा के विषय में मेरा आपका मत १०० फीसदी मिलता है। चि० श्रीकान्त की नौकरी का क्या हुआ? विनोद तथा घुप्पू को आशीष।

बनारसीदास

टीकमगढ़,
२२-४-५१

प्रिय काकासाहब,

प्रणाम! 'संगम' के अंक यहां आकर देखे। निस्संदेह आप उसे बहुत बढ़िया निकाल रहे हैं। मैं शायद ही इतना अच्छा निकाल पाता। पर एक निवेदन है डौंट ओवर वर्क; वैसे यह मौसम आपको अधिक उपयुक्त होता है! फिर भी पत्र की सफलता का खयाल करते-करते शरीर को घुला डालने में कोई लाभ नहीं। ... तार आपने व्यर्थ भेजे। इतना पैसा क्यों खर्च किया? पैसों का मूल्य अब मैं समझ पाया हूं। आपसे बहुत सी बातें करनी थीं पर 'मन की मनके मांहि रही', आई ऐम एडॉप्टिग माईसेलफ टु चेंज्ड सरकमस्टान्सेज़' मजदूर बन गया हूं। कलम की मजदूरी वास्तव में बहुत कठिन है।

'९० प्रतिशत जनता' शीर्षक लेख की तारीफ चि० गुपलेश ने की है। वह लेख तलाश करा रहा हूं।

पत्रों के समुद्र में गोते लगा रहा है। · · ·लेख अभी गुपलेश ने तलाश करके दिया। खूब लिखा है। हार्दिक बधाई !

विनीन
बनारसीदास

टीकमगढ़,
२४-४-५१

प्रिय काकासाहब, वन्दे !

यदि किसी लेख के खो जाने से मुझे खुशी हुई है तो वही लेख था जो आपके यहां खो गया ! वह इकतर्फा था और उसमें मेरे जो विचार प्रकट किये गये थे उनमें परिवर्तन हो गया है। इसलिये मैं आपको वस्तुतः धन्यवाद देता हूं कि उस लेख को आपने तुरंत नहीं छापा और उसमें संशोधन मेरे द्वारा ही कराने का विचार किया। आपकी समझ-बूझ का कायल हूं। · · ·'संगम' के लिए मैं जरूर-जरूर लिखना चाहता हूं, पर आप मेरा स्वभाव जानते हैं। अनेक सार्वजनिक ऊल-जलूल कामों में उलझ जाता हूं। पुरानी आदत से लाचार हूं। रेडियो पर आपने जो लिखा है उससे बहुत कुछ सहमत हूं। · · ·वैशाली पर अंक बहुत बढ़िया रहा।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

टीकमगढ़,
२४-९-५१

प्रिय काकासाहब, प्रणाम !

भगवान रामचंद्र को चौदह वर्ष वनवास करना पड़ा था और पाण्डवों को १२ वर्ष। महात्मा जी २१ वर्ष विदेश में रहे थे।

वनवास समझ कर ये दिन काट देने चाहिये। जब चि० श्रीकान्त काम पर लग जाय, तब आप कुछ निश्चिंत हो सकते हैं।

फ्रॉम दि फ्राइंग पैन इन्टु दि फ़ायर वाला मामला न होना चाहिए। मेरी तो स्पष्ट सम्मति है कि आप काम पर डटे रहिये।

काकी को स्वास्थ्य-लाभ होगा। ऐसा प्रबंध कीजिये जिससे उन्हें शारीरिक श्रम अधिक न करना पड़े।

'नो ह्वेयर इज़ देयर सो मच डिसऑनॅस्टी ऐज़ इन दि लिट्रेरी फ़ील्ड' 'गेटे' का यह वचन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी
टीकमगढ़
४-१२-५१

प्रिय काकासाहब,

प्रणाम ! कल चिट्ठी मिली। अभी मैं अपने रिश्तेदार भाई हरिहरप्रसाद को, जो श्रीचंद्रभानुजी

गुप्तजी के पी० ए० हैं, साथ की चिट्ठी भेज रहा हूं। मेरा श्री सी० बी० गुप्ताजी से कभी परिचय नहीं हुआ पर गुपलेश ने हरिहरजी के द्वारा यशपालजी की पत्नी तथा उनके अनुज के मामले में कुछ सेवा करा दी थी। मुझे आशा है कि हरिहर इस मामले में भी भरपूर प्रयत्न करेंगे।

टु बी ऑन दि सेफ़ साइड श्री सम्पूर्णानन्द जी को भी लिख रहा हूं।

आप भी गज़ब करते हैं। "इस सम्बंध में मैं आपको हरगिज़ कष्ट नहीं देना चाहता था।" चिट्ठी लिखने की बात तो रही अलग, मैं तो इस कार्य के लिये लखनऊ भी जा सकता हूं। . . . गणेश-स्मृति-ग्रंथ का कार्य बहुत धीमी गति से चल रहा है। 'बलिदान' मेरे पास नहीं है। हरिशंकरजी को लिख रहा हूं। **Les miserable** का अनुवाद २० वर्ष में भी नहीं छप पाया !

विनीत
बनारसीदास

९९, नार्थ एवेन्यू
नईदिल्ली
१५-१-५६

प्रिय भाई कृष्णानन्दजी,

वन्दे ! पत्र अभी मिला। ये जन्म-दिवस, वर्ष-गांठ इत्यादि समय को बर्बाद करने के लिए मनोरंजक साधन हैं। बस पूज्य दद्दा को छोड़कर, जो मेरे प्रत्येक जन्म दिवस (Birthday) पर जन्मना ब्राह्मण मुझे मानकर (केवल उसी दिन के लिये !) मेरे चरण-स्पर्श करते हैं और मुझे पंद्रह रुपये भेंट करते हैं, अन्य लोगों में कल्पनाशक्ति का अभाव है। हां, इस बार श्रद्धेय टंडनजी ने एक लैम्प बिजली का दिया है। अब इस विज्ञापन से लाभ उठाने के लिए कोई दूकान खोलना चाहता हूं, पर अभी तक यह निश्चय नहीं किया कि किस चीज का क्रय-विक्रय किया जाय ! मेरे बाबा ग़दर के दिनों में बजाजी करते थे, यद्यपि उन्होंने श्रीमान जमनालालजी की तरह रुपया नहीं कमाया, और श्री नाथूरामजी माहौर की तरह काव्य-कौशल नहीं प्राप्त किया।

पर किताबों की दूकान हर्गिज नहीं खोलूंगा क्योंकि अधिकांश किताबें भेंट में देनी पड़ेंगी।

शेष कुशल।

चि० विनोद को मेरा आशीष कहिये। उसका स्वास्थ्य अब सुधर रहा होगा।

विनीत
बनारसीदास

२५-५-६६
फीरोजाबाद

प्रिय काकासाहब, वन्दे !

पिछली यात्रा में कुल जमा पचहत्तर रुपये (विदेशी मुद्रा के नियमानुसार) साथ ले गया था और इस बार भी इससे अधिक शायद ही ले जा सकूं। पिछली बार मैंने कोई भेंट स्वीकार नहीं की थी--उसके

लिए स्पष्टतया मना लिख दिया था—जब कि हमारे अनेक बंधु मांग-मांग कर भेंटें लाते हैं। यदि आप उनके किस्से सुनेंगे ······ तो ग्लानि उत्पन्न होगी। अगर मुझ में शारीरिक शक्ति होती और रूसी भाइयों में कल्पनाशक्ति तो आपके लिए एक नमकीन भाभी ला सकता था ! 'नमकीन' एडजैक्टिव नवीनजी का है। वह आपको रूसी भाषा के साथ-साथ कुछ और सबक भी सिखाती ! ···

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद
९-५-६८

प्रिय काकासाहब,

चिरंजीव श्रीकान्त को पुत्र-रत्न-प्राप्ति पर मेरा हार्दिक आशीर्वाद तथा बधाई भेज दीजिये। यह बड़े हर्ष की बात है। चूंकि आप औषधि तथा स्वास्थ्य के नियमों से काफी परिचित हैं, इसलिये, यदि बन सके तो फिलहाल ४।५ महीने श्रीकान्त के निकट ही रहें। हमारे यहां बच्चों को होमियोपैथिक औषधियां ज्यादा माफिक आती हैं और आप उनके विशेषज्ञ हैं।

कोश-निर्माण निस्संदेह अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य होगा, पर ब्रज-साहित्य-मंडल के पास इतने साधन कहां ? हां, यदि राज्य सरकारों से और केंद्रीय शासन से प्रचुर आर्थिक सहायता मिल जाय तो यह सम्भव हो सकता है, पर फिलहाल ऐसी मदद मिलने से रही। इस समय वृन्दावनदासजी ही मंडल के एक मात्र सजीव कार्यकर्त्ता हैं ! कल उनका एक रेखा-चित्र 'नवभारत टाइम्स' को भेजा है।

स्वास्थ्य-लाभ के लिए प्रयत्नशील हूं। काफी दुर्बल हो गया हूं। १५ सेर घट गया। पत्र लिखना भी कठिन हो रहा है।·····

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद
१८-१०-६८

प्रिय काकासाहब,

पत्र व्यवहार एक आनंदप्रद बीमारी तो है ही, पर अब इस उम्र में तो उससे बचने का प्रयत्न करना है।

फैलन साहब के कोश की आलोचना माचवे से रेडियो से सुनी। यह काम आपने बहुत अच्छा किया। मेरे तो महीने में ३१ दिन चिट्ठी लिखने में ही बीतते रहे हैं——(बकौल लाला——चि० बुद्धि प्रकाश !) यदि पत्रोत्तर में विलम्ब हो तो बुरा न मानें। रामानन्द बाबू सिर्फ इतवार को पत्र लिखते थे। और उनके पत्र छोटे-छोटे ही होते थे।

मैं भी उनका अनुकरण करना चाहता हूं। कौआ हंस की चाल चलना चाहता है ! पर मेरे लिए संक्षिप्त पत्र लिखना बहुत कठिन है ! आई कैन नॉट बी ब्रीफ़ फ़ॉर आई हैव नो टाइम——यह किसी फ्रेंच लेखक ने लिखा था। संक्षिप्त लिखना बहुत कठिन है !

आपका
बी० दास

पुनश्च :

मेरे हस्ताक्षर देखकर पूज्य दद्दा कहते थे किस 'बी' के तुम 'दास' हो ! एक का होता तो नाम भी बतला देता !

...

किशोरीदास बाजपेयी के नाम

९९ नार्थ एवेन्यू
नई दिल्ली

प्रिय बाजपेयीजी,

सादर प्रणाम !

तीनों किताबें मिलीं। बहुत-बहुत कृतज्ञ हूं। 'साहित्यिक जीवन' को मैंने पढ़ लिया है। काफी मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक है। 'रहस्यवाद' पुस्तिका भी देख ली। बड़ी सुन्दर चुटकियां आपने ली हैं। चुटकियां क्या, भंडाफोड़ ही आपने किया है। आपका परिचय मैंने 'नया समाज' में पढ़ा था। 'शब्द-निर्णय' में वह दुबारा देखने को मिला। जिन भयंकर कठिनाइयों में आपने साहित्य-सेवा की है उनकी मैं कल्पना भी नहीं कर पाता। खुदाई फौजदारी मैंने भी कुछ-कुछ की थी पर आपने तो हद ही कर दी थी। अब हम लोगों को साहित्यिक श्राद्ध में लग जाना चाहिये। हम लोगों का मार्ग तो काफी सरल रहा है। मेरी ६४वीं वर्ष चल रही है। अनेक काम अधूरे पड़े हैं। उन्हीं में व्यस्त हूं। साहित्यिक विषयों पर हम लोगों में भले ही मतभेद हों, पर हम दोनों पूज्य द्विवेदीजी के भक्त हैं—उनके कृपापात्र भी थे। 'आजकल' में उनके बारे में कुछ लेख छापे थे। रिप्रिंट्स भेजूंगा। 'हिन्दी-भवन' में उनका वृहद चित्र टंगवा दिया है। श्रद्धेय टंडनजी ने उद्घाटन किया था।

कृपापात्र
बनारसीदास

गणेश चौबे के नाम

टीकमगढ़,
६-११-४९

प्रियवर,

वन्दे ! कृपा-पत्र मिला। पाठों में जो सबसे अधिक भावनामय हो उसे ही रखिये और शेषों को परिशिष्ट में डाल दीजिये। वैज्ञानिकता के चक्कर में रस का विनाश न होना चाहिये। नीरसता सबसे बड़ा

अभिशाप है। सर यदुनाथ सरकार की शैली मुझे प्रिय है, दूसरी ओर भाई जयचन्द्रजी की स्टाइल है, जिसमें विवरणों के मारे पाठक तंग आ जाता है। नया समाज का अक्तूबर का अंक तो आपने देखा होगा। उसमें मैंने एक लेख लिखा है, जिसमें आपका नामोल्लेख है। खेती की हानि की बात खेदोत्पादक है। चित्रों के लिए कृतज्ञ हूं। दिवाली के 'योगी' में मुनिसजी पर पढ़िये।

विनीत
बनारसीदास

नार्थ एवेन्यू, नईदिल्ली,
२९-९-६१

प्रियवर,

कृपापत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए।

मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रह रहा है। आपको पता होगा कि मैंने ही हि० सा० सम्मेलन (दिल्ली-अधिवेशन) मंडलों की स्थापना का प्रस्ताव कराया था, मैंने ही ब्रज-साहित्य-मंडल की स्थापना कराई थी, मैंने ही हाथरस में हिन्दी अन्तर्जनपदीय परिषद को संगठित करने का प्रयत्न किया था। अपने कार्य को आप व्यवस्थित कर लें और अन्य व्यक्तियों से भी काम लें। स्वयं केन्द्र बन जावें।

मेरी रुचि इन जनपदीय प्रवृत्तियों में अब भी बनी हुई है, लेकिन मैं अब उनके लिए समय नहीं दे सकता। आप अपने निर्दिष्ट पथ पर अग्रसर होते रहें, यही कामना है।

विनीत
बनारसीदास

ताराराती श्रीवास्तव के नाम[1]

●

फीरोजाबाद
१८-८-६५

पूज्यवर,

सादर प्रणाम!

१६ अगस्त को मैंने अमर शहीद को और आपको भी याद किया। उसके कई दिन पहले मैंने एक पत्र आपकी सेवा में भेजा था, पर उसकी पहुंच भी आपके पास से नहीं आई! क्या आप नाराज हैं; या अस्वस्थ हैं? मैं पौरुष ग्रन्थि (पेशाब करने की बीमारी) का मरीज हूं, जिसका आपरेशन खतरनाक होता

---

[1] 'अगस्त क्रांति' के अमर शहीद फुलैना प्रसाद श्रीवास्तव की धर्मपत्नी।

है। महर्षि अरविन्द, कवीन्द्र और दीनबन्धु एण्ड्रूज को यही प्रोस्टेट ग्लेण्ड्स की बीमारी थी और उसी में वे चले भी गये। मैं शीघ्र ही ७३ वीं वर्ष समाप्त कर रहा हूं २४ दिसम्बर को। जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं। शहीदों का श्राद्ध ही मेरे जीवन के शेष दिनों का एकमात्र लक्ष्य है। मुझे खेद है कि "उनकी याद" का दूसरा संस्करण भी न करा सका।

क्षमाप्रार्थी

पुनः—मुझे खेद है कि भाटपरानी से बालबंगरा न पहुंच सका। बनारसीदास चतुर्वेदी

सोवियत-भूमि के लेखक-संघ का
विश्राम-स्थल
मास्को

पूज्यवर, २८-६-६६

सादर प्रणाम। ८ जून को मैं दिल्ली से हवाई जहाज द्वारा रवाना हुआ था और अब १० जुलाई को दिल्ली पहुंचूंगा। इस बीच कई स्थानों की यात्रा की है और अनेक अनुभव भी प्राप्त किये हैं। रूस में दूसरी बार आया हूं। प्रथम यात्रा का वृतान्त मैंने "रूस की साहित्यिक यात्रा" नामक पुस्तक में दे दिया था। इस दूसरी यात्रा का उद्देश्य था—गोर्की शताब्दी (१९६८) के लिए मसाला इकट्ठा करना और शहीदों के कुछ रेखा-चित्र प्रस्तुत करना।

इस महादेश ने अपने शहीदों की कीर्तिरक्षा के लिए महान उद्योग किया है। पिछले युद्ध में ही करीब दो करोड़ रूसी युवक मारे गये थे। अनेक नगर नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे और लाखों ही स्त्रियां विधवा हो गई थीं; लाखों बच्चे अनाथ। उनकी देखभाल करना और उन्हें काम पर लगाना आसान नहीं था और साथ-साथ खण्डहर के मलवे को उठाकर वहां नवीन भवन बनाना भी अत्यन्त कठिन था, पर ये सभी कार्य बड़ी खूबी के साथ इन्होंने कर दिखाये हैं। सम्पूर्ण देश धन-धान्य-समृद्ध तथा हरा-भरा बनाने के लिए इन्हें अथक परिश्रम करना पड़ रहा है। स्त्रियों ने यहां पुरुषों का हाथ पूरा-पूरा बंटाया है। हर विभाग में हर जगह स्त्रियां काम करती हुई दीख पड़ती हैं। डाक्टरी विभाग में जितनी संख्या महिलाओं की यहां है, उतनी संसार के किसी भी देश में न होगी। शिक्षा विभाग में, संग्रहालयों में, रेल विभाग इत्यादि में उनकी तादाद काफी है।

निःसन्देह हमलोग रूस से बहुत कुछ सीख सकते हैं। इस बीच मुझे अमर शहीद फुलेना बाबू का कई बार खयाल आया है। महाराजगंज वालों ने उनके स्मारक के लिए क्या किया? आपने तो मुझसे पत्र-व्यवहार ही बन्द कर रखा है। मैं तो ७४ वर्ष का हो चुका। अगर अधिक पत्र न भेज सकें तो मेरा अपराध क्षम्तव्य माना जाना चाहिए, पर आप उम्र में आधी होंगी। आपने अपनी क्षेम-कुशल क्यों नहीं भेजी? इधर क्या कुछ लिखा है आपने? कुछ छपा है? जो पुस्तिका छपी थी उसकी बिक्री कैसी हुई? आपका स्वास्थ्य कैसा है?

मैं एक पुस्तक लिखना चाहता हूं—'पत्र-व्यवहार मेरा व्यसन'

क्या आपने मेरी चिट्ठियां सुरक्षित रख छोड़ी हैं? या फाड़ डालीं? वैसे वे इस काबिल तो थीं

नहीं कि उन्हें सहेजकर रखा जाता, फिर भी यदि उन्हें रख छोड़ा हो तो कृपाकर मुझे रजिस्ट्री से लौटा दीजिए। मैं उनकी नकल कराके ज्यों की त्यों रजिस्ट्री से आपको लौटा दूंगा। आपके दर्शन तो अब दुर्लभ ही समझिये।

सिवान से लगाकर विशाल भारत आफिस, कलकत्ता तक के पुराने संस्मरण मेरे दिमाग में चक्कर काट जाते हैं, १० जुलाई को दिल्ली पहुंच रहा हूं।

पत्रोत्तर का पता—
फीरोजाबाद, (आगरा)

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद
२३-१२-६६

पूज्यवर,

सादर प्रणाम !

कल मैं ७५ पचहत्तरवां वर्ष प्रारम्भ कर रहा हूं। आपके कृपापूर्ण व्यवहार का प्रायः स्मरण कर लेता हूं, यद्यपि पता लिख नहीं पाता। अमर-शहीद फुलेना बाबू की स्मृतिरक्षा के लिए हम लोग कुछ भी नहीं कर सके। इस बात का मुझे पछतावा है, पर क्या किया जाय ! लाचारी है। हमारी सरकार इस विषय में बहुत उदासीन रही है। जिनके हाथ में शासन आया है, उन्होंने इस बात की प्रायः चिन्ता नहीं की कि शहीदों के घरवालों पर कैसे गुजर रही है। वर्षों के प्रयत्न से मैं १२–१३ व्यक्तियों को पेंशन दिला सका। वस्तुतः मेरे क्षुद्र जीवन के १७–१८ वर्षों का सर्वोत्तम समय तो शहीदों की कीर्ति-रक्षा के यश में ही बीता है। १४ चीजें उन्हीं के विषय में छपवाई है। "उनकी याद" का द्वितीय संस्करण तो हुआ नहीं ? इधर कुछ और भी लिखा है क्या ?

बिहार के अकाल की बातें पढ़-पढ़कर चिन्ता होती है कि आप पर कैसी बीत रही होगी। रामधन क्या कभी मिलने आता है ? स्व० नारायणबाबू के सुपुत्र क्या कर रहे हैं ? स्वामीजी का पुस्तकालय कैसा चल रहा है ? और कोई नवीन समाचार ?

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
२७-१२-६६

पूज्यवर,

सादर प्रणाम !

रामधन के पत्र से यह जानकर संतोष हुआ कि "अमर शहीद फुलेना बाबू" के स्मारक के बारे में कुछ कार्य प्रारंभ हो गया है। यद्यपि यहां से बैठे कुछ सेवा नहीं की जा सकती, तथापि यदि सम्पूर्ण वृतान्त आप लिख भेजें कि कहां तक प्रगति हुई है और क्या करना बाकी है तो पत्रों में कुछ लिखा जा सकता है।

महाराजगंज में कौन-कौन से पत्र आते हैं ? मेरा पिछला कार्ड मिला होगा। बिना किसी सहायक के ७५वीं वर्ष में अधिक लिखना-पढ़ना बहुत मुश्किल है, इसलिए संक्षेप में ही लिख रहा हूं।

क्षमाप्रार्थी
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
श्रद्धेय श्री ताराजीजी, १७-८-६७

सादर प्रणाम।

कल १६ तारीख थी और मैंने 'अमर शहीद' को तथा आपको याद किया। शहीद-स्मारक का काम कहां तक आगे बढ़ा है?

आप आजकल क्या करती रहती हैं?

क्या कुछ लिखा है?

"उनकी याद" का दूसरा संस्करण छपाने का विचार है?

रामधन कभी मिलता है या नहीं?

देवशरण-स्मारक की स्थिति क्या है?

मेरा स्वास्थ्य कुछ ऐसा ही है। पेशाब रुकने की बीमारी है जो ७० के आस-पास आकर हो जाती है, और जिसमें आपरेशन खतरनाक होता है। होमियोपैथी की औषधि ले रहा हूं। शहीदों के श्राद्ध का काम निरन्तर करता रहता हूं। वही मेरे क्षुद्र जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

---

२१ प्राइवेट वार्ड
सरोजिनी नायडू अस्पताल, आगरा
२७-७-१९६९

पूज्यवर, सादर प्रणाम!

सात जून से मैं यहां अस्पताल में दाखिल हूं और डाक्टरी जांच हो रही है। पौरुष ग्रन्थि (पेशाब रुकने की बीमारी) का आपरेशन होगा। तिथि अभी तक तय नहीं की गयी। यह आपरेशन इस उम्र में, ७७ वीं वर्ष में, कुछ खतरनाक तो होता ही है, पर मैं चिन्ता नहीं करता। जो होगा, ठीक होगा।

मैं आजकल जय जीवन (निकोलाई अस्त्रावास्की) पढ़ रहा हूं, वे कुल जमा ३४ वर्ष की उम्र में स्वर्गवासी हुए थे। उनकी पुस्तक का अनुवाद श्री अमृतराय ने "अग्नि दीक्षा" नाम से किया था। न पढ़ी हो तो जरूर-जरूर पढ़ लीजिए। उस पुस्तक को पढ़ते हुए मुझे अमर शहीद फुलेना बाबू की याद आ गयी! उनकी स्मृति-रक्षा के लिए देश ने क्या किया? आपकी पुस्तक का द्वितीय संस्करण भी तो न हो पाया!

स्मारक का क्या हुआ?

रामधन का भी पत्र बहुत दिनों से नहीं आया। आपने तो लिखना ही छोड़ दिया! जिले भर के शहीदों के वृतान्त इकट्ठे करके वह पुस्तक शहीद शिरोमणि फुलेनाबाबू को अर्पित करनेवाला कौन होगा?

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

२१ प्राइवेट वार्ड,
एस०एन० अस्पताल, आगरा
१३-८-६९

पूज्यवर,

प्रणाम !

मेरा आपरेशन १८ तारीख को है। उस दिन खासतौर पर मैं आपको याद करूंगा। आशा है कि आपरेशन सफल होगा——

आप सबका आशीष मेरे साथ है ही——पर यदि ऐसा न भी हो तब भी मुझे संतोष रहेगा कि शहीदों के श्राद्ध के लिए मैं यह किंचित सेवा कर सका।

सारन या छपरा जिले के शहीदों के विषय में कोई पुस्तिका लिखी जाय और वह अमर शहीद फुलेना बाबू को समर्पित कर दी जाय तो एक पंथ दो काज की कहावत चरितार्थ हो जायगी।

पर किसके पास इतना वक्त है। खैर

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

१८ ता० की सुबह को अपने ध्यान में मुझे भी आशीर्वाद दीजिए।

बनारसीदास

चिट्ठियों के उत्तर भी नहीं।
क्या स्वास्थ्य ठीक नहीं ?
१६ अगस्त फिर आ गया है।
स्मारक की स्थिति क्या है?

फीरोजाबाद
२७-९-६९

पूज्यवर,

प्रणाम !

"उनकी याद" का नवीन संस्करण मैं छपवा सकता हूं यदि आप उसे एक बार फिर से देख लें। प्रकाशक डेढ़ सौ प्रतियाँ आपको भेंट कर देंगे। २० अगस्त को मेरा आपरेशन हुआ था सो सफल रहा, यद्यपि कमजोरी बहुत ज्यादा है। ७८ वीं वर्ष शीघ्र ही शुरू कर रहा हूं। पुनर्जन्म हुआ, समझिये। अब सब काम-कार्य बन्द कर देना चाहता हूं। हां बच्चों के बारे में कभी-कभी लिखने का विचार है। ५८ वर्ष कलम घसीटते-घसीटते बीत गये।

इस बीमारी में आपकी याद आयी। बहन शकुन्तला श्रीवास्तव दो बार पधारी थीं। आपकी तबीयत कैसी है? भोजन का प्रबन्ध कैसा है? ब्लड प्रेसर (रक्त का दबाव) कितना है? मेरे लिए पत्र लिखना भी मुश्किल हो गया है।——पर मन नहीं मानता।

बनारसीदास चतुर्वेदी

रामधन की किताब देखी?

दुर्गादास समाधिया के नाम

•

कुण्डेश्वर

प्रिय समाधियाजी, सादर प्रणाम ! २-३-३८

आप कृपया रविवार के प्रोग्राम को न भूलें। दस आदमियों के साथ (मय फावड़े इत्यादि के) आपको आना है। उन दस आदमियों के भोजन-मिष्ठान्न का प्रबंध मैं यहां करा दूंगा। कृपया गेस्ट-हाऊस के पंडा को सूचित कर दीजिये कि वह मुझसे मिल ले, क्योंकि उसकी सहायता की आवश्यकता होगी।

प्रोग्राम आप और द्विवेदीजी मिलकर तय कर लें । श्रीमान महाराजा सा० से साहित्य चर्चा दो-ढाई घंटे से अधिक न होनी चाहिये बल्कि दो घंटे ही । साढ़े छः बजे शाम को हमलोग संगम से वापिस आ जायंगे। साहित्य-चर्चा का वक्त ४।। से ६।। रखना ठीक होगा। भोजन इत्यादि का भी प्रबंध करना है। किसी के धार्मिक भाव को ठेस न पहुंचे इसलिए कच्चे व पक्के दोनों प्रकार के भोजन अलग-अलग बनवाना ठीक होगा। बनाने का प्रबंध आप कर दीजिये, व्यय का इन्तजाम मैं कर लूंगा।

फावड़े कृपया न भूलिये ?

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

कुण्डेश्वर

प्रिय समाधियाजी, वन्दे ! ११-१०-३९

परिषद् के कार्य के लिए मैं जेल जाने को तैयार हूं। इससे अधिक आप क्या चाहते हैं? जब आप कहें—तभी जेल में हाजिर होऊं। अपराध तो पहले से ही बहुत-से किये हैं । उनको स्वीकार कर लूंगा। मुकद्दमा चलाने की जरूरत नहीं पड़ेगी ।

बनारसी-बाग में बीजों का अभाव है, इसलिए आपके यहां से बीज चुराने पड़ेंगे। क्या आप चाहते हैं कि राजगुरु इस अपराध में जेल आवें ?

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद

प्रिय समाधियाजी, सादर प्रणाम ! ३०-५-४०

दो-बार मलेरिया ज्वर से पीड़ित हो जाने के कारण मैं अभी तक टीकमगढ़ नहीं पहुँच सका। अब तबीयत ठीक है—और शीघ्र ही मैं वहां पहुंचूंगा।

पहला काम तो पुस्तकालय को अप-टु-डेट बनाना है और महाकवि केशवदास की स्मृति में एक पुस्तकालय किसी ऐसे स्थान में जहां उसकी सबसे अधिक आवश्यकता हो, स्थापित करना है। केशव-जयंती के रुपयों का वही सर्वोत्तम उपयोग होगा। और भी बहुत-सी बातें सेवा में निवेदन करनी हैं।

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

कुण्डेश्वर

प्रिय समाधियाजी, १२-३-४१

शाकों के लिए एक सहस्त्र धन्यवाद।

पर इनका मूल्य तो आपने नहीं लिखा ? भेंट में तो कई बार आपसे मांगतरकारी पा चुका हूं, इसलिए इनके तो दाम ही दूंगा।

दर्शनाभिलाषी,
बनारसीदास

प्रिय समाधियाजी, कुण्डेश्वर

सुना है जेल में तरकारियां पैदा होती हैं। हम लोग मूल्य देकर ही तरकारी लेने के पक्ष में हैं। एसी स्थिति में हमलोगों को तरकारी न मिलने का क्या अभिप्राय है?

वस हम लोगों ने निश्चय किया है कि चोरी करके जेल में आपकी अधीनता स्वीकार करें। तरकारी तो मिलेगी।

एडवान्स के लिए ५ रु० भेज दूं क्या? आज ही सब मसाला (ग्राम-गीत इत्यादि) लेकर पधारिये। श्री कृष्णानन्दजी गुप्त ठहरे हैं।

विनीत
बनारसीदास

नरेश चतुर्वेदी के नाम

१२३ नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली,
१-९-१९५३

प्रियवर,

स्व० पूज्य बाजपेयी जी[1] के लिये जो कुछ भी आप लोग करेंगे उसमें मेरा पूर्ण सहयोग होगा। मेरे नाम का आप यथोचित उपयोग कर सकते हैं। पर काम कम ही कर पाऊंगा। जीविका के लिए लेख ही नहीं लिख पाता।

पर पहले पैसा इकट्ठा कर लेना ठीक होगा, वह आजकल अत्यन्त ही कठिन है। इसलिये कोई घोषणा करने के पहले पैसे का इन्तजाम कर लेना निहायत जरूरी है। इधर मैं अस्वस्थ रहा। अब

---

[1] पं० लक्ष्मीधर बाजपेयी

अत्यन्त व्यस्त हूं। नियमानुसार लिख नहीं पाता। संकट में पड़ा हूं। सरस्वती साइज के २५६ पृष्ठ बहुत काफी होंगे। ३२ फार्मों में काफी मसाला आ सकता है। भर्ती की एक भी चीज न हो। उसमें केवल पत्रकार कला को ले लिया जाय तो वह संदर्भ ग्रन्थ बन सकता है। चों चों का मुरब्बा उसे न बनाइये। आजाद-स्मारक ग्रन्थ का विचार क्या छोड़ दिया ? क्या कुछ कर सकेंगे ?

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

९९, नार्थ एवेन्यू,
नईदिल्ली
१९-९-१९५६

प्रिय भाई नरेशजी,
पालागन।

हिन्दी के जिस नवीन इतिहास की बात मैंने आपसे की थी उसके बारे में अपने विचार स्पष्ट करने के लिये मैं यह चिट्ठी आपको भेजता हूं। कृपया इसे पढ़ कर मुझे लौटा दीजिये। जरूरत समझें तो नकल भले ही रख लें। पर यह पत्र मुझे वापस मिल जाना चाहिये ताकि नोट लिखने के लिये वक्त पर काम आ जाय।

आज जो हिन्दी के इतिहास कालेजों में पढ़ाए जाते हैं उनमें समय विभाजन इत्यादि की टेकनीकल चीजें इतनी ज्यादा भरी होती हैं कि उनमें किसी के हृदय का स्पन्दन नहीं सुनाई पड़ सकता। अपने पूर्वज इतिहास-लेखकों के हम कृतज्ञ हैं और मिश्र बन्धु, रामचंद्र शुक्ल से लगा कर हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा रामकुमार वर्मा प्रभृति सभी को हम शतशः प्रणाम करते हैं पर फिर भी हमारा विश्वास है कि इतिहास को अब साधारण जनता तक पहुंचाने के लिये नवीन पद्धति से लिखना होगा। एक तो वह खूब सचित्र बनाया जाय। दूसरे उसमें छोटे-छोटे (Anecdotes) किस्से-कहानियों की भरमार हो। ऐसी घटनाओं का उसमें वर्णन हो जो लेखक या कवि के चरित्र पर प्रकाश डालने वाली हों।

श्रद्धेय टंडन जी[1] ने एक दिन कहा, भट्टजी[2] का मासिक वेतन (जो शायद ५० रुपया था) आता था वह 'हिंदी प्रदीप' मासिक की छपाई के खर्च में निकल जाता था। तब भट्ट जी माथे पर हाथ रखकर चिन्ता के स्वर में कहते थे अब महीने भर काम कैसे चलेगा। इस घटना को बालकृष्ण जी भट्ट के विषय में लिखते हुए यदि उद्धृत कर दिया जाय तो वह पाठक के हृदय पर असर डाले बिना न रहेगी।

पर क्या किसी भी पाठ्य पुस्तक के रूप में पढ़ाए जाने वाले हिंदी भाषा के इतिहास में ऐसी घटनाएं दी गई हैं या दी जा सकती हैं ? हमारे इन इतिहासकारों ने मानो जानबूझ कर अपनी चीजों को नीरस बनाने का प्रयत्न किया है। भट्ट जी के सुपुत्र श्री जनार्दन भट्ट कहते थे जब हिंदी प्रदीप का कोई मनीआर्डर आ जाता—एक रुपया पांच आने का—तब हमारे घर में घी आता, यह बात क्यों न इतिहास में लिखी जाय ?

एक मीटिंग में खुदीराम बोस के पक्ष में बोलने के कारण भट्ट जी को अपनी नौकरी छोड़नी पड़ी। यह सब बातें इतिहास में आनी चाहिये।

---

१. राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टंडन

२. स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट

हमारे इतिहास लेखक उसी पुरानी लकीर को पीटते जाते हैं। मैं अभिमान नहीं करता फिर भी विनम्रतापूर्वक कहूंगा कि रत्नाकर[1] जी पर लिखे हुए मेरे दोनों लेखों को (जो रेखाचित्र में छपे हैं) आप पढ़ लीजिये और तत्पश्चात उनकी तुलना कीजिये उस भूमिका से जो बाबू श्यामसुंदरदास ने उनके काव्य संग्रह के विषय में लिखी है। दोनों में आपको काफी अंतर मिलेगा। रत्नाकर जी के व्यक्तित्व का जो सफल चित्रण मेरे उन दो लेखों में हुआ है वह बाबूजी की भूमिका में नहीं हो सका। शायद बाबू जी का वह उद्देश्य भी नहीं था।

हिंदी के वर्तमान इतिहासों में शायद स्वर्गीय लक्ष्मीधर जी बाजपेयी के नाम का उल्लेख भी न होगा —यदि होगा तो दो-चार रूखी-सूखी पंक्तियों में—पर उनके अंतिम दिनों में जो इंटरव्यू आपने उनसे ली वह एक ऐतिहासिक महत्व की चीज़ है।[2]

सन् १९१२ से लेकर अब तक यानी पिछले ४४ वर्ष का इतिहास तो मेरी आंखों से गुजरा है और उसे (यदि मुझे वक्त मिल जाये तो) मैं चित्रित कर सकता हूं—चिट्ठियों से, छोटे-छोटे किस्से-कहानियों से और रेखाचित्रों से भी। इतिहासकार के लिये सब से मुख्य चीज उसकी ईमानदारी तथा सत्यप्रियता होनी चाहिये। यद्यपि मेरे हृदय में आचार्य द्विवेदी जी, पंडित पद्मसिंह जी शर्मा तथा सत्यनारायण कविरत्न के प्रति असीम श्रद्धा है तथापि न्याय की तराजू पर तौलते हुए यदि किसी की कृति में मुझे कुछ भी हलकापन प्रतीत हो तो मैं निःसंकोच उसका उल्लेख कर सकता हूँ। हिंदी का नवीन इतिहास (जिसकी कल्पना मैं कर रहा हूं) एक-दो आदमयों के बूते का नहीं, उसके लिये समय, साधन तथा सहायक अपेक्षित हैं वे कहां मिलें।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

९९, नार्थ एवेन्यू,
नईदिल्ली

२७-९-५६

प्रिय नरेशजी,

अच्छी बात है आप मूल पत्र रख लीजिये, उसकी नकल ही भेज दीजिये। यदि आप समझते हैं कि हिन्दी इतिहास को प्रेरणाप्रद तथा मनोरंजक ढंग से पेश करने का वह भी एक तरीका है (पुराने एकेडेमिक विद्वानों की प्रणाली को मैं त्याज्य नहीं कहता, आखिर जब तक कालेज हैं और उनमें विद्यार्थी, पुराने ढंग के ग्रंथ अनिवार्यतः आवश्यक होंगे) तो आप स्वयं उस तरीके से इतिहास का मसाला इकट्ठा करना शुरू कर दीजिये।

जिस प्रकार आप श्री लक्ष्मीधर जी बाजपेयी की सेवा में उपस्थित हुए उसी प्रकार वयोवृद्ध लेखकों के चरणों के निकट बैठ कर उनके संघर्षों के वृतान्त लिपिबद्ध कर लीजिये। किस्से-कहानी वे सुनावेंगे। वे शंकर जी के बड़े भक्त हैं—नाथूराम शंकर शर्मा के (शंकर जी के अनेक पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं) साहित्यिकों से मिल कर छोटी-छोटी बातें इकट्ठी कीजिये, मसलन अरोड़ा, जी[3] से लाला हरदयाल के संस्मरण।

---

[1] प्रसिद्ध कवि जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर

[2] सरस्वती में प्रकाशित हुई

[3] स्व० नारायणप्रसाद अरोड़ा कानपुर के राजनीतिज्ञ एवं साहित्य-सेवी

आपने मकान बनवा लिया यह बहुत अच्छा किया। यद्यपि वह बहुत खर्चीला सिद्ध हुआ। उसमें एक कमरा साहित्यिकों के चित्रों से सुसज्जित कर दीजिये। और एक अलमारी साहित्यिकों के जीवन संबंधी मसाले के लिये रिजर्व कर दीजिये। अपनी जीविका के कार्य के बाद जो भी समय बचे उसमें इसी प्रकार के मसाले को इकट्ठा करते रहिये।

कल ही मुझे स्वामी नारायण जी[१] का दाढ़ीवाला चित्र मिला उसका तो एक इन्लार्जमेन्ट आपके कमरे में होना चाहिये। उनकी पुण्य तिथि निकट ही है। खयालगो लोगों के लिये उन्होंने बहुत काम किया था।

मैं साहित्यिकों में भेद नहीं करता—शालिगराम की बटिया सभी बराबर। जो भी इतिहास लेखक कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर से लगा कर शीलजी[२] चतुर्वेदी अथवा देवीदयाल जी गुप्त[३] के हृदय के स्पंदन को सुनने की क्षमता नहीं रखता उसे कोई दूसरा पेशा इख़तियार कर लेना चाहिये।

एक भूकम्प मापक यंत्र होता है जिसे सीसमोग्राफ कहते हैं। हजारों मील दूर हुए भूकम्प का उससे पता लग जाता है। हमारा हृदय उससे कहीं अधिक कोमल यंत्र है, मुश्किल यह है कि हम लोग हृदयहीन बन गए हैं। कोई साहित्यिक तपेदिक से बीमार हैं पर उनकी खोज खबर हम नहीं लेते।

एक बात और—जो लोग केवल हिंदी साहित्य के ही इतिहास को जानते हैं और देश की अन्य भाषाओं के इतिहास से अनभिज्ञ हैं, वे हिंदी के इतिहास को भी विधिवत नहीं जानते। गुजराती, बंगला तथा मराठी इत्यादि के इतिहास से भी हमें परिचित होना चाहिये। और इन सबसे ऊपर उर्दू के इतिहास से भी क्योंकि वह तो हमारी एक शाखा ही है। हम इस बात को न भूलें कि बालमुकुन्द गुप्त[४] तथा प्रेमचंद और सुदर्शन जी उर्दू की ही देन हैं।

आप कानपुर के तथा आसपास के साहित्यिकों के सजीव रेखा-चित्र उपस्थित कर दीजिये। यह काम एक-दो आदमियों का नहीं एक दर्जन आदमियों का है। मैं अब भी प्रतीक्षा कर रहा हूं कानपुर के किसी ऐसे साहित्यिक की जो गणेश शंकर का साहित्यिक श्राद्ध विधिवत् करेगा। चुनाव में कानपुर लाखों रुपये खर्च करेगा पर गणेश जी के लिये (जिन्होंने कानपुर के साहित्यिक रेगिस्तान में उद्यान लगाया) वह क्या करेगा? २५ वर्षों में उसने आखिर किया क्या? बढ़-बढ़ के गप्पें मारना आसान है काम करना मुश्किल है। गणेश जी के लेखों और नोटों को जो टाइप नहीं करा सकते जिसमें (बस १००सौ-सवासौ रुपयों का खर्च है) वे और क्या करेंगे? चाहे वे भट्टाचार्य[५] हों चाहे ओंकार[६] चाहे विष्णुदत्त शुक्ल[७] चाहे अरोड़ा जी[८] चाहे प्रिंसिपल अवस्थी[९]

---

१. स्वामी नारायण नन्द (खयाल गायक तथा 'लावनी का इतिहास' के लेखक, कवि

२. झांसी के ओजस्वी कवि जो आर्थिक कठिनाई से दुःखी होकर तरुणाई में आत्मघात कर बैठे थे।

३. टीकमगढ़ के अप्रसिद्ध किन्तु प्रतिभाशाली छन्द-लेखक

४. 'भारत मित्र' सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त

५. सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य (प्रताप के सम्पादक, क्रान्तिकारी गणेशजी के सुहृद्)

६. ओंकार शंकर विद्यार्थी (स्व० गणेशजी के द्वितीय पुत्र)

७. पत्रकार और गणेश जी के सहयोगी

८. नारायण प्रसाद अरोड़ा

९. सद् गुरुशरण अवस्थी

हो चाहे सम्पादक अवस्थी[१]। इनसे मैं अधिक आशा नहीं रखता। आप भी इन वयोवृद्धों से ज्यादा उम्मीद न रखें। कभी मिलें तो मेरा प्रणाम शिकायत सहित पहुंचा दें।

काकोरी वाली किताब[२] की एक प्रति (जो श्रीरामदुलारे त्रिवेदी ने छपाई है) रजिस्ट्री से भेजिये। क्या काकोरी के शहीद कहीं मिलेगी ? बिसमिल--असफाक के चित्र चाहिये।

आप अपना काम करते रहें।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

९९, नार्थ एवेन्यू, नईदिल्ली
१-४-१९६०

प्रिय नरेशजी,

पालागन।

मैंने श्री निर्मलजी[३] को लिखा था कि वे दूसरी पार्टी से पूछकर लिखें कि वे क्या चाहते हैं पर उन्होंने कोई उत्तर ही नहीं दिया। भाई श्रीनारायणजी[४] ने दो सप्ताह तक प्रयत्न किया था, पर उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। आप उनसे पूछिये तो।

मेरा ख्याल है कि विरोधी लोग[५] हम लोगों की बात हर्गिज नहीं मानेंगे। नवीन सम्मेलन के निर्माण में ही हमारा कल्याण है, पर बकौल राजर्षि टंडनजी[६] उस यज्ञ के याज्ञिक कहां हैं? कोई भी व्यक्ति इस लक्ष्य के लिये जीवन अर्पित करने को तैयार हो तो गाड़ी आगे बढ़े। पर किसके पास इतना वक्त है? सभी अपने-अपने धन्धे में लगे हैं।

मैं तो शहीदों के श्राद्ध के लिए ही अपने क्षुद्र जीवन के शेष दिन अर्पित कर चुका हूं, इसलिये अन्य कोई भी काम हाथ में ले नहीं सकता।

इलाहाबाद आपके निकट है। आप श्रद्धेय टंडनजी की सेवा में प्रतिपक्ष में २।२ दिन उपथिस्त होकर इस मामले[७] में उनकी मदद करें। उनके साथ बातचीत ही वास्तविक शिक्षा है।

मेरा एक प्रस्ताव है--श्रद्धेय टंडनजी एक-एक पत्र देश के प्रतिष्ठित-से-प्रतिष्ठित हिंदी-प्रेमियों तथा हिंदी-सेवियों को लिखें · · 'राष्ट्रपति से लगा कर छोटे-मोटे १००--१२५ लेखकों तथा कवियों को। उस

---

१. रमाशंकर अवस्थी, सम्पादक 'वर्तमान'। प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य लेखक।
२. 'काकोरी के दिलजले'।
३. ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'।
४. पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी।
५. प्रभात शास्त्री का गुट।
६. स्व० पुरुषोत्तमदासजी टंडन।
७. पत्र के शुरू के पैराग्राफ हिन्दी साहित्य सम्मेलन की गुटबन्दी तथा झगड़े को लेकर लिखे गये हैं।

पत्र के साथ छपा हुआ एक लेख भी होना चाहिये, जिसमें अब तक की स्थिति का व्यौरेवार वर्णन हो। उस पत्र के उत्तरों से शायद परिस्थिति के सुलझने में कुछ मदद मिले।

मुझे भोपाल जाना पड़ा और तत्पश्चात बीमार पड़ गया। ज्वर था। अधिक क्या लिखूं ?

दैनिक का प्रयोग भाई रामनाथजी अब न करें।

साप्ताहिक को ही सर्वोत्तम बनावें। यह चिट्‌ठी उन्हें भी पढ़ावें।

पुनश्च : कृपया 'हिंदी कोविद रत्न माला' रजिस्ट्री से भेज दीजिये। चित्र रंगून स्टूडियो से बनवाकर ज्यों-का-त्यों वापस कर दूंगा। ठाकुर साहब[१] का चरित्र क्या आपने वहीं से लिया था? आपने जो कुछ लिखा है उसे भी टाइप करा दीजिये। गुरुवर लक्ष्मीधरजी बाजपेयी पर आपका लेख अत्युत्तम था। उसे उद्धृत कराना चाहता हूं।

पुनश्च : जनपदीय संदर्भ ग्रंथों का निर्माण कराइये। पत्र तो प्रत्येक जिले के कार्यकर्त्ताओं को जाना ही चाहिये। आगरे का काम भाई हृषीकेश चतुर्वेदी के सुपुर्द कीजिये। बचनेशजी के ग्रन्थ मुझे भेजिये। उन पर आपने लिखा ? कुकर खरीदा ? कानपुर एज ए लिटरेरी एण्ड कल्चरल सेण्टर पर कुछ विचार मुझे भेजिये।

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद

८-११-६१

प्रिय भाई नरेशजी, पालागन।

अपने निबन्धों का संग्रह अवश्य और शीघ्र ही कीजिये। मेरे गुरु स्व० पं० लक्ष्मीधरजी बाजपेयी पर आपने बहुत अच्छा लिखा था। उसे तो आप संग्रह में रखेंगे ही । उग्रजी के आत्मचरित की आलोचना भी खासी अच्छी थी। स्वामी नारायणनन्द के विषय में आपने लिखा या नहीं ? वे भी एक संस्मरण के हकदार हैं। भाई रामनाथजी के आदेशानुसार श्री गिल्लूमलजी बजाज के अभिनन्दन-ग्रंथ के लिए एक छोटा-सा खले मैंने भी भेजा है। उसे आप देख लें और यदि अभी तक न छपा हो तो उसमें स्व० हरिहरनाथजी शास्त्री के नाम को जरूर जोड़ दें।

राजनैतिक क्षेत्र में काम करने वालों की कमी नहीं पर साहित्य-क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करनेवाले अल्पसंख्यक ही हैं। नवयुवकों को प्रोत्साहन और निज का सृजनात्मक कार्य इन दोनों को साथ-साथ ले चलिए। किसी को प्रेरित करके ठाकुर गदाधरसिंह के ग्रन्थ पुनः छपवाइये।

स्व० हितैषीजी पर आपके संस्मरण मेरी निगाह से नहीं गुजरे। उन पर जिस-जिसने लिखा हो एक जगह संग्रह कर दीजिये। अगर प्रातःकाल का घंटा-डेढ़-घंटा आप इस कार्य के लिए देते रहे तो बहुत काम हो जाय। मेरे पास तो कोई सहायक नहीं, नहीं तो मैं भी अधिक सेवा कर सकता। विशेषांक बेचने का प्रयत्न कीजिये। और लोगों की प्रतिक्रिया लिख दीजिये। लेख बन जायगा।

विनीत

बनारसीदास

---

[१] ठा० गदाधरसिंह हिन्दी में यात्रा-साहित्य के प्रथम लेखक। चीन में तेरह मास, तिलक, एडवर्ड-यात्रा इत्यादि ग्रन्थों के लेखक।

९९ नार्थ एवेन्यू,
नईदिल्ली
५-४-६२

प्रिय नरेशजी, पालागन।

१४ अप्रैल को मुझे दिल्ली वापस पहुंच जाना चाहिए, क्योंकि १७ से संसद शुरू है। यदि फीरोजाबाद से आना हुआ तो वहां से चलूंगा नहीं तो फिर कहीं अन्यत्र से। अप्रैल १८ के बाद मैं यात्रा के लिए निकलना चाहता हूं। रामानन्द बाबू[1] के विषय में एक स्मृति-ग्रंथ की आयोजना बनाई है। हम लोगों का मिलना जरूरी है पर आप अपने आवश्यक कार्य में बाधा न डालें। कहीं-न-कहीं और कभी-न-कभी मिलना हो ही जायगा। यदि भाई रामनाथजी[2] का विशेष आग्रह हुआ तो श्री गिल्लूमलजी[3] के अभिनन्दन में शामिल हो जाऊंगा। वे बजाज हैं और हमारे बाबा भी सन ५७ में मथुरा में बजाजी करते थे, इस संबंध को छिद्रान्वेषी आलोचक भले ही 'वादरायण' कहें, पर मेरी समझ में यह अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह तो आप मानेंगे कि बाबा लक्ष्मनदास के नाती बनारसीदास ने कुछ काम तो किया ही है फिर श्री गिल्लूमल के पौत्र भी क्यों यशस्वी नहीं बन सकते? 'रामराज्य' को साहित्यिक परिव्राजक लेख भेज रहा हूं।

यजमान संग्रह का काम बिना भेदभाव के लोकहिताय अत्यंत आवश्यक है, और हम चौबों का तो यह परम्परागत पेशा है। हम लोग पंचशील के पुराने पृष्ठपोषक हैं।

कल फीरोजाबाद जाने का विचार है, पत्र वहीं भेज सकते हैं।

बनारसीदास

---

९९ नार्थ एवेन्यू,
नईदिल्ली
२१-५-६२

प्रिय भाई नरेशजी,

पालागन। चिट्ठी मिली। मैं बहुत दिन पहले नर्मदा के नवीन अंक की घोषणा कर चुका हूं। पहले उसे प्रकाशित करा देना उचित होगा। प्रचार का सर्वोत्तम तरीका यही है।

तीन दिन पहले श्री विजयकुमार सिनहा मिले थे। उन्होंने एक बात कही। उससे हृदय को धक्का लगा। श्रीमती रमादेवी ने उनसे कहा था--चतुर्वेदीजी प्रताप के पन्ने ही फाड़ ले गए। यदि कभी मिलना हो तो ओंकार शंकर को इसकी सूचना दे दीजिये। इस प्रकार के जघन्य असत्य इलजाम मुझ पर लगा कर उन्होंने अपना कौन-सा हित सोचा है, यह मेरी समझ में नहीं आता। इसकी तो मैंने कभी कल्पना भी न की थी। गणेशजी के विषय में चार चीजें निकालने का यह भरपूर पुरस्कार मुझे मिल गया।

---

[1] स्व० रामानन्द चट्टोपाध्याय।

[2] साप्ताहिक 'रामराज्य' कानपुर के सम्पादक।

[3] कानपुर के प्रसिद्ध वस्त्र-व्यवसायी एवं समाजसेवी।

१—ट्रेक्ट—पालीवालजी तथा नवीनजी के लेख—'आजकल' का क्रोड़-पत्र ।

२—जीवन-चरित्र—शहीद ग्रंथमाला में।

३—कालपी वाला ग्रंथ ।

४—नर्मदा विशेषांक ।

रमा[1] के बाद सरला[2] भी इलजाम लगा सकती है। ऐसे श्राद्ध कर्म को दूर से ही प्रणाम !

कलकत्ते जाने की सोच रहा था—रामानन्द स्मृति ग्रंथ के लिए।

बनारसीदास

---

९९ नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
१-९-६३

प्रिय भाई नरेशजी,

मेरी इच्छा है कि नवीनजी के मित्रों को नर्मदा का विशेषांक भेंट करूं पर केवल उन्हीं मित्रों को, जो उनके संस्मरण लिखने के लिए तैयार हों या फिर लिखाने के लिए ही। नवीनजी के मित्र ३ रु० खर्च करने के लिए तो तैयार नहीं होंगे। और इकट्ठे अंक भला कौन खरीदेगा ?

प्रत्येक छोटी-छोटी बात चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए बहुमूल्य है। नवीन जी के पत्रों को पढ़कर आप प्रसन्न हो जायंगे। सन २००१ ईसवी में जब कोई छात्र जिज्ञासा से पूछ बैठेगा—यह बनारसीदास कौन था ? तो दूसरा जवाब देगा—वही जिसे नवीनजी ने वे मजेदार पत्र लिखे थे। प्रतापनारायण मिश्र और नवीनजी दोनों ही बढ़िया पत्र लेखक थे। उनके पत्रों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिये, पर मिश्रजी के दो-चार पत्र ही सुरक्षित रह गए। महाकवि शंकरजी के पास बहुत से पत्र थे पर वे सब खो गए। नवीनजी विषयक छोटी-छोटी बातें इकट्ठी कीजिये।

विनीत
बनारसीदास

---

९९ नार्थ एवेन्यू,
६-११-६३

प्रिय श्री नरेशजी, पालागन !

यदि आप श्री उमाशंकर दीक्षित एम० पी० १२, साउथ एवेन्यू, नईदिल्ली को जानते हों तो उनसे भी नवीनजी के संस्मरण लिखाइये। नवीनजी ने उन्हें अपना बेहतरीन रूप लिखा है। वे कानपुर में नवीनजी के साथ ही पढ़ते थे—श्री द्वारिकाप्रसादजी मिश्र की तरह श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, सहारनपुर भी कुछ लिख सकते हैं।

---

[1] रमा विद्यार्थी

[2] नवीनजी की धर्मपत्नी।

नर्मदा की जो १२५ प्रतियां शेष हैं उन्हें क्यों नहीं बिकवाया जा सकता ? जब कानपुर वाले गणेश-स्मृति-ग्रंथ की सिर्फ एक-दो प्रति खरीद सकते हैं (बकौल परिपूर्णानन्दजी) तो फिर उनसे नवीनजी के विषय में क्या आशा की जाय ?

कल फीरोजाबाद जा रहा हूं, नवम्बर ८-९-१० को वहीं रहना है। श्रीमती शकुन्तलादेवी श्रीवास्तव से भी नवीनजी पर लिखाइये ।

विनीत
बनारसीदास

नार्थ एवेन्यू,
नईदिल्ली
२५-१२-६३

प्रिय भाई नरेशजी,
पालागन !

आपका स्नेहपूर्ण तार मिला। एक सहस्र वर्ष जीवित रहने की बात आपने खूब लिखी। इतनी लम्बी आयु हिन्दी जगत के लिए और स्वयं मेरे लिए भी--वरदान सिद्ध होगी या अभिशाप, यह प्रश्न ही दूसरा है।

करीब-करीब ५२ वर्ष मुझे लिखते हो गए। बहुत से पाठक तंग आ गए होंगे। क्या हिंदी संसार में कामराज-योजना के लागू करने का वक्त नहीं आ गया है? पत्रों में जितनी जगह (Space) चौबेजी घेर लेते हैं उतनी इस समय शायद ही कोई घेरता हो। कागज का यह अपव्यय क्या चिन्तनीय नहीं है?

खैर ये प्रश्न तो विवाद-ग्रस्त हैं, मुख्य सवाल यह है कि नवीनजी के विषय में कितना मसाला इकट्ठा किया? श्री रामरतनजी गुप्त के यहां डाका डालकर २४ प्रतियां उड़ा दीजिये। यह कार्ड उनको भेज सकते हैं। एक एम० पी० जब दूसरे के यहां डाका डलवा रहा है तब संसद का ईश्वर ही रक्षक है।

श्री कृष्णकुमारी चतुर्वेदी, एम० ए० ने नवीनजी पर एक निबंध लिखा था, जो अभी अप्रकाशित है। एम० ए० परीक्षा के लिए वह लिखा गया था।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
२५-६-६४

प्रिय भाई नरेश, पालागन !

आपके पत्र में दो भयंकर दुर्घटनाओं[1] का हाल पढ़कर हृदय को धक्का लगा। ३८ वर्ष की उम्र में

---

[1] पत्नी तथा भाभी का देहावसान

मुझ पर भी यही वज्रपात हुआ था—सन १९३० में। और मैं आपकी दयनीय दशा की कल्पना भुक्त-भोगी होने के कारण कर सकता हूं। मेरी माता भी तब जीवित थी।

आपको धैर्य बंधाने के लिए मेरे पास शब्द नहीं। ऐसे संकट के अवसर पर आखिर कहा क्या जाय ?

आप अपने स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रक्खें। टहलने का नियम बना लें। अब आपकी जिम्मेदारियां और भी बढ़ गई हैं, इसलिये आपका तन्दुरुस्त रहना निहायत ज़रूरी है। २२ मार्च से मैं यहां पर ही हूं। अपने छोटे भाई रामनारायण के स्वर्गवास के समय मैं बराबर टहलता रहा।

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद
६-८-६४

प्रिय भाई नरेश,

पालागन !

इस बीच न जाने कितनी बार मुझे आपका ध्यान आया। साथ की कविता[1] से शायद आपको कुछ सान्त्वना मिले। बंगला में यह बहुत ओजस्वितापूर्ण है और अनुवाद भी अच्छा हुआ है।

मुझे सम्भवतः कानपुर आना ही पड़ेगा यद्यपि (Prostate glands) प्रोस्टेट ग्लेन्ड्स की तकलीफ में यात्रा खतरनाक हो सकती है क्योंकि पेशाब रुकते ही आपरेशन हो जाता है, पर क्या किया जाय ! लाचारी है।

मैं व्यर्थाभिमान नहीं करता फिर भी विनम्रतापूर्वक कह सकता हूं कि गणेशजी की शहादत के बाद जितनी बार मैंने उन्हें याद किया है उतनी बार शायद ही किसी अन्य लेखक ने किया हो।

१—हिन्दी भवन कालपी द्वारा प्रकाशित गणेश-स्मृति-ग्रंथ।
२—नर्मदा का गणेशशंकर-अंक।
३—स्वर्गीय देवव्रत शास्त्री द्वारा रचित गणेशजी का जीवन-चरित्र (तृतीय संस्करण) और इन तीन ग्रंथों के अतिरिक्त तीन ट्रेक्ट :
१—पंडित सुंदरलालजी का तथा मेरा लेख।
२—नवीनजी तथा पालीवाल जी का लेख।
३—एक अन्य ट्रेक्ट जिसमें शहीद असफाक तथा गणेशजी नामक लेख भी छपवाए हैं।

लेखों की तो मैंने गणना ही नहीं की और यह सब सेवाएं सर्वथा निःस्वार्थ ही की गई थीं। इन्हें श्रीमती रमादेवी[2] जी भ्रष्ट बतलाती हैं। मेरे पास प्रताप के मैनेजर के तीन रजिस्टर्ड नोटिस आ चुके हैं। (Unqualified apology) बिना शर्त के माफीनामे से उन्हें संतोष नहीं। अब प्रताप वाले मुझे कचहरी में घसीटे बिना न रहेंगे।

मुझे प्रताप ट्रस्ट के अथवा गणेशजी के कुटुम्बियों के झगड़े से कोई मतलब नहीं—कुछ जानकारी भी नहीं। मैंने एक पंक्ति भी उस बारे में कभी नहीं लिखी, न किसी से लिखवाया ही। पर प्रताप वालों

---

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता।

[2] स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी की पुत्रवधू और प्रताप की मुख्य ट्रस्टी।

का यह ख्याल है कि मैं ही रामराज्य में लिखवा रहा हूं जो सोलह आने असत्य बात है। श्रीमती रमादेवी को कौन समझाये कि अपने शुभचिन्तकों पर इस प्रकार आशंका करना स्वयं उनके लिए ही हानिकारक होगा। मुझे अकारण तंग करके उन्हें यश नहीं मिलेगा।

सन १९३१ से मैंने सर्वथा निःस्वार्थ भाव से जो प्रयत्न किया है (बकौल श्री रमा जी : लाखों घोषणाएं की हैं) उसका ब्यौरा मैं स्वयं ही लिखता फिरूं यह मुझे शोभा नहीं देता पर मजबूरन मुझे बयान देना होगा। तीन रजिस्टर्ड नोटिसों में ऐसे ऊल-जलूल अपराध प्रताप के मैनेजर ने मुझ पर लगाए हैं कि उन्हें पढ़ कर हँसी आती है। श्री परिपूर्णानंदजी ने अपने निवेदन में जो कुछ लिखा है उसकी जिम्मेदारी मुझ पर डाली है और श्री देवव्रतजी के लेखों की भी।

सिर्फ इस ख्याल से कि कौन झगड़े में पड़े मैंने बिना शर्त माफी मांग ली थी। स्वर्गीय विष्णुदत्त शुक्ल[1] ने मुझे लिखा था, कि प्रताप वाले मुझे सहयोग नहीं देते तो इसमें मेंरा क्या कुसूर था। फिर भी प्रताप के मैनेजर के संतोष के लिए मैंने क्षमा-याचना कर ली थी पर उससे उन्हें संतोष नहीं। खैर मैंने डा० रोहतगी[2] की सेवा में पत्र भेजा है। क्या श्री शिवनारायण टंडनजी को भी लिखूं? और किन-किन को भेजूं?

लेखों द्वारा जीविका चलाने के कार्य में व्यस्त हूं। मुकदमे लड़ने के लिए समय कहां?

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
५-२-६६

प्रिय भाई नरेश,

पालागन,

'जन्मभूमि' का प्रथम अंक मिला। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिये। सम्पादकीय से मैं सहमत हूं। विज्ञापन आपने क्यों नहीं जुटाए? बिना विज्ञापनों के पत्र कैसे चलेगा? निम्नकोटि के विज्ञापनों को न लेकर दूसरे विज्ञापन तो ले लेने चाहिये। कानपुर के व्यापारी-वर्ग का सहयोग लीजिये।

प्रत्येक अंक की त्रुटियां मित्रों द्वारा तलाश करना चाहिये। मसलन 'तथाकथित बड़े कहे जाने वाले' 'तथाकथित' और कहे जाने वाले का अर्थ एक ही है। पुनरुक्ति क्यों? पांच-सात अंक आगे के स्थायी लेखों का मसाला संग्रह करके रखना चाहिये। छोटे-छोटे कापर ब्लाक्स संग्रह में रहें। टेल पीसेज़ भी। सात पृष्ठ का लेख विवाद-ग्रस्त प्रतीत हुआ। ये 'सिण्डीकेट' क्या बला है? हमें ऐसी अटकलपच्चू बातों से बचना चाहिये, जिनके पुष्ट प्रमाण हमारे पास न हों। निरालाजी पर अच्छा लिखा गया है। उनका स्मारक तो होना ही चाहिये। प्रति अंक में साहित्य के लिए एक पृष्ठ निरन्तर रखिये।

पत्र मिला था। इधर बहुत व्यस्त रहा, काम कम कर पाता हूं। ७४ वीं वर्ष चल रही है।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

---

[1] सुप्रसिद्ध पत्रकार और श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के प्रताप में उनके सहयोगी।

[2] कानपुर के सुप्रसिद्ध कांग्रेसजन तथा प्रताप के ट्रस्टी।

फीरोजाबाद
२५-११-६७

प्रिय भाई नरेश, पालागन।

बहुत दिनों से आपका पत्र नहीं आया। आशा है आप स्वस्थ हैं और इस बीच आपने कुछ-न-कुछ साहित्यिक कार्य भी किया होगा। उसका ब्यौरा मुझे लिखिये।

कल मुझे अकस्मात आपकी याद आ गई। नवीनजी के ९ पत्रों के फोटो बनवाये थे--शाजापुर के नवीन महाविद्यालय के लिए --सो काफी अच्छे आये। चूंकि (Negative) निगेटिव बन ही गये हैं, इसलिये प्रतियां निकलवाना आसान है। फोटोग्राफर अपना मित्र है, इसलिये वह काफी रियायत कर देता है। यदि कानपुर में कोई साहित्यिक संग्रहालय होता तो उसमें ये फोटो सुरक्षित रह सकते।

एक बात मुझे और भी सूझी है। शहीद संग्रहालय के लिए कानपुर ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है। गदर के वक्त से लेकर अब तक वहां क्रांतिकारियों के अड्डे रहे हैं। अभी-अभी वैशम्पायनजी स्वर्गवासी हुए। क्या जयदेवजी उन्हें जानते थे? रामनाथजी? आप? उनके भी चित्र हैं। कृपया बचनेशजी विषयक ग्रंथ मुझे रजिस्ट्री से भिजवाइये। स्व० लक्ष्मीधर बाजपेयी के अन्तिम दिनों वाला आपका लेख बढ़िया था। उसे पुनः छपवाइये। किदवई पर एक विशेषांक निकाला है। भिजवाऊं?

विनीत
बनारसीदास

---

९९ नार्थ एवेन्यू,
नईदिल्ली

प्रिय भाई नरेशजी,

पालागन। पत्र अभी मिला। यदि आप प्रातःकाल का सवा या डेढ़ घंटा भी माता सरस्वती के लिए नियमानुसार दें--टहलने के बाद तुरंत--तो बहुत काम बन जायगा। नवीनजी के गद्य लेखों को प्रताप की जेल से छुड़ाना सम्भव नहीं प्रतीत होता। जब से श्रीमती रमादेवी ने मुझ पर यह इलजाम लगाया है; यह बात उन्होंने विजयकुमार सिनहा से कही थी कि "मैं प्रताप के पन्ने फाड़ ले गया" तब से मैंने तो उनसे पत्र-व्यवहार ही बंद कर दिया है। ऐसा सर्वथा असत्य आरोप उन्होंने गणेशजी के एक अन्य सेवक पर लगा कर जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया है उसके बारे में मैं क्या कहूं? बड़ी ग्लानि का अनुभव मुझे हुआ। कृतघ्नता की आखिर तो कोई सीमा होनी चाहिये। गणेश-स्मृति-ग्रंथ, कालपी, नर्मदा विशेषांक, देवव्रत की पुस्तक तथा एक ट्रैक्ट और दो पाम्फ्लेट्स गणेशजी पर मैं छाप चुका हूं। मुझे पौरुष ग्रंथि की बीमारी हो गई है पर मैं चिन्ता नहीं करता। नवीनजी के विषय में मेरी आशाएं आप पर हैं।

बनारसीदास

द्वारा डा० रामगोपाल
हाउस १११७, सेक्टर ८
रामकृष्णपुरम, नईदिल्ली--२२

प्रिय भाई नरेशजी,

पालागन। कार्ड अभी मिला। मैं डाक्टरी जांच (पौरुष-ग्रंथि की) के लिए कल दिल्ली जा रहा हूं। आपरेशन नहीं कराना। ५।७ दिन वहां ठहरूंगा।

इसी साप्ताहिक हिन्दुस्तान में मेरा लेख 'हिन्दी-आन्दोलन का नया मोड़' पढ़िए, और उस पर अपने

विचार भी कृपया सा० हि० को संक्षेप में लिख भेजिये। हिंदी प्रचार इन्दौर के १९१८ के साहित्य सम्मेलन से शुरू हुआ था और मैं उसके साहित्य विभाग का मंत्री था। बापू के प्रश्न, कौन भाषा राष्ट्र-भाषा बन सकती है ? के उत्तरों का संकलन तथा सम्पादन "राष्ट्र भाषा" नाम से मैंने ही किया था और १९१९ में उसे सम्मेलन ने छापा था। बापू की शताब्दी पर भी सम्मेलन ने उसका द्वितीय संस्करण छापने से इंकार कर दिया है। वह तो एक ऐतिहासिक चीज है। मेरा खयाल है कि राष्ट्रभाषा का प्रश्न २५ वर्ष के लिए पिछड़ गया।

इसलामिया कालेज फीरोजाबाद के प्रिंसिपल को एक पत्र आप सीधे भी भेज दें।

विनीत

बनारसीदास

आवश्यक

प्रिय नरेशजी,

श्रद्धेय प० झाबरमल्लजी शर्मा गांधीनगर कानपुर में (केयर आफ जगदीशप्रसाद शर्मा १०६।२८१ गांधीनगर) विद्यमान हैं। उनके चोट आ गई थी बाएं हाथ में और उससे हड्डी टूट गई थी। उनके पास पुष्प लेकर आप अवश्य भेंट करें। पत्रं पुष्पं फलं तोयं वाली कहावत चरितार्थ होनी चाहिये।

श्राद्ध-अभिनन्दन मुंडन कम्पनी अनलिमिटेड के वे मैनेजिंग डाइरेक्टर हैं। मुंडन शब्द नवीनजी ने जोड़ा था। मैंने जब अर्थ पूछा तो बोले--"बिना साधन-सम्पन्न व्यक्तियों को मूंडे कम्पनी फेल हो जायगी।" आप शर्मा जी से जरूर मिलिये।

विनीत

बनारसीदास

नरोत्तम नागर के नाम

●

९९ नार्थ एवेन्यू, नईदिल्ली
१६-१०-१९५५

प्रिय नागरजी,

वन्दे !

आप 'हिंदी पंच' निकाल रहे हैं, यह पढ़कर हर्ष हुआ। व्यंग-विनोद का जिन्दगी में एक विशेष स्थान है और स्वस्थ सार्वजनिक जीवन के लिए वे उतने ही आवश्यक हैं, जितने चटनी तथा अचार भोजन-सामग्री के लिए। समीक्षा और साहित्य का सम्मेलन उपयोगी होगा।

'हिंदी पंच' की सफलता हृदय से चाहता हूं।

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

पुनश्च : पाक्षिक पत्र के लिए ग्राहक जुटाने में काफी श्रम पड़ेगा, यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव

है। "मधकर" पाक्षिक ही था। पाक्षिक पत्रों के ग्राहक बहुत धीरे-धीरे बनते हैं। एम० ओ० फार्म छपे हुए पत्र के साथ रखकर उन्हें प्रतिष्ठित व्यक्तियों को भेजकर कुछ ग्राहक बनाइए।

निजी ३१-८-६२

प्रियवर नागरजी,

'हिंदी टाइम्स'[1] में दिल्ली-डायरी पढ़ी और अपने भाषण को 'बेहूदा' उपाधि से विभूषित पाकर न तो खेद हुआ और न आश्चर्य। सभा में जाने से पूर्व दो बार मैंने श्री सुमनजी को सावधान कर दिया था कि मैं ये बातें कहूंगा और उनके बार-बार आग्रह करने पर ही अपनी अस्वस्थ अवस्था में भी मैं वहां गया था, अपने पास से ३ रु० १४ आने भी खर्च किये और काफी पैदल भी चलना पड़ा। उपस्थित सज्जनों को सात्विक आनन्द देने का मोह ही मुझे वहां ले गया था। आपने मेरा जो वाक्य उद्धृत किया था उसमें कौन-सी बात बेहूदा थी?

मैं प्राय: मीटिंगों में नहीं जाता और जब बहुत दबाव पड़ता है तभी जाता हूं और आपकी इस धमकी के बाद तो और भी कम जाऊंगा। भयभीत हूं। मुझे इस बात का खेद है कि आपके संवाददाता की सांस्कृतिक रुचि को मेरी किसी बात से धक्का लगा है—और मैं उनसे करबद्ध क्षमाप्रार्थी हूं।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी
(पुराना घाघ)

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के नाम

९१ अपर सरकुलर रोड,
कलकत्ता
२८-८-२८

प्रिय उग्रजी,
वन्दे।

कृपापत्र अभी मिला। बुलेटिन छपते ही आपकी सेवा में भेजा जायगा। विश्वास रखिये कोई

---

[1] यह पत्र श्री चतुर्वेदीजी ने श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी कवयित्रियों के प्रेमगीत' के उद्घाटन-समारोह की रिपोर्ट (हिन्दी टाइम्स) में पढ़कर लिखा था। उस समारोह में चतुर्वेदीजी भी बोले थे। चतुर्वेदीजी ने कहा था, "मुझे इस विषय (प्रेम) का काफी तजुरबा है। पुरुषों के प्रेम-गीतों के संकलन करने की जिम्मेदारी मुझे सौंपनी चाहिए।" इस पर 'हिन्दी टाइम्स' के संवाददाता ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए यह लिखा था—"श्री बनारसीदास चतुर्वेदीजी के भाषण को भाषण कहना भाषण-कला का अपमान करना होगा। यदि ऐसे भाषण न भी हुए होते तो भी समारोह में कोई कमी न रह जाती।" संवाददाता ने यहां तक लिख दिया था कि "चतुर्वेदीजी को मेरी नेक सलाह है कि ऐसी बेहूदी बात अब कही तो कही आगे...लेकिन आगे भी क्या होगा। चतुर्वेदीजी तो पुराने घाघ हैं...।" ('हिन्दी टाइम्स'; १ सितम्बर १९६२)

भी कार्रवाई मेरी ओर से ऐसी न होगी, जो अन्याययुक्त कही जा सके। टिकट भेजने की आवश्यकता नहीं।

यदि कोई अनुचित बात मेरी ओर से हो तो तुरन्त उसका विरोध कीजिये। 'विशाल भारत' के कालम उसके लिए खुले रहेंगे। मेरा विचार है कि आप अपने पक्ष का समर्थन 'विशाल भारत' में ही करें। फिर जैसी आपकी मर्जी।

आपका
बनारसीदास चतुर्वेदी

'विशाल भारत' कार्यालय
९१ अपर सरकुलर रोड,
कलकत्ता

निजी

श्रीमान (आपको 'मित्र' लिखते हुए डर लगता है!)

आपका कृपा-पत्र मिला। विज्ञापन इसी अंक में जा रहा है। परसों निकल जायगा। पर इसे मैं मुख्य चित्र के बाद स्थान नहीं दे सका। 'विशाल भारत' के लिए भी मैंने साधारण स्थान 'मतवाला' में लिया था। अतएव वही आपकी पुस्तकों के लिए लिया गया है। 'चुम्बन' का ब्लाक नहीं दिया। इसके लिए मैं सेठजी से, आपसे मिलने वाला था। 'चुम्बन'-प्रथा डाक्टरों के कथनानुसार बीमारी फैलाने वाली है। इसके सिवाय स्त्री-पुरुष का चुम्बन एक ऐसी प्राइवेट चीज है, जिसका प्रदर्शन करना ठीक नहीं।

ये बातें नम्रतापूर्वक आपकी सेवा में निवेदन करनी थीं। आप इससे शायद असहमत होंगे, पर 'विशाल भारत' में यथासंभव ऐसे चित्र छापना मैं ठीक नहीं समझता।

आपने बेचारे भ० प्र० बाजपेयी को व्यर्थ ही पीस डाला। मुझे उस लेख की 'टोन' पसन्द नहीं आई। संभवतः आप यह नहीं जानते होंगे कि मैं उग्र टाइप के साहित्य का विरोधी हूं, पर इससे हम लोगों के सामाजिक संबंध में कोई बाधा नहीं आ सकती। दो-एक दिन में आपके कार्यालय पर आकर अपना दृष्टिकोण समझाऊंगा।

आपका
बनारसीदास चतुर्वेदी

'विशाल भारत' कार्यालय
९१, अपर सरकुलर रोड, कलकत्ता

श्री उग्रजी,

'चुम्बन' नामक ब्लाक भेज रहा हूं। माडर्न रिव्यू वाले माडर्न हैं और मैं पुराने ख्यालात का हूं। आपको यह बतला देना चाहता हूं कि माडर्न रिव्यू का विशाल भारत के लिए लेखों या चित्रों के अथवा विज्ञापनों के चुनाव पर कुछ दखल नहीं है। मार्च के अंक में प्रथम स्थान पर 'एक हार्म सीन' छपा है, जिसमें टुंडी को खोले हुए और कुचों को उकसाए हुए एक स्त्री खड़ी है। मैंने कह दिया कि मैं उस चित्र को नहीं दूंगा।

श्री रामानंद चटर्जी और उनके सुपुत्र अशोक चटर्जी मेरे विचारों से और मेरे झक्कीपन से काफी परिचित हैं और उन्होंने चित्र, लेख, विज्ञापन इत्यादि सबके चुनाव के विषय में मुझे सोलह आना स्वाधीनता दे दी है। आप स्त्री-पुरुष के चुम्बन के बजाय माता और पुत्र के चुम्बन का ब्लाक बनवाइए। मेरी यह सीरियस सलाह है, यद्यपि सलाह देने का मुझे कोई अधिकार नहीं है।

आपकी 'चिनगारियां' अभी नहीं पढ़ीं। वह अच्छी कही जाती हैं। 'चाकलेट-चर्चा' तो ठीक नहीं। इस विषय की चर्चा के मैं पक्ष में हूं, पर उसका ढंग दूसरा होना चाहिये। सम्मेलन के विषय में मैंने एक दूसरी चिट्ठी भेजी थी, वह मिली या नहीं। सम्मेलन के विषय में और आपकी किताबों के विषय में डिस्कस करने के लिए कभी फिर आपके कार्यालय पर आऊंगा।

आपका
बनारसीदास चतुर्वेदी

बाबा पृथ्वीसिंह आजाद के नाम

•

फीरोजाबाद
१६-२-६५

श्रद्धेय बाबा पृथ्वीसिंहजी आजाद, प्रणाम !

आपकी महत्वपूर्ण 'आत्मकथा' मुझे मिल गई थी और उसकी आलोचना भी मैंने 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' को तभी भेज दी थी, पर वह अभी तक छपी नहीं। शायद जल्दी ही छपेगी। श्री बांकेबिहारी भटनागर ११, फायर ब्रिगेड लेन, कनाट सर्कस, नयी दिल्ली के पास वह आलोचना भेजी गई थी।

निस्संदेह आपकी यह रचना अत्यंत महत्वपूर्ण है और मैंने अपने लेख में उसका हार्दिक स्वागत भी किया है। स्व० राहुलजी वाली किताब भी मैंने देखी थी। उसके कई अंशों से मैं सहमत नहीं हो सका। पर जो कुछ आपने तब भी लिखा था, ईमानदारी से लिखा था। आपके इस आत्म-चरित का अनुवाद भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में होना ही चाहिये।

२७ ता० को चंद्रशेखर आजाद का शहादत-दिवस है। भावरा (वाया दोहद वेस्टर्न रेलवे) में वहां के लोग कुछ उत्सव मना रहे हैं और आजाद के पुराने साथियों को बुला रहे हैं। माहौरजी तथा सदाशिवजी जावेंगे।

आपकी पुस्तक का एक अंश, जो आजाद से मिलने के बारे में है, पत्रों में उद्धृत कराना चाहता हूं। माहौरजी के पास आपका लेख भी था। उसे भी छपाया जाना चाहिये।

सरदार कैरों की हत्या से हम सब दुखी हैं। आपका तो उनका बहुत पुराना परिचय रहा होगा।

'माध्यम' (हिंदी साहित्य सम्मेलन) ने भी मुझसे रिव्यू मांगी है। पुनः लिख भेजने की कोशिश करूंगा।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
६-३-६५

श्रद्धेय बाबा पृथ्वीसिंहजी, वंदे! आपका कृपा पत्र मिला। बहुत-बहुत धन्यवाद। उसका उत्तर तो सोच-विचार कर लिखूंगा, पर इस समय इतना निवेदन कर दूं कि आपकी यह बात उत्साहप्रद है कि शहीदों के श्राद्ध करने के बजाय खुद शहीद बनने का युग आ गया है। आपका यह कथन आपके संपूर्ण जीवन की फिलासफी के अनुकूल है। आपने जिस तरह बीसियों बार अपनी जिंदगी को खतरे में डाला है, उस तरह तो इस मुल्क में बहुत ही कम आदमियों ने डाला होगा। दर असल इस वक्त मुल्क की हालत बहुत खराब है, फिर भी हम लोगों को हिम्मत न हारनी चाहिये। मेरी भी ७३वीं साल चल रही है। आप तब भी काफी तन्दुरुस्त हैं। मुझे कई बीमारियां हैं--पाइल्स और प्रोस्टेट ग्लेण्ड्स। अपने लेख की नकल बुक-पोस्ट से भेज रहा हूं। कृपया पढ़ लीजिए। कोई गलत बात लिखी हो तो कृपया बतलाइये।

आजाद के पुराने साथी काशीरामजी का पत्र मिला है।

बनारसीदास

फीरोजाबाद
२२-३-६५

प्रिय बाबा पृथ्वीसिंहजी, प्रणाम!

१९ ता० का कृपा पत्र मिला। बहुत-बहुत धन्यवाद। आपके दृष्टिकोण को मैं समझ सकता हूं। जितनी बार आपने अपने जीवन को खतरे में डाला, उतनी बार बहुत ही कम व्यक्तियों ने डाला होगा।

क्रॉपॉटकिन की आत्मकथा को मैंने पहले-पहल १९१८ में पढ़ा था। और युवावस्था में जो प्रभाव पड़ता है, वह अमिट होता है। उनके सिद्धांत भी मुझे प्रिय हैं, यद्यपि उनके मुताबिक मैं रह नहीं सका। खैर।

मेरी एक इच्छा है कि भूतपूर्व क्रांतिकारियों के पारस्परिक संबंध को जोड़ने वाला, जो उनके बीच लिंक का काम करे, कोई आदमी होना चाहिए। इसके लिए मैंने आजाद के पुराने साथी, भुसावल बम-केस के श्री भगवानदास माहौर (पता--नरसिंह राव की टोरिया, झांसी) को चुना है। उनकी किताब 'यश की धरोहर' भेजूंगा। उन्हें भी 'ट्रांस्पोरटेशन फार लाइफ' की सजा मिली थी। अप्रूवर्स पर तमंचे का वार खाली गया, नहीं तो फांसी पा जाते। उनको मैंने आपकी 'आत्मकथा' की एक प्रति भेंट कर दी है। वे उसकी आलोचना 'माध्यम' (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) में लिखेंगे। मेरी आलोचना आपने पढ़ ली होगी। पुराने क्रांतिकारी, जो अलग-अलग पड़े हैं, क्या आपस में कभी विचार-परिवर्तन नहीं कर सकते!

श्री काशीराम अरविन्द आश्रम (हरदोई, उ० प्र०) आजाद के साथी हैं। बड़ी निराशा की चिट्ठी आई थी। ऐसे ही श्री सुरेंद्र पाण्डे (डन्डेली नार्थ कनारा, मैसूर) भी आजाद के साथी हैं। क्या ही अच्छा हो यदि सब लोग अपना-अपना हाल लिख दें। मैं तो १५-१६ वर्ष से इसी काम में लगा हूं। १४ चीजें छपवा चुका हूं। यह काम मिशनरी ढंग पर ही किया गया है। पर अब ७३वीं वर्ष में इसे जारी रखना आसान नहीं। आप ३-४ महीने मुझसे बड़े हैं और अनुभव में सैकड़ों गुने। क्या ही अच्छा होता अगर कोई साधन-संपन्न

व्यक्ति आपके आत्म-चरित को भूतपूर्व क्रांतिकारियों तक पहुंचा देता। आज के युवकों तक पहुंचाने के लिए इसका ५–६ रुपये वाला सस्ता संस्करण दो-तीन वर्ष बाद निकलवा देना चाहिये।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
१६-४-६५

श्रद्धेय बाबा पृथ्वीसिंहजी, सादर प्रणाम !

आपका २७-३-६५ का पत्र मुझे बहुत देर से मिला, क्योंकि मैं टीकमगढ़ चला गया था और मेरी डाक यहां कुछ दिन रुकी रही।

भला, मैं क्या सलाह आपको दे सकता हूं। मैंने अपने जीवन में कभी कोई खतरा मोल नहीं लिया, इस कारण आपको परामर्श देने का कोई भी अधिकार मुझे नहीं।

फिर भी जब आपने पूछा है तो मैं अपने मन की बात निवेदन कर देना चाहता हूं।

सर्वोत्तम बात तो यह होगी कि इस पुस्तक पर साहित्य अकादेमी का पांच हजार का पुरस्कार मिल जाय, ताकि इसका सस्ता संस्करण आप प्रकाशित कर सकें। इसके सिवाय इसके अनुवाद भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में होने ही चाहिए। नवयुवकों के जीवन में उत्साह लाने के लिए यह ग्रंथ संजीवनी बूटी का काम करेगा।

पुस्तक के विषय में भी भगवानदासजी माहौर से झांसी स्टेशन पर चर्चा हुई थी। उन्हें मैंने 'माध्यम' (मासिक पत्र) वाली प्रति दे दी थी और उन्होंने उसकी आलोचना 'माध्यम' (सम्मेलन, प्रयाग) को भेज दी है। मुझे उस आलोचना की प्रति उन्होंने रेल में दे दी थी, पर वह खो गई।

माहौरजी पुस्तक के द्वितीय संस्करण को देखने के लिए सहर्ष उद्यत हैं। पुस्तक के प्रचारार्थ जो भी प्रयत्न मुझसे हो सकेगा, करूंगा।

जो भी पुराने क्रांतिकारी बिखरे पड़े हैं, उनके बीच कनेक्टिंग लिंक बनने का काम माहौरजी को मैंने सौंप दिया है। वे डिग्री कालेज में हिंदी अध्यापक हैं; पता—नरसिंहराव की टौरिया, झांसी। वे आपको पत्र लिखेंगे। सदाशिवजी भी उनके पास हैं। दोनों आजाद के पुराने साथी हैं।

मैं यात्रा से परसों ही लौटा हूं। चिट्ठी भेजने में विलंब के लिए क्षमाप्रार्थी।

बनारसीदास

रोहिल्ला काटेज, नैनीताल,
२९-६-६५

श्रद्धेय बाबा पृथ्वीसिंहजी,

पुस्तक की कितनी प्रतियां साहित्य अकादेमी को भेजनी पड़ती हैं, यह बात आप श्री क्षेमचंद्रजी 'सुमन' से पूछ सकते हैं। प्राइवेट तौर पर यह भी पता लगाना होगा कि वे किन-किन के पास जाती हैं। उनको पत्र तो मैं लिख सकता हूं, यदि नाम तथा पते मिल जायं। कोशिश करना अपना काम है। पुस्तक निस्संदेह सर्वोत्तम सिद्ध होगी, पर निर्णायकों को उसका महत्व बतलाना जरूरी है।

श्री काशीरामजी तीन दिन यहां रहे। बहुत भले आदमी हैं। बड़े दुर्भाग्य की बात यह हुई है कि भूतपूर्व सैनिकों का कोई संगठन नहीं हो सका। २३ जुलाई चंद्रशेखर आजाद का जन्म-दिवस है। तब मैं शायद फीरोजाबाद में होऊंगा। श्री द्विवेदीजी तो अब चण्डीगढ़ पहुंचने वाले ही होंगे। उन्हें मेरा प्रणाम कहिये। एक बार दिल्ली आपको जाना ही होगा।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
२४-१-६९

श्रद्धेय बाबा पृथ्वीसिंहजी,

सादर प्रणाम।

इधर मैं काफी बीमार रहा और आपके पत्रों की पहुंच भी नहीं भेज सका। लेकिन मैं बराबर आपके बारे में चिंतित रहा हूं।

पंजाब की राजनैतिक स्थिति के बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता, इसलिए आपको कोई सलाह या मशविरा देने की हिमाकत नहीं कर सकता। आपका तो सारा जीवन संघर्ष करते ही बीता है, इसलिए आपका मुल्क की मौजूदा हालत से बहुत नाउम्मीद हो जाना स्वाभाविक है। पर मेरा दृष्टिकोण आपसे कुछ भिन्न है।

मैं ख्याल करता हूं कि आपका स्वास्थ्य देश के लिए गौरव की चीज़ है और आपका ज़िन्दा रहना भारत के नवयुवकों के लिए निहायत जरूरी । क्योंकि तप, त्याग तथा बलिदान की जीती-जागती तस्वीर वे अपनी आंखों से देख सकते हैं।

चुनावों को मैं तो बिलकुल महत्व नहीं देता। मैं खुद १२ वर्ष पार्लियामेन्ट का मेंबर रह चुका हूं और उस फीकी मिठाई का बदजायका जानता हूं। सच्ची क्रांति से और चुनावों से कोई संबंध नहीं। उस अखाड़े में (चाहे असेम्बली का हो या पार्लियामेन्ट का) जाकर कोई क्रांतिकारी काम नहीं किया जा सकता। समझदार लोगों के मन में आप जिस उच्च पदपर विराजमान हैं, उसके मुकाबले विधान सभा या 'संसद' की सीट बिलकुल तुच्छ ही है। आप तो समस्त भारत के हैं, केवल एक प्रांत के या पटियाला जिले के नहीं।

पर शायद आपका ख्याल दूसरा ही है। पर हर हालत में आपका स्वस्थ रहना निहायत जरूरी है। भारतीय क्रांतिकारियों में आप शिरोमणि हैं। क्या ही अच्छा होता यदि आपकी देख-रेख में क्रांतिकारियों का विस्तृत इतिहास लिखा जाता। यदि न हो सकता तो उनके जीवन-चरित या रेखाचित्र ही प्रकाशित किये जाते। पर प्रकाशक लोग इतने स्वार्थी हैं कि गंदे उपन्यास छाप-छाप कर नौजवानों के दिमाग खराब करते और अपनी जेब भरते हैं।

क्रांतिकारी लोग मिल बैठ कर विचार-परिवर्तन भी नहीं कर पाते।

आपकी भूख-हड़ताल से मुझे चिंता हो गई थी! पर पत्रों में मैंने उसका कोई हाल नहीं पढ़ा। क्या किसी अखबार में उसकी रिपोर्ट भी छपी थी? मेरे पास 'मिलाप' आता है। उसमें तो मुझे दीखा नहीं।

अब आपकी क्या हालत है? कृपा कर किसी से लिखवा भेजिये।

मेरे पैरों पर सूजन आ गई थी और बराबर खाट पर लेटा रहना पड़ा। अब कुछ सेहत है।

शहीद अशफाकुल्ला के बड़े भाई रियासतुल्ला खां का स्वर्गवास हो गया । उन्हें ७५ रुपये की पेंशन दिलवा दी थी, वह बंद हो गयी। उनका लड़का इस्तियाक अब बहुत तकलीफ में है। उसे १०० रुपये पहले भेजे थे और २०० रु० अब भिजवाये हैं। अगर यू० पी० की सरकार उसकी भी पेंशन कर दे तो काम चले। अशफाक की हिंदी जीवनी प्रेस में दे रहा हूं।

आपके आत्म-चरित का संक्षिप्त संस्करण यदि तीन रुपये में निकाल दिया जावे तो वह जनता तक पहुंच सकता है। क्या राजपाल एण्ड संस से इस बारे में लिखा-पढ़ी करूं ?

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
२८-२-६९

श्रद्धेय बाबा पृथ्वीसिंहजी,

सादर प्रणाम। कृपा पत्र मिला। मेरी पिछली चिट्ठी मिली होगी। मार्च के द्वितीय सप्ताह में आप पधारिये। दिल्ली से आसाम मेल या तूफान एक्सप्रेस पकड़िये। दोनों यहां दिन में पहुंचती हैं। एक्सप्रेस तार मुझे मिल जाय तो अपने भानजे बिल्लू चौबे को स्टेशन भेज सकता हूं। खुद भी पहुंच सकता हूं। मेरा मकान चौबे मुहल्ले में है। लोग मेरे भानजे बिल्लू चौबे को अधिक जानते हैं––मुझे कम। वह यहां अध्यापक है––पूरा नाम है डाक्टर मिथिलेशचंद्र चतुर्वेदी।

अपनी पुत्री देवकी के आपरेशन के कारण मैं चिंतित हूं। आपरेशन के बारे में अगले सोमवार को तय होगा।

मैं स्वयं साल भर तक काफी अस्वस्थ रहा। अब संभल पाया हूं। मुझे इस बात की चिंता अवश्य है कि शहीदों के श्राद्ध को आगे चलकर कौन करेगा। कोई न कोई करेगा तो जरूर, क्योंकि शहीदों का खून कभी व्यर्थ नहीं जाता। कल शहीद आजाद की पुण्य तिथि थी । फूलपुर जिला इलाहाबाद के भी उमाशंकर शुक्ल 'उमेश' ने आजाद पर एक खण्ड काव्य लिखा है। उसे मैं कल पढ़वाकर सुनता रहा। चीज साधारणतः अच्छी है। जब वह शुद्ध होकर तैयार हो जायगी तो आपसे प्रार्थना करूंगा कि उसके लिए भी कुछ लिख दें।

पं० परमानंद-ग्रंथ स्वाधीन प्रेस, झांसी में छप रहा है। चूंकि स्वाधीन प्रेस के मालिक श्री वृन्दावनलालजी वर्मा का स्वर्गवास हो गया है इस ग्रंथ के प्रकाशन में कुछ देर लग सकती है ।

श्री माहौरजी को शायद दो वर्ष का एक्सटेंशन मिल जाय। उनकी धर्मपत्नी अस्वस्थ हैं। सदाशिवजी को भी एक्सटेंशन मिल जानी चाहिये। मुझे इस बात का खेद है कि हमारे देश ने ऐसे श्रेष्ठ कार्यकर्ताओं की कुछ भी चिंता नहीं की।

शहीद अशफाकुल्ला के बड़े भाई रियासतुल्ला खां ८३–८४ वर्ष की उम्र में चले गये। उन्हें ७५ रु० पेंशन दिलवाई थी। वह बंद हो गयी। अब उनके लड़के इस्तियाक भाई की गुजर कैसे होगी ? यह सवाल मेरे सामने है। श्री चंद्रभानु गुप्त को लिखना चाहता हूं। वे काकोरी केस में वकील भी थे, पर स्वयं पं० गोविन्दवल्लभ पन्त ने (जो वकील थे) अशफाकुल्ला के भाई के लिए कुछ भी नहीं किया। हां, किदवई साहब ने उन्हें चुंगी में नौकरी जरूर दिलवा दी थी।

शहीदों का श्राद्ध और उनके बचे-खुचे घरवालों की देखभाल ये दोनों सवाल जरूरी हैं। स्वर्गीय डा० अशराफ साहब को मेरा काम पसंद नहीं था। वे कहते थे :

'थोड़ा पैसा दिला कर आप सरकार का मुख उज्ज्वल अवश्य कर देते हो, पर उससे कोई सवाल हल नहीं होता।'

वे चाहते थे कि मैं इतिहास की ओर ध्यान दूं। अरबी-फारसी में भारतीय इतिहास का जो मसाला भरा पड़ा है, उसे हिंदी में लाने का कुछ प्रयत्न करूं। पर यह काम तो मेरे बूते का था नहीं। जिंदगी के जो भी दिन बाकी हैं, उन्हें शहीदों के श्राद्ध में ही बिता देना चाहता हूं।

आपके पधारने पर इसी सवाल पर विचार करूंगा। मुझे अपने शिष्य स्वर्गीय महाराज वीरसिंहजी की दी हुई २५० ढाई सौ रुपये महीने की पेंशन मिलती है, इसलिए भोजन-वस्त्र की चिंता नहीं, पर कोई सहायक मैं रख नहीं सकता। पोस्टेज पर ४०–५० रुपये महीने खर्च करता रहा हूं। टाइपिंग पर भी ४० रु०। उर्दू किताब के लिए एक उर्दू-दां को ३००–४०० रु० देने पड़े थे। तीस रुपये महीने पर एक हिंदी-लेखक दो घण्टे काम कर जाते हैं। एक अंग्रेजी-दां घण्टे-डेढ़ घण्टे काम कर देते थे। ५५–६० रु० देता था, सो वे टी० बी० के मरीज हो गये। मैं आपसे चार महीने ही छोटा हूं।

हम लोग मिल कर जो कुछ कर सकें, करें। मेरी निस्स्वार्थ सेवाएं आपको अर्पित हैं। गर्मियों की छुट्टियों में भाई माहौरजी भी सहयोग दे सकते हैं। वैसे वे बराबर मुझे लिखते रहते हैं।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
२७-३-६९

प्रिय बाबा पृथ्वीसिंहजी,

आपके महान उद्देश्य—नवयुवकों में सेल्फ डिसिपलिन या आत्म-नियंत्रण की भावना पैदा करने के लिए मैं भी कुछ दिनों और जिंदा रहना चाहता हूं।

आपसे या किसी भी अपने शुभचिंतक से अपने मैं दोष नहीं छिपाना चाहता। मेरा जीवन प्रायः अनियंत्रित रहता है, फिर भी मैं निराश नहीं हूं। जब जग जाय, तभी सवेरा है। हम लोग एक-दूसरे के काम में कुछ-न-कुछ मदद कर सकते हैं।

जैसा कि मैंने आपसे कहा था, मैं अपने हृदय को सीसमोग्राफ (भूकंप-मापक यंत्र) की तरह का बनाना चाहता हूं, जहां दूसरों के दुःख प्रतिबिंबित हो सकें। उसमें मैं छोटे-बड़े का भेद नहीं करता। सरदार करतारसिंह सरापा से लेकर कोटला (राजपुर) के मेवाराम तक (जो फतेहगढ़ जेल में स्वर्गवासी हुआ) मेरे लिए पूज्य हैं। स्मारक बनाने का काम दूसरे करेंगे, मैं तो रिकार्ड रखने का काम करना चाहता हूं। आपको छोटे-बड़े जिन-जिन क्रांतिकारियों के बारे में हाल मालूम हो मुझे चिट्ठियों में लिखते रहिये। मैं उनकी भाषा ठीक करके उनको टाइप कराता रहूंगा। टाइप का खर्च आपको नहीं देना पड़ेगा—वह आपके लेखों की मजदूरी से निकल आवेगा। सन १९१२ से मैं बराबर लिखता रहा हूं—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी की भी थोड़ी-सी सेवा मुझ से बन पड़ी थी—और आपका भी यह अधिकार है कि मुझसे कुछ खिदमत ले लें।

बाबा सोहनसिंह भकना पर अपना लेख कृपा कर मुझे पत्र की शक्ल में लिख भेजें।

श्री बालकृष्णजी गुप्त और श्री जगन्नाथ लहरी आपको प्रणाम कहते हैं। 'सैनिक' के संवाददाता रामसेवक का भी नमस्कार स्वीकृत हो।

कृपया साथ के लेख को पढ़ लीजिये। 'धर्मयुग' के लिए बड़ा लेख फिर लिखूंगा। इसे १४ पत्रों को भेजा है।

अगर आप जैसा सेल्फ डिसिपलिन्ड डिक्टेटर मुझसे काम ले सके तो मैं जरूर कुछ दिनों और भी जिंदा रह सकता हूं, पर मैं जीभ पर कन्ट्रोल कर नहीं पाता। अब कोशिश कर रहा हू।

फिलहाल १५ दिन दिल्ली रहने की सोच रहा हूं।

बनारसीदास

फीरोजाबाद
५-६-६९

प्रिय बाबा पृथ्वीसिंहजी, प्रणाम।

कृपा पत्र मिला। श्री केदारनाथजी से पत्र-व्यवहार करूंगा।

आपका यह फैसला बहुत ठीक है कि आप दो महीना पूरा-पूरा विश्राम करके स्वास्थ्य-लाभ कर लें। बाबा सोहनसिंहजी से अधिक आपको जीवित रहना है। सेन्चुरी बनानी ही है।

तबीयत ठीक होने पर राहुलजी, डा० अशराफ इत्यादि के बारे में भी लिखें।

'लेनिन स्कूल में—वर्ष', पर फिर भी एक लेख लिखा जा सकता है। चिट्ठियां बराबर लिखते रहें। मैं आज क्रॉपॉटकिन की आत्मकथा के अनुवाद की भूमिका लिख रहा था और उसमें मैंने यह बात स्वीकार कर ली है कि यद्यपि मेरा हृदय अब भी क्रॉपॉटकिन तथा गांधी के साथ है, मेरा मस्तिष्क साम्यवाद की ओर झुकने लगा है। बापू के आदेश पर कोई भी पूंजीपति ट्रस्टी नहीं बना। इस देश में एक हिंसक क्रांति अनिवार्य हो गई है। होगी यह दुर्भाग्य की बात, पर लक्षण ऐसे ही प्रतीत होते हैं।

शीघ्र ही आगे जांच कराने जाना है। आपरेशन यदि जरूरी हुआ तो दिल्ली में ही कराऊंगा। सुबह टहलने जाता हूं। हां शाम को नहीं जा पाता। यदि श्री बालकृष्णजी गुप्त तथा उनके मित्र ५–६ हजार खर्च कर सकें तो हिंदी संस्करण आपके ग्रंथ का निकल सकता है। अंग्रेजी के लिए श्रीयुत राधेमोहन अग्रवाल (मैसर्स, शिवलाल अग्रवाल हास्पिटल रोड, आगरा) से बातचीत चल रही है। वे भले आदमी हैं।

बनारसीदास

मोहनसिंह सेंगर के नाम[१]

प्रिय सेंगरजी,

कार्ड मिला। सत्य बात अटमोस्ट फ्रैंकनेस के साथ निरंतर कहते ही रहना चाहिये और किसी को भी स्पेयर करने की जरूरत नहीं है। मुझे सिर्फ इतना ही निवेदन करना था कि यदि आप अपने नोट की एडवांस कापी मुझे भेज देते, तो आपका नोट और मेरा उत्तर साथ-साथ छप जाते। अब महीने (शायद दो महीने) भर तक मेरे 'अनर्थ' की चर्चा आगे चल चुकी है और उसको कैच अप करना कितना मुश्किल है। सारा मसाला टीकमगढ़ में है, जहां पहुंचना मेरे लिए व्ययसाध्य है।

---

[१] [सेंगरजी के नाम लिखे गए ये पत्र पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' द्वारा लिखित 'चाकलेट' नामक पुस्तक के विरुद्ध चतुर्वेदीजी द्वारा चलाए गए 'घासलेटी आंदोलन' से संबंधित हैं। उस समय चतुर्वेदीजी ने 'चाकलेट' पुस्तक के संबंध में पूज्य बापू से जो पत्र उन्हें प्राप्त हुआ था उसे उन्होंने उस समय प्रकाशित नहीं किया था। सेंगरजी ने 'नया समाज' में इसकी आलोचना की थी। इसी प्रतिक्रिया में ये पत्र लिखे गए हैं।--सं०]

एक साहित्यिक अनर्थ

गत २ अक्तूबर, १९५१ (गांधी जयंती) के हिन्दुस्तान में विशाल भारत के भूतपूर्व संपादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का गांधीजी बापू के रूप में--शीर्षक एक लेख छपा है। इसमें 'घासलेट का सत' उपशीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने लिखा है--बापूजी की सेवा में मैंने उग्रजी की पुस्तक चाकलेट भेजी थी और उसके विषय में अपना एक छोटा-सा नोट भी। बापू ने नोट छपने दे दिया। तत्पश्चात पुस्तक को पढ़ा। उन्हें वह पुस्तक आपत्तिजनक नहीं जंची और इस आशय का एक पत्र भी उन्होंने मुझे भेजा। बापू ने लिखा था :

'चाकलेट नामक पुस्तक पर जो पत्र था उसको मैंने यंग इंडिया के लिए नोट लिखकर भेज दिया। पुस्तक तो नहीं पढ़ा था : टीका केवल आपके पत्र पर निर्भर थी। मैंने सोचा इस तरह टीका करना उचित नहीं होगा पुस्तक पढ़नी चाहिए। मैंने पुस्तक आज खतम की। मेरे मन पर जो असर हुआ आप पर नहीं हुआ है। मैं पुस्तक का हेतु शुद्ध मानता हूं। इसका असर अच्छा पड़ता है या बुरा मुझे मालूम नहीं है। लेखक ने अमानुषी व्यवहार पर घृणा ही पैदा की है। आपके पत्र की पेच अब खुलवा दूंगा।'

'इस पत्र को पाते ही मैंने साबरमती की यात्रा करना उचित समझा। साथ में मैं अपना घासलेट संबंधी समस्त मसाला लेता गया। बापू ने एक घण्टा समय दिया. . .चालीस मिनट तक घोर घासलेट बापू को सुनाता रहा। चाकलेट नामक पुस्तक की चर्चा मैंने जानबूझ कर बापू से नहीं की। मैं जानता था कि बापू प्रत्येक पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़कर उस पर अपनी सम्मति निश्चित करते हैं और उस पर से उन्हें डिगा देना आसान काम नहीं। इसलिए सीधे आक्रमण के बजाय घुमा-फिरा कर हमला करना मैंने ठीक समझा।'

चतुर्वेदीजी एक जिम्मेदार और ईमानदार पत्रकार हैं। साहित्यिक आंदोलनों में वे अपना सानी नहीं रखते। उनके घासलेटी साहित्य विरोधी आंदोलन ने अपने समय में काफी गर्मी पैदा की थी। आज

जो कुछ हो गया, हो गया। अगर इस प्रकार बुरा मानने बैठूं, तो संपूर्ण समय उसी की चिंता में बीत जाय और फिर अपने सहयोगियों से झगड़ा मोल लेने की जरूरत ही क्या है?

आपसे इतना अर्ज कर दूं कि मेरा यह हर्गिज-हर्गिज कर्त्तव्य नहीं था कि महात्माजी के उस पत्र को उस समय छपाता। चलते वक्त स्वयं महात्माजी ने कहा, "आपने बहुत अच्छा किया कि कलकत्ता से अहमदाबाद चले आये। यदि मैं अपनी सम्मति छाप देता तो बड़ा अहित हो जाता।" इस स्पष्ट आदेश के बाद क्या मेरे लिए यह मुनासिब होता कि उस पत्र को छापूं?

आप अपने उस भ्रम को कृपया दूर कर दें कि घासलेट विरोधी आंदोलन मुख्यतया चाकलेट के ही विरुद्ध था। साथ ही यह भी जान लें कि उस आंदोलन को चलाने के पूर्व मैं उग्रजी की चिनगारी नामक पुस्तक की तारीफ कर चुका था।

उसके पक्ष या विपक्ष की चर्चा करना शायद असंगत और अनावश्यक होगा। पर उस आंदोलन के लगभग २० वर्ष बाद उन्होंने चाकलेट के संबंध में बापूजी का जो पत्र प्रकाशित करवाया है, वह हर चिंतनशील साहित्यिक के लिए विचारणीय है। यह सर्वविदित है कि चतुर्वेदीजी का आंदोलन प्रमुखतया चाकलेट ही को लेकर चलाया गया था। यदि वे इस पुस्तक के बारे में बापूजी से कुछ न पूछते, तो कोई बात ही न थी। पर जब उन्होंने उनके पास पुस्तक भेजी, तो एक जिम्मेदार और ईमानदार पत्रकार की हैसियत से उसके संबंध में बापू का जो मत था, वह भी प्रकाशित करना चाहिए था—भले ही उनके आंदोलन पर इसका चाहे कैसा भी असर क्यों न पड़ता। बापू का मत एक निरपेक्ष समाजनेता का मत था। पाठक उसे पढ़कर अपना मत स्थिर कर अथवा निर्णय देने में स्वतंत्र थे। किन्तु अपने आंदोलन को सफल बनाने के मोह ने चतुर्वेदीजी को इस पत्र को प्रकाशित न करने के लिए राजी कर लिया और वे इसे इन बीस वर्षों तक दबाए बैठे रहे, यह नम्र से नम्र शब्दों में किसी भी सच्चे और जिम्मेदार पत्रकार की प्रतिष्ठा, बौद्धिक ईसानदारी और सार्वजनिक दायित्व की, दृष्टि से शोभन नहीं कहा जा सकता है।

इतना ही नहीं, हमारी समझ में तो ऐसा करके चतुर्वेदीजी ने जाने या अनजाने एक बहुत बड़े साहित्यिक अनर्थ का पाप अपने सिर लिया है। जो चाकलेट उनके आंदोलन का मुख्य आधार थी, उसे पढ़ने के बाद बापू ने आपत्तिजनक नहीं समझा, उन पर उसका बुरा असर नहीं हुआ, लेखक के हेतु को उन्होंने शुद्ध माना और पुस्तक को अमानुषी व्यवहार पर घृणा पैदा करने वाली बतलाया, यह श्लीलता और नैतिकता के सबसे बड़े, समर्थ एवं समझदार व्यक्ति का सर्टिफिकेट है। चतुर्वेदीजी ने स्वयं माना है कि उन्होंने फिर गांधीजी से चाकलेट की चर्चा नहीं की, क्योंकि उन्हीं के शब्दों में बापू प्रत्येक पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़कर उस पर अपनी सम्मति निश्चित करते हैं और उस पर से उन्हें डिगा देना आसान काम नहीं। आसान काम था बापू के इस पत्र को दबाकर, पुस्तक को ध्यानपूर्वक न पढ़ने वालों की सम्मति अपने पक्ष में कर अपने आंदोलन को सफल बनाना, सो चतुर्वेदीजी ने सीधे आक्रमण के बजाय घुमा-फिराकर हमला करके किया। उस समय उन्हें शायद यह सोचने की फुर्सत ही न हो कि ऐसा करके वे चाकलेट के लेखक के प्रति कितना बड़ा अन्याय और अक्षम्य अपराध कर रहे हैं। इससे कितना बड़ा साहित्यिक अनर्थ हुआ है, इसकी अब केवल कल्पना ही की जा सकती है।

'नया समाज', जुलाई, १९५२

मेरे कर्म में संदिग्ध कुछ भी नहीं था। मेरे दृष्टिकोण से जो विरुद्ध थे, उन्हें अपनी बात कहने का मौका मैंने बराबर दिया।

आंदोलन दो से ज्यादा वर्षों तक चलता रहा और उसकी समाप्ति गोरखपुर साहित्य सम्मेलन के उस प्रस्ताव से हुई, जो मेरे पक्ष और घासलेट साहित्य के विपक्ष में था।

आंदोलन के संपूर्ण इतिहास का अनुसंधान कोई भी जिज्ञासु कर सकता है और मुझे विश्वास है कि वह मेरी निष्पक्षता के बारे में सही राय कायम करेगा।

क्या आप मुझसे सारे (घासलेट आंदोलन के) रामायण का पारायण फिर से कराना चाहते हैं? नया समाजके ६ पेजों से कम में विवरण दिया नहीं जा सकता। क्या आप इस काम के लिए ६ पृष्ठ देंगे? मुझे निश्चित रूपेण बतलाइये।

लेकिन इस काम में मेरे बहुमूल्य समय के सात दिन स्वाहा हो जायंगे और मुझे टीकमगढ़ जाना पड़ेगा। इन सारी माथापच्चियों से जान बच जाती, अगर आपने अपनी आलोचना की अग्रिम कापी मुझे भेज दी होती। मेरे विनम्र जीवन में वह समय आ गया है, जब कि मुझे अपने मुख्य कर्म में ही दत्त-चित्त होना चाहिये और मैं बहकना नहीं चाहता।

मैं प्रेम के नाते 'सुमित्रा' के विशेषांक का संपादन कर रहा हूं, जब कि मेरे समय का प्रत्येक घण्टा अपने ऋण परिशोध में लगना चाहिये था और प्रेम के ही नाते अपनी सहायता श्री कालीदास कपूर को हिंदी साहित्यिक योजना पर नया समाज (या किसी दीगर पत्र) का विशेषांक निकालने में देना स्वीकार किया है।

ऐसे गंभीर मौके पर तू-तू मैं-मैं मुझे मंजूर नहीं—विशेषतः आप जैसे मित्रों से।

मैं अपनी आलोचना सुन सकता हूं और महसूस करता हूं कि आलोचकों के कथन में भी सार हो सकता है। मझ से सैकड़ों भूलें——नहीं भयानक भूलें——बन पड़ी हैं, लेकिन मैं उन्हें छिपाऊंगा नहीं। आप कुछ भी लिखने के लिए परम स्वतंत्र हैं।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

टीकमगढ़
६-७-१९५२

प्रिय सेंगरजी,

साहित्यिक अनर्थ वाली टिप्पणी मैंने पढ़ी। नहीं, यह सत्य नहीं है कि घासलेट आंदोलन प्रमुखतया चाकलेट को ही लेकर चलाया गया था। उसमें एक सेठ लिखित अबलाओं का इंसाफ और उग्रजी की दिल्ली का दलाल जैसी बहुसंख्यक पुस्तकों की चर्चा थी। मैंने विविध घासलेटी ग्रंथों के उद्धरण (अनेक उग्रजी के भी) पढ़कर सुनाये और बापू को आमतौर पर——मुझसे सहमत होना पड़ा। उन्होंने खुद कहा था——यदि मेरी सम्मति छप जाती तो ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन मिलता।

अगर मैं वह पत्र प्रकाशित कराता, तो बापू की राय आमतौर पर बदलने वाला वार्तालाप भी छपाना मुनासिब होता, जिसके सबब आगे चलकर और भी भ्रम फैलते।

विनीत
बनारसीदास

१२३, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
१२-७-१९५२

प्रिय सेंगरजी,

लीला ने कहा कि घासलेट वाला लेख कठोर कलम का लिखा है। लेखक का नाम पूछकर मैं आपको धर्मसंकट में नहीं डालना चाहता––जिसे बतलाना नहीं चाहिए । साधारणतः गुमनाम आलोचनाओं का उत्तर मैं नहीं देता पर इस नोट का उत्तर मैं दे सकता हूं। (मसाला सब टीकमगढ़ में छूट गया है) बेहतर होता कहीं––अगर आपने टिप्पणी की अग्रिम कापी मुझे भेज दी होती––जिससे दोनों चीजें अगल-बगल प्रकाशित हो जातीं। पत्रकारों में यह सदाचार सहज है, पर, संभवतः आप बहुत व्यस्त थे। वह अगर आपकी निजी टिप्पणी है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। लेकिन कृपया जहां तक संभव हो व्यंग का प्रयोग न करें।

विनीत
बनारसीदास

१२३, नार्थ एवेन्यू
नईदिल्ली
१६-७-१९५२

प्रिय सेंगरजी,

जब नोट आपका लिखा हुआ है, तब कोई बात नहीं।

आसान यह नहीं था, आसान वह था—इत्यादि में मुझे व्यंग जंचा । पर यह कोई झगड़े की बात नहीं। व्यंग मुझ से भी बन पड़ते हैं, इसलिए आप पर इलजाम लगाने की जरूरत नहीं ।

विनीत
बनारसीदास

आप जो चाहें लिख सकते हैं, पर मैं तो टीकमगढ़ जाने और पूरी फाइल जांचने के बाद ही उत्तर दे सकूंगा। तब तक बहुत देर हो सकती है ।

वाद-विवाद का जोश अब मेरा जाता रहा। मुझे गलत समझने वालों की संख्या यों ही इतनी बड़ी है कि उसमें थोड़ी बढ़ती और हो जाने से मेरा कुछ घटता नहीं। हमें आत्मविश्वासी होना चाहिए, बस।

विनीत
बनारसीदास

१२३, नार्थ एवेन्यू, नईदिल्ली
२३-७-५२

प्रिय सेंगरजी,

जरा (मानव) के पृष्ठों में श्रीरणधीर के लेख को पढ़ लीजिये ।

क्या मुझे इन मिथ्यारोपों का उत्तर देना पड़ेगा ? मैं पूछता हूं आपसे सीधे कि क्या मेरे चलने के समय महात्माजी के इस कथन के बाद उनका पत्र प्रकाशित करना मेरे लिए उचित था ?

वैसी परिस्थिति में पत्र के साथ वार्तालाप का सार भी प्रकाशित न करना अनुचित होगा। मुझ में ईमानदारी की कमी का तर्क विचित्र है। इसे आप कहते हैं—'पाप।'

विनीत

बनारसीदास

१२३, नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली

सेंगरजी,

२३-७-५२

आपका पत्र ता० १३ वाला मिला।

दिल्ली से लौटे दो दोस्तों ने बताया कि आपका वह नोट पढ़ने के बाद कुछ पत्रकार मुझ पर 'साहित्यिक बेईमानी' का आरोप लगा रहे थे। दूसरे कलकतिया पत्र (मानव) ने भी कुछ छापा है—मुझे बतलाया गया।

आप मुझसे वक्तव्य मांगते हैं। यदि टिप्पणी प्रकाशित करने के पूर्व आपने पूछ लिया होता, तो उसमें कुछ शोभा होती। पर मैं इसका ख्याल नहीं करता। स्वयं बहुतों की आलोचना करने के बाद मुझे खेलाड़ियों-सा आचरण करना चाहिये। (संभव हुआ तो) मैं जवाब दूंगा। फुरसत से। जल्दबाजी मुझ से नहीं होगी।

ब० दास

रामइकबालसिंह 'राकेश' के नाम

•

टीकमगढ़

२७-३-४०

प्रियवर,

वन्दे। श्रीदेवेन्द्र सत्यार्थी ने अपने २१ मार्च के पत्र में मुझे लिखा है—

'श्रीराकेशजी से मैं परिचय हासिल करना चाहता हूं। इमदाद कीजियेगा।'

मैंने उन्हें आपका पता लिख भेजा है, और साथ ही आप पर आई आपत्ति का भी जिक्र कर दिया है। सत्यार्थीजी बड़े धुन के आदमी हैं, और बड़े संकटों का सामना करते हुए अपने कार्य में लगे हुए हैं। ट्राम या बस में बैठने लायक भी उनकी आर्थिक स्थिति नहीं है। विस्तृत मदरास में उन्हें पैदल घूमना पड़ता है। कलकत्ते में तो बसों में बेटिकट बैठ जाते थे। यह है हमारे सर्वोत्तम ग्राम गीत संग्रहकर्त्ता की परिस्थिति। और सम्मेलन तथा नागरीप्रचारिणी सभायें देश में विद्यमान हैं। हिंदी भाषा-भाषी लखपति और करोड़पति भी हैं और हिंदी लेखकों के शोषण से इंडियन प्रेस जैसी लाखों के मूल्य की संस्थायें भी चल रही हैं, और हम घमंड करते हैं कि हमारी भाषा के बोलने वाले १५ करोड़ हैं। लानत है इन करोड़ों पर, यदि हमारे कार्यकर्त्ताओं को इन कठिनाइयों में काम करना पड़े।

यह संस्था का अध्यात्मविरोधी (Unspiritual) मोह हमें अज्ञानान्धकार के गड्ढे में ले डालेगा। साहित्य मस्तिष्क की चीज नहीं है, और न सिरों की गिनती (Counting of the heads) से उसका कुछ संबंध है। वह तो हृदय की वस्तु है और एक सहृदय कवि या लेखक का दस-बीस लाख हृदयहीन नरपशुओं से कहीं अधिक साहित्यिक महत्त्व है।

मैं इसे खूब जानता हूं कि संकटग्रस्त हिन्दी साहित्यिक कहीं से भी सहायता तो दूर रही क्रियात्मक सहानुभूति की भी उम्मीद नहीं कर सकता।

हिन्दी प्रचार भाड़ में जाय, यदि हिन्दी सेवकों को इस दुर्दशा में जीवन व्यतीत करना पड़े। राजनैतिक कार्यकर्त्ता के लिये Power या शक्ति का तो प्रलोभन है, पर साहित्यिक कार्यकर्त्ता के सम्मुख तो केवल वह आनन्द ही है, जो रचनात्मक कार्य करने से उसे मिलता है। समाज का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह साहित्यिक कार्यकर्त्ताओं के मार्ग को कुछ तो सुगम बनावे, पर समाज इस ओर से बिल्कुल उदासीन है। पर हम लोगों को निराश होने की जरूरत नहीं। अपना कर्त्तव्य पालन करते जाने में ही हमारी कुशल है। मुझे विश्वास है कि इस संकट में आप धैर्य धारण कर रहेंगे।

···पुस्तक के लिए क्षेत्र तयार करने में मैं यथाशक्ति आपकी सेवा करूंगा। यदि आप चाहें तो उसकी विस्तृत आलोचना पुस्तक छपने के पूर्व ही 'विशाल भारत' में निकाल दूं। चित्र तो अपना भेज ही दीजिये। और भी जो कुछ सेवा आप इस विषय में चाहें, मुझे निस्संकोच लिखें। छपने के पहले पुस्तक का संपादन कर दूंगा। साधारण जनता को क्या चीज पसन्द आवेगी, यही मेरा दृष्टिकोण है। विशेषज्ञों से एक जबरदस्त भूल हो जाती है यानी वे पाठकों की तबीयत उबा देते हैं। यह बड़ा भारी खतरा है, और इससे बचना चाहिये। सर्वोत्तम गीत ही रहें, फालतू चीज एक भी न जाने पावे, और विश्लेषणात्मक शब्दों के प्रयोग में यथासम्भव कंजूसी की जाय। सादगी और संयम ये दोनों चीजें भाषा के सर्वोत्तम अलंकार हैं। आपकी कठिनाइयों की कल्पना करके चित्त को क्लेश होता है। पर आप हर्गिज-हर्गिज हिम्मत न हारें।

'It is easy enough to be pleasant
When life flows by like a song
But the man worth while is the one who will smile
When everything goes dead wrong
For the test of the heart is trouble,
And it always comes with the years,
And the smile that is worth the praises of earth,
Is the smile that shines through tears.'

—Ella Wheeler

अधिक क्या निवेदन करूं? आगरे जा रहा हूं। पता—चौबे होस्टल, शाहगंज, आगरा।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
२१-५-४०

प्रिय राकेशजी,

वन्दे। आपका लेख अभी मैंने बुकपोस्ट द्वारा 'वि० भा०' को भेज दिया है। संशोधनों के लिए कृतज्ञ हूं। जो संपादक बिना लेखों को सुधारे हुए ज्यों-का-त्यों छाप देते हैं वे पाठकों के प्रति तो अन्याय करते ही हैं, स्वयं लेखकों की भी बड़ी हानि करते हैं। लोकगीतों के विषय में इतने अधिक लेख पत्रों में निकलने लगे हैं कि अब उसी लेखक का लेख पढ़ा जायेगा, जो संक्षेप में सर्वोत्तम गीतों पर ही लिखे। लफ्फाजी को सर्वथा तिलांजलि देने की जरूरत है। जो कुछ कहना हो, संक्षेप में कहिये और जल्दी खत्म कीजिये।

एक बात हमें न भूलनी चाहिये कि जिस विषय से हमें प्रेम है, उससे सभी को प्रेम नहीं हो सकता। इसलिये पाठकों के धैर्य का भी खयाल करना चाहिये। कभी उनकी तबीयत ऊबने न पावे। आपको एक कैमरा सुविधा होते ही खरीद लेना चाहिये। उससे लेखों को चित्रित करने में मदद मिलेगी।

श्री रामानन्दजी चट्टोपाध्याय का यह आदेश अपने लेखों के अनुवाद के बारे में था कि उनके वे अंश जो हिन्दी वालों के उपयुक्त न हों, छोड़ दिये जावें। दीनबन्धु एण्ड्रयूज ने तो अनुवाद के विषय में मुझे सोलह आने अधिकार दे रक्खे थे। श्रीसत्यार्थीजी के लेखों में स्वर्गीय वर्माजी के हाथ की करामात बहुत काफी है। संपादकों को लेख भेजते समय आपको यह लिखना चाहिये 'यदि आप इस लेख में कोई काट-छांट करना चाहें तो कृपया मुझे उसकी सूचना पहले ही दे दें, ताकि मैं स्वयं ही उन अंशों का संपादन कर दूं।' पर अधिकांश संपादकों को तो जगह भरनी पड़ती है, और वे काट-छांट का नाम ही नहीं लेते।

आशा है कि आप दृढ़तापूर्वक अपना काम करते रहेंगे।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

वसन्तोत्सव
१८-१२-४०

प्रिय राकेशजी,

वन्दे। १२ ता० का कृपा-पत्र मिला। 'वृन्तच्युत फूल' के प्रति कविता भी। मुझे खेद है कि अपनी अव्यवस्था के कारण मैं अनेक पत्रों का समय पर उत्तर नहीं दे पाता। वैसे मेरा मुख्य कार्य पत्र लिखना ही है, पर जल्दी-जल्दी में पत्र घसीटना मेरे लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है।

साहित्यिक आलोचना का अप्रिय कार्य मैं कभी का छोड़ चुका हूं, क्योंकि न मुझमें उसके लिये उपयुक्त विद्वत्ता है, और न उस कार्य में रुचि। मेरे दृष्टिकोण में भी भारी अन्तर आ गया है। 'मधुकर' नामक एक पत्र के ५ अंक आपकी सेवा में भेजता हूं, और अब बराबर भेजता रहूंगा। अभी तक डाकखाने से रजिस्टर नम्बर नहीं मिला था। और मैं ६ अंक से कम भेजना नहीं चाहता था। छठवां अंक ५–७ दिन बाद आ जायगा तब सेवा में भिजवा दूंगा। आप इनसे मेरी वर्त्तमान मानसिक स्थिति का अन्दाज लगा सकते हैं। ६ अंक पढ़ने के बाद आप अपनी सम्मति मुझे कृपा कर लिखें।

मिथिला पर आप अपनी शक्ति केंद्रित कर रहे हैं यह बात मुझे बहुत ही पसन्द आई है, और यदि आपकी तरह अन्य बन्धु भी एक-एक प्रांत या मण्डल अथवा जनपद ले बैठें तो जबरदस्त काम हो

जाय। पर मुआफ कीजिये। आप में एक भयंकर त्रुटि है--अर्थात आप भाषा बाबा आदम के जमाने की लिखते हैं और कभी-कभी तो कालिदास के वक्त की याद दिला देते हैं। नाम मात्र की संस्कृत मैंने भी पढ़ी थी। द्वितीय सर्ग रघुवंश में 'अपांशुलानाम् धुरि कीर्तिनीया' शायद बेगम सुदक्षिणा (बेगम सीता की नकड़ ददियासास) के लिये विशेषण रूप से प्रयुक्त हुआ था। उसी वक्त सन १९१० में मैंने 'पांशुल' का अर्थ जाना था, और अब ३० वर्ष बाद उसे आपकी कविता में पढ़ा है। 'अजगव' तथा 'उर्जस्वित' के लिए मुझे आप्टे का कोष तलाश करना पड़ेगा।

एक सवाल आपसे है। अपने प्रेमी पाठकों की परीक्षा आप क्यों लिया करते हैं? बाज-बाज अध्यापकों को इस बात में मजा आता है कि उनके छात्र गोते खावें। चूंकि मुदर्रिसी मेरा पुश्तैनी पेशा है, इसलिए इस मनोवृत्ति को खूब समझ सकता हूं। पर कवियों के लिये यह गुण अनुकरणीय नहीं। कविता-सरिता में नाव मजे के साथ नदी में चली जा रही थी कि 'पांशुल', 'अजगव' तथा 'उर्जस्वित' की चट्टानों ने उसे ऐसा जोर का धक्का दिया कि आंखें खुल गईं। क्या आपके आस-पास कोई मेरी तरह के कम पढ़े आदमी नहीं हैं? उन्हें आप अपनी रचना सुनाया कीजियें, और जो चीज उनकी समझ में न आवे उसे निकाल बाहर फेंकिये, चाहे वह शिवजी का धनुष 'अजगव' ही क्यों न हो। परशुराम के धनुष को राम ने तोड़ ही डाला था। उनके इक़बाल से आप भी यह करिश्मा कर सकते हैं। 'मधुकर' के तृतीय अंक में 'सुहागिन बेवा' पढ़ लीजिये। उसमें जोश साहब ने भी मौत के बारे में कुछ लिखा है:

जिन्दगी धुंधला है एक जलवा है औ' कुछ भी नहीं
मौत एक बारीक सा पर्दा है औ' कुछ भी नहीं
हम फना समझे हैं जिनको वो फना होते नहीं
मरनेवाले अस्ल में हमसे जुदा होते नहीं

गौर कर दिल में कि हो जाये हक़ीकत बेनक़ाब
टूटते देखे तो होंगे सैकड़ों तूने हुबाब
मर के भी दरिया के सीने से कहीं जाते नहीं
खेलते फिरते हैं लहरों पै नजर आते नहीं

यद्यपि श्रीयुत जोश मलीहाबादी ने भी अनेक कठोर शब्दों का प्रयोग किया है। मैं उनकी भी इस त्रुटि का विरोधी हूं। तथापि उपर्युक्त पंक्तियों में एक सादगी है, जो दिल पर असर करती है। आपकी कविता में भी कई पद्य मुझे खूब रुचे:

पर मरण में क्या न जीवन का अमर उल्लास?
छिपा रहता बीज में ज्यों विटप का सुविकास।

अच्छी चीज़ आपने लिखी है। और भी कई स्थल अच्छे बन पड़े हैं। 'चल रही तकली मरण की' इत्यादि पंक्तियां भी बढ़िया हैं। पर उत्कल्पित, लाज-लोहित, रभस, स्वर्णलूत इत्यादि शब्द खटकते हैं। 'वृन्तच्युत' के बजाय 'डंठल से गिरा हुआ फूल' यह शीर्षक मुझे उत्तमतर जंचता है।

चीन में दो लेखक थे। एक तो आपकी तरह कठोर भाषा लिखने के पक्षपाती, और दूसरे सरल भाषा के पक्षपाती। ये दूसरे सज्जन अपनी नौकरानी को रचना पढ़ कर सुनाते थे, और जो चीज उसकी समझ में नहीं आती थी उसे बदल देते थे। सैकड़ों वर्ष बीत गये। कठोर भाषा के पक्षपाती महानुभाव की रचनायें

विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गईं, पर सरल भाषा लिखने वाले की दाद अब भी लोग देते हैं।

मैं आपसे वाद-विवाद नहीं करूंगा। क्योंकि उससे पारस्परिक मनोमालिन्य बढ़ेगा। यह भी मैं नहीं चाहता कि आप मेरे कथन को प्रमाण मान कर अपनी शैली में परिवर्तन कर दें। मेरे जैसे नाख्वाँदा आदमी क्या कहते हैं, इसकी परवा न कीजिये। पर सच तो यह है :

उत्कलित और लाज लोहित, रभस, स्वर्णलूत
आपके सर पर चढ़े हैं ये भयंकर भूत
पांशुलों और अजगवों की उर्जस्वित है मार
इसलिए कहना औ' सुनना है महज़ बेकार
हों गरम गर बात सुनकर बन्धुवर राकेश
है नहीं मेरे हृदय में द्वेष का लवलेश
यदि लगे उनके हृदय को तनिक-सी भी ठेस
चाय ठंडी हो गई अब पत्र करता शेष

सचमुच पत्र लिखते-लिखते चाय बिल्कुल ठंडी हो गई। उसके दो-तीन पैसे मैंने आपके हिसाब में लिख दिये हैं। शेष पत्र कल लिखूंगा।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

६ बजे शाम
१८ दिसम्बर, ४०

टीकमगढ़
२४-६-१९४७

प्रिय राकेशजी,

वन्दे।

सुरम्य प्रकृति के निकट मैं किसी ऐसे आश्रम की कल्पना कर रहा हूं, जहां के main hall में भारत के भिन्न-भिन्न जनपदों के नक्शे होंगे, और प्रत्येक जनपद के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यकर्त्ता का विवरण (सचित्र) जहां सुरक्षित होगा, जहां कभी हारी-थकी आत्माओं को क्षणिक विश्राम की व्यवस्था होगी, जहां उनकी यात्राओं का ब्योरा रहा करेगा और जहां का द्वार प्रत्येक समझदार लेखक के लिए खुला रहेगा—और स्त्रियों के मायके के समान जहां उनका हार्दिक स्वागत होगा।

ऐसे आश्रम भारतवर्ष में और पाकिस्तान में भी कभी-न-कभी स्थापित होंगे। प्रारम्भ में वे प्रायः असफल ही होंगे, पर आगे चलकर उनमें अवश्य सफलता मिलेगी। मैंने जो छोटी-सी चीज यहां स्थापित की थी वह नष्ट हो गई। पर बकौल कविवर बच्चन 'नीड़ का निर्माण फिर फिर।'

अगले अक्तूबर या नवम्बर से मैं ब्रज में किसी नीम के नीचे बैठ कर अपनी क्षुद्रतम साहित्यिक साधना का पुनः प्रारम्भ करूंगा। यहां का उपवन तो अब छूट ही रहा है—पर मन चंगा तो कठौती में गंगा। 'मुझको बुला रही हैं, ब्रज की करील कुंजैं।'

अपना ही लोकगीत संग्रह मैंने आपको भेज दिया है। आप उसका बेहतर तरीके पर उपयोग कर सकते हैं। उसकी नकल आप रख लीजिये—मूल ज्यों-का-त्यों रजिस्ट्री से वापस कर दीजिये। अभी किसी को कुछ भेजने की जरूरत नहीं। और संग्रह भिजवाऊंगा, तब लिखूंगा। हम लोग एक दूसरे के पूरक हैं—Complimentary; अकेले-अकेले हम लोग कुछ नहीं कर सकते। मिल कर बहुत कुछ कर सकते हैं।

मैं तो अपनी क्षुद्र शक्ति के शतांश का भी उपयोग नहीं कर पाता। इतना प्रमादी बन गया हूं। आप लोग खटखटाते रहें तो जाग्रत होकर शायद कुछ सेवा कर सकूं।

अपने साथी-संगियों को जो कीर्त्ति मिलती है उससे मुझे हार्दिक हर्ष होता है। उसे मैं ऐसा मानता हूं कि मुझे ही कीर्त्ति मिल रही है। ग्राम साहित्य का संग्रह करके जो अक्षय पुण्य लाभ आप करेंगे, उसका सहस्रांश या लक्षांश मुझे भी तो मिलेगा। माता सरस्वती के मन्दिर में आप जो पुष्प अर्पित करेंगे और आपकी यश: सुगंधि जो फैलेगी उससे मैं भी प्रफुल्लित होऊंगा। मेरे नगण्य साहित्यिक जीवन की यही फिलासफी है—यही उसका दर्शन है। साहित्यिक सगाइयों के पीछे यही भावना है।

विनीत
बनारसीदास

तीन पैसे का तार

टीकमगढ़

प्रिय राकेशजी,

वर्षों से आपके कुशल समाचार नहीं मिले। मैं तो आपके प्रति इतनी श्रद्धा रखता हूं कि परसों ही श्रद्धेय पण्डित अमरनाथ झा को लिखा है—'I can walk a thousand miles to meet a राकेश than move out even ten yards to see sullen people' इसमें कोई अत्युक्ति नहीं।

हमारे उपवन का क्या हुआ? वच्चे की मनोवृत्ति अब कैसी है? ग्रंथों की बिक्री? फसल? आजकल का साहित्यिक कार्यक्रम? साप्ताहिक हिन्दुस्तान का एक अंक भिजवाऊंगा। 'चालीस वर्ष बाद' पढ़ लीजिये।

बनारसीदास

अब तीन पैसे के तार ही भेज पाता हूं। साधन नहीं, समय नहीं।

टीकमगढ़

प्रिय राकेशजी, १६-८-४८

सादर वन्दे।

क्या कारण है कि इधर बहुत दिनों से आपका कोई पत्र नहीं आया? स्वस्थ तो हैं? मैं महीने भर बीमार रहा था, अब स्वस्थ हूं।

इस बीच में आपका—आपके संघर्षमय जीवन का मैंने अनेक बार स्मरण किया है। जब मुझे श्रद्धेय राष्ट्रपति के सेक्रेटरी श्री चक्रधर शरणजी के यहां १६–१७ दिन रहने का सुअवसर मिला तो मैंने बराबर यही अनुभव किया कि मेरे लिये तो सबसे अधिक उपयुक्त आपका आतिथ्य है। मैंने श्रद्धेय राजेन्द्र-बाबू से यह बात कह भी दी थी। जो संघर्ष कर रहे हैं बस उन्हीं का अन्न मेरे लिए अमृत का काम दे सकता है; यहां से त्याग-पत्र दिये ९ महीने हो गये, और मैं ८ महीने से स्वतंत्र पत्रकार हूं। सरकारी गुलामी से मुक्त हूं। अपनी राजी खुशी के समाचार भेजिये। आपको व्रजभारती भिजवाने के लिए उसके संपादक को लिख रहा हूं।

क्रान्तिकारी क्रॉपॉटकिन का स्कैच पढ़ा?

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

टीकमगढ़
१२-१-१९५०

प्रिय राकेशजी,

वन्दे। बहुत वर्षों से आपके कोई समाचार नहीं मिले। क्या कारण है? स्वास्थ्य कैसा है? 'वर्षों से' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया गया है। क्योंकि 'अत्युक्ति' अलंकार पर केवल कवियों का ही पैतृक अधिकार नहीं है। नाना प्रकार के वियोगों में साहित्यिक वियोग की भी गणना करनी चाहिये और उसमें भी घड़ी-पल महीनों के बराबर बीतते हैं। इधर कब आ रहे हैं? खेती का क्या हाल है? इधर कुछ लिखा है?

विनीत
बनारसीदास

३, मिलिटरी लाइन्स
प्रिय राकेशजी, रीवाँ

वन्दे।

जिनका जीवन संघर्षमय है उन्हीं की अभिवन्दना मैं करता हूं। तथाकथित महान, सफल और सुप्रसिद्ध तथा उच्च पदस्थ व्यक्तियों के प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा नहीं, यद्यपि उनसे भी मिलना पड़ता है। आप बराबर लिख रहे हैं, यह जान कर संतोष होता है। इधर न जाने किसने मुझे राज्य परिषद् में दिल्ली भेज दिया है। मैंने उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं किया था, किसी को नहीं लिखा था और स्वप्न में भी उसकी आकांक्षा नहीं की थी। अब आप चाहे जब दिल्ली पधार सकते हैं। मैं मई ११ को वहाँ पहुंच जाऊंगा।

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़
६-९-१९५०

प्रिय राकेशजी,

वन्दे। आपका स्वास्थ्य अब कैसा है? चिन्तित हूं। कृपया समाचार भेजिये। अपने लेखों में मैं निरन्तर आपको याद करता रहा हूं, और प्रातःकालीन ध्यान में भी। मेरा भजन-पूजन यही है कि अपने देशी-विदेशी मित्रों का स्मरण चाय के साथ अपने प्रातःकाल मैं करता हूं। वही मेरा सर्वोत्तम समय है।

मैथिली लोकगीतों के लिए आपको कितना परिश्रम करना पड़ा, उनके एकत्रित करने में कहां-कहां की यात्रायें करनी पड़ीं, उस समय की कुछ मनोरंजक घटनायें मैं जानना चाहता हूं ताकि आपके जनपदीय कार्यों के बारे में कुछ लिख सकूं। सितम्बर २५ से ९ अक्तूबर तक की छुट्टी ले रहा हूं। कलकत्ते जाना है—गुप्त स्मृति उत्सव पर। आपका प्रोग्राम क्या है? क्या दिनकरजी से मुलाकात होती है?

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

९९, नार्थ एवेन्यू
नई दिल्ली
२६-११-१९५७

प्रिय राकेशजी,

पत्र मिला। आप जैसे सत्पुरुष, जो 'परगुण परमाणून पर्वतीकृत्य नित्य निजहृद विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः' की कहावत को चरितार्थ करते हैं, धन्य हैं। वैसे आपको धन्यवाद देने की मुतलक़ ज़रूरत नहीं है, पर जब-जब आपका पत्र आता है, वह हृदय को हर्ष ही देता है।

अब मैंने निश्चय किया है कि जीवन के शेष वर्ष स्व० साहित्य सेवियों की कीर्ति-रक्षा तथा शहीदों के श्राद्ध रूपी यज्ञ के लिये अर्पित करूं। स्वामी केशवानन्द-ग्रंथ की भूमिका आपकी सेवा में बुकपोस्ट द्वारा भेजता हूं। कृपया पढ़ लीजिये। जो उपेक्षित हैं उनकी स्मृति-रक्षा का कार्य निस्सन्देह पुण्य कार्य है। पर उसके लिए a team of workers की जरूरत है। कौन साथ देगा? अकेले-अकेले यह यज्ञ भला कैसे होगा ?

अकल सठियाये हुए ५ वर्ष हो चुके यानी ६६वीं वर्ष २४ दिसम्बर को शुरू कर रहा हूं। शेष ५–७ वर्षों में कुछ-न- कुछ काम कर लेना चाहता हूं। आप जैसे बंधुओं का सहयोग चाहिये। आप अपेक्षाकृत उम्र में छोटे हैं (अकल में तो बड़े हैं) इसलिये आप बहुत वर्षों तक काम कर सकेंगे। आपका काम ठीक चल रहा है? बाल-बच्चे सकुशल हैं? शरीर का क्या हाल है? नित्य प्रति टहलने का व्यायाम करते हैं न? कभी फिर कुण्डेश्वर पधारिये। अब वहाँ बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज खुल गया है—खूब चहल-पहल है।

मेरा यहां का कार्यकाल ४ महीने शेष है। उसके बाद आना हो या न हो। हिन्दी भवन यहां स्थापित कर दिया। उसके पास १५ हजार की सम्पत्ति ग्रंथ, अलमारी, चित्र इत्यादि हैं। शान्ति-निकेतन का 'हिन्दी-भवन' भी चल रहा है। पर अब संस्थाओं से मोह त्याग कुछ ग्रंथ-लेखन करने की अभिलाषा है। क्या किया जाय, यहां तो फुरसत ही नहीं मिल पाती। आपकी सद्भावना बनी रहे। यही प्रार्थना है।

हिन्दी के धुरन्धर कवियों तथा लेखकों से मैं निराश हो गया हूं, शायद मेरा ही कुसूर हो। उनमें उन्मुक्त हृदय, वास्तविक उदारता और निष्कपट प्रेम के दर्शन मुझे नहीं हो रहे। और ऊपरी शिष्टाचार के लिए मेरे दिल में कोई सम्मान नहीं। वे प्रायः 'आत्म-केंद्रित' हैं। अकाल वार्धक्य को प्राप्त ऐसे महानुभावों को मैं दूर से ही प्रणाम कर लेता हूं।

कभी आपके 'बनारसी बाग' को देखूंगा।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
१५-१-६४

प्रिय राकेशजी,

प्रणाम।

'गाण्डीव' में अभी-अभी मैंने ईश्वर के प्रति आपकी जिहाद पढ़ी है और उस बिचारे के प्रति मेरे हृदय में करुणा के भाव जाग्रत हो गये हैं। पांच-सात हजार वर्ष के वयोवृद्ध व्यक्ति पर आपको कुछ तो रहम

करना चाहिये था। हिन्दी जगत के अनेक प्रतिष्ठित लेखक और कवि उसके बड़े भक्त हैं और उनकी भावना का खयाल करके ईश्वर को बख्श देना चाहिये था।

चूंकि मेरे पूज्य पिताजी ईश्वरभक्त थे। इसलिये मुझे ये पंक्तियां मजबूरन लिखनी पड़ीं। यद्यपि झरोखे में बैठने वाले और सब का मुजरा लेने वाले किसी भी प्राणी में मेरा विश्वास नहीं।

इधर आपने क्या-क्या लिखा है? स्वास्थ्य कैसा है? २ अप्रिल से मैं संसद के बंधन से मुक्त हो जाऊंगा और तब एम० पी० का पुंछेला भी टूट जायगा और मैं साधारण जन की उच्च कोटि में पहुंच जाऊंगा।

विनीत
बनारसीदास

रामचरण हयारण 'मित्र' के नाम

कुण्डेश्वर
१३-१०-३८

प्रियवर,

मेरा विचार आपको जतारा में पद्मसिंह पुस्तकालय के उद्घाटन के अवसर पर श्री व्यासजी के साथ बुलाने का है। उन्हें तो महारानीपुर से जतारा आना होगा, आपको कौन से मार्ग से आने में सुविधा होगी?

मैं जानता हूं कि राज्य के आर्थिक सहायता के प्रश्न को आप अधिक महत्व नहीं देते, आप जैसे स्वाभिमानी के लिए यही उचित है, इसीलिए आपको बिना संकोच के कुण्डेश्वर पधारना चाहिए।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

नार्थ एवेन्यू
१०-८-६१

प्रिय मित्रजी, वन्दे।

आप लोगों की सद्भावना तथा शहीदों के आशीर्वाद से मुझे दीर्घायु प्राप्त होगी, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। मेरे स्वास्थ्य के विषय में आप चिंता न करें। मुख्य काम यह हैं, जिनको पूरा करना है :

१—व्यासजी की सर्वोत्तम १०१ रचनायें उनके संस्मरण सहित, २—मुंशीजी के संस्मरण जो प्रताप में छपे थे और मुंशीजी के विषय में संस्मरण, ३—रसिकेन्द्रजी की श्रेष्ठ रचनायें १२८ पृष्ठों में।

अब की बार झांसी में आपके यहां ब्यालू पक्की रही, और दक्षिणा में ढाई सेर कठिया गेहूं का आटा भी। कुछ बंगाली मिठाई तो रहेगी ही। लेखक होने पर भी जिजमानी नहीं छोड़ी है।

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद

२३-२-६२

प्रिय मित्रजी,

आशीष !

कृपया अपनी वह कविता जिसमें पुत्रबधू द्वारा प्रातःकाल में उठकर दही बिलोने इत्यादि का दृश्य अंकित किया गया है, श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस गोरखपुर को भेज दीजिए, मैंने उसकी प्रशंसा में लिख दिया है और उस कविता की एक प्रति अपने सुन्दर अक्षरों में मुझे भी भेजिए। अगर सुविधा हुई तो उसका ब्लाक बनवाकर 'आजकल' में छपवा दूंगा। यहां घर आराम करने आया हूं।

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद,

७-१-६५

प्रिय मित्रजी,

वन्दे !

कुण्डेश्वर में आश्रम को स्थापित करने की प्रेरणा मुझे गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर से ही मिली थी। पर कहां गुरुदेव का शान्ति-निकेतन और कहां मेरा कुण्डेश्वर कुटीर ! हां प्रकृति मां की देन कुण्डेश्वर को जो मिली है, वह शान्ति-निकेतन के लिए सर्वथा दुर्लभ है। दो नदियों का संगम, जमड़ार तथा जामनेर का जलप्रपात तथा दो वर्ग मील का मधुवन। जो कुछ कुण्डेश्वर में बन पड़ा उसका ९५ फीसदी श्रेय स्व० महाराज वीरसिंहजू देव को है, शेष ५ फीसदी में हम सब का हिस्सा है।

कल मुझे रसिकेंद्रजी तथा व्यासजी की याद आ गई। दोनों की शिकायत रही कि उनकी रचनाओं के संग्रह नहीं छपे। अपनों ने ही उन्हें नहीं पूछा। क्या कहा जाय आधुनिक काल में बुंदेलखण्ड के छुटभइयों की प्रायः उपेक्षा ही हुई है। स्व० व्यासजी के लिए आपने प्रशंसनीय कार्य किया है।

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद

२३-१२-६६

प्रिय मित्रजी,

वन्दे।

कृपा पत्र मिला। बहुत-बहुत कृतज्ञ हूं, मेरा यह ख्याल है कि जीवितों के अभिनन्दन के बजाय यदि हम

लोग दिवंगतों का स्मरण करें तो अत्युत्तम हो। कालपी से बढ़िया हाथ का बना कागज मंगाकर दस्तावेजी स्याही से स्मृति ग्रंथ तैयार कराये जावें--रसिकेंद्र जी, शील जी, घासीराम व्यास तथा मधु--प्रभृति के--और सुविधा होने पर उनकी पांच-पांच प्रतियां टाइप कराकर, किसी शिक्षा संस्था में सुरक्षित रख दी जायं, तो बहुत बड़ा कार्य हो जाय। इस विषय पर मित्र मंडली में विचार तो कीजिये।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

---

४ लाजपत कुंज, आगरा
२३-७-६९

प्रिय मित्रजी,

कृपा पत्र मिला कृतज्ञ हूं।

मेरा पौरुष ग्रंथि का आपरेशन शीघ्र ही होने वाला है, यद्यपि वह कुछ खतरनाक हो सकता है, फिर भी मैं निश्चिंत हूं। आप सब सुहृदों की सद्भावना मेरे साथ है ही।

'भारती' के कुण्डेश्वर अंक के लिए आप कुछ अवश्य लिखें। रूसियाजी को भी लिख दिया है वृक्षों के लगाने के लिये।

मुझे कुण्डेश्वर में बिताये १४½ साढ़े चौदह वर्षों की याद आ रही है। स्वस्थ होने पर नवम्बर में उधर जाने का विचार है। तब आप भी वहां पधारें।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

रामनारायण उपाध्याय के नाम

●

टीकमगढ़
३-७-५०

प्रियवर,

प्रणाम।

२९ ता० का कृपा-पत्र मिला। भाई बेनीपुरी से अपना बहुत वर्षों से परिचय है। उनकी मुझ पर बहुत कृपा है, अतएव उनके प्रेमपूर्ण अनाचारों को सहार्द्र सहन कर लेता हूं। उन चिट्ठियों का ऐसा कोई महत्व हो सकता है, जिसके कारण वे छापी गईं, इसकी कल्पना मुझे नहीं थी। पर उनके छापे जाने पर मैंने बुरा भी नहीं माना। हँसी-मजाक करने का मेरा स्वभाव रहा है और वह पत्रों में भी प्रतिबिम्बित हो जाता है। पर पत्र तो महापुरुषों के ही छपने चाहिये, मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के पत्रों में रखा ही क्या है? खैर अपने कुछ लेख बुकपोस्ट द्वारा भेजता हूं। कृपया उन्हें पढ़ लीजिये।

'गणेश-स्मृति-ग्रंथ' का यज्ञ प्रारंभ कर दिया है। स्वर्गीय अमर शहीद गणेशजी के लेखों, टिप्पणियों

तथा संस्मरणों का संग्रह कर रहा हूं। १९ वर्षों से यह श्राद्ध-कर्म उपेक्षित है। हम सब के लिए यह गौरव-जनक बात नहीं।

'हिन्दुस्तान' में साहित्य जगत प्रति सप्ताह लिखता हूं। 'ग्रामवाणी' के क्या हाल-चाल हैं ?

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

टीकमगढ़

प्रिय उपाध्यायजी,

वन्दे।

१-८-१९५०

कृपा पत्र मिला। लेख भी। 'यह शहर है' मुझे पसंद आया। रेलवे बुकस्टाल के 'ग्रंथों' का जिक्र श्री राष्ट्रपतिजी ने आज से कई वर्ष पूर्व देवघर की मीटिंग में किया था। जिल्द बढ़िया, पर भीतर कुछ भी नहीं। लोकसाहित्य के निर्माण की बात भी बहुत उपयोगी है। स्व० बापू पर मैं भी लिखना चाहता हूं। मेरे संग्रहालय में उनके हाथ के लिखे १०१ पत्र हैं।

जो सेवा मुझसे बन पड़ी है, वह अत्यल्प ही है। हां, मुझे विज्ञापन बहुत मिल चुका है। पर काम जितना करना चाहिये था, उसका दशांश भी नहीं बन पड़ा। बहुत-सा वक्त प्रमाद में बीत गया—कितना ही गप्पाष्टकों में और शक्ति को केन्द्रित न कर इधर-उधर नष्ट करने में।

सच बात आपसे कह दी। मैं बनता नहीं। भ्रम में किसी को भी रखना नहीं चाहता। हाँ, भविष्य के लिए मैं आशा अवश्य रखता हूं कि अधिक सेवा कर सकूंगा। पत्रों पर एक पुस्तक लिखने का विचार तो है।

विनीत

बनारसीदास

टीकमगढ़

प्रियवर,

५-१०-१९५१

कृपा पत्र मिला। यह दुर्भाग्य की बात है कि आपके ग्रंथ को छापने के लिए प्रकाशक नहीं मिल रहे। सर्वोत्तम तरीका यही है कि उसके अध्यायों का सारांश भिन्न-भिन्न मासिक पत्रों में छपाते चलें और लेखों की १००-१२५ प्रतियां (Reprints) अवश्य लेते रहें।

बड़ी चीज छपवाना बहुत मुश्किल है। बापू के बारे में इतना निकला है और निकल रहा है कि व्यापारिक दृष्टि वाले प्रकाशक अब कोई चीज लेने में संकोच ही करेंगे।

विनीत

बनारसीदास

पुनश्च :

आचार्य विनोबाजी ११ ता० को यहां पहुंच रहे हैं।

१२३, नार्थ एवेन्यू नई दिल्ली

प्रियवर,

२०-७-५२

संस्मरण मुझे नहीं मिले। शायद कल मिलें। पता पूरा नोट कर लीजिये। 'सुमित्रा' के लिए आपने कुछ भेज दिया, तदर्थ कृतज्ञ हूं।

'सुमित्रा' के संचालक लखपति आसामी हैं, पर वे उसकी उपेक्षा ही करते हैं—'हां ३-४ हजार प्रति वर्ष का घाटा अवश्य सह लेते हैं! लेखकों को कुछ देते नहीं!

मैंने भी साहित्यांक का सम्पादक महोदय से परिचित होने के कारण सम्पादन करने का वचन दे दिया था। उसी में व्यस्त हूं।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

९९, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
१७-२-१९५०

प्रिय उपाध्यायजी,

प्रणाम।

'बोलता हिन्दुस्तान' निस्संदेह एक उपयोगी पुस्तक है। आज से ३७–३८ वर्ष पूर्व मुझे भी मांडौगढ़ की तीर्थ-यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और ओंकारेश्वर के भी दर्शन मैंने किये थे।

यह पुस्तिका विद्यार्थियों के लिए तो काम की है ही, साधारण पाठकों का भी इससे मनोरंजन होगा और उन्हें घर बैठे सिर्फ आठ आने में देश के भिन्न-भिन्न स्थलों की सैर करने का अवसर मिल जायगा। इसे पढ़ने के बाद मेरे मन में धारा क्षेत्र में स्नान करने की इच्छा प्रबल हो उठी है। कभी आपको पंडा बनाकर वहाँ की यात्रा करूंगा। १½ महीने बीमार रहा। अब भी कमजोरी है।

विनीत
बनारसीदास

९९, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
१२-१-६१

प्रिय श्री उपाध्यायजी,

वन्दे। आपका कृपा पत्र मिला। बात दरअसल यह है कि पत्र-व्यवहार मेरे लिए एक व्यसन हो गया है और बावजूद घोर प्रयत्नों के मैं उसे छोड़ नहीं पाता। महीने में २४–२५ दिन चिट्ठियों के लिखने में ही व्यतीत कर देता हूं। स्व० पद्मसिंहजी शर्मा का जीवन-चरित कई वर्षों से अधूरा ही पड़ा हुआ है। तुर्गनेव जब मरणासन्न थे तब भी उन्होंने किसी युवक ग्रंथकार के लिए सिफारिशी चिट्ठी किसी प्रकाशक को लिख दी थी और स्टीफन ज्विग भी इसी आदर्श का पालन करते रहे थे। रोम्या रोलाँ को भी सहस्रों पत्र लिखने पड़े थे। मैं इन तीनों का प्रशंसक हूं, इसलिये यह संभव नहीं कि मैं किसी संकटग्रस्त सज्जन के पत्र का उत्तर न दूं, बल्कि नवीन प्रतिभाओं के स्वागतार्थ तो मैं और भी प्रयत्नशील बनना चाहता हूं, पर फालतू चिट्ठियों का जवाब देना मेरे लिए असम्भव हो गया है।

अन्तर्जनपदीय परिषद का उद्धार होना चाहिये। उसकी मीटिंग भले ही न हो पर पत्र-व्यवहार तो निरंतर होते रहना चाहिये। मध्य प्रदेश को कई जनपदीय भाषाओं का सम्मिलित क्षेत्र होने का सौभाग्य प्राप्त है। आप इस बारे में कुछ लिखें।

विनीत
बनारसीदास

९९, नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
२९-१-६१

प्रियवर,

आपका लेख मिल गया है। गांव वाले कौन-सी किताब खरीदते हैं, इसकी विधिवत जांच होनी चाहिये! केवल अनुमान से काम नहीं चलेगा। मैंने जिन-जिन फुटपाथ वाले पुस्तक-विक्रेताओं की दुकानें देखी हैं, उनपर प्रायः फालतू ट्रैक्ट ही दीख पड़े हैं। हाँ, एकाध किताब भले ही अच्छी हो। एक बार मैं सैंकड़ों ऐक्ट्रैसों की तस्वीरों के बीच से गांधीजी की भी तस्वीर खरीद लाया था। बापू बिचारे किस सत्संग में फंसे थे!

आप स्वयं जितनी भी दुकानों पर जा सकें, जावें, और एक वैज्ञानिक की भांति जांच करें। गांव वालों को, आदर्शवादी मान लेना, जब तक कि उसके प्रबल प्रमाण आपके पास न हों, ठीक न होगा।

बुखार के कारण स्वयं पत्र न लिख सका। क्षमाप्रार्थी हूं।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
२७-९-६४

प्रिय उपाध्यायजी,

वंदे। १८ ता० का कृपा-पत्र कल मिला।

रूस में लोकसाहित्य विषयक कार्य के बारे में अपने मित्रों से पूछूंगा। इस समय तो वहां से कोई भी चिट्ठी नहीं आ रही! 'रूस की साहित्यिक-यात्रा' मेरे ४१ वर्ष पुराने स्वप्न की पूर्त्ति मात्र थी। मेरी आत्मा को उससे संतोष मिला और उससे यदि आप जैसे सहृदय पाठकों का कुछ मनोरंजन हुआ तो उसे मैं अतिरिक्त 'मुनाफा' ही मानता हूं।

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद
२५-३-६७

प्रिय उपाध्याय जी,

प्रणाम।

मैं प्रातःकाल में ५ बजे बेड टी लेने का अभ्यस्त हूं और तब स्वाध्याय के तौर पर किसी सद्ग्रंथ के कुछ अश पढ़ लेता हूं। आज आपकी पुस्तक "घुंघले कांच की दीवार" हाथ लग गई। श्री विद्यानिवास मिश्र की भूमिका पढ़ ली और तत्पश्चात प्रथम निबंध और अंतिम निबंध भी। 'घुंघले कांच की दीवार' और रायल्टी वाली कहानी ये दोनों चीजें बहुत पसंद आईं। सीधी-सादी जुबान में आप पते की बात कह लेते हैं। जब से दाहिनी आंख बनी है, मैं केवल एक आंख पर ही जोर डाल कर पढ़ता हूं, इसलिये केवल सर्वोत्तम चीज ही पढ़ना ठीक समझता हूं। ज्यादातर तो एमर्सन, थोरो, धम्मपद या गीता के ही एकाध वाक्य या श्लोक पढ़ कर अपना काम शुरू कर देता हूं। आधुनिक लेखकों को मैं उषाकालीन चाय के साथ नहीं पढ़ता। यह आकस्मिक घटना ही है कि आज अपवाद-स्वरूप आपकी पुस्तक सामने आ

गई। और उससे मुझे पछताना नहीं पड़ा, वरन सन्तोष ही हुआ। जो लोग घुमा-फिरा कर द्रविड़ प्राणायाम जैसी भाषा लिखते हैं, उन्हें आपसे कुछ सीखना चाहिये।

श्री भगवानदास माहौर की पुस्तक "यशस्वी धरोहर" का द्वितीय संस्करण आत्माराम एण्ड संस छाप रहा है। उसे भिजवाऊंगा। माहौरजी का पता--नरसिंहराव की टोरिया, झांसी। मिश्र जी ने 'विन्ध्य' को 'विन्ध्या' क्यों लिखा है? वे तो संस्कृतज्ञ हैं!

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद
९-७-६७

प्रिय उपाध्यायजी,

६५ पैसे का Airmail Light letter आप इस पते पर भेजें—हिन्दी में

Dr. P. A. Barannikov
Flat 8, 8 Line N. 59
Leningrad B 4
U. S. S. R.

और 'भाषा और साहित्य' के बारे में अपनी विस्तृत सम्मति इसमें लिख भेजें। ग्रंथ airmail से भेजने में बहुत खर्च हो जायगा। वैसे दो-ढाई महीने में पहुंचेंगे। मैं इस प्रयत्न में हूं कि दिल्ली से रूसी डाक थैले में वे जा सकें, पर यह बहुत कठिन है। इसलिये सीधे विदेशी डाक से ही भेजना ठीक होगा। मेरे आग्रह पर श्री बारान्निकोव जी ने अपने पिताजी का जीवन-चरित प्रारंभ किया था। उनसे आग्रह कीजिये कि वे उसे पूरा करें। शेष बातें फिर लिखूंगा।

विनीत
बनारसीदास

---

६ पैसे का तार

प्रियवर,

चेर्नीशोव को पत्र लिख दिया, ठीक किया। रूसी दूतावास द्वारा भिजवाना आसान नहीं, मैंने भारतीय दूतावास को अपनी किताबें रूस भेजी थीं, जो उन्होंने लौटा दीं! पोस्टेज भी बर्बाद हुआ। ये लोग भी लाल फीतेशाही के गुलाम हैं। मामूली डाक से समुद्र द्वारा २।३ महीने में ग्रंथ पहुंच सकेंगे।

अन्तर्जनपदीय परिषद के उद्धार के विषय में जगदीश चतुर्वेदी ५५, काकानगर, दिल्ली से पत्र-व्यवहार कीजिये। अन्य पते श्याम परमार, गणेश चौबे इत्यादि के मंगाइये। इस उम्र में—७५ वीं वर्ष में—मैं ज्यादा काम नहीं कर सकता। बुंदेलखण्डी के विषय में श्री सियारामशरण शर्मा ९७, टकसाल, झांसी को लिखें।

पता—गणेश चौबे—ग्राम व पो० बंगरी
वाया पिपराकोठी, जिला चम्पारन।

बनारसीदास

फिरोजाबाद
८-१-६८

प्रियवर,

कृपा पत्र मिला।

मैंने श्रद्धेय हनुमानप्रसादजी पोद्दार १६।१ गोरखपुर की सेवा में निवेदन किया था कि वे स्व० अग्रवालजी के पत्रों को छाप दें और श्री स्कन्द अग्रवाल (स्व० अग्रवालजी के सुपुत्र) को भी लिखा था, (हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी) पर दोनों ने उत्तर भी नहीं भेजा। आप भी उन्हें लिखें।

स्व० अग्रवालजी उच्च कोटि के विद्वान तो थे ही, बड़े सहृदय पत्र-लेखक भी थे। उनके पचासों पत्र डा० सत्येन्द्र, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, श्री कृष्णानन्द गुप्त प्रभृति के यहां बिखरे पड़े हैं। कोई संग्रह भी नहीं करता। डा० मोतीचन्द्रजी तथा रायकृष्णदासजी के पास तो सैंकड़ों ही पत्र होंगे। राष्ट्रकवि गुप्त-जी के यहां भी।

१. आचार्य पद्मसिंहजी
२. सय्यद अमीर मीर
३. पीर मुहम्मद यूनिस
४. मुंशी अजमेरीजी
५. रामनरेश त्रिपाठी
६. शिवपूजन सहाय
७. नवीनजी

इत्यादि के पत्रों को मैं छपा चुका हूं। पर अभी सहस्रों पत्र पड़े हैं। ७६ वीं वर्ष में काम ज्यादा नहीं हो पाता। "पत्र-व्यवहार मेरा व्यसन" पुस्तक तय्यार कर रहा हूं। नवीनजी के पत्र नर्मदा के विशेषांक में छपा दिये थे। आप अग्रवालजी के पत्रों की नकल जरूर भेजें।

विनीत
बनारसीदास

रामशरण विद्यार्थी, एडवोकेट के नाम

•

फीरोजाबाद
१-११-६७

प्रियवर,

थैंक्स फ़ार सेंडिग दि मैनस्क्रिप्ट्स ऑफ़ वेशम्पायनजी ज़ आरटीकल। उसे नकल करा रहा हूं।

'किदवई अंक' आपको पसंद आया। यह पढ़कर हर्ष हुआ। मेरा तो उस स्वर्गीय महापुरुष से नाम-मात्र का परिचय था। एक बार उनके निवासस्थान पर दर्शन भर किये थे और दूसरी बार वे स्वयं मेरे

निवासस्थान कुण्डेश्वर टीकमगढ़ पर पधारे थे। इसके सिवाय महाराज ओरछा की उन्हें दी हुई दावत में मैं भी शामिल हुआ था। बस। उनसे एक पैसे का भी लाभ मैंने नहीं उठाया। एक संस्था को उन्होंने बारह हजार की मोटर दिलवायी थी, पर वह इस विशेषांक के लिए बारह रुपये भी खर्च करने को तैयार नहीं। कृतघ्नता हमारे जीवन में प्रवेश कर गयी है। खैर, 'किदवई विशेषांक' को पुस्तक के रूप में भी कभी निकलवाने का विचार है। श्री अजितप्रसादजी तथा महावीर त्यागी प्रभृति से अनैक्डोट्स इकट्ठे करने हैं। पर मैं तो यात्रा कर नहीं पाता। क्या किया जाय? केशवदेव मालवीयजी से बहुत से अनैक्डोट्स मिलेंगे।

'युवक' का विशेषांक दिसंबर में छप जाय, तब भी गनीमत है।

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद
२८-१-६८

प्रिय रामशरणजी,

वंदे। इधर मैं व्यस्त रहा। श्री के० सी० घोष का छोटा-सा एक पृष्ठ का लेख कहीं इधर-का-उधर रखा गया है। उसे तलाश करना है। 'युवक' को उसे नहीं भेजना है। मेरे पास लेखकों के तकाजे आ रहे हैं कि कब तक विशेषांक निकलेगा और मैं उत्तर देते-देते तंग आ चुका हूं।

मैं किसी की निंदा नहीं करना चाहता पर इतना तो कहना ही पड़ता है—"दि फ़ेलो डज़ नोट बिलोंग टू अस एण्ड वी मस्ट गेट रिड आफ़ हिज़ कोआपरेशन एज़ अरली एज़ पोसेबिल।" आदर्शवाद का जहां नामोनिशान न हो और स्वार्थपरता अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गयी हो वहां हम लोगों का क्या काम है? 'पांचजन्य' का 'क्रांति स्मरण अंक' मिला है। शहीदों की स्मृति का सहारा लेकर पार्टी के दृष्टिकोण का यह नंगा प्रचार मुझे पसंद नहीं आया, पर कांग्रेस की उपेक्षा नीति ऐसे प्रचार में सहायक होती है। अब हम लोगों को कोई दूसरा यज्ञ प्रारंभ करना चाहिये—शहीदों के विषय में ही—श्री कमला देवी चौधरी का पत्र आया है। शायद वे भी सहायक बन सकती हैं। एक पत्र अपनी ओर से योगेन्द्रकुमार लल्ला मार्फत, आत्माराम एण्ड संस, कशमीरी गेट, को लिखकर पूछें तो कि 'यश की धरोहर' कब तक छपेगी।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
२७-५-६८

प्रिय भाई विद्यार्थीजी,

'यश की धरोहर' की आलोचना भेज दी, यह ठीक किया। 'युवक' का यह अंक जिसमें 'शहीद अंक' की विज्ञप्ति है, मुझे नहीं मिला।

'अशफाक स्मृतिग्रंथ' पहले उर्दू में तैयार करा लिया है और इसे प्रेस को भेज दिया है। हिंदी वाला अब तैयार हो रहा है। उर्दू शब्दों के अर्थ लिखने बाकी हैं।

लाला हरदयालजी के विषय में जो भी सामग्री मिल जाय, उसका उपयोग कर लेना चाहता हूं। 'दि बेस्ट इज़ दि एनीमी आफ़ गुड' वाली कहावत प्रसिद्ध है। सर्वोत्कृष्ट चीज आगे चल कर कोई तैयार करेगा, पर जो कुछ हम से बन सके, कर गुजरना चाहिये।

विनीत
बनारसीदास

वंशीधर विद्यालङ्कार के नाम

•

टीकमगढ़

प्रियवर,

हैदराबाद के कई सज्जनों का वर्षों से यह आग्रह रहा है कि एक बार मैं उधर की यात्रा करूं। बन्धुवर बंकटलालजी ने तो एक बार मार्ग व्यय भी भेज दिया था ! आप और श्री लक्ष्मीनारायणजी गुप्त की इस प्रकार की आज्ञा मुझे मिल चुकी है। बन्धुवर रंजनजी तो मुझे हैदराबाद में ही बसाना चाहते थे ! इसके पूर्व श्री वाघ्रे द्वारा भी निमन्त्रण मिला था। सम्मेलन के अवसर पर ऐसे सामूहिक आदेश मिले कि रेल की यात्रा कष्टप्रद हो तो मैं हवाई जहाज़ से आऊं ! इस प्रकार के अपव्यय की कल्पना भी मेरे दिमाग़ में नहीं आ सकती। फिर भी मैं हैदराबाद नहीं पहुंच सका, यद्यपि कभी-न-कभी वहां पहुंचने की इच्छा मेरे हृदय में अब भी विद्यमान है।

एक बात प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देने की ज़रूरत है। मैं किसी संस्था का संचालक नहीं हूँ जो अर्थ संचय के लिए जगह-जगह घूमता फिरूँ और न मैं कोई 'लीडर' ही हूँ जिसे अपने अनुयायियों के भरण-पोषण की चिन्ता हो। कलम का मज़दूर हूँ और वही रहना चाहता हूँ। इसलिए कोई भी आर्थिक प्रलोभन मुझे यात्रा के लिये उत्साहित नहीं कर सकता।

हाँ, यदि हैदराबाद के हिन्दी-प्रेमी सज्जन किसी विशेष साहित्यिक यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे हों और उसके लिये मेरी सेवाएँ आवश्यक समझी जाएँ तो अपनी सुविधानुसार कभी हफ्ते-दो-हफ्ते के लिए आ सकता हूँ।

'अजन्ता' का प्रकाशन स्वयं एक यज्ञ है। सहस्रों व्यक्तियों को सात्विक मानसिक भोजन देने का जो महत्व है, उससे कौन इन्कार कर सकता है ?

खेद इस बात का है कि जो महानुभाव ऐसे यज्ञों को प्रारम्भ करते हैं वे इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि पत्रों की भी एक 'आत्मा' होती है—हमारा अभिप्राय उनकी अन्तर्निहित शक्ति से है, जो धीरे-धीरे ही विकसित हो सकती है। पत्र-सम्पादक का कार्य जनतंत्र के युग में तो और भी महत्वपूर्ण

हो गया है। पर पत्र-संचालकों ने अभी तक इस महत्त्व को नहीं समझा। डाक्टर लोग पांच-छै वर्ष पढ़ने के बाद डाक्टरी करते हैं। इंजीनियरों को भी कई साल तक विधिवत अध्ययन करना पड़ता है। एकाउंटेण्ट भी कहीं-न-कहीं शिक्षा पाते हैं, पर सम्पादकों की शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं! बन्धुवर हरिशंकरजी शर्मा एक क़िस्सा सुनाया करते हैं। एक बार उनके एक सुपरिचित मित्र अपने लड़के को लेकर उनकी सेवा में उपस्थित हुए और बोले:

"पंडितजी जा लरिका कूं हमने सब काम कराइ छोड़े, पर सबन्न में जि फेल भयौ। अब आप जाकूं सम्पादक बनाइ देउ।"

उन महानुभाव ने वह प्रस्ताव मजाक में नहीं, बिलकुल गम्भीरतापूर्वक किया था। बड़ी मुश्किल से हरिशंकरजी अपनी हँसी रोक सके और जैसे-तैसे समझा-बुझा कर उन्होंने अपने मित्र को विदा किया! इस प्रकार हिंदी जगत एक भावी सम्पादक की सेवाओं से वंचित हो गया!

भाई हरिशंकरजी के उपर्युक्त मित्र पत्र-सम्पादनकला के विषय में जितने अनभिज्ञ थे उतने ही अनभिज्ञ अधिकांश हिन्दी के पत्र-संचालक प्रतीत होते हैं। किसी पत्र के व्यक्तित्व का निर्माण करना उन्होंने हँसीखेल समझ रक्खा है! पत्र-सम्पादन स्वयं एक यज्ञ है उसके लिये सबसे अधिक आवश्यक है सुयोग्य याज्ञिकों के समूह को एकत्रित करना। आधुनिक भाषा से आप उसे 'ग्रुप' का निर्माण कह सकते हैं। 'ग्रुप' और 'गुट' में मैं भेद करता हूँ। गुटबन्दी तो निम्न कोटि के स्वार्थों की दृष्टि से की जाती है और उसके पीछे जो भावना रहती है वह भी कोई उच्चकोटि की नहीं। मेरा अभिप्राय समानशील व्यक्तियों के संग्रह से है। इस संग्रह के बिना कोई भी अच्छा पत्र चल नहीं सकता। पर जिनमें स्वयं कोई विशेष योग्यता नहीं, जिनके जीवन का कोई आदर्श नहीं वे अपने चारों ओर आदर्शवादी लेखकों को इकट्ठा कर कैसे सकते हैं? और प्रधान सम्पादक के लिये सबसे अधिक जरूरी चीज है विस्तृत अवकाश और आकाश भी। 'पीर, बबर्ची और भिश्ती, खरों' से आप चाहे कोई अन्य काम भले ही करा लें, सम्पादन-कार्य नहीं करा सकते। दो-दो, तीन-तीन काम साथ-साथ करने का युग कभी का लद चुका। जिसे किसी पत्र का सम्पादन करना हो, उसे तो सोते-जागते उसीकी चिन्ता होनी चाहिए। पत्र-सम्पादक थे स्वर्गीय रामानन्द चट्टोपाध्याय, जो ७५ वर्ष की उम्र में भी दस-दस, बारह-बारह घंटे श्रम कर लेते थे और जिन्होंने पूरे बीस वर्ष अपने को बिलकुल कोठरी में बन्द कर लिया था—'प्रवासी' तथा 'माडर्न रिव्यू' के लिए क्षेत्र संन्यास-सा ले लिया था। १९०७ से १९२६ तक उन्होंने जो महान साधना की उसके परिणामस्वरूप माडर्न रिव्यू की गणना संसार के सर्वोत्तम पत्रों में होने लगी और स्वयं उन्हें लीग आफ़ नेशन्स ने निमंत्रण दिया।

और उन्हीं की कोटि के दूसरे पत्र सम्पादक थे चिन्तामणि जी, जिन्होंने मरने के दिन तक अग्रलेख लिखाया। पूज्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी तथा अमर शहीद गणेश शंकरजी विद्यार्थी की असाधारण परिश्रमशीलता से हिन्दी जगत भली-भांति परिचित ही है।

आज किसी पत्र के विधिवत संचालन के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है वे हिन्दी जगत में तो प्रायः अप्राप्य हैं। किसी हिन्दी पत्र के कार्यालय में कोष भी नहीं है, अन्य संदर्भ ग्रन्थों (Reference Books) की बात तो रही दूर! कटिंग रख कर रिफ़रेन्स की जिल्दें तैयार करने की प्रथा का तो हमारे यहां अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है! अलल टप्पू ढंग पर चाहे जो व्यक्ति, जिसके पास पांच-सात हजार रुपए खोने के लिए होता है, पत्र संचालन का कार्य प्रारम्भ कर देता है! और फिर साल डेढ़ साल में अपने रुपए खो कर बैठ जाता है! और दोष जनता के सिर मढ़ता है।

भारतवर्ष में संतान निग्रह की जरूरत चाहे हो या न हो, पर पत्र-जन्म-निग्रह की आवश्यकता अवश्य है। नवीन पत्रों के जन्म पर आशीर्वाद या अभिनन्दन अथवा सद्भावना भेजते समय हम निजी तौर पर यह लिख देते हैं कि बेहतर यही होता कि आप मौजूदा अखबारों से ही काम लेते, यद्यपि इस प्रकार के परामर्थ के भोंडेपन को हम भलीभांति समझते हैं।

'अजन्ता' के साधनों के विषय में हमें कुछ भी पता नहीं। हम यह भी नहीं जानते कि वह कितनी रकम प्रति मास लेखकों परखर्च कर सकती है। हिन्दी के लिये उधर की ओर क्षेत्र कैसा है, इसका अनुमान हम यहाँ बैठे-बैठे नहीं लगा सकते।

यदि हैदराबाद वालों के पास साधन हों तो उन्हें अजन्ता के साथ-साथ एक बढ़िया ग्रन्थ माला और ट्रैक्ट माला का भी प्रकाशन करना चाहिये।

अन्य प्रान्तीय भाषाओं की सेवा करके ही हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद को सुशोभित कर सकती है। यदि हिन्दी वालों में Superiority Complex या बड़प्पन की भावना आ गई तो सारा गुड़ गोबर हो जायगा। जिस क्षेत्र में हम लोग रह रहे हों उस क्षेत्र की भाषा अथवा भाषाओं को ही प्रमुख स्थान देने की जरूरत है। उर्दू के विषय में भी हमारा दृष्टिकोण व्यापक तथा स्वस्थ होना चाहिये। कौन कहता है कि नज़ीर की कविता हिन्दी कविता नहीं है? अपने इस विश्वास को मैं फिर से दुहरा देना चाहता हूँ कि उर्दू पढ़े बिना अच्छी मुहावरेदार हिन्दी लिखना उतना ही कठिन है, जितना हिन्दी जाने बिना जोरदार उर्दू। उर्दू को हिन्दी की एक शैली के रूप में ग्रहण करने की जरूरत है।

अन्त में एक बात और। आज इस देश में राजनीति को ही प्रथम स्थान दिया जाता है। भिन्न-भिन्न दलों के राजनैतिक नेताओं के उछलकूदों या लंगूरोद्योगों के समाचार सुनते-सुनते कान पक जाते हैं साहित्य, संगीत, कला इत्यादि को कौन भला पूछता है?

इस विनाशकारी क्रम को बदलना है। राजनीति को हम महत्त्वपूर्ण मानते हैं, पर वही सब कुछ नहीं है।

विलायत के "टाइम्स" के साप्ताहिक साहित्यिक क्रोड़ पत्र को हम बराबर पढ़ते रहते हैं और "जॉन ओ लन्दन वीक्ली" को भी। और जब-जब ये पत्र आते हैं हमें हिन्दी की हीनता का अनुभव होने लगता है।

माधुरी और सुधा जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं का बन्द हो जाना क्या सांस्कृतिक दुर्घटना नहीं है? और जरा गौर कीजिये उस छीछालेदर पर जो पिछले दिनों हिंदी साहित्य सम्मेलन, तथा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की हुई है! प्रान्तीय भाषा-भाषियों के सम्मुख हम लोगों के उज्ज्वल मुख पर कैसी गहरी कालिमा पोती गई है!

साहित्य क्षेत्र में Power Politics (सत्तात्मक राजनीति) का प्रवेश करना वैसा ही है जैसा कटोरा भरे शुद्ध दूध में संखिया डाल देना।

अब वक्त आ गया है कि साहित्यिक बन्धु अपने स्वरूप को पहचानें और अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को Assert करें। (एसर्ट का हिन्दी अनुवाद आपही कर लीजिये और इस अंग्रेजी की गुलामी के लिये मुझे मुआफ़ कीजिये)

क्या कोई ऐसा प्रबन्ध नहीं हो सकता कि प्रति पक्ष हम लोग पत्र व्यवहार द्वारा ही सही भिन्न-भिन्न विषयों पर विचार परिवर्तन ही कर लें? इस खत को जो आपकी खिदमत में जा रहा है, मैं अपने अन्य साथियों को भी भेजना चाहता हूँ, पर क्या यह कोई आसान काम है?

विलायत के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कर्तिस साहब, जो राउण्ड टेबिल ग्रुप के एक प्रमुख सदस्य थे, अपने पत्रों को साइक्लोस्टाइल कराके जगह-जगह भेजते थे। उन्हीं का एक पत्र मि० पोलक के हाथ लग गया था और उसका बड़े मार्के का भण्डाफोड़ भी हुआ था। चूंकि हम लोग कोई साहित्यिक षड्यन्त्र नहीं कर रहे, इसलिए इस प्रकार के पत्र-व्यवहार को छपाने से किसी का कुछ अहित नहीं हो सकता। हमने अपने एक सम्पादक मित्र को लिखा कि आप प्रति मास छै पृष्ठों को साहित्यिक नोट्स के लिये रिजर्व कर दीजिये और उसके एक हजार रिप्रिट्स छाप दीजिये। हमारा खयाल है कि इसमें तीस रुपये से अधिक कागज तथा छपाई में व्यय न होगा। पर वे इस प्रस्ताव को अमल में न ला सके, क्योंकि उनके सामने बड़ी मुश्किल यह थी कि प्रति मास नियमानुकूल लिखनेवालों का वे संग्रह नहीं कर सकते थे। यहाँ तो वह किस्सा चरितार्थ होता है 'जो बोले सो घी को जाय।' एक बार चार प्रमादी मित्रों ने खिचड़ी बनाई। उसके लिए घी की जरूरत थी पर उन आलसियों में किसी का यह साहस नहीं पड़ रहा था कि घी लाने के लिये बाजार कौन जाए। इसलिये प्रमादी नं० १ ने यह प्रस्ताव किया कि हम सभी लोग मौन हो जायँ और जो कोई मौन तोड़े वही घी लेने जाय! मालूम नहीं कि कौन पहले बोला और खिचड़ी घी सहित या घी रहित खाई गई। पर हिन्दी जगत में साहित्य चर्चा के विषय में यही कहावत चरितार्थ हो रही है। 'साहित्य सन्देश' (आगरा), 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' (दिल्ली) अवश्य इसके अपवाद हैं।

हिन्दी लेखक और पत्रकार प्रायः साधनहीन हैं। वर्ष में एक बार साहित्य सम्मेलन के मौके पर पारस्परिक मिलन हो जाता था पर जब से वह संस्था दलबन्दी का अखाड़ा बन गई उसके अधिवेशनों पर जाने के लिये मन में कोई उत्साह ही नहीं होता। इस विस्तृत देश में यात्राएं भी विपुल अर्थसाध्य हैं और आचार्य विनोबाजी की तरह पैदल चलने का शक्ति हम लोगों में है नहीं।

हम साहित्यिकों के लिए सम्भाषण निहायत जरूरी है। बिना उसके अक्ल की धार भोथरी हो जाती है। पत्र-व्यवहार द्वारा सम्भाषण की कमी की पूर्ति कुछ अंशों में तो हो सकती है। पर बिना निकट सम्पर्क में आए कोई ठोस साहित्यिक कार्य सम्भव नहीं। जब आपने महर्षि दयानन्द शताब्दी के अवसर पर :—

"दरवाजे को खोल दे माली। मुझे बुलाती डाली डाली।।" नामक सुन्दर कविता सुनाई थी उसे आज सत्ताईस वर्ष हो गये। और इन सत्ताईस वर्षों में यद्यपि हम लोगों का पर्याप्त पत्र-व्यवहार हुआ है (विशाल भारत के गौरव को बढ़ाने में आपने जो महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया, उसे भला मैं कैसे भूल सकता हूँ ?) तथापि हम लोग फिर मिल ही नहीं सके!

कुछ ऐसा उपाय होना चाहिये, जिससे वर्ष में एक बार तो समानशील लेखकों, कवियों और पत्रकारों का पाँच सात दिन तक साथ हो जाय।

आपने मुझे 'अजन्ता' के लिये लेख लिखने का आदेश दिया था और मैंने शैतान की आँत की तरह लम्बी ये चिट्ठी आपको लिख दी। इसमें कुछ मतलब की बात आपको मिल जाय तो उसका उपयोग कर लीजिए वरना इसे रद्दी की टोकरी में डाल दीजिए। अपने संपादकीय जीवन में मैंने कितने ही लेखों को W.P.B. (वेस्ट पेपर बास्केट) के हवाले किया था। उस अपराध की कुछ सजा तो मुझे मिलनी ही चाहिए।

आपको यक़ीन दिलाना चाहता हूँ कि मैं हैदराबाद जरूर आऊँगा, पर उस किस्से के भेड़िए की तरह जो बिना नोटिस दिए अकस्मात आ गया था।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

विष्णु प्रभाकर के नाम

•

फीरोजाबाद
१४-१-४५

प्रिय विष्णुजी,

सस्नेह वन्दे। यूरोप में हैनरिक वर्जीलैण्ड नामक एक कवि हुए हैं। वे अपनी जेब में वृक्षों के बीज डाले रहते थे और टहलते वक्त यत्र-तत्र, जहां उनके उगने की सम्भावना होती, वे उन बीजों को डाल देते थे। अपने मित्रों से भी उनका यही आग्रह था। वे कहते थे कि आगे चल कर इनमें न जाने कितने बीज वृक्षों का रूप धारण कर लेंगे और इस प्रकार हमारी जन्मभूमि के सौन्दर्य में वृद्धि होगी। उनका यह कार्य वस्तुतः काव्यमय था।

आप लोगों के द्वारा स्थापित मंडल भी उसी प्रकार का एक बीज है। वह वृक्ष का रूप धारण कर ले यही मेरी अभिलाषा है। दिल्ली को तो अपना कार्य क्षेत्र बनाने की कभी मेरी भी इच्छा थी। मेरे स्वप्न का आश्रम (दीनबन्धु कुटीर) दिल्ली से आठ-दस मील दूरी पर था। पर उस स्वप्न को मैंने छोड़ दिया है। क्यों ? न पूछिये।

दिल्ली आ नहीं सका। कुछ ऐसे ही कारण आ गये। आपके सान्त्वनाप्रद पत्र के लिये कृतज्ञ हूं। पिता जी ८९ वर्ष के थे। उनके जाने का समय था पर मैं अब ५३ वीं वर्ष में गृहस्थ कैसे बनूं ? प्रबन्ध-शक्ति है ही नहीं। कभी टीकमगढ़ फिर भी पधारिये। मई में सही। आनन्द रहेगा। मैं १७ को टीकमगढ़ जा रहा हूं। इधर आपने कुछ लिखा ? बुन्देलखंड प्रा० सम्मेलन झांसी में १८, १९, २० को है। पत्रोत्तर टीकमगढ़ भेजिये।

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़
२०-३-५०

प्रिय विष्णुजी,

प्रणाम। आपके कृपापूर्ण लेख के लिए अत्यंत कृतज्ञ हूं। उसमें आपने मेरे बारे में जो लिखा है, उसमें तथ्य की अपेक्षा काव्य का अंश ही अधिक है। आपका लेख वक्त पर मिला और श्री प्रेमनारायणजी खरे सम्पादक (विचारवाणी) ने उसे गान्धी भवन अंक का मुख्य लेख ही बना दिया। अपने बारे में तो लिखना या लिखाना मैं पसन्द नहीं करता पर इस केन्द्र को बचाने के लिये चिन्तित जरूर हूं। अब उम्मेद है कि किसी-न-किसी रूप में यह बच जायगा—बेसिक ट्रेनिंग और ग्राम संगठन के रूप में—और यह भी गनीमत है पर मैं तो अब उधर ही रहना चाहता हूं।

पाईल्स की तकलीफ है। शायद दिल्ली होता हुआ घर जाऊं।

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़
१५-४-५०

प्रिय विष्णुजी,

घरेलू जीवन चरित नामक एक पुस्तक ही मैंने तैयार कर रक्खी है। आपने स्केचिज़ मधुकर में देखे ही होंगे।

इस अणु-युग में भी यदि साधारण जन उपेक्षित रहा तो फिर उसकी पूछ कब होगी? आपका लेख पढ़ूंगा।

आप स्वयं भी उपेक्षित साहित्य-सेवियों तथा शहीदों के विषय में लिखेंगे यह पढ़ कर संतोष हुआ। अवश्यमेव इस यज्ञ की पूर्ति में सहायक हों।

यह दो-चार व्यक्तियों के बूते का है भी नहीं। अभी संग्रह हो जायगा तो हो जायगा फिर मसाला नष्ट ही हो जायगा। हमारे देश में पद-प्रभुता के लिए जो आपाधापी चल रही है उसने एक विषाक्त वातावरण उत्पन्न कर दिया है। उस बदहवा को बदलने के लिए भी यह यज्ञ नितान्त जरूरी है। थोड़ा सा वक्त कभी-कभी निकाल कर इस बारे में लिखते रहें तो यह गाड़ी आगे चले।

स्वतंत्र पत्रकारिता के प्रयोग को मैं योग मानता हूं और आप जैसे कौशल से उसे चलाते रहे हैं उससे आपको विष्णुजी 'योगी' कहने में संकोच नहीं होगा। प्रभाकर की अपेक्षा यह उपाधि संक्षिप्त तो है ही!

मार्तण्डजी के स्वास्थ्य का हाल लिखिये। डेढ़ महीने अर्श का कष्ट रहा अब तबियत ठीक है।

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़
२७-१२-५०

प्रिय विष्णुजी,

मेरी एक आकांक्षा है जो मेरी क्षुद्र योग्यता से कहीं अधिक ऊंची है, वह यह कि सन २००१ का हिन्दी अन्वेषक मेरे रेखाचित्रों से—और चित्रों से भी—आज के हिन्दी लेखकों तथा कवियों के रहन-सहन, स्वभाव, रुचि इत्यादि का अन्दाज लगा सके।

यशपालजी का स्कैच उसी भावना से प्रेरित है।

इस बार मैं आपके घर पर भोजन न कर सका। निमंत्रण तो कायम है ही! कोई भी चौबे इस बारे में सतर्क रहेगा।

आपको आश्चर्य होगा। मार्तण्ड जी ने कभी भोजन नहीं कराया। यशपाल जी बहुत तारीफ करते थे, भोजन की।

---

३ मिलिटरी लाइन्स,
नईदिल्ली
६-५-१९५२

प्रिय विष्णुजी,

१७ या २४ की चाय पार्टी का निमंत्रण मिला। नेकी और पूछ पूछ; या चुपड़ी और दो दो? पर बेहतर तो यह होगा कि ये पार्टी मेरे द्वारा ही गृह-प्रवेश संस्कार के अवसर पर दी जाय। पर पता नहीं

कि मुझे कहीं मकान मिला भी कि नहीं। तार द्वारा २१ अप्रैल को अर्जी भेज दी थी। पत्र द्वारा भी प्रार्थना पत्र भेजा था। १० तारीख को पहुंच रहा हूं। दो एक दिन तो पूज्य बहनजी के निकट ही ठहरना है।

मैंने इतने अधिक सुहृदों को दिल्ली के लिए निमंत्रित कर दिया है कि आप लोग चाय पीते-पिलाते हैरान हो जायंगे और राज्य परिषद से मुझे बर्खास्त कराने का आन्दोलन खड़ा करने के लिए मजबूर होंगे।

बनारसीदास

---

९९ नार्थ एवेन्यू,
नईदिल्ली

प्रिय विष्णुजी, प्रणाम !

५-१-६४

आपकी नव वर्ष की शुभकामनाएं मिलीं। तदर्थ बहुत-बहुत धन्यवाद। ५१ वर्ष बाद मैं अपने घर फीरोजाबाद को लौट रहा हूं—२ अप्रैल, ६४ से वहीं रहने लगूंगा और लेख लिख कर जीविका चलाने का असम्भव प्रयत्न भी करूंगा। हाँ, यदि मध्य प्रदेश सरकार कुछ वृत्ति दे दे तो बात दूसरी है।

खिलाड़ी को हमेशा बैटिंग ही नहीं करना चाहिये, फील्डिंग भी निहायत जरूरी है। ३ जुलाई १९२० से मैं प्रायः आराम या मौज-मजा की जिन्दगी बसर करता रहा हूं—उस वक्त से, जब राजकुमार कालेज की नौकरी छोड़कर शान्ति निकेतन गया था। अब कुछ परिश्रम करने का भी वक्त आया है, जिसका मैं हार्दिक स्वागत ही करूंगा।

फीरोजाबाद वाले १५-१६ को आपको बुला रहे हैं। श्री बंसलजी आपको लिखेंगे। अगर चल सकें तो बहुत अच्छी बात हो। अपने दिल्ली निवास में भाई यशपालजी, मार्तण्डजी तथा आपसे जो सहायता तथा सद्भावना मिली उसके लिए मैं सदैव आप लोगों का ऋणी रहूंगा।

बनारसीदास

फीरोजाबाद
१३-६-६४

प्रिय विष्णुजी, त्याए पास एक ब्रज कौ छोरा रहे है—
गोपाल, सों बाको मैंने एक कविता पूरी करिबे को भेजी ई, सो बाने जबाबऊ नाइ दयौ !!!
वाकी एक सतर जि ही :

मेरे मित्र क्यों भूल जाते हैं इसकी;
जवां मैं नहीं, बल्कि बूढ़ी बुआ हूं
रिटायर हुआ और टायर
हुआ हूं।

दिल्ली में बारह वर्ष भाड़ झोंक चुकने के बाद अब वहां आकर क्या करूंगा !

स्वतंत्र पत्रकारिता द्वारा रूखी-सूखी मिल जाय, इससे अधिक की आकांक्षा नहीं। कृपया हिन्दी भवन में सहयोग दीजिए। पंडितजी का स्वर्गवास बड़ी भारी दुर्घटना है।

व्यासजी को मेरो पालागन कहि दीजो। लेख खूब लिखि रहे हैं।

पुनश्च :—आपने पंडितजी का अंतिम पत्र, जो २५ मई को देहरादून से श्री प्रकाशवीरजी शास्त्री

के नाम लिखा गया था, पढ़ा ? आश्चर्य की बात यह है कि वह मेरे एक स्वप्न "प्रवासी भारतीय भवन" के विषय में है !

आजसे ४१ वर्ष पूर्व मैंने स्वामी भवानी दयाल जी के 'हिन्दी' नामक पत्र में एक स्वप्न लिखा था:— "मेरे स्वप्न का आश्रम", जिसमें प्रवासी भवन की कल्पना की थी। मैं तब से बराबर इस पर जोर भी देता रहा हूं। मैंने फिजी के एक सज्जन को इस बारे में लिखा और उन्हें श्री प्रकाशवीरजी का पता भी बतला दिया। उन्होंने प्रकाशवीरजी को लिखा और १९ मई को प्रकाशवीरजी ने पंडित जी को। पंडित जी ने २५ मई को अपने हाथ से चिट्ठी लिखी थी, जिसका चित्र ७ जून के "आज" में छपा है। मैंने उसका फोटो खिचवाने का प्रबंध किया है। उसका ब्लाक मेरे खर्चे पर बनवा कर (क्योंकि स्वप्न मेरा ही है) जीवन साहित्य में दिया जा सकता है। फिर जैसी आप लोगों की मरजी।

बनारसीदास

शकुन्तला श्रीवास्तव के नाम[1]

●

फिरोजाबाद

पूज्य बहन,

मैं यहां तीन तारीख को आ गया। स्व० शास्त्रीजी के संस्मरण अपने साथ ले आया हूं। यहां समय मिल जायगा। दिल्ली में तो वक्त मिलना असंभव-सा था। टेलीफोन कितनी भयंकर बीमारी है, इसका अन्दाज़ यहां हो सकता है। यहां टेलीफोन न होने से उसके भय से मुक्त हो गया हूं। नई दिल्ली में तो मिलने वाले कुछ काम ही नहीं करने देते। विज्ञापित हो जाने का यही दुष्परिणाम है। किसी प्रकार समय निकाल कर आप अब संस्मरण लिख ही दीजिये। मेरी ओर से श्री राजाराम शास्त्रीजी से करबद्ध प्रार्थना कर दें। मज़दूर आन्दोलन का इतिहास उनसे अधिक प्रामाणिक कौन लिख सकता है ?

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद

३१-१-५६

पूज्य बहनजी, सादर प्रणाम।

कल श्री सेंगरजी का पत्र आया है। उन्होंने बड़ी बहनजी की कविताओं पर लेख छापना स्वीकार कर लिया है। कृपया कुछ नोट मेरे लिये तैयार कर दें। ३-४ पृष्ठों में उनकी सर्वोत्तम कविताओं का उद्धरण दे दूंगा। दो पृष्ठों में स्कैच। इस प्रकार अन्य कवियों तथा कवियत्रियों पर भी लिखूंगा। डट कर काम करूंगा।

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

---

[1] प्रख्यात मजदूर नेता (स्व० हरिहरनाथ शास्त्री) की धर्मपत्नी।

फीरोजाबाद

पूज्य बहन, ६-१-५७

सादर प्रणाम !

श्री देवेन्द्रजी का लेख अभी सम्पादित कर चुका हूं। बहुत ही सजीव लेख है, इससे स्व० शास्त्रीजी के उज्ज्वल चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। लेख काफी विस्तृत है, फिर भी उसका अधिकांश मैंने सुरक्षित रक्खा है। कुछ अंश काटने ही पड़े।

सम्पादन कार्य चार-पांच दिन में समाप्त कर दूंगा फिर भी शास्त्रीजी के निकटस्थ साथियों—श्री टी० एन० सिंह प्रभृति को इसे दिखा लिया जाय। बस यही देखना है कि कोई अनावश्यक चीज़ न छप जाय।

मुझे इस बात का दुःख है कि मैं शास्त्रीजी जैसे महान व्यक्ति के निकट सम्पर्क में नहीं आ सका। लेखों को पढ़ने के बाद मैं सोचता हूं कि आप कितनी सौभाग्यशालिनी थीं, और अब आपके हिस्से में कितना बड़ा दुर्भाग्य आ पड़ा !

मुझे इस बात का खेद है कि सम्पादन-कार्य में इतना विलम्ब हो गया। श्रद्धेय टण्डनजी की सेवा में मेरा प्रणाम कहें।

विनीत

बनारसीदास चतुर्वेदी

---

९९ नार्थ एवेन्यू

नई दिल्ली

१७-४-५७

पूज्य बहन,

कृपा पत्र अभी मिला। हां स्वास्थ्य कुछ ऐसा ही चल रहा है। पर चिन्ता की कोई बात नहीं। ३–४ दिन में ठीक हो जायगा। मैंने एक प्रयोग प्रारंभ किया है। अपना आटा खुद पीस लेता हूं। इससे रोटी खाने में अधिक आनन्द आता है।

विशाल भारत के लिये मैंने योगेन्द्र दत्त शुक्ल का लेख भेज दिया है। कृष्णजी का लुडविग की दिनचर्या का अनुवाद भी। विशाल भारत का जीवन बचाना है।

बहन राजकुमारीजी की चिट्ठी आई थी। उनकी एक कविता "आजकल" में छप गई है। उनकी रचनाओं पर एक लेख मुझे शीघ्र ही लिखना है।

आप दिल्ली आ रही हैं, जानकर हर्ष हुआ। गर्मी में आपको यहां जल्दी आना चाहिये—अपने स्वास्थ्य के खयाल से। यद्यपि मैं जानता हूं कि शास्त्रीजी के चले जाने के बाद अपने जीवन से कुछ भी मोह नहीं रह गया है। पर उनके श्राद्ध के लिए भी शरीर धारण करना आवश्यक है।

सार्वजनिक कार्यों से फुरसत नहीं मिल पाती। सहायक कोई मिलते नहीं। आठ-दस किताबें अधूरी पड़ी हैं। वैसे मैं सवेरे ४ बजे उठता हूं। स्वाध्याय करता हूं। शक्तियां विकेन्द्रित हो जाती हैं। अनेक कामों में फंस जाना ठीक नहीं है।

आपके चुनाव में हार जाने का समाचार पढ़ा था। खेद हुआ। पार्टी का बन्धन न होता, तो लेख तो लिखता ही ।

आगामी १२ दिसम्बर तक हिन्दी-अंग्रेजी में स्मृति ग्रंथ निकल जाना चाहिये।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

---

९९ नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
१०-५-५७

पूज्य बहन,

कल शास्त्रीजी की मुझे याद आ गई। आजकल श्राद्ध पर्व है। उन्होंने अपने कुटुम्बियों को नौकरी दिलाने के लिए कुछ भी सिफारिश नहीं की थी। मैं भी जो कुछ अंशों में उन्हीं का अनुगामी रहा हूं। जब शास्त्रीजी की तुलना दूसरे नेताओं से करता हूं तो ज़मीन-आसमान का फर्क मालूम पड़ता है।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

---

९९ नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली
२३-२-६३

प्रिय बहन,

बहन राजकुमारीजी की कविताओं का संग्रह क्या नहीं किया जा सकता ? मैं उन पर कुछ लिखने का विचार बहुत दिनों से कर रहा हूं। पर लिख नहीं पाया। जीवन इतना अधिक अव्यवस्थित रहा है, और इधर साल भर से तबीयत भी खराब चल रही है। जुकाम खांसी है। मोतियाबिन्द का आपरेशन कराना है।

बहनजी ने अंतिम दिनों में मुझे याद किया था। पर मेरा यहां से जाना संभव नहीं था। सन ३५ में मैसूर और बंगलौर में मैंने उनके तथा जे० पी० विद्यार्थी (उनके पति) के दर्शन किये थे।

विनीत
बनारसीदास

---

९९ नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
१७-२-६४

प्रिय बहन, सादर प्रणाम !

मैंने भाई नरेश चतुर्वेदी को सौ० कीर्ति (राजकुमारीजी की पुत्री) के विवाह में एक खादी की साड़ी (मेरे हिसाब में से) खरीद कर दे आने को लिखा था। किन्तु वे बाहर थे। सौ० मानजी का वर्तमान पता लिखें।

मेरी भेजी पुस्तकें तो उसे मिली होंगी। २ अप्रैल से मैं फीरोजाबाद आ जाऊंगा। राज्य सभा की सदस्यता समाप्त होने वाली है।

विनीत
बनारसीदास

आम्रनिकुंज, फिरोजाबाद।
१५-७-६७

पूज्य बहन,

सादर प्रणाम!

मैं आपसे बिल्कुल सहमत हूं। अब इसमें तनिक भी विलम्ब न करना चाहिये। सर्वोत्तम चीज़ की फिक्र में हम उत्तम भी नहीं कर पाते। अंग्रेजी में एक कहावत है--Best is the enemy of good. सर्वोत्तम उत्तम का शत्रु है!

प्रूफ आप ठीक देख लेती हैं और सम्पादन भी कर लेती हैं। यह देखकर मुझे आश्चर्य और हर्ष हुआ। चीज़ शुद्ध छपे, यह आवश्यक है। लोग अपने-अपने धन्धों में फंसे हैं। निस्वार्थ भाव से साहित्य श्राद्ध-कार्यों की ओर उनका ध्यान नहीं है। फिर भी हमें निराश न होना चाहिये। फर्मे ज्यों-ज्यों छपते जायं, प्रकाशक मुझे सीधा भेजते रहें, तो भूमिका लिखने में मुझे सुविधा होगी।

विनीत
बनारसीदास

पूज्य बहन,

आप शास्त्री-स्मारक भवन में आ गई यह बहुत अच्छा हुआ। आशा है अब यहां के वातावरण में आप अधिक काम कर सकेंगी।

हमारे देश को राजनीति ने जो नया मोड़ लिया है, उससे अवश्य ही निराशा उत्पन्न होती है। पर हम सब जो साहित्यक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में काम करना चाहते हैं, निराश हर्गिज नहीं होना चाहिये। छोटे-छोटे समूह बनाकर, रचनात्मक काम शुरू कर देना चाहिये। फिर भी जिसकी जैसी रुचि हो, उस क्षेत्र में कार्य करे।

बहू और बच्चे नैनीताल से छुट्टियों में आ गये हैं। सौ० देवकी भी दो दिन के लिए आगरे से आ गई हैं।

विनीत
बनारसीदास

पूज्य बहन,

सादर प्रणाम।

आपकी नवीन कहानी या स्कैच मैंने पढ़ा, और वह रचना मुझे पसन्द आई। मैं उसे संक्षिप्त बनाने

के पक्ष में हूं। कुछ तो भूमिका से उड़ाया जाय, कुछ अंतिम भाग कम किया जाय। कविता को बाल भारती में भेजा जा सकता है। कहिये तो कहानी साप्ताहिक हिन्दुस्तान में भेज दूं?

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद
३१-१-६८

पूज्य बहनजी,
प्रणाम।

रेल पार्सल की बिल्टी कल मिल गई। पार्सल कल छुड़ा ली जायगी। जुर्माना पड़ेगा, वह दे दिया जायगा।

आपने पुस्तक जिन व्यक्तियों को भेजी हो या भेंट की हो या आलोचनार्थ भेजी हो, उनके नाम-पते मुझे कृपया भेज दें। मैं उनसे तकाज़ा करके सम्मति मंगा लूंगा। लोग इतने आत्म-केन्द्रित या आलसी हो गये हैं कि बारंबार खटखटाने पर ही कुछ लिखते हैं। विस्तृत आलोचना कराने को हमें तकाजा करना पड़ेगा। अब आपकी बच्चों वाली कविता-पुस्तक का भी पुनर्मुद्रण कराया जाय!'

बड़ी बहनजी के संस्मरण शीघ्र ही भेजें। उनकी समस्त कविताओं का संग्रह भी कर दें। प्रकाशक कोई न कोई मिल ही जायगा। दिल्ली आते या जाते फिरोजाबाद आना न भूलें।

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद
१०-१०-६९

पूज्य बहन,
प्रणाम।

आपका पत्र आगरे से लौटकर यहां मिला। मैं २९ को यहां आ गया। पौने चार महीने अस्पताल में रहा। अभी भी कमजोरी दूर होने में ३–४ माह लगेंगे। डाक्टरों की राय पूर्ण विश्राम करने की है। पर कर नहीं पाता। आपने कृपा करके दो बार आगरे पधारने का कष्ट किया अतः आपका बहुत ऋणी हूं। आप अपने स्वास्थ्य का समाचार भेजती रहिये। दो पंक्तियां अपने हाथ से लिखी हैं—

ग्रंथ की आलोचना किस पत्र में निकली है? तथा उसकी बिक्री कैसी हो रही है? स्वयं पत्र न लिखने के लिये क्षमाप्रार्थी हूं।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

शिवनारायण श्रीवास्तव के नाम

●

४ लाजपत कुंज, सिविल लाइन्स,
आगरा
६-९-६९

प्रिय भाई श्रीवास्तवजी वन्दे !

कृपा-पत्र मिला। आपसे कई बातें कहनी हैं, सो धीरे-धीरे शक्ति मिलने पर लिखता रहूंगा। आपके निकट पहुंच गया हूं। प्रथम बात यह कहनी है कि अब मेरा विश्वास होता जा रहा है कि लेनिन के तरीके से ही इस देश का उद्धार हो सकेगा। बापू की पद्धति असफल रही है। शायद उसका उपयोग भी ठीक तौर पर नहीं किया गया। हम लोग बापू के भक्त फेल हो चुके हैं। मैं कोई राजनीतिज्ञ नहीं, पर एक ईमानदार लेखक के नाते अपनी राय स्पष्ट ज़ाहिर कर देना मेरा कर्त्तव्य है। किसी भी पार्टी का सदस्य तो मैं बन नहीं सकता, पर समय पर अपनी राय स्पष्ट करता रहूंगा। मेरी शक्ति तो बहुत सीमित है।

दूसरी बात, यह है कि रामधन की प्रथम पुस्तक "जैसा मैंने उन्हें देखा" छप गयी है। हैदराबाद से वह सीधी आपके पास पहुंचेगी। रामधन को हार्दिक बधाई भेजना न भूलिये। भाषा बहुत साफ है।

तीसरी बात—मैंने अपने विषय में ग्रंथ निकालने का विरोध किया था, पर किसी ने माना नहीं। अब निकालना ही है तो ठीक निकालना चाहिये।

चौथी बात—आपके लेख के लिए मसाला भेज दूंगा। वैसे अभी तीन महीने आराम करना है। मित्रोखिन यहाँ आने वाले थे।

बनारसीदास

आगरा
२८-९-६९

प्रिय श्रीवास्तवजी वन्दे !

कार्ड मिला। मैं तारीख तीस तक फीरोजाबाद पहुंच जाऊंगा। मेरी छोटी पुस्तक 'नील कण्ठ गोर्की' शीघ्र ही हैदराबाद से पहुंचेगी। उसमें मैंने अपने विचार प्रकट कर दिये हैं।

पूंजीवाद का खातमा सर्वोदय के तरीके से सम्भव प्रतीत नहीं होता। साम्यवादी तरीकों का सहारा लेना अनिवार्य हो गया है। पर खुद साम्यवादी लोग आपस में विभाजित हैं।

लोक-संग्रह की नीति तो गांधीजी से सीख लेनी चाहिये। यथासम्भव प्रत्येक कार्यकर्त्ता को अपनाया जाय। छोटे छोटे मतभेदों पर जाति-बाहर कर देना ठीक नहीं।

यशपालजी को आप क्या लिखें इस बारे में मैं आपको विस्तार से लिखूंगा।

मैं अपने अभिनंदन-ग्रंथ का विरोधी था। पर लोग माने नहीं। अत्यधिक प्रशंसा ठीक नहीं।

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद,
२५-१०-१९६९

प्रिय श्रीवास्तवजी,

वन्दे !

चिट्ठी मिली। फोटो बनवाकर शीघ्र ही भिजवा दूंगा। यद्यपि मैं कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति नहीं हूं (साधारण लेखक ही हूं) तथापि अपनी विचारधारा के क्रमिक विकास के बारे में मैं खुद आपको लिख भेजूंगा जिसका उपयोग आप अपने लेख में बिना किसी संकोच के कर सकते हैं। अपने पत्र में मैं आपको यह बतला दूंगा कि इस परिणाम पर पहुंचने में कि लेनिन के तरीके इस मुल्क में कारगर होंगे, इतनी देर क्यों लगी? अपनी ईमानदारी की राय मैं कभी छिपाता नहीं। चाहे उससे किसी के हृदय को धक्का लगे। मैंने अपने विचार-परिवर्तन की बात मित्रों को लिखी है। यद्यपि उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। मैं तो बिलकुल रिटायर हो रहा हूं। सार्वजनिक जीवन खत्म कर रहा हूं। किसी पार्टी से मेरा ताल्लुक भी नहीं है। जब मैंने आपको हिन्दी भवन में रखा था तो कुछ लोगों ने एतराज किया था कि मैं एक जाने-माने कम्युनिस्ट को क्यों शरण दे रहा हूं। मैंने तब यही जवाब दिया था कि "मैं किसी को भी राजनीतिक विचारों के कारण अछूत नहीं मानता, पर प्रतिक्रियावादियों से नहीं मिलना चाहता। श्रीवास्तवजी ईमानदार तथा स्वाभिमानी आदमी हैं, बस इतना ही मेरे लिए काफी है।"

निर्भयतापूर्वक मैं साम्यवादियों के सभी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में भाग लेता रहा। यद्यपि उससे भी गलतफहमियाँ पैदा हुईं। लोग मुझे लाल रंग वाला या सहयात्री मानते रहे। मैंने इसकी कभी चिन्ता नहीं की। और अब तो मैं आपके बहुत नज़दीक पहुंच गया हूं।

विनीत
बनारसीदास

सत्यवती मल्लिक के नाम

●

कलकत्ता
२७-४-३७

प्रिय बहन !

कल जान कर खुशी हुई, कि आप मिशन को पांच रुपए भेजना चाहती हैं। जरूर भेजिए बच्चों को फल खिलाने के लिये।

कहानी पूरी करके भेज दीजिए। कला की कोई चीज़ अधूरी न देखनी चाहिए, इसीलिये मैंने कल वहां उसे नहीं पढ़ा। मैं अपना सर्वोत्तम समय ही कलापूर्ण रचनाओं को पढ़ने में लगाता हूं। शाम को बिलकुल थका हुआ सा रहता हूं इसलिये यथा सम्भव, शाम के वक्त रचनाओं के विषय में कोई निर्णय नहीं करता।

मैं अपने नौकर को आप का घर बतला दूंगा ताकि व्यर्थ ही पोस्टेज में पैसा व्यय न करना पड़े। २७–४–३७ पुनः, — वर्मा जी बीमार हैं। (addrress २५६, सैन्ट्रल एवेन्यू नार्थ) और अभी १५–२० दिन तक आफिस न आ सकेंगे। उनकी अनुपस्थिति के कारण और भी कार्य्यव्यस्त हो गया हूं। अन्य कोई कहानी व प्लाट सूझ रहा हो तो लिख दीजिए। बहन उर्मिलाजी के नाम गृह प्रबन्ध पर अवश्य चिट्ठियां लिखिए। महिला अंक में काम आ जायेंगी। कृपया हमारे कहानी विशेषांक के लिये भी कुछ लिखिए, ज्योंहि मसाला इकट्ठा हो जायगा, त्योंहि चन्द्रगुप्तजी को अंक का सम्पादन करने के लिए बुला लूंगा।

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़
१६-६-३८

प्रिय बहन,

सादर प्रणाम !

Gorky की Mother (माँ) अब मैं पढ़ रहा हूं (पढ़ ली) क्या ही बढ़िया चीज है। अत्यन्त उत्साहप्रद, स्फूर्तिमय और सजीव, कब हिन्दी में ऐसे महान ग्रन्थकार उत्पन्न होंगे ! जैसे शिवजी ने विषपान कर के नीलकण्ठ की उपाधि प्राप्त की थी उसी प्रकार सैकड़ों मुसीबतों का जहर पी कर गोर्की नीलकण्ठ बन गये थे। अन्य उपन्यास Mother के सामने बच्चों के खेल प्रतीत होते हैं। "बच्चों को लोरी की तरह सुलाने की झांकी।"

बिना अनुभूतिओं के ऐसे महान ग्रन्थ भला कैसे लिखे जा सकते हैं। कम-से-कम इतना तो हमलोग कर सकते हैं कि भुक्तभोगी व्यक्तियों से सहानुभूतिपूर्वक मिलें।

८।१० दिन से अर्श (बवासीर) के मारे नाकों दम है। कल १९ को घर जा रहा हूं। पता—"फिरोजाबाद—आगरा"।

५ जुलाई का सैनिक (साप्ताहिक) पद्मसिंह अंक होगा, सम्पादन मेरा किया हुआ है। साढ़े उन्नीस सौ में कुल ४ फर्स्ट डिवीजन में आये हैं। चि० बुद्धिप्रकाश बी० ए० (फर्स्ट डिवीजन) में और छोटा "गुपलेश" एफ० ए० में पास हो गया।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

चौबे होटल
शाहगंज, आगरा
५-१२-६९

प्रिय बहन,

सादर प्रणाम। मेरा विचार ८ ता० को दिल्ली पहुंचने का है। कौन-सी गाड़ी ठीक रहेगी ?, एक पैसेन्जर सवेरे ८।। बजे राजा-मंडी से चलती है और शाम को २-३ बजे पहुंचती होगी। वह कैसी रहेगी। आपका घर किस स्टेशन से निकट पड़ेगा।

कम-से-कम दो दिन और अधिक-से-अधिक तीन दिन तक ठहर सकूंगा—क्योंकि मुझे कलकत्ते भी जाना है। यों ही अपने स्वास्थ्य और मनोरंजन के लिए यह यात्रा कर रहा हूं।

साहित्य-सेवा का दम्भ उसमें नहीं है पर यदि कुछ साहित्यकारों से बातचीत हो जाय तो उससे कोई हानि भी न होगी। श्रीयुत सेंगरजी तथा श्री जैनेन्द्रजी को भी लिख रहा हूं।

श्री मल्लिकजी को प्रणाम, बच्चों को आशीष !

विनीत
बनारसीदास

विशाल भारत कार्यालय
१२०।२ अपर सरकुलर रोड, कलकत्ता
२५-१२३९

प्रिय बहन,

अत्यन्त कृतज्ञ होऊंगा यदि आप कृपा कर "कैदी" के वापिस आने की कहानी शीघ्र ही वि० भा० के लिये लिख दें। यहाँ लेखों का बड़ा टोटा हो गया है इस कारण मुझे यहां ८।१० दिन के लिए रुक जाना पड़ा है। दिल्ली की यात्रा स्थगित करनी पड़ी, जनवरी का अंक है और मसाला कुछ भी नहीं ! ६ जनवरी तक टीकमगढ़ पहुंचूंगा।

विशाल भारत कार्यालय
१२०।२ अपर सरकुलर रोड कलकत्ता
१२-१-४०

प्रिय बहन,

"काश्मीर लौटने वाले कैदी की कहानी" कृपया भेजिए। ८।१० दिन के भीतर आ जाय तो फरवरी के अंक में जा सकेगी। आज कलकत्ता छोड़ रहा हूं। १५ तक टीकमगढ़ (झांसी) पहुंच जाऊंगा। श्रीराम शर्मा यहां २ महीने रहेंगे। कहानी उन्हीं के नाम भेजिए।

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़
२५-३-४०

प्रिय बहन,

सादर प्रणाम।

मुझे ख्याल आया कि "कैदी" का अनुवाद उर्दू में होना चाहिए——सम्भवतः श्री मलिकजी यह काम आसानी से कर सकेंगे। अब हम लोगों को दोनों लिपियों का प्रयोग सीखना चाहिये। वह सतयुग बहुत वर्षों बाद आयेगा जब इस अभागी भूमि में एक ही लिपि का प्रचार होगा तबतक इन्तजार ठीक नहीं। मैंने "शनिवार चिट्ठी" के सम्पादक श्री सजनीकान्त से प्रार्थना की है कि वे कहानी का बंगला में अनुवाद कर दें। गुजराती में आसानी से हो ही जायगा। कहानी बहुत बढ़िया बन पड़ी है।

संग्रह के विषय में चिन्तित हूं। कल या परसों आगरे पहुंच जाऊंगा । श्री मलिकजी को प्रणाम बच्चों को आशीष !

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

टीकमगढ़
२-७-४०

प्रिय बहन;

सादर प्रणाम !

कल ही मेरे लेख की प्रतियाँ मुझे मिली थीं। आपकी सेवा में अलग पैकेट द्वारा भेजता हूं। यह स्कैच फीरोजाबाद से ही मई महीने में कलकत्ते भेज दिया था। यह ज्यों-का-त्यों छपा है। इस स्कैच के लिखने में मैंने उतनी ही सावधानी रखी है जितनी अपनी पूज्य माता या छोटी बहन के रेखाचित्र खींचने में रखता। मैंने आपकी प्रशंसा करते हुए (जान बूझ कर) संयत भाषा का प्रयोग किया है। और श्रेय तो आपको सिफ १।२ फीसदी सही ही दिया है।

•••हाँ चिरंजीव भाषी का वह सवाल क्या था? वह ज्यों-का-त्यों मुझे याद नहीं रहा। उसमें शायद जवाब ही गलत लिखा हुआ था। मैंने दो बार किया पर जवाब ठीक नहीं मिला। पर श्रीमान मलिक जी तथा आप लोग खयाल न करें कि मैं अर्थमैटिक में इतना कमजोर हूं। दर-असल मैं गणित में बहुत अच्छा था। ३३-३४ विद्यार्थियों में मेरा नम्बर तीसरा था—और गणित का प्रेमी होने की वजह से मैंने इंटर में गणित+संस्कृत दोनों लिये थे, जो उस समय आगरा कालेज में १४४ विद्यार्थियों में और किसी ने नहीं लिये—वजह यह थी कि यह कॉम्बीनेशन वहीं मिलता था।

यह एक्सप्लानेशन मैंने इसलिये दिया है कि कहीं श्रीमान मलिकजी मुझे फेल न कर दें। अब की बार उनकी दुकान पर प्रतिदिन ३।४ घंटे काम करने का विचार है। मलिकजी के मन में भ्रम हो सकता है कि ऐसे नासमझ गणितज्ञ को हिसाब का कोई काम नहीं सौंपना चाहिए।

अब की बार आकर फरीदी साहब का बगीचा देखने चलना है। और मौलवी अब्दुलहक साहब का स्कैच लिखना है इसलिये मैं उन्हीं के निकट ठहरूंगा।

चि० रामगोपाल बी० काम० में पास हो गया भानजा चि० प्रकाश मैट्रिक में द्वितीय डिवीजन में। इन सफलताओं के उपलक्ष्य में मिठाई आप सबके लिए सुरक्षित है।

श्री मलिकजी को नमस्ते, बच्चों को आशीष !

विनीत
बनारसीदास

पुनः—

आपको यह स्कैच पढ़ कर संकोच अवश्य होगा पर जनता की सेवा करने वालों को यह सहन करना पड़ता है। कीर्ति का खोखलापन आप भी जानती हैं और मैं भी । पर जनता की सेवा करने के लिए आवश्यक है पाठक-पाठिकाएं आप को जान जावें। मुझे तो प्रशंसा भी खूब मिली है और निन्दा भी, मीठें और

नमकीन की तरह दोनों जरूरी हैं। अपने लेखों में दो बातों का ख्याल रखता हूं। एक तो अपनी अन्तरात्मा के प्रति सच्चाई और दूसरों के प्रति सहृदयता युक्त न्याय। आशा है आप स्वस्थ और सकुशल हैं।

श्री शास्त्रीजी ने मेरठ में मेरी धोती और तौलिया रख ली है। तौलिया जो आपने दिया था उस पर तो उनका अधिकार हो सकता है, पर धोती तो ब्याज ही में रख ली।

बनारसीदास

टीकमगढ़
२६-८-४०

प्रिय बहन,

सादर प्रणाम !

प्रातःकालीन चाय के साथ मैंने "जून देदी" का स्कैच पढ़ा। अन्य कोई स्वाध्याय ग्रन्थ उस समय पास था नहीं—एमर्सन, थोरो इत्यादि का, इसलिए "मानवरत्न" को ही पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। संग्रह बहुत अच्छा है और उसके पीछे जो भावना है वह प्रशंसनीय है। अनेक बार मेरे मन में यह विचार उठा है कि पुस्तकों के भी जन्मोत्सव मनाये जाने चाहिये। यह क्रम प्रारम्भ कर भी दिया था। निकटस्थ वन में एक उत्सव मनाया भी था। Times Literary Suppliment और Gobar G'London की एकाध प्रति खरीद लिया करें। मैं तो इन्हें निरन्तर मंगाने लगा हूं। उससे पता लगेगा कि कितने उत्तम ढंग पर विदेशी पत्रों में आलोचना होती है। हमारे यहां तो आलोचना की पद्धति अभी तक नहीं पड़ पाई। दो-चार पंक्तियों में ही खूब तारीफ कर टाल देते हैं। मैं एक लेख लिखना चाहता था "दिल्ली के कोई साहित्यिक या सांस्कृतिक आत्मा भी है।" Has Delhi Got a soul ?

· · ·पुस्तक विक्रेताओं के यहां C. F. A. की जीवनी आ गई क्या?

विनीत
बनारसीदास

टीकमगढ़
२४-१२-४०

प्रिय बहन,

सादर प्रणाम !

आपका कृपा पत्र ठीक वक्त पर मिला। आज जन्मदिवस के अवसर पर आपका ही आशीर्वाद मिला है। दूसरों को मैंने लिखा भी नहीं था। अपने क्षुद्रातिक्षुद्र जन्म-दिवस का जिक्र सबसे करने की जरूरत ही क्या पड़ी थी—कभी पौष सुदी २ को मैं दिल्ली होऊंगा तब आपके बनाये हुए स्वादिष्ट भोजन करूंगा। चि० केशव व चि० भाषी के जन्म-दिवस कब पड़ते हैं, तभी हाजर हो जाऊं।

जीवन में इतनी अधिक चिन्ताएं रहती हैं कि आनन्दोत्सव के कोई अवसर खाली नहीं जाने चाहिए, इस समय मैं पूज्य पिताजी के लिए चिन्तित हूं। वे ८८ वर्ष के हैं और गुपली का पत्र आया है कि वे गिर पड़े हैं—उन्हें चोट आई है · · ·

५ वर्ष की अवस्था में वे एक अनाथ की हैसियत से अपनी ७ वर्ष की बहन के साथ यहां आये थे। उनके संयत जीवन के आदर्श को ग्रहण कर हम लोग कुछ सेवा कर सकते हैं। कक्का की औसत मासिक आय १०-१२ रही थी—पूरे ५५ वर्ष उन्होंने नौकरी की, १८७५ से १९३० तक।

मैंने भी निश्चय किया है कि उन्हीं की तरह स्वस्थ रहकर कुछ साहित्य-सेवा करूं। अब तक जो सेवा मुझसे बन पड़ी है वह अत्यल्प ही है—भविष्य में इससे दुगुना-तिगुना काम हो सकता है। मेरे मन की इच्छा है, कि अनेक लेखकों तथा लेखिकाओं के व्यक्तित्व के विकास में सहायक बनूं। यदि मेरे पास समय और साधन होते तो मैं घूम-घूम कर परिव्राजक की हैसियत से यही साहित्यक भिक्षु का काम करता, पर मेरे बन्धनों की कमी नहीं और समय का सदुपयोग भी नहीं कर पाता।

आशा है आप मेरी त्रुटियों से लाभ उठाकर स्वयं समय को विधिवत संगठित करेंगी। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक प्रातःकाल के ३।४ घंटे नियमित रूप से सरस्वती माता की उपासना के लिए न लगाए जायं, तब तक आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती।

ज्योतिष, और ज्योतिषियों पर मेरा विश्वास नहीं, फिर भी ७६ वर्ष ६ महीने कम उम्र नहीं है पर आप आशीर्वाद से उसे बढ़ाना चाहती हैं और सौ कर देना चाहती हैं। अच्छा आप प्रतिवर्ष एक दो किताबें लिखें तो मैं,—ज्योतिषी को रिश्वत देकर उम्र बढ़वा सकता हूं। हिन्दू धर्म में रिश्वत से मोक्ष भी मिल सकती है, उम्र बढ़वाना तो महज़ आसान है।

बच्चों को आशीष

मलिकजी को नमस्ते

बनारसीदास

टीकमगढ़

१२-११-४५

प्रिय बहन !

आपको कष्ट दे रहा हूं। चीड़ के बक्स में बन्द करा के कुछ कंधारी अनार, सेब और नाशपाती आदि तुरन्त बिल्टी रजिस्टरी से इस पते पर भेजिए :

श्री श्यामसुन्दर चतुर्वेदी
सेक्रेटरी म्युनिसिपल बोर्ड
ललितपुर; कुण्डेश्वर

रेलवे के दाम वहां ही चुका दीजिए। दस बारह रुपए के फल एक बार में भेजिए, हर आठवें-दसवें रोज—यदि कोई फल वाला राजी हो जाए तो उसे ही काम सौंप दीजिए · · अगर मुझे फलों के अभाव में बहुत तकलीफ न होती तो हर्गिज आपको कष्ट न देता—दाम महीने-के-महीने आपको अवश्य भेज दिया करूंगा। मंघाराम के एनर्जी बिस्कुट भी यदि हो सके तो इस पार्सल में अखबारों में लपेट कर, रख दीजिए।

टीकमगढ़

१७-११-४५

प्रिय बहन,

प्रणाम !

याद कीजिए बहुत दिनों से आपकी सेवा में कोई पत्र नहीं भेज सका। फलों वाली पार्सल नहीं

मिली। क्या कारण हुआ। शायद भेजी नहीं जा सकी? यदि ऐसी बात है, तब तो कोई चिन्ता की बात नहीं अन्यथा फिक्र की बात है कि, वह चली कहां गई?

बनारसीदास

टीकमगढ़
६-१२-४५

प्रिय बहन,

सादर प्रणाम !

मेरी समझ में उत्तम यह होगा कि आप अब 'फलों का पार्सल' नामक एक कहानी लिख दें। स्टेशन मास्टर के किसी कुटुम्बी को मलेरिया से उसमें दिखलाइये, और फिर फलों के पार्सल का उपयोग उसे करने दीजिये। विचारों को बड़ी तकलीफ रहती है। रात-रात भर जागना पड़ता है। बिस्कुट स्टेशनों पर बहुत तेज मिलते हैं और फलों का मिलना मामूली स्टेशनों पर तो असम्भव है। "गाड़ी छोड़ो" 'शंटिंग' "सिगनल" गिराना इत्यादि की ध्वनि से नर्वस सिस्टम उनका कमजोर हो जाता है। ऐसे संकटमय अवसर पर फलों का आगमन ईश्वरकी महान देन है। इसलिये हम लोगों को खूब प्रसन्न होना चाहिए कि किसी स्टेशन वाले के घर पर अच्छी दावत हुई होगी।

उस दावत की खुशी में हम लोग एक दिन चाय पार्टी देंगे।

गोर्की की एक कहानी जिसमें स्टेशन मास्टर का ही प्लाट है भेजूंगा।

आप कहानी जरूर लिखिये। पुनः यह दावत मेरी ओर से ही होनी चाहिए।

बनारसीदास

टीकमगढ़
१९-१२-५१

प्रिय बहन,

प्रणाम !

पुस्तक छप गई। अमर कटंक में अमिट रेखाओं की चर्चा से मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ किन्तु मैं तो उसे रंगीन सचित्र देखना चाहता था—अभी तो वह आश्रम की तपस्विनी कन्या के समान है। अगले संस्करण में कीजिए।

श्री अग्रवालजी के दिल्ली छोड़ जाने से दिल्ली के साहित्यिक जीवन को निस्सन्देह धक्का लगा होगा। वस्तुतः दिल्ली राजनीति का गढ़ है और वहाँ पर साहित्यिक पौधों को उगाने में बहुत श्रम पड़ेगा। पर हम लोगों को निराश तो नहीं होना है और अपना काम करते रहना है। तथापि अग्रवाल जी जैसे असाधारण व्यक्ति के प्रवास से जो घाटा दिल्ली को हुआ है उसका लेखा-जोखा तो रखना ही चाहिए।

आचार्य विनोबा का यह आदेश था कि मुझे यह स्थल छोड़ना नहीं चाहिए। इसीलिये मैं यहां रुक गया हूं। कभी मन में आता है उधर की ओर निगाह करूं पर निकटस्थ नहीं। वन और मुक्त आकाश का मोह नहीं छूटता। भविष्य में क्या होगा कह नहीं सकता....

टीकमगढ़
२-१-५२

पूज्य बहन,

सादर प्रणाम !

कृपा पत्र मिला। दिल्ली को साहित्यिक दृष्टि से कैसे महत्वपूर्ण बनाया जाय ? इस प्रश्न पर यदि विभिन्न व्यक्तियों के विचारों का संग्रह हो जाय तो चुनाव-संग्राम के बाद हम सब एक स्थान पर बैठ कर चाय पीते हुए कुछ रचनात्मक चर्चा कर सकते हैं।

पार्टियों में तो कम-से-कम खर्च करना चाहिए। यानी दो प्याले चाय और कुछ नमकीन बस ! किसी भी हालत में तीन आने प्रति व्यक्ति से अधिक खर्च न पड़ना चाहिए। बेहतर तो यह होगा कि पहले कुछ छोटी-छोटी ४–५ व्यक्तियों की चाय पार्टियां हो जायं और तब एक सामूहिक चाय पार्टी हो। साहित्यिकों का मिलन किसी विशेष उद्देश्य से ही होना चाहिए।

मार्च में हम लोग दिल्ली में मिल सकते हैं तब तक ज्वर भी उतर जायेगा।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

फीरोजाबाद
जिला आगरा
२४-३-६४

पूज्य बहन !

दिल्ली के बारह वर्ष इतनी जल्दी बीत जायंगे—यह अनुमान भी न था। दिल्ली पहुंच कर जिस दिन आपके यहां "हिन्दी भवन विषयक मीटिंग" हुई थी—तब से मुख्य भार आप पर ही रहा है। थोड़ी-सी सेवा भवन द्वारा नई दिल्ली वालों की हो गई। यही हम लोगों के लिए सन्तोष की बात है। अब उसे निरन्तर ग्रान्ट मिल रही है यह हर्ष का विषय है। पर पहले तो कितनी बार रात को इसी चिन्ता से नींद नहीं आई कि बढ़ा हुआ किराया कैसे चुकेगा ? आंख के आपरेशन के दिनों भी मुझे चिट्ठियां लिखनी पड़ीं। दिल्ली खाली हाथ आया था और वैसे ही लौटा हूं···मलिकजी को प्रणाम कपिल केशव को आशीष !

विनीत
बनारसीदास

फीरोजाबाद
२२-५-६६

पूज्य बहनजी,

सादर प्रणाम !

रूस का पासपोर्ट मिल गया है—और मैंने चेचक तथा कालरा के टीके भी ले लिये हैं। ८ जून को सवेरे ७।। बजे पालम के हवाई अड्डे से मास्को जाना है।

मेरा विचार ६ जून सोमवार को अपर इंडिया से दिल्ली पहुंचने का है। दो दिन आपके ही आश्रय में रहूंगा। और कहीं भी मुझे सुविधाजनक नहीं हो सकता।

७४वें वर्ष में जब कि मेरा स्वास्थ्य साधारण ही है मैं यथासम्भव यात्रा करता ही नहीं, पर रूस के शहीदों का वृतान्त जानने के लिए इस तीर्थ-यात्रा का निश्चय कर लिया है। यह कार्य विस्तृत है। पंद्रह दिन में तो इसकी एक झलक ही मिल सकती है। हां क्रॉपॉटकिन की समाधि पर फूल चढ़ाऊंगा और गोर्की की पुत्रवधू के दर्शन करूंगा। लेनिनग्रेड तो जाना ही है वारान्निकोव के परिवार से मिलना है।

नेहरू मैमोरियल भी देखना है ।

'श्रीधर पाठक-अंक' आपको पसन्द आया, पढ़ कर हर्ष हुआ।

यहां गर्मी खूब पड़ रही है नैनीताल जानबूझ कर नहीं गया।

बनारसीदास

---

२१ प्राइवेट वार्ड
सरोजिनी नायडू अस्पताल
आगरा
१५-६-१९६९

पूज्य बहनजी,

प्रणाम !

आपका कृपा पूर्ण पत्र मिला। मैं ७ ता० से यहां दाखिल हूं। डाक्टरी जांच हो रही है। अब तक तो सन्तोषजनक है। आशा है आपरेशन सफल होगा यद्यपि अभी कराने में कष्ट तो होगा ही, क्योंकि मौसम गर्मी का है। पर बरसात आने ही वाली है।

मैं दिल्ली में बिताये बारह वर्षों की याद प्रायः कर लेता हूं और आप लोगों के सहृदयता पूर्ण व्यवहार की भी । पिछले चौंतीस वर्षों में मुझे एक भी अवसर ऐसा याद नहीं आता, जब कि आपने मेरा स्नेहपूर्ण आतिथ्य न किया हो, बल्कि मैं तो अतिथि के बजाय कुटुम्ब का ही एक व्यक्ति माना जाता था।

मुझे विश्वास है कि अभी कुछ दिन और भी जीवित रह कर कुछ सेवा कर सकूंगा। जून की सरस्वती में मेरा स्व० सम्पूर्णानन्दजी विषयक लेख कृपया पढ़ लीजिए। उन्होंने 'हिन्दी भवन' को (१५००) पन्द्रह सौ रुपए दिये थे। ५४ वर्ष से उनसे सम्बन्ध था। उनके स्मृति-ग्रन्थ के लिए प्रयत्नशील हूं।

आपकी Talk (प्रेमचन्दजी पर) अभी प्रकाशन विभाग की पुस्तक में पढ़ रहा हूं। पुस्तक का नाम है "उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द" ।

श्रीमान मलिकजी को नमस्ते।

विनीत
बनारसीदास

हजारीप्रसाद द्विवेदी के नाम

२१, प्राइवेट वार्ड
एस० एन० हास्पिटल, आगरा
२७-७-६९

प्रिय द्विवेदीजी,

सादर प्रणाम !

सहृदयतापूर्ण कृपा-पत्र के लिए कृतज्ञ हूं। मेरा आपरेशन उपयुक्त रक्त न मिलने के कारण अगस्त के द्वितीय सप्ताह तक के लिए टल गया है, पर उसके बारे में मैं सर्वथा निश्चिन्त हूं। 'चिन्ता निधन औषधि' पी रहा हूं।

हां, अपने संग्रहालय की कुछ फिक्र मुझे अवश्य है। १९१२ से मैं कलम घसीट रहा हूं और पिछले ५७ वर्षों में सहस्रों ही रुपये मैंने पत्र-व्यवहार पर 'नष्ट' किये होंगे। परिणामस्वरूप पत्रों का संग्रह इकट्ठा हो गया है। यही मेरी जीवन भर की कमाई है––मेरे पास बैंक में या कहीं भी न एक पैसा है न जमीन जायदाद। मेरी इच्छा थी कि अपने संग्रहालय को बेचकर घर के गिरे हुए हिस्से को बनवा देता पर उसमें तो १५–२० हजार का व्यय हो जायंगे।

महात्मा गांधी के १०१ मूल पत्रों के १८७ पृष्ठ मेरे संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

दीनबंधु सी० एफ० एन्ड्रयूज की १९२१ तक की संपूर्ण सामग्री पचासों पत्र। रोम्लां रोवां के तीन पत्र।

भारत के सर्व श्रेष्ठ पत्र-लेखक श्रीनिवास शास्त्री के ४० पत्र।

मौलवी अब्दुलहक साहब के ४० पत्र।

आचार्य महाबीरप्रसाद द्विवेदी के ७० पत्र।

नवीनजी के ९ पत्र।

प्रेमचंदजी के २० पत्र।

श्रीधर पाठक के जीवन चरित्र की सामग्री।

स्व० गुप्त-बन्धुओं के दर्जनों पत्र।

हरिशंकर शर्मा के ३०० पत्र।

वंशीधरजी के ३०० पत्र।

स्वयं आपके सभी पत्र।

स्व० वासुदेवशरण जी, मुंशी अजमेरीजी, माखनलालजी, पीर मुहम्मद यूनिस, शिवपूजनसहायजी, सैयद अमीरअली मीर प्रभृति के पत्र छपवा चुका हूं। अन्य लेखकों के सहस्रों पत्र हैं। गरज यह कि पिछले ५७ वर्ष के हिन्दी लेखकों के हृदय का स्पन्दन कुछ अंशों में ही सही, मेरे संग्रहालय में सुरक्षित है। मेरे घर का उत्तम भाग ५ कमरे उसी से भरे पड़े हैं। जैसा कि मैं लिख चुका हूं "कौड़ी न रख कफन को" मेरे जीवन का मोटो है। उससे मेरी आत्मा को पूर्ण सन्तोष है। षड रिपुओं में प्रथम रिपु से ही झगड़ा करने में सारी जिन्दगी बीत गयी––तृतीय रिपु 'लोभ' का नम्बर ही नहीं आया।

इस संग्रहालय की व्यवस्था कैसे की जाय ? यह प्रश्न मेरे सामने है।

किसमें इतनी कल्पना शक्ति है, जो उसके महत्व को समझ सके। चूना, कंकड़, ईंट, पत्थर के भवनों की कद्र करने वाले भला गांधीजी के हाथ के लिखे १८७ पृष्ठों के मूल्य को कैसे आंक सकते हैं ?

स्काटलैण्ड के कवि राबर्ट बर्न्स की एक कविता ६००० डालर में बिकी थी। कलकत्ते में हिंदी भवन के निर्माण का आन्दोलन मैंने ही चलाया था। यदि कलकत्ते वाले चाहें तो मेरे संग्रहालय को खरीद सकते हैं। एक समय आवेगा जब गांधीजी के प्रत्येक पत्र को अमूल्य माना जायगा। पर मैं किसी के सामने हाथ पसारना नहीं चाहता। स्वयं मेरे घर में ९ एम० ए० हैं, ३ पी०-एच डी०, कई लेखक भी हैं। वे मेरे क्षुद्र संग्रहालय की रक्षा किसी न किसी प्रकार कर ही लेंगे, यद्यपि उसका सर्वोत्तम उपयोग उनके द्वारा होना कठिन ही है। भाई सैकसरियाजी का तो पहले से ही मैं बहुत ऋणी हूं, क्योंकि वे शहीदों के कार्य में मेरी सहायता निरन्तर करते रहे हैं।

यदि मेरे पास साधन होते, समय तथा शक्ति भर, तो किसी विश्वविद्यालय को इस सामग्री को दे देता और जीवन के शेष दिन उस विद्यालय में ही काट देता, पर अब यह असंभव है।

आपके यहां पत्रकार महाविद्यालय खुलने में तो २-३ वर्ष लग सकते हैं। प्रारंभिक वार्तालाप के लिए यदि आप लोग उचित समझें तो श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, ५५ काका नगर, दिल्ली को बुला सकते हैं। वे दो बार वर्किंग जर्नलिस्ट फेडरेशन आफ इंडिया के प्रधान रह चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों में भी जाते रहे हैं। काफी अनुभव है, पर वे किसी चक्कर में नहीं फंसना चाहते। मजदूर श्रेणी के व्यक्ति हैं—पूर्ण स्वाभिमानी और रामानंद चटर्जी की परंपरा के प्रेमी। वे मेरे शिष्य रह चुके हैं, यद्यपि अब वे मुझे बहुत कुछ सिखा सकते हैं। पर मेरा अनुमान है कि आपके विश्वविद्यालय में किसी को भी पत्रकारिता की शिक्षा के प्रारंभ करने की विशेष चिन्ता नहीं। न ५ लाख रुपये इकट्ठे होंगे, न विद्यालय खुलेगा। इसलिए इस प्रश्न को उठाना ही निरर्थक है। आदर्शवादी पत्रकारों के अभाव में जो सड़ा-गला मानसिक भोजन जनता को मिल रहा है, उसके बारे में कुछ न कहना ही ठीक होगा। अरबों रुपये की आयोजनाएं बनती हैं, पर इस प्रश्न पर कोई ध्यान नहीं देता। आखिर जनता को दिमागी खुराक देने वालों की योग्यता क्या है !

मुझे तो दर असल अब विश्राम ही करना चाहिए, फिर भी आप जैसे सुहृदों से विचार-परिवर्तन करने की इच्छा होती है।

विनीत
बनारसीदास

हरिमोहन श्रीवास्तव के नाम

९९ नार्थ एवेन्यू,
नई दिल्ली
१९-१२-६३

प्रिय भाई हरिमोहन लालजी

सस्नेह प्रणाम।

आपके श्रद्धापूर्ण पत्र के लिए कृतज्ञ हूं। आप हलवाई को मिठाई खिलाना चाहते हैं यह तो अत्याचार है। इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि मैं कुल जमा ७१ वर्ष का हूं, ७२ वीं साल २४ दिसम्बर को शुरू कर रहा हूँ। मेरे पूज्य पिताजी ९३ वर्ष जीवित रहे थे और मैं भी परलोक यात्रा को टिकिट कटाने की जल्दी में नहीं हूँ। इसलिये आपके प्रस्ताव का मैं समर्थन नहीं कर सकता। जब H. G. Wells की ७९ वीं वर्षग़ांठ पर उनका अभिनन्दन किया गया तो उन्होंने उपस्थित बन्धुओं से कहा था :

"बाल्यावस्था में शाम के वक्त मेरी धाय मुझसे कहती थी Henry, it is now time to sleep," वैसी ही बात आप लोग मुझसे कह रहे हैं—It is early to honour me.

आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि इसी डाक से आपके पत्र के साथ आगरे से श्री तोताराम पंकज तथा डा० हरिशंकर शर्मा का पत्र आया है कि वे लोग मेरा अभिनन्दन करना चाहते हैं। यही नहीं, यहां के श्री बांकेबिहारी भटनागरजी २४ ता० को समय, शक्ति तथा पैसे के अपव्यय पर तुले हुए हैं।

मैं कोई महात्मा नहीं। यदि लोग मेरी कद्र करें तो मुझे उससे हर्ष और सन्तोष ही होना चाहिये, पर उसका एक तरीका होता है। यह अपनी अपनी रुचि का प्रश्न है। मैं इस बात को पसन्द नहीं करता कि लोग कीर्ति की मिठाई प्रदान करें, क्योंकि वह मुझे बहुत ज्यादा मिल चुकी है और उसके फीकेपन को मैं भली-भांति जानता हूं।

यदि बुन्देलखंड जनपद के पशु, पक्षी, नदी, वन, सरोवर, पर्वत और जनपद-किसान, मजदूर तथा लेखकों-कवियों तथा अन्य क्षेत्रों के प्रतिनिधि स्त्री-पुरुष के विषय में कोई अच्छा ग्रन्थ हो तो मैं उसमें भरपूर सहयोग दे सकता हूं। पर उसके लिए पैसा जमा करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। मेरे शिष्य महाराज ओरछा कभी के चले गये, नहीं तो वे इस यज्ञ को पूरा करने में सहायक होते। मेरा व्यावहारिक सुझाव यह है कि हमलोग प्रत्येक जिले का अभिनन्दन करें। दतिया के नरेशों में जिन्होंने उल्लेख-योग्य कार्य किये हों, उनका, गामा का, सेंवढ़ा के जल-प्रपात का, कवियों का अभिनन्दन होना चाहिये और दतिया की नदियों और वनों का, फ़लक साहब और आप सब लोगों का अभिनन्दन होना चाहिये।

दतिया के विषय में उस प्रकार की चीज निकालने में कुछ पैसा भी स्थानीय व्यक्तियों से मिल जायगा। उनके चित्र-चरित्र छापिये। मुझे याद पड़ता है कि आपने पहले भी इस दिशा में प्रयत्न किया था। अब उसीका दूसरा संस्करण विस्तृत रूप में निकाल दीजिये। यही मेरा सर्वोत्तम अभिनन्दन होगा।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

खंड : पांच

●

योजन और संयोजन

●

हिन्दी-जगत में चतुर्वेदीजी ने बहुत-से लोकोपयोगी आंदोलनों का सूत्रपात और संचालन किया है। 'कस्मैदेवाय', 'घासलेटी साहित्य', 'प्रवासी भारतीय' 'जनपदीय आंदोलन', 'बुन्देलखण्ड प्रांत-निर्माण', 'श्रमजीवी पत्रकार', 'शहीदों की कीर्त्ति-रक्षा', आदि से हिन्दी-प्रेमी भली-भांति परिचित हैं। वस्तुतः, चतुर्वेदीजी के सामने कोई-न-कोई जन-कल्याणकारी ध्येय रहता है और वह न केवल योजना बनाकर संतुष्ट हो जाते हैं, अपितु उसे कार्यान्वित करने-कराने का भी प्रयत्न करते हैं। इस खण्ड में कतिपय योजनाओं तथा आंदोलनों की झांकी प्रस्तुत की गई है।

मन्मथनाथ गुप्त

भारतीय क्रान्तिकारी : आन्दोलन एक झांकी–१

स्वराज्य होने के ऐन बाद लगभग २० साल पहले मैंने एक लेख में यह लिखा था कि जिन क्रान्तिकारियों की कहानी मैं इस छोटे-से लेख में कहने जा रहा हूं उनमें एक तरफ तो वे लोग भी हैं जिन्हें बिल्कुल आतंकवादी कहा जा सकता है और दूसरी तरफ वे क्रान्तिकारी हैं जो सब तरह से समाजवाद की विचारधारा को अपना चुके थे। क्रान्तिकारी आन्दोलन पर विचार करते हुए यह भावना बार-बार आती है। पर इससे केवल यही पता लगता है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन में कैसे-कैसे लोग थे। पर इस आन्दोलन का इतिहास पर क्या असर हुआ और स्वतंत्रता-संग्राम में इस आन्दोलन का स्थान क्या है; यह इस कथन से सामने नहीं आता।

अक्सर लोग इस बात को भूल जाते हैं कि १९१९ के पहले भारत में स्वतत्रन्ता-संग्राम के नाम पर जो कुछ भी था, वह केवल क्रांतिकारी आन्दोलन ही था यानी प्रथम ६० या ६२ साल के स्वतन्त्रता संग्राम में (मैं १८५७ से गिन रहा हूं) क्रांतिकारी आन्दोलन ही भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध एकमात्र संग्राम था। यदि कोई निष्पक्ष होकर भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का इतिहास लिखना चाहे तो १९१९ के पहले केवल क्रांतिकारियों की ही कहानी लिखनी पड़ेगी, क्योंकि बाकी जो लोग राजनीति के क्षेत्र में थोड़ा-बहुत काम कर रहे थे, वे और कुछ भी हों, किसी प्रकार का संग्राम नहीं कर रहे थे। केवल साल में एक बार बड़े दिन की छुट्टियों में एकत्र होना और उस अवसर पर ब्रिटिश सरकार की नौकरियों में पहले से अधिक हिस्सा मांगना किसी भी हालत में स्वतंत्रता-संग्राम नहीं कहा जा सकता था। १९१९ के पहले जो कुछ भी घटना संग्राम के ढंग की हुई, वह क्रांतिकारियों के द्वारा ही हुई।

इस प्रथम युग में क्रांतिकारी आन्दोलन ने न जाने कितने दार्शनिक, विचारक, वीर पैदा किये। बहुत-से लोग यह सुनकर चौंकेंगे कि लोकमान्य तिलक क्रांतिकारी विचारधारा के ही एक चिन्तक थे, पर इसी रूप में इन्होंने अपने राजनीतिक जीवन का आरम्भ किया था। क्रान्तिकारी विचारधारा के सिवाय उनके सामने और कोई विचारधारा नहीं थी, क्योंकि मनुष्य-जाति के सारे इतिहास में दूसरी जाति के हाथों पिसती हुई किसी जाति के लिए क्रान्ति के अलावा कोई और मार्ग नहीं था। यह स्मरण रहे कि लोकमान्य तिलक को पहली बार जो राजनीतिक कैद के रूप में सजा हुई वह क्रांतिकारी विचारों के कारण ही हुई थी। उन पर यह अभियोग लगाया गया था कि उन्होंने महाराष्ट्र के क्रांतिकारियों याने चाफेकर बन्धुओं और नाटू बन्धुओं आदि के लिए नैतिक बारूद प्राप्त की थी। इसके कई साल बाद उन्हें फिर जब १९०८ में सजा हुई, तो इस कारण हुई कि उन्होंने बंगाल के प्रसिद्ध नवयुवक शहीद खुदीराम की प्रशंसा की थी और इसी सम्बन्ध में उन्हें ६ साल की सजा दी गई थी। खुदीराम बहुत कम उम्र में फांसी के तख्ते पर चढ़ गये थे और जिस समय वह फांसी पर चढ़े थे तो उनके गले में गीता की एक प्रति लटक रही थी। खुदीराम तरुण

भारत के युग-मन को प्रतिफलित कर रहे थे और तिलक ने अपने 'केसरी' नामक पत्र में उनका अभिनन्दन किया था। इसी के लिए तिलक को ६ साल की सजा मिली थी । तिलक को यह जो सजा दी गई उसकी सब तरह से निन्दा की गई। बम्बई में इस पर एक हड़ताल भी हो गई थी । रूस के महान क्रान्तिकारी नेता लेनिन जो हजारों मील दूर बैठे हुए थे, उन्होंने प्रोलेटारी (सर्वहारा) नामक अपने पत्र के २३ जुलाई के अंक में यह लिखा था--"भारत में अब सड़कें भी अपने लेखकों और राजनैतिक नेताओं के पक्ष में उठ खड़ी हुई हैं। अंग्रेजी सियारों ने भारतीय लोकतन्त्रवादी तिलक को जो भयंकर सजा दी थी और उन्हें जिस प्रकार दीर्घ काल तक देशनिकाले ही सजा हुई है, इस प्रकार से थैलीशाहों के नौकरों ने लोकतंत्रवाद के विरुद्ध जो बदला मूलक कदम उठाया है उससे बम्बई की सड़कों में प्रदर्शन हुए और हड़ताल हुई।"

इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक योद्धा के रूप में तिलक को कितना बड़ा स्थान मिला हुआ था। अब की बार तिलक जब जेल में रहे तो उन्होंने गीता पर अपनी टीका प्रस्तुत की। हम पहले ही बता चुके हैं कि उन दिनों गीता क्रांतिकारियों के लिए एक अनुप्रेरक साहित्य के रूप में काम कर रही थी और खुदीराम गीता गले से लटका कर हँसते हुए फांसी पर चढ़ गये थे।

अब श्री अरविन्द घोष को लिया जाय जो इस समय संसार के आध्यात्मिक क्षेत्र में बहुत बड़ी हस्ती माने जाते हैं। उन्होंने भी क्रान्तिकारियों के एक नेता तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन के एक विचारक के रूप में अपने सार्वजनिक जीवन का आरम्भ किया था। उनके विरुद्ध सरकार कोई मुकदमा प्रमाणित नहीं कर सकी इसलिए वह जेल नहीं भेजे जा सके। इसका एक कारण तो यह बताया जाता है कि देशबन्धु चित्तरंजन-दास ने एक नये वकील के रूप में बहुत जोरों से बड़ी होशियारी के साथ पैरवी की थी। अरविन्द के भाई वारीन्द्र घोष को अलीपुर षड्यंत्र के रूप में आजन्म कालेपानी की सजा मिली थी । अरविन्द भाग कर पांडिचेरी पहुंच गये, जो उस जमाने में एक फ्रैंच इलाका था और निराश होकर वह भजन-पूजन में ही लग गये। शचीन्द्रनाथ सान्याल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'बन्दी जीवन' में एक अंग्रेज कवि की चार पंक्तियां अरविन्द के इस प्रकार क्रान्तिकारी दल का नेतृत्व छोड़ कर भाग जाने पर उद्धृत की हैं, जो इस प्रकार हैं :

वह पहाड़ों में समा गया,
वह जंगलों में खो गया,
झरना अपने में ही सूख गया,
उस समय जब कि उसकी जरूरत बहुत भारी थी।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि श्री अरविन्द के शिष्य उनके जीवन के क्रान्तिकारी पर्व पर विशेष रोशनी नहीं डालते, पर ऐसा हो सकता है कि इतिहास बाद को चल कर उनको सिर्फ इसलिए याद रखे कि उन्होंने एक महान संकट के समय देश को क्रान्तिकारी नेतृत्व दिया था।

श्री अरविन्द ने भी गीता की एक व्याख्या प्रस्तुत की जिसका नाम हैं 'गीता पर निबन्ध' । गीता की क्रान्तिकारी व्याख्याओं में इस पुस्तक को गिना जा सकता है। मैंने पहले ही बताया कि किस प्रकार गीता का संबंध खुदीराम के रक्त से हो चुका था। इसलिए यह ताज्जुब नहीं है कि जब गांधीजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी मोड़ से हटा कर दूसरा मोड़ देना चाहा, तो उन्होंने गीता पर 'अनासक्तियोग' नाम से एक व्याख्या लिखी। इसमें उन्होंने गीता से अहिंसा का समर्थन किया और यों कहा कि कुरुक्षेत्र का युद्ध

असल में कोई युद्ध नहीं था, यह तो मन और इन्द्रियों का युद्ध मात्र था। अस्तु। इस प्रकार हम देखते हैं कि तिलक और अरविन्द जिनका व्यक्तित्व किसी भी प्रकार गांधीजी से घट कर नहीं था, क्रान्तिकारी के रूप में सामने आये थे। यद्यपि इनमें से दोनों किसी-न-किसी हद तक बाद को क्रान्तिकारी धारा से हट गये थे, पर यह बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। हमारे यहां के कुछ दूसरे नेताओं के साथ भी यही बात हुई; जैसे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जो बंगाल के एक समय बेताज के बादशाह समझे जाते थे, विपिनचंद्र पाल और लाला लाजपतराय। यदि इन नेताओं के प्रारम्भिक लेखों और उक्तियों को पढ़ा जाय, तो मैं जिस बात को सामने रखने की चेष्टा कर रहा हूं वह प्रमाणित हो जायगी। बात यह है कि क्रान्तिकारी चिन्तकों के रास्ते में पग-पग पर जिस प्रकार कांटे बिछे हुए थे और हर मोड़ पर जिस तरह विपत्तियों से लोहा लेना था, इन्हें देखते हुए लोगों का क्रान्तिकारी मार्ग से हट जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। सभी क्रान्तिकारी ऐसे लोहे के तन्तु के अधिकारी नहीं होते जैसे दूसरे देशों के मार्क्स या लेनिन या हमारे यहां के मादाम कामा, शचीन्द्रनाथ सान्याल, सोहनसिंह, गुरुमुखसिंह इत्यादि। ये नाम कुछ थोड़े-से क्रान्तिकारियों के नाम हैं, जो अन्त तक अन्याय के विरुद्ध भयंकर रूप से संग्राम करते रहे।

१९१९ के पहले तिलक और अरविन्द के अलावा क्रान्तिकारी आन्दोलन ने दूसरे साहसिक चिन्तकों और शहीदों को उत्पन्न किया; जैसे श्यामजी वर्मा, सावरकर, चाफेकर बन्धु, हरदयाल, रासबिहारी बोस, वारीन्द्र घोष, करतारसिंह, पिंगले, गेंदालाल दीक्षित, यतीन्द्रनाथ मुखर्जी, एम० एन० राय, महेन्द्रप्रताप, कन्हाईलाल, बरकतउल्ला, ओबेदुल्ला, भूपेन्द्रनाथ दत्त (स्वामी विवेकानन्द के भाई)। मैंने इस सूची में १८५७ के वीरों तथा वहाबी क्रान्तिकारियों तथा कूका विद्रोह के नेता रामसिंह को नहीं गिनाया है।

अब हम इस सूची पर एक दूसरे ढंग से विचार करें। यदि अंग्रेज प्रथम महायुद्ध में हार जाते तो यह निश्चित है कि इनमें से कुछ लोग भारत का शासन-सूत्र या तो स्वयं सम्हाल लेते या इन्हें जर्मन राष्ट्रकुल या ऐसे किसी नाम के अन्तर्गत अर्ध स्वराज्य देकर मन्त्रिमंडल बनाने के लिए कहा जाता। इस मन्त्रिमण्डल के प्रधानमन्त्री के रूप में तिलक या अरविन्द होते। यदि यह मन्त्रिमण्डल बनता तो नेहरू के बिलकुल मध्यम श्रेणी के मन्त्रियों और कई हालतों में बेईमान मन्त्रियों से ये मन्त्री अच्छे होते। इसके अलावा हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि इन क्रांतिकारियों को मौका मिलता तो उनका व्यक्तित्व और विकसित होता जब कि हुआ यह कि उनको मौका नहीं मिला और हर कदम पर संसार के सबसे क्रूर साम्राज्यवाद ने उनका पीछा किया। नतीजा यह हुआ कि उनका व्यक्तित्व बढ़ तो पाया ही नहीं, वह कई क्षेत्रों में अपकृष्ट की ओर चले गये।

कुछ भी हो, यह बात तो सर्वसम्मत है कि १९१९ से पहले क्रान्तिकारी आन्दोलन ही भारत में एकमात्र जंगजू आन्दोलन था। बाकी जो आन्दोलन थे यानी कांग्रेस और उसके इर्द-गिर्द के आन्दोलन उन्हें हम भिक्षा-पात्र का आन्दोलन कह सकते हैं। १९१९ से गांधीजी का प्रभाव बढ़ गया और उन्होंने कांग्रेस को एक जन-संगठन में बदल दिया और तब क्रान्तिकारियों ने उनके प्रति सम्मान की दृष्टि से अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया। पर गांधीजी का आन्दोलन अभी थोड़े ही दिन चल पाया था कि उन्होंने चौरीचौरा की घटना के बहाने आन्दोलन बन्द कर दिया। चौरीचौरा में ऐसा हुआ था कि एक जुलूस निकल रहा था जिसमें निहत्थे गांव वाले थे। पुलिस वालों ने इस जलूस से तितर-बितर होने को कहा। पर सत्याग्रही होने के नाते इन लोगों ने तितर-बितर होने से इन्कार कर दिया। तब पुलिस वालों ने उन पर गोलियां चलाईं और तब तक

वे गोलियां चलाते रहे जब तक कि उनके पास गोलियां खत्म न हो गईं। और फिर पुलिस वाले भाग कर थाने के अन्दर घुस गये। तब गांव वालों में से कुछ लोगों ने उनको बाहर निकलने के लिए कहा। जब वे बाहर नहीं निकले तो उन्होंने थाने में आग लगा दी, जिससे वे सारे पुलिस वाले जल कर मर गये।

जब क्रान्तिकारियों ने देखा कि गांधीजी ने बिना यथेष्ट कारण के अपना प्रयोग बन्द कर दिया और क्रान्ति की पहली लपट देखते ही वह पीछे हट गये, तो उन लोगों ने भी फिर से अपना आन्दोलन चालू किया। इस प्रकार अब परिस्थिति यह हो गई कि गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस का आन्दोलन चलता रहा। हर १० साल बाद एक आन्दोलन चलाया जाता था। साथ ही क्रान्तिकारी आन्दोलन भी चलते रहे। कई बार ये दोनों आन्दोलन एक दूसरे से प्रभावित भी होते थे; जैसे लाला लाजतपतराय पर जब लाठियां पड़ीं और उसके फलस्वरूप वह कुछ दिनों बाद मर गये, तो भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद ने उनका बदला लिया। इस सम्बन्ध में बात यह स्मरण रखना चाहिए कि १९२१ का असहयोग आन्दोलन भी रौलट विधेयक से ही निकला था और रौलट विधेयक रौलट कमेटी की रिपोर्ट से प्रस्तुत किया गया था। रौलट कमेटी केवल क्रान्तिकारियों के आन्दोलन को समाप्त करने के लिए बैठाई गई थी।

ये दोनों आन्दोलन अंग्रेजों से अपने-अपने ढंग से १९३५ तक लोहा लेते रहे और तब प्रान्तीय स्वराज्य की योजना लागू की गई जिससे दोनों आन्दोलन बन्द हो गये। यह स्वाभाविक था। ऐसा कुछ साल तक चला, पर जब दूसरा महायुद्ध १९३९ में शुरू हुआ, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया, तब फिर से क्रान्तिकारी आन्दोलन और सत्याग्रह-आन्दोलन के लिए मौका पैदा हो गया। पर परिस्थितियां इस बीच इतनी बदल चुकी थीं कि पुराने रूप में न तो क्रान्तिकारी आन्दोलन ही इस परिस्थिति से लोहा ले सकता था और न गांधीजी का आन्दोलन ही इसमें कुछ असर पैदा कर सकता था। स्वयं गांधीजी ने भी यह कहा कि वह एक नई किस्म का आन्दोलन चलाना चाहते हैं। इसलिए हुआ यह कि ये दोनों आन्दोलन इकट्ठे मिल गये। गांधीजी बहुत दिनों तक सरकार से यह पूछते रहे कि तुम्हारा युद्धोद्देश्य क्या है, जब कि इस प्रकार पूछने की कोई बात नहीं थी। अन्त में गांधीजी को १९४२ में आन्दोलन चलाना पड़ा। इस बीच क्रान्तिकारी मुहूर्त बहुत कुछ निकल चुका था, फिर भी आन्दोलन ने भयंकर रूप धारण किया और इस आन्दोलन के दौरान क्रान्तिकारी आन्दोलन और सत्याग्रह आन्दोलन एक साथ कदम मिलाकर चले। तार काटे गये, पटरियां उखाड़ी गईं, रायफलें छीनी गईं। इस संबंध में यह स्मरण रहे कि १९४२ में चलाया हुआ आन्दोलन इतना अधिक क्रान्तिकारी हो गया और उस पर क्रान्तिकारियों का इतना अधिक रंग चढ़ गया कि जब गांधीजी कई सालों बाद जेल से छूटे तो उन्होंने इस आन्दोलन के पिता होने से इन्कार किया। जवाहरलाल अधिक चालाक निकले। पर इस संबंध में एक मजे की बात यह बताई जाय कि कांग्रेसियों के द्वारा बार-बार यह कहे जाने पर भी कि हम १९४२ का व्यौरेवार इतिहास लिखना चाहते हैं, इस आन्दोलन का इतिहास ही नहीं लिखा गया, क्योंकि देखा गया कि यदि इतिहास लिखा जायगा, तो वह सत्याग्रह और असहयोग का इतिहास न होगा बल्कि वह तो क्रान्तिकारी आन्दोलन का इहितास होगा।

एक तो नेताओं की ढुलमुल यकीनी के कारण फिर सबसे अच्छा मुहूर्त निकल गया था, फिर उसी जमाने में हिटलर ने रूस पर चढ़ाई कर दी जिससे भारतीय साम्यवादी जन-युद्ध का नारा देकर इस आन्दोलन से अलग हो गये। उससे क्रान्तिकारियों की शक्ति को बहुत हानि पहुंची। नतीजा यह हुआ कि यह आन्दोलन भी सफल नहीं हो सका। पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह आन्दोलन दब गया, बल्कि यह

आन्दोलन अण्डर ग्राउण्ड चला गया और वहां से यह घटनाओं को देखता रहा। इसी बीच सुभाषचन्द्र बोस चोरी से बर्लिन पहुंच गये और वहां से वह एक जर्मन पनडुब्बी में सिंगापुर पहुंच गये। इसके पहले ही महान क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस ने सिंगापुर में आजाद हिन्द फौज का संगठन किया था। सुभाष बोस के पहुंचते ही रासबिहारी ने खुशी से आजाद हिन्द फौज का नेतृत्व सुभाष बोस के हाथों में दे दिया। आजाद हिन्द फौज उसी स्वप्न को साकार करना चाहती थी जिससे १९१४–१८ की लड़ाई के दौरान भारत के बाहर बैठे हुए क्रान्तिकारी अनुप्रेरित हुए थे। आजाद हिन्द फौज ने मणिपुर में जाकर अपना झण्डा भी फहरा दिया पर इसका भाग्य जापानी सेना के साथ बंधा हुआ था इसलिए जब जापान हारने लगा तो आजाद हिन्द फौज को भी पीछे हटना पड़ा।

अन्त तक आजाद हिन्द फौज के लोग गिरफ्तार हो गये और उनके नेताओं को दिल्ली के लाल किले में लाया गया और उन पर मुकदमा चलाया गया। इतिहास कभी-कभी बहुत अद्भुत तमाशा करता है। पर इसमें हमें रहस्यवाद में भटक जाने की जरूरत नहीं है। असल में क्रान्तिकारी शक्तियां मौजूद थीं। नतीजा यह हुआ कि आजाद हिन्द फौज के अफसरों पर जो मुकदमा चला और उसका जो प्रचार हुआ उसी के कारण ब्रिटिश सरकार के अधीन काम करने वाली भारतीय फौज बिल्कुल भड़क गई। ब्रिटिश सरकार को अपने जासूसों से यह मालूम हुआ कि यदि इन अफसरों को सजा दी जायगी तो भारतीय फौज में बगावत हो जायगी। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया कि अब भारत छोड़ कर चल देना चाहिए और १९४७ में भारत स्वतन्त्र हो गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गिरते हुए साम्राज्यवाद को अन्तिम लात आजाद हिन्द फौज ने मारी। पर अंग्रेज भी जाते समय कई दुलत्तियां जड़ गये जिसमें सब से प्रमुख है देश का दो टुकड़े में बंटवारा कर देना। इस प्रक्रिया से यह दोनों देश कमजोर बना दिये गए और ऐसे तत्वों के लिए गुंजायश हो गई जिनसे भारत प्रगति की ओर नहीं जा सकता था। यदि ब्रिटिश सरकार चाहती तो और कुछ दिन गोरी फौजों की बदौलत भारत पर शासन कर सकती थी जैसा कि उसने मलाया आदि पर किया। पर उस हालत में स्वराज्य मिलने में भले ही दो-चार साल और देर हो जाती पर जो स्वराज्य होता वह अंग्रेजों के लिए बहुत ही खराब होता। उस हालत में अंग्रेजों को शक्ति के भूखे, बल्कि यों कहना चाहिए कि शक्ति के लिए सब तरह के मूल्यों को त्याग देने वाले नेताओं के हाथ में भारत और पाकिस्तान की बागडोर न छोड़ना पड़ता, बल्कि राष्ट्र की बागडोर क्रान्तिकारियों, फारवर्ड ब्लाक वालों, समाजवादियों तथा आजाद हिन्द फौजियों के हाथ में सौंपना पड़ता। और आज जिस प्रकार भारत में पहले से बहुत अधिक विदेशी पूंजी खट रही है और देश की आर्थिक लूट जारी है, वह नहीं हो सकती थी। गांधी, जिन्ना और नेहरू ने इस प्रकार स्वराज्य की बागडोर अपने हाथों में ले ली, पर इसके लिए उन्होंने बहुत-से मूल्यों तथा अन्य बातों का बलिदान किया। अभी-अभी खान अब्दुल गफ्फार खां से जिन बातों का पता लगा है उससे पता लगता है कि हमारे ये नेता शक्ति पाने के लिए किस तरह लालायित हो गये थे कि उन्होंने खान अब्दुल गफ्फार खां ऐसे कट्टर देशभक्त धर्मनिरपेक्ष को तथा उनके साथियों को मुस्लिम लीगी भेड़ियों के हाथों में सौंप दिया। गांधी, नेहरू और जिन्ना ने विभक्त भारत ग्रहण करके क्रान्ति के साथ विश्वासघात किया। केवल यही नहीं, उन्होंने अब्दुल-गफ्फार खां ऐसे लोगों को तिलांजलि देकर देश में बहुत घटिया तत्वों को पनपने का मौका दिया।

क्रान्तिकारी आन्दोलन ने देश को न केवल शहीद दिए, बल्कि विचारधारा के क्षेत्र में भी वह अग्रणी रहा। क्रान्तिकारी पूर्ण स्वतंत्रता का ध्येय कांग्रेस से पहले अपना चुके थे और उस पौधे को उन्होंने रक्त से सींचा था। मंगल पांडे से लेकर वहाबी और सावरकर सब पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। भगतसिंह और दत्त के

दल ने नेहरू से कहीं पहले समाजवाद का नारा दिया। स्वयं नेहरू ने इसकी बोली योरप जाकर एम० एन० राय और वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय से सीखी। एक क्रान्तिकारी एम० एन० राय ने भारत में साम्यवादी दल की नींव डाली। क्रान्तिकारियों ने ही राष्ट्रीयता के अन्तर्गत धार्मिक तत्वों को हटाकर उसमें समाजवादी तत्व भरे।

हमने ऊपर भूमिका के रूप में जो बातें कही हैं उसी को मैंने दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है और इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत को स्वतन्त्र करने का श्रेय केवल कांग्रेस को प्राप्त नहीं है, जैसा कि किराये के टट्टू इतिहासकारों और लेखकों द्वारा लिखी हुई पाठ्य पुस्तकों में दिखाया जा रहा है। यह षड्यन्त्र बहुत ही भयंकर क्रान्तिकारियों को इतिहास से बिल्कुल निकाल बाहर करने की चेष्टा है, पर मुझे विश्वास है कि यह षड्यन्त्र सफल नहीं होगा। अब अधिक-से-अधिक लोग यह जान रहे हैं कि असली तत्व क्या है और उनकी यह जिज्ञासा भी बराबर बढ़ती जा रही है।

मेरी लिखी हुई पुस्तक 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास' पहले पहल १९३८ में प्रकाशित हुई थी। यह फौरन जब्त हो गई थी और उसकी प्रतियां पुलिस ने ले ली थीं। इसी प्रकार मेरी एक और पुस्तक भी जिसमें क्रान्तिकारी आन्दोलन की व्याख्या की गई थी, जब्त कर ली गई थी। भारत स्वतंत्र होने के बाद पहली पुस्तक फिर से छपी और वह बार-बार छपती रही।

यह है थोड़े में उस आन्दोलन का इतिहास जिसके संबंध में हमने ब्यौरे में अन्यत्र लिखा है।

विदेशों में भारतीय क्रान्तिकारी–२

●

१८५७ के क्रान्तिकारियों ने विदेशी शक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर अंग्रेजों को निकालने का स्वप्न देखा था और इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ कार्य भी किया था। इस सम्बन्ध में बहुत-से ब्यौरे सभी को मालूम हैं। इसलिए मैं उसके विषय में कुछ नहीं कहूंगा। सिर्फ इतना ही कह कर आगे बढ़ जाऊंगा कि अक्सर यह जो कहा जाता है कि जवाहरलाल नेहरू ही अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखते थे, उसके पहले किसी का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं था, यह बात गलत है। भारत के क्रान्तिकारी इस बात को भलीभांति समझते थे कि कूटनीति का यह जो सिद्धान्त है कि दुश्मन-का-दुश्मन दोस्त होता है, वे उसे अच्छी तरह समझते थे और उस पर कार्य करने की चेष्टा करते थे।

भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में विदेशों में भारत के क्रान्तिकारियों ने क्या किया इसका ब्यौरा बहुत लम्बा है। मैंने अपनी पुस्तक 'भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास' में इस सम्बन्ध में कुछ अध्याय लिखे हैं, उनमें से कुछ ब्यौरा यहां प्रस्तुत किया जाता है।

१८५७ के विद्रोह के बाद शायद पहले-पहल क्रान्तिकारियों ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य अमरीका में किया। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी पाण्डुरंग खानुखोजे ने अमरीका में किस प्रकार से भारतीय क्रान्तिकारियों का कार्य शुरू किया, इसका पूरा ब्यौरा स्वयं लिख कर दिया था, खानखोजे ने यह लिखा था :

लगभग १९०७ के प्रारम्भ में अमेरिका के कैलिफोर्निया में जो भारतीय छात्र थे, उनमें से खगेन्द्रचंद्र दास, पांडुरंग खानखोजे, तारकनाथ दास, अधरचंद्र लसकर आदि ने मिल कर भारतीय स्वाधीनता-संघ की स्थापना की। उनका एकमात्र कार्य था अमेरिका में आकर बसनेवाले सिखों में प्रचार करना। सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए खानखोजे और लसकर माउंट कामाल मिलिटरी अकादमी में भरती हो गए।

अब डा० खानखोजे के शब्दों में ही सुनिये--"हम लोग वहां मेज पर खाना पहुंचाने वाले खानसामों का काम करते थे। इसी ढंग से हम वहां प्रवेश करने में समर्थ हुए। हमारे संघ और सिखों के सहयोग से रावलपिण्डी क्रान्तिकारी घोषणा-पत्रों का एक बण्डल लाला पिंडीदास को भेजा गया। इसके फलस्वरूप १९०७ में लालाजी पर मामला चला और उन्हें सात साल की कड़ी सजा हुई।

"१९०८ में कैलिफोर्निया के सेक्रामेंटों और आरगिल स्टेटों से पोर्टलैण्ड नामक स्थान में भी संघ का केंद्र स्थापित किया गया। इसके बाद कैनाडा में भी क्रान्तिकारी प्रचार शुरू किया गया। १९११-१२ में विख्यात कामा गोटा मारू जहाज ब्रिटिश कोलम्बिया के वैनकुवर में पहुंचा। कैनाडा के इमिग्रेशन कानून के अनुसार भारतीयों को ब्रिटिश प्रजा के रूप में कैनाडा में प्रवेश करने दिया जायगा या नहीं, इसी की परीक्षा करने के लिए इस जहाज को लिया गया था। सिख लोग कैनाडा आना चाहते थे और क्रान्तिकारियों का अपने साथ सम्पर्क रहने के कारण उन्हें अमेरिका लाना चाहते थे। पर उन्हें उतरने नहीं दिया गया। अन्त में इस जहाज के सिखों को कलकत्ता के पास बजबज में उतार दिया गया। युवक करतारसिंह इन दिनों एक विशेष कार्यकर्त्ता थे। उन्हें जहाज से यह समाचार मिला था कि सिख लोग जबरदस्ती करके भी तट पर उतरना चाहते हैं, पर सरकार ने उसमें बाधा पहुंचाई और कैनाडा के युद्धपोत ने इस जहाज को बन्दरगाह से समुद्र में भगा दिया। उन्हीं दिनों उन पर पीने के पानी का भी कष्ट पड़ा।"

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि भारत से गये हुए भारतीयों ने किस प्रकार से क्रान्तिकारी कार्य शुरू किया। डा० खानखोजे ने जो ब्यौरा प्रस्तुत किया है, उससे यह पता लगता कि वहां गदर पार्टी की ओर से बहुत-सा साहित्य भी प्रकाशित होता था। 'गदर पत्रिका' नाम से एक पत्रिका निकलती थी जो उर्दू, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी में प्रकाशित होती थी। साहित्य पठन और सृजन के अलावा क्रान्तिकारी बम बनाना, पिस्तौल-बन्दूक आदि चलाना तथा युद्ध-विद्या की शिक्षा प्राप्त करते थे। गदर पार्टी की तरफ से जो आन्दोलन देश के बाहर और देश के भीतर चला, उसका मुख्य वक्तव्य यह था कि भारत को जिस किसी प्रकार से हो, स्वतन्त्र करना है। इन लोगों ने इसके लिए विदेशी सरकार के साथ मिल कर षड्यंत्र किया। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि केवल भारतीय क्रान्तिकारी ही ब्रिटेन के दुश्मनों की सहायता प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे। सच्ची बात यों है कि ब्रिटेन के दुश्मन भी भारतीय क्रान्तिकारियों की सहायता प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे, और उसके लिए वह सब तरह की पहल कर रहे थे। प्रथम महायुद्ध के अन्त होने के बाद ब्रिटिश सरकार जब कुछ सम्हल कर बैठी, तो उसने रौलट कमेटी नाम से एक आयोग की स्थापना की। इस आयोग को यह कार्य सौंपा गया कि वह पूरी जांच करके यह बताये कि किस प्रकार क्रान्तिकारी आन्दोलन पनपा और उसे आगे किस प्रकार रोका जा सकता है। इस रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से लिखा है कि जर्मनी के कूटनीतिज्ञ इस प्रयास में लगे हुए थे कि भारतीय क्रान्तिकारियों के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित किया जाय। हम उसी में से कुछ हिस्सा उद्धृत करते हैं--

बर्नहार्डी ने 'जर्मनी और आगामी महायुद्ध' नामक अपनी पुस्तक में (१९११ के अक्टूबर में छपी थी) जर्मनी की यह आशा व्यक्त की थी कि 'वंगाल के हिन्दू, जिनमें स्पष्ट रूप से वे राष्ट्रीय तथा क्रान्तिकारी

विचार के हैं, हिन्दुस्तान के मुसलमानों से मिल जाय तो इनके सहयोग से दुनिया में ब्रिटेन की जो धाक और दबदबा है, उसकी नींव हिल जायं।' १९१४ के ६ मार्च को जर्मनी के सुप्रसिद्ध अखबार 'र्बलिनेर टागेब्लाट' ने एक लेख प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था, 'इंग्लैण्ड की भारतीय आफत।' इस लेख में दिखलाया गया था कि भारतवर्ष की स्थिति डांवाडोल है, तथा यहां गुप्त समितियां पनप रही हैं और बाहर से उनको मदद मिल रही है। खास करके इस लेख में यह कहा गया था कि कैलिफोर्निया में एक विराट चेष्टा इस अभिप्राय से हो रही थी कि भारतवर्ष को बमों तथा हथियारों से लैस किया जाय।

सैन फ्रांसिस्को षड्यंत्र—१९१७ के २२ नवम्बर को अमेरिका के सैन फ्रांसिस्को में एक मुकदमा चला। इसमें यह बात खुली कि १९११ के पहले हरदयाल ने जर्मन एजेंटों तथा यूरोप के भारतीय क्रान्तिकारियों की मदद से गदर पार्टी के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए एक बड़ा षड्यंत्र किया था। यह षड्यंत्र कैलिफोर्निया औरिगोन तथा वाशिंगटन में फैला हुआ था। इसमें यह प्रचार किया जाता था कि जर्मनी ही इंग्लैण्ड का विनाश करेगा।

जर्मनों ने, मालूम होता है, शुरू-शुरू में इस दल के लोगों से केवल इतना ही काम लिया कि वे ब्रिटेन के विरुद्ध भड़काने वाले साहित्य की सृष्टि करें। इस साहित्य का दिल खोल कर उन-उन जगहों में प्रचार किया गया, जहां-जहां समझा गया कि इससे ब्रिटेन को नुकसान हो सकता है। बाद को इन लोगों से दूसरे काम लिए जाने लगे। बरकतुल्ला को इसलिए नियुक्त किया गया कि जितने भी हिन्दुस्तानी फौजी आदमी जर्मनों के हाथ में गिरफ्तार हों, उनको ब्रिटिश-विरोधी बनाएं। इस प्रकार एक आजाद हिन्द फौज की नींव पड़ी। पिल्ले का तो यहां तक एतबार किया गया कि जर्मन सेना की गुप्तलिपि तक बता दी गई, इसको फिर उसने १९१६ में आमस्टरडम में अपने एक एजेंट को दिया जो अमेरिका होकर बैंकाक जा रहा था, जहां कि वह एक छापाखाना खोलता, जिसमें लड़ाई की खबरें छपतीं और चोरी से स्याम तथा बर्मा की सरहद में फैलाई जातीं। हेरम्बलाल गुप्त कुछ दिनों तक अमेरिका में जर्मनी का एजेण्ट था, और हेर बोहम से यह तय किया था कि वह स्याम में जाय, और वहां अपने लोगों को शिक्षा देकर बर्मा पर धावा बोल दे। गुप्त के बाद चक्रवर्ती अमेरिका के एजेण्ट हुए। उसकी नियुक्ति करते हुए जर्मन परराष्ट्र दफ्तर से यह पत्र दिया गया था:

बर्लिन
४ फरवरी, १९१६

जर्मन राजदूत-निवास,
वाशिंगटन,

भविष्य में हिन्दुस्तान के मुतल्लिक सब मामले डाक्टर चक्रवर्ती जो कमेटी बनाएंगे, केवल उसी की देख-रेख में होंगे। इस प्रकार वीरेन्द्र सरकार तथा हेम्बरलाल गुप्त, जो इस बीच में जापान से निकाल दिए गए हैं, भारतीय स्वाधीनता कमेटी के प्रतिनिधि नहीं रहे।

(द०) जिमेरमैन।

जर्मन जेनरल स्टाफ की भारत के संबंध में कुछ योजनाएं थीं। इन्हीं योजनाओं के संबंध में विशेषकर जब तक भारत के गैरमुस्लिम लोगों से ताल्लुक है, हम इस जगह पर आलोचना करेंगे। एक योजना मुसलमानों से ताल्लुक रखने वाली भी थी। वह सीमाप्रान्त में सीमित थी। दूसरी योजनाएं सैनफ्रांसिस्को की गदर पार्टी तथा बंगाल के क्रान्तिकारी दल के ऊपर निर्भर थीं। दोनों योजनाएं शंघाई के जर्मन कौंसिल-जन-

रल की देख-रेख में थीं, किन्तु इस मामले में वाशिंगटन के कौंसिल जनरल ही सबसे बड़े अधिकारी थे। अगस्त १९१५ में फ्रेंच पुलिस ने यह रिपोर्ट दी कि यूरोप-स्थित भारतीय क्रान्तिकारियों में आम विश्वास दीख पड़ता है कि थोड़े ही दिन के अन्दर भारतवर्ष में एक प्रबल विद्रोह होगा, और जर्मनी उसमें मदद देगा। बाद को जो कुछ लिखा जायगा, उससे पता लग जायगा कि ऐसी धारणा के लिए क्या-क्या कारण थे।

नवम्बर १९१४ में पिंगले नामक एक मराठा तथा सत्येंद्र सेन नामक एक बंगाली अमेरिका से सालामिस जहाज से आये। पिंगले उत्तर भारत में चले गए, जिससे वहां एक विद्रोह का संगठन किया जा सके। सत्येंद्र १५९, बहू बाजार स्ट्रीट में रहे।

१९१४ के आखिर में पुलिस को यह खबर मिली कि श्रमजीवी समवाय नाम की एक स्वदेशी कपड़े की दूकान के हिस्सेदार रामचन्द्र मजूमदार और अमरेन्द्र चटर्जी, जतीन मुकर्जी, अतुल घोष और नरेन भट्टाचार्य एक षड्यन्त्र कर रहे थे कि बड़ी तादाद में अस्त्र-शस्त्र इकट्ठे किये जायं।

१९१५ के आरम्भ में बंगाल के कुछ क्रान्तिकारियों ने यह तय किया कि जर्मनों की तथा अन्य प्रान्तों के तथा स्याम के क्रान्तिकारियों की सहायता से एक भारतव्यापी विद्रोह खड़ा किया जाय। इसके लिए यह हुआ कि धन डकैती द्वारा इकट्ठा किया जाय। तदनुसार गार्डन रीच और बेलियाघाटा में डकैतियां डाली गईं, इन दोनों से चालीस हजार रुपये क्रान्तिकारियों के हाथ लगे। १२ जनवरी और २२ फरवरी को ये डकैतियां की गई थीं। भोलानाथ चटर्जी इसके पहले ही बैंकाक इसलिए भेजे जा चुके थे, ताकि वहां के क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध स्थापित करें। जितेन्द्रनाथ लाहिड़ी मार्च के महीने में यूरोप से बम्बई लौटे। उन्होंने भारतीय क्रान्तिकारियों से कहा कि वे बटेविया में एक एजेन्ट भेजें। इस पर एक सभा की गई, जिसके फलस्वरूप नरेन भट्टाचार्य बटेविया भेजे गए, ताकि वे वहां के जर्मनों से बातचीत करें। वे अप्रैल में रवाना हो गए। अपना नाम बदल कर उन्होंने सी० मार्टिन रखा। उसी महीने में एक दूसरे बंगाली अवनि मुकर्जी जापान भेजे गए, और इन लोगों के नेता जतीन मुकर्जी बालासोर में जाकर छिप रहे क्योंकि गार्डन रीच और बेलियाघाट डकैतियों के बारे में बड़ी सख्त पड़ताल हो रही थी। उसी महीने में मावेरिक नामक जहाज केलिफोर्निया के सैनपेड्रो नामक स्थान से रवाना हुआ।

बटेविया पहुंचने पर मार्टिन के साथ जर्मन कौंसिल थियोडोर हेलफेरिख की जान-पहचान कराई गई, जिसने बतलाया कि करांची के लिए अस्त्रशस्त्रों का एक जहाज रवाना हो गया है, ताकि भारतवासियों को क्रान्ति में मदद दे सके। मार्टिन ने इस पर कहा कि यह जहाज कराची जाने के बजाग बंगाल जाय। शंघाई के कौंसिल जनरल से इजाजत लेने के बाद यह बात मान ली गई। मार्टिन इसके बाद बंगाल लौट आया, क्योंकि सुन्दरवन के राय मंगल नामक जगह पर जहाज को लेना था। कहा जाता है, इस जहाज में सब मिला कर ३०००० राइफलें, हर एक राइफल के लिए चार सौ कार्तूस और २ लाख रुपए थे। इसी बीच में मार्टिन ने हेरी एण्ड संस नाम की कलकत्ते की एक बोगल कम्पनी को तार दिया कि 'व्यापार ठीक है'। जून के महीने में हेरी एण्ड सन्स ने मार्टिन को रुपया भेजने के लिए तार दिया, फिर तो हेलफेरिख और हेरी एण्ड सन्स में जून और अगस्त में खूब लेनदेन होती रही। इस प्रकार कोई ४३००० हजार रुपए आये जिसमें से ३३००० रुपए क्रान्तिकारियों के हाथ लगने के बाद ही पुलिस वालों को पता लगा कि क्या मामला है।

मार्टिन जून के मध्य में हिन्दुस्तान लौट आये, और फिर तो जतीन मुकर्जी, जदूगोपाल मकर्जी, नरेन्द्र भट्टाचार्य, भोलानाथ चटर्जी और अतुल घोष मावेरिक के माल को उतारने के बन्दोबस्त करने लगे।

साथ-ही-साथ यह भी बन्दोबस्त होने लगा कि इस माल का अधिक-से-अधिक अच्छा उपयोग किया जाय। यह तय हुआ कि अस्त्र तीन हिस्सों में तकसीम कर दिए जायं--१. हटिया (इससे बंगाल के पूर्वी जिलों का काम चलता है, बरीसाल दल इसको काम में लाते), २. कलकत्ता, ३. बालासोर।

बंगाल के क्रान्तिकारी समझते थे कि संख्या की दृष्टि से उनके साथ इतने काफी आदमी हैं जो बंगाल की फौजों से समझ ले सकते हैं, किन्तु वे बाहर से आनेवाली फौजों से डरते थे। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रख कर क्रान्तिकारियों ने यह निश्चय किया कि बंगाल में आने वाली तीन मुख्य रेलों को उनके पुलों को उड़ा कर बेकार कर दिया जाय। यतीन्द्र के ऊपर मद्रास से आने वाली रेल का भार दिया गया, वे बालासोर से इस काम को अंजाम देने वाले थे; भोलानाथ चटर्जी बी० एन० आर० का भार लेकर चक्रधरपुर चले गए; सतीश चक्रवर्ती ई० आई० आर० का पुल उड़ाने के लिए गए। नरेन चौधरी और फणीन्द्र चक्रवर्ती को यह काम सौंपा गया कि वे हटिया जाएं, जहां पर एक जत्था इकट्ठा होने वाला था। हटिया से वे इस जत्थे की सहायता से पूर्व बंगाल के जिलों पर कब्जा करने वाले थे, और वहां से वे कलकत्ता पर चढ़ जाने वाले थे। नरेन भट्टाचार्य तथा विपिन गांगुली के नेतृत्व में कलकत्ता दल पहले तो कलकत्ते के पास अस्त्र-शस्त्र तथा अस्त्रागारों पर कब्जा करनेवाला था फिर फोर्ट विलियम पर धावा बोलने वाला तथा सारे कलकत्ता पर अधिकार जमाने वाला था। 'मावेरिक' जहाज पर आने वाले जर्मन अफसरों पर यह भार था कि वे पूर्व बंगाल में रहें, वहां फौजें इकट्ठी करें, फिर बाकायदा उन्हें सैनिक शिक्षा दें।

इस बीच में जदूगोपाल मुकर्जी 'मावेरिक' के माल को उतारने का बन्दोबस्त कर रहे थे। कहा जाता है कि रायमंगल के पास के एक जमींदार से इनकी बातचीत हुई थी, जिसके फलस्वरूप उस जमींदार ने यह प्रतिज्ञा की कि माल उतारने के लिए वह आदमी, नावें आदि देगा। 'मावेरिक' रात को पहुंचने वाला था, जहाज की पहचान यह होती कि उसमें कुछ लालटेनें कुछ खास तरीके से टंगी हुई होतीं। यह समझा जाता था कि १९१५ की पहली जुलाई तक पहली किश्त अस्त्र बंट जायंगे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अतुल घोष की आज्ञा के अनुसार कुछ आदमीरायमंगल के पास नाव से इसलिए गए थे कि जहाज के माल को उतारने में मदद दें। ये लोग कोई दस दिन तक वहीं आस-पास डेरा डाले पड़े रहे, किन्तु जून के अन्त तक भी 'मावेरिक' नहीं पहुंचा था, न बटेविया से कोई सन्देश आया, जिससे मालूम होता कि इस प्रकार देर क्यों हो रही है।

इधर तो यह लोग 'मावेरिक' की प्रतीक्षा में बैठे हुए थे, इधर बैंकाक से एक बंगाली ३ जुलाई को यह खबर लेकर आया कि स्याम का जर्मन कौंसिल नाव के जरिए रायमंगल में पांच हजार राइफलें, उसके उपयुक्त कारतूस तथा एक लाख रुपया भेज रहा है। षड्यन्त्रकारियों ने इस पर यह सोचा कि जो 'मावेरिक' से माल आने वाला था और नहीं आया, यह उसकी क्षति-पूर्ति है, उन्होंने इस सन्देश लाने वाले को बटेविया होकर बैंकाक जाने पर राजी किया, ताकि वह हेलफेरिख से कह सके कि पहली योजना त्याग न दी जाय बल्कि दूसरी किश्तें सन्दीप, बालासोर तथा गोकर्णी में भेज दी जाएं। जुलाई में सरकार को रायमंगल में अस्त्र उतारने की योजना का पता लग गया। इसके बाद सरकार चौकन्नी हो गई।

७ अगस्त को खबर पाकर पुलिस ने हेरी एण्ड संस के दफ्तर वगैरा की तलाशी ली और गिरफ्तारियां कीं। १३ अगस्त को षड्यन्त्रकारियों की ओर से बटेविया में हेलफेरिख को होशियार करते हुए तार दिया गया। १५ अगस्त को मार्टिन उर्फ नरेन्द्र भट्टाचार्य और एक दूसरा आदमी हेलफेरिख को परिस्थिति समझाने के लिए रवाना हो गए।

४ सितम्बर को बालासोर के यूनिवर्सल एम्पोरियम की (जो हेरी एण्ड सन्स की शाखा थी) तथा २० मील दूर कपटियापाड़ा नामक एक क्रान्तिकारियों के अड्डे की तलाशी ली गई। यहां पर सुन्दरवन का एक मानचित्र तथा पेनांग के एक अखबार की कटिंग मिली, जिसमें 'मावेरिक' जहाज की यात्रा के सम्बन्ध में कुछ छपा था। अन्त तक पांच बंगालियों के एक जत्थे को घेर लिया गया, और इनका नेता जतीन मुकर्जी तथा इन्स्पैक्टर सुरेशचन्द्र मुकर्जी के हत्यारे चितप्रिय राय चौधरी मारे गए।

इस साल 'मार्टिन' के बारे में और कुछ भी नहीं मालूम हुआ। अन्त तक ऊब कर हेलफेरिख को तार देने के लिए दो षड्यन्त्रकारी गोआ गए। २७ दिसम्बर, १९१५ को मार्टिन को बटेविया से एक तार दिया गया 'How doing, no news, very anxious B–Chatterton" उसके फलस्वरूप तहकीकात हुई और दो बंगाली पाए गए, एक तो उनमें से भोलानाथ चटर्जी थे। २७ जनवरी, १९१६ को भोलानाथ ने आत्महत्या कर ली।

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध कान्तिकारी रासबिहारी बोस का नाम भी विशेष रूप से स्मरणीय है, क्योंकि वह जब भारत में लार्ड हार्डिंग पर बम डलवाने के बाद यहां से चल कर जापान में बस गये तो यों देखने में उन्होंने एक साधारण नागरिक का जीवन ग्रहण किया पर असल में वह बराबर क्रान्तिकारी प्रयास में लगे रहे। हां, उनका यह क्रान्ति-प्रयास जापानी देखरेख और सहायता लेकर चलता रहा। जब दूसरा महायुद्ध छिड़ा और जापान इंग्लैण्ड और अमरीका के विरुद्ध लड़ाई में कूद पड़ा, तो उनके लिए मौका आया, और जापान ने जिन पूर्वी देशों पर विजय प्राप्त की, वहां गिरफ्तार ब्रिटिश सेना के भारतीय सैनिकों को लेकर आजाद हिन्द फौज की स्थापना हुई।

रासबिहारी के सम्बन्ध में पता लगा है, उनका एकमात्र पुत्र ओकिनावा के टैंक युद्ध में अमेरिकनों के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया था। रासबिहारी ने जापानी भाषा में १७ पुस्तकें लिखी थीं।

इसी आजाद हिन्द फौज के नेता के रूप में बाद को सुभाषचन्द्र बोस बहुत प्रसिद्ध हुए और उन्होंने रासबिहारी बोस के हाथों से उसका संचालन अपने हाथों में ले लिया। यह एक संक्षिप्त ब्यौरा है। यहां हम आजाद हिन्द फौज का इतिहास नहीं बतायेंगे; बस इतना ही कहना यथेष्ट है कि जब दूसरे महायुद्ध में जापान हारने लगा तो आजाद हिन्द फौज भी हारने लगी और आजाद हिन्द फौज के लोग अंग्रेजों की सेना के हाथों में कैद हो गए। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि आजाद हिन्द फौज वाला आन्दोलन यद्यपि सामरिक दृष्टि से असफल हुआ, पर उसने ऐसी नैतिक शक्ति पैदा की कि ब्रिटिश साम्राज्य के लिए भारत में टिकना असम्भव हो गया। भारतीय फौजियों में जो भारतीय थे उनमें इतनी देशभक्ति पैदा हो गई कि ब्रिटेन के लिए अब भारतीय सैनिकों के बूते पर भारत में टिक रहना असम्भव हो गया। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन ने ही १८५७ में स्वतन्त्रता का सूत्रपात किया और क्रान्तिकारी आन्दोलन के एक भाग यानी आजाद हिन्द फौज के कारण ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अन्तिम धक्का लगा।

१८५७ से लेकर १९४७ तक जिस प्रकार क्रान्तिकारी आन्दोलन चला और विदेशों में भारतीय क्रान्तिकारियों ने जो कार्य किया, उसमें बहुत से भारतीय क्रान्तिकारियों के नाम आते हैं जिनमें सबसे प्रमुख नाम हैं--श्यामजी कृष्ण वर्मा, सावरकर, एस० आर० राना, रासबिहारी बोस, एम० एन० राय, गदर पार्टी के बाबा लोग जिनमें ज्वालासिंह, बसाखासिंह, लाला हरदयाल, खानखोजे, भूपेन्द्रनाथ दत्त, वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय आदि कितने ही उज्ज्वल नाम आते हैं।

हाल ही में, श्री चंचल सरकार जापान गए थे, उन्होंने लौटकर जो लेखमाला लिखी, उसमें एक लेख रासबिहारी पर था। वह यों है--

जापान की राजधानी तोक्यो में एक प्रसिद्ध रेस्तरां है, जिसका नाम है--'नाकामुराया'। यहां भारतीय पकवान भी बनते हैं। 'नाकामुराया' एक रेस्तरां ही नहीं बल्कि सच पूछा जाय तो एक ऐतिहासिक संस्था भी है, जिसके साथ भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का एक अध्याय जुड़ा है।

यह वह रेस्तरां है, जिसके तत्कालीन मालिक श्री ऐजो सोमा और उनकी पत्नी कोकोह सोमा ने भारत के प्रसिद्ध क्रांतिकारी रासबिहारी बोस से मिलने का मुझे अवसर दिलाय।

जापान-यात्रा के दौरान मुझे इस सिलसिले में बहुत-से तथ्यों की जानकारी मिली। इसी 'नाकामुराया' रेस्तरां में स्व० रासबिहारी बोस की पुत्री श्रीमती तेत्सू हिगुची की आयु तब शायद ४६ वर्ष की रही होगी। छोटा कद, गहरे काले बाल, चश्मा और हल्के रंग का स्कर्ट ब्लाउज पहने वे सौम्य लग रही थीं।

श्रीमती हिगुची के पति इलेक्ट्रिकल इंजीनियर हैं। उनकी दो पुत्रियां हैं। २१ और १७ वर्ष की। श्रीमती हिगुची ने तो भारत नहीं देखा है, मगर उनकी बड़ी पुत्री गत जनवरी में गणतंत्र समारोह के अवसर पर दिल्ली आयी थीं। वह दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्ययन करना चाहती थीं, लेकिन अंग्रेजी का अल्प ज्ञान होने के कारण यह संभव न हुआ। बेहतर होता कि भारत सरकार यहां अध्ययन के लिए उन्हें छात्रवृत्ति दे।

श्रीमती हिगुची ने कहा कि उनके पास स्व० रासबिहारी बोस से संबंधित अनेक पुस्तकें, कागजात और फोटोग्राफ हैं, लेकिन किसी ने अभी तक भारतीय क्रांतिकारी की अविस्मरणीय गाथा में उन्हें गूंथने का प्रयास नहीं किया है। उन्होंने बताया कि बंगाल में अपने पिता के परिवार वालों के साथ अब उनका कोई खास संपर्क भी नहीं।

रासबिहारी बोस २९ वर्ष की आयु में जापान चले गये थे। लेकिन वहां भी ब्रिटिश खुफिया एजेंट छाया की तरह उनका पीछा करते रहे। ब्रिटेन के दबाव पर जब जापान सरकार ने रासबिहारी बोस को भारत की अंग्रेज हुकूमत को वापस सौंपने का आदेश जारी किया तो श्री ऐजो सोमा ने 'नाकामुराया' रेस्तरां में उनको छिपा कर रखा। साढ़े चार माह बाद 'ब्लैक ड्रैगन सोसाइटी' के नेता श्री मित्सुरो तोयामा तथा कुछ अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों के प्रयास से श्री रासबिहारी बोस के खिलाफ उक्त आदेश रद्द कर दिया गया। नवम्बर, १९१५ और अप्रैल, १९१६ के बीच यह घटनाएं घटीं।

इन्हीं मित्सुरो तोयामा ने बाद में श्री ऐजो सोमा को सुझाव दिया कि वे अपनी बड़ी पुत्री तोशिको का विवाह रासबिहारी बोस से करें। उल्लेखनीय है कि मित्सुरो तोयामा ने ही चीन के प्रसिद्ध क्रांतिकारी सन-यात-सेन के लिए जापान में ठहरने की व्यवस्था की थी। श्री तोयामा के बारे में हमें अन्य जानकारी भी एकत्र करनी चाहिए।

मित्सुरो तोयामा का सुझाव सुनकर श्री और श्रीमती सोमा चौंके। उन दिनों जापान में इस प्रकार के मिश्रित विवाह की प्रथा नहीं थी। फिर भी, उन्होंने इसका निर्णय अपनी पुत्री पर छोड़ दिया। तोशिको ने अपनी सहमति व्यक्त की और छह साल तक अपने पति के साथ शत्रु के एजेंटों की नजरों से बचते हुए अनेक कष्ट झेले। १९२३ में रासबिहारी बोस को जापान की नागरिकता मिलने पर उन्हें कुछ राहत मिली।

रासबिहारी बोस की पत्नी के बारे में भी हमें बहुत कम जानकारी है। उनका फोटो देखा तो बड़ी आकर्षक लगीं। बताया जाता है कि अपने पति से उन्हें इतना प्यार था कि उनके इशारे पर वे समुद्र में

कूदने को भी तैयार रहती थीं। अफसोस कि शादी के आठ वर्ष बाद उनकी मृत्यु हो गयी। तोशिको की मां श्रीमती सोमा ने रासबिहारी को बहुत समझाया कि वह पुनः शादी कर लें लेकिन रासबिहारी बोस ने कहा कि जिंदगी में जिस खुशी की मुझे ख्वाहिश थी, वह सब मुझे तोशिको से प्राप्त हुई, अब कोई ख्वाहिश नहीं। वैसे कई जापानी युवतियां उनसे विवाह करने के लिए लालायित थीं।

श्रीमती तोशिको बोस और सोमा परिवार के बारे में हमें पर्याप्त जानकारी एकत्र करनी चाहिए। रासबिहारी बोस इस परिवार के अभिन्न अंग बन चुके थे। रासबिहारी बोस अध्यापन करते थे और सारे जापान में व्याख्यान देते घूमते रहते थे। वे 'नाकामुराया' रेस्तरां के भागीदार भी बन गये थे। उनके एक पुत्री और एक पुत्र हुआ था। दूसरे महायुद्ध में ओकीनावा के टैंक-युद्ध में पुत्र मारा गया। १९४५ में टी० बी० से जब रासबिहारी बोस का देहांत हुआ, तो जापान के सम्राट् ने एक विशेष पालकी भेजी, जिसमें उनका शव योयोजी मंदिर ले जाया गया।

स्व० रासबिहारी बोस के बारे में बहुत-से तथ्य अब तक प्रकाश में नहीं आये हैं। उन्होंने जापानी भाषा में १७ पुस्तकें लिखी थीं, जो अभी भारत में प्रकाशित नहीं हुई हैं। अलबत्ता, स्मारक समिति (कलकत्ता) ने स्मृति ग्रन्थ में उनके कुछ भाषण, लेख इत्यादि प्रकाशित किये हैं। स्मारक समिति भी अपने आठ उद्देश्यों में से अब तक केवल एक उद्देश्य पूरा कर सकी है—रासबिहारी बोस के नाम पर कलकत्ता की केनिंग स्ट्रीट का पुनः नामकरण किया गया है। यही काम शायद सबसे आसान भी था। दिल्ली के चांदनी चौक के कटरा धूलिया में सन १९१२ में रासबिहारी बोस ने जहां तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका था, वहां स्मारक समिति ने रासबिहारी बोस की प्रतिमा स्थापित करने का निश्चय किया था, जो अभी तक पूरा नहीं हुआ।

स्व० रासहिबारी बोस की क्रांतिकारी गतिविधियों से अनेक स्मृतियां जुड़ी हुई हैं, जिनके उद्घाटन का अब तक कोई सुनिश्चित प्रयास नहीं किया गया है। उनके सहयोगियों से बहुत कुछ जानकारी मिल सकती है। दिल्ली में उनके एक सहयोगी थे। केशोराम सबरवाल, जिन्होंने स्मृति-ग्रंथ में उनके बारे में एक लेख दिया है। जापान में स्व० बोस की सचिव सुश्री वाटनबी के पास कई महत्वपूर्ण पत्र एवं अन्य कागजात पड़े हैं। रासबिहाती बोस के कार्यकलापों से संबंधित अनेक व्यक्तियों में मार्टिन नामक एक व्यक्ति का भी उल्लेख आता है, जो नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य के नाम से भी पुकारा जाता था। लेकिन हकीकत यह थी कि वह व्यक्ति एम० एन० राय थे।

आजाद हिन्द फौज की स्थापना और रासबिहारी बोस द्वारा नेताजी सुभाषचंद्र बोस को आंदोलन का कार्यभार सौंपे जाने के बारे में बहुत-कुछ जानकारी उपलब्ध है, लेकिन इसका श्रेय भारतीयों के बजाय विदेशी विद्वानों को ही अधिक है।

जहां तक 'नाकामुराया' रेस्तरां का संबंध है, वह आज भी फलफूल रहा है। तोक्यो और उससे लगे योकोहामा में इस रेस्तरां की एक सौ से भी अधिक शाखाएं हैं, जहां करीब २ हजार ३०० कर्मचारी कार्यरत हैं। श्रीमती तेत्सू हिगुची से मेरी मुलाकात तोक्यो की शिंजुक बस्ती के इसी एक रेस्तरां में हुई थी। इस रेस्तरां के तत्कालीन मालिक श्री ऐजो सोमा और श्रीमती सोमा के बारे में पता चला कि वे केवल व्यवसायी ही नहीं थे बल्कि सक्रिय सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यकर्ता भी थे, जिन्होंने अनेक महत्वपूर्ण आंदोलनों में भाग लिया था। साथ ही वे कलामर्मज्ञ भी थे। अब उन्हीं के वंशज इस रेस्तरां को चलाते हैं।

उल्लेखनीय है कि रासबिहारी बोस के साथ ही एक अन्य भारतीय क्रांतिकारी हेरम्बलाल गुप्त ने

भी 'नाकामुराया' में आश्रय लिया था। लेकिन वापसी का आदेश जारी होने पर वे किसी प्रकार अमेरिका खिसक गये थे। उसी समय वहां लाला लाजपतराय को भी वापसी का आदेश जारी किया गया था और वे भी फौरन अमेरिका चले गये थे।

पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय क्रांतिकारियों के अद्भुत कार्यकलाप आज भी विस्मृति के गर्त में छिपे हैं। उनको प्रकाश में लाये बिना भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास पूरा नहीं कहा जा सकता।

ऊपर जो कुछ बताया गया है उसके अलावा मुसलमानों के द्वारा किया गया एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र भी हुआ था जिसे रेशमी पत्र षडयन्त्र कहा गया। पहले यह आन्दोलन सम्पूर्ण रूप से सर्वइस्लामी था यानी लोगों का उद्देश्य भारत में फिर से मुस्लिम राज्य लाना था। पर घटनाओं की थपेड़ों के कारण ये कट्टर मुसलमान राष्ट्रीय बन गये और उन्होंने काबुल के अन्दर जो राष्ट्रीय सरकार कायम की उसका अध्यक्ष राजा महेन्द्रप्रताप को बनाया था।

ऊपर हमने बहुत संक्षेप में विदेशों में भारतीय क्रान्तिकारियों ने किस प्रकार भारत को स्वतन्त्र करने के लिए षड्यन्त्र किये इसका थोड़ा-सा उखड़ता हुआ चित्र पेश कर दिया। पर उसी से यह पता लग जायगा कि भारतीय क्रान्तिकारी कितने ऊंचे विचार रखते थे और वह किस प्रकार भारत को स्वतन्त्र करने के लिए सब प्रकार के साधनों को काम में लाना चाहते थे।

किराये के लेखकों के द्वारा लिखी हुई पुस्तकों में यही दिखाया जाता है कि कांग्रेस ने ही भारत को स्वतन्त्र किया, पर इस सम्बन्ध में तथ्य कुछ और ही बताते हैं और जैसा कि हमने बताया कि १८५७ का पूरा विद्रोह क्रान्तिकारी आन्दोलन के अन्तर्गत था और अन्तिम आन्दोलन आजाद हिन्द फौज वाला आन्दोलन भी सम्पूर्ण रूप से क्रान्तिकारी था। आशा है भविष्य के इतिहासकार दूध-का-दूध पानी-का-पानी कर देंगे।

भारतीय क्रान्तिकारियों पर लेनिन का प्रभाव-३

●

प्रारम्भ में भारतीय क्रान्तिकारी इटली के स्वातंत्र्य योद्धा, आयरिश और रूसी क्रान्तिकारियों से अनुप्रेरणा लेते रहे। उन दिनों गैरीबाल्डी, मैत्सिनी, कावूर के नाम भारत में सुपरिचित थे, इसी प्रकार कुछ बाद को चलकर डी वेलेरा, डानब्रिन के नाम इसी प्रकार सुपरिचित हुए। रूसी सम्राट त्सार पर समय-समय पर जो सफल तथा असफल घातक हमले होते रहे, उनकी तरफ भी बराबर भारतीयों का ध्यान जाता रहा। इन्हीं में से एक हमले में लेनिन के भाई सम्पृक्त रहे और उन्हें फांसी की सजा दी गई थी। मुझे एक हिन्दी पुस्तक की याद आती है, जिसमें इस प्रकार से रूसी सम्राट तथा रूसी वरिष्ठ अधिकारियों पर जो हमले हुए थे, उनका ब्यौरा था। हम क्रान्तिकारी इस पुस्तक का प्रयोग नौजवानों को क्रान्तिकारी जोश दिलाकर उन्हें दल में भर्ती करने के लिए करते थे। इसमें एक क्रान्तिकारिणी की रोमांचकारी कहानी थी। शायद उसका नाम वेरा था।

१९१७ की अक्तूबर क्रान्ति की पहली खबर हम भारतीयों तक बहुत भ्रष्ट रूप में पहुंची क्योंकि उन दिनों ब्रिटिश शासन के अधीन केवल रायटर्स के जरिये से ही हमें संसार की खबरें प्राप्त होती थीं। पर

सत्य का सूर्य कब तक ढका रहता, धीरे-धीरे उस युगान्तरकारी क्रान्ति की सही खबर भारत के क्रान्तिकारियों तक पहुंची। अवश्य यह प्रक्रिया कुछ दीर्घ रही।

१९२१ का असहयोग आन्दोलन केवल कुछ ही महीने चला। इस प्रयोग के दौरान भारतीय क्रान्तिकारियों ने अपना आन्दोलन बन्द कर दिया, पर जब गान्धीजी ने चौरीचौरा की घटना पर असहयोग बन्द कर दिया, तो क्रान्तिकारी दीर्घ शीतनिद्रा से चेत गए। चौरीचौरा की घटना यह थी कि क्रान्तिकारी जनता ने थाने में आग लगाकर १६ पुलिसवालों को जिन्दा जला डाला था।

चौरीचौरा के बाद उत्तर भारत में शचीन्द्रनाथ सान्याल और रामप्रसाद बिस्मिल ने क्रान्तिकारी दल का लगभग पुनर्निर्माण किया, पर इस बीच अक्तूबर क्रान्ति वाली महान घटना हो जाने के कारण दल का संगठन हुबहू पुरानी परिपाटी पर नहीं हो सकता था। उसका तथा उसकी विचारधारा का प्रभाव इस पर पड़ना ही था। नवगठित दल का नाम हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन रखा गया और यह कहा गया कि क्रान्तिकारी' दल का उद्देश्य ऐसी समाजपद्धति की स्थापना है, जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण असम्भव कर दिया जाय। दल के गठन में यह जो नवीन स्वर आया, यह सम्पूर्ण रूप से अक्तूबर क्रान्ति तथा उसके नेता के प्रभाव से उत्पन्न हुआ था। बाद को दल की ओर से रंगून से पेशावर (उन दिनों भारत में) तक सर्वत्र 'रिवोल्युशनरी नाम से एक पर्चा चोरी से बंटा। उसमें यह स्पष्ट हो गया कि क्रान्तिकारी दल पर नए प्रभाव का स्रोत क्या है। पर्चे में आदर्श समाज की कल्पना पेश करते हुए कहा गया था कि वह समाज रूस के समान ही प्राचीन काल के ऋषियों के समाज की तरह होगा।

पर सान्याल तथा उस युग के (१९२२-२५) सारे चिन्तक क्रान्तिकारी लेनिन के नेतृत्व को इससे कहीं अच्छी तरह समझ चुके थे। वे सभी महसूस करते थे कि बोलशेविकों को लेनिन के रूप में एक बहुत परखा हुआ नेता मिला है, जो एक महान सिद्धान्तवादी होने के अतिरिक्त महान कर्मवीर थे। बहुत थोड़े लोग जानते हैं, पर यह बात मुझे 'बन्दी जीवन' से ज्ञात हुई है कि शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लेनिन की जीवनी लिखनी शुरू की थी, उसके चार अध्याय भी लिखे थे, पर जेल में ठूंस दिए जाने के कारण वे उसे पूरा नहीं कर सके। मैंने भी इसी प्रकार लेनिन की जीवनी लिखनी शुरू की, पर २५ ही पृष्ठ लिख पाया था कि जेल पहुंच गया। शायद सान्याल ने जो चार अध्याय लिखे थे, वे नष्ट हो गए, पर मेरे २५ पृष्ठ अब भी मौजूद हैं, क्योंकि जेल जाने के ऐन पहले मैंने उन्हें एक मित्र के पास छिपा दिया था। भारत के क्रान्तिकारियों पर लेनिन तथा उनकी विचारधारा का बहुत बड़ा प्रभाव रहा। यह बात आश्चर्यजनक नहीं क्योंकि जेल के भीतर पड़े और बाहर मौजूद क्रान्तिकारी लेनिन तथा उनकी विचारधारा और कार्यप्रणाली से ओतप्रोत हो चुके थे।

सैकड़ों ऐसे क्रान्तिकारियों में से एक भगतसिंह का नाम लिया जाय, जो मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा में निष्णात थे तथा उसे कार्यान्वित करने के लिए छटपटा रहे थे। मैं अपने व्यक्तिगत ज्ञान से कह सकता हूं कि जेल में बन्द क्रान्तिकारी किस प्रकार रात जगकर लेनिन की पुस्तकों का अध्ययन कर रहे थे। आमतौर से क्रान्तिकारी मार्क्स की तुलना में लेनिन की पुस्तकों को अधिक चाव से पढ़ते थे, क्योंकि वे अधिक सुपाठ्य थीं। एक और कारण यह था कि लेनिन की पुस्तकों में मार्क्सवाद के विकास को आधुनिक समय तक पहुंचा दिया गया था। लेनिन की सारी पुस्तकें आसानी से समझ में आती थीं। मार्क्स की पुस्तकें तुलनात्मक दृष्टि से कठिन पड़ती थीं क्योंकि वे एक नए मत को विद्वानों में भी स्थापित करने के लिए लिखी गई थीं। जेल में हम पर मार्क्स या लेनिन की पुस्तकें पढ़ने का कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

भगतसिंह का नाम उत्तर भारत में बच्चे-बच्चे की जबान पर चढ़ गया था। वह समाजवादी सिद्धान्त

और इतिहास के परम प्रेमी थे। वह तथा सभी क्रान्तिकारी इस बात को समझते थे कि वे लेनिन, तथा लेनिन ने जिस महान जाति का नेतृत्व किया और उसे विजय दिलाई, उस जाति से बहुत कुछ सीख सकते हैं। लेनिन का नाम समाजवाद के योद्धाओं के लिए एक मशाल की तरह है और रहेगा। ●

बनारसीदास चतुर्वेदी

साहित्य क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण

●

थोड़े से व्यक्तियों अथवा दो तीन संस्थाओं के हाथ में संपूर्ण शक्ति सौंपने के वजाय अधिक-से-अधिक मनुष्यों को सशक्त बनाना तथा सैकड़ों सहस्रों ऐसे केन्द्र स्थापित करना, जहां से साधारण जनता प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्राप्त कर सके, इस नीति का नाम विकेन्द्रीकरण है।

भय और आशंकाएं : विकेन्द्रीकरण के आन्दोलन से कितने ही व्यक्तियों को आशंका हो गई है और अनेक उससे भयभीत भी हो गये हैं। ये आशंकाएं निराधार नहीं हैं, क्योंकि अभी तक उक्त नीति का विधिवत स्पष्टीकरण नहीं किया गया और भय भी स्वाभाविक ही है, क्योंकि जो लोग सारी शक्ति अपने हाथ में रखकर सर्वेसर्वा बने रहना चाहते हैं, विकेन्द्रीकरण से उनकी पालिसी पर ही कुठाराघात होता है।

विकेन्द्रीकरण की व्यापकता : विकेन्द्रीकरण का सिद्धांत अत्यन्त व्यापक है और राजनैतिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों में भी उसके उपयोग की चर्चा चलती रहती है। स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि विकेन्द्रीकरण का सिद्धांत डिक्टेटरी के सोलह आने विरुद्ध है, चाहे वह डिक्टेटरी ,लेनिन की हो या हिटलर की, गांधीजी की या वाइसराय की, श्रद्धेय टण्डनजी की हो या बाबू श्यामसुन्दरदास की।

संसार में दो प्रकार की मनोवृत्तियां पाई जाती हैं। एक तो उन लोगों की, जो 'तन मन धन गुसाईं जी के अर्पण" करने की नीति में विश्वास रखते हैं और दूसरे वे जो मनुष्यों को अधिक से अधिक स्वाधीनता देने के पक्षपाती हैं। जहां तक मनुष्यों की स्वाधीनता का प्रश्न है, रूस के समाजवादी तथा जर्मनी के नाजी सम्प्रदाय दोनों ही अपने दल के सिद्धांतों के लिए स्वाधीनता का बलिदान चाहते हैं। विकेन्द्रीकरण वस्तुतः अराजकवाद के मौलिक सिद्धांतों में से है और जब तक मानव समाज में भेड़चाल के' प्रति घृणा और अपने अन्तःकरण तथा विवेक को सर्वोच्च स्थान देने की प्रवृत्ति बनी रहेगी, तबतक विकेन्द्रीकरण का सिद्धांत अजर-अमर रहेगा। थोड़े दिन के लिए उसकी लोकप्रियता भले ही घट जाय, पर चिरकाल तक इस भावना को दबाया नहीं जा सकता।

व्यक्तिगत बनाम सैद्धान्तिक मतभेद : आजकल हमारे साहित्य क्षेत्र में जो झगड़े चला करते हैं, उनके मूल में प्रायः व्यक्तिगत विरोध की भावना होती है। हमें इन विवादों को उच्चतर धरातल पर लाना है। प्रश्न यह नहीं कि प्रयाग के क्ष त्र ज्ञ महाशय भले हैं या बुरे अथवा काशी के क ख ग योग्य अथवा अयोग्य।

सवाल यह है कि क्या कोई भी आदमी अनियंत्रित प्रभुता पाकर अपना दिमाग ठिकाने रख सकता है।

महाकवि तुलसीदासजी ने 'प्रभुता पाई काहि मद नाहिं' कहकर अपनी स्पष्ट राय इस प्रश्न पर दे दी थी, जो तीन सौ वर्ष बाद भी ज्यों-की-त्यों ताजी और युक्तिसंगत बनी हुई है। पहले तो अपने गले में रस्सी डाल कर उसे अल्पसंख्यक आदमियों को सौंप देना और फिर हाय-तोबा मचाना, यह काम बुद्धिमानों का नहीं है। जब अबोहर की साहित्य परिषद में पं० रामचन्द्रजी शुक्ल के स्वर्गवास के विषय में प्रस्ताव नहीं रखा जा सका—जब वैधानिक विडंबना ने शिष्टाचारपूर्ण कर्तव्य की इतिश्री कर दी—तभी हम समझ गये थे कि हिंदी साहित्य सम्मेलन की बीमारी असाध्य हो चली है और जड़मूल से उसका इलाज करने की जरूरत है।

रचनात्मक भावना : विकेन्द्रीकरण ही इस बीमारी का एकमात्र इलाज है। सम्मेलन का विधान भले ही जन सत्तात्मक जंचे, पर व्यवहारतः वह अल्पसंख्यक आदमियों के हाथ में संपूर्ण शक्ति सौंप देता है। भारत ऐसे महाद्वीप में फैली हुई राष्ट्रभाषा हिंदी की शक्ति को दो-तीन स्थानों में केन्द्रित करने का प्रयत्न ही हास्यास्पद है।

कुछ लोग यह समझे हुए हैं कि विकेन्द्रीकरण की भावना केवल विनाशात्मक है। वे जबरदस्त गलती कर रहे हैं। क्या कोई भी विवेकशील व्यक्ति इस बात का विरोध कर सकता है कि काशी तथा प्रयाग की तरह के सैकड़ों-सहस्रों साहित्यिक तथा सांस्कृतिक केंद्र इस मातृभूमि में हों। काशी तथा प्रयाग दोनों ही स्थानों में उच्चकोटि के विश्वविद्यालय विद्यमान हैं और उन्हीं स्थलों पर अपनी समस्त साहित्यिक तथा सांस्कृतिक शक्ति को केन्द्रित कर देना बिलकुल वैसा ही है, जैसे हम लोग रुपये जमा कर सेठ रामकृष्णजी डालमिया और श्रीयुत घनश्यामदासजी बिड़ला को सौंप दें।

विराट केन्द्र या उपवन : क्या यह मुनासिब होगा कि दिल्ली के आसपास हजार-पाँच सौ वर्गमील का एक बगीचा बना लिया जाय और संपूर्ण भारतवर्ष के उपवनों में हल चलवा दिये जांय। यह लेख हम एक उपवन में बैठे हुए लिख रहे हैं। अभी-अभी एक मालिन फूल तोड़कर मन्दिर की भेंट के लिये गयी है, थोड़ी दूर पर रहट चल रहा है, क्यारियों में पानी दिया जा रहा है, सामने गुलाब और गेंदा के फूल खिल रहे हैं, पपीते लटक रहे हैं, आमों में बौर आ रहा है और लंबे-लंबे बाँस सीमाओं को घेर उपवन की श्रीवृद्धि कर रहे हैं।

इसमें संदेह नहीं, यदि किसी प्रकार इन सबको हटा कर दिल्ली भेज दिया जावे और श्रीयुत इंद्रजी तथा श्रीयुत मुकुटजी को बड़ी सुविधा हो जायगी और उनका काफी मनोरंजन भी होगा, पर हम लोगों के घाटे का अंदाज तो लगाइये। केन्द्रीकरण के एक समर्थक महोदय ने लिखा था कि सर्वोत्तम कलापूर्ण कृतियां अमुक कला मंदिर में रख दीजिये। जिसे देखना होगा, वह वहां जाकर देख आवेगा। इस तर्क से हम भारतवर्ष की समस्त मूर्तियों को न्यूयार्क के कला भवन के सुपुर्द कर सकते हैं।

जनपदीय कार्यक्रम : जनपदीय कार्यक्रम तथा जनपदीय संस्थाओं की महत्ता इसी में है कि वे इस प्रकार के केन्द्र अधिक-से-अधिक जनता के समीप ही कायम रखना चाहते हैं। ब्रज-मण्डल में ब्रजभाषा महाविद्यालय की स्थापना करना और ब्रजभाषा की पुरानी पोथियों को ब्रज मण्डल के ही संग्रहालय में आना उचित है अथवा उन्हें वहाँ से सैकड़ों मील दूर अलमारियों में बंद कर देना। जो लोग यह विश्वास करते हैं कि सर्वश्री श्रीनाथसिंहजी, निर्मलजी, पद्मकांतजी और वाचस्पतिजी प्रयाग में बैठे-बैठे इस अखिल हिंदी जगत की शक्तियों का विधिवत नियंत्रण कर सकते हैं, उन्हें सचमुच अकल का अजीर्ण हो गया है और उन्हें किसी आयुर्वेद पंचानन की दवा खानी चाहिए। उपर्युक्त चारों व्यक्तियों ने अपने-अपने ढंग पर साहित्य की प्रशंसनीय सेवा की है, पर यह काम उनके बूते का नहीं है। इनके स्थान पर यदि टण्डनजी, संपूर्णानंदजी, श्रीनारायणजी तथा दया-

शंकरजी नियुक्त कर दिये जावें, तो वे भी इसे संतोषजनक ढंग पर नहीं निभा सकेंगे। बात दर असल यह है कि हिंदी की दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती हुई शक्ति का नियंत्रण किसी एक केन्द्रीय स्थल से कदापि नहीं किया जा सकता।

हमारे यहां ऐसे-ऐसे विचारशील व्यक्ति विद्यमान हैं, जो दिल्ली में एक पावर हाउस (बिजलीघर) खोल कर वहां से लाखों ग्रामों को रोशनी पहुंचाने के स्वप्न देख सकते हैं।

हमें कोई आपत्ति नहीं, वे अपने असंभव प्रयत्न में लगे रहें। हमारा कर्तव्य तो यह है कि अपने क्षुद्र दीपकों और लालटेनों के द्वारा झोपड़ियों तथा भवनों तक प्रकाश पहुंचा दें।

व्यर्थ की आशंका : जनपदीय कार्यक्रम से सम्मेलन कमजोर हो जायगा, यह विघटन की नीति हिंदी जगत के लिए अत्यन्त भयंकर सिद्ध होगी, यह भाषा संबंधी पाकिस्तान है, इत्यादि-इत्यादि कुतर्क करने वालों से हमारा एक सवाल है। यदि राजस्थान साहित्य सम्मेलन की नींव सुदृढ़ आधार पर रखी जाती है, अवध साहित्य परिषद की स्थापना हो जाती है, ब्रजभाषा के लिए एक महाविद्यालय कायम हो जाता है, बुन्देलखण्डी विश्व-कोष प्रकाशित हो जाता है, भोजपुरी ग्राम गीतों का संग्रह हो जाता है और कुमाऊं तथा गढ़वाल के प्रदेशों में साहित्यिक जाग्रति हो जाती है तो इसमें केन्द्रीय सम्मेलन का क्या अहित होगा अथवा क्या पुराने तीर्थों के पण्डों का यह कर्त्तव्य ही है कि नवीन तीर्थों के निर्माण का वे विरोध ही करें ?

गंभीर विवेचन : आवश्यकता है गंभीरतापूर्वक इस प्रश्न पर विचार करने की। सांपनाथों की जगह नागनाथों की भर्ती कर देने से यह प्रश्न हल नहीं होने का। मुख्य प्रश्न यह है कि आप संस्था को अधिक महत्व देते हैं या मनुष्य को। यदि आप संस्था को अधिक महत्व देते हैं तो संपूर्ण हिंदी जगत की समस्त साहित्यिक तथा सांस्कृतिक निधियों को एकत्र करके काशी-प्रयाग ले जाइये और फिर घरपर बैठ कर राम-नाम का अखण्ड जाप कीजिये। इसके बजाय यदि आप मनुष्य को महत्व देते हैं तो समस्त हिंदी जगत में काशी, प्रयाग जैसे सैकड़ों-सहस्रों केन्द्र कायम कीजिये। इन केन्द्रों की सामूहिक शक्ति से पुरानी संस्थाओं का अन्ततोगत्वा हित ही होगा, अहित नहीं। विकेन्द्रीकरण प्रत्येक मनुष्य की, चाहे वह इस समय क्षुद्र ही जंचे, संभावना में विश्वास करता है और नित्य नवीन साहित्य तीर्थों के निर्माण में भी। उसकी मौलिक भावना निम्नलिखित श्लोक से भली भांति प्रकट हो सकती है:

घृतमिव पयसि निगूढ़ं भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थतित्वयं मनसा मन्थानदण्डेन ॥

अर्थात, जिस तरह दूध में घी छिपा हुआ है, उसी प्रकार प्रत्येक वाणी में विज्ञान विद्यमान है। मन रूपी मथनिया से उसका मंथन करके उसे निकालना हमारा कर्तव्य है। ●

बनारसीदास चतुर्वेदी

हिन्दी क्षेत्रों का विभाजन

हमने 'विशाल भारत' में साहित्यिक प्रांतों के पुनर्निर्माण का आंदोलन प्रारंभ किया था और फरवरी सन १९३४ के अंक में लिखा था:

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि प्रांतीय सम्मेलनों को जाग्रत कर दिया जाय तो हिंदी साहित्य सम्मेलन स्वयं ही बलवान हो जायगा, पर इस समय साहित्यिक प्रांत इतने बड़े हैं कि उनके पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ हम युक्त प्रांतीय सम्मेलन को लेते हैं। यदि हम समस्त युक्त प्रांत के साहित्यिकों का संगठन करना चाहें तो अत्यन्त कठिन कार्य होगा।

काशी, प्रयाग, कानपुर और लखनऊ साहित्यिक दृष्टि से अब इतने महत्वपूर्ण स्थल बन गये हैं कि वे भिन्न-भिन्न प्रांतीय सम्मेलनों के केन्द्र बन सकते हैं। उदाहरणार्थ लखनऊ को हम अवध प्रांतीय सम्मेलन का रूप दे सकते हैं। काशी तो स्वयं ही एक निराली नगरी है। भारत के किस नगर ने हिंदी के लिए उतना कार्य किया है, जितना काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने। और फिर कौन उस महान अन्तर्निहित साहित्यिक शक्ति का अंदाज लगा सकता है, जो हिन्दू विश्वविद्यालय में विद्यमान है। क्या इन शक्तियों का संचालन कोई संस्था प्रयाग, लखनऊ, आगरा या कानपुर में बैठ कर कर सकती है? हर्गिज नहीं। जिन दिनों हमारे साहित्य की सीमा वंधी हुई थी, साहित्य-सेवियों की संख्या अत्यल्प थी, उन दिनों यह संभव भी था, पर आजकल तो दिनों-दिन यह असंभव होता जा रहा है। आवश्यकता है इस बात की कि हम अपने साहित्यिक प्रांतों का पुनर्निर्माण करें।

उदाहरण के लिए हम ब्रज-मण्डल को लेते हैं। क्या यह असंभव है कि आगरा, भरतपुर, अलीगढ़, धौलपुर, इटावा, एटा, मैनपुरी इत्यादि जिलों की साहित्यिक संस्थाएं मिल कर ब्रज साहित्यिक मण्डल का निर्माण करें?

इसी प्रकार वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद को भी बुन्देलखण्ड की प्रतिनिधि संस्था बनाया जा सकता है। हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि उक्त परिषद के अधिकारी इसका विचार कर भी रहे हैं। अब की बार हमें ग्रामीण लोगों की बुन्देलखण्डी भाषा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि बुन्देलखण्डी ब्रजभाषा के समान ही मधुर है, यद्यपि मुंशी अजमेरीजी तथा कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त तो उसे ब्रज भाषा से भी अधिक कोमल और मधुर मानते हैं। बुन्देलखण्डी भाषा का भी एक कोष तैयार होना चाहिये। सैकड़ों ऐसे शब्द बुन्देलखण्डी में विद्यमान हैं, जो हमारी पुस्तकों की भाषा में नहीं पाये जाते उन्हें प्रयोग में लाने की जरूरत है। संस्कृत से शब्द गढ़ने की अपेक्षा यह कहीं बेहतर है कि प्रचलित शब्दों को ग्रहण किया जाय। इस प्रकार के कार्य बुन्देलखण्ड साहित्य परिषद ही कर सकती है। यही बात अवधी भाषा तथा अवध साहित्य मण्डल के विषय में कही जा सकती है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि प्रयागस्थ साहित्य सम्मेलन का मुंह ताकते रहने की नीति को अब तिलांजलि दे देनी चाहिये। स्वयं सम्मेलन वालों का कर्तव्य है कि वे प्रांतीय संस्थाओं को शक्तिशाली बनायें।

हम यह नहीं कहते कि सम्मेलन के वर्तमान अधिकारी बिलकुल निर्दोष हैं। निस्संदेह इस समय सम्मेलन बिना पुजारी का मंदिर हो रहा है। वह साहित्य शक्ति का केन्द्र अब नहीं रहा। यहां कोई ऐसा आदमी नहीं, जो अपना संपूर्ण समय उसी के कार्य में लगावे। बहुधंधी आदमियों से यह आशा करना कि वे साहित्य सम्मेलन को सजीव संस्था बना सकेंगे, दुराशा मात्र है। लेकिन दूर बैठे सम्मेलन के लिए सारा अपराध मढ़ना

भयंकर भूल है। जो जिस प्रांत में हो, वह उसकी साहित्यिक उन्नति के लिए भरपूर उद्योग करें। हां, थोड़े से आदमी भी होंगे, जो सभी प्रांतों की साहित्यिक प्रगति की ओर व्यापक दृष्टि रखें, पर इस समय तो हर आदमी आल इंडिया साहित्यिक बनने की फिक्र में है। विस्तृत क्षेत्र पर अपनी शक्तियों को बिखेरने का जमाना चला गया। अब तो छोटा-सा क्षेत्र चुन कर उसी पर अपनी शक्तियों को केन्द्रित करने का वक्त आ गया है। क्या हम आशा करें कि दिल्ली साहित्य सम्मेलन के अवसर पर इस प्रश्न पर विचार किया जायगा ?

दिल्ली के सम्मेलन ने हमारी इस क्षेत्र-विभाजन की नीति को स्वीकार कर लिया था, पर दुर्भाग्यवश इस कार्य को दृढ़तापूर्वक आगे नहीं बढ़ा सका।

उसके कुछ दिनों बाद टीकमगढ़ में बुन्देलखण्ड साहित्य मण्डल की स्थापना हुई और आगरे में ब्रज साहित्य मण्डल की। हमें ऐसा ख्याल आता है कि शायद उन्नाव के किसी साहित्यिक उत्सव में अवध साहित्य परिषद भी स्थापित हो गई थी। बुन्देलखण्ड साहित्य मण्डल की ओर से श्रीमान ठाकुर सज्जनसिंहजी तथा श्री गौरीशंकरजी द्विवेदी ने आसपास के अनेक मुख्य-मुख्य स्थानों की यात्रा भी की थी। फिर भी यह कार्य सफलतापूर्वक आगे बढ़ नहीं सका। हर्ष की बात है कि अब फिर जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित हो गया है। मथुरा में ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना हो गई है और राजस्थान-साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन उदयपुर में हो रहा है। बुन्देलखण्ड साहित्य मण्डल का पुनर्गठन हो रहा है।

इस अवसर पर हम दिल्ली सम्मेलन के प्रस्ताव सं० १२ की ओर सम्मेलन के अधिकारियों का तथा जनता का भी ध्यान आकर्षित करते हैं:

"राष्ट्रभाषा हिंदी की विस्तृत अभिवृद्धि और हिंदी साहित्य सम्मेलन के कार्यों और उद्देश्यों का सुसंगठि प्रचार करने की दृष्टि से यह सम्मेलन आवश्यक समझता है कि प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय साहित्य सम्मेलन और महत्वपूर्ण बोलियों के क्षेत्र में मण्डल सभाएं स्थापित की जायं, जो हिंदी साहित्य सम्मेलन से संबद्ध होकर व्यवस्थित रीति से निरंतर कार्य करती रहें।"

जब सम्मेलन-क्षेत्र विभाजन या विकेन्द्रीकरण की नीति को स्वीकार कर चुका है तो उसे अपने प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करने के लिए भरपूर उद्योग करना चाहिये। ●

बनारसीदास चतुर्वेदी

पिछली सेवा और भावी कार्यक्रम

●

अब वक्त आ गया है कि प्रत्येक साहित्य-सेवी अपने लिए एक काम चुन ले और उसी के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति अर्पित कर दे। जिन्हें यह आशा थी कि केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारों द्वारा कोई ठोस साहित्यिक या सांस्कृतिक यज्ञ होगा वे अपनी भयंकर भूल का अनुभव कर चुके हैं। 'सरकार' और 'संस्कृति' ये दोनों परस्पर विरोधी शब्द हैं; क्योंकि सरकारें पशुबल का आश्रय लेती ही हैं, जबकि संस्कृति का आधार आध्यात्मिक शक्ति ही है। रही संस्थाएं—

अखिल भारतीय तथा प्रान्तीय——सो उनमें से अधिकांश सम्यकरूपेण स्थापित-कब्र ही बन जाती हैं। अन्ततोगत्वा हमें अलग-अलग व्यक्तियों पर ही निर्भर रहना है। Blessed is the man who has found his work (वह पुरुष वास्तव में धन्य है, जिसे अपना कार्य मिल गया है) और इस अर्थ में हम 'विक्रम' संपादक श्री सूर्यनारायण व्यासजी को सौभाग्यशाली ही मानते हैं। उन्होंने अपने जीवन का एक लक्ष्य ही स्थिर कर लिया है यानी मालव प्रदेश में सांस्कृतिक तथा साहित्यिक चेतना का प्रसार और पिछले सोलह-वर्ष से वे इसी पवित्र कार्य में तन-मन-धन से संलग्न हैं।

बन्धुवर व्यासजी के दर्शन हमें भरतपुर-सम्मेलन के अवसर पर हुए थे, पर उस समय की बहुत धुंधली-सी याद हमें रह गई हैं, पर उनके विचारों से हम बहुत कुछ परिचित रहे हैं। इसका एक मुख्य कारण है। जिस जनपदीय कार्य से हमें प्रेम है, उसका एक अत्युत्तम उदाहरण व्यासजी ने हमारे सम्मुख उपस्थित कर दिया है। यद्यपि मालव जन-पद को हम सैकिण्ड पोजीशन ही देते हैं, पहले नम्बर पर तो 'ब्रज' ही है! तथापि हमें यह बात ईमानदारी के साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि जो कार्य व्यासजी ने मालव तथा उज्जयिनी के लिए किया है, उसका शतांश भी अपने ब्रज के लिए हम से नहीं बन पड़ा।

'विक्रम' को हम ध्यानपूर्वक पढ़ते रहे हैं और जब वह स्थगित हुआ था तब उससे हमारे हृदय को जबरदस्त धक्का लगा था। उसे हमने 'मृत' कभी नहीं समझा था और पत्र-व्यवहार में हमने 'विक्रम कार्यालय' का निरन्तर प्रयोग किया है।

ब्रजभारती, मधुकर, बान्धव और विक्रम इन चार जनपदीय पत्रों में इस समय केवल ब्रजभारती ही जाग्रत है, 'मधुकर' और 'बान्धव' सोये हुए हैं और 'विक्रम' पुनः अवतीर्ण हो रहा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'ब्रजभारती' एक संस्था (ब्रज साहित्य मण्डल) की पत्रिका है और 'मधुकर' राज्याश्रित था, पर 'विक्रम' को केवल एक ही व्यक्ति के असाधारण परिश्रम तथा सीमित साधनों पर निर्भर रहना पड़ा है! जनपदीय पत्रों के संचालन में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। छोटे-छोटे क्षेत्रों में ग्राहकों का मिलना आसान नहीं पर अदूरदर्शी विरोधी खूब मिल जाते हैं। यह सौदा बहुत घाटे का है और इसका मूल्यांकन करने के लिए सहृदयता की अत्यन्त आवश्यकता है।

यह बतलाने की जरूरत नहीं कि 'विक्रम' जनपदीय पत्रों में शिरोमणि रहा है। उसके स्थगित होने पर उसके पिछले कार्य का लेखा-जोखा हमने तैय्यार किया था और उससे हम चकित रह गये थे।

प्रथम वर्ष के आन्दोलन : विक्रम द्विसहस्राब्दी महोत्सव के लिए धुआंधार प्रचार किया गया। विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए जनता तक विचार पहुंचाये गये तथा सरकार को प्रेरणा दी गई। स्मृति-ग्रन्थों तथा कालिदास, विक्रम स्मृति-मंदिर के निर्माणार्थ प्रचार किया गया।

स्मृति ग्रन्थ अंग्रेजी, मराठी तथा हिन्दी में प्रकाशित हो गया। देश के विभिन्न विभागों से कई विशेषांक, ग्रन्थ तथा स्मृति पुस्तकें निकलीं।

मध्य-भारत तथा देश के भिन्न-भिन्न भागों में विक्रम के नाम पर संस्थाओं की स्थापना हुई। अनेक चित्रपट निर्मित हुए, और मालव का महत्व सारे देश ने इस प्रकार समझा, सांस्कृतिक चेतना हुई। विक्रम-विश्वविद्यालय के कार्य का शुभारंभ तो हुआ था, उसके लिए पचास-लाख की स्वीकृति भी हो गई थी। विद्वानों की कमेटी भी बनी, रिपोर्ट भी तैयार हुई, चर्चा भी हुई, पर वह कार्य दुर्भाग्यवश आगे नहीं बढ़ सका। देश भर में विक्रम उत्सव मनाये गये।

विक्रम फिल्म का निर्माण हुआ और उसमें संपादक ने सहयोग दिया। कालिदास स्मृति-दिन के आन्दोलन को भी यथेष्ट सफलता मिली। विक्रम द्वारा मध्य-भारत हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए जबरदस्त आन्दोलन हुआ। एक सहस्र सदस्य बने और ढाई हजार रुपये का चन्दा किया गया। प्रत्येक स्थलों पर समारोह हुए और श्रद्धेय टंडनजी तथा अमरनाथजी का शुभागमन हुआ। इनके अतिरिक्त ग्वालियर की राज-भाषा, शिक्षण की समस्या तथा 'हृदय' स्मृति पर भी आन्दोलन हुए।

द्वितीय वर्ष में :

१. ग्रामगीतों और लोकोक्तियों के संग्रह की चर्चा की गई।

२. पुरातन ऐतिहासिक स्थल, ग्राम और नगरों के प्रति जनता तथा शासकों का ध्यान आर्कषित किया गया।

३. कालिदास और विक्रम सम्बन्धी संशोधनात्मक साहित्य निकला और नागपुर में रामटेक पर स्मृति-स्तम्भ स्थापित करने के लिए आन्दोलन किया गया।

४. मालव प्रदेश की साहित्यिक और सांस्कृतिक जाग्रति के लिए अनेक टिप्पणियां लिखी गईं और राजनैतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी नोट भी लिखे गये।

५. मालव की प्रकृति, जलाशय, रमणीक स्थल, भू-गर्भ-सम्पत्ति एवं ऐतिहासिक स्थलों की खुदाई के बारे में टिप्पणियाँ लिखी गईं।

६. मालव एकेडेमी की स्थापना के लिए आन्दोलन चलाया गया।

७. मालव प्रदेश के गृहोद्योगों पर जोर दिया गया।

'विक्रम' के तीन वर्षों में ढाई हजार पृष्ठ का ठोस साहित्य उसके पाठकों तक पहुंचा, जिसमें लगभग पांच सौ पृष्ठ तो सम्पादकीय टिप्पणियों के थे, जो निःसन्देह बड़े मार्के की होती थीं। इस बीच में तीन विशेषांक निकले जिनमें विक्रम द्विसहस्राब्दी पर निकला हुआ विशेषांक अत्यन्त महत्वपूर्ण था। वह अकेला ही डेढ़ सौ पृष्ठ का था। दूसरा विशेषांक विविध विषयों पर निकला और तीसरा सिंहस्थ के समय प्रकाशित हुआ था।

विक्रम की सजीवता का सर्वोत्तम प्रमाण यह था कि इस बीच में उसे चार बार सरकारी नोटिस मिले थे। विक्रम काफी लोकप्रिय हो रहा था और देश के भिन्न-भिन्न प्रांतों के विद्वान उसके प्रशंसक बन चुके थे। सरदार एम० वी० किवे साहब, स्व० रावबहादुर के० एन० दीक्षित, श्रीमती सोफिया वाडिया, श्री शिवपूजन सहायजी, स्वामी भवानीदयालजी, बंधुवर सियारामशरणजी गुप्त तथा भाई कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर इत्यादि ने विक्रम की मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी। कई राज्यों तथा प्रान्तों ने उसे स्वीकृत भी कर लिया था। संक्षेप में यों कहिये कि हिन्दी पत्र जगत में विक्रम का उच्च स्थान निश्चित हो चुका था।

वास्तव में विक्रम का स्थगित होना हिन्दी संसार के लिए तो एक दुःखप्रद समाचार ही था पर मालव प्रान्त के लिए तो महान दुर्घटना थी। हिन्दी साहित्यिकों में इतना भातृभाव है ही कहां, जो वे उस क्षति का अनुमान भी लगाते! यहां पर हम लज्जापूर्वक अपना अपराध स्वीकार किये लेते हैं। विक्रम जब बन्द हुआ तब हमें उसका अभाव बहुत खटका और तत्पश्चात हमने उसके महत्व को ठीक तौर पर समझा। बंधुवर व्यासजी से तथा विक्रम के अन्य सहयोगियों से अपने इस घोर प्रमाद के लिए हम करबद्ध क्षमा प्रार्थी हैं।

भविष्य की आशा : इस बार हम सजग और सतर्क हैं और वह इसलिए कि विक्रम द्वारा हम अपने जनपदीय कार्यक्रम की पूर्ति की आशा रखते हैं। महा मालव प्रान्त में जो कार्य--सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में--इस पत्र द्वारा होगा, वह अन्य जनपदों के लिए भी पथप्रदर्शक होगा।

यद्यपि हम विक्रम के पिछले कार्य के प्रशंसक हैं पर साथ ही यह भी जानते हैं कि उस पुरानी पूंजी के भरोसे––यदि उसमें निरन्तर वृद्धि न की गई––काम आगे नहीं बढ़ सकता। राजनैतिक दलबन्दियों की चट्टानों से बचाकर तो साहित्य-नौका का खेना कोई आसान काम नहीं। आज के युग में जब चारों ओर पदलोलुपता भ्रष्टाचार, भोग-विलासिता और स्वार्थपरता का बोलबाला है, स्पष्टवादिता बड़ी महँगी पड़ेगी। विक्रम से हम यह आशा तो अवश्य रखते हैं कि वह राजनैतिक दलबन्दियों से अपने को अलग रखेगा पर उसके अतिरिक्त हमें और भी आशाएं हैं और वे हैं समस्त प्रान्त की साहित्यिक शिक्षा संबंधी और सांस्कृतिक शक्तियों के संगठन की।

प्राचीन गौरव के खयाल से मालव प्रदेश को गुरु मानना पड़ेगा, यद्यपि आज वह बहुत पिछड़ा हुआ है। यदि विक्रम 'एकहि साधै सब सधै' की नीति का अवलम्बन करता हुआ साहित्यिक कार्य में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दे तो वह अपने नाम को सार्थक कर सकता है।

हम यह भलीभांति जानते हैं कि देश की वर्तमान परिस्थिति में कोई भी सजीव व्यक्ति राजनीति से सर्वथा अलग नहीं रह सकता। काँग्रेस की त्याग भावना कभी की नष्ट हो चुकी है और हम सब 'भोग-पीरियड' में गुजर रहे हैं। केवल लीडरों को और शासकों को दोष दे देना बहुत आसान है पर यह नीति न्याययुक्त नहीं। यदि हम लोग अपने दिल पर हाथ रखकर देखें तो हमें पता लगेगा कि स्वयं हम सब बड़े दोषी हैं। दस हजार में नौ हजार नौ सौ निन्यानवे भारतीयों ने उस महापुरुष के प्रति विश्वासघात किया है, जो शत-शताब्दियों बाद इस भूमि का उद्धार करने के लिए अवतरित हुआ था। आत्म-परीक्षण द्वारा यदि हम लोग अपने दोषों को दूर कर लें तो सरकारें स्वयं निरर्थक बन जायंगी––उनकी जरूरत ही न रहेगी।

वर्तमान संक्रान्ति-काल में शुद्ध साहित्यिक कार्यकर्ताओं के कर्तव्य स्पष्ट हैं:

१. क्षुद्र साम्प्रदायिकता और निन्दनीय प्रान्तीयता के खिलाफ हम जहाद बोल दें।
२. अनाचारों का चाहे वे अशिक्षित जनता की ओर से हों या मदोन्मत्त-नौकरशाही की ओर से डटकर विरोध करें।
३. अपने मस्तिष्क के कपाट को सदा खुला रखें. और प्रकाश का, चाहे वह रूस-चीन से आवे, या ब्रिटेन और अमेरिका से, दिल खोलकर स्वागत करें।
४. विश्व की प्रगतिशील-धाराओं से अपने को मिलाये रखें।

पर यह सब काम उच्च धरातल पर ही होना चाहिये। किसी साहित्यिक का नीचे धरातल पर उतरना एक महान दुर्घटना है। और राजनैतिक दलबन्दी में पड़ना तो उसके लिए आत्मघात ही होगा।

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वह बंगला कविता हमें इस समय याद नहीं आ रही जिसमें उन्होंने ईश्वर से यह प्रार्थना की थी : 'हे ईश्वर हमें ऐसी शक्ति दे कि हम धृष्ट शक्तिशालियों के सामने अपना सर हर्गिज न झुकावें और गरीबों की उपेक्षा कदापि न करें।'

प्रत्येक सजीव साहित्यिक को अपना यही आदर्श बना लेना चाहिये।

साहित्यिक कार्य : क्या ही अच्छा हो यदि विक्रम आगामी वसन्त ऋतु को मालव प्रदेश के इतिहास में चिर स्मरणीय बना दे! उसके स्वप्न हम अभी से देख रहे हैं। देखिये, आज श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय तथा श्री काशीनाथजी त्रिवेदी भाबरा (अलीराजपुर) में अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद की स्मृति में एक औषधालय की स्थापना करने जा रहे हैं। बीस वर्ष बाद गृह्य श्राद्ध-कर्म का अनुष्ठान हो रहा है। व्यासाश्रम उज्जैन में अंतर्जनपदीय-परिषद् बुलाई गई है और उसमें अभी ब्रज-मंडल, बुन्देलखंड तथा राजस्थान के दस-बारह विद्वानों को निमंत्रित किया गया है, और सम्माननीय अतिथि के रूप में डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल तथा पृथ्वी-पुत्र

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी विराजमान हैं। आतिथ्य का काम हमारे सुपरिचित श्री लालचन्दजी सेठी द्वारा हो रहा है। चम्बल के अनन्य उपासक श्री नारायणप्रसादजी ने पाँच-सात नदी-भक्तों को बुला लिया है और नर्मदा तथा क्षिप्रा के जीवन-चरित्रों के लिखाये जाने का प्रबन्ध हो रहा है।

इन्दौर में सरदार श्रीमती सौ० कमलाबाई किबे महोदया ने अन्तर्प्रान्तीय भाषाओं के विद्वानों की एक परिषद बुलाई है और वह यह निश्चय करेगी कि मराठी, गुजराती, तामिल, तेलुगु इत्यादि भाषाओं के किन-किन ग्रन्थों का हिंदी में अनुवाद किया जाय। परिषद को सरकार से पूरी-पूरी सहायता तथा सुविधा मिली है।

कवियों तथा साहित्यिकों की एक पार्टी बन्धुवर श्रीनवीनजी, श्रीमाखनलालजी चतुर्वेदी, श्रीमिलिन्दजी, श्री गणेशदत्तजी तथा अन्य प्रतिष्ठित साहित्यसेवियों के साथ मालव प्रदेश के प्राकृतिक स्थलों की यात्रा कर रही है। कभी पातालपानी पर कवि-सम्मेलन हो रहा है, तो कभी ओंकारेश्वर पर सन्तरण-प्रतियोगिता।

और वह पचपन वर्ष से ऊपर वाले साहित्यिकों की दौड़ हो रही है जिसमें कोई चाय-प्रेमी चौबे अव्वल आ रहा है!

और सब से अधिक महत्वपूर्ण कार्य यह हुआ है कि 'विक्रम चाय चक्रम' की स्थापना हो गई है, जिसकी मीटिंग प्रति पक्ष में एकबार हुआ करती है। राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक दलबन्दियों के रेगिस्तान में वही एक नखलिस्तान है। उसमें निबन्ध, कविता तथा कहानी इत्यादि का पाठ होता है, और वह किसी एक स्थान पर न हो कर भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुआ करती है।

विक्रम के लिए हमारे उपर्युक्त स्वप्न को सत्यसिद्ध करना कोई असम्भव कार्य नहीं!

'विक्रम' साहित्य-क्षेत्र में पुनः प्रवेश कर रहा है इस शुभ-मुहूर्त पर हम उसका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। ●

बनारसीदास चतुर्वेदी

सन २००० ईस्वी का बुन्देलखण्ड

●

आइये हम लोग स्वप्न देखें। कल्पना तो कीजिये, सन दो हजार में——यानी आज से सत्तावन वर्ष आगे चल कर——हमारे प्रांत बुन्देलखण्ड की क्या दशा होगी। संसार में स्वप्नों की जबरदस्त शक्ति है और जगत के निर्माण में स्वप्नदर्शियों का भारी हाथ है। दुनियाबी आदमी अपने संकुचित दृष्टिकोण से वर्तमान की और अपने स्वार्थ की ही बात सोचते हैं, और यदि कभी वे भविष्य की चिंता करते हैं तो अधिक से अधिक अपने कुटुंब की। उनके जाने दुनिया भाड़ में जाय, उन्हें इससे क्या गरज? ऐसे आदमी चींटी और मक्खियों की तरह पैदा होते और मर जाते हैं, पर स्वप्नदर्शियों की बात निराली है। वट वृक्ष के बीज की तरह वे अपने विचारों के बीज छोड़ जाते हैं, जो समय पाकर अंकुरित होते और महान वृक्ष का रूप धारण कर लेते हैं। संसार से आप स्वप्नदर्शियों को निकाल दीजिये तो फिर बाकी क्या रह जायगा? भांग के फाक की तरह ये एक निरर्थक बीज।

विमान का स्वप्न : पुष्पक विमान की कल्पना तो बहुत पहले की है। तीन हजार वर्ष हुए एक व्यक्ति ने यह स्वप्न देखा था कि मनुष्य आकाश में विचरण करेगा और उसने अपने लिए पर भी बनवाये थे। उसके लड़के ने इन परों को लगाकर उड़ने की कोशिश की, और वह समुद्र में गिर पड़ा। तीस पीढ़ियों बाद लियोनार्डो विन्सी ने विमानों के चित्र बनाये और उनके साथ एक टिप्पणी लिखी—देयर शैल बी विंग्स अर्थात कभी न कभी मनुष्य परों का आविष्कार कर ही लेगा।

लियोनार्डो अपने प्रयत्न में असफल हुआ और उसकी मृत्यु हो गयी, पर जगत के जीवन ने उसके स्वप्न को जीवित रक्खा। पीढ़ियाँ गुजरती गईं, लोगों के मन में यह आशंका होने लगी कि विमानों का स्वप्न बिलकुल झूठा है। अगर ईश्वर को यह मंजूर होता कि आदमी उड़े तो उसे पर क्यों न दिये होते। और फिर एक दिन ऐसा भी आया कि मनुष्य आकाश में निर्भयतापूर्वक विचरण करने लगा। तीन सहस्र वर्ष बाद स्वप्न सत्य सिद्ध हुआ। व्यक्तियों की मृत्यु होती है, पर स्वप्न जीवित रहते हैं। कोई महान साधक आकर उनकी सूखी हड्डियों में जान डाल देता है। भगीरथ की इक्कीस पीढ़ी पहले उनके लकड़दादा ने गंगाजी के लाने का स्वप्न देखा था, तब कहीं भगीरथ आगे चलकर अपनी इंजीनियरी में सफल हुए। आज तो गंगा माता करोड़ों ही प्राणियों को जीवन दे रही हैं। तबसे भगीरथ शब्द ही विशेषण बन गया है—यथा 'भगीरथ' प्रयत्न।

हमारे देश को—देश को ही नहीं प्रत्येक प्रांत, जनपद और नगर को स्वप्नदर्शियों की आवश्यकता है। कल्पना के आकाश में विचरण करना और फिर भी अपने पैर जमीन पर रखना—यानी वास्तविकता को न भूलना—यह अत्यन्त ही कठिन कार्य है। यह पूर्व जन्म के पुण्यों का परिणाम है—कठोर साधनाओं का फल। वैसे हवाई महल बनाने में क्या लगता है। जिस कल्पना के पीछे दृढ़ इच्छा-शक्ति नहीं; वह निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी है।

हमें प्रत्येक ग्राम के लिए ऐसे युवक चाहिये, जो कल्पनाशील हों। आगे की सोच सकें और साथ ही अपनी कल्पनाओं को साकार रूप में देखने के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न भी कर सकें। जब हम कोई कल्पना करते हैं तो सूक्ष्म रूप से वह आकाश में व्याप्त हो जाती है। उसे आकाश से उतार कर शरीर धारण कराना, यही कठिन कार्य है।

तो आइये, हम लोग कल्पना के आकाश में कुछ देर के लिए विचरण कर लें।

यात्री दल : बसन्त ऋतु का प्रारंभ है, सन दो हजार ईस्वी का फरवरी महीना है। सामने विशाल वक्षस्थल और वृषभस्कंध वाले पच्चीस युवकों की वह टोली वेत्रवती तट की यात्रा के लिए निकल पड़ी है। दो-तीन प्रौढ़ व्यक्ति भी उनके साथ हैं। दस-बारह मील रोज चलने का इनका नियम है। बेतवा के उद्गमस्थान से लेकर ओरछा तक यात्रा करने का इनका प्रोग्राम है। बेतवा माता का जीवन-चरित इनके पास है, जिसमें बेतवा तट के तमाम सुन्दर स्थलों की फोटो भी है। उन स्थलों पर विश्रामस्थल तथा धर्मशालाओं का निर्माण हो गया है। रामनौमी के दिन इन लोगों को ओरछा पहुंचना है।

दूसरी टोली दशार्ण (धसान), तीसरी केन और चौथी जामनेर के तट पर भ्रमण करेगी। हमारे विद्यालयों ने अपना पुराना अहमकपन (अर्थात वसन्त ऋतु में छात्रों को जेलखाने यानी स्कूल की चहारदीवारी में बंद करना) कभी का छोड़ दिया है। वसन्त ऋतु में पाँच सप्ताह की छुट्टियाँ हुआ करती हैं। इसी ऋतु में वसन्त व्याख्यान माला का प्रबंध होता है, इसलिए जितना उपयोगी व्यावहारिक ज्ञान वे स्कूल में साल भर में नहीं प्राप्त कर पाते, उससे कहीं अधिक डेढ़ महीने के भ्रमण में प्राप्त कर लेते हैं। प्रायः इन छात्रों की यात्रा ग्रामों में होकर होती है, इसलिए ग्रामवासियों के जीवन में भी रस का संचार होता चलता है।

ग्राम गीत और ग्राम नृत्य कभी के पुनर्जीवित हो चुके हैं और इन विद्यार्थियों में तो कितने ही ग्रामगीतों के प्रेमी हैं।

कृषि महाविद्यालय : ये विद्यार्थी ओरछे के कृषि महाविद्यालय के छात्रालय में आकर निवास करेंगे। जिस समय अन्य प्रांतों के ढेर के ढेर बी० ए० और एम० ए० निकल रहे थे--सब एक दूसरे के समान, टकसाल से निकले हुए रुपयों की तरह--तब बुन्देलखण्ड के बुद्धिमान शिक्षा-विशेषज्ञों ने अपनी परिस्थिति के अनुकूल और चारों ओर की जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले कृषि विद्यालय की स्थापना की थी। ग्रामीण कार्यकर्त्ताओं का ट्रेनिंग स्कूल भी यहाँ पर है और तुंगारण्य में जहाँ पहले तुंग ऋषि तपस्या करते थे--अब प्रांत की सबसे बड़ी गौशाला है।

जामनेर-बेतवा संगम : जामनेर वेतवा संगम इसी वन में हुआ है। और वहां स्वास्थ्यागार या सेनीटोरियम बना दिया गया है। देश-विदेश के सैकड़ों यात्री वहाँ आकर ठहरते हैं। आज से चालीस वर्ष पहले ही राज्य ने यह निश्चय कर लिया था कि अनावश्यक वृक्षों को छोड़कर एक डाली भी इस वन में से न कटने पावेगी। प्राकृतिक और कृत्रिम सौंदर्य का यहां अद्‌भुत मेल पाया जाता है और तुंगारण्य को लोग जर्मनी के ब्लैक फोरेस्ट का एक सूक्ष्म संस्करण मानने लगे हैं।

और देखिये, गोधूलि वेला के समय में यह वन कितना सुन्दर प्रतीत होता है। जिन्होंने पचास वर्ष पहले के बुन्देलखण्डी पशु देखे थे, उनकी आँखें सामने के गाय-बैलों को देखकर चौंधिया जावेंगी। तुलना के लिए आप उनके चित्र संग्रहालय में देख सकते हैं। कहाँ छटाँक भर दूध देने वाली, सूखे स्तन और रूखे बदन वाली चित्र लिखित गाय और कहाँ ये सामने खड़ी हुई गंगा, यमुना, बेतवा और जामनेर नामक गौमाताएं और उनके घड़ा भर दूध देने वाले स्तन। घी अब ढाई सेर का बिकता है और दूध बीस सेर का।

भारतवर्ष का उपवन : इस नाम को अब बुन्देलखण्ड ने सार्थक कर दिया है। इस प्रांत में सरोवरों तथा उपवनों की भरमार है और यहाँ से फल भारत के भिन्न-भिन्न भागों को भेजे जाते हैं। यहाँ के आमों, अमरूदों, आडुओं और नारंगियों तथा पपीतों ने आसपास के जिलों के बाजार पाट दिये हैं।

ग्राम विद्यालय : यहां के ग्राम्य विद्यालय उपवनों में अथवा नदियों या सरोवरों के तट पर स्थित हैं। डेनमार्क के ग्रामीण विद्यालयों की तरह की शिक्षा-संस्थाएं कायम करने का सौभाग्य पहले-पहल इसी प्रांत को प्राप्त हुआ था और इसी कारण इस विद्या में यह प्रांत आज सबसे आगे है। यहाँ आप ग्राम गीत सुन सकते हैं और ग्राम नृत्य भी देख सकते हैं। यहाँ विद्यार्थियों को ऐसी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है, जिसका ग्राम जीवन से घनिष्ठ संबंध है।

ये कुंजें---वृक्षों की सघन पंक्तियां जो सामने आपको दीख पड़ रही हैं, यहां के भूतपूर्व विद्यार्थियों की ही लगाई हुई हैं। मीलों तक चले जाइये, आपको सड़क के दोनों ओर मौलिश्री के सुगंधमय वृक्ष ही नजर आवेंगे। और कई सड़कें तो ऐसी हैं, जिनके दोनों ओर गुलाब खेत के खेत चले गये हैं। बरुआ सागर, जतारा और नंदन वाड़ा ने आज भारत भर में कीर्ति प्राप्त कर ली है। वसन्त ऋतु में भ्रमण करने के लिए दूसरे प्रांतों के सहस्रों मनुष्य इस प्रांत को आया करते हैं।

महापुरुषों के स्मारक : महापुरुषों के स्मारक-स्वरूप यहां उपवनों का निर्माण किया है। जिन डाक्टर महोदय ने इस प्रांत को मलेरिया से लगभग मुक्त ही कर दिया, उनकी स्मृति में एक बगीचा डाला गया था, वह अब खूब फूलने-फलने लगा है। हैजे का अब इस प्रांत में नामोनिशान नहीं है। पाँच वर्ष पहले कालरे के दस-बीस केस किसी जिले में हो गये थे। नतीजा यह हुआ कि वहां के डिस्ट्रिक्ट मेडीकल अफसर

बर्खास्त कर दिये गये, सारे का सारा स्टाफ बदल दिया गया और प्रांत के स्वास्थ्य विभाग में तहलका मच गया।

साहित्य संघ : यदि आपकी रुचि साहित्य की ओर है तो यहां के प्रांतीय साहित्य संघ का कार्यालय देख लीजिये। संग्रहालय भी उसी के साथ है और चित्रशाला भी। साहित्य-सेवियों की चित्रशाला के भी दर्शन कर लीजिये। यह स्वर्गीय कृष्ण बलदेव वर्मा का चित्र है, जो उन दिनों बुन्देलखण्ड के पीछे पागल थे, जब अन्य लोग-इस प्रांत की बिलकुल उपेक्षा कर रहे थे। वे मुंशी अजमेरीजी हैं, जिन्हें पाकर यह भूमि धन्य हुई थी और ये बुन्देल भूमिकोकिल घासीरामजी व्यास हैं, जिनका अल्पायु में ही स्वर्गवास हो गया था। और भी बीसियों चित्र हैं।

इतिहास परिषद : इतिहास परिषद का कार्यालय भी इसी संस्था से सम्बद्ध है। ऐतिहासिक चित्रशाला अलग ही है। और मूर्तियों का संग्रहालय अलग है। महाराज वीरसिंह देव (प्रथम), महाराज छत्रसाल-इत्यादि के चित्र यहां आप देख सकते हैं। सबके जीवन-चरित भी प्रकाशित हो चुके हैं।

ऋतुओं के उत्सव : प्रत्येक ऋतु के उत्सव यहां मनाये जाते हैं। वर्षोत्सव ने तो इस प्रांत के जीवन का पुर्ननिर्माण करने में बड़ी भारी सहायता पहुंचाई है। आज से पैंतालीस वर्ष पहले वर्षोत्सव का श्रीगणेश किया गया था और प्रत्येक बालक, युवा और वृद्ध पुरुष ने अपने-अपने नाम के पेड़ लगाना प्रारंभ किया था। प्रवेशिका परीक्षा में तो यह नियम कर दिया गया था कि जो विद्यार्थी अपने द्वारा लगाये हुए दस वृक्ष न दिखला सके तो उसे प्रमाणपत्र ही नहीं मिलता था। बेलों और कुंजों तथा पुष्पों के लगाने का कार्य कन्याओं और महिलाओं के सुपुर्द कर दिया गया था। सघन छाया वाले अथवा फलप्रद वृक्षों का काटना भयंकर जुर्म करार दे दिया गया। पैंतालीस वर्ष की इस साधना का परिणाम आज हमें दीख पड़ रहा है। यहां पानी वक्त पर बरसता है, अन्य ऋतुएं समय-समय पर आकर अपना प्रभाव दिखलाती हैं और लोग अकाल शब्द को ही भूल गये हैं। यहां के किसी युवक ने दुर्भिक्ष देखा ही नहीं, हां बूढ़े बाबा जब उनका जिक्र करते हैं तो युवक इस बात पर विश्वास ही नहीं कर पाते कि कभी यहाँ पाँच-छह सेर के गेहूं बिकते थे।

बाबा से बातचीत : देखिये, सामने एक वृद्ध महोदय चले आ रहे हैं। इनसे बातचीत कर लीजिये। ये पिचहत्तर वर्ष के तो होंगे।

प्रश्न—कहा बब्बाजू, कहाँ घूम रहे हो?

उत्तर—यों ही इस कुंज की सैर करने निकल आया हूं। श्यामा गाय भी साथ में है। वह यहीं कहीं चर रही है। दस-बारह सेर दूध दे देती है। घर का काम चल जाता है।

प्रश्न—बब्बा, आप तो पचास-साठ वर्ष पहले की बात कह सकते हैं। कुछ सुनाइये तो सही।

बाबा मानो एक पुराने कष्ट-प्रद स्वप्न की याद करने लगे और फिर दुखित होकर बोले :

"उन दिनों की बात मत पूछो, भैया! यह प्रांत उन दिनों अत्यन्त दीन अवस्था में था। आज तो श्यामा गाय की तरह की गोमाताएं घर-घर में पाई जाती हैं, पर उन दिनों तो इनके दर्शन दुर्लभ थे। राजा-महाराजाओं की गोशालाओं में भी उनका नामोनिशान मिट गया था। बच्चों को दूध तो क्या, मठा या छाछ भी नहीं मिलते थे। हमारे घर पर एक बार ऐसे अतिथि आए जो गोघृत खाने की प्रतिज्ञा लिये हुए थे। सच कहता हूं, आस-पास के दसबीस ग्रामों में तलाश करने पर भी पांच-सात सेर गोघृत नहीं मिला। मिलता कहां से, गायें तो आध-आध पाव दूध देने वाली थीं।"

प्रश्न—और उन दिनों के स्कूल?

उत्तर—स्कूल क्या थे, अस्तबल थे। कहीं पर हरियाली दीख नहीं पड़ती थी। उपवन नष्ट हो रहे

थे और विद्यार्थी ईंट-पत्थर के जेलखानों में ऊंघते हुए मास्टरों से पढ़ा करते थे। स्कूलों का वक्त था दस बजे से चार बजे तक का, जो भारतीय गुलामी का सूचक था। स्कूलों में सैकड़ों विद्यार्थी ऐसे थे, जो नदी के निकट रहते हुए भी तैरने के शौकीन नहीं थे। सौंदर्य की भावना का उनमें उदय ही नहीं हुआ था। और अध्यापक लोग माशे अल्लाह थे। किसी के तोंद निकल आई थी तो किसी के गाल पिचके हुए थे और तेज तो किसी के चेहरे पर था ही नहीं। आज तो इस प्रांत में अध्यापकों को सबसे अधिक वेतन मिलता है, पर उन दिनों ग्राम-स्कूल के अध्यापक आठ-दस रुपये ही पाते थे। सवेरे से ट्यूशन करते थे। और क्लास में आकर सोते थे।

प्रश्न––सोने वाले अध्यापक !

उत्तर––और क्या आठ रुपये में आपको जीते-जागते अध्यापक मिल सकते थे। आज की-सी हालत थोड़े ही थी। आज तो सर्वोत्तम व्यक्ति ही शिक्षा विभाग में लिए जाते हैं। उन दिनों जिसे और कोई काम नहीं मिलता था, वह या तो अध्यापक बन जाता था, या फिर कोई अखबार निकाल देता था। उन दिनों की याद ताजा न कराइये, कष्ट होता है। मेरे देखतेही-देखते कितने ही ग्राम हैजा और मलेरिया के शिकार हो गये थे। आज तो आप गर्दन टेढ़ी करके अभिमानपूर्वक स्वाधीन बुन्देलखण्ड में विचरण कर रहे हैं, आप उन दिनों की दासता और क्षुद्रता का अनुमान भी नहीं कर सकते।

बस बब्बाजू को अधिक कष्टदेने की जरूरत नहीं। इनकी श्यामा गौ का आधा-आधा सेर दूध पीकर हम लोग आगे बढ़े। अभी तो हमें चार मील चल कर कुण्डेश्वर पहुंचना है। वहां के कुण्ड में स्नान करेंगे तथा पास के मधुवन में सैर। संगम पर चल कर दाल-बाटी बनेगी। अपने प्रांत की पचास वर्ष पहले की दुर्दशा का वृत्तांत सुनकर चित्त को जो ग्लानि हुई है, उसे जामनेर तट के ऊषा-विहार में नौका-विहार करके मिटावेंगे। धन्यवाद है, माता वेत्रवती और धसान को, केन को और जामनेर को जिनके आशीर्वाद से हमारे प्रांत को पुनर्जीवन मिला।

प्रांत निर्माण

‘अहं हि नगरी लंका स्वयमेव प्लवंगम
सर्वतः परिरक्षामि अतस्ते कथितं मया’
“अरे ओ बंदर ! मैं तुझ से कहे देती हूं कि मैं स्वयं लंका नगरी हूं और उसकी सब तरह से रक्षा किया करती हूं। यह तू निश्चय जान ले।”

आदिकवि वाल्मीकि ने सहस्रों वर्ष पूर्व नागरिकता का जो सन्देश इन सात शब्दों में दिया था वह आज भी ज्यों-का-त्यों ताजा और स्फूर्तिप्रद है। जब हनुमानजी लंका के द्वार पर गये थे तो उक्त नगरी की रक्षिका एक राक्षसी ने दृढ़तापूर्वक ये वचन कहे थे––मैं स्वयं लंका हूं। मेरी उपेक्षा करके इस नगरी में प्रवेश करना असंभव है। आज प्राण तुम्हारा साथ छोड़ देंगे और मेरे द्वारा निहत होकर तुम यहीं सोओगे।

आज जब कि बुन्देलखण्ड के अलग प्रांत बनाये जाने का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित है, हम प्रतीक्षा करते हैं उन पुरुषों की जो बुलन्द आवाज में कह सकें––हम स्वयं बुन्देलखण्ड हैं।

स्पष्ट घोषणा की आवश्यकता : यदि हम चाहते हैं कि हमारा आंदोलन सफल हो तो इस आंदोलन के संयोजक को अपनी स्थिति प्रारंभ में ही बिलकुल स्पष्ट कर देनी चाहिए। इस महायज्ञ के करने वालों के हाथ पवित्र होने चाहिए और उनके उद्देश्य निर्मल। यह प्रश्न है बुन्देलखण्ड के ७०-७५ लाख व्यक्तियों के भाग्य का और इसके साथ खिलवाड़ नहीं की जा सकती।

बुन्देलखण्ड प्रांत का निर्माण संयुक्त प्रांत तथा मध्य प्रदेश के कुछ जिलों को लिये बिना न हो सकेगा (वे जिले जो वस्तुतः बुन्देलखण्डी हैं) और उन जिलों के निवासियों में राजनैतिक जागृति पर्याप्त मात्रा में हो चुकी है। जबतक उन लोगों को यह दृढ़ विश्वास न हो जायगा कि नवीन प्रणाली में उनके अधिकार आज से किसी भी अंश में कम न होंगे और उनको अपनी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा संबंधी उन्नति के लिए वर्तमान से कहीं अधिक सुविधाएं होंगी, तब तक वे हमारे आंदोलन का समर्थन नहीं कर सकते।

कुछ लोगों को यह आशंका है कि इस आंदोलन के पीछे कुछ व्यक्तियों अथवा समूहों की राजनैतिक महत्वाकांक्षाएं काम कर रही हैं। इस शंका को निर्मूल करके ही हम आगे बढ़ सकते हैं। लोकमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है कि इस आंदोलन के संचालक दिल खोलकर साधारण जनता से बातचीत कर लें।

हमारा व्यक्तिगत दृष्टिकोण : बुन्देलखण्ड प्रांत के निर्माण का आंदोलन इसी प्रांत के कार्यकर्ताओं द्वारा होना चाहिये और कोई बुन्देलखण्डी ही इसका नेतृत्व ग्रहण कर सकते हैं। कलकत्ते की 'जागृति' ने हम पर यह इलजाम लगाया है कि हमें राजनैतिक नेता बनने का शौक चर्राया है और हमने गर्दभ स्वर से यह आवाज ऊंची की है कि भारत में प्रांतों का गठन बोलियों के आधार पर होना चाहिये।

स्वर के विषय में हमें कोई ऐतराज नहीं, पर 'जागृति' का प्रथम आक्षेप सर्वथा निराधार है। राजनैतिक नेता बनने की आकाँक्षा न कभी हमारे मन में थी और न अब भी है। हम उसके लिए सर्वथा अयोग्य हैं और राजनैतिक नेतृत्व हमारी रुचि की चीज भी नहीं।

प्रांत निर्माण के विषय में हमारा मत मुख्यतया सांस्कृतिक तथा साहित्यिक तथ्यों पर निर्भर है।

यदि माता वेत्रवती का विस्तृत जीवन-चरित कोई लिख दे, उसके जल का उपयोग कृषकों के लिए हो जाय और उसके तट पर शिक्षा संबंधी सांस्कृतिक तथा औद्योगिक संस्थाएं स्थापित हो जायं तो हमें इस बात की कोई चिंता नहीं कि कौंसिलों में कौन बैठता है––(आदमी या हैवान और ऑनरेबिल की उपाधि किसे मिलती है।)

केन के तट पर का कवि-सम्मेलन हमारे लिए कौंसिल के वाद-विवाद से अधिक महत्व रखता है और किसी भी राजनैतिक मीटिंग को छोड़कर आल्हा सुनने के लिए हम हर समय उद्यत हैं।

शासन की व्यवस्था के हम उतने ही अंश तक पक्षपाती हैं, जितने अंश तक वह हमारे साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक कार्यों को निर्विघ्न होने देती है, शेष शासन क्लर्कों और डेस्कों का सिर फुड़ौवल मात्र है।

हमारी दिलचस्पी साधारण आदमियों में है। प्रांत निर्माण से टूटे खंगार, सूरे धीमर, किसान खटीक, गोविंदा अहीर, भैयालाल जैन, ठाकुर बलदेवसिंह और पंडित कृष्णकिशोर द्विवेदी तथा मौलवी साहब मंजर को क्या लाभ होगा, हमारे लिए यही प्रश्न मुख्य है। यदि बुन्देलखण्ड के अलग प्रांत बनने से अल्प संख्यक मध्य श्रेणी के महत्वाकांक्षी पूंजीपतियों, वकीलों, डाक्टरों अथवा जमींदारों या नरेशों का हित ही होता हो और जनता की दशा ज्यों-की-त्यों बनी रहे तो हम ऐसे प्रांत निर्माण को हजार बार दूर से ही नमस्कार कर देंगे। अगर प्रांत-निर्माण के मानी ये हैं कि कोई पूंजीपति बेतवा के किनारे मिल खोल कर आस-पास के मजदूरों का शोषण करने लगे और माता बेतवा के जल को गंदा करे तो हम ऐसे प्रांत-निर्माण का घोर विरोध ही करेंगे।

हम उसी प्रांत-निर्माण के पक्षपाती हैं, जो गरीबों के लिए अन्न-वस्त्र की समस्या को हल करे। उनमें स्वाभिमान की भावना जाग्रत करे, उनके बच्चों के लिए अच्छी-से-अच्छी शिक्षा की आयोजना करे और उनके पास इतना अवकाश छोड़ दे कि वे साहित्य, संस्कृति अथवा कला-संबंधी कार्यों में रुचि रख सकें।

यदि प्रांत-निर्माण के नाम पर कोई पंजाबी या युक्त प्रांतीय ठेकेदार यहां के जंगल के वृक्षों को काट कर इस भूमि को रेगिस्तान बना दे तो हम यही समझेंगे कि वह हमारी माता के वक्षस्थल पर कुठाराघात कर रहा है।

हम प्रांत-निर्माण का समर्थन इसीलिए कर रहे हैं कि हमें बुन्देलखण्ड की नदियों से प्रेम है, यहां के वनों के प्रति श्रद्धा है और यहाँ के फल-फूल और वृक्षों को हम सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

हम यह देख रहे हैं कि यदि इस प्रांत में, प्रांत-प्रेम की भावना जाग्रत न हुई तो पन्द्रह-बीस वर्षों में यह सस्यश्यामला भूमि रेगिस्तान का रूप धारण कर लेगी।

पांच वर्ष तक इस भूमि के अन्न-जल ने हमारा पालन किया है, यहां के वनों, उपवनों में हमने स्वास्थ्य-लाभ किया है और यहां के स्वाधीन पशु-पक्षियों ने हमारा मनोरंजन किया है, इसलिए कृतज्ञता का यह तकाजा है कि हम यथाशक्ति अपने कर्जे को अदा करें।

जब हम देखते हैं कि अप्रगतिशील छोटे-छोटे गंदे सरोवर यहां सैकड़ों की संख्या में विद्यमान हैं और उनमें प्रगति की धारा ले आने से वे स्वच्छ हो सकते हैं तो हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम ऐसी आयोजनाओं का समर्थन करें, जो उक्त उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकती हैं।

हमारी बाधाएं: आज से ढाई वर्ष पूर्व अपनी एक साहित्यिक आयोजना श्रीयुत व्योहार राजेंद्रसिंहजी एम० एल० ए० (जबलपुर) की सेवा में भेजी थी। उसकी स्वीकृति भेजते हुए उन्होंने अपने ३१ जुलाई, १६४० के पत्र में लिखा था:

'भाषा की दृष्टि से ब्रज साहित्य मण्डल या बुन्देलखण्ड मण्डल का संगठन आवश्यक है, किन्तु राजनीतिक प्रांत विभाजन के कारण भाषा संबंधी एकता तथा आपसी संपर्क में बड़ा भारी व्याघात उपस्थित हो गया है। बुन्देलखण्डी भाषाभाषी महान जन-समूह संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, तथा छोटी-छोटी देशी रियासतों में बिखरा हुआ पड़ा है। उसकी संपूर्ण एकता तबतक संभव नहीं, जब तक वह एक अलग राजनीतिक प्रांत में संगठित नहीं कर दिया जाता। कुछ वर्ष पूर्व राजनीतिक संगठन की दृष्टि से मध्य प्रांत के हिंदी और मराठी भाषी जिलों को अलग कर उनमें युक्त प्रांत के दक्षिणी जिले शामिल करके एक अलग हिंदी प्रांत बनाने का आंदोलन चलाया गया था। राजनीतिक एकता और साहित्यिक संगठन, दोनों की दृष्टि से इस आंदोलन को फिर से उठाने की आवश्यकता है। किन्तु इसका सूत्रपात मध्य भारत साहित्य सम्मेलन अथवा बुन्देलखण्ड साहित्य मण्डल सरीखी संस्थाओं से किया जा सकता है।

बिहार अथवा युक्त प्रांतीय साहित्य सम्मेलनों का संगठन अधिक सरल है, क्योंकि उनके राजनीतिक तथा साहित्यिक वृत्तों की परिधि एक ही है। किन्तु मध्य प्रांत सरीखे फुटकर प्रांत के लिए यह बात कठिन है। यहां तो भाषा तथा प्राचीन परंपरागत प्रांतीयता के अनुसार कांग्रेस ने तीन प्रांतों की रचना स्वीकार की है—महाकौशल, मराठी मध्य प्रांत तथा विदर्भ। अतः यहां सारे मध्य प्रांत के लिए एक ही प्रांतीय साहित्य सम्मेलन की स्थापना अभी सफल नहीं हो सकी, यद्यपि इसकी स्थापना बीस वर्ष पूर्व की गई थी और उसे पुनः जाग्रत करने के भी कई प्रयत्न किये गये। कारण, इसके अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में भाषा या संस्कृति संबंधी एकता का अभाव है। जब राजनीतिक दृष्टि से भी यह प्रांत सफल नहीं हो सका और प्रत्येक मौका पाते ही अलग होने की चिंता में रहता है (अभी हाल में महाकौशल की तरह महा विदर्भ

प्रांत की रचना की चर्चा भी चल पड़ी है), तब साहित्यिक क्षेत्र में वह कहां तक एकचित्त रह सकता है। इस प्रांत के उत्तरी जिलों में बुन्देलखण्डी बोली जाती है और बोली-बानी, चाल-ढाल तथा रीति-रिवाज में अपने पड़ोसी नागपुर या छत्तीसगढ़ की अपेक्षा वह बुन्देलखण्ड के अधिक समीप है। अतः बुन्देलखण्ड के किसी भी संगठन में शामिल होने को ये उत्तरी जिले सदा तैयार हैं।

"अन्त में आपने बुन्देलखण्ड के चार-पाँच आदमियों से यह काम अपना लेने की बात कही है। मैं नहीं जानता कि मैं इसके उपयुक्त हूं या नहीं, किन्तु अपनी नम्र सेवाएं इस कार्य के लिए आपको समर्पित करता हूं।"

इससे स्पष्ट है कि गलत राजनैतिक विभाजन हमारे साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में कितना बाधक होता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यौहार राजेन्द्रसिंहजी मध्य प्रांत की कांग्रेस के एक गणमान्य नेता हैं और आज से १५ वर्ष पहले सन १९२८ में हिंदी प्रांत के विभाजन का जो आंदोलन चला था उसकी कमेटी के वे मंत्री थे। सन १९२७ में 'कर्मवीर' में हिंदी प्रांत के निर्माण के पक्ष में एक लेखमाला पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र ने भी लिखी थी। इस प्रकार यह आंदोलन कोई नवीन चीज नहीं है।

जहां तक हमारा इस प्रश्न से संबंध है, हमने आज से ९ वर्ष पहले फरवरी १९३४ के 'विशाल भारत' में बुन्देलखण्ड, व्रज तथा अवध इत्यादि जनपदों के साहित्यिक तथा पृथक सांस्कृतिक व्यक्तित्व के लिए जोरदार शब्दों में लिखा था। उस समय हमारे मन में यह कल्पना भी नहीं थी कि कभी हमें इस प्रांत में रहने के लिए आना पड़ेगा। उस लेख के लिखे जाने के साढ़े तीन वर्ष बाद अक्तूबर सन १९३७ में हमें इस भूमि में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

हमारा स्वप्न : हम उस दिन के स्वप्न देख रहे हैं जब कि इस प्रांत के भिन्न-भिन्न भागों में बंटे हुए मूक मानव-समाज को वाणी मिलेगी, जबकि वे वास्तविक अर्थों में पुरुष कहलाने के अधिकारी होंगे और जब कि यहां की प्रकृति (नदी-नद, सरोवर, वन-उपवन, पशु-पक्षी, वृक्ष-जगत) इस बात का अनुभव कर सकेगी कि यहां के पुरुष के बाहुओं में कुछ बल भी है।

जो वरुआसागर आज संयुक्त प्रांत के एक पुछेले जिले का एक पोखरा (तालाब) है, वह बुंदेलखण्ड का एक सुरम्य सरोवर बन जायगा, जहां स्वास्थ्य-लाभ तथा मनोरंजन करने के लिये अखिल भारत के यात्री आया करेंगे।

जिन्होंने ओरछा के किलों से माता वेत्रवती का महान गौरवमय दृश्य देखा है, वे कह सकते हैं कि इस प्राकृतिक वैभव का मेल एक राज्य की उजड़ी हुई तहसील से नहीं, बल्कि प्रांत के प्रधान केन्द्र से ही हो सकता है।

सोलह वर्गमील के क्षेत्रफल वाले नदनबाड़ा सरोवर के तट पर हम बीसियों फलों के उपवनों के स्वप्न देख रहे हैं और हम उन बहुसंख्यक स्वास्थ्यागारों (सेनीटोरियमों) की कल्पना कर रहे हैं, जो आस-पास के प्रांतों के संत्रस्त प्राणियों को विश्राम तथा शांति प्रदान करेंगे। यदि आगरा तथा लखनऊ के केन्द्र हमारे विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा प्रदान करेंगे तो हम उक्त जनपदों के नवयुवकों को प्रकृति के संपर्क में लाकर मजबूत मनुष्य बनावेंगे। जबतक भिन्न-भिन्न जनपदों में यह आदान-प्रदान न होगा, जब तक वे एक दूसरे के पूरक न होंगे, तब तक हमारी मातृभूमि भारत में दीनता का अखण्ड तांडव ही होता रहेगा।

बुन्देलखण्ड प्रांत के पृथक निर्माण के समर्थकों तथा विरोधियों को यह बात भलीभांति समझ लेनी

चाहिए कि यह प्रांत अपना पृथक राजनैतिक व्यक्तित्व केवल इसीलिए माँग रहा है कि वह अधिक योग्यतापूर्वक अखण्ड भारत की सेवा कर सके।

पाकिस्तान रूपी बीमारी के लिए यह तो रामबाण औषधि है। साम्प्रदायिक कीटाणुओं को मारने के लिए यह अचूक दवाई है। फिरकेबंदी रूपी वृक्ष की जड़ पर कुठाराघात है। बेतवा और धसान, केन और जामनेर समान रूप से हम सब की माताएं हैं, और मजहबी झगड़ों से इसका कोई संबंध नहीं।

यज्ञ के संयोजकों से : इस महायज्ञ के संचालकों को भगवान श्रीकृष्ण के निम्नलिखित शब्द याद रखने चाहिए—

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विक

अर्थात्—सात्विक यज्ञ वही कहलाता है, जो फल की कामनाओं से रहित पुरुषों के द्वारा किया जाता है और जिसमें याजक लोग यह समझ कर कि यह यज्ञ परमात्मा (महामानव) की प्रसन्नता के लिए किया जा रहा है, भाग लेते हैं।

एक बार जनता को यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि इस आंदोलन के नेता सर्वथा निःस्वार्थ भाव से अपनी सेवाएं अर्पित कर रहे हैं—उनका पिछला रिकार्ड निर्मल है, वर्तमान कार्यपद्धति निर्दोष है और भविष्य में वे जनता के शासक नहीं, सेवक ही बनना चाहते हैं—तो फिर इस आंदोलन को वह प्रबलता प्राप्त होगी, जो विघ्नबाधाओं को तृणवत दूर फेंक देगी।

जिस दिन महर्षि बाल्मीकि के शब्दों में कोई पुरुष सिंह गंभीर ध्वनि में दहाड़ सकेगा :

'अहं हि खण्ड बुन्देलः स्वयमेव प्लवंगम'

उसी दिन प्रांत निर्माण का बीजारोपण हो जायगा। उस सिंहशिशु के नामकरण-संस्कार करने की किसी को आवश्यकता न पड़ेगी और अपने विचरने के लिए वह स्वयं ही क्षेत्र तैयार कर लेगा।

स्वर्गीय मुंशी अजमेरीजी के शब्दों में वह क्षेत्र होगा—

यमुना उत्तर और नर्मदा दक्षिण अंचल
पूर्व ओर हैं टोंस पश्चिमांचल में चम्बल
उत्पर केन धसान बेतवा सिंध बही हैं
विकट विन्ध्य की शैल श्रेणियां फैल रही हैं।
विविध सुदृश्यावली अटल आनंद भूमि है।
प्रकृति छटा बुन्देलखण्ड स्वच्छंद भूमि है।
चित्रकूट गिरि यहां जहां प्रकृति प्रमुताद्भुत।
बनवासी श्रीराम रहे सीता लक्ष्मण युत।
हुआ जनकजा स्नान नीर से जो अति पावन
जिसे लक्ष्य कर रचा गया धाराधर-धावन।
यह प्रभु पद रजमयी पुनीत प्रणम्य भूमि है।
रमें राम बुन्देलखण्ड वह रम्य भूमि है। ●

खंड : छह

●

हिन्दी पत्रकारिता के पचास वर्ष

●

लेखन के क्षेत्र में चतुर्वेदीजी ने अर्द्ध शताब्दी पूर्व प्रवेश किया था––उन्होंने जहां मौलिक साहित्य का सृजन किया है, वहां तेजस्वी पत्रकार तथा कुशल सम्पादक के रूप में भी अग्रगण्य स्थान प्राप्त किया है। 'विशाल भारत', 'मधुकर' तथा अन्य पत्रों के द्वारा उन्होंने पत्रकारिता के मान-दण्ड को ऊंचा किया है। इस खण्ड में हिन्दी-पत्रकारिता के पचास वर्ष का लेखा-जोखा हम संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे उनके पत्रकारिता के योगदान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है····

जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

हिंदी पत्रकारिता को चतुर्वेदीजी का योगदान

•

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी एक सफल संपादक के रूप में प्रसिद्ध होने से पहले ही एक शक्तिशाली लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। जब वह इन्दौर के डेली कालेज में अध्यापक थे तभी 'फीजीद्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' और 'प्रवासी भारतवासी' के लेखक के रूप में उनकी कीर्ति-पताका फहरा चुकी थी, जिसके कारण पहले श्री सी० एफ० एंड्रयूज ने उन्हें शांतिनिकेतन में और फिर महात्मा गाँधी ने उन्हें प्रवासी भारतीयों के कार्य के लिए साबरमती की गुजरात विद्यापीठ में बुलाया। इस बीच वे 'लीडर' तथा 'हिन्दू' जैसे उस समय के ख्यातिनामा पत्रों में संवाद व लेख लिखा करते थे। गुजरात विद्यापीठ छोड़ने के पश्चात श्री चतुर्वेदीजी ने 'लीडर' के संवाददाता का काम जारी रक्खा। फिर कुछ दिनों के लिए 'आर्यमित्र (आगरा) में नौकरी कर ली, लेकिन जब उन्होंने नवम्बर १९२७ से श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय के 'विशाल भारत' मासिक का संपादन करना स्वीकार कर लिया, हिन्दी पत्रकारिता ने एक नया मोड़ लिया, उसमें नयी दिशा आई और सही माने में आधुनिक पत्रकारिता का हिन्दी में प्रवेश हुआ। उसके बाद पिछले चालीस वर्षों तक हिन्दी पत्रकारिता को श्री बनारसीदासजी ने जो दिशा दी और उसके साथ ही नये-नये लेखकों, कवियों तथा आन्दोलनों का श्रीगणेश किया उसकी मिसाल भारत की किसी अन्य भाषा में नहीं मिलती। अन्यत्र भी श्री होरेस ग्रीली जैसे एकाध सम्पादक ही होंगे, जिनको उनके जितना यशस्वी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

हिन्दी के लेखकों को प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा आश्रय देने में बनारसीदासजी ने जो काम किया, दिवंगत साहित्यकारों की जो कीर्ति-रक्षा की, उसका यदि विवरण तैयार किया जाय तो एक महाग्रंथ बन जायगा। आज से ४५ वर्ष पहले श्री पद्मसिंह शर्मा ने उनको लिखा था—"आप सचमुच हिन्दी लेखकों के 'मसीहा' हैं, मुर्दों को जिन्दा कर रहे हैं, पर यह तो सारी जाति ही मुर्दा है। किसे-किसे जिन्दा कीजियेगा? यहां तो जीतेजी मुर्दा हैं।

"क्या सचमुच शताब्दी मनाई जायगी? राजा साहब (लक्ष्मणसिंह) का भाग्य इतने दिनों बाद जागकर रहेगा। मैं तो कहता हूं भाग्यशाली हैं वे हिन्दी लेखक, जो आपके सामने मर जायंगे, मरने वालों को जल्दी करनी चाहिए। एक 'मसीहा' है और मरने वाले बहुत। अकेला मसीहा हार जायगा।"

पर 'मसीहा' नहीं हारा। इन पिछले पैंतालीस वर्षों में न केवल साहित्यकारों वरन साधारण-से-साधारण देशसेवकों से लेकर क्रांतिकारियों तक की कीर्ति-रक्षा के लिए बनारसीदासजी सदैव कुछ-न-कुछ करते रहे और आज भी वह पीछे नहीं हटे हैं।

'विशाल भारत' की स्थापना से पूर्व श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' का संपादन कर सम्पादन-

कला का एक कीर्तिमान स्थापित कर चुके थे। स्वयं बनारसीदासजी उनके प्रशंसक तथा अनुगामी थे। फिर प्रश्न उठता है कि बनारसीदासजी ने 'विशाल भारत' के रूप में हिन्दी को क्या दिया, जो पहले उपलब्ध न था, या लोप हो चुका था?

'विशाल भारत' ने हिन्दी पत्रकारिता को सभी प्रकार सम्पन्न कर आधुनिक बनाया। सम्पादकाचार्य श्री रामानन्द चटर्जी का सान्निध्य तथा सहकार, बंगला तथा अंग्रेजी मासिक पत्रों के साथ घर में ही होड़, शांतिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा श्री सी० एफ० एंड्रूज के सहयोग तथा अहमदाबाद में महात्मा गांधी के संरक्षण, पूर्वी अफ्रीका की यात्रा, प्रवासी भारतवासियों के प्रति समवेदना और काम की शर्तों के रूप में व्यक्तिगत सन्तोष और सुविधा ने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की स्वाभाविक सहृदयता, परदुःखकातरता और उदारता के गुणों को बढ़ाया, उनका दृष्टिकोण अत्यन्त आधुनिक व विशाल किया। कलकत्ता महानगरी के प्रवास ने उन्हें नवीनतम विचारों की टक्कर का आदी बनाया और उनके द्वारा हिन्दी संसार ने एक सर्वतोमुखी उदारवादी परंपरा प्राप्त की। यहां पर श्री बनारसीदासजी रामानन्द बाबू जैसे गुरु से भी आगे बढ़ गये। श्री चटर्जी जब सूरत में हिन्दू महासभा की अध्यक्षता कर रहे थे, अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के एक भूतपूर्व सदस्य श्री बनारसीदास चतुर्वेदी उन्हीं द्वारा संचालित और घाटे में निकलने वाले पत्र 'विशाल भारत' में उनके भाषण की आलोचना संपादकीय अग्रलेखों में कर रहे थे। और क्या गजब का लेखन-स्वातंत्र्य था कि रामानन्द बाबू ने श्री चतुर्वेदी को नोटिस देने के बजाय अपना नाम भर (पैसा नहीं) संचालक के नाम से हटा लिया और संपादक को पत्र लिखकर अपने दृष्टिकोण को प्रकट किया।

'विशाल भारत' की स्थापना के समय श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने यह सुझाव दिया था कि सर्वोत्तम हिन्दी लेखकों की रचनाओं के लिए उन्हें आमंत्रित किया जाय तथा धारावाहिक उपन्यास भी छापा जाय। उस समय बनारसीदासजी ने प्रस्ताव किया कि हिन्दी लेखकों को उनकी रचनाओं के लिए पुरस्कार दिया जाय तथा उपन्यास लेखक का कापीराइट अधिकार उसके हाथ ही में रहे। उस समय २ अक्टूबर १९२७ को श्री रामानन्द चटर्जी ने बनारसीदासजी को एक पत्र लिखा था, "जैसा कि आपका प्रस्ताव है, हम लेखों के लिए पारिश्रमिक देंगे। उपन्यासों के लिए भी पारिश्रमिक दिया जायगा। हम तो केवल धारावाहिक रूप में प्रकाशन का अधिकार चाहते हैं। लेखक बाद में उसे पुस्तक के रूप में छाप सकता है। स्वत्वाधिकार उसी का रहेगा।"

इसी पत्र में श्री रामानन्द चटर्जी ने कुमायूं के प्रसिद्ध कलाकार 'मोलाराम' के संबंध में एक लेख लिखाने का सुझाव दिया था। यह संकेत करता है कि किस प्रकार 'विशाल भारत' नयी सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक बनता जा रहा था।

जब हम स्मरण करते हैं कि मोलाराम की चित्रकला पर पहली अंग्रेजी पुस्तक १९६९ में प्रकाशित हुई है—लेखक वही श्री मुकुन्दीलाल हैं तो हमें पता लगता है कि 'विशाल भारत' के माध्यम से हिन्दी पत्रकारिता को कितना भविष्यद्रष्टा बनाया।

'विशाल भारत' ने निर्माण और खंडन दोनों प्रणालियों को जोरदार ढंग से अपनाया। पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पं० सोहनलाल द्विवेदी, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री हरिवंश राय 'बच्चन', श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', श्री सियारामशरण गुप्त, श्री अख्तर हुसैन रायपुरी, श्री अज्ञेय, श्री शांतिप्रिय द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, श्रीराम शर्मा जैसे लेखकों को 'विशाल भारत' ने कस कर प्रोत्साहन दिया। परन्तु

जहां 'विशाल भारत' ने हिन्दी के उदीयमान लेखकों और कवियों को उछाल दी, वहां यह 'विशाल भारत' ही था, जिसने श्री देवमित्र धर्मपाल, भिक्षु उत्तम, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, श्री सी० वाई० चिंतामणि, आचार्य गिडवानी, श्री दयानारायण निगम और मुंशी जगनकिशोर हस्न से हिन्दी पाठकों का परिचय कराया। 'विशाल भारत' ने प्रिंस क्रॉपॉटकिन, एमर्सन और थोरो का हिन्दी पाठकों को परिचय दिया, तुर्गनेव और गोर्की के उपन्यास व कहानियां छापीं, कला, विज्ञान तथा देश-विदेश की अन्य उपलब्धियों से परिचय कराया। 'विशाल भारत' हिन्दी पाठकों का एक चलता-फिरता पुस्तकालय बन गया।

परन्तु 'विशाल भारत' की प्रतिष्ठा इन गुणों के लिए नहीं थी। वह तो अपने प्रचार-अभियानों के लिए विख्यात था। कभी घासलेटी साहित्य के विरुद्ध अभियान चला, कभी निरालाजी की 'बिल्लेसुर बकरिहा' जैसी रचनाओं का मजाक उड़ा, कभी राधेश्याम कथावाचक या चतुरसेन शास्त्री का नम्बर आया, तो कभी 'चांद' के मारवाड़ी अंक का। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की कलम भय की प्रतीक बन गयी। उग्र हों या निराला, दुलारेलाल भार्गव हों या मूलचन्द्र अग्रवाल, जिसके ऊपर उनका कलम-कुल्हाड़ा चल गया, वह यदि मरा नहीं तो अधमरा जरूर रह गया और तभी पनप पाया जब 'विशाल भारत' ने उनका नोटिस लेना बंद कर दिया।

परन्तु 'विशाल भारत' ने अन्य आंदोलनों को भी जन्म दिया। उनके "कस्मै दैवाय" नामक अग्रलेख ने इस प्रश्न पर उग्र परिचर्या प्रारंभ कर दी कि लेखन सोद्देश्य हो या उद्देश्यहीन। उन्होंने दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का समर्थन किया, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की राजनीति से मोर्चा लिया, हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न मण्डलों—ब्रज, बुन्देलखंड, अवध आदि में साहित्य-कार्य का नारा बुलन्द किया, जो बाद में उनके द्वारा विकेन्द्रीकरण और जनपदीय आंदोलनों के नाम से टीकमगढ़ से विकसित हुआ। 'विशाल भारत' के माध्यम से ही उन्होंने 'चाँद'-संपादक मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव की बर्खास्तगी पर पत्रकारों की सुरक्षा का आंदोलन छेड़ दिया। बाद में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने टीकमगढ़ में रहते हुए भी 'विशाल भारत' को पत्रकार-आंदोलन का एक प्रबल माध्यम बनाया। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी युक्त प्रांतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन के प्रथम अध्यक्ष हुए, फिर अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ के अध्यक्ष हुए। अखिल भारतीय समाचारपत्र-संपादक सम्मेलन ने पत्रकार जांच समिति का उन्हें सदस्य मनोनीत किया। वे श्रमजीवी पत्रकार आंदोलन के नेता हुए और भारतीय श्रमजीवी पत्रकार संघ के मद्रास अधिवेशन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। बनारसीदासजी के ही समय में श्रमजीवी पत्रकार (काम की शर्तें व विविध व्यवस्था) विधेयक संसद द्वारा पारित किया गया और प्रथम वेतन-मण्डल की स्थापना हुई। उनके ही कार्यकाल में, उनके ही संपादन में 'वर्किंग जर्नलिस्ट' पत्र का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। आज सारे देश के पत्रकारों को जो सुविधायें प्राप्त हैं उनमें श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के बुद्धिमान नेतृत्व का बड़ा भारी योगदान है।

सन १९५२ के अप्रैल की बात है। कलकत्ते के श्रमजीवी पत्रकार सम्मेलन में विभिन्न राज्यों के अध्यक्ष अपने-अपने राज्य पत्रकार-संघों की गति-विधियों की रिपोर्ट दे रहे थे। विंध्य प्रदेश पत्रकार संघ के अध्यक्ष की हैसियत से श्री बनारसीदास चतुर्वेदी मंच पर आये। उन्होंने अध्यक्ष श्री चलपति राव को संबोधित करते हुए कहा कि पिछले वर्षों में विंध्य प्रदेश पत्रकार संघ ने एक ही महत्वपूर्ण कार्य किया है यानी आपको एक महासचिव प्रदान किया है।

बनारसीदासजी का इशारा मुझसे था, क्योंकि मैं उस समय संघ का सेक्रेटरी-जनरल था। उनका

दावा सच्चा था, क्योंकि पत्रकार आंदोलन में मेरी रुचि यद्यपि पहले से थी, परन्तु चार वर्ष तक 'मधुकर' कार्यालय में कार्य करने पर ही मुझे उस गुरुतर कार्य के लिए प्रारंभिक शिक्षण का पूर्ण अवसर व सुविधा प्राप्त हुई। उस समय बनारसीदासजी युक्त प्रांतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन तथा अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ के अध्यक्ष रहे और मैं उनका प्रमुख सहायक था। परन्तु उनका यह कहना कि मुझे तैयार करने के अलावा उन्होंने कुछ नहीं किया, उनकी अत्यन्त विनम्रता तथा यथास्थिति को प्रचार से दूर रखना था। महान प्रचारक होते हुए भी उन्होंने जो काम किये उनका उन्होंने कभी प्रचार नहीं किया। परन्तु मुझे स्मरण है कि जिस समय बनारसीदासजी चतुर्वेदी टीकमगढ़ में थे, पत्रकारों और पत्रों के लिए न जाने कितने काम किये गये। श्री विनोदशंकर पाठक तथा श्री चन्द्रशेखर मिश्र की रुग्णावस्था में सहायता के लिए उन्होंने न जाने कितने लोगों से व्यक्तिगत अपील की और धन भिजवाया। जब श्री नरोत्तमदास नागर को 'अभ्युदय' से अथवा श्री बनारसीदास शर्मा 'सेवक' को 'जागरण' से पृथक किया गया तो उसके लिए संघर्ष किया। फिर जब 'अभ्युदय' से जिला मजिस्ट्रेट ने एक हजार रुपये की जमानत मांगी, श्री सूर्यनारायण व्यास को ग्वालियर-नरेश ने नजरबंद कर दिया अथवा श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' के 'जीवन' को ग्वालियर में बंद करने का आदेश हुआ और 'लोकयुद्ध' के उत्तर प्रदेश में प्रवेश पर युक्त प्रांत की सरकार ने रोक लगा दी तो उसके विरोध में आंदोलन किया। जब कलकत्ता में हिन्दी पत्रकार संघ का अधिवेशन हो रहा था, उन्होंने चार लेख प्रकाशित कराये थे और जब १९४४ में कानपुर में अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ का अधिवेशन हुआ तो एक सप्ताह तक रोज श्री हरिशंकर विद्यार्थी को लम्बे-लम्बे पत्र लिखकर पत्रकारिता की समस्या पर प्रकाश डाला। उस समय उन्होंने 'रामराज्य' का 'पत्रकार-अंक' निकलवाया। पत्रकारों तथा उनके आंदोलन के लिए उन्होंने कितने पत्र लिखे, कितनी यात्रायें कीं, कितने नोट लिखे तथा कितने समय व धन का व्यय किया, उसका पूरा-पूरा हिसाब रखना संभव नहीं है।

जब बंबई 'हिन्दुस्थान' के पांच उपसंपादक एक साथ हटाये गये तो बनारसीदासजी ने उनका केस हाथ में लिया और जब 'प्रताप' के दुर्गादत्त पांडे की छुट्टी या वेतन में कमी की गयी तो उन्होंने श्री हरिशंकर विद्यार्थी के साथ अत्यन्त घनिष्ट संबंध होते हुए भी झगड़ा किया था। उन्होंने सेठ रामकृष्ण डालमिया की १२०० रुपये मासिक की 'नवभारत टाइम्स' की सम्पादकी से इंकार कर दिया था, क्योंकि वह उन्हें घासलेट वर्ग के विरुद्ध आन्दोलन की सुविधा नहीं दे सकते थे, परन्तु जब वह साप्ताहिक 'नवयुग' को बंद करने लगे तो चतुर्वेदीजी ने उन्हें श्रद्धेय विशेषण देते हुए एक बड़ा मार्मिक पत्र लिखा था, जिसे डालमियाजी ने लौटा दिया। उस पत्र में उन्होंने लिखा था—"पत्रों द्वारा यह जानकर कि 'नवयुग' बन्द हो रहा है, अत्यन्त खेद हुआ। मेरे जैसे अनेक लेखकों को उससे समय-समय पर आश्रय मिलता था, इसलिए उसका बंद होना निस्सन्देह साहित्यिक दुर्घटना है। क्या आप कृपा कर उसे छै महीने का जीवनदान नहीं दे सकते? इस छः महीने में हमारे पत्रकार बन्धु उसे स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न करेंगे। जहां इतना घाटा आपने सहा है, छः महीने तक कुछ और सह लीजिये। इस कल्याणकारी व्यापार का घाटा आप मुनाफा ही समझें। मुझे विश्वास है कि 'नवयुग' की मृत्यु को टाल कर आप यश के भागी ही होंगे।"

यह तो था श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का अखिल भारतीय रूप। परन्तु टीकमगढ़ से 'मधुकर' की स्थापना कर तथा उसे जनपदीय आंदोलन व विकेन्द्रीकरण का माध्यम बनाकर उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता को नया मोड़ दिया और छोटे-से-छोटे समाचार-पत्र को आत्मगौरव प्रदान किया। 'मधुकर' एक पाक्षिक

पत्र था, जिसकी तैयारी में प्रति अंक तेरह रुपया व्यय होता था और जो केवल दो रुपये में ग्राहकों को मिलता था। उस छोटे-से पत्र ने भी हिन्दी जगत में एक नयी धारा बहा दी। यह धारा प्रयाग, काशी या कलकत्ते में बहने वाली विशाल गंगा की धारा की भांति नहीं थी, परन्तु कलियुग की गंगा वेत्रवती, केन, धसान, जमड़ार और जामनेर जैसी क्षेत्रीय व स्थानीय पत्रकारिता की धारा थी, जिसने बुन्देलखण्ड के जन, स्थल, कथा या उक्ति को सम्मान व स्थान प्रदान किया। 'मधुकर' में प्रथम वार बुन्देलखंड की लोककहानियाँ चलीं और फिर सारे देश में जनपदीय लोककहानियों का प्रकाशन फैशनेबल हो गया। बुन्देलखण्ड के गौरव खजुराहो पर पहली वार 'मधुकर' ने प्रकाश डाला और उस क्षेत्र की विशाल सम्भावनाओं से वहां की जनता को परिचित कराया।

जिस समय बनारसीदासजी टीकमगढ़ में कुंडेश्वर पर रहते थे, कुंडेश्वर एक साहित्यिक तीर्थ हो गया। वहां पर बुन्देलखण्ड के लोकसाहित्य के लिए कार्य हुआ, श्री कृष्णानन्द गुप्त ने लोकवार्ता तथा ईसुरी की फागों का प्रकाशन किया, श्री लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी ने रामचरित मानस का अध्ययन किया, श्री यशपाल जैन ने 'प्रेमी-अभिनंदन-ग्रंथ' का संपादन किया और अहार तथा पपौरा जैसे जैन तीर्थों के प्रचार में चतुर्वेदीजी का हाथ बटाया। वहां से जनपदीय कार्यक्रम, बुन्देलखण्ड प्रांत-निर्माण तथा विकेन्द्रीकरण का जो आंदोलन प्रारंभ हुआ, जिसमें इन पंक्तियों के लेखक को बनारसीदासजी के सहयोगी होने का गौरव मिला, उसने हिन्दी जगत में धूम मचा दी। हमारे प्रचार का ढंग अनूठा था। अपने विरुद्ध जितने लेख छपते थे सब हम ही छपवाते थे, उन्हें साइक्लोस्टाइल या टाइप कर भेजते थे और फिर उनका उत्तर देते थे और इस प्रकार अपने पक्ष या विपक्ष को पाठकों के समक्ष रखते थे। चतुर्वेदीजी की प्रचार-कला की यह विशेषता थी, जिससे रेलवे स्टेशन से ३२ मील दूर होते हुए भी एक पाक्षिक पत्र के सहारे सारा हिन्दी जगत इतना आलोड़ित हो गया कि हरिद्वार में हिन्दी साहित्य सम्मेलन को एक प्रस्ताव पारित करना पड़ा। 'जनपद' शब्द चल निकला। विभिन्न बोलियों के लोकगीतों, कहानियों, व्याकरण आदि पर ग्रंथ निकले और भोजपुरी, राजस्थानी, मालवी, निमाड़ी तथा छत्तीसगढ़ी साहित्य सम्मेलनों तक की स्थापना हुई। यद्यपि 'मधुकर' अधिक दिन नहीं चला, परन्तु उसने हिन्दी साहित्य पर एक व्यापक प्रभाव छोड़ा। 'मधुकर' के प्रकाशन के बाद बनारसीदासजी ने विभिन्न समाचार-पत्रों में लेखों तथा पत्रों के माध्यम से क्रांतिकारी भारत को पुनः जनता के समक्ष ला दिया और शहीदों की स्मृति-रक्षा में अपना जीवन ही लगा दिया। अंतर्जनपदीय परिषद की स्थापना, ब्रज-साहित्य मण्डल के विभिन्न कार्यक्रमों में सहयोग, छोटे-छोटे समाचार-पत्रों को संवर्द्धन उनके जीवन का जैसे मिशन रहा है। इस दौरान हिन्दी के हजारों पाठकों, लेखकों और प्रेमियों को उन्होंने उत्साह प्रदान किया है। उनके हाथों हिन्दी-पत्रकारिता समाज तथा साहित्य की सेवा का एक प्रबल माध्यम बनी। यदि श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी-पत्रकारिता के स्थान पर अपनी सेवा का माध्यम दूसरा रक्खा होता, वे अध्यापक बने रहते, अंग्रेजी-पत्रकारिता में निकल जाते या राजनीति में, तो और कुछ भी होता, परन्तु हिन्दी-पत्रकारिता का जो रूप पिछले ५० वर्षों में पनपा है वह संभवतः हमें देखने को न मिलता। हिन्दी पत्रकार-जगत का सौभाग्य है कि उसे इस प्रकार का सही अर्थों में नेता व मार्गदर्शक प्राप्त हुआ, जिसने संकीर्णता के क्षेत्र से उठकर विशाल मानवता के साथ हिन्दी जगत का तादात्म्य कराया। ●

प्रेमनाथ चतुर्वेदी

अनुभवी पत्रकार की सिखावन

सोमवार, ८ सितम्बर, १९५२ की बात है। नई दिल्ली में श्री बनारसीदासजी के आने के बाद दूसरी बार उनसे मिलने का कार्यक्रम तय हुआ। प्रातः ४ बजे उठकर ४॥ बजे रवाना हो गया (तब मैं हवेली हैदरकुली, चांदनी चौक में रहता था)। सवाछह मील की मंजिल पैदल तय कर लगभग ६ बजे तक १२३, नार्थ एवेन्यू पहुंचा। चौबेजी भगवान बुद्ध के शिष्य आनन्द का दृष्टान्त देकर अपने पुत्र गुपलीबाबू को कुछ समझा रहे थे। उक्त वार्त्ता पूरी होने के बाद उन्होंने चाय पीकर मुझे 'सुमित्रा' का एक अंक दिया। तत्पश्चात हम दोनों तालकटोरा बाग में घूमने चल दिए।

मार्ग में प्रसंग छिड़ने पर चौबेजी ने कहा कि दूसरे को जहां तक हो, प्रोत्साहन दो और लोक-संग्रह की भावना जाग्रत रखो। ·····के आक्षेप की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि टीकमगढ़-नरेश से हम उन्हें कुछ नहीं दिलवा सके तो वह हम पर कुपित हो गए। 'नवभारत टाइम्स' ने भी हमारे विरुद्ध अनर्गल छाप दिया। अच्छा तो यह होता कि हमसे स्पष्टीकरण भी मांग लिया जाता। ऐसी ओछी पत्रकारिता घातक है।

दूसरा प्रसंग छिड़ने पर उन्होंने कहा कि आजकल का समय विशेषज्ञ बनने का है। इसके बिना कद्र नहीं, मान नहीं और न दृढ़ स्थिति ही। मैंने जब इच्छा प्रकट की कि अगर हब्शियों की समस्या का अध्ययन करूं तो कैसा रहे? इस पर वह प्रसन्न हुए और बोले कि यह तो बड़ी अच्छी बात है। हमारे मन का भी यही विषय है। तुम पढ़ो सो हमें बताओ और हम पढ़ें सो तुम्हें दें। हम छिपाने में विश्वास नहीं रखते। मगर एक बात का ध्यान रखना। इसका फल निकट भविष्य में नहीं मिलता। दस-बीस बरस बाद कहीं कुछ पता चलेगा। हो सकता है कि इसके बल पर तुम्हें अफ्रीका की यात्रा करने की सुविधा मिल जाय। अपना दृष्टान्त देते हुए उन्होंने कहा कि मैंने १५ जून, १९१४ से प्रवासी भारतीयों के संबंध में लिखना आरम्भ किया और उसके दस वर्ष बाद मुझे अफ्रीका जाने का सुयोग मिला। उसके अतिरिक्त अन्य सामयिक विषयों पर लेख लिखते रहना चाहिए, पर बिना पुरस्कार पाने की आशा से।

किसी विशेष पुस्तक के अनुवाद करने के विषय में जब बात छिड़ी तब उन्होंने कहा कि आजकल प्रकाशक पाये बिना अनुवाद करना ठीक नहीं। कई पुस्तकें अच्छी होते हुए भी अनुवाद की हुई पड़ी हैं, प्रकाशक नहीं मिलता। प्रकाशक बाजार में चलने वाली पाठ्य पुस्तकों की तलाश में रहता है। अच्छे साहित्य को प्रकाश में लाने की कद्र नहीं। गार्डनर और तुर्गनेव की पुस्तकों का अनुवाद किया जा सकता है।

रेखाचित्र लिखने का सुझाव देते हुए उन्होंने कहा कि हमें कदम-कदम पर रेखा-चित्र लिखने की सामग्री पड़ी मिलती है। पहाड़ी पर पत्थर तोड़ने वाला, कनाट सरकस में अखबार बेचने वाला, विधवा स्त्री, घर-बाहर की बूढ़ी महिलाएं सब पर सुन्दर रेखा-चित्र लिखे जा सकते हैं। पं० गिरिधर शर्मा से रेखा-चित्र की अच्छी सामग्री मिल सकती है। वह श्रेष्ठ विषय बन सकते हैं। यह जरूरी नहीं कि जगत-

विख्यात व्यक्ति ही का रेखा-चित्र लिखा जाय। रेखा-चित्र लेखक के पास कैमरे की आवश्यकता पर जोर देते हुए उन्होंने कहा कि कैमरे का उचित प्रयोग जरूरी है। यों ही तस्वीर खींचना पैसे बिगाड़ना है।

चौबेजी ने बातों-ही-बातों में आगे सलाह दी कि प्रत्येक मास कुछ-न-कुछ पैसा पोस्ट-कार्डों पर अवश्य खर्च किया करो। किसी की अच्छी कृति पढ़ो तो उसको सराहना का एक पत्र अवश्य लिख दो। १०० पत्रों के लिखने के बाद उनमें से कुछ पत्र अच्छे परिणाम देने वाले भी हो सकते हैं। डा० तारकनाथदास आजकल भारत आये हुए हैं, उनको पत्र लिखो। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के एक पत्र का जिक्र करते हुए चतुर्वेदीजी ने कहा कि उन्होंने जिन व्यक्तियों को जीवन में प्रोत्साहन दिया था, उनमें हजारीप्रसादजी सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी विनम्रता के सामने तो गद्‌गद हो जाना पड़ता है। डाक्ट्रेट मिलने पर जो उन्होंने पत्र मुझे लिखा था, वह तो बस विनम्रता और कृतज्ञता की हद थी। एक समय हजारीप्रसादजी बड़े गरीब थे। कलकत्ता आये तो एक आर्यसमाजी सज्जन ने दया करके कथा कहलवा दी, जिसमें २५ रु० और कुछ कपड़े मिल गये। इन्होंने पहले संस्कृत और वैद्यक की शिक्षा प्राप्त की थी। इण्टर की फीस भरने के लिए जब पैसे नहीं थे तब वह हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रिंसीपल श्री बापूभाई ध्रुव के पास गये। उन्होंने सूखा उत्तर दे दिया कि अंग्रेजी की शिक्षा तुम सरीखे गरीबों के लिए नहीं। आज वही द्विवेदीजी उसी काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी के आचार्य हैं (संप्रति द्विवेदीजी वहां के रैक्टर हैं)। दूसरी ओर ······द्विवेदीजी से बिल्कुल विपरीत ढंग के निकले।

बातें होते-होते टहलना समाप्त हुआ और मैंने उनसे विदा ली। ●

जयदेव

हिन्दी सम्पादन-कला और चतुर्वेदीजी

आश्रम की वाटिका में जब कोई नवीन कुसुम प्रस्फुटित होता था तो शकुन्तला उत्सव मनाती थी। स्वामी श्रद्धानन्द एवं उनके सुपुत्र श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व दिल्ली से जब दैनिक 'विजय' का प्रकाशन किया तो श्री पुरुषोत्तमदास टंडन गद्‌गद हो उठे। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने उसका स्वागत किया। उत्तर भारत के लिए आज से पचास वर्ष पूर्व हिंदी दैनिक एक अप्रत्याशित आविष्कार था। कलकत्ते से निकलने वाले 'भारतमित्र' और 'विश्वमित्र' भारत में सबसे अधिक हिंदी भाषा-भाषियों और धनियों के नगर के पत्र होने के नाते उत्तर भारत के अन्य समाचार-पत्रों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से सफल पत्र थे।

अजमेर में आगरा दरवाज़ा के पास, जहाँ श्री चतुरसेन शास्त्री ने आज से पचास वर्ष पूर्व सफलता की सीढ़ी पर पहला कदम रखा था, 'राजस्थान केसरी' का कार्यालय था। खुली छत पर चटाई बिछाए हुए विराजमान थे सम्पादक-प्रवर श्री विजयसिंह पथिक। सामने उनके पड़ा था 'राजस्थान केसरी' का ढेर। ढेर, गड्डी नहीं, सिलसिलेवार। ढेर इसलिए कि सब पर पते लिखे हुए थे, पर डाकखाने में डालने के लिए धन नहीं था। यह वह साप्ताहिक समाचार-पत्र था, जिसे अत्यन्त प्रगतिशील कोटा-राज्य के लोकप्रिय

अधीश्वर, जिनकी प्रशंसा श्री रामनारायण चौधरी जैसे निर्भीक सम्पादक ने भी अपने 'राजस्थान के संस्मरण' में की है, जब महकमा ख़ास जाते थे तो अपने साथ ले जाते थे। इसी साप्ताहिक ने बिजौलिया सत्याग्रह का बिगुल फूंका था।

सत्याग्रह, सविनय-अवज्ञा तथा असहयोग आन्दोलन ने हिंदी की लोकप्रियता को और अधिक पल्लवित किया। हिंदी समाचारपत्रों ने भाषा को न केवल सुगम, सुषम ही बनाया, वरन उसे समृद्ध किया। राजनैतिक मंच पर समाचार-पत्रों में प्रयुक्त नवीन शब्द, नवीन राजनीतिक मुहाविरे धड़ल्ले से बोले जाने लगे।

बात कानपुर की है। श्रद्धानन्द पार्क में पंडित जवाहरलालजी भाषण दे रहे थे। वह बोले, "हमने सरकार को 'अल्टीमेटम' दे दिया है।" फिर श्री गणेशशंकरजी विद्यार्थी की ओर देखकर बोले, "अल्टीमेटम की हिन्दी बताओ।" उत्तर मिला, "चुनौती"। यह 'चुनौती' फिर सर्वत्र चल पड़ी।

उस समय के हिंदी समाचार-पत्रों की, चाहे वह कलकत्ते की जन-कोलाहलपूर्ण शंभु चटर्जी लेन से प्रकाशित हो, अथवा काशी की तमसाच्छन्न गली से, बड़ी प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा थी। काशी की श्री सम्पूर्णानन्द द्वारा सम्पादित 'मर्यादा' के लेख सुशिक्षित व्यक्ति उसी श्रद्धा से पढ़ते थे, जिस श्रद्धा से कि वे अंग्रेजी में प्रकाशित, श्री रामानन्दजी द्वारा सम्पादित, 'माडर्न रिव्यू' के लेख। इसका मुख्य कारण यह था कि हिंदी 'पत्रकार' कदाचित ही कोई रहा हो, सभी सम्पादक थे। वही सम्पादक प्रायः स्वामी, मुद्रक और प्रकाशक भी थे। प्रेरणा एवं उद्देश्य से उत्साहित वे 'ख्याति, कष्ट और कारागार' के प्राणी थे।

श्रमजीवी पत्रकार की कोई विशेष संज्ञा नहीं थी। परन्तु उनकी समस्या उत्पन्न हो उठी थी। श्री रामरखसिंह सहगल के 'चाँद' ने मासिक साहित्य में न केवल काव्य-प्रधान भाषा की ही सृष्टि की, अपितु सरकार से संघर्ष लेने में भी अपूर्व उदारहण उपस्थित किया। 'चाँद' का 'फांसी अंक' आज चालीस वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी बहुतों को याद है।

'सरस्वती', 'माधुरी', 'सुधा', 'वीणा' यदि साहित्य-प्रधान पत्रिकायें थी तो 'प्रभा' एवं 'चाँद' ने राजनीति एवं समाज-सुधार की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया।

हिंदी श्रमजीवी सम्पादकों में तीन प्रकरण सार्वजनिक रूप से सामने आए। पहला था श्रीनन्दकिशोर सहगल का, जो श्री रामरखसिंह सहगल के निकटस्थ आत्मीय थे। वह कदाचित कुछ विलम्ब से कार्यालय में आए। उन पर सम्पादक एवं संचालक ने दो रुपया जुर्माना कर दिया। उन्होंने त्यागपत्र देना श्रेयस्कर समझा।

दूसरा था 'चाँद' के सम्पादक मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव का। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' में सार्वजनिक रूप से मुंशीजी की वकालत की, तब अन्य वेतन-भोगी सम्पादकों को यह आभास हुआ कि उनके भी कुछ अधिकार हैं।

तीसरा प्रकरण, जो अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ, वह था स्वनामधन्य श्री हरिशंकर शर्मा का। वह आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) के मुखपत्र 'आर्यमित्र' (साप्ताहिक) के सम्पादक थे। 'आर्यमित्र' के अधिष्ठाता थे श्री शोभाराम। उन्होंने काम के घंटों के विषय में कुछ स्पष्टीकरण चाहा। शर्माजी ने त्यागपत्र दे दिया। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' में सम्पादक के अधिकारों की बड़ी प्रचंड हिमायत की।

उस समय हिंदी साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के साथ कवि-सम्मेलन की तरह सम्पादक-सम्मेलन भी हुआ करता था, पर उसमें ऐसे प्रश्नों पर विचार नहीं होता था।

यदि हम भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन पर दृष्टि डालें तो यह मानना पड़ेगा कि गांधीजी के भारतीय राजनैतिक मंच पर अवतरित होते ही अनेक हिंदी दैनिक पत्रों का जन्म हुआ। इसका यह भी एक कारण हो सकता है कि १९१९ में मॉन्ट-फ़ोर्ड सुधार कार्यान्वित होने से शिक्षा प्रान्तीय विषयों में हस्तान्तरित हो गई और लार्ड कर्ज़न के समय उस पर जो बन्धन थे, उनसे वह कुछ राहत पा गई। इससे राजनैतिक चेतना एवं देशभाषा-प्रेम की वृद्धि हुई।

'कलकत्ता समाचार', उसका रूपान्तर 'विश्वमित्र', 'भारतमित्र', 'आज', 'अर्जुन' 'सैनिक', 'प्रताप', 'भारत', 'हिंदी मिलाप' आदि का नाम तत्कालीन अग्रगन्ताओं में गिना जा सकता है।

१९३१ से लेकर १९३८ तक हिंदी पत्र-पत्रिकाओं को प्रायः जीवन-मरण की समस्या का सामना करना पड़ा। १९३१ में भारत सरकार ने गांधीजी के आन्दोलन का सामना करने के लिए साधारण ब्याज दर से अधिक आकर्षक ब्याज दर पर जब सार्वजनिक ऋण लिया तो परिणाम यह हुआ कि 'पीपुल्स बैंक' जैसे स्वदेशी बैंक धड़ाम हो गए, और इन पत्र-पत्रिकाओं का एक बड़ा सहारा समाप्त हो गया। फिर रुपए की इतनी तंगी हुई कि कई पत्र-प्रतिष्ठान बन्द हो गए।

जब १९३९ में युद्ध प्रारंभ हुआ तो फिर दिन फिरे। परन्तु १९४२ में गांधीजी के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के प्रति भारत सरकार की दमननीति ने फिर वही निराशाजनक स्थिति उत्पन्न कर दी।

द्वितीय विश्व-महायुद्ध की समाप्ति एवं भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ-साथ ज्यों-ज्यों दिल्ली का राजनैतिक महत्त्व बढ़ता गया, त्यों-त्यों हिंदी का भी महत्त्व बढ़ता गया। 'हिन्दुस्तान', 'नवयुग' 'नवभारत टाइम्स' अपनी साधन-सम्पन्नता से हिंदी के समाचार-पत्र-साहित्य को अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न बनाने लगे। छोटे स्वावलम्बनशील, साधनहीन समाचारपत्रों ने अपना भविष्य पहचान लिया।

दैनिक पत्रों की अधिकता के साथ-ही-साथ कहानी-साहित्य की वृद्धि हुई। साप्ताहिकों में भी मनोरंजन-प्रधान सम्पादन एवं प्रकाशन अधिक पनप सके। अब पंडित प्रतापनारायण मिश्र के 'आठ मास बीते जजमान, अब तौ करौ दच्छिना दान' के 'ब्राह्मण' के दिन नहीं रहे।

गांधीजी ने 'नवजीवन' में, तत्पश्चात 'हरिजन' में यह प्रतिज्ञा की थी कि वह अपने पत्रों में विज्ञापन नहीं छापेंगे। धनाभाव में वे पत्र नहीं चल सके। गणेशशंकरजी विद्यार्थी ने गांधीजी को लिखा "मैं 'प्रताप' में मदिरा का विज्ञापन कभी नहीं प्रकाशित करूंगा।" परन्तु आगे चलकर उसका निर्वाह नहीं हो सका। अब समाचार-पत्र एक आर्थिक समस्या है। केवल प्रेरणा एवं उत्साह,प्रधान उद्देश्य से ही काम नहीं चल सकता है।

प्रयाग में त्रिवेणी-तट पर गंगा एवं यमुना का वर्ण-विन्यास अलग-अलग दिखाई पड़ता है। ठीक यही वर्ण-विन्यास हिंदी समाचार-पत्र संचालन एवं सम्पादन में झलकता है।

पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने आज से लगभग बीस वर्ष पूर्व 'विशाल भारत' का 'आत्मकथा' विशेषांक निकाला था। उसमें उन्होंने स्वयं एक लेख लिखा था—'सम्पादक की समाधि'। वह लेख आत्माभिव्यंजक था। पर आजकल यदि कतिपय सम्पादकीय लेखों अथवा शीर्षकों का विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होता है कि समाचार-पत्रों की बढ़ती हुई उद्योग-प्रवृत्ति ने अब सम्पादक को समाधिस्थ बना दिया है।

फ़स्ले गुल में कहता है कि गुलशन से निकल
ऐसी बेपर की उड़ाता न था सय्याद कभी ●

वैंकटलाल ओझा

बीसवीं शताब्दी की हिन्दी-पत्रकारिता का प्रथम चरण

●

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के साथ ही ब्रिटिश सरकार ने महायुद्ध-काल में भारत को स्वतंत्रता या स्वायत्तता देने के लिए किगे गए वचनों को भूल कर उपहार में रौलट ऐक्ट दिया, जिसके परिणामस्वरूप जलियांवाला बाग में हजारों निर्दोष भारतीय डायर की गोलियों के शिकार हुए। उसके बाद पंजाब में जो नृशंस अत्याचार किये, उनसे कट्टर अंग्रेज़-भक्तों की आँखें भी खुल गईं। सैकड़ों लोगों ने विरोध में 'सर' आदि की उपाधियां सरकार को लौटा दीं। महात्मा गांधी का उस समय भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर उदय हुआ ही था। दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह द्वारा गोरी सरकार को झुकाकर वे भारत लौट आये थे। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक बम्बई के सरदारगृह में अपनी अंतिम घड़ियां गिन रहे थे। देश भर के नेता वहां पहुंच गए थे। जैसे ही महात्मा गांधी ने लोकमान्य के कमरे में प्रवेश किया लोकमान्य ने अपनी मृत्युशैया से महात्माजी को हाथ जोड़कर गीता के ये श्लोक पढ़े:

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

उस समय लोकमान्य इतने भाव-विभोर हो गए मानो साक्षात भगवान श्रीकृष्ण उन्हें दर्शन देने आए हों। होते भी क्यों नहीं, वे स्वयं वेदों के ज्ञाता, गीता के भाष्यकार, ज्योतिषी तथा प्रखर पत्रकार भी थे। लोकमान्य को इस बात का संतोष था कि उनके बाद भारत के स्वतंत्रता-संग्राम को संचालित करने वाला सेनानी उनके रिक्त स्थान की पूर्ति करने के लिए उपस्थित है। 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' महामंत्र के द्रष्टा इस प्रकार महात्मा गांधी को अपना उत्तराधिकारी बना कर सुखपूर्वक परलोक सिधारे। और सचमुच महात्मा गांधी ने उनकी इस अंतिम इच्छा और आकांक्षा को सत्य कर दिखाया। इसके लिए महात्मा गांधी ने स्वदेशी, सत्याग्रह और समाचारपत्रों को अपना साधन बनाया। तभी तो महात्मा गांधी अंग्रेज उद्योग-धंधों की दलाली करनेवाले पूंजीपतियों को स्वदेशी उद्योग-धंधे स्थापित करने और जनता को स्वदेशी वस्तुएं खरीदने के लिए प्रेरित कर सके, जिसकी बदौलत आज भारत ब्रिटेन को वस्त्रों का निर्यात करता है, अन्यथा स्वतंत्र भारत भी ब्रिटेन के उद्योग-धंधों पर आश्रित रहता।

ठीक इसी समय हिंदी पत्रकारिता ने अपनी प्रथम शती पूर्ण कर दूसरी शती में प्रवेश किया। प्रथम शती उसका बाल्यकाल ही कहा जा सकता है, क्योंकि आज के साधनसम्पन्न और उन्नत पत्र-उद्योग की तुलना में आज से अर्द्धशती पूर्व की पत्रकारिता वास्तव में साधनहीन, पर स्वराज्य-सैनिकों के लिए रणक्षेत्र से किसी भी स्थिति में कम नहीं थी। तब के पत्रकारों का एक ही संकल्प था कि देश को दासता की बेड़ियों से मुक्त कराना है:

कमर बाँधकर अमर समर में नाम करेंगे।
सैनिक हैं हम विजय स्वतंत्र संग्राम करेंगे।।

इसी पवित्र ध्येय के लिए हिंदी पत्र और पत्रकार जीए और मरे। अपना सर्वस्व होम कर मातृभूमि के लिए घरफूंक तमाशा देखा। उस समय पत्रकारिता क्रान्तिकारियों के ओजस्वी कारनामों से कम नहीं थी। ब्रिटिश सरकार भी पत्रों से ही भयभीत रहती थी। राजा-महाराजा और नवाब तो पत्रों को अपने लिए साक्षात काल समझते थे। क्योंकि यदि किसी अत्याचार की घटना पत्रों में छप जाती थी तो दिल्ली का राजनीतिक विभाग उसकी जांच करवाता और चाहे राजा कितना ही बड़ा क्यों न हो उसको उस घटना में लिप्त होने पर उसका परिणाम भोगने के लिए तैयार रहना पड़ता था। कई ऐसे भी अवसर आये हैं जब पत्रों में आंदोलन के कारण देशी नरेशों को अंग्रेज सरकार गद्दी से नहीं उतार सकी, क्योंकि अंग्रेज सरकार को देशी नरेशों की प्रजावत्सलता, उदारता आदि गुण तनिक भी पसंद नहीं थे।

'भारतमित्र' में उसके संपादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त के शिवशम्भू के चिट्ठे तत्कालीन वाइसराय को बहुत ही पसंद आते थे। वे बड़ी उत्सुकता से प्रति सप्ताह इसकी प्रतीक्षा किया करते थे। इनमें लार्ड कर्जन की कोई प्रशंसा नहीं होती थी, बल्कि उनके भारत-विरोधी कामों की व्यंगात्मक आलोचना होती थी। शिवशम्भू के चिट्ठों का अंग्रेजी संकलन पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ और हाथों-हाथ अंग्रेजों ने उसे खरीद लिया था। इतनी लोकप्रियता 'भारतमित्र' ने प्राप्त कर ली थी। इसका मूल कारण पत्र की चापलूसी नहीं, बल्कि निर्भीकता थी। लन्दन में भी भारत-मंत्री के वार्षिक प्रतिवेदन में 'भारतमित्र' को निर्भीक और सचेत पत्र के रूप में उल्लेख किया जाता था।

वह युग साप्ताहिकों का था। यही कारण है कि महामना पंडित मदनमोहन मालवीय का 'अभ्युदय' और सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास का 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' महायुद्धकाल में दैनिक होकर युद्ध बन्द होते ही पुनः साप्ताहिक निकलने लगे थे। पर पं० झाबरमल शर्मा के संपादन में 'कलकत्ता समाचार', बाबू मूलचन्द अग्रवाल का 'विश्वमित्र' बराबर दैनिक रूप में निकलते रहे। इसका मुख्य श्रेय विशाल कलकत्ता नगर के हिन्दी पाठकों को है। 'कलकत्ता समाचार' तो १९२५ में दिल्ली चला आया और 'हिंदू संसार' नाम धारण कर लिया। पर वहां वह जम नहीं सका लेकिन 'विश्वमित्र' तो आज भी दैनिक रूप में कलकत्ता, बम्बई, कानपुर और पटना से निकल रहा है, जबकि यह कुछ वर्ष दिल्ली से भी निकला था। हिंदी का यह प्रथम दैनिक है, जिसने अपना प्रकाशन एक से अधिक स्थानों से प्रारंभ किया। आज तो अनेक दैनिक एक से अधिक स्थानों से निकलते हैं। पर इस दिशा में अग्रणी होने का श्रेय 'विश्वमित्र' को ही है।

काशी के रईस बाबू शिवप्रसाद गुप्त पृथ्वी-प्रदक्षिणा कर लौटे थे। उन्होंने लन्दन और न्यूयार्क आदि में अनेक अच्छे दैनिक देखे थे। अतः उन्होंने काशी से १९२० में 'आज' का श्रीगणेश किया। प्रारंभ से ही इसे श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर संपादक के रूप में मिले। तब श्री श्रीप्रकाश का नाम संपादक के रूप में छपता था। गुप्तजी ने इसे हिंदी का सर्वश्रेष्ठ दैनिक बनाने के लिए लाखों रुपया खर्चा। प्रारंभ से ही एसोसिएटेड प्रेस और राइटर से समाचार लेने चालू किये। हिंदी की अनेक विभूतियों की सेवाएं इसे प्राप्त थीं। बाद में श्री सम्पूर्णानन्द के संपादन में 'इसका अंग्रेजी संकरण' 'टुडे' के नाम से भी प्रकाशित हुआ। पर वह सफल नहीं हो सका। हिंदी के अनेक प्रसिद्ध पत्रों के संपादकों ने संपादनकला का प्रशिक्षण यहीं प्राप्त किया। हिंदी दैनिकों में इसे सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला।

इसी वर्ष कलकत्ता से संपादकाचार्य पं० अंबिकाप्रसाद बाजपेयी ने 'दैनिक स्वतंत्र' निकाला, जिससे १९३० में नमक सत्याग्रह का समर्थन होने के कारण सरकार ने ५ हजार रुपये की जमानत मांगी। अतः वह बंद हो गया।

दूसरी ओर दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्द के सुपुत्र प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने बहुत ही अल्प पूंजी से दैनिक 'विजय का प्रकाशन प्रारंभ किया, जिसने सरकारी जमानतों से बचने के लिए 'अर्जुन' और फिर 'वीर अर्जुन नाम धारण कर दिल्ली में अपनी सफलता का झंडा गाड़ दिया। दूसरे महायुद्ध-काल में बैंक से ऋण लेकर रोटरी (छपाई यंत्र) खरीद लाये। लेकिन बिजली की कमी के कारण यंत्र चल नहीं सका और बैंक का ब्याज बढ़ता गया। अतः इस पर पंजाब नेशनल बैंक का अधिकार हो गया। बाद में बैंक ने यह नाम बेंच दिया। दिल्ली से 'वीर अर्जुन' आज भी उर्दू 'प्रताप' कार्यालय से निकल रहा है।

कानपुर, जो उत्तर प्रदेश का औद्योगिक नगर है, इस दिशा में कैसे पीछे रहता। पं० रमाशंकर अवस्थी ने 'वर्तमान' प्रारंभ किया। यह दैनिक ३२ वर्ष तक जन-जागृति का कार्य कर अत में बन्द हो गया। इसका 'मनोरजन' नामक स्तंभ बड़ा लोकप्रिय था। इस दिशा में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी कैसे चुप रहते। उन्होंने भी अपने साप्ताहिक 'प्रताप' के दैनिक संस्करण का प्रकाशन प्रारंभ किया। पर रायबरेली के एक ताल्लुकेदार के मुकदमें में बुरी तरह फंस जाने से ७ मास में ही इसे बन्द करना पड़ा। दूसरी बार 'प्रताप' फिर १९३० में दैनिक हुआ और कुछ दिन बाद ही बन्द हो गया। परन्तु १९३२ में यह तीसरी बार दैनिक हुआ और १९५८ तक सफलतापूर्वक जीवित रहा। श्री हरिशंकर विद्यार्थी, श्री सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य आदि इसके संपादक रहे।

पं० सुन्दरलाल ने भी प्रयाग से दैनिक 'भविष्य' का प्रकाशन चालू किया। पर वह अधिक चल नहीं सका। हां, लखनऊ का दैनिक 'आनन्द' पं० शिवनाथ शर्मा के संपादन में कई वर्ष तक चला।

इस प्रकार महात्मा गांधी के देश के राजनीतिक मंच पर अवतरित होते ही दैनिक पत्रों का आविर्भाव हुआ। पर तत्कालीन संचार और यातायात-व्यवस्था तथा दैनिकों पर होने वाले भारी खर्च के कारण अधिक दैनिक टिक नहीं सके। प्रकाशन बन्द करने के लिए विवश होना पड़ा।

'अर्जुन', 'आज', 'भारतमित्र' 'वर्तमान' और 'विश्वमित्र' ही वर्षों तक हिंदी-जगत में दैनिकों की आवश्यकता की पूर्ति करते रहे। इनका प्रसार देशव्यापी था। भले ही आज की प्रसार-संख्या की तुलना में इनकी प्रसार-संख्या तब नगण्य-सी ही हो, पर उनका प्रभाव बड़ा अचूक था।

असल में तब शिक्षा का इतना विस्तार भी नहीं हुआ था और आर्थिक दृष्टि से लोग साधन-सम्पन्न भी नहीं थे कि दैनिक खरीद कर पढ़ते। अतः उस समय साप्ताहिकों का ही बड़ा जोर था। इनमें सबसे अग्रणी कानपुर का 'प्रताप' था। अमरशहीद गणेशशंकरजी विद्यार्थी इसके संपादक थे, जो किसानों में 'प्रताप बाबा' के नाम से विख्यात थे। विद्यार्थीजी ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के चरणों में बैठ कर संपादनकला का 'क ख ग' सीखा था। बाद में मालवीयजी के साप्ताहिक 'अभ्युदय' का सफलतापूर्वक संपादन कर साप्ताहिक पत्र संचालन-संपादन का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर कानपुर से १९१३ में 'प्रताप' का श्रीगणेश किया। महाराणा प्रताप-सी आन-बान के साथ यह सदा अग्रणी रहा। किसानों और मजदूरों, देशी राज्यों की मूक प्रजा का यह पक्षधर रहा। आर्थिक संकट झेल कर भी किसी देशी नरेश से एक पैसा भी स्वीकार नहीं किया, जबकि बिना मांगे ही नरेश स्वयं आगे हो कर देने को तैयार थे। एक ओर तो नरेशों द्वारा प्रजा पर हो रहे अत्याचारों की गाथा छपती थी और दूसरी ओर यदि सरकार उन्हें गद्दी-च्युत करती तो सरकार को भी आड़े हाथों लेने में 'प्रताप' किसी से पीछे नहीं रहता था। इसीलिए संयुक्त प्रांत के गवर्नर ने १९२१ में 'प्रताप' के संबंध में कहा था कि "जबतक 'प्रताप' का अन्त न कर दिया जाय, तबतक संयुक्त प्रान्त का सार्वजनिक जीवन सुरक्षित नहीं हो सकता।"

यही कारण है कि थानेदार शिवदयालसिंह के रिश्वतखोरी के मामले में जब संपादक, प्रकाशक और मुद्रक को नीचे की दो-दो अदालतों से सजा दी गई, उच्चन्यायालय ने उन्हें निर्दोष मुक्त करते हुए थानेदार पर रिश्वतखोरी के लिए मामला चलाने का आदेश दिया था। पाठकों के पत्र प्रकाशित करने का श्रीगणेश सर्वप्रथम 'प्रताप' ने ही किया।

विद्यार्थीजी के संपादनकाल में 'प्रताप' की प्रखरता को मान्यता मिल गई थी। प्रति सप्ताह 'प्रताप' के हिंदी अग्रलेख का अंग्रेजी अनुवाद ए० पी० आई० देश-विदेश के पत्रों को भेजा करता था, जैसे कि किसी समय महात्मा गांधी के 'हरिजन' और आज राजाजी के 'स्वराज्य' में प्रकाशित लेखों को प्रसारित किया जाता है। हिंदी पत्रों में यह सौभाग्य अब तक केवल 'प्रताप' को ही प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार 'प्रताप' का क्रान्तिकारियों से सदा सम्पर्क रहा। उनकी रक्षार्थ और सहायतार्थ सदा वह अग्रसर रहा। इतना ही नहीं, सरदार भगतसिंह ने इसके संपादकीय विभाग में कार्य किया और ऐतिहासिक असेंबली बमकांड के पूर्व वह 'अर्जुन' के संपादकीय विभाग में थे।

महात्मा गांधी ने अपना 'हिंदी नवजीवन' १९२१ में प्रारंभ किया। बाद में १९३२ में इसके स्थान पर 'हरिजन सेवक' निकाला, जो उनके विचारों को लोगों तक पहुंचाने का वाहन था।

मालवीयजी महाराज के 'अभ्युदय' का आलोक भी कम नहीं था। सरदार भगतसिंह को जब फांसी दी गई तो उसने फांसी अंक निकाल कर बहुत ही बड़े साहस का परिचय दिया था।

'प्रताप' से प्रेरणा पाकर श्री श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने आगरा से 'सैनिक' निकाला। यह बाद में साप्ताहिक और दैनिक दोनों रूप में प्रकाशित होने लगा, पर अब दैनिक ही निकलता है।

इसी तरह माखनलालजी चतुर्वेदी ने कुछ दिन 'प्रताप' का संपादन कर पहले जबलपुर और बाद में खंडवा से 'कर्मवीर' का प्रकाशन आरंभ किया। इन्हीं के एक सहयोगी श्री सिद्धनाथ माधव आगरकर ने खंडवा से ही 'हिंदी स्वराज्य' का प्रकाशन प्रारंभ किया जो साप्ताहिक विचारपत्र था। मध्यभारत के देशी राज्यों की प्रजा में जागृति का शंख फूंकने का इसे श्रेय प्राप्त है। कई राज्यों में यह बन्द था। पर उसी अंक को 'विक्रम' आदि अनेक नामों से छाप कर उन राज्यों में यह भेजा जाता था।

कलकत्ता से महादेवप्रसाद सेठ ने १९२३ में 'मतवाला' को प्रकाशित कर पत्रकारिता में हलचल मचा दी। 'मतवाला मंडल' में निराला, उग्र, शिवपूजनसहाय, नवजादिकलाल श्रीवास्तव आदि अनेक कलम के धनियों का समावेश था। हास्य और व्यंग से ओत-प्रोत इसके हर अंक की प्रतीक्षा पाठक उत्सुकता से करते थे। कलकत्ता में सरकार द्वारा जमानत मांगने पर यह मिर्जापुर से प्रकाशित होने लगा। पर फिर यह जम न सका। सेठजी के सुपुत्र ने उग्रजी के संपादन में इसका पुनः प्रकाशन आरंभ किया। इसकी याद आज भी पाठकों को मस्त कर देती है।

इसी नगर से १९२६ में 'हिंदूपंच' निकला। पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, प्रद्युम्नकृष्ण कौल इसके संपादक और रामजीलाल वर्मा इसके प्रकाशक थे। पूजांक, दीपावली अंक, होली अंक आदि इसके विशेषांकों की बड़ी धूम थी। होली अंक में पत्र-पत्रिकाओं पर छींटाकशी में यह सबसे आगे रहता था। व्यंगचित्र इसकी अपनी विशेषता थी। इसका बलिदान अंक प्रकाशित होते ही सरकार ने जब्त कर लिया था। क्रान्तिकारियों की गौरवमय गाथा से परिपूर्ण यह विशेषांक स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास की महान धरोहर है। पर यह भी बन्द हो गया। कई वर्ष बाद यह फिर निकला, पर पहले जैसा ओज न रहने से चल न सका।

कलकत्ते से ही दैनिक 'विश्वमित्र' के साथ साप्ताहिक 'विश्वमित्र' भी प्रकाशित होने लगा था। देश-

विदेश में इसका अच्छा प्रसार था। पर दूसरे महायुद्ध के बाद यह बन्द हो गया।

नागपुर से अर्द्ध साप्ताहिक 'प्रणवीर' का प्रकाशन भैयादास सतीदास मूंदड़ा ने प्रारंभ किया। बाद में यह दैनिक हुआ। इसके संपादकों में रामगोपाल विद्यालंकार, सत्यदेव विद्यालंकार आदि थे। सेठ जमनालाल बजाज ने राजस्थान की सेवा के लिए 'राजस्थान केसरी' का प्रकाशन वर्धा से श्री सत्यदेव विद्यालंकार के संपादकत्व में आरंभ किया था।

अजमेर, राजस्थान में देशी राज्यों से घिरा हुआ, एक अंग्रेजी इलाका था। यहां से 'राजस्थान', 'नवीन राजस्थान', 'तरुण राजस्थान', आदि साप्ताहिक निकले, जो वास्तव में एक ही पत्र थे। पर जब सरकार किसी पर रोक लगा देती थी या जमानत मांग लेती तो उसका नाम बदल कर पुनः प्रकाशन प्रारंभ कर दिया जाता था। यह आंखमिचौनी कई वर्ष तक चलती रही। १९२७ में सस्ता साहित्य मंडल की ओर से 'त्यागभूमि' पत्रिका निकली। श्री हरिभाऊ उपाध्याय और श्री क्षेमानंद राहत इसके संपादक थे। १९३१ में इसी का साप्ताहिक संस्करण निकला। श्री विजयसिंह पथिक ने 'राजस्थान सन्देश' भी निकाला था और बाबा नृसिंहदास ने 'प्रकाश' का प्रकाशन किया था।

'जयाजी प्रताप' महाराजा ग्वालियर का अपना पत्र था; फिर भी पाठ्य सामग्री की दृष्टि से रोचक और सुसंपादित रहता था। वही 'मध्यभारत संदेश' और आज 'मध्यप्रदेश संदेश' के नाम से प्रकाशित हो रहा है। ●

खण्ड : सात

●

विविध

●

इस खण्ड में उन रचनाओं का संकलन किया गया है, जो हमें विलम्ब से प्राप्त हुईं और जिस खण्ड में उन्हें सम्मिलित किया जाना था, उनकी छपाई हो जाने के कारण उन्हें यथास्थान न दिया जा सका। अतः उनका उपयोग इस खण्ड में किया जा रहा है, पाठक देखेंगे कि ये रचनाएं उपयोगी तो हैं ही, प्रेरणादायक भी हैं। हमें पूरा विश्वास है कि पाठक इन रचनाओं को चाव से पढ़ेंगे और इनसे अपूर्व रस ग्रहण करेंगे।

भगवानदास मिश्र

अभिनंदनम्

●

फिरोजाबादवास्तव्यश्चातुर्वेदो महाबलः ।
श्रीमद् गणेशिलालोवै, नित्यकर्मपरायणः ।।

तस्माद् बनारसीदासश्चतुर्वेदी विचक्षणः ।
विश्रुतो लेखको वाग्मी, सुकविश्च विराजते ।।

ब्रजभाषासुसेवी वै, मातृभाषाप्रचारकः ।
देशदेशान्तरे कीर्त्तिः, प्रसरेदनपायिनी ।।

नन्दवेदाङ्कभूवर्षे (१९४९ वि०) वैक्रमाब्दे शुभेऽहनि ।
पौषशुक्लद्वितीयायां, भ्राजमानस्य तेजसा ।
श्री बनारसिदासस्य, प्रादुभूतोऽभवद्भुवि ।।

साहसी नीतमान् मान्यः, धीरोऽमितपराक्रमी ।
प्रसन्नवदनो नित्यमुपहासप्रियः क्षमी ।
कुर्वेऽभिनन्दनं तस्य, प्रार्थये तच्छतायुषे ।।

श्री हरिदासपुत्रस्य, चतुर्थस्य महामतेः ।
श्री वैसान्धरवंशस्य, वृक्षनिर्माणकारकः ।।

तच्छीडम्बरलालस्य, मिश्रस्यानल्पमेधसः ।
भगवानदासख्यातेन, सुतेनात्यल्पबुद्धिना ।
रज्जूपाख्यप्रसिद्धेन, रचितमभिनन्दनम् ।।

●

जगदीशचंद्र माथुर

एक बेचैनीभरा पत्र

आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय को प्रायः 'होम आव द लॉस्ट कॉज़ेज़' का नाम दिया जाता है यानी उपेक्षित अन्दोलनों का आश्रय ! पं० बनारसीदास चतुर्वेदी भी अपने ढंग के निराले आश्रयदाता रहे हैं। लेकिन आक्सफ़ोर्ड आश्रय देता है, नेतृत्व नहीं। चतुर्वेदीजी की लेखनी हलधर की भांति नई लीक बनाती रही है, ध्वजधर की भांति नई दिशाएं दिखाती रही है। जो हलधर और ध्वजधर होता है उसे अक्सर पक्षधर भी होना पड़ता है। चतुर्वेदीजी आक्सफ़ोर्ड की भांति निर्लिप्त आश्रयदाता नहीं रहे हैं। जिसे उन्होंने उठाया––व्यक्ति या विचार––उसका उन्होंने पक्ष लिया। चतुर्वेदीजी के लिए तटस्थ होना सम्भव नहीं था, क्योंकि उनकी कर्मठता की प्रेरणा यमदमनियम नहीं, वरन उत्साह, संवेदना और आक्रोश हैं।

जिस कीमियाई के ज़रिये उत्साह, संवेदना और आक्रोश का अद्‌भुत सम्मिश्रण वे बांधा करते हैं, इसका रहस्य तो मुझे नहीं मालूम, किन्तु उसके अनेक उदाहरण चतुर्वेदीजी के जीवनवृत्त में बिखरे पड़े हैं। उसकी एक झलक नीचे उद्धृत उनके पत्र में मिलती है, जो सन १९५३ में उन्होंने मुझे दिल्ली से लिखा था। मैं उन दिनों पटना में बिहार सरकार का शिक्षा सचिव था। चतुर्वेदीजी लगभग डेढ़ साल पहले संसद सदस्य होकर दिल्ली आये थे। उन्होंने दिल्ली की तड़क-भड़क देखी, ओछापन देखा, लेकिन फिर भी दिल्ली की संभावनाओं से मुंह नहीं मोड़ा। 'हिन्दी भवन' की स्थापना की और इसी सिलसिले में सदस्यता के लिए मुझे भी लिखा। सदस्य होते समय मैंने जो पत्र लिखा, उसका उत्तर चतुर्वेदीजी की सुविख्यात शैली में मिला, जो उनका एक तरह का ट्रेडमार्क है और जिसे उन्होंने स्वयं गंगा-जमुनी कहा है:

Member of the Council of States

123 North Avenue,
New Delhi

6-12-1953

प्रिय माथुरजी,

सादर प्रणाम। कृपा पत्र मिला। आप हिन्दी भवन के सदस्य बन गये, एतदर्थ आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूं। मुझे विश्वास है कि आगे चलकर इस संस्था द्वारा हमारी मातृभाषा तथा राष्ट्रभाषा का कुछ हित हो सकेगा।

दिल्ली में रहते मुझे अभी डेढ़ साल ही हुआ है, ४।। वर्ष बाकी हैं और तबतक कुछ न कुछ सेवा बन ही पड़ेगी। सबसे बड़ी कठिनाई हम लोगों के मार्ग में यह है कि यह स्वभावतः राजनीति-प्रधान नगर है और किसी साधनहीन साहित्यिक के लिए यह अत्यन्त कठिन है कि वह अपने व्यक्तित्व को शक्तिशाली बना सके। ऊपरी टीमटाम की यहां जितनी आवश्यकता है उतनी अन्यत्र शायद ही हो। लक्ष्मी के उपासकों के मध्य

में (इनमें दुर्गा शक्ति) के उपासकों को भी शामिल कर लेना चाहिये। सरस्वती के विनम्र उपासकों की हस्ती ही क्या है।

It is an uphill task to produce a literary or a cultural atmosphere in this big town. People are so busy with their trifies. Imagine people spending Rs. one hundred over a small tea-party when our Hindi-Bhawan hasn't got a chair or a table or even a फ़र्श to sit upon. And we worship the political power, knowing in our heats of hearts that it is क्षण-भंगुर.

Our responsibility of the Hindi-speaking group of 180 millions––is very great indeed. If we don't cultivate a spirit of humility and service we are bound to lose the vantage ground that we got thruugh the साधना and आशीर्वाद of कवीर & दादू, तुलसी & मीरा, दयानन्द and गान्धी. We must serve all.' Thats the only policy for us Hindiwalas. "Institutions are lengthened shadows of men," said Emerson and we want visionaries among us. Without vision we shall perish.

And we are so disorganised here. If you could only see the दरबारगीरी of our eminent poets & writers you will be disgusted. We are without a backbone. We cannot speak out. That's the tragedy. We should have been the salt of the earth. I have been a humble worker in the literary field for more than 40 years and I can tell you by my experience how very difficult it is for a poor worker to do his work. Sometime I think that all this work is more tinkering with the main problem i. e. to change the present social order. While we have been spending crores for guarding our physical frontiers, we don't spend even a few lakhs for guarding our mental or spiritual frontiers.

Let us put our heads together and chalk out a programme. Even a band of half a dozen determined workers can accomplish something.

Excuse me please for the long गंगाजमुनी letter.[1]

---

१. अंग्रेजी अंश का अनुवाद

इस महानगर में साहित्यिक और सांस्कृतिक वातावरण उत्पन्न करना अत्यन्त श्रमसाध्य काम है। यहां लोग अपनी छोटी-छोटी बातों में ही उलझे रहते हैं। तनिक सोचिये, एक छोटी-सी चाय-पार्टी पर लोग १०० रुपया खर्च कर देंगे, किन्तु हिन्दी भवन के पास न कुर्सी है, न मेज और न बैठने के लिए फ़र्श। हृदय में यह भली भांति जानते हुए भी कि यह क्षणभंगुर है, हम लोग राजनैतिक सत्ता को पूजते हैं।

हम लोगों का उत्तरदायित्व––हिन्दी भाषी १८ करोड़ जनसमूह का उत्तरदायित्व––वस्तुतः बहुत विशाल है। यदि विनय और सेवा की भावना का हम लोगों ने संवर्धन नहीं किया तो कबीर और दादू, तुलसी और मीरा, दयानंद और गान्धी की साधना और आशीर्वाद से हमें जो अनुकूल अवस्थिति प्राप्त हुई है उसे

आपके महान कार्य के विषय में जो आपने बिहार में किया है (आपने और भाई शिवपूजनजी ने) मैं बहुत सुन चुका हूं। हम दोनों एक ही जनपद के निवासी हैं--फीरोज़ाबाद आपके घर के निकट ही है--पर मेरा यह दुर्भाग्य ही है कि अबतक आपके दर्शन न कर सका।

अब आप यहां पधार ही रहे हैं तो एक घंटे भर के लिए प्रार्थी हूं।

आपका

बनारसीदास चतुर्वेदी

इस पत्र से एक बात स्पष्ट हो जाती है। चतुर्वेदी का व्यक्तित्व एक खुली पुस्तक है, जो चाहे पढ़ ले। कोई दुराव नहीं, कोई बनावट नहीं। वातावरण, परिस्थितियों और व्यक्तियों से ज्योंही टकराहट हुई, त्योंही प्रतिक्रियाओं की सशब्द अभिव्यक्ति भी। और चूंकि चतुर्वेदीजी अभिनय करना नहीं जानते, इसलिए उनकी तात्कालिक प्रतिक्रियाओं को बहुत से लोग सतही लहरियाँ-मात्र समझ लेते हैं; लेकिन एक पेचीदगी है उनके व्यक्तित्व में जिसे समझना भी ज़रूरी है।

अगर चतुर्वेदीजी सिर्फ साहित्यकार होते तो संवेदना की गहराइयों में डूबकर निकाले गये मोतियों को सजाकर प्रदर्शन करने में उन्हें तृप्ति मिलती। यदि वे पत्रकार की भूमिका ही में बंधे होते तो राजनैतिक कुचक्रों और अनुचित लोकव्यवहार की आक्रोशमयी भर्त्सना करने में उन्हें संतोष मिलता, और यदि जनता का नेतृत्व ही उनका लक्ष्य होता तो उनका उत्साह उनके आयोजनों का संबल होता। पर चतुर्वेदीजी साहित्यकार, पत्रकार और आयोजक होने के अतिरिक्त, एक बेचैन ह्यूमैनिस्ट--मानवतावादी भी हैं। यह ह्यूमैनी उनकी चिरसंगिनी है, मनव्यापी और तनव्यापी।

कैसे छुटे यह बेचैनी? कैसे तजें यह मोह? यह लगाव, यह मदहोशी? चतुर्वेदीजी के किसी अंतरंग मित्र ने एक बार उनकी किसी नवीनतम योजना सुनने के बाद कहा, "चौबेजी, यह दुकान कब बटोरियेगा?

हम खो बैठेंगे। हमें सबकी सेवा करनी है। हम हिन्दी वालों के लिए यही सही नीति है। इमर्सन ने कहा है कि "संस्थायें तो व्यक्तियों की विस्तारित छायाएं हैं", और हमें अपने बीच स्वप्न-द्रष्टाओं की जरूरत है। बिना आदर्शवादी सूक्ष्म दृष्टि के हम लोग नष्ट हो जायेंगे।

यहाँ दिल्ली में हम लोग कितने अव्यवस्थित हैं। यदि आप हमारे सुविख्यात कवियों और लेखकों की दरबारगीरी यहां देख पाते तो आपको वितृष्णा हो जाती। रीढ़ की हड्डी तो मानो हम लोगों में है ही नहीं। हम लोग साफ़-साफ़ बोल भी नहीं पाते। यही तो यहां का रोना है। हमें तो सबसे बढ़कर होना चाहिए था। पिछले ४० वर्षों से ऊपर मैं साहित्य के क्षेत्र में एक विनीत कार्यकर्त्ता मात्र रहा हूं और अपने अनुभव के आधार पर मैं आपको बता दूं कि एक साधनहीन कार्यकर्त्ता के लिए किसी भी आयोजन में हाथ लगाना कितना कठिन हो जाता है। कभी कभी तो मुझे लगता है कि यह सारा काम मनुष्य की समस्याओं में महज़ पैबंद लगाने के समान है, यानी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन पर इसका कोई असर नहीं पड़ता। एक ओर तो हम लोग करोड़ों रुपये अपने देश की भौतिक सीमाओं की रक्षा में खर्च कर रहे हैं और दूसरी ओर हम मानसिक अथवा आत्मिक सीमाओं की रक्षा के लिए कुछ लाख रुपये भी खर्च करने को तैयार नहीं।

हमें मिलजुल कर सोचना है और कोई-न-कोई कार्यक्रम निर्धारित करना है। आधे दर्जन कृतसंकल्प कार्यकर्त्ताओं का दल बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है।

इस गंगा-जमनी पत्र के लिए कृपया मुझे क्षमा करेंगे।

सांझ आ पहुंची और हाट उठ रहा है।" मुझे मालूम नहीं कि चतुर्वेदीजी ने क्या उत्तर दिया। इस बात को शायद दस बरस होने को आये। चतुर्वेदीजी दिल्ली छोड़कर फ़ीरोज़ाबाद भी चले गये। लेकिन दुकान बदस्तूर चालू है। मैं पूछता हूं––क्यों उठे ऐसी नायाब दुकान, जबतक मेरे जैसे अनेक गाहक मौजूद हैं:—हम जो बिना मूल्य दिये ही, बेशकीमती विचारों, सुझावों और प्रेरणाओं के सौदे उनकी दुकान से लेते रहे हैं।●

रामलाल पुरी

ऐसे हैं हमारे चतुर्वेदीजी

चतुर्वेदीजी एक व्यक्ति ही नहीं, अपने-आप में एक संस्था हैं, बल्कि यों कहना चाहिये कि वह अनेक संस्थाओं के जन्मदाता हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने अनेक अद्‌भुत कार्य किये हैं। अनेक व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान की है। नई दिल्ली का हिन्दी भवन उन्हीं की देन है। कैसे वह इसे इतने वर्षों तक सफलतापूर्वक चलाते रहे, यह भी अपने आप में एक कहानी है।

चतुर्वेदीजी एक कुशल पत्रकार हैं और इस नाते उनका बहुत महत्व है, लेकिन मैं उन्हें पत्रकार की अपेक्षा पत्रलेखक के रूप में अधिक महत्व देता हूं। उनमें किसी भी विषय और प्रत्येक विषय, बल्कि विषय के बिना भी रोचक पत्र लिखने की अद्‌भुत क्षमता है। उनका सारा जीवन लेखनकार्य में ही बीता है। अनेक प्रतिभाशाली और प्रख्यात व्यक्तियों के साथ उन्होंने पत्र-व्यवहार किया है। यह उनकी प्रतिभा और महत्व ही है कि लोग उनकी बात सुनते और उनके पत्रों का उत्तर देते हैं। उन्हें जो भी पत्र प्राप्त होते हैं उनको भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखने में बड़े सतर्क हैं। ये पत्र किसी भी संग्रहालय की अमूल्य निधि बन सकते हैं। उनमें एक ख़जाना छिपा पड़ा है, किन्तु वह किसी भी कीमत पर उनसे बिछुड़ने को तैयार नहीं। इन पत्रों को छांटना और फिर उन्हें सहेज कर रखना, यह एक ऐसा काम है, जो उनकी वर्तमान परिस्थितियों में उनके लिए दुष्कर हो रहा है। फिर भी, उनका उन्हें इतना मोह है कि उन्हें किसी को भी देने में वह हिचकिचाते हैं। उनसे उन्हें इतना लगाव है, मानो वे उनके जीवन और अस्तित्व के अभिन्न अंग हों।

सन १९४७ में भारत स्वाधीन हुआ। देश के विभाजन के फलस्वरूप लाहौर में अपने जीवन के ४५ वर्षों की संचित सारी पूंजी छोड़कर मैं दिल्ली आया। यहां मेरी एक शाखा थी, जो मैंने १९४० में चालू की थी। दिल्ली आते ही मैंने हिन्दी के क्षेत्र में घुसने का निश्चय किया। उस समय भी मुझे पूरा भरोसा था कि हिन्दी एक दिन हमारी राष्ट्रभाषा बन कर रहेगी।

मैंने हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ किया। मेरी सबसे पहली पुस्तक एक छोटी-सी पुस्तिका थी, जो मैंने श्री पद्मसिंह शर्मा के जन्म-दिन पर श्री क्षेमचन्द्र सुमन के यह कहने पर प्रकाशित की थी कि इसके निःशुल्क वितरण से हिन्दी वाले मुझे जान जायंगे। श्री पद्मसिंह शर्मा चतुर्वेदीजी के घनिष्ठ मित्र और अपने समय की प्रख्यात हस्ती थे। सुमनजी ने इस पुस्तिका की एक प्रति चतुर्वेदीजी को भी भेजी। लौटती डाक से उन्होंने उसकी प्रशंसा लिख भेजी और उसके साथ ही कुछ और प्रतियों की माँग की। कुछ पते भी भेजे जिन पर वह पुस्तिका जानी थी। उस समय तक चतुर्वेदीजी से मेरा व्यक्तिगत परिचय नहीं हुआ था, फिर भी उनके

आदेश का मैंने तुरन्त पालन किया। उनके प्रति आकृष्ट होने का सम्भवतः यही कारण था। फिर एक दिन अचानक कांस्टीट्यूशन क्लब में एक हिन्दी समारोह में सुमनजी ने उनसे मेरा परिचय कराया। मैंने देखा, एक सरल लम्बे कद और विनम्र स्वभाव का व्यक्ति मुझसे ऐसे घुलमिल कर बोल रहा है, जैसे वह मुझे वर्षों से जानता हो।

चतुर्वेदीजी के साथ मेरा यह पहला परिचय था। लेकिन चूंकि उस समय तक वह दिल्ली में नहीं रहते थे, इसलिए यह मुलाकात वहीं समाप्त हो गयी। फिर वह संसद में राज्य सभा के सदस्य बन कर आये और दिल्ली रहने लगे। उस समय हमारी घनिष्ठता बढ़ी। दिल्ली में नार्थ एवेन्यू का उनका घर क्या, एक अच्छा-खासा होटल था और होटल भी क्या, पूरी सराय था, जहाँ हर समय कोई-न-कोई जमा रहता। वह घर हमेशा सभी के लिए खुला रहता, जो मर्जी चाहे जहाँ उठे-बैठे, खाये-पिये, गप-शप करे। घर की सारी कुर्सियाँ बाहर लान में पड़ी रहतीं, जहाँ हर समय कोई-न-कोई बैठा होता––कोई गपबाज़ी करने आता, कोई बहस लड़ाने और कोई चतुर्वेदीजी के परिचित किसी बड़े आदमी के लिए सिफारिशी चिट्ठी लेने आता।

उनके यहां अक्सर किसी-न-किसी बड़े आदमी से मेरी भेंट हो जाती। कभी बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जैसे उनके कोई घनिष्ठ मित्र मिलते तो कभी कोई और। और हर बार अपने मित्रों से वह खूब बढ़ा-चढ़ा कर मेरा परिचय देते, जिसे सुनकर लज्जा से मेरा सिर झुक जाता, किन्तु इसके साथ ही मैं उनके साथ और भी अधिक घनिष्ठता महसूस करता।

चतुर्वेदीजी के साथ मेरा वार्तालाप बड़ा ही रोचक होता था। वह अक्सर जीवित अथवा मृत व्यक्तियों के विषय में दिलचस्प संस्मरण सुनाया करते। उन्हें सुनकर बड़ा आनन्द आता। उनकी सरलता, उनका निश्छल व्यवहार और उनकी ईमानदारी से बड़ी प्रेरणा मिलती। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी विचारधारा भी इतनी ही सरल है। इस दृष्टि से वह बड़े ही व्यवहारकुशल हैं। यह जानते हुए भी कि कहीं वह धोखा न खा जायं, वह लोगों की और विशेष रूप से नवोदित लेखकों की सहायता के लिए सदा तत्पर रहते हैं।

वह बड़े तपाक से मुझसे लोगों की सिफारिश करते, किन्तु चुपके से मुझे फोन पर यह भी बता देते हैं कि मुझे अपनी सूझ-बूझ से काम लेने की पूरी छूट है। वह किसी काम की योजना बनाते और फिर उसे कार्यान्वित करने के लिए ऐसे व्यक्तियों की तलाश करते, जो उसे कार्य रूप दे सके। प्रत्येक काम में वह अपने को इस तरह से आगे रखते हैं ताकि किसी को भी उसका बुरा न लगने पाये और काम भी पूरा हो जाय। वह एक ऐसी धुरी हैं, जिसके इर्द-गिर्द सभी कुछ घूमता रहता है। और उस सबके पीछे होती है उनकी योजना, उनकी संचालन-शक्ति, उनका निर्देशन और उनकी विचार-शक्ति। कोई भी उनके पास बैठ कर, उनकी बात सुन कर गर्व अनुभव करता है।

चतुर्वेदीजी बड़े ही दयालु और मृदु-स्वभाव के व्यक्ति हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि मैंने कभी उन्हें क्रोध करते नहीं देखा। वह सभी के साथ हंसी-मज़ाक करते और बात-ही-बात में ऐसे अच्छे ढंग से उसके दोषों की आलोचना भी कर देते हैं कि कोई भी उसका बुरा नहीं मानने पाता। उनके साथ भी यदि कभी कोई व्यंग्य करे तो वह बुरा नहीं मानते। लेकिन अगर किसी ज़रूरतमंद की सहायता नहीं की जाती अथवा किसी व्यक्ति को नौकरी से निकाल दिया जाता या फिर निजी वैमनस्य के कारण किसी को क्षति पहुंचायी जाती तो फिर वह बरदाश्त नहीं कर पाते। अन्याय के विरुद्ध वह बड़े जोरों से आवाज़ उठाते और ऐसे लोगों की सदा सहायता करते हैं, जिनके साथ अनुचित अन्याय हुआ है। किसी न्यायोचित कार्य के लिए अपने नाम का उपयोग करने

देने में वह सदा तत्पर रहते हैं। उनके नाम का बड़ा महत्व है और उसका व्यापक उपयोग हो रहा है। सभी लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित होते हैं और ये लेख रुचिकर संस्मरणों से भरपूर होते हैं।

चतुर्वेदीजी को पहली मुलाकात में अच्छी तरह से समझ पाना सम्भव नहीं है। जैसे-जैसे आप उनके निकट आयेंगे, आप उन्हें और अच्छी तरह से समझेंगे। आपको उनकी योजनाओं के लिए दान देने को, उनके द्वारा भेजे गये व्यक्तियों की, जो अधिकतर पीड़ित अथवा संकटग्रस्त होते हैं, सहायता करने को तैयार रहना होगा। ऐसे क्रांतिकारी व्यक्तियों की जो अभी जीवित हैं, अथवा उनके सम्बन्धियों की, जो मर चुके हैं, सहायता करने का उन्हें बड़ा शौक है। ऐसे लोगों के लिए उनके मन में बड़ी जगह है और वह सदैव उनकी सहायता का प्रयत्न करते रहते हैं। किसी ऐसे व्यक्ति की, जिसकी सहायता का वह प्रयास कर रहे हैं, जबतक वह काम पूरा नहीं करा लेते उन्हें चैन नहीं मिलता। अनेक व्यक्तियों को उन्होंने केन्द्रीय सरकार से आजन्म पेंशनें दिलवायी हैं। अनेकों को दानी व्यक्तियों से दान दिलवाये हैं।

वह कभी चुपचाप नहीं बैठ सकते, हमेशा कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। साधारणतया वह बड़े ही उदारमना हैं और उनके यहां सदैव अतिथियों का जमघट रहता है। किसी भी सीमित बजट में उनका रह पाना बड़ा कठिन काम है। उन्हें सदैव आर्थिक संकट घेरे रहता है। वह मजाक में कहा करते हैं कि उधार का माल खर्च करो और भूल जाओ।

संसद में वह कभी कामयाब नहीं हो पाये। वहां तो उनकी उपस्थिति से अनुपस्थिति ही भली थी। जब कोई जबरन उन्हें घसीट ले जाता तभी वह वहाँ जाते। एक बार ऐसे ही एक अवसर पर वह वहां उपस्थित थे। डाक-खर्चे के पक्ष में उन्होंने भी अपना हाथ उठा दिया। बाद में मैं उन्हें इस खर्चे के विरुद्ध आयोजित प्रकाशकों की एक विरोध सभा में ले गया और वहां जब किसी ने उन्हें ताना मारा कि इस वृद्धि के साझीदार वह भी हैं तब उन्हें ज्ञात हुआ कि वह भी उसमें शामिल थे और इसका बहुत ही खेद और पश्चात्ताप हुआ।

ऐसे हैं हमारे चतुर्वेदीजी! ●

: मथुरादत्त शास्त्री

शतसहस्राभिनन्दनम्

●

पूज्यगुरुवर : अतीवहर्षस्यावसरोऽयम् यत् श्रीमतां अष्ठप्सततितमजन्मदिवसोपलक्षे विनम्राभिनन्दनात्मक शब्दसुमनाञ्जलिसमर्पण सुयोगसमुपलब्धिः कृता मया।

आदर्शाध्यापक : भूतपूर्वाध्यापकरूपेणाहं गुरुगौरवानुभवं करोमि यत् भवद्भिरपि सर्वप्रथमं अध्यापकरूपेणैव जीवनक्षेत्रे पदार्पणं कृतं, तथाद्यापि तत्तद्विद्यामन्दिरेषु भवत्कीर्त्तिकथा सहजमेव श्रुतिगोचरा भवति।

सम्पादकशिरोमणि : पत्रकारितातथासम्पादनकलायान्तु श्रीमता आचार्यत्वमेव समधिगतम्। आर्यमित्रस्य सहसम्पादकरूपेण कार्यं प्रारभ्य तथास्मिन् क्षेत्रे श्लाघनीयप्रगतिं च प्रदर्श्य "विशाल भारत" "मधुकर" "अभ्युदय" इत्याद्यनेकानां पत्राणां कुशलसम्पादनं कुर्वन् निजसृजनात्मकशक्तिप्रभावेण बहवो लेखकास्तथा साहित्यिकाश्च निर्देशिता भवता।

अस्यां सम्पादनसुदीर्घश्रृंखलायां अद्यप्रभृति एतादृशानि ग्रन्थानि सम्पादितानि श्रीमता यैः सर्वदैवास्माकं साहित्यभांडारस्य श्रीवृद्धिर्भविष्यतीति ।

सिद्धहस्तलेखक : ओजप्रवाहप्रभावादिगुणानामतीवसुमनोहरा समष्टिः दरीदृश्यते भवल्लेखन्यां, नवनिर्माणक्षमता तु तस्याः आधारभित्तिरेवास्ति। रेखाचित्रसंस्मरणसाहित्यसर्जने तु “न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः।” “फिजीद्वीप में २१ वर्ष” “भारतभक्तएण्ड्रूज” “प्रवासीभारतवासी” ‘रेखाचित्र” “संस्मरण” “हमारे आराध्य” “साहित्य और जीवन” “सेतुबन्ध” इत्यादीनि महार्घाणिरत्नानि भारतीयसाहित्याकाशे युष्मत्कीर्त्तिकौमुदीं अक्षुण्णां विधास्यन्ति।

सहृदयसमाजसेवी : स्वकीयस्वार्थमविगणय्य निजजीवनस्य स्वर्णिमांशस्य एकविंशतिवर्षाणि भवता प्रवासिभारतीयानां सेवायां व्यतीतानि, अयं श्रीमतामुदात्तसेवाभावनायाः उच्चतमादर्शः, दीनविपन्नजनानान्तु श्रीमान् प्रियतमः सखा एव, न जाने मातृभूमिवलिवेद्युपरिप्राणोत्सर्गकर्तॄणां कियताम् देशभक्तानां आर्थिकप्रश्रयव्यवस्था कारिता भवता स्वलेखनीबलेन।

सौभाग्यशाली : निश्चयमेव भवान् सौभाग्यशाली, विश्ववन्द्यबापूमहोदयस्य तथा विश्वकविटैगोरमहाशयस्य निकटतमसान्निध्यं सम्प्राप्तं युष्मद्भिः। किमिदं नास्ति सत्पुरुषाणां ईर्ष्याविषयः ?

उपेक्षितानां समुद्धर्त्ता : देशसमाजसाहित्यानां यानि अन्योपेक्षितानि अंगानि सन्ति तेषां विषये गवेषणापूर्णलेखनं महतीविशेषता । शहीदग्रन्थमालासम्पादनं अस्य ज्वलन्तोदाहरणम् ।

परमकारुणिक : दुखिनः विपन्नानां पीड़ितानां कृते भवत्हृत्स्थले अजस्रकरुणाधारा प्रवाहिता भवति। अस्मिन् विषये गान्धिमहोदयादर्शेभ्यः मूर्तिमत्स्वरूपं प्रदत्तं भवद्भिः ।

परिहासप्रिय : जीवनयात्रासमागतकठिनपरिस्थितीनामपि हास्यमुद्रयैव स्वागतकरणं तथा प्रतिक्षणमेव उन्मुक्तहासनिर्झरिणीप्रवाहनं श्रीमतामीदृशी विशेषता अस्ति या यदाकदैव दृश्यतेऽन्येषु ।

सरलतामूर्त्ति : सरलतासौम्यतयोः साक्षात्प्रतिमैव भवान्, आडम्बराभिमानलेशमात्रमपि नास्ति भवज्जीवने, निस्सन्देहमेव महामानवः श्रीमान् ।

कर्मयोगी : अष्टाधिकसप्ततितमेऽपि वर्षे श्रीमतां सक्रियता अनुकरणीया एव।

गुरुवर्य्य : किमधिकम्, “परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते, स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्”, इति सूक्त्यनुसारेण सार्थकं सकलं श्लाघनीयमेव भवज्जन्म, भवान् एकस्मिन्नेव वाक्ये “लेखकानांनिर्देशकःन, पत्रकाराणां पथप्रदर्शकः सम्पादकानां शिरोमणिः, समाजसेवकानां श्रद्धाभाजनः, विपत्तिग्रस्तानां प्रियतमः सखा” नेयमत्युक्तिः ।

परमश्रद्धेय : स्वकीयसफलजीवनस्य सप्तसप्ततिवर्षाराण्यतिक्रम्य अष्टसप्ततितमे वर्षे श्रीमतां पदार्पणमद्य। अस्मिन् मंगलमयावसरे श्रीमतां दीर्घायुष्यं चिरायुष्यं कामयेऽहम् । अयम् नूतनवर्षप्रवेशः श्रीमत्कृते शुभमस्तु मंगलमयमस्तु कल्याणकारयस्तु । संजीवनी शक्तिधारिणी भवल्लेखनी चिरकालपर्यन्तं गतिशीलाभवेत्।

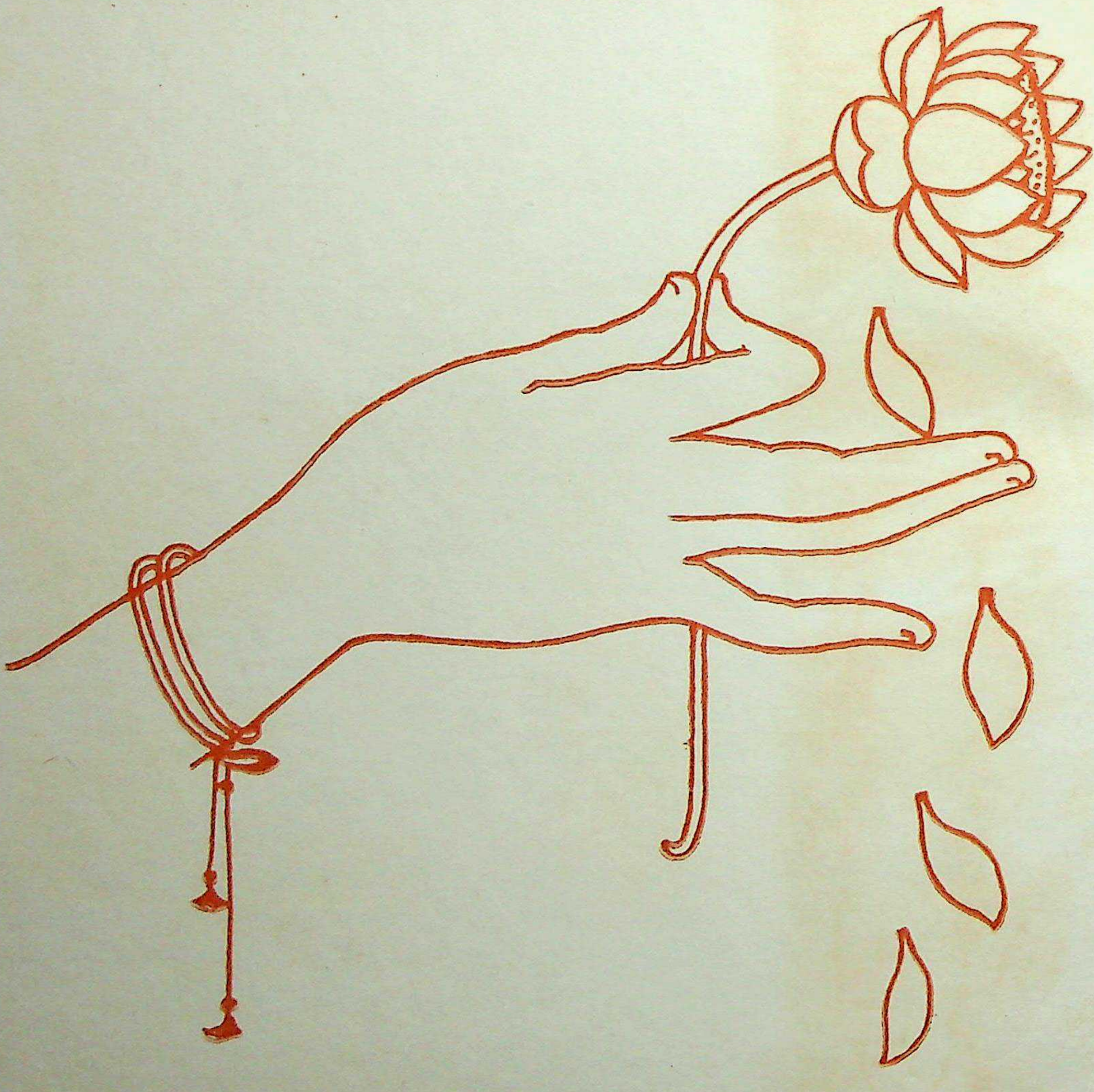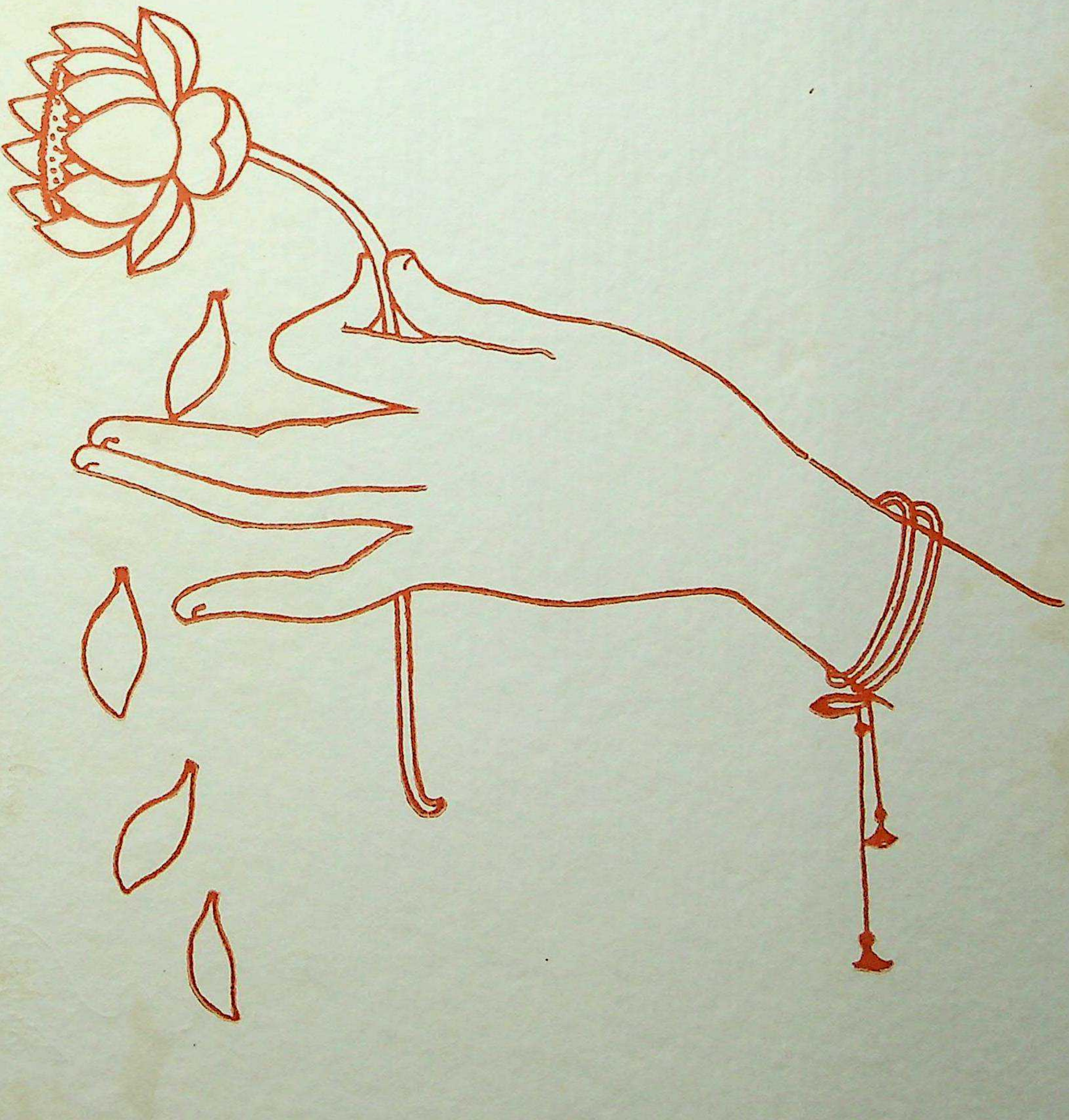पावनेऽस्मिन्नवसरे अस्याकिंचनस्य शिष्यस्य शतसहस्राभिनन्दनं स्वीकुर्वन्तु श्रीमन्तः।●